भारतीय दर्शन का इतिहास

भाग-

एस॰एन॰दासगुप्त

भाग–2

लेखक

डॉ. एस. एन. दासगुप्त

अनुवादक

श्री एस. पी. व्यास

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,
जयपुर–4

मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालयस्तरीय ग्रंथ-निर्माण योजना के अन्तर्गत, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर द्वारा प्रकाशित।

प्रथम संस्करण : 1973
द्वितीय संस्करण : 1989

मूल्य–60.00 रुपये
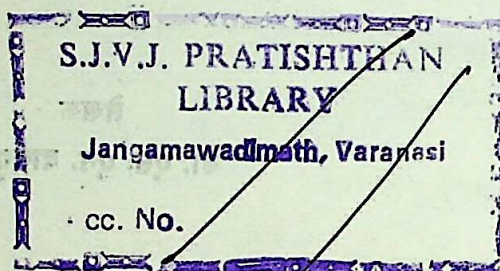
प्रकाशक
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,
ए–26/2, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर,
जयपुर–4

मुद्रक
मनोज प्रिन्टर्स, जयपुर

प्रकाशकीय भूमिका

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी अपनी स्थापना के 20 वर्ष पूरे करके 15 जुलाई, 1989 को 21 वें वर्ष में प्रवेश कर चुकी है। इस अवधि में विश्व साहित्य के विभिन्न विषयों के उत्कृष्ट ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद तथा विश्वविद्यालय के शैक्षणिक स्तर के मौलिक ग्रन्थों को हिन्दी में प्रकाशित कर अकादमी ने हिन्दी जगत के शिक्षकों, छात्रों एवं अन्य पाठकों की सेवा करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है और इस प्रकार विश्वविद्यालय स्तर पर हिन्दी में शिक्षा के मार्ग को सुगम बनाया है।

अकादमी की नीति हिन्दी में ऐसे ग्रन्थों का प्रकाशन करने की रही है जो विश्वविद्यालय के स्नातक और स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों के अनुकूल हों। विश्वविद्यालय स्तर के ऐसे उत्कृष्ट मानक ग्रंथ जो उपयोगी होते हुए भी पुस्तक प्रकाशन की व्यावसायिकता की दौड़ में अपना समुचित स्थान नहीं पा सकते हों, और ऐसे ग्रन्थ भी जो अंग्रेजी की प्रतियोगिता के सामने टिक नहीं पाते हों, अकादमी प्रकाशित करती है। इस प्रकार अकादमी ज्ञान-विज्ञान के हर विषय में उन दुर्लभ मानक ग्रंथों को प्रकाशित करती रही है और करेगी जिनको पा कर हिन्दी के पाठक लाभान्वित ही नहीं, गौरवान्वित भी हो सकें। हमें यह कहते हुए हर्ष होता है कि अकादमी ने 340 से भी अधिक ऐसे दुर्लभ और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन किया है जिनमें से एकाधिक केन्द्र, राज्यों के बोर्डों एवं अन्य संस्थाओं द्वारा पुरस्कृत किये गये हैं तथा अनेक विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा अनुशंसित।

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी को अपने स्थापना-काल से ही भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय से प्रेरणा और सहयोग प्राप्त होता रहा है तथा राजस्थान सरकार ने इसके पल्लवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, अतः अकादमी अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में उक्त सरकारों की भूमिका से प्रति कृतज्ञता व्यक्त करती है।

डॉ. दासगुप्त लिखित 'भारतीय दर्शन का इतिहास' भारतीय दर्शन की समस्त शाखाओं की प्रामाणिक मीमांसा प्रस्तुत करने वाला विद्वज्जनसमादृत श्रेण्य ग्रन्थ है। अद्भुत प्रतिभा और मीमांसा-शक्ति सम्पन्न इस विद्वान् ने पाँच खण्डों में भारतीय दर्शन के सिद्धान्तों, सरणियों, ग्रन्थों, ग्रन्थकारों आदि का जो आलोचनात्मक तुलनात्मक एवं तलस्पर्शी विवेचन प्रस्तुत किया है उसे विद्वान्, प्राध्यापक, छात्र आदि सभी जिज्ञासु संदर्भग्रंथ के रूप में प्रयुक्त करते हैं। इसमें मूल ग्रन्थों के संदर्भ एवं उद्धरणों सहित पृथक-पृथक् शाखाओं का विवरण एवं इतिहास उपलब्ध हो जाता है।

इसी ग्रंथ के दूसरे खण्ड का यह अनुवाद है। इसमें प्रथम खण्ड से अनुवृत्त शांकर वेदान्त के विवेचन को पूर्ण कर योगवासिष्ठ के दर्शन का विवरण एवं समीक्षण प्रस्तुत किया गया है तथा आयुर्वेद में प्राप्त दार्शनिक विचारों का वर्णन भी किया गया है। तदनन्तर गीता दर्शन का विवेचन है। यह अनुवाद जोधपुर विश्वविद्यालय के तत्वावधान में तैयार कराया गया है।

हरिमोहन माथुर
अध्यक्ष, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी एवं
शिक्षा आयुक्त, राजस्थान सरकार, जयपुर

डॉ. राघव प्रकाश
निदेशक
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

विषय-सूची

अध्याय-1

शांकर वेदान्त सम्प्रदाय (क्रमशः)

अध्याय–2
योग वाशिष्ठ दर्शन

अध्याय–3
चिकित्सा शाखाओं का विवेचन

अध्याय–4

भगवद्गीता दर्शन

———

अध्याय 1

शांकर वेदान्त सम्प्रदाय (क्रमशः)

पूर्वाध्याय में शांकर-वेदान्त के सम्प्रदाय का वर्णन साधारण हेतुओं के लिए पर्याप्त माना जा सकता है। परन्तु इस सम्प्रदाय की इतनी प्रतिष्ठा है तथा इसमें इतने लोग रुचि रखते हैं कि मुझे बताया गया कि इसका कुछ अधिक विस्तृत अध्ययन अभीष्ट होगा। ऐसे सुझाव के लिए अतिरिक्त औचित्य इस शोचनीय तथ्य में मिलता है कि यद्यपि इस देश एवं यूरोप में कई प्रारम्भिक एवं अधकचरे ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं फिर भी यूरोप अथवा एशिया की किसी भी आधुनिक भाषा में इस दर्शन का कोई व्यवस्थित अध्ययन नहीं मिलता जो इस मत के उन महान विचारकों द्वारा प्रणीत ग्रन्थों के गहन अध्ययन पर आधारित हो जिन्होंने शंकर का अनुसरण करते हुए विशेष विद्वत्तापूर्वक उनके मत का विकास किया हो। भारतीय दर्शन के इतिहास के इस अध्याय के अपेक्षाकृत छोटे क्षेत्र में इस प्रकार की मांग को समुचित रूप से पूर्ण करने की आशा नहीं की जा सकती, परन्तु फिर भी आशा है कि उक्त सामग्री का कुछ विस्तृत अध्ययन क्षम्य होगा, यद्यपि इससे ग्रन्थ की सामान्य रूपरेखा में किंचित् विघ्न पड़ता प्रतीत होगा।

जगत्

उपनिषदों में, अर्थात् वेदान्त में, ईश्वरवाद, सर्वेश्वरवाद, आत्मा की एकमात्र चरम सत्ता, सृष्टि-रचना आदि के संबन्ध में विभिन्न विचारधाराओं का समावेश है। शंकर के पूर्व जिन टीकाकारों ने उपनिषद्-भाष्य लिखे एवं उनमें एकरूप, व्यवस्थित एवं रूढ़ि-मूलक दर्शन के अस्तित्व में विश्वास के आधार पर उनका भाष्य करने का प्रयत्न किया, उनके ग्रन्थ आजकल लुप्तप्राय हैं और उनके विषय में जो कुछ भी हम जान पाते हैं वह शंकर के भाष्यों अथवा अन्य परवर्ती भाष्यकारों की कृतियों में उपलब्ध अल्प उल्लेखों से ही प्राप्त है। उदाहरणार्थ, भर्तृप्रपंच को लें, जिन्होंने ब्रह्म से जगत् एवं जीवात्माओं का वास्तविक निस्सरण मानकर 'बृहदारण्यक' उपनिषद् की बाह्यार्थवादी व्याख्या करने का प्रयत्न किया है।[1]

---

1 प्रो० हिरियन्ना ने शंकर एवं उनके टीकाकार आनन्दज्ञान की कृतियों तथा सुरेश्वर-रचित वार्तिक में से भर्तृप्रपंच के प्रकीर्ण अंश 1924 में मद्रास में तृतीय प्राच्य परिषद् में पठित एक लघु लेख के अन्तर्गत एकत्रित किए थे, जो 1925 में मद्रास में छपे।

शंकर ने अपने चिन्तकों से इस मत को उत्तराधिकार में प्राप्त किया था कि उपनिषद् हमें एक संगत तथा व्यवस्थित दर्शन का उपदेश देते हैं परन्तु गौडपाद के प्रभाव में होने के कारण उनका इस दर्शन के स्वरूप के बारे में इन लोगों से मतैक्य नहीं था। इस दर्शन का उन्होंने उपनिषद् एवं ब्रह्मसूत्रों पर अपने सम्पूर्ण भाष्यों में विस्तृत रूप से प्रतिपादन किया है।

जैसाकि पूर्वाध्याय में कहा जा चुका है कि शंकर का मुख्य प्रतिपादित विषय यह है कि केवल ब्रह्म ही एक परम सत्ता है एवं अन्य सब मिथ्या हैं। वह इस बात को सिद्ध करना चाहते थे कि इस दर्शन की शिक्षा उपनिषदों में दी गई है, परन्तु उपनिषदों में कई ऐसे स्थल हैं जिनका मुख्य विषय स्पष्टतया द्वैतात्मक एवं ईश्वरवादी है, एवं किसी भी भाषा-चातुर्य द्वारा विश्वासप्रद रूप से यह नहीं सिद्ध किया जा सकता कि इनके अर्थ शंकर के शास्त्रीय मत की पुष्टि करते हैं। अतः शंकर व्यावहारिक दृष्टि एवं पारमार्थिक दृष्टि में भेद प्रस्तुत करते हैं एवं उपनिषदों की व्याख्या इस कल्पना पर करते हैं कि उनमें कई अंश ऐसे भी हैं जो शुद्ध दार्शनिक दृष्टि से ही वस्तुओं का वर्णन करते हैं जबकि अन्य कई ऐसे अंश भी हैं जो वस्तुओं का वास्तविक जगत्, वास्तविक जीवात्मा एवं वास्तविक सृष्टिकर्त्ता के रूप में ईश्वर का केवल व्यावहारिक द्वैतात्मक दृष्टि से ही उल्लेख करते हैं। व्याख्या की यह पद्धति शंकर ने न केवल उपनिषदों पर लिखे अपने भाष्य में, अपितु ब्रह्म-सूत्र के अपने भाष्य में भी अपनाई है। केवल सूत्रों की परीक्षा करने पर मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मसूत्र भी शंकर के दार्शनिक सिद्धान्त की पुष्टि नहीं करते हैं अपितु कुछ सूत्र ऐसे भी हैं जिनकी व्याख्या स्वयं शंकर ने द्वैतपरक की है। उन्हें कभी भी वस्तुवादी व्याख्या में फंस जाने का डर नहीं था, क्योंकि उनके लिए इस कठिनाई से यह कहकर बाहर निकलना अत्यन्त सुगम था कि सूत्रों अथवा उपनिषद्-स्थलों में उपलब्ध वस्तुवादी सम्प्रत्यय वस्तु-जगत् का व्यावहारिक दृष्टि से आकलन मात्र हैं। यद्यपि स्वयं शंकर के कथनों के आधार पर एवं उनके उत्तर-टीकाकारों तथा उनके अन्य मतानुयायियों के आधार पर शांकर-दर्शन के अर्थ तथा प्रभाव के बारे में कोई संशय नहीं हो सकता फिर भी कम से कम एक भारतीय लेखक ने शांकर-दर्शन को वस्तुवादी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।[1] कट्टर बौद्ध विज्ञानवादियों अथवा तथाकथित शून्यवादियों की आलोचना करते समय स्वयं उनकी स्वीकृति से यह सिद्ध होता है कि उनके दर्शन में वस्तुवाद का कुछ अंश है। सामान्य रूप से मैं इस बात की पहले ही विवेचना कर चुका हूँ कि शंकर के परवर्ती अनुयायियों द्वारा व्याख्यात शांकर-वेदान्त की दृष्टि से वेदान्त के अनुसार किस अर्थ में जगत् माया है। परन्तु वर्तमान विभाग में मैं स्वयं शंकर के एवं उनके कुछेक महत्त्वपूर्ण अनुयायियों के माया के स्वरूप के विषय में विवेचन करना चाहता हूँ। यह शांकर-दर्शन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है और इसकी विस्तृत विवेचना करने की आवश्यकता है।

परन्तु उपर्युक्त विषय की विवेचना करने के पूर्व मेरा ध्यान स्वभावत बौद्ध विज्ञानवाद एवं तथाकथित बौद्ध-शून्यवाद की ओर जाता है एवं यह उचित प्रतीत होता है कि

---

1 कलकत्ता विश्वविद्यालय प्रेस द्वारा 1924 में मुद्रित क० विद्यारत्न द्वारा लिखित अद्वैत-दर्शन।

शंकर के माया-सिद्धान्त का विवेचन उनके पूर्व के बौद्ध-दर्शन के भ्रांति के सिद्धान्त के संदर्भ में किया जाए। यदि नागार्जुन और चन्द्रकीर्ति के शून्यवाद को लें तो हमें ज्ञात होगा कि उन्होंने भी संवृति-सत्य और परम सत्य में विभेद किया है। इस प्रकार नागार्जुन माध्यमिक सूत्रों में कहते हैं कि बौद्ध अपने दर्शन की शिक्षा दो प्रकार के सत्य अर्थात संवृति सत्य (अविद्या से आच्छन्न और सर्व-साधारण की पूर्व कल्पनाओं एवं निर्णयों पर आधारित सत्य) एवं परमार्थ सत्य (निर्विशेष और परमसत्य) के आधार पर देते हैं।[1] 'संवृति' का शाब्दिक अर्थ 'विहित' (बन्द, ढका हुआ) है। चन्द्रकीर्ति संवृति का अर्थ 'सब ओर से बन्द' बताकर कहते हैं कि यहाँ 'संवृति' शब्द का अर्थ अज्ञान ही है क्योंकि वह सम्पूर्ण वस्तुओं के सत्य को ढ़क लेता है।[2] इस अर्थ में हमारे कार्य-कारणात्मक अनुभवों का सम्पूर्ण जगत् जिसका हम प्रत्यक्षीकरण करते हैं एवं जिसके बारे में हम बोलते हैं वह हमारे समक्ष एक ऐसा दृश्य उपस्थित करता है जो अज्ञान द्वारा आच्छादित है। इस जगत् का लौकिक अनुभव में बोध नहीं होता परन्तु चूंकि इस जगत् की प्रत्येक सत्ता अन्य वस्तुओं अथवा सत्ताओं से उत्पन्न होती है एवं वे पुन: किन्हीं अन्य सत्ताओं द्वारा उत्पन्न होती हैं तथा चूंकि उनमें से प्रत्येक की प्रकृति को उन्हें उत्पन्न करने वाली अथवा जिनसे वे उद्भूत हुई हैं उन अन्य सत्ताओं के बिना और इन सत्ताओं के अन्य कारणों को जाने बिना निर्धारित नहीं कर सकते; अत: वर्तमान रूप में स्थित किसी वस्तु के स्वभाव के बारे में निश्चित तौर पर कुछ भी कहना सम्भव नहीं है। वस्तुएँ हमें कई सत्ताओं के मिश्रण के फल के रूप में अथवा संयुक्त फल के रूप में ज्ञात होती हैं। कोई भी वस्तु स्वत: उत्पन्न नहीं होती, अत: फल कदापि स्वत: विद्यमान नहीं होते अपितु उनका अस्तित्व विभिन्न सत्ताओं के आपस में मिलने के कारण है। जिस वस्तु का स्वयं का कोई स्वभाव होता है वह अपने उद्भव के लिए किन्हीं अन्य इकाइयों पर आश्रित नहीं हो सकती अत: हमारे सांसारिक अनुभव के क्षेत्र में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसका स्वयं अपना स्वभाव हो। अत: जगत् की भासित सत्ता पर अज्ञान का रहस्यमय आवरण पड़ा हुआ है एवं लोक-संवृत के प्रसंग में इसी अज्ञानावरण का उल्लेख है। इसे तथ्य-संवृति भी कहा जाता है जो वस्तुत: जादू, मृगतृष्णा-जनित प्रतिबिम्बों आदि के सामान्य भ्रम एवं विभ्रम के रूप में प्रयुक्त मिथ्या-संवृति से भिन्न है।[3] इन्द्रिय-दोष अथवा अन्य कारणों से उत्पन्न होने के कारण अनुभव में बाधित होने वाले को मिथ्यासंवृत कहते हैं क्योंकि उनका मिथ्यात्व अनुभव में प्रकट होता है। तथापि जगत्-प्रतीतियों के मिथ्यात्व का अनुभव उसी समय

---

1 द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना। लोकसंवृतिसत्यं च, सत्यं च परमार्थत:।
—माध्यमिक सूत्र 24·8 पेज 492, बी० बी० संस्करण।

2 अज्ञानं हि समन्तात् सर्वपदार्थतत्वावच्छादनात् संवृतिरित्युच्यते। वहीं पर चन्द्रकीर्ति 'संवृति' शब्द के दो अन्य अर्थ बताते हैं जो उसकी व्युत्पत्ति से सम्बंधित प्रतीत नहीं होते। संवृति का प्रथम अर्थ 'प्रतीत्यसमुत्पाद' है तथा द्वितीय अर्थ लौकिक जगत् है जो वाणी एवं भाषा द्वारा सम्बोधित होता है तथा जिसमें ज्ञाता एवं ज्ञेय के भेद निहित हैं—संवृति: संकेतो लोकव्यवहार:, स च अभिधानाभिधेय-ज्ञान-ज्ञेयादिलक्षण:।

3 बोधिचर्यावतार-पंजिका, पृ० 353, 'बिब्लौथेका इंडिका सिरीज' पृ० 1902।

होता है जब कारणतामूलक संसृष्टियों के सारहीन संतान के परमार्थ रूप को उचित प्रकार से समझ लिया जाता है। जगत् सत्तावान् और अबाध रहता है तथा व्यावहारिक अनुभव में जगत् में सत् का भास होता रहता है किन्तु जब इस बात का ज्ञान हो जाता है कि इन पदार्थों का कोई निजी स्वभाव नहीं है, केवल तभी उनको मिथ्या माना जाता है। दर्शन की समस्त शिक्षाएँ आत्मगत एवं वस्तुगत जगत्-प्रतीतियों को स्वीकार करती हैं एवं उनके तर्कसंगत विश्लेषण तथा मूल्यांकन करने का प्रयत्न करती हैं, तथा केवल इस जगत् के पदार्थों के अनुभव एवं उनकी युक्तियुक्त समझ द्वारा ही साररहित कार्य-कारण प्रवाह के रूप में उनके सत्य का अनुभव करती हैं। अतः भासमान जगत् के केवल सीमित अर्थ में ही सत् होने के कारण सत् के रूप में जगत्-प्रतीति केवल एक सीमित अर्थ में ही सत्य है एवं इस प्रकार जगत् के सत्य को केवल लोक-संवृत की संज्ञा देकर यह बात स्पष्ट की जाती है। यह जगत्-प्रतीति प्रत्यक्षीकरण के सामान्य भ्रम की तुलना में आपेक्षिक रूप से सत्य ही है (उदाहरणार्थ, जब रज्जु में सर्प का भान होता है अथवा किसी को मरुस्थल में मृगतृष्णा भासित होती है)।

परन्तु प्रश्न यह उठता है कि यदि जगत्-प्रतीति का कोई निजी स्वरूप नहीं है तो इसकी (स्वरूप) प्रतीति कैसे होती है अथवा जगत् के पदार्थों की प्रतीति होती ही क्यों है? इस प्रश्न का उत्तर नागार्जुन इस प्रकार देते हैं कि जगत्-स्वप्न आदि के समान है, जो स्वयं अपना कोई सत् स्वरूप धारण न करते हुए भी सत् की वस्तुगत प्रतीति को प्रस्तुत करता है।[1] अविद्यमान आकाश-कुसुम अथवा शश-शृंग के समान जगत् शून्यमात्र नहीं है। इस प्रकार परमार्थ के साथ-साथ सापेक्ष लोक संवृति-सत्य भी है। इसके अतिरिक्त संवेदनात्मक भ्रम, विभ्रम आदि भी होते हैं जिनका सामान्य अनुभवों में बाध (अलोक-संवृत अथवा मिथ्या-संवृत) होता है तथा जो शश-शृंग की तरह विद्यमान मात्र हैं। जगत्-प्रतीति में अन्तर्भूत विपर्यास चार प्रकार के माने जाते हैं, यथा, क्षणिक को स्थायी समझना, दुःखद को सुखद समझना, अपवित्र को पवित्र समझना तथा आत्मरहित को सात्म समझना।[2] यह विपर्यास अविद्या के कारण होता है। चन्द्रकीर्ति के द्वारा आर्य-दृढाशय-परिपृच्छा से उद्धृत अंश में यह कहा है कि जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने को स्वप्न में राजा की वधू के साथ रात्रि व्यतीत करता हुआ देखता है एवं एकाएक यह अनुभव करके कि लोगों ने उसको देख लिया है, अपनी जान की रक्षा-हेतु दौड़ता है(और इस प्रकार किसी स्त्री की अनुपस्थिति में भी उसका प्रत्यक्षीकरण करता है), उसी प्रकार हम भी किसी जगत्-प्रतीति के न होते हुए भी उसके नानारूपों के प्रत्यक्ष होने की घोषणा करने के विपर्यास में सदा गिरते चले जा रहे हैं।[3]

---

1 माध्यमिक-सूत्र, 23·8।

2 इह चत्वारो विपर्यासा उच्यन्ते:, तद्यथा प्रतिक्षणविनाशिनि स्कंधपंचके यो नित्यं इति ग्राहः स विपर्यासः... ..... दुःखात्मके स्कंधपंचके यः सुखं इति विपरीतो ग्राहः सोऽपरो विपर्यासः; शरीरम् अशुचि-स्वभावं तत्र यो शुचित्वेन ग्राह स विपर्यासः पंच स्कंधं निरात्मकं तस्मिन् यं आत्मग्राहः अनात्मनि आत्माभिनिवेशः स विपर्यासः। उसी स्थान पर चन्द्रकीर्ति की टीका 23·13 इसकी तुलना योग-सूत्र 2·5।

3 माध्यमिक-सूत्र 23·13 पर चन्द्रकीर्ति की टीका।

विपर्यास की ऐसी उपमाएँ स्वभावतः इस कल्पना को जन्म देती हैं कि कोई ऐसा सत् अवश्य होना चाहिए जिसे किसी अन्य वस्तु के रूप में ग्रहण करने की भूल होती है, परन्तु जैसाकि पहले कहा जा चुका है, बौद्धों ने इस तथ्य पर बल दिया है कि स्वप्न में भ्रमात्मक प्रतीतियाँ हमारे द्वारा पूर्वानुभूत वस्तुगत दृश्यों के रूप में निस्सन्देह वस्तुगतरूप से ज्ञात थीं; ये ऐसे अनुभव हैं जिनकी हमें प्रतीति होती है यद्यपि वस्तुतः कोई ऐसा सत् नहीं होता जिस पर उन प्रतीतियों का अध्यास अथवा आरोपण हो। इस बात पर ही शंकर का उनसे मतभेद था। इस प्रकार ब्रह्मसूत्र पर लिखे गए अपने भाष्य की प्रस्तावना में शंकर कहते हैं कि सम्पूर्ण भ्रान्त प्रत्यक्ष का मर्म यह है कि किसी वस्तु को कोई अन्य वस्तु समझ लिया जाता है एवं एक वस्तु के गुण, लक्षण और विशेषताएँ दूसरी वस्तु के गुण, लक्षण और विशेषताएँ समझे जाते हैं। भ्रम की परिभाषा किसी पूर्वानुभूत वस्तु की किसी अन्य वस्तु में मिथ्या प्रतीति के रूप में की गयी है, जैसे स्मृत बिम्ब। कुछ लोगों ने इसे 'एक वस्तु के सम्बन्ध में दूसरे वस्तु के लक्षणों को मिथ्या-स्वीकृति कहकर समझाया है। अन्य लोग (स्मरण के लोप के कारण) दो विषयों के (प्रत्यक्ष ज्ञान एवं पूर्वकाल में प्रत्यक्ष हुए विषय की स्मृति) विवेकाग्रह (अर्थात् भेद के ज्ञान के अभाव) को अध्यास कहते हैं। दूसरे लोगों के विचार में जब एक विषय में दूसरे विषय का मिथ्या-बोध होता है तो प्रथम वस्तु के विजातीय धर्मों से युक्त होने (विपरीतधर्मता) की कल्पना ही भ्रम है। परन्तु विश्लेषण के इन सब विभिन्न प्रकारों में भ्रम मूलतः एक विषय की अन्य विषयों के लक्षणों से युक्त मिथ्या प्रतीति के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इसी प्रकार शुक्ति में रजत का भान होता है अथवा एक चन्द्रमा में दो चन्द्रमा दिखाई देते हैं।[1] आगे चलकर शंकर कहते हैं कि हमारी 'अहं' वृत्ति के कारण प्रत्यगात्मा का अनुभव होता है एवं वह अपरोक्षानुभूति है अतः उसकी अनुभूति पूर्णतः अविषयानुभव नहीं है जिसके फलस्वरूप सम्भवतःअनात्मा एवं उसके लक्षणों का प्रत्यगात्मा पर भ्रमात्मक रूप से अध्यास होता है। प्रत्यगात्मा पर अनात्मा एवं उसके लक्षणों के इस भ्रमात्मक अध्यास को अविद्या कहते हैं।

गौड़पाद-कारिका 1·17 के अपने भाष्य में शंकर कहते हैं कि जब रज्जु में सर्प का भ्रम हो जाता है तो वह सत्ता नहीं बल्कि मिथ्या अध्यास अथवा आभास मात्र है। रज्जु में सर्प की कल्पना से सर्प विद्यमान नहीं हो जाता, जो बाद में विवेक की प्राप्ति से अविद्यमान हो जाता है।[2] गौड़पाद-कारिका पर लिखे हुए अपने भाष्य में शंकर गौड़पाद के मत को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि व्यावहारिक जगत् स्वप्नवत् भ्रमात्मक है। स्वप्न मिथ्या होते हैं क्योंकि स्वप्न में मनुष्य को दूरस्थ स्थानों पर जाने का अनुभव भले ही हो परन्तु जाग्रत् होने पर वह देखता है कि केवल कुछ क्षणों के लिए ही वह सोया था तथा वह अपने बिस्तर से एक कदम भी आगे नहीं चला है। अतः स्वप्नानुभव मिथ्या होते हैं क्योंकि जाग्रदनुभव द्वारा उनका बोध होता है। परन्तु जाग्रदनुभव भी स्वप्नानुभव

---

1 ब्रह्मसूत्र पर शंकर का अध्यास-भाष्य निर्णयसागर प्रेस, बम्बई 1904।

2 रज्जवां सर्पइव कल्पितत्वात् न तु स विद्यते·········न हि रज्जवां भ्रान्तिबुद्ध्याकल्पितः सर्पो विद्यमानः सन् विवेकतो निवृत्तः, तथेदं प्रपंचाख्यं मायामात्रम्। गौड़पादकारिका 1·17 आनन्दाश्रम सीरीज।

के सदृश होने के कारण मिथ्या हैं। दोनों प्रकार के अनुभवों में ज्ञाता एवं ज्ञेय का द्वैत विद्यमान होने के कारण दोनों मौलिक रूप से एक ही हैं; अतः दोनों में से यदि एक मिथ्या है तो अन्य भी मिथ्या होगा। सांसारिक अनुभव भ्रम के अन्य सुविख्यात उदाहरणों के समान–जैसे मृगतृष्णा हैं। न आदि में इसकी विद्यमानता थी और न अन्त में इसकी विद्यमानता होगी अतः मध्य में भी इसकी विद्यमानता नहीं हो सकती। यह आक्षेप अग्राह्य है कि हमारे जाग्रत अवस्था के अनुभव व्यावहारिक प्रयोजनों की पूर्ति करते हैं अतः स्वप्नानुभव में अनुपलब्ध सत्य की व्यवहारवादी कसौटी उनसे सम्बद्ध है क्योंकि जाग्रदनुभव की व्यवहारवादी कसौटियों का स्वप्नानुभव द्वारा बोध हो सकता है, जैसे कोई मनुष्य अत्युत्तम भोज के बाद भी यह स्वप्न देख सकता है कि वह कई दिनों से क्षुधातुर है। इस प्रकार हमारे मनस् का अन्तर्जगत् एवं उसके अनुभव तथा बाह्य वास्तविक जगत् मिथ्या सृष्टियाँ हैं।[1] परन्तु गौड़पाद एवं शंकर का शून्यवादी बौद्धों से इस बात में मतभेद है कि उनके विचार में मिथ्या सृष्टि का भी सत्य में कुछ आधार होता है। यदि रज्जु में सर्प का भान होता है तो सर्प की मिथ्या सृष्टि का रज्जु की सत्यता में कुछ आधार होता है। मिथ्या सृष्टि एवं मिथ्या भान (जैसे रज्जु में सर्प का भान एवं शुक्ति में रजत का भान अथवा मृगतृष्णा) की उपलब्धि निरास्पद नहीं होती।[2] स्मरणीय है कि अन्योन्याश्रय होने के कारण एवं स्वयं का कोई स्वभाव नहीं होने के कारण नागार्जुन ने समस्त प्रतीतियों के मिथ्यात्व को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। तर्क-विद्या के समस्त प्रतीतियों पर लागू होने के कारण कोई भी ऐसा विषय शेष नहीं रहता जो सापेक्ष और परस्पर आश्रित न हो अथवा जो स्वभावतः स्वतः प्रमाण हो तथा जो किसी अन्य विषय की अपेक्षा किए बिना स्वतः ही बुद्धिगम्य हो। समस्त प्रतीतियों की इस सापेक्षता एवं पारस्परिक आश्रितता को ही नागार्जुन ने 'शून्यता' की संज्ञा दी है। अन्य किसी विषय के प्रसंग के बिना स्वतन्त्र रूप से, किसी वस्तु को स्वीकार नहीं किया जा सकता, अतः किसी वस्तु की स्वतः सत् स्वभाव रूप में कल्पना नहीं की जा सकती। अतः समस्त प्रतीतियाँ केवल परस्पर आश्रित काल्पनिक सृष्टियाँ ही हैं एवं यही पारस्परिक आश्रितता ही उनके स्वभाव की सारहीनता को सिद्ध करती है। सत्य का कहीं भी कोई आधार नहीं है। प्रत्येक विषय सारहीन है। परन्तु न तो शंकर एवं न गौड़पाद ने ही यह बताने का प्रयत्न किया है कि विचार, संवेग, ऐच्छिक क्रियाओं तथा बाह्य वस्तु-जगत् को भ्रमात्मक प्रतीति क्यों माना जाय? उनकी मुख्य बात उनकी इस दृढ़ोक्ति में निहित है कि स्वप्नानुभव की तरह समस्त प्रतीतियाँ अथवा अनुभव मिथ्या हैं। जाग्रदनुभव के अपूर्ण सादृश्य का तर्क दिया गया है एवं सम्पूर्ण विविध प्रतीतियों को मिथ्या बताया गया है। परन्तु इसके साथ ही इस बात को भी दृढ़तापूर्वक कहा गया है कि इस मिथ्या सृष्टि का कोई सत्य आधार होना चाहिए। विकारशील प्रतीतियों का कोई अविकारी आधार होना चाहिए जिस पर उनका अध्यास हो और यह आधार आत्मा अथवा ब्रह्म है जो एकमात्र, नित्य, अविकारी एवं

---

1 गौड़पादकारिका 2.1–12 शांकर भाष्य।

2 नहि निरास्पदा रज्जु-सर्प-मृगतृष्णिकादयः क्वचित् उपलभ्यन्ते।
वही 1–6।

सत् है। यह आत्मा विशुद्ध विज्ञप्ति-मात्र सत्ताद्वय रूप से स्थित है।[1] जिस प्रकार 'सर्प' की मिथ्या सृष्टि रज्जु के अर्थ में प्रतीत होती है, उसी प्रकार सम्पूर्ण ऐसे निर्णय "मैं सुखी हूँ" "मैं दुःखी हूँ", "मैं अज्ञानी हूँ", "मैं जन्म लेता हूँ", "मैं वृद्ध हूँ", "मैं शरीरधारी हूँ", "मैं प्रत्यक्ष करता हूँ" आदि आत्मा से सम्बन्धित मिथ्या विशेषण हैं; वे सब मिथ्या, विकारशील एवं भ्रमात्मक विशेषण हैं एवं केवल आत्मा ही उपरोक्त सब प्रकार के निर्णयों में शाश्वत रहता है। ऐसे विशेषणों से आत्मा पूर्णतया भिन्न है, वह स्वयंदीप्त एवं स्वतः व्यक्त एवं स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित होता है।

प्रतीत्यसमुत्पाद अर्थात् वस्तुओं की परस्पर निर्भरता की युक्ति का सहारा लेते हुए नागार्जुन ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि जगत् में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जिसे अपनी वर्तमान अवस्था में किसी वस्तु का सार कहा जा सके, परन्तु वह मिथ्या काल्पनिक वस्तुओं की सृष्टि की प्रतीति के स्रोत की व्याख्या नहीं कर सके। सार-रहित परस्पर आश्रित घटनाओं की जगत्-प्रतीति किस प्रकार प्रकट हुई? शंकर ने तीक्ष्ण तर्क द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया कि जगत्-प्रतीति मिथ्या है। चूंकि उपनिषदों ने ब्रह्म को परम तत्त्व घोषित किया है अतः उन्होंने जगत् के मिथ्यात्व को सहजभाव से स्वीकार कर लिया। परन्तु प्रतीत्यात्मक जगत् किस प्रकार स्वयं को प्रकट करता है? ऐसा लगता है कि शंकर ने इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया एवं केवल यही कहकर वे आगे बढ़ गए कि जगत्-प्रतीति अविद्या के कारण है। इसे न तो सत् और न असत् ही कहा जा सकता है, वह तो शुक्ति-रजत की तरह भ्रम है। परन्तु ब्रह्म-सूत्र के प्रथम चार सूत्रों पर लिखे गए शंकर-भाष्य पर पंचपादिका नामक टीका के लेखक पद्मपाद कहते हैं कि ब्रह्मसूत्रों पर लिखी गयी अपनी टीका की भूमिका में शंकर कहते हैं कि 'मिथ्या ज्ञान' का ठीक अर्थ यह है कि जगत् में एक जड़ात्मिका अविद्या शक्ति है एवं वही शक्ति जगत्-प्रतीति के उपादान में रूपान्तरित हो जाती है।[2] इस संदर्भ में यह ज्ञातव्य है कि शांकर-दर्शन के अनुसार प्रतीत्यात्मक जगत् न केवल वस्तु जगत् से ही अपितु आत्मा से संबद्ध होने योग्य सभी अनुभूतियों एवं विशेषणों से निर्मित है। इस प्रकार जब कोई कहता है 'अहम्' तब इस अहंभाव का विश्लेषण दो भागों से निर्मित अर्थ में किया जाता है–एक तो शुद्ध चैतन्य एवं द्वितीय अस्मत्-प्रत्यय जो उस शुद्ध चैतन्य द्वारा प्रकाशित होता है एवं जिसके साथ उसका मिथ्या संबन्ध होता है। अस्मत्-प्रत्यय का अर्थ यहाँ जडात्मिका अविद्या शक्ति है जो शुद्ध चैतन्य की शक्ति के कारण प्रकट होती है एवं जिसके कारण मनुष्य कहता है 'अहमस्मि' अथवा 'मनुष्योऽहं'।[3] यह अविद्या शक्ति शुद्ध आत्मन् में आश्रित है एवं एक ओर तो उसके (आत्मन् के) यथार्थ ब्रह्म-स्वरूप अवभासित होने (प्रदर्शन) में बाधक होती है तथा दूसरी ओर हमारे सामान्य अनुभव के मनोवैज्ञानिक व आत्मा से सम्बन्धित विविध प्रत्ययों में अपने आपको रूपा-

---

1 गौड़पादकारिका 2.17।

2 पंचपादिका पृ० 4, विजयनगरम्, संस्कृत सिरीज, 1891।

3 अस्मत्प्रत्यये योऽनिदमंशश्चिदेकरसः तस्मिंस्तद्बलनिर्भासिततया लक्षणतो युष्मदर्थस्य मनुष्याभिमानस्य संभेदैवावभासः स एव अध्यासः–पंचपादिका पृ० 3।

न्तरित करती है ।[1] चिन्तन, अनुभूति, इच्छा इत्यादि मनोवैज्ञानिक गुणों का संबंध प्रत्यक्-चिति के साथ होने के कारण भ्रम होता है । ये मनोवैज्ञानिक निर्धारणाएं परस्पर एक दूसरे से संबंधित हैं । इस प्रकार सुखों के उपभोग के लिए प्रथमतः कर्म विशेष अभीष्ट है, क्रिया के लिए आसक्ति, द्वंद्व एवं इच्छाएं आवश्यक हैं, तथा सुख-दुःख का अनुभव कर लेने के बाद ही उनमें आसक्ति एवं इच्छाएं उत्पन्न होती हैं—अतः यह मनोवैज्ञानिक निर्धारणाएँ अनादि चक्र के रूप में स्वभावतः अनुभवातीत स्वयंप्रकाश प्रत्यक् चिति से संबंधित हैं ।[2]

पद्मपाद अथवा प्रकाशात्मन् की व्याख्या के अनुसार उपर्युक्त विचार से स्पष्ट है कि अज्ञान अपरिमाप्य है जिसमें परिवर्तन होने के कारण आत्मगत मनोवैज्ञानिक अनुभव एवं नानाविषयात्मक जगत् का आविर्भाव हुआ है । यह अज्ञान बौद्धों का अज्ञान अर्थात् मिथ्या बुद्धि नहीं है एवं न यह अध्यास नागार्जुन का विपर्यय ही है, क्योंकि यहाँ यह एक भावात्मिका शक्ति है । इस प्रकार प्रकाशात्मन् के अनुसार समस्त कार्यों के पीछे कोई कारण अवश्य होते हैं जो उनके उपादान होते हैं । जगत्प्रतीति भी एक कार्य है अतः इसका भी कोई उपादान अवश्य होगा जिससे इसका विकास अथवा निर्माण हुआ । उस प्रत्यक्-चिति में भिन्न शक्ति के रूप में निहित अज्ञान ही अध्यास का एक उपादान कारण है ।[3] प्रत्यक्-चिति में इस अविद्या शक्ति का स्वरूप भावरूप है । यह भावरूप अज्ञान कई क्षणिक प्रत्यक्षों में अपरोक्ष रूप से गोचर होता है, जैसे 'मैं अपने-आपको अथवा दूसरों को नहीं जानता' एवं उपलक्ष्य में भी इसका अनुमान अथवा बोध होता है ।[4] अविद्या अथवा अज्ञान को प्रत्यक्-चिति में अन्तर्निहित शक्ति मानने का तात्पर्य यह है कि वह (अविद्या) उस पर आश्रित है । अविद्या कोई शक्ति नहीं है बल्कि एक द्रव्य अथवा इकाई सत्ता है जिसमें कई शक्तियां निहित हैं जिनके द्वारा वह नानाविषयात्मक जगत् की अस्मद् एवं युष्मद की प्रतीतियों में अपना रूपान्तर करती है, फिर भी इसे प्रत्यक्चिति पर आश्रित होने के कारण शक्ति कहा गया है । एवं अविद्या तथा उसके रूपान्तरों के आत्मा पर इस पूर्ण आश्रितत्व के हेतु ही आत्मा को बाह्य जगत् एवं मनस् के विश्वजनीन प्रतीतिरूप समस्त कार्यों का कारण माना गया है ।[5] अतः आत्मा में अज्ञान केवल परतन्त्रता का ही

---

1 अतः सा प्रत्यक्-चिति ब्रह्मस्वरूपावभासं प्रतिबजाति अहंकाराद्यतद्रूप-प्रतिभास-निमित्तं च भवति । —पंचपादिका पृ० 5 ।

2 प्रकाशात्मन् द्वारा लिखित पंचपादिकाविवरण, पृ० 10, विजयनगरम् संस्कृत सिरीज 1892 ।

3 सर्वं च कार्यं सोपादानं भावकार्यत्वात् घटादिवदित्यनुमानात्....तस्मान् मिथ्यार्थं तज्ज्ञानात्मकं मिथ्याभूतमध्यासमुपादानकारणसापेक्षं मिथ्याज्ञानमेवाध्यासोपादानम् । —पंचपादिकाविवरण, पृ० 11–12 ।

4 पंचपादिकाविवरण, पृ० 13 ।

5 शक्तिरित्यात्मपरतन्त्रतया आत्मनः सर्वकार्योपादानस्य निर्बोद्दत्वाम् । पंचपादिका विवरण, पृ० 13 । आत्मकारणत्वनिर्बोद्दत्वादात्मपरतन्त्रत्वाच्च शक्तिमत्यामपि शक्तिशब्दउपचरितः । अखंडानंद मुनि द्वारा लिखित 'तत्वदीपन' पृ० 65, चौखंबा संस्कृत बुक डिपो, बनारस ।

कार्य नहीं करता बल्कि स्वप्रकाश होते हुए भी विचित्र शक्तिभावरूप अविद्या द्वारा प्रयुक्त होने के कारण इसका आवरण भी होता है एवं वही इस अज्ञानरूपात्मक नानाविषयक जगत् का आधार है।[1]

अप्पय दीक्षित अपने 'सिद्धान्तलेश' नामक ग्रन्थ में पदार्थ तत्त्व के लेखक के मत को निम्न प्रकार से संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करते हैं।[2] ब्रह्म एवं माया दोनों उपादान कारण हैं (उभयमुपादानम्) अतः जगत्प्रपंच में दो विभिन्न लक्षण हैं : ब्रह्म से सत्ता एवं माया से जड़ता। माया के अधिकारी अधिष्ठान के रूप में ब्रह्मन् कारण है किन्तु माया उस उपादान के रूप में कारण है जो वस्तुतः परिवर्तित होता है। वाचस्पति मिश्र भी अविद्या सहित ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण मानते हैं (अविद्यासहितब्रह्मोपादानम्)।[3] अपने ग्रन्थ भामती के प्रारम्भ में मंगलाचरण में उन्होंने सम्पूर्ण विषयात्मक जगत् के अविकारी कारण, अनिर्वाच्य अविद्या को ब्रह्म के सचिव के रूप में माना है।[4] सर्वज्ञात्म मुनि नानाविषयात्मक जगत् की रचना में माया को ब्रह्म के समान सहायक नहीं मानते एवं ब्रह्म को माया की नैमित्तिकता द्वारा जगत् का यथार्थ उपादान कारण मानते हैं क्योंकि ब्रह्म निरपेक्ष अविकारी होने के कारण उसे अपने-आपमें नहीं माना जा सकता; जब ब्रह्म को कारण कहा जाय तब ऐसा माया की नैमित्तिकता द्वारा उपलक्षणार्थ में ही होगा।[5] अप्पय दीक्षित ने 'सिद्धान्त-मुक्तावली' के लेखक का उल्लेख करते हुए लिखा है कि उनके मतानुसार केवल माया ही जगत्-प्रतीति का उपादान कारण हैं, ब्रह्म किसी भी प्रकार से जगत् का उपादान कारण नहीं है परन्तु वह (ब्रह्म) केवल माया का आश्रय मात्र है एवं इसी दृष्टि से इसे उपादान कारण कहा गया है।[6]

यह स्पष्ट है कि नाना विषयात्मक जगत् की रचना के संबंध में माया एवं आत्मा अथवा ब्रह्म के संबंध के स्वरूप के बारे में उपर्युक्त मतभेद केवल शब्द अथवा वाग्जाल-मात्र है जिसका दार्शनिक महत्त्व कुछ भी नहीं है। जैसाकि कहा जा चुका है, उपर्युक्त प्रश्न शंकर के मस्तिष्क में उत्पन्न हुए प्रतीत नहीं होते। उन्होंने अविद्या एवं ब्रह्म के संबंध तथा जगत् के उपादान कारण के रूप में इस संबंध के योगदान की कोई निश्चित व्याख्या करना उपयुक्त नहीं समझा। जगत् भ्रम है एवं ब्रह्म उस सत्य का आधार है जिस पर भ्रम की प्रतीति होती है, क्योंकि नानात्व अर्थात् भ्रम को भी किसी अधिष्ठान की आवश्यकता रहती ही है। उन्होंने कभी भी अपने सिद्धान्त से स्वाभाविक रूप से संबंधित कठि-

---

1 अतः स्वप्रकाशेऽपि आत्मनि विचित्रशक्तिभावरूपाविद्याप्रयुक्तमावरणं दुरपह्नवम्। रामानन्द सरस्वती द्वारा लिखित विवरणोपन्यास, पृ० 1–6, चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, बनारस, 1901।

2 सिद्धान्तलेश, पृ० 12, वी.एस. सिरीज, 1890।

3 शांकर भाष्य पर भामती, 1–1–2 निर्णय सागर प्रेस 1904।

4 अनिर्वाच्याविद्याद्वितय-सचिवस्य प्रभवतो विवर्ता यस्यैतेवियदनिलतेजोऽबवनयः। –शांकर भाष्य पर भामती पृ०, 1।

5 संक्षेप-शारीरक, 1,333,334 भाऊ शास्त्री का संस्करण।

6 सिद्धान्तलेश, पृ० 13, वी०एस० सीरीज, 1890।

नाइयों का पूर्ण रूप से सामना नहीं किया अतः इस भ्रमपूर्ण जगत् की रचना के विषय में माया एवं ब्रह्म के निश्चित संबंध की व्याख्या करना आवश्यक नहीं समझा। इस प्रकार के मतों के विरुद्ध स्वाभाविक आपत्ति यह है कि अविद्या (जो निषेधात्मक उपसर्ग 'अ' एवं विद्या' के समास से बना है) का अर्थ या तो विद्या का अभाव हो सकता है या मिथ्या ज्ञान हो सकता है। उपर्युक्त दोनों ही अर्थों में यह किसी वस्तु का उपादान कारण अथवा द्रव्य-भूत नहीं हो सकता, क्योंकि मिथ्या ज्ञान किसी भी प्रकार का द्रव्य नहीं हो सकता जिसमें से अन्य वस्तुओं का आविर्भाव हो सकता हो।[1] ऐसी आपत्ति का समाधान कराते हुए आनन्द भट्टारक कहते हैं कि यह अविद्या मनोवैज्ञानिक अज्ञान नहीं है अपितु यह एक विशिष्ट पारिभाषिक वस्तु है जो अनादि एवं अनिर्वाच्य है (अनाद्यनिर्वाच्याविद्याश्रयणात्)। ऐसी वस्तु को स्वीकार करना एक ऐसी परिकल्पना है जिसको सत्य मानना उचित है क्योंकि यह तथ्यों की व्याख्या करती है। कार्यों का कारण होना आवश्यक है एवं केवल निमित्त कारण कार्य के अधिष्ठान की उत्पत्ति की व्याख्या नहीं कर सकता; पुनः अयथार्थ कार्यों का उपादान कारण न तो यथार्थ हो सकता है एवं न निरपेक्षरूप से असत् ही उनका उपादान कारण हो सकता है। अतः चूंकि जगत् का उपादान कारण न तो सत् हो सकता है और न निरपेक्षरूप से असत् ही हो सकता है अतः वेदान्तियों के लिए यह परि-कल्पना करना आवश्यक हो जाता है कि इस मिथ्या जगत्-प्रतीति का उपादान कारण एक ऐसी इकाई है जो न तो सत् है एवं न असत् ही है।[2] आनन्दबोध अपनी 'प्रमाणमाला' में वाचस्पति की 'ब्रह्म-तत्त्व-समीक्षा' से उद्धरण देते हुए लिखते हैं कि अविद्या को अविद्या इसीलिए कहा गया है कि यह न तो सत् है और न असत् ही; अतः अनिर्वचनीय है; अविद्या के अविद्यात्व का बोध इसी पद से होता है।[1] आनन्दबोध के मत में अविद्या को स्वीकार करना प्रतीत्यात्मक जगत् के संभावित कारण को बताने का तार्किक परिणाम मात्र है--अर्थात् जगत्-प्रतीति के यथागत स्वरूप को दृष्टि में रखें तो उसका कारण कोई प्रतीति होगी जो न तो सत् और न असत् ही हो सकती है; परन्तु ऐसी वस्तु के प्रत्यय से हम क्या अभिप्राय लेते हैं कह नहीं सकते। स्पष्टतया यह अगम्य है, ऐसे प्रत्यय की तार्किक आवश्यकता केवल यही संकेत करती है कि जो इस मिथ्या जगत् का उपादान कारण है उसे न तो सत् अथवा न असत् ही माना जा सकता है; परन्तु इस प्रकार के निरूपण से

---

1 अविद्या हि विद्याभावो मिथ्याज्ञानं वा न चोभयम् कस्यचित् समवायिकारणम् अद्र-व्यत्वात्। आनन्दबोध कृत न्यायमकरन्द पृ० 122, चौखम्भा संस्कृत बुक डिपो, बनारस 1901।

2 आनन्दबोध कृत न्यायमकरन्द, पृ० 122-124।

3 सदसदुभयानुभयादि-प्रकारैः अनिर्वचनीयत्वमेव हि अविद्यानां अविद्यात्वम्। 'ब्रह्मतत्त्व समीक्षा' जैसाकि 'प्रमाण माला' में उद्धृत है। पृ० 10, चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो बनारस, 1907।

यहाँ प्रत्ययसंगत एवं बोधगम्य नहीं हो जाता।[1] अतः अविद्या का प्रत्यय स्पष्टरूप से अबोध एवं असंगत है।

बौद्ध दर्शन एवं वेदान्त में विचार तथा उसका विषय

वेदान्त के अनुसार दो प्रकार से वस्तुओं पर विचार किया जा सकता है; प्रथम एवं द्वितीय दृष्टिकोण क्रमशः. परम तत्त्व तथा भ्रमात्मक जगत् के प्रसंग में हैं। यह परम तत्त्व विशुद्ध चित्स्वरूप है जिसका विशुद्ध आनन्द एवं सत् स्वरूप के साथ तादात्म्य है। अविकारी होने के कारण इसे परम तत्त्व कहा जाता है। विशुद्ध चित्स्वरूपता से वेदान्त का तात्पर्य साधारण ज्ञानात्मक अवस्थाओं से नहीं है क्योंकि उनमें उनसे भिन्न वस्तुगत एवं आत्मगत सामग्री है। उस विशुद्ध चैतन्य का अनुभव तत्क्षण होता है जो हमारी संपूर्ण चैतन्यावस्थाओं में अनुस्यूत दैवी प्रकाशन के अनुरूप है। हमारे विषय बोध कुछ अर्थों में ऐसी घटना है जिसमें अस्मत्त्व-आत्मत्व और युष्मत्व वस्तुत्व में दोनों का समावेश है, परन्तु प्रत्येक अवस्था में उसका विशिष्ट लक्षण प्रकाशित अन्तर्मुखता अथवा तात्क्षणिकता है जो अधिकारी तथा कालातीत है। हमारे देखने, श्रवण करने, अनुभव करने, स्पर्श करने, विचार करने एवं स्मरण करने के तथ्य यह बताते हैं कि जगत् में विविध ज्ञान है। परन्तु इस ज्ञान का स्वरूप क्या है? यह कोई क्रिया है अथवा तथ्य है? जब मैं नील-वर्ण देखता हूँ उस अवस्था में एक नील विषय विद्यमान होता है, नीले रूप में प्रतीति का एक विशिष्ट प्रकाशन विद्यमान होता है एवं द्रष्टा के रूप में 'अहं' का प्रकाशन होता है। यह एक ऐसा प्रकाशन है जिसमें 'नीलवर्ण' के रूप में लक्षण-विशेष और नीली वस्तु के रूप में उस वस्तु-विशेष दोनों का ही प्रकाशन होता है। प्रत्यक्षीकरण में जो अभिव्यक्ति होती है वह एक होती है और वह विषय एवं उसकी प्रतीति को लक्षणविशेष में एक प्रकार से नीलवर्ण के रूप में अभिव्यक्त करती है। यह अभिव्यक्ति लक्षण-प्रतीति एवं विषय के बीच रहने वाले किसी संबंध की उत्पत्ति मात्र नहीं है। क्योंकि नील के रूप में लक्षण-प्रतीति एवं विषय दोनों प्रकाशन में विद्यमान हैं। अनुभूति स्वयंसिद्ध है एवं अद्वितीय है। मेरे देखने में, श्रवण में, अनुभव करने में, तथा परिवर्तन में यह सत्य है कि एक प्रकार का चैतन्य शाश्वत रूप से रहता है जिसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। चैतन्य स्वयं ही सदा वर्तमान रहता है एवं उसकी सामग्री के सदृश उसमें कोई विकार नहीं होता। मुझे स्मरण है कि मैंने पाँच मिनट पूर्व एक नील विषय देखा था, परन्तु ऐसा करने में मुझे अभिव्यक्त अथवा उत्पन्न होने वाले देश-कालिक संबंधविशेष से युक्त नील विषय के बिम्ब का ही प्रत्यक्ष होता है परन्तु स्वयं अभिव्यक्ति की पुनः अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। मैं चेतन हो सकता हूँ परन्तु चैतन्य का चेतन नहीं हो सकता क्योंकि चैतन्य के तत्क्षण उपस्थित रहने पर भी वह स्वतः किसी अन्य चैतन्य का विषय नहीं बन सकती। बोध का बोध अथवा ज्ञान के ज्ञान का ज्ञान जैसी कोई वस्तु नहीं हो सकती, यद्यपि हम अपनी इच्छानुसार भाषा

---

1 वैलक्षण्य-वाचो-युक्तिर्हि प्रतियोगि-निरूपणाद् यौक्तिकत्व-प्रकटनफला न तु एवं रूपतायाः सामंजस्य-संपादनाय इत्यवोचाम।

—प्रमाण माला, पृ० 10।

में ऐसे शब्द समुदायों को बढ़ा सकते हैं। जब मुझे स्मरण होता है कि आज प्रातः मैं ट्रिनिटी कॉलेज हो आया हूँ, तो उसका अर्थ केवल यही है कि चर्च स्ट्रीट एवं ट्रिनिटी स्ट्रीट में आने वाले 'कामन्स' के रास्ते की कल्पना मेरे मस्तिष्क में है, उनसे होकर मेरा जाना कालिक रूप से पीछे धकेल दिया गया है। परन्तु यह सब वर्तमान समय में बिम्बरूप में अभिव्यक्ति है; भूत की अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति नहीं। मैं यह नहीं कह सकता कि यह वर्तमान बिम्ब वर्तमान प्रकाशन के विषय के रूप में उस बिम्ब विशेष का किसी भी प्रकार से प्रकाशन करता है। परन्तु पूर्ववर्ती प्रकाशन वर्तमान प्रकाशन से भिन्न नहीं समझा जा सकता, क्योंकि भेद सदैव सामग्री पर आधारित रहता है प्रकाशन पर नहीं। अभिव्यक्ति स्वतः एकरूपा होती है एवं ऐसा होने के कारण एक अभिव्यक्ति दूसरी का विषय नहीं हो सकती। ऐसा कहना अशुद्ध है कि 'अ अ है' का तात्पर्य यह है कि एक 'अ' पुनः स्वयं 'अ' होता है। व्याकरणसंबंधी शब्दावली की सीमा में बद्ध होने के कारण एकरूपता का वर्णन इस प्रकार किया जाता है। इस प्रकार एकरूपता का अर्थ संबंध के अर्थ में किए गए एकरूपता के अर्थ से भिन्न है। एकरूपता को संबंध के रूप में समझने का अर्थ उसमें भेद अथवा अन्यत्व समझना है एवं इस प्रकार वह स्वयं में परिपूर्ण नहीं होती। स्वयं में परिपूर्ण नहीं होने के कारण ही इसे संबंध कहा जा सकता है। जब यह कहा जाता है कि 'अ अ के अनुरूप है' तो इसका अर्थ यह है कि विभिन्न अवसरों एवं अर्थों में जहाँ कहीं भी 'अ' प्रकट हुआ वहाँ उसका एक ही वस्तु से अर्थ है, उसकी वही आकृति है अथवा वह हिन्दी की वर्णमाला का वही प्रथम अक्षर है। इस अर्थ में एकरूपता विचार का एक कार्य है जिसका अस्तित्व विरोध अथवा अन्यत्व के अर्थ से संबद्ध है, न कि उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व है। परन्तु अभिव्यक्ति में कोई अन्यत्व नहीं होता, वह निरपेक्ष रूप से एक ही प्रकार सर्वव्यापी होती है। परन्तु जिस एकरूपता की अभिव्यक्ति का हम वर्णन कर रहे हैं उसका अर्थ यह नहीं है कि अभिव्यक्ति विभिन्न उपादानों के बीच एक ही वस्तु व्यक्त करे। यह तो केवल साररूप से अपने स्वयं में एकरूप है, जो संख्यासूचक अथवा अन्य प्रकार के भेद से रहित है। यह पूर्ण रूप से 'अब' एवं 'तब', 'यहाँ' एवं 'वहाँ' 'ऐसा' अथवा 'ऐसा नहीं' और 'यह' एवं 'वह' से मुक्त है। स्वयं-ज्योति आत्मा का चैतन्य इस अर्थ में विषय-प्रपंच से संबद्ध नहीं माना जा सकता, बल्कि यह आत्मा की अभिव्यक्ति अथवा सत्ता का तथ्य है। यदि हम अभिव्यक्ति को इस दृष्टि से ग्रहण करें तो अभिव्यक्ति का वर्तमानकाल की अभिव्यक्ति अथवा भूतकाल की अभिव्यक्ति के रूप में भेद करना भूल है। क्योंकि जैसे विषयों की अभिव्यक्ति होती है वैसे ही काल की भी अभिव्यक्ति होती है, वे अभिव्यक्ति का निर्माण नहीं करते अथवा उसका कोई भाग नहीं है। यह अभिव्यक्ति स्वयं ज्योति आत्मा से एक रूप है जिसके साथ अन्य सब वस्तुओं का संबंध स्थापित करना आवश्यक है, ताकि उनके बारे में ज्ञान प्राप्त किया जा सके।

"बोध एक प्रकार की क्रिया है अथवा यथार्थता ?" इसका उत्तर देने के पूर्व बोध के अर्थ को स्पष्ट करना आवश्यक होगा। यदि हम अभिव्यक्ति के रूप की ओर ध्यान न दें एवं काल अथवा गुणसंबंधी लाक्षणिक परिवर्तन की दृष्टि से ध्यान दिए जाने वाले मानसिक अवस्थाओं की बात करें तो हमें उन्हें कोई कृति अथवा घटना समझना चाहिए। यदि हम किसी मानसिक अवस्था को कुछ लक्षणों से युक्त एवं अपने विषयों से संबंधित समझें तो हमें उन रूपों को बताना पड़ेगा। परन्तु, यदि हम बोध का अर्थ उसके परम सत्य

एवं सत्ता की दृष्टि से अभिव्यक्ति के रूप में लें तो हम उसे न तो कृति और न यथार्थता ही कह सकते हैं। क्योंकि अभिव्यक्ति होने के कारण वह स्वयं में अद्वितीय एवं अविकार्य है। उसमें संपूर्ण लक्षणों एवं संबंधों का प्रकाशन होता है—वह स्वयंसिद्ध है एवं वह एक ही क्षण में उन सबमें है तथा उनसे परे भी है। हमारी स्वप्नावस्था अथवा जाग्रत्‌अवस्था में, भ्रम अथवा सत्य के अनुभव की अवस्था में। अभिव्यक्ति सदैव विद्यमान रहती है। जब हम अपनी मानसिक अवस्थाओं की ओर ध्यान देते हैं तो हम उन्हें सदैव परिवर्तनशील अवस्था में देखते हैं परन्तु यह तो सामग्री के संबंध में ही ठीक है। इसके अतिरिक्त हमारे चेतन् जीवन में एक अविच्छिन्नता है। इस अविच्छिन्नता से वेदान्त का तात्पर्य अनुभूति की नित्यता से है; विचारों की संबद्धता से नहीं। यह पूछा जा सकता है कि मानसिक अवस्थाओं के निकल जाने पर अनुभूति में क्या अवशिष्ट रहता है? यह प्रश्न अग्राह्य है, क्योंकि मानसिक अवस्थाएं अनुभूति का भाग नहीं हैं; अनुभूति से संबद्ध होने के बाद ही उनमें चैतन्य का प्रादुर्भाव होता है। यह पद परम तत्त्व है। यहाँ आत्मा अथवा अहं साधारण अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। क्योंकि साधारण अर्थ में जिसे 'अहं' समझा जाता है वह विषयगत सामग्री के समान ही तत्क्षण के प्रत्यक्ष की सामग्री है। किसी विशिष्ट विषयगत सामग्री का किसी विशिष्ट समय में उसके अनुरूप 'मैं प्रत्यक्ष करता हूँ' ऐसे अनुभव के स्पष्टतया उसी समय व्यक्त हुए बिना अभिव्यक्त होना असंभव नहीं है। 'अहं' का प्रत्यय किसी नित्य स्थायी स्वतन्त्र आत्मा अथवा पुरुष से संबद्ध नहीं है, क्योंकि किसी अन्य विषयगत सामग्री के समान यह भी परिवर्तनशील है। विद्यमान सत्ता से संबद्ध रूप में 'अहं' की कोई निश्चित यथार्थ सामग्री नहीं है परन्तु यह मस्तिष्क की एक विशिष्ट अवस्था है जो मस्तिष्क की अन्य विकारशील सामग्रियों के साथ आपेक्षिक रूप से स्थायी सामग्री के रूप में प्रायः संबंधित रहती है। इस प्रकार किसी भी अन्य विषय की तरह यह भी परिवर्तनशील है। 'मैं यह जानता हूँ' का तात्पर्य केवल यही है कि यह एक प्रकार की अभिव्यक्ति है जो युगपत् भाव से 'मैं' एवं 'यह' को व्यक्त करती है। 'यह' एवं 'मैं' को अभिव्यक्त करने की अवस्था में अभिव्यक्ति अन्य एक से ही चैतन्य-केन्द्रों से भिन्न विशिष्ट चैतन्य-केन्द्र की आत्मगत मानसिक अवस्था में प्रकट होती है। वस्तुतः अभिव्यक्ति को अलग-अलग नहीं किया जा सकता अतः 'मैं' अथवा 'मेरा', 'तुम' अथवा 'तुम्हारा' के संबन्ध में कही गई बात उसके क्षेत्र के बाहर की बात है। वे सब ऐसी सामग्रियाँ हैं जिनका अपना स्वयं का अनिश्चित अस्तित्व है तथा जो अभिव्यक्ति के इस सिद्धान्त द्वारा कुछ अवस्थाओं में अभिव्यक्त होती हैं। किसी अन्य विषय के अस्तित्व को निर्दिष्ट करने के लिए प्रयुक्त अर्थ से एक बिल्कुल भिन्न अर्थ में ही इस अभिव्यक्ति के सिद्धान्त की यथार्थता है। संपूर्ण अन्य विषय अपने प्रकाशन के लिए अभिव्यक्ति के इस सिद्धान्त पर आधारित हैं एवं उनके स्वरूप अथवा तत्व का इसके साथ संबन्ध के कारण न तो परिभाषा दी जा सकती है और न उनका वर्णन ही किया जा सकता है। वे स्वयंसिद्ध नहीं हैं परन्तु इस मूलभूत तत्त्व के साथ किसी प्रकार का संबन्ध स्थापित होने पर ही उन्हें व्यक्त किया जा सकता है। यह हम जान ही चुके हैं कि यह तत्त्व आत्मगत अथवा वस्तुगत नहीं हो सकता। क्योंकि विषय एवं विषयिन् के संपूर्ण विचार इस क्षेत्र के बाहर की बाते हैं और किसी भी प्रकार से उसके विशेषण नहीं हैं अपितु वे उसके द्वारा अभिव्यक्त होते हैं। इस प्रकार दो तत्त्व हैं, अभिव्यक्ति का तत्त्व एवं उसके द्वारा अभिव्यक्त वस्तु का तत्त्व। अभिव्यक्ति का तत्त्व एक है, क्योंकि उसके

सदृश कोई तत्त्व नहीं है, केवल यही परम एवं यथार्थतम अर्थ में सत्य है। यह निरपेक्ष इस अर्थ में ही है कि यह अजर, अमर और अविकारी तथा स्वयं के पूर्ण होने के कारण 'परम' है। यह अनन्त इस अर्थ में है कि समस्त सीमित वस्तुओं के इसके द्वारा अभिव्यक्त होने पर भी वे इसका अवयव नहीं बन सकतीं। यह विभु इस अर्थ में है कि काल अथवा दिक् की सीमाएं इसके द्वारा अभिव्यक्त होने पर भी इसमें विकार पैदा नहीं कर सकतीं। यह न तो मेरे मस्तिष्क में है, न मेरे शरीर में है और न मेरे समक्ष दिक् में है, परन्तु फिर भी ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ यह न हो। इसको कभी-कभी 'आत्मन्' कहकर सर्वोपरि सत्ता सर्वातीत संबोधित किया जाता है, परन्तु ऐसा केवल उस परम तत्त्व ब्रह्मन् के वास्तविक स्वरूप को बताने के लिए ही किया गया है।

इस अभिव्यक्ति के तत्त्व के अतिरिक्त अन्य सब कुछ मायासंज्ञक द्रव्यरहित अनिर्वचनीय उपादान से बना हुआ है। शांकर वेदान्त की कतिपय शाखाओं की मान्यता है कि जगत् केवल मिथ्या है, एवं जब तक हम विषयों का प्रत्यक्ष करते हैं तब तक ही उनका अस्तित्व है तथा ज्योंही हमें उनका प्रत्यक्ष होना बन्द हो जाता है त्योंही वे शून्य में चली जाती हैं। इस मत को 'दृष्टि-सृष्टि' मत कहा गया है। इस मत की संक्षिप्त व्याख्या इस ग्रन्थ के दशम अध्याय में की गई है।[1] इस मत का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशानन्द द्वारा लिखित 'सिद्धान्त मुक्तावली' है।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकाशानन्द का प्रेरणा-स्रोत 'योगवासिष्ठ' था और उन्होंने विषयों के अप्रत्यक्ष होने की अवस्था में उनकी सत्ता (अज्ञातसत्वानभ्युपगम) को अस्वीकार किया है। उन्होंने यह प्रदर्शित करने का यत्न किया है कि बाह्य विषयों के प्रयत्क्ष न होने पर भी उनकी सत्ता को अथवा बाह्य विषयों की प्रत्यक्ष निरपेक्ष सत्ता को मानने का कोई कारण नहीं है। प्रत्यक्ष और उसके विषय के बीच के इस विभेद को स्थापित करने के प्रत्यक्ष के सामर्थ्य की परीक्षा करते हुए, उन्होंने युक्ति दी है कि ज्ञान एवं ज्ञान के विषय का भेद ज्ञान का गुणमात्र होने के कारण स्वयं इस विषयगत धर्म को ग्रहण करने में समर्थ नहीं है क्योंकि यह ज्ञान एवं ज्ञेय के भेद में निहित संश्लिष्ट का एक उपादान है। इसके विपरीत अर्थ को प्रस्तुत करने का अर्थ है

---

1 भारतीय दर्शन का इतिहास भाग 1, पृ० 477-478 ले० एस० एन० दास गुप्ता, कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस द्वारा मुद्रित 1922।

2 प्रकाशानन्द प्रकाशात्मन् (1200 ई. प.) की 'पंचपादिका विवरण' एवं सर्वज्ञात्म मुनि (900 ई. प.) के 'संक्षेप-शारीरक' के तर्कों का प्रमाण देते हुए। 'नैष्कर्म्य सिद्धि' के लेखक सुरेश्वर का अनुमोदन करते हैं। अप्पय दीक्षित (1620 ई० प०) अपने 'सिद्धान्त लेश' (पृ० 13,72) में प्रकाशानन्द का उल्लेख करते हैं। प्रकाशानन्द के मतानुगामी 'सिद्धान्त दीपिका' के लेखक नाना दीक्षित ने 'सिद्धान्त मुक्तावली' पर टीका करते हुए वेदान्त के आचार्यों की सूची दी है। इस सूची में प्रकाशानुभवानन्द, नृसिंह एवं राघवेन्द्र यति के नाम भी लिखे गए हैं। वेनिस के मत में (देखिए पंडित 1890 पृ० 487–490) प्रकाशानुभव एवं प्रकाशात्मन् तथा नृसिंह एवं नृसिंहाश्रम मुनि में कोई अन्तर नहीं है जिन्होंने अप्पय दीक्षित को शांकर वेदान्त में परिवर्तित किया था। उनके मत में प्रकाशानन्द, नृसिंह एवं अप्पय दीक्षित में बीच के सोलहवीं

आत्माश्रयत्व दोष। यदि अनुभूत भेद मिश्रित हो यथा 'प्रतीति एवं उसके विषय में भेद' एवं यदि इस मिश्रण विषय में विद्यमान कोई अनुभूत धर्म हो तो यह मानना पड़ेगा कि प्रतीति के स्वरूप को समझने एवं प्रमाणित करने के लिए 'प्रतीति एवं उसके विषय में भेद' मिश्रण के अंग के रूप में यह प्रतीति तत्क्षण तथा अपरोक्ष रूप से स्वयं पर ही आधारित होनी चाहिए। इसका अर्थ वही हुआ कि प्रतीति को अपनी प्रतीति स्वयं की प्रतीति कर लेने पर होती है; ऐसा असम्भव है तथा इसे आत्माश्रयत्व का दोष कहते हैं।[1] यदि यह कहा जाय कि मिश्रित धर्म (प्रतीति का विषय से भेद) अपरोक्ष रूप से इन्द्रियों द्वारा विषयों में प्रत्यक्ष होता है तो यह मानना पड़ेगा कि विषय में उपर्युक्त मिश्रण-धर्म की सत्ता प्रतीति के उत्पन्न होने के पूर्व भी थी। इस अर्थ में यह असम्भव कल्पना होगी कि प्रतीति जिस मिश्रण-धर्म का अंग है वह धर्म इस प्रकार की प्रतीति के अस्तित्व में आने के पूर्व भी विद्यमान था। यदि प्रत्यक्ष अथवा अपरोक्ष ज्ञान द्वारा प्रतीति एवं उसके विषय के भेद को सिद्ध नहीं किया जा सकता तो कोई भी अनुमान उसे प्रमाणित नहीं कर सकता। क्योंकि इस प्रकार के अनुमान का निम्न आकार होगा—"विषय स्वयं अपनी प्रतीति से भिन्न है क्योंकि वह पूर्ण रूप से विरुद्ध लक्षणों एवं धर्मों से संबद्ध है।"[2] परन्तु यह किस प्रकार विदित हुआ कि विषय के धर्म का स्वरूप प्रतीति के धर्म से पूर्णतया भिन्न है क्योंकि प्रतीति एवं उसके विषय के भेद विवादास्पद हैं एवं प्रत्यक्ष अथवा किन्हीं अन्य साधनों द्वारा उन्हें प्रमाणित नहीं किया गया। आगे चलकर प्रकाशानन्द कहते हैं कि अर्थापत्ति का यह तर्क असंगत है कि प्रतीति में प्रतीति से भिन्न शक्ति की स्वीकृति (जिसके द्वारा प्रतीति की स्थापना होती है) अन्तर्निहित है क्योंकि अनुरूप विषय के बिना किसी भी प्रकार की प्रतीति नहीं हो सकती। "ज्ञान अनिवार्यतः विषय को अर्थापतित करता है" इस धारणा की अयुक्तता दिखाने के लिए प्रकाशानन्द यह प्रश्न उठाते हैं कि विषय द्वारा ज्ञान के निर्धारण सम्बन्धी अर्थापत्ति ज्ञान की उत्पत्ति की ओर संकेत करती है या उसकी स्थिति की ओर निर्देश करती है या कि उसकी गौण संज्ञान (सेकंड्री कोग्नीशन) का अभिधान करती है? प्रथम विकल्प के सम्बन्ध में प्रकाशानन्द कहते हैं कि वेदान्त के अनुसार चैतन्य नित्यसत्तारूप

शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में रहे। यद्यपि उनका काल निश्चित रूप से ठीक-ठीक तय करना कठिन होगा फिर भी यह मानना अनुचित नहीं होगा कि वह सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रहे। प्रकाशानन्द का दृष्टि-सृष्टि का मत पूर्ववर्ती वेदान्त-ग्रन्थों को अज्ञात है एवं सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वेदान्तग्रन्थ 'वेदान्त परिभाषा' को भी वह अज्ञात है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका पूर्वतम नाम सोलहवीं एवं सत्रहवीं शताब्दियों में रहने वाले केवल अप्पय ने लिया। अतः प्रकाशानन्द का जीवन-काल सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है।

1 सिद्धान्त मुक्तावली, 1889 पृ० 247-249।

2 विमतो विषयः स्वविषयज्ञानाद्भिद्यते तद्विरुद्धधर्माश्रयत्वात्।

—सिद्धान्त मुक्तावली, पृ० 252।

है, उसकी कदापि उत्पत्ति नहीं होती एवं यदि उसकी उत्पत्ति को मान भी लिया जाय तो स्वयं ज्ञान की प्रक्रिया को उसकी उत्पत्ति के लिए पर्याप्त हेतु माना जा सकता है । सम्पूर्ण अवस्थाओं में ज्ञान की उत्पत्ति के लिए बाह्य विषय को आवश्यक कदापि नहीं कहा जा सकता; क्योंकि यद्यपि यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि प्रत्यक्षीकरण में विषय की उपस्थिति आवश्यक है तो भी अनुमान द्वारा प्राप्त ज्ञान की उत्पत्ति के लिए कोई भी व्यक्ति बाह्य विषय को आवश्यक नहीं मानेगा—यही तथ्य इस बात को सिद्ध करता है कि ज्ञान की उत्पत्ति के लिए बाह्य विषय की उपस्थिति अनिवार्य नहीं है। ज्ञान की स्थिति के सम्बन्ध में यों कहा जाता है कि अपने आश्रय के लिए ज्ञान का कोई विषय ऐसा नहीं होता कि ज्ञान के अतिरिक्त विषय की अनुपस्थिति ज्ञान की स्थिति को असंभव बना दे; और यदि ज्ञान की स्थिति को किसी में स्थित मान लिया जाए तो ऐसी स्थिति में वह एक ज्ञात विषय न होकर स्वयं ज्ञाता ही होगा—जैसाकि न्याय दर्शन में दृष्टिगोचर होता है; जहाँ ज्ञान को आत्मा का गुण माना गया है एवं आत्मा को ज्ञान का आश्रय माना गया है । पुनः ज्ञान एवं उसके विषय के एक ही काल एवं दिक् में विद्यमान नहीं होने के कारण (यह हमारे भूत अथवा भविष्य के विषय-ज्ञान की संभावना से सिद्ध है) दोनों में ऐसा सहवर्तन नहीं हो सकता कि आत्मगत ज्ञान अथवा बोध के कारण विषय के बाह्य अस्तित्व के बारे में किसी व्यक्ति द्वारा अनुमान करना सही होगा । अतः वह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि ज्ञान एवं ज्ञात विषय को भिन्न समझने का कोई प्रमाण नहीं है ।

प्रकाशानन्द के मत के उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि वह अपने इस प्रतिपाद्य विषय की पुष्टि में कोई प्रबल प्रमाण देने का प्रयत्न नहीं करते कि जगत् प्रपंच एवं उसमें निहित सम्पूर्ण अप्रत्यक्षीकृत विषयों की कोई सत्ता नहीं है अथवा समस्त विषयों का सत् उनके प्रत्यक्ष की अनुभूति में है । वह केवल यही सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि तार्किक दृष्टि से यह स्थापित नहीं किया जा सकता कि नीले की प्रतीति एवं नीलापन दो विभिन्न विषय हैं; दूसरे शब्दों में, यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि ज्ञात विषय एवं उसका ज्ञान दोनों भिन्न हैं। प्रतीति को प्रत्येतव्य से भिन्न नहीं समझा जा सकता । सम्पूर्ण प्रत्यक्षीकृत जगत् ऐसे ज्ञान के अतिरिक्त कुछ नहीं है जिसके अनुरूप कोई विषय न हो । जैसे स्वप्न बिना किसी यथार्थ विषय के केवल प्रतीति मात्र हैं जिनका ज्ञान एवं ज्ञेय के प्रभेद से भान होता है उसी प्रकार जगत् जाग्रत् विज्ञान मात्र है ।[1] इस प्रकार जगत् का कोई स्वतन्त्र अधिष्ठान नहीं है बल्कि वह केवल विज्ञान मात्र अथवा भावमात्र है ।

वेदान्त दर्शन की इस पद्धति का आश्चर्यजनक सादृश्य वसुबन्धु (280-360 ई. प.) के उस विज्ञानवाद से है जिसका प्रतिपादन उन्होंने स्वयं के द्वारा रचित संक्षिप्त भाष्यसहित

---

1 प्रत्येतव्य-प्रतीत्योश्चभेदः प्रामाणिकः कुतः
प्रतीतिमात्रमेवैतद् भाति विश्वं चराचरम् ।
ज्ञानज्ञेयप्रभेदेन यथा स्वप्नं प्रतीयते
विज्ञानमात्रमेवैतत्तथा जाग्रच्चराचरम् ।।

'विंशतिका' एवं स्थिरमति[1] के भाष्य सहित 'त्रिंशिका' में किया है। वसुबन्धु के इस विज्ञानवाद के अनुसार अखिल प्रपंच अपनी अन्तर्निहित गतिशीलता के कारण चैतन्य के मूल तत्त्व के विकार हैं एवं हमारे कोई भी ज्ञान के विषय ऐसे किसी बाह्य विषय द्वारा उत्पाद्य नहीं हैं जिनका अस्तित्व हमसे बाह्य प्रतीत होकर हमारे विचारों की उत्पत्ति का कारण हो। जिस प्रकार स्वप्न में बाह्य विषय के अभाव में स्वप्नद्रष्टा विभिन्न स्थानों एवं देशों में विभिन्न विषयों का अनुभव करता है अथवा जिस प्रकार स्वप्न में कई लोग इकट्ठा होकर कई प्रकार के कार्य किया करते हैं उसी प्रकार जो तथ्यात्मक एवं बाह्य विषयात्मक वास्तविक जगत् प्रतीत होता है वह बिना किसी विषयात्मक आधार के चैतन्य तत्त्व की सृष्टि मात्र है। जो कुछ हम वस्तुपरक अथवा आत्मपरक के रूप में जानते हैं वह केवल विज्ञप्ति-मात्र है एवं उसके अनुरूप कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है; परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि संतों द्वारा अनुभूत शुद्ध अनिर्देश्य विज्ञान भी मिथ्या है।[2] सम्भवतः एक पदार्थ की प्रतीति किसी अन्य पदार्थ की प्रतीति का कारण हो एवं वह आगे चलकर पुनः किसी अन्य का कारण हो, परन्तु ऐसी सब अवस्थाओं में जहाँ प्रतीतियां अर्थवती होती हैं, वहाँ उनके द्वारा सत्ता का प्रतिनिधित्व नहीं होता, परन्तु इसका अर्थ स्वयं शुद्ध ज्ञान अथवा चैतन्य के अभाव के रूप में नहीं लिया जाना चाहिए। आगे चलकर वसुबन्धु यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न करते हैं कि वस्तुपरक जगत् के अस्तित्व का प्रत्यक्षात्मक अनुभव पर विश्वास नहीं किया जा सकता। वह कहते हैं कि दृष्टिजन्य प्रत्यक्षीकरण के उदाहरण को लेकर हम अपने आपसे पूछें कि क्या दृष्टिजन्य प्रत्यक्षीकरण के विषय पूर्ण इकाई के रूप में एक हैं अथवा परमाणुओं के रूप में अनेक हैं? वे केवल पूर्ण इकाइयां मात्र नहीं हो सकते क्योंकि पूर्ण इकाइयों में अवयव अन्तर्निहित हैं, उनका स्वरूप अणु के सदृश भी नहीं हो सकता क्योंकि इस प्रकार के परमाणु का पृथक् प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता, उनका स्वरूप परमाणु-संहति के रूप में भी नहीं है क्योंकि परमाणुओं का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता।[3] क्योंकि यदि छः परमाणुओं का समुच्चय छः ओर से हो तो उसका अर्थ है कि परमाणुओं के खण्ड हैं, अब यदि छः परमाणु एक दूसरे से एक ही बिन्दु पर संहत होते हैं तो इसका अर्थ यह होगा कि संहत समूह का आकार एक परमाणु के आकार से बड़ा नहीं होगा अतः वह अदृश्य होगा। पुनः यदि प्रत्येतव्य एवं प्रत्यक्षीकरण के विषय केवल पूर्ण ही होते तो

---

1 विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, जिसमें विंशतिका एवं त्रिंशिका नामक दो ग्रंथों का समावेश है। वसुबंधु का काल इसी ग्रंथ के प्रथम भाग में मैंने 420-500 ई. प. माना है जो सम्भवतः सही नहीं प्रतीत होता। उसका काल 280-360 ई. प. है। ब. भट्टाचार्य द्वारा लिखित तत्त्वसंग्रह का प्राक्कथन देखें।

2 यो बालैः धर्माणां स्वभावो ग्राह्य-ग्राहकादिः परिकल्पितः, तेन कल्पितेनात्मना तेषां नैरात्म्यं न तु अनभिलाप्येन आत्मना यो बुद्धानां विषय इति।

—विंशतिका भाष्य, पृ० 6।

3 नापि ते संहता विषयीभवन्ति, यस्मात् परमाणुरेकम् द्रव्यं न सिद्ध्यति।

—विंशतिका पर टीका, पृ० 7।

अनुक्रम एवं तारतम्य अवर्णनीय होता तथा पृथक् एवं असम्बद्ध पदार्थों का प्रत्यक्षीकरण दुर्ज्ञेय रहता। अंतः प्रत्यक्षीकरण द्वारा उनकी वस्तुपरक सत्ता का विश्वास दिलाने पर भी उनका वास्तविक विषयात्मक अस्तित्व नहीं है।

लोग वितथ विकल्पाभ्यास-वासना रूपी निद्रा द्वारा प्रपंचात्मक जगत् के स्वप्न का अनुभव कर रहे हैं एवं अपने स्वप्न में ही वे विषयात्मक जगत् की सृष्टि करते हैं, जब वे लोकोत्तर निर्विकल्प ज्ञान के लाभ से प्रबुद्ध होते हैं तभी उन्हें जगत्-रचना नाना रूपात्मक प्रतीतियों की स्वप्न-सृष्टि की तरह मिथ्या लगती है। इस प्रकार के मत में विषयात्मक जड़ जगत् का कोई अस्तित्व नहीं है एवं हमारे ज्ञान बाह्य विषयों द्वारा प्रभावित नहीं होते, तब हमारे मन शुभ उपदेशों एवं सम्पर्क से कैसे प्रभावित होते हैं,[1] एवं किसी भी वास्तविक भौतिक शरीर की अनुपस्थिति में किस प्रकार एक व्यक्ति दूसरे की हत्या कर सकता है? वसुबन्धु इसकी व्याख्या इस सिद्धान्त द्वारा करते हैं कि एक व्यक्ति की विचार-तरंगें कभी-कभी दूसरे व्यक्ति की विचार-तरंगों को निर्धारित करती हैं। अतः आघातविशेष की विज्ञप्ति दूसरे की जीवितेन्द्रिय के विरोध द्वारा ऐसा विकार उत्पन्न कर सकती है कि उससे विचार-प्रक्रिया का सातत्य विच्छिन्न हो जाए, इसे ही मरण कहते हैं। इसी प्रकार एक व्यक्ति के शुभ विचार दूसरे व्यक्ति के विचारों को शुभ कार्य के लिए प्रभावित करते हैं।

वसुबन्धु की त्रिंशिका एवं स्थिरमति द्वारा लिखित उसकी टीका में इस विज्ञानवाद को अधिक स्पष्टता से समझाया गया है। कहा गया है कि आत्मा (अथवा ज्ञाता) एवं आत्मपरक विचारों के रूप में अथवा बाह्य जगत् में विद्यमान विषयों के रूप में इसके ज्ञेय पदार्थ विज्ञान-परिणाम मात्र हैं। विज्ञान-परिणाम का अर्थ कारण-क्षण के निरोध के साथ-साथ कारण-क्षण से विलक्षण कार्य का आत्मलाभ है।[2] विज्ञान में न तो बाह्यत्व है और न आत्मत्व, अपितु ये धर्म और आत्मपरकता तो उसमें परिकल्पित हैं। समस्त दोषपूर्ण परिकल्पनाओं में एक ऐसी सत्ता का अस्तित्व आवश्यक है जिसमें किसी अन्य वस्तु का भ्रम हो। केवल निराधार शून्य में दोष-पूर्ण परिकल्पना असम्भव है, अतः यह मानना ही पड़ेगा कि ये आत्मा इत्यादि विविध प्रकार के धर्म दोषपूर्ण परिकल्पनाएं विज्ञान पर आधारित हैं।[3] वसुबन्धु एवं स्थिरमति दोनों ही उन अतिविज्ञानवादियों के मत का खंडन करते हैं जो संवृति के आधार पर विज्ञान की सत्ता को भी अस्वीकार करते हैं।[4]

---

1 पर-विज्ञप्ति-विशेषाधिपत्यात् परेषां जीवतेन्द्रिय-विरोधिनी काचित् विक्रिया उत्पद्यते यया सभाग-संतति-विच्छेदाख्यं मरणं भवति। —विंशतिका पर टीका, पृ० 10।

2 कारण-क्षण-निरोध-सम-कालः कारण-क्षण-विलक्षण-कार्यस्य आत्मलाभः परिणामः। —त्रिंशिका पर स्थिरमति की टीका, पृ० 16।

3 उपचारस्य च निराधारस्यासम्भवादवश्यं विज्ञान-परिणामो वस्तुतोऽस्त्युपगन्तव्यो यत्र आत्मधर्मोऽपचारः प्रवर्तते। त्रिंशिका पर स्थिरमति की टीका, पृ० 16, शंकर द्वारा लिखित गौड़पाद-कारिका-टीका से तुलना कीजिए, 'न हि निरास्पदा मृगतृष्णिकादयः।

4 इस प्रकार बौद्ध विज्ञानवाद पर अत्यंत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'लंकावतार' आलयविज्ञान के वास्तविक परिणाम का निषेध करता है। 1923 में ओटनी विश्वविद्यालय प्रेस क्योटो द्वारा मुद्रित 'लंकावतार', पृ० 46 देखिए।

वसुबन्धु के मन में विज्ञप्तिमात्रता ही परम सत्य है। यह विज्ञप्तिमात्रता स्थायी सत्ता है जो अपनी स्वाभाविक शक्ति द्वारा अनियत आंतरिक विपाक के रूप में तीन प्रकार के परिणामों में परिणत होती है जो आगे चलकर पुनः मनन एवं विषय-विज्ञप्ति के रूप में परिणत होती है। द्रष्टा-दृश्य के द्वैत में ज्ञाता एवं ज्ञेय के रूप में समस्त प्रपंचों अथवा धर्मों का ज्ञान विपाक, मनन एवं विषय-विज्ञप्ति, इन तीनों परिणामों के कारण होता है। इन सब विकारों के वशीभूत यह विज्ञप्ति-मात्र अपने विकृत परिणामों में 'आलयविज्ञान' कहलाता है क्योंकि यह सम्पूर्ण अनुभवों का भण्डार है। विज्ञप्ति का चरम तत्त्व अक्षय एवं नित्यत्व के कारण नित्य माना जाता है जिसका फल सुख है, क्योंकि जो अनित्य है, वह दुःख है एवं यह नित्य होने के कारण सुख है।[1] जब बुद्ध का मन इस विज्ञप्ति मात्र में प्रतिष्ठित हो जाता है तब ग्राह्य-ग्राहकानुशय के द्वैत की प्रवृत्ति का निरोध हो जाता है तथा शुद्ध निर्विकल्प एवं लोकोत्तर विज्ञप्ति का उदय होता है। यह वह स्थिति है जहाँ परम विज्ञप्ति-मात्रता अपने परिणामों से लौट आती है एवं स्वयं में स्थित रहती है। यह सम्पूर्ण क्लेश अथवा दुष्प्रवृत्तियों के स्पर्श से मुक्त हो जाती है अतः इसे अनास्रव कहते हैं। यह अविचार्य एवं अनिर्देश्य है क्योंकि एक ओर यह आवरण-रहित होने के कारण प्रत्यात्म वेद्य एवं सर्वज्ञाता है तथा दूसरी ओर यह स्वयं में अलौकिक है।[2] यह विज्ञप्ति-मात्रता सर्व-बीज का धारक कहलाती है एवं जब इसके प्रथम निर्विकल्प तथा अनिर्वचनीय परिणाम मानस-प्रक्रियाएं एवं उसके परिणामस्वरूप इन्द्रिय प्रत्यक्षीकरण को उत्पन्न करते हैं तब ये एक दूसरे के विरुद्ध क्रिया एवं प्रतिक्रिया करते हैं तथा इस प्रकार शृंखलाएं बार-बार उत्पन्न होती हैं और एक दूसरे का निर्धारण करती हैं। ये परिणाम सागर के उन तरंगों के समान है जहाँ एक तरंग दूसरी तरंगों का कारण और फल दोनों ही है।[3]

इस मत के अनुसार विज्ञान को सत् द्रव्य समझा जाता है एवं उसके परिणामों को भी सत् ही माना गया है, ये परिणाम ही आत्मा और धर्मोपचार के रूप में प्रकाशित होते हैं।[4] एक प्रकार से विपाकसंज्ञक प्रथम प्रकार के परिणाम अन्य उन दो परिणामों के अधिष्ठान हैं जिनमें निर्विकल्प द्रव्य वर्तमान है और जिसके द्वारा अन्य दो परिणाम प्रकाशित होते हैं; परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उपर्युक्त तीन प्रकार के परिणाम

---

1 ध्रुवो नित्यत्वादक्षयतया, सुखो नित्यत्वादेव यदनित्यम् तद्दुःखं अयं च नित्य इति अस्मात् सुखः। —त्रिंशिका पर स्थिरमति की टीका, पृ० 44।

2 आलय-विज्ञान इस परम विज्ञप्तिमात्रता की अवस्था में सम्पूर्ण गुणों का धातु कहलाता है एवं अपने सम्पूर्ण आवरणों से मुक्त धर्मों का परम स्थान होने के कारण यह बुद्ध का धर्मकाय कहलाता है (महा-मुनिः भूमि-पारमितादिभावनया क्लेश-ज्ञेयावरण-प्रहाणात्———सर्वधर्म-विभुत्व-लाभतश्चधर्म-काय इत्युच्यते)।

—त्रिंशिका पर स्थिरमति की टीका, पृ० 44।

3 सच्च वर्त्तते स्रोतसौघवत्। —त्रिंशिका पर स्थिरमति की टीका, पृ० 21।

4 अवश्यं विज्ञानपरिणामो वस्तुतोऽस्ति, उपगन्तव्यो यत्रात्मधर्मोपचारः प्रवर्त्तते।

—त्रिंशिका पर स्थिरमति की टीका।

पुनः परस्पर एक दूसरे का निर्धारण करते हैं, विपाक परिणामों में ज्ञाताओं के रूप में आत्माओं के विकल्प-वासनाओं के रूप, शब्द इत्यादि विकल्पवासनाओं के, इन द्विविध विकल्प-वासनाओं के मूल आश्रय के तथा स्थान विज्ञप्ति अथवा भाजन-लोक-सन्निवेश-विज्ञप्ति के बीज होते हैं। वे एक अन्य प्रकार से इन्द्रिय विकारों से भी संबद्ध हैं जिनमें इन्द्रिय, विषय और ज्ञान का त्रिक (पुनः इन त्रिकों में से प्रत्येक त्रिक अन्य दो संघटकों के प्रभावी रूप के अनुरूप एक विशिष्ट क्रियात्मक रूप से व्यक्तिशः आनुरूप्ध सम्बन्ध से सम्बद्ध है) मनस्कार, संज्ञा, चेतना और वेदना होते हैं।[1] विपाक परिणाम अपरिच्छन्ना-लम्बनाकार है और इनमें राग द्वेष इत्यादि की कार्यरूपा संवेगात्मक अवस्थाएं नहीं होती हैं जो वास्तविक सुखमय अथवा दुःखमय वेदनाओं से युक्त हैं। अतः विपाक-परिणामों से हम अविकल्प ग्राह्य-ग्राहकता की चेतना एवं उसकी प्रक्रियाओं की समस्त संभाव्यताओं सहित मन एवं उसके मुख्य कार्यों की मूलभूत धारणाओं को प्राप्त करते हैं। इनमें ही द्रष्टा के रूप में आत्माओं की सृजनात्मक प्रवृत्तियां, शब्दरूप आदि की विषयगत सर्जनात्मक प्रवृत्तियां इन्द्रिय सामर्थ्य इत्यादि, मनस्कार, वेदना, संज्ञा, चेतना और इन्द्रिय-व्यापार हैं। परन्तु इनमें किसी का भी निश्चित एवं वास्तविक आकार नहीं है। मननसंज्ञक द्वितीय प्रकार के परिणाम नैतिक और अनैतिक संवेगों के वास्तविक विकास को प्रस्तुत करते हैं। इन्हीं परिणामों में मानसिक तत्त्वों के अविद्यापूर्ण संदर्भों के द्वारा मन आत्मा के रूप में गतिशील होता है और आत्मा के विषय में इस अज्ञता के कारण आत्म-स्नेह और आत्ममान का उदय होता है। पुनः ये संदर्भ इन्द्रिय-व्यापार, वेदना, मनस्कार, चेतना एवं संज्ञा की विश्वजनीन पंचविध जातियों से सम्बद्ध हैं। तत्पश्चात् परिणामों की तीसरी श्रेणी आती है जो ठोस इन्द्रिय प्रत्यक्षों की विशेष वृत्तियों एवं विभिन्न प्रकार की बौद्धिक (चैतन्य) अवस्थाओं तथा नैतिक और अनैतिक मानसिक अवस्थाओं, यथा विभिन्न प्रकार के इन्द्रिय-अनुभवों की इच्छा (छंद) प्रत्यक्ष एवं तर्क आदि द्वारा दृढ़ता से स्थापित निष्कर्षों में अधिमोक्ष, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा, श्रद्धा ही आदि के साथ-साथ पंचविध विश्वजनीन जातियों मे सम्बद्ध हैं। इन तीनों प्रकार के परिणामों को 'आलयविज्ञान' की संज्ञा दी गई है, परन्तु इनके नीचे ग्राहक-आधार के रूप में शाश्वत और अविकारी विज्ञप्तिमात्रता विद्यमान है।

---

1 यहां वेदना को दुःखमय सुखमय तथा ऐसी मूल इकाई के रूप में माना गया है जो न तो दुःखमय है और न सुखमय ही अपितु स्वयं एक वेदना है (वेदना अनुभव-स्वभावा सा पुनर्विषयस्य आह्लादक परितापक तदुभयकर विविक्त-स्वरूप-साक्षात्करणभेदात्)। स्वयं इस वेदना का दुःख और सुख की अन्य दो वेदनाओं के साथ विद्यमान अदुःख सुख की वेदना से भेद करना होगा। यहां विपाक-परिणामों को वेदना की मूलभूत सत्ता का कारण माना गया है और इसीलिए इसको सुख अथवा दुःख से अभिन्न माना गया है तथा उसे उपेक्षा और अव्याकृत वेदना की संज्ञा दी गई है। शुभाशुभ को धर्माधर्म के सम्भाव्य एवं वास्तविक निर्धारकों के रूप में नैतिक और अनैतिक से पृथक् समझना चाहिए।

यहाँ यह उल्लेख करना उचित होगा कि इस सम्प्रदाय के अनुसार शाश्वत और अविकारी विज्ञप्तिमात्रता अपनी आन्तरिक गतिशीलता के कारण ऊपरी स्तर के तीन भिन्न प्रकार के परिवर्तनों को प्राप्त होती है जिनकी तुलना सतत् परिवर्तमान धाराओं और तरंगों से की गई है। इनमें से प्रथम से मूलभूत विकार होता है जो ग्राह्य-ग्राहक की समस्त संभावनाओं का निर्धारण करता है; दूसरा अनात्म-तत्त्वों, आत्म-स्नेह एवं आत्ममान में आत्मत्व के मिथ्या अध्यारोप एवं मूल अविद्या के कारण बौद्धिक प्रक्रियाओं को जन्म देता है और तीसरे में समस्त मानसिक एवं मानसेतर मूर्त-रूप तथ्य होते हैं। मन, मानसिक प्रक्रियाओं और मानसेतर सम्बन्धों को संभव करने वाली मूल जातियों का प्रादुर्भाव परिणामों की प्रथमावस्था में होता है, ये परिणामों की अन्यत्र दो अवस्थाओं में विद्यमान रहकर अन्य परिणामों की जातियों के साथ अपने सम्पर्क के दौरान अधिकाधिक जटिल एवं मूर्त हो जाती हैं। प्रतीति अवस्था का विश्लेषण करते हुए वसुबन्धु इस मत से सहमत नहीं हैं कि हमारी 'नीलवर्ण' की प्रतीति प्रतीति का विकारमात्र नहीं है अपितु उनके मत में किसी भी प्रतीति में सदा दो सम्बन्ध निहित होते हैं, कर्ता अथवा ज्ञाता के साथ सम्बन्ध (ग्राहक-ग्रह) और ज्ञान विषय के सम्बन्ध (ग्राह्य-ग्रह)। नीलवर्ण की प्रतीति को सम्भव करने के लिए विषय रूप में 'नीलवर्ण' का होना अत्यावश्यक है, क्योंकि प्रतीति नीलवर्ण न होकर हमें नीलवर्ण की प्रतीति होती है। परन्तु वसुबन्धु का तर्क है कि यह मनोवैज्ञानिक आवश्यकता अविकल्प विचार के आवश्यक कार्य के रूप में वस्तुपरकता का प्रस्तार मात्र है और इससे यह कदापि निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि इसका अर्थ इससे वाह्य-विद्यमान और बाह्य कारकों के रूप में प्रतीति को उत्पन्न करने वाले सत्तामय बाह्य विषय हैं। मनोवैज्ञानिक वस्तुपरकता का अर्थ सत्तामूलक वस्तुपरकता नहीं है। ऐसा तर्क किया जाता है कि यदि इन्द्रिय-ज्ञान के उत्पादन में वस्तुपरक सत्ताओं को स्वीकार कर लिया जाय तो किसी भी अवस्था में इन्द्रिय-ज्ञान को वस्तुपरक सत्ताओं के कार्य के बिना ही उत्पन्न नहीं माना जा सके। परन्तु स्वप्नों और भ्रान्तियों में सदा-सर्वत्र इस प्रकार का इन्द्रिय-ज्ञान इस प्रकार की वस्तुपरक सत्ताओं की कारणभूत क्रिया के बिना उत्पन्न माना जाता है, अतः इन्द्रिय ज्ञान के फलित होने के लिए वस्तुपरक सत्ताओं की किसी भी कारणभूत सत्ता को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

ब्रह्मसूत्र II, ii 28 के अपने भाष्य में बौद्ध विज्ञानवाद का खंडन करने का प्रयत्न करते हुए शंकर विज्ञानवाद की उस शाखा का उल्लेख करते हुए प्रतीत होते हैं जिसका शान्त रक्षित ने 'तत्त्व संग्रह' में वर्णन किया है तथा कमलशील ने जिस पर टीका की है परन्तु जो त्रिंशिका में दिए हुए वसुबन्धु के वर्णन से अत्यधिक भिन्न है। अवयव-रहित अणुओं द्वारा निर्मित बाह्य-जगत् की असम्भावना के विरुद्ध विध्यात्मक युक्तियां एक सी हैं।[1] परन्तु विज्ञानवादियों की ओर से पुनः यह युक्ति दी जाती है कि स्तम्भ, भित्ति

1. ब्रह्मसूत्र II, ii 28 पर भामती टीका में वाचस्पति कुछ नई बातों का उल्लेख करते हैं उनके अनुसार रूप-प्रत्यक्षों में अनुभूत देशीय-प्रस्तार अवयव रहित अणुओं के प्रत्यक्षीकरण के कारण नहीं हैं। न यह कहा जा सकता है कि देशीय-प्रस्तार में उत्पन्न वर्ण व्यक्तिगत अणु में देशीय-प्रस्तार का प्रत्यय उत्पन्न करते हैं।

अथवा घट या वस्त्र के प्रतीति-ज्ञान का तात्पर्य यह है कि ये व्यक्तिगत प्रतीतियाँ स्वरूपतः परस्पर एक दूसरे से भिन्न हैं, जिसके परिणामस्वरूप विषयों का स्वरूप उन्हीं विशिष्ट प्रत्ययों का होता है, जिनके द्वारा हमें उनका ज्ञान होता है एवं ऐसी अवस्था में बाह्य विषयात्मक जगत् की कल्पना अनावश्यक हो जाती है। इसके अतिरिक्त विषय एवं विषय-प्रत्यय को एक ही क्षण में ग्रहण करने का तथ्य यह सिद्ध करता है कि विषय एवं प्रत्यय दोनों उसी प्रकार एकरूप होते हैं, जैसे चन्द्रमा के साथ उसी समय में प्रत्यक्षीकृत द्वितीय मिथ्या चन्द्र एक रूप हो।[1]

उन दोनों में से एक का प्रत्यक्ष न होने की अवस्था में दूसरे का भी प्रत्यक्ष नहीं होता। यदि वे स्वरूपतः अलग-अलग एवं भिन्न हैं तो उन दोनों में इस प्रकार के एक से एवं अपरिवर्तनीय सम्बन्ध होने का क्या कारण है? हमारे प्रत्यय-वैविध्य का कारण उन बाह्य विषयों की विविधता नहीं है जिन्हें साधारणतया उनका उत्पादक माना जाता है बल्कि उनका कारण मूल प्रवृत्यात्मक अवचेतन आधारों (वासना) की अनादि अनेकता है जो निद्रा के समय स्वप्नों की उत्पत्ति के समान ही जाग्रदवस्था में हमारे सब प्रत्ययों को उत्पन्न करती है, जिस प्रकार स्वप्न को उत्पन्न करने के लिए बाह्य विषयों की अपेक्षा नहीं है, उसी प्रकार बिना किसी बाह्य वास्तविक विषय के सब प्रत्यय उत्पन्न होते हैं क्योंकि प्रत्ययों के रूप में स्वप्न प्रत्यय एवं जाग्रत् प्रत्यय में कोई भेद नहीं है। परन्तु दोनों अवस्थाओं में वासना रहती है जिसके बिना जाग्रदवस्था अथवा स्वप्नावस्था में प्रत्यय उत्पन्न नहीं हो सकते; अतः प्रत्ययों के उत्पन्न होने की ये सब अवस्थाएँ उनके सर्वदा उपस्थित होने के कारण सब प्रत्ययों के कारण हैं।[2]

उपरोक्त स्थिति का खंडन करते हुए शंकर कहते हैं कि इस प्रकार का मत अमान्य है क्योंकि यह विषय एवं विषयी को विज्ञान से भिन्न बताने वाले हमारे अनुभव का विरोध करता है। हमें प्रत्यक्षीकृत बाह्य विषयों के इन्द्रियों के साथ सन्निकर्ष की अपरोक्ष अवगति होती है तथा अवगति एवं ज्ञान-विषय अभिन्न नहीं हैं। हमारा ज्ञान स्वयं यह बताता है कि वह ज्ञेय से भिन्न है। स्तम्भ-ज्ञान और स्तम्भ एक नहीं है बल्कि स्तम्भ तो केवल स्तम्भ-ज्ञान का विषय है। बाह्य विषयों के निषेध में बौद्ध अध्यात्मवादियों का कथन है

---

1 यह उपमा वाचस्पति द्वारा संभवतः दिङ्नाग के उद्धरण से दी गई है—सहोपलम्भ-नियमादभेदो नील-तद्धियोः भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैः दृश्येतेन्दाविवाद्वये। एक ही समय में होने वाले नील एवं नील के ज्ञान में कोई भेद नहीं है, क्योंकि एक साथ घटित होने वाली कोई दो घटनाएं एकरूप होती हैं। जैसे भ्रम-ज्ञान में एक चन्द्र दो प्रतीत होते हैं उसी प्रकार प्रत्यय एवं विषय के ज्ञान का भेद भी भ्रमात्मक होता है। सहोपलम्भ नियम का यह तर्क वसुबन्धु की विंशतिका एवं त्रिंशिका में अनुपस्थित है।

2 इस सम्बन्ध में वाचस्पति बाह्य विषयात्मक जगत् के अस्तित्व एवं उसके अनुरूप प्रत्ययों के कारणभूत सौत्रान्तिकों के अनुमान का संक्षेप करते हैं। सौत्रान्तिकों द्वारा दिया गया तर्क निम्न है :

कि जो केवल अन्तर्ज्ञेय है उसका बहिर्वद् अवभास होता है।[1] शंकर इस पर इस प्रकार की युक्ति देते हैं।

यदि बाह्यत्व निरपेक्ष रूप से असत् है तो किस प्रकार कोई इन्द्रिय ज्ञान बाह्यरूप में भासित हो सकता है? विष्णुमित्र वंध्यापुत्र नहीं हो सकता। पुनः प्रत्यय एवं उसके विषय का एक ही आकार होने के तथ्य का अर्थ यह नहीं है कि विषय की कोई सत्ता ही नहीं, बल्कि यदि विषय का अस्तित्व नहीं होता तो प्रत्यय का आकार तदनुरूप विषय का ही कैसे होता? पुनः, यह उक्ति मिथ्या है कि कोई दों वस्तुएं एकरूप होती हैं, क्योंकि यदि विषय एवं उसके ज्ञान को युगपत्-ग्रहण किया जाय तो एक का ग्रहण दूसरे के साथ-साथ होने का तथ्य ही यह बताता है कि दोनों एकरूप नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त हमारे नील पीत, घट अथवा भित्ति के समस्त ज्ञान में ज्ञेय विषयों के विशेषक अथवा निरूपक तत्वों में भेद होता है; ज्ञान स्वयं तो एकसा ही रहता है। जिस प्रकार शुभ्रत्व एवं कृष्णत्व किसी गाय का गुण हो सकता है ठीक उसी प्रकार ज्ञेय के विषय भी ज्ञान में आरोपित बाह्य गुणों के सदृश होते हैं, अतः किसी व्यक्ति के नील, रक्त अथवा पीत को देखने का यह अर्थ है कि प्रत्यक्षीकरण का भेद विषय-भेद के कारण होता है—स्वयं विज्ञान के कारण कोई भेद नहीं। अतः ज्ञान होने के कारण स्वभावतः विषयों से भिन्न हैं जो अनेक हैं।[2] इसके अतिरिक्त जगत् प्रपच की स्वप्न के साम्य से व्याख्या करने का तर्क भी अयुक्त है, क्योंकि सांसारिक विषयों एवं स्वप्न के हमारे ज्ञान में महान् भेद है-जाग्रत् अनुभव द्वारा स्वप्नानुभवों का बोध होता है परन्तु जाग्रत् अनुभवों का कदापि बाध नहीं होता।

जब जब पूर्वकरण के अविकारी रहते हुए कोई नया कार्य फलित हो तो उस नए कार्य का कोई नया कारण अवश्य होगा। अब, यद्यपि यह स्वीकार्य है कि आन्तरिक चेतना के प्रवहमान क्रम में प्रत्येक क्षण अगले क्षण को उत्पन्न करता है और इस उत्पादक शक्ति को वासना कहते हैं। (तत्प्रवृत्तिविज्ञानजननशक्तिर्वासना) एवं स्वयं को कार्यरूप में फलित करने की उसकी प्रवृत्ति को 'परिपाक' कहते हैं। फिर भी यह समझना कठिन है कि प्रत्येक क्षण में अन्य क्षणों से सर्वथा भिन्न शक्ति कैसे हो सकती है? क्योंकि क्षणों के स्वरूप में विकार लाने वाली अन्य कोई वस्तु नहीं होने के कारण प्रत्येक क्षण ठीक उसी प्रकार से एक क्षण है, जिस प्रकार कोई अन्य क्षण।

1 शंकर का कथन है-यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद् बहिर्वदवभासते। यह दिङ्नाग से उद्धृत किया प्रतीत होता है। दिङ्नाग का श्लोक जैसाकि कमल शील ने तत्त्व संग्रह पर लिखे गए अपने भाष्य में उद्धृत किया है (2082-2084) इस प्रकार है—

यदन्तर्ज्ञेयरूपं तु बहिर्वदवभासते,
सोऽर्थो विज्ञानरूपत्वात् तत् प्रत्ययतयापि च।

उपर्युक्त श्लोक से स्पष्ट है कि जिस समय शंकर ने बौद्ध विज्ञानवाद का खंडन करने का प्रयत्न किया उस समय उनके मनस् में दिङ्नाग थे।

2 द्वाभ्यां च भेद एकस्य सिद्धो भवति एकस्माच्च द्वयोः, तस्मादर्थज्ञानयोर्भेदः। शांकर-भाष्य 2-2-26 निर्णयसागर प्रेस बम्बई, 104।

स्वयं शंकर के कथनों में यहाँ परस्पर विरोधी बातों का संकेत मिलता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि उन्होंने गौड़पाद-कारिका पर लिखे गए अपने भाष्य में स्वप्नानुभव के विषयों की अविद्यमानता के सादृश्य पर जागदनुभव के विषयों के अनस्तित्व पर अत्यन्त शक्तिशाली प्रमाण दिया था। शान्तरक्षित (705 ई० पू०) एवं कमलशील (728 ई० पू०) शांकर मत के समान ही इस सिद्धान्त अर्थात् चैतन्य एक एवं अविकारी है तथा सब विषय परिवर्तनशील हैं; परन्तु विषय-परिवर्तन का अर्थ स्वयं चैतन्य में किसी प्रकार का विकार नहीं होता—का खंडन करते हुए यह प्रमाण देते हैं कि यदि ऐसा होता तो विषयों को प्रकट करने वाले चैतन्य के स्थायी एवं अविकारी होने के कारण वर्ण, ध्वनि इत्यादि विभिन्न प्रकार के इन्द्रिय-गम्य विषयों का ज्ञान एक ही तथा उसी समय होता।[1] अतः कमलशील के मतानुसार चैतन्य अविकारी एवं एक नहीं है, अपितु इन्द्रियगम्य विषयों के केवल विकारी प्रत्यय होते हैं एवं प्रत्येक प्रत्यय दूसरे प्रत्यय से भिन्न होता है जो उसका यथासमय अनुसरण करता है। चैतन्य को एक बताने तथा केवल विषयों की ही अनेकता बताने का शांकर-मत स्वच्छंद अपकर्षण के कारण पार्थक्य पर आधारित है। यदि गौड़पाद-कारिका पर लिखे गए भाष्य को शंकर की कृति माना जाए तो यह कहा जा सकता है कि जब शंकर ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिख रहे थे तब उनके मत में कुछ परिवर्तन हो चुका था, क्योंकि गौड़पाद-कारिका के भाष्य में वह बार-बार इस दृष्टिकोण पर बल देते हुए प्रतीत होते हैं कि जाग्रदवस्था के प्रत्यक्षीकृत विषय स्वप्नानुभव के विषयों के सदृश असत् एवं मिथ्या हैं। उनका यथार्थवाद इसी निश्चयात्मक कथन में है कि जगत् यथार्थ ब्रह्म पर मिथ्या भ्रमात्मक आरोपण का परिणाम है क्योंकि मृग तृष्णा आदि भ्रमों के लिए किसी अधिष्ठान की आवश्यकता होनी चाहिए जिन पर वे आरोपित किए जाएं। परन्तु ब्रह्मसूत्र पर लिखे गए भाष्य में इन्द्रिय-विषयात्मक जगत् का एक ऐसे प्रकार का अस्तित्व है जो व्यक्ति के विचार के परे है। वाचस्पति ने अपनी भामती टीका में शांकर सिद्धांत को बौद्ध विज्ञानवाद से भिन्न बताते हुए कहा है कि वेदान्त के मतानुसार 'नील' नील के आकार का प्रत्यय नहीं है किन्तु 'नील' केवल अनिर्वचनीय एवं अवर्णनीय विषय है।[2]

विंशतिका एवं त्रिंशिका में प्रतिपादित वसुबंधु के दृष्टिकोण की विवेचना करते हुए यह बताया जा चुका है कि वसुबंधु ने प्रत्येतव्य विषयों की विषयता का खंडन करने का प्रयत्न नहीं किया परन्तु उसने इस धारणा का खंडन किया कि प्रत्येतव्य विषयों का अस्तित्व प्रत्यय के बाहर है एवं प्रतीति के विभिन्न प्रकारों का उत्पादक है। उसका तात्पर्य

---

1 तद्यदि नित्यैक-ज्ञान-प्रतिभासात्मका अमी शब्दादयः स्युः तदा विचित्रास्तरण-प्रतिभासत्वात् सकृत एवं प्रतिभासेरन्; तत्प्रतिभासात्मकस्य ज्ञानस्य सर्वदावस्थितत्वात्।

—तत्त्व संग्रह श्लोक 331 पर कमलशील का भाष्य।
(Gaekwal's Oriental Series 1926)

2 नहि ब्रह्मवादिनो नीलाद्याकारां वित्तिं अभ्युपगच्छन्ति, किन्तु अनिर्वचनीयं कलादीति। भामती, 2-2-28।

यह है कि इन्द्रिय-विषय का निर्माण विचार-सामग्री द्वारा होता है एवं यद्यपि वे प्रतीति के मनोवैज्ञानिक विषय हैं तथापि उनका अस्तित्व विचार के बाहर नहीं है तथा वे उनके बारे में हमारे विचारों को निश्चित नहीं करते हैं। परन्तु इन्द्रिय विषय एवं प्रत्यय, दोनों विचार के किसी ऐसे आंतरिक नियम द्वारा निश्चित किए जाते हैं जो मनोविकृति के उत्पत्ति एवं विकास की सम्पूर्ण प्रक्रिया के स्वरूप एवं विधियों को निश्चित करता है एवं जो उसकी ज्ञानात्मक स्थिति को ही नहीं, बल्कि उसकी नैतिक एवं भावात्मक स्थिति को भी निश्चित करता है। शंकर की उन युक्तियों का वसुबंधु के विरुद्ध कोई प्रभाव नहीं पड़ता जिनमें वह विज्ञान के मनोवैज्ञानिक द्वैत एवं उसके विषय पर अधिक बल देते हैं क्योंकि वसुबन्धु स्वयं उन्हें स्वीकार करते हैं एवं कहते हैं कि नील के प्रत्यय से नील भिन्न है, नील आलम्बन है एवं नील का प्रत्यय प्रतीति है। उनके अनुसार विचार स्वयं विषयी एवं विषय में अपने आपको विभक्त करता है, अतः प्रत्यय अपने आपको विषयी विषय-विज्ञान में अभिव्यक्त करता है। स्वयं प्रत्यय की ही तरह विषयी एवं विषय विचार की ही उत्पत्ति हैं. नील को विचार मानने से उसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह नील की विषयता का निषेध करते हैं अथवा यह कि नील का एकमेव अस्तित्व नील प्रत्यय ही है। नील के प्रत्यय के पूर्व प्रत्यक्ष रूप में नील वस्तुपरक रूप से ठीक वैसे ही वर्तमान रहता है जैसे उसका प्रत्यक्षीकरण करने वाला कोई विषयिन् विद्यमान हो। परन्तु इस विषयता का तात्पर्य यह नहीं है कि नील कहीं विचार के बाहर किसी बाह्य स्थान में अवस्थित है, क्योंकि स्थान-निर्धारण भी विचार-फल ही है, अतः दृश्यमान इन्द्रिय-विषयों को बाह्य जगत् का गुण कहने में कोई अर्थ नहीं है। इन्द्रिय-विषय ज्ञान के विषय हैं। परन्तु वे उससे सम्बद्ध ज्ञान के उद्दीपक नहीं हैं। शंकर इस प्रकार के मत के खंडन में कुछ भी कहते हुए प्रतीत नहीं होते। गौड़पाद-कारिका पर लिखे गए अपने भाष्य में शंकर की स्थिति वही है जो दिङ्नाग की है तथा जिसका उन्होंने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में खंडन करने का इतना प्रयत्न किया है। इस प्रकार वह नागार्जुन के उस मत के विरुद्ध हैं जिसके अनुसार कोई ऐसी सारभूत सत्ता होनी चाहिए जिस पर भ्रमात्मक आरोपण हो सके। परन्तु ब्रह्मसूत्र भाष्य में उन्होंने हमारी चेतना को भासित होने वाले प्रपंचात्मक जगत् को वस्तुपरक एवं स्वतंत्र रूप से उस चेतना के आगे विद्यमान माना है तथा केवल उसके पारमार्थिक स्वरूप को अनिर्वचनीय माना है। शांकर शाखा के अधिकांश उत्तरकालीन वेदान्ताचार्यों ने विज्ञान से विषयों की भिन्नता एवं उनकी स्वतन्त्र सत्ता तथा क्रियाशीलता को स्वीकार किया है एवं यह सुविदित है कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष में विशिष्ट इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष के विषय के साथ मनस्-सन्निकर्ष आवश्यक माना जाता है।[1]

अपने पंचपादिकाविवरण में प्रकाशात्मन् (1200 ई० पू०) इस विषय को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि महायानियों एवं वेदान्तियों में यही महान् अन्तर है कि महायानियों के अनुसार क्षणिक प्रत्ययों से भिन्न विषयों की न तो कोई अलग सत्ता है और न कोई पूर्ण करने के लिए स्वतंत्र हेतु अथवा क्रिया ही है जबकि वेदान्तियों के अनुसार यद्यपि

---

1. द्रष्टव्य वेदान्त परिभाषा, अध्याय 1, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1911।

तात्त्विक रूप से विषयों का अद्वितीय शुद्ध चैतन्य से अभेद है फिर भी वे स्वतन्त्र रूप से अपनी अर्थक्रिया में समर्थ हैं एवं उनकी स्वतन्त्र स्थायी तथा अबाधित सत्ता है। पद्मपाद एवं प्रकाशात्मन् दोनों ही यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि विषयों के निरन्तर विकार में विज्ञान एक सा रहने के कारण अनुवृत्त एवं व्यावृत्त में अभेद नहीं माना जा सकता। अतः विषय को प्रत्यय के विकार के रूप में नहीं लिया जा सकता।[1] यह सुझाव दिया जाता है कि बौद्ध विज्ञानवादियों के अनुसार यदि विषय (जैसे नील) ज्ञान से भिन्न है तो उसकी अभिव्यक्ति उसमें (विज्ञान में) संभव नहीं एवं यदि नील की अभिव्यक्ति विज्ञान में हो सकती हो तो उस समय जगत् की अन्य सभी वस्तुएं भी अभिव्यक्त हो जाएंगी। क्योंकि नील के साथ ऐसा कोई विशिष्ट सम्बन्ध नहीं है कि उस समय केवल नील ही चैतन्य में प्रकट हो। यदि यह कहा जाय कि नील के ज्ञान का उत्पादक नील है तो फिर दृश्येन्द्रिय का कार्य क्या होगा? अतः बौद्धों के अनुसार प्रत्यय एवं विषय के स्वाभाविक एवं असाधारण अभेद सम्बन्ध को स्वीकार कर लेना श्रेयस्कर है।[2] वेदान्तिम् इस पर आपत्ति उठाते हुए कहते हैं कि इस प्रकार की उपकल्पना सत्य नहीं हो सकती क्योंकि हम देखते हैं कि विषय, विषयिन् एवं प्रत्यय एक ही नहीं हैं। बौद्ध इस आपत्ति का प्रत्युत्तर इस प्रकार दे सकते हैं कि ये तीनों किसी संश्लिष्ट इकाई का निर्माण नहीं करते बल्कि काल के तीन अनुक्रमिक क्षणों में उत्पन्न होते हैं और तब उनकी शक्ति के कारण तीनों के संश्लिष्ट रूप का अवभास होता है, अतः इस संश्लिष्ट रूप को तीन भिन्न-भिन्न सत्ताओं में परस्पर संबंध स्थापित करने के कारण नहीं मानना चाहिए। इस प्रकार मैं नील देखता हूं' की व्याख्या 'मैं' 'नील' एवं विज्ञान के चेतन सम्बन्ध के रूप में नहीं की जाकर एक विशिष्ट समय में उसके अन्दर आविर्भूत इन तीनों अंगों से मुक्त प्रत्यय के रूप में की जानी चाहिए। इस प्रकार की कल्पना आवश्यक है क्योंकि सब प्रतिभास क्षणिक हैं और उनके सम्बन्ध के परिचालन के लिए कुछ समय बीते बिना तीन स्वतन्त्र सत्ताओं के रूप में इन तीनों का सम्बन्ध जोड़ना अवश्य ही असम्भव होगा। क्षणिकवाद का सिद्धान्त हमें स्वाभाविक रूप से उपरोक्त उपकल्पना की ओर ले जाता है कि सम्बन्ध के रूप में जो कुछ अवभास होता

---

1. अनुवृत्तस्य व्यावृत्तान्न भेदोऽनुवृत्तत्वादाकाशघटादिवत्।

—पंचपादिका-विवरण, पृ० 73।

2. तस्मात् स्वाभाविकासाधारणाभेदसम्बन्धात् एवं विज्ञाने नीलमवभासते। पंचपादिका विवरण, पृ० 74। ऐसे ही दृष्टिकोण के आधार पर प्रमाण देते हुए शान्तरक्षित एवं कमलशील का कथन है कि यदि विषय का विज्ञान के साथ अभेदसम्बन्ध न हो तो कोई ऐसा अटल नियम अवश्य होना चाहिए कि उनका एक साथ अवभास क्यों होता है। बौद्धों के अनुसार यह नियम या तो तादात्म्य का या तदुत्पत्ति के अविकार्य रूप कारणत्व का हो सकता है। बौद्धों का प्रथम विकल्प वेदान्तियों के विरुद्ध है। यहाँ कारणत्व का नियम नहीं हो सकता क्योंकि कारणता के नियम की संक्रिया एक साथ घटने वाले दो तत्त्वों के उत्पादन के बीच नहीं हो सकती।

—तत्त्व संग्रह एवं पंजिका, 2030-2031।

है वह एक क्षणिक स्फुरण मात्र है जिसके उपरोक्त तीनों अंश सारभूत अंश तत्त्व हैं, अतः बौद्धों की मान्यता है कि मनोवैज्ञानिक रूप से विज्ञान एवं उसके विषय में भेद प्रतीत होता है परन्तु इस प्रकार के मनोवैज्ञानिक अवभास को अधिक से अधिक मानसिक भ्रम अथवा कपोल-कल्पना ही माना जा सकता है, क्योंकि तार्किक दृष्टि से बौद्ध यह स्वीकार नहीं कर सकते कि क्षणिक अवभास पर्याप्त समय तक आत्मा एवं विज्ञान के सम्बन्ध की सम्भावना को लेकर टिक नहीं सकता, जैसे कि इस वाक्य में कि 'मैं नील को जानता हूँ' एवं यदि नील का विज्ञान से अभेद नहीं माना जाय तो विज्ञान में नील के अवभास की सम्भावना की व्याख्या किसी प्रकार नहीं हो सकेगी।

पद्मपाद का कथन है कि बौद्धों का मुख्य विषय अर्थक्रियाकारित्व का सिद्धान्त है अथवा यह तत्त्वोक्ति है कि केवल उसी का अस्तित्व है जो अपने अस्तित्व को किसी हेतु अथवा क्रिया के संपादन द्वारा सिद्ध कर सके। बौद्धों का यह भी मत है कि यदि सब सत्ताएं एवं वस्तुएं क्षणिक हों तब ही केवल अस्तित्व के इस मापदण्ड को पूरा किया जा सकता है। ज्ञान एवं विषय का अभेद ही एकमात्र युक्तियुक्त स्वीकार्य मीमांसा सम्बन्धी दृष्टिकोण है। केवल क्षणिक सत्ता ही अर्थक्रियाकारित्व के मापदण्डों को कैसे पूरा कर सकती है? इसका मुख्य कारण यह है कि यदि विद्यमान को क्षणिक नहीं माना जाए तो वे किसी भी हेतु अथवा क्रिया के उत्पादक नहीं हो सकते।[1] इसका खण्डन करते हुए पद्मपाद का कथन है कि यदि अर्थक्रियाकारित्व का अर्थ स्वविषय-ज्ञान का उत्पन्न होना है तो ज्ञान अथवा प्रत्यय का कोई अस्तित्व नहीं है, क्योंकि यह अपने स्वयं के किसी अन्य ज्ञान का जनक नहीं है (संविदांस्वविषयज्ञानाजननादसल्लक्षणत्वम्) एवं किसी व्यक्ति के ज्ञान को अन्य व्यक्तियों द्वारा अनुमान के अतिरिक्त नहीं जाना जा सकता, जो पुनः अपरोक्ष ज्ञान नहीं होगा।[2] यदि अर्थक्रियाकारित्व का तात्पर्य अन्य क्षण की उत्पत्ति है तो अन्तिम क्षण किसी अन्य क्षण का उत्पादक नहीं होने के कारण स्वयं असत् हो जाएगा और यदि अन्तिम क्षण को असत् समझ लिया जाय तो क्रमशः अन्य सब क्षण असत् हो जाएँगें। सत्ता वस्तुओं का स्वरूप है और जब कोई वस्तु कार्य करने के पश्चात् भी मूक रहती है तो भी वह उस कारण से असत् नहीं हो जाता। इसी आधार पर प्रकाशात्मन् का कथन है कि 'अहम्' 'ज्ञान' एवं 'विषय' की तीन कल्पित धारणाएँ वस्तुतः अपने सादृश्य के कारण एकरूप से भासमान तीन भिन्न-भिन्न धारणाएँ नहीं हैं परन्तु तीनों एक विषय-विषयी ज्ञान में परस्पर जुड़े हुए हैं जिनमें बौद्धों द्वारा कल्पित तीन क्रमिक अवस्थाओं

---

1 इसी ग्रन्थ का प्रथम खण्ड देखिए, पृ० 163-164 जहाँ संक्षिप्त रूप से इसी सिद्धान्त के औचित्य के कारकों का योग है।

2 पद्मपाद का यह कथन कि विज्ञान का ज्ञान प्राप्त करना सम्भव है, युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। उनके विचार में, प्रकाश स्वरूप होने के कारण विज्ञान को स्वयं को प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं है। न च संवित् संविदो विषयः संविदात्मना भेदाभावात् प्रदीपस्येव प्रदीपान्तरम्।

—पंचपादिका पृ० 27।

का समावेश नहीं होता। यह अभेद इस तथ्य से सिद्ध होता है कि उनका इस प्रकार का होना प्रत्यभिज्ञात है। पुनश्च, हम सब अपने स्वयं की एकात्मकता के प्रति जागरूक हैं कि चेतना की सब परिवर्तनशील अवस्थाओं में हम स्थिर रहते हैं एवं यद्यपि हमारे प्रत्यय परिवर्तनशील विषयों के साथ परिवर्तित रहे हैं, फिर भी हम अपरिवर्तित ही रहते हैं; इसका तात्पर्य यह है कि शुद्ध ज्ञान के रूप में हम स्वयं को जानते हुए भी परिवर्तनशील विषयों के साथ क्रमिक रूप में सम्बन्धित हैं। परन्तु यह प्रश्न उठता है कि जिस एकात्मकता का प्रत्यय पूर्व अस्तित्व के साथ (स्मृति के अवचेतन संस्कारों द्वारा) वर्तमान अस्तित्व का सम्बन्ध जोड़ने से ही केवल उत्पन्न किया जा सकता है उस एकात्मकता का किसे विश्वास दिलाया जाय। तथा यह उस वेदान्तीय आत्मा द्वारा नहीं किया जा सकता जो शुद्ध आत्म-ज्योतिरूप चैतन्य है और जिसे किसी अन्य चेतन अवस्था का विषय नहीं बनाया जा सकता; क्योंकि वह अविकारी एवं अविनाशी है और उसमें स्मृति के अवचेतन संस्कारों द्वारा पूर्वानुभव एवं वर्तमान अनुभव में सम्बन्ध होने की चेतना सम्भव नहीं है।[1] एक ही चैतन्य की स्थिरता मात्र अभेद की प्रत्यभिज्ञा नहीं है, क्योंकि अभेद की प्रत्यभिज्ञा एक ऐसा सम्बन्ध होगा जो भूत को भूत के रूप में और वर्तमान को वर्तमान के रूप में जोड़ दे; चूँकि अभेद सम्बन्ध का प्रत्यक्षीकरण करने वाला कोई नहीं है अतः अभेद का अवभास मिथ्या है। इस प्रकार के आक्षेप का उत्तर वेदान्त के अनुसार यह है कि यद्यपि शुद्ध चैतन्य एक व्यक्ति की तरह व्यवहार करने में असमर्थ है; फिर भी मन से सम्बद्ध वही चैतन्य (अन्तःकरण-विशिष्ट) एक ऐसे व्यक्ति के समान भी व्यवहार कर सकता है जो अपने एवं दूसरे लोगों के अभेद की प्रत्यभिज्ञा में समर्थ है। भूतकाल से सम्बन्धित आत्मानुभव के कारण मनस् अहं-वृत्ति के अवचेतन संस्कारों के साथ सम्बन्धित है; वर्तमान काल से सम्बन्धित आत्मानुभव के लिए उत्तरदायी होने के कारण यह भूत एवं वर्तमान में अटल रहने वाले आत्मा के अभेद की धारणा को उत्पन्न करता है। इस प्रकार की व्याख्या के विरुद्ध स्वाभाविक आक्षेप यह है कि चूँकि वेदान्त एक ज्ञान को अन्य ज्ञान का विषय स्वीकार नहीं करता अतः भूतकाल के ज्ञान का पुनरुद्दीपन असम्भव है जिसके बिना अभेद की प्रत्यभिज्ञा असम्भव होगी। वेदान्ती का उत्तर यह है कि जिस प्रकार किसी विचार की स्मृति अपने अवचेतन संस्कारों द्वारा होती है उसी प्रकार यद्यपि पूर्ववर्ती क्षण में अभेद की प्रत्यभिज्ञा अनुपस्थित थी; फिर भी यह प्रत्यभिज्ञा परवर्ती क्षण में अवचेतन संस्कारों की संक्रिया द्वारा जाग्रत हो सकी।[2] वेदान्त के अनुसार शुद्ध चैतन्य ही एकमात्र अविकारी अन्तर्निहित द्रव्य है, यही चैतन्ययुक्त मनस् (अन्तःकरण) ज्ञाता अथवा विषयी के रूप में व्यवहार करता है एवं पूर्व तथा परवर्ती काल से सम्बद्ध वही चैतन्य वस्तुपरक आत्मा के रूप में प्रकट होता है, इसी आत्मा के साथ अभेदता का

---

1 पूर्वानुभवसंस्कारसहिताद् इदानींतन-वस्तु–प्रमिति–कारणाज्जातं एकस्य कालद्वय-सम्बन्ध-विषयकं प्रत्यक्ष-ज्ञान प्रत्यभिज्ञा इति चेत् न तर्हि आत्मनि सा सम्भवति........ ....सविज्ञानस्वभावस्य ह्यात्मनः.....ज्ञानान्तरागम्यत्वात्।

—पंचपादिका विवरण, पृ० 75।

2 पंचपादिका विवरण, पृ० 76।

अनुभव होता है एवं इसी का ज्ञाता के साथ तादात्म्य अन्तःकरण-मनःसंबद्ध चैतन्य माना जाता है। आत्म-तादात्म्य के विचार हम सबके अन्दर हैं तथा 'मैं वही हूँ' का अनुभव हम सब करते हैं एवं इसकी एकमात्र व्याख्या इस तथ्य के आधार पर की जा सकती है कि चैतन्य के अद्वितीय एवं सामान्य प्रत्यय होते हुए भी अपने उन सम्बन्धों के स्वरूप-वैभिन्य के कारण नानाविध क्रियाएं करने वाला माना जा सकता है जिसके द्वारा यह ज्ञाता एवं स्वयं को ज्ञात सहस्त्रों प्रकार के संबंधों तथा विषयों के रूप में स्वयं को परिणत करता हुआ प्रतीत होता है। आत्मा के इस अभेद-अनुभव के सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य मुख्य बात यह है कि पूर्वानुभव एवं स्मृति इस बात को सिद्ध करते हैं कि भूतकाल में आत्मा का अस्तित्व था, परन्तु हम यह सिद्ध कैसे करें कि जो विद्यमान था वह अब भी विद्यमान है। आत्मा के अभेद का ज्ञान आत्मा के भूत एवं वर्तमान काल के अनुभव से भिन्न है। परन्तु प्रक्रिया यह है कि दोनों अनुभव आत्मा को उन दोनों अनुभवों में विद्यमान एक ही इकाई के रूप में प्रकट करते हैं एवं इस नूतन अनुभव में ही हम आत्मा के पूर्वोक्त अभेद-सम्बन्ध का परिज्ञान करते हैं। पुनश्च, जब मैं भूत काल के अनुभव का स्मरण करता हूँ तो उस अनुभव से संबद्ध आत्मा का ही स्मरण होता है, अतः आत्मा के अभेद के अनुभव में विभिन्न काल-सम्बन्धों से युक्त आत्मा का ही बोध होता है।

इन सब विवेचनों से जो एक बात स्पष्ट हो जाती है वह यह है कि पद्मपाद एवं उसके अनुयायियों की विवरण शाखा द्वारा व्याख्यात शांकर-वेदान्त के अनुसार इन्द्रिय-सामग्री एवं विषयों का अस्तित्व उनके प्रत्यक्षीकरण से स्वतन्त्र है एवं एक अन्तःकरण नामक मनस् भी है जो इतरेतर विषय के ज्ञान के लिए अपने ही ढंग से क्रिया करता रहता है। क्या विषय पहले से ही विद्यमान हैं एवं मनस् द्वारा शुद्ध चैतन्य के समक्ष प्रस्तुत किये जाते हैं? परन्तु विषय क्या है? और शंकर का उत्तर यह है कि वे स्वयं में अनिर्वाच्य दूसरी एवं वर्णनातीत है। एक ओर दिङ्नाग अथवा लंकावतार के बौद्ध विज्ञानवाद से और ओर वसुबन्धु की त्रिंशिका से इस प्रकार के दृष्टिकोण का अन्तर सरलता से देखा जा सकता है। क्योंकि अन्तिम दृष्टिकोण के अनुसार प्रत्यक्षीकरण से स्वतंत्र विषयों की सत्ता नहीं है एवं पहले दृष्टिकोणों के अनुसार विषय एक विचार-तत्त्व के परिणाम हैं तथा इस प्रकार ज्ञाता विषयी के विषयभूत हैं। विषय एवं विषयी दोनों एक उच्चतर एवं श्रेष्ठतर तत्त्व-विचारतत्त्व में प्रतिष्ठित हैं। इस प्रतिष्ठापना का अर्थ यह है कि उपादान और आकार की दृष्टि से यह विचार-तत्त्व एवं उसके परिणाम विषय एवं विषयी दोनों के लिए उत्तरदायी भी हैं। शांकर वेदान्त के अनुसार प्रपंचात्मक जगत्, मनस्, इन्द्रियाँ एवं उनकी सम्पूर्ण क्रियाएं, कार्यशीलता इत्यादि सब उस माया के विकार हैं जो स्वयं अनिर्वाच्य हैं परन्तु जो सदा शुद्ध-चैतन्य से अपने आधारभूत तत्त्व के रूप में सम्बन्धित हैं एवं जो जड़ विषयों के रूप में आँखों से ओझल रहती हैं तथा जिसे शुद्ध-चैतन्य के अन्तर्निहित तत्त्व की प्रकाशिका ज्योति द्वारा बौद्धिक अवस्थाओं अथवा प्रत्ययों के रूप में अपने आकार में आत्म-चैतन्य प्राप्त होता है। जैसाकि कहा जा चुका है कि शून्यवादियों ने भी समस्त वस्तुओं एवं अवभासों के वस्तुपरक अस्तित्व को स्वीकार किया है, परन्तु चूंकि वे आलोचनात्मक परीक्षा के सामने टिक नहीं सके अतः उन्होंने इन्हें निःस्वभाव माना। निःस्वभावता के इस सिद्धान्त एवं शांकर

मत के अनिर्वाच्यता के सिद्धान्त में एकमात्र अन्तर यही है कि यह 'अनिर्वाच्य' अभी तक किसी अनिर्वाच्य वस्तु के रूप में माना जाता है; एक ऐसे द्रव्य के रूप में जो विकृति को प्राप्त होता है एवं जिसने अपने को जगत् के सम्पूर्ण विषयों के रूप में परिणत कर दिया है। शांकर वेदान्त का विज्ञानवाद बौद्ध-विज्ञानवाद के उस सहोपलम्भ-नियम में विश्वास नहीं करता जिसके अनुसार अस्तित्व का अर्थ प्रत्यक्षीकरण है। किसी व्यक्ति विशेष द्वारा प्रत्यक्षीकृत नहीं होने पर भी जगत् का अस्तित्व तो रहता ही है, इसकी वस्तुपरक सत्ता मेरी सम्वेदनाओं एव प्रत्ययों से पूर्ण स्वतन्त्र है, परन्तु मेरे प्रत्ययों अथवा सम्वेदनाओं के स्वतन्त्र होने पर भी यह चैतन्य से स्वतन्त्र नहीं है जिसके साथ इसका सम्बन्ध है एवं जिस पर वह आश्रित है। यह चैतन्य साधारण मनोवैज्ञानिक विचार नहीं है परन्तु यह वह तत्त्व है जो सम्पूर्ण चैतन्य विचार का आधार है। यह शुद्ध विचार स्वतन्त्र एवं स्वयं ज्योति है क्योंकि सम्पूर्ण चैतन्य-विचार में चैतन्य स्वयं प्रकाशित होता है, अन्य सब की प्रवृत्ति इसी चैतन्य द्वारा होती है एवं इससे पृथक् करके इसे देखा जाए तो यह निरर्थक तथा अविचार्य हो जाता है। स्वतन्त्र एवं अबाधित स्वयं-प्रकाशता ही इसकी सत्ता है (अबाधितस्वयंप्रकाशतैव अस्य सत्ता)।[1] सम्पूर्ण सत्ता शुद्ध चैतन्य है एवं सम्पूर्ण अवभासित जगत् इसी पर आश्रित है मानों कोई वस्तु इसके सन्दर्भ में ही व्यक्त की गई हो तथा इससे पृथक् इसकी कोई ग्राह्य स्थिति अथवा अर्थ न हो। यह केवल प्रमाण मीमांसा अथवा तार्किक दृष्टि से ही नहीं है बल्कि सत्तामूलक दृष्टि से भी होता है। जगत् के विषयभूत आकार माया की अनिर्वाच्य सामग्री के परिणाम रूप है, जो 'सत्ता' नहीं है अपितु 'सत्ता' पर आधारित है, परन्तु उनकी अभिव्यक्ति उसी समय हो सकती है जब वे मानसिक अवस्थाओं में प्रतिबिम्बित हों एवं प्रत्ययों के रूप में प्रस्तुत किए जाएँ। स्वप्न के विषय अथवा भ्रम के साथ सादृश्य माया के सामान्य प्रत्यय को जन-साधारण के लिए बुद्धिगम्य बनाने के लिए केवल प्रचलित उदाहरण के रूप में ही लिए जा सकते हैं एवं यह वेदान्तीय विज्ञानवाद को एक अद्वितीय स्थान प्रदान करता है।

शंकर द्वारा वेदान्त का पक्षपोषण, बादरायण एवं भर्तृप्रपंच का दर्शन

शंकर की रक्षात्मक युक्तियाँ उन आक्षेपों के खण्डन में निहित थीं जो जगत् सम्बन्धी वेदान्तीय सामान्य प्रत्यय के विरुद्ध किए जा सकते हैं। प्रथम पूर्वानुभूत आक्षेप सांख्य-दर्शन के अनुयायियों का है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि कार्य एवं कारण का स्वरूप अधिकांश में एक सा ही होना चाहिए। चेतन एवं शुद्ध माना जाने वाला ब्रह्म जड़ तथा अचेतन एवं अशुद्ध जगत् का कारण नहीं हो सकता। जगत् स्वभावतः चेतन आत्माओं से इतना भिन्न होने के कारण ही उनके लिए उपयोगी हो सकता है। अपने स्वभाव में अभिन्न दो पदार्थों के लिए एक दूसरे के लिए उपयोगी होना दुष्कर है—दो दीपक एक दूसरे को प्रकाशित नहीं कर सकते। अतः चैतन्य आत्माओं से भिन्न होकर ही जगत् उनकी अधिकतम सेवा कर सकता है एवं उनके लिए विद्यमान हो सकता है। इस आक्षेप का शंकर ने उत्तर इस प्रकार दिया है कि यह सत्य नहीं है कि कार्य को कारण से प्रत्येक प्रकार से एक सा होना चाहिए—चेतन प्राणियों से

---

1 वाचस्पति मिश्र द्वारा लिखित भामती, पृ० 13 निर्णय सागर संस्करण, 1904।

जड़ केश तथा नाखून एवं गोबर जैसे जड़ विषयों से जीवित कीड़े-मकोड़े उत्पन्न होने के उदाहरण मिलते हैं। इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि ब्रह्म एवं जगत् में कम-से-कम इस बात में कुछ सादृश्य है कि दोनों की सत्ता है। यह नहीं कहा जा सकता कि चूंकि ब्रह्म चेतन है अतः जगत् भी चेतन होना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार की आशा का कोई कारण नहीं है। इसका विपर्यय भी सत्य नहीं है—ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य स्रोत द्वारा प्रकृति (जड़) को उत्पन्न हुआ नहीं देखा गया है।[1] इस तर्क का सम्पूर्ण विषय इस तथ्य में निहित प्रतीत होता है कि उपनिषदों ने दृढ़तापूर्वक ब्रह्म को जगत् का कारण बताया है अतः चैतन्य एवं शुद्ध ब्रह्म द्वारा अशुद्ध और जड़ (प्रकृति) की उत्पत्ति के प्रतीयमान विरोध को समझना पड़ेगा या क्योंकि इस प्रकार के परम सत्यों का अन्वेषण तर्क द्वारा नहीं अपितु उपनिषदों के आप्तवचन द्वारा ही हो सकता है। सांख्य द्वारा वेदान्त के विरुद्ध अन्य आपत्ति यह उठाई जा सकती है कि प्रलय के समय कार्यरूप जगत् जब कारण ब्रह्म में पुनः विलीन हो जाएगा तब सांसारिक अवस्था की अशुद्धियां ब्रह्मत्व की कारण अवस्था को भी अशुद्ध बना सकती हैं। शंकर उदाहरणों की दो श्रेणियों की ओर संकेत करते हुए इसका खंडन करते हैं जिनमें कारणावस्था में प्रलय के समय कार्य कारणावस्था को प्रभावित नहीं करते। इनमें एक उदाहरण की श्रेणी उन दशाओं में पाई जाती है जहाँ सुवर्ण, रजत इत्यादि के पदार्थ अपने मौलिक द्रव्य की अवस्थाओं में आकारहीन सुवर्ण एवं रजत के रूप में पुनः द्रवीभूत हो जाते हैं तथा आकृतियुक्त पदार्थों के रूप में अपनी विशिष्ट विलक्षणताओं द्वारा उन्हें प्रभावित करते हुए प्रतीत नहीं होते। अन्य उदाहरण जादूगर द्वारा व्यक्त जादू में पाया जाता है। बाजीगर मायावी सृष्टि को अपने नियन्त्रण में रखता है तथा इस प्रकार वह तिरोहित होने पर स्वयं बाजीगर को किसी भी प्रकार से भ्रम में नहीं डाल सकता, क्योंकि जादू सृष्टि सत्य नहीं है। इसी प्रकार जाग्रत अवस्था में स्वप्न-द्रष्टा अपने स्वप्नों से प्रभावित नहीं होता। अतः सत् वह है जो विकारशील अवस्थाओं में पूर्णरूप से अस्पृष्ट रहे। सब विकासशील अवस्थाओं में इस सत् का आभास सर्प के रूप में रज्जु के अवभास की तरह माया मात्र है। पुनश्च, जिस प्रकार सुषुप्ति का अनुभव करने वाला व्यक्ति एक ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है जहाँ उसके सांसारिक अनुभव का किंचित् मात्र भी चिह्न नहीं हो, फिर भी जाग्रत अवस्था में वह अपने जीवन के सामान्य व्यवसाय में पुनः प्रवृत्त हो जाता है, इसी प्रकार जगत् के अपनी कारणावस्था में लीन हो जाने पर पुनः प्रलय के पूर्व की अवस्था की उसी प्रकार की सृष्टि हो सकती है। अतः इस प्रकार की आपत्ति को कोई स्थान नहीं है कि अशुद्ध कार्यों का जगत् प्रलय के समय ब्रह्म की शुद्ध स्थिति को प्रभावित करेगा अथवा प्रलय के अनन्तर सृष्टि नहीं हो सकेगी।

अशुद्ध एवं अचेतन कार्य रूपी जगत् के शुद्ध एवं चेतन ब्रह्म द्वारा उत्पन्न न हो सकने की सभावित आपत्ति के प्रत्युत्तर में शंकर की ये उपरोक्त युक्तियाँ दुर्बल ही नहीं

---

1 किं हि यच्चैतन्येनानन्वितं तद्ब्रह्म-प्रकृतिकं दृष्टमिति
ब्रह्मवादिनं प्रत्युदाह्रियेत समस्तस्य वस्तुजातस्य ब्रह्मप्रकृतित्वाभ्युपगमात्।

—शांकर भाष्य, 21, 1, 67।

अपितु अनावश्यक हैं। यदि कार्य रूपी जगत् माया एवं जादू मात्र है तथा उनका कोई वस्तुत्व नहीं है तो उनके लिए सर्वोत्तम मार्ग यही होता कि कार्यों की उनके कारणों से महान् विषमता प्रदर्शित करने के लिए कारण की कार्य में वास्तविक परिणति को बताने वाले परिणामवाद को स्वीकार करने की अपेक्षा वह कार्य के वस्तुत्वहीन होने के अपने सिद्धान्त पर सीधा आ जाते। यदि वह प्रारम्भ में यही उत्तर देते कि कार्य की वास्तविक सत्ता नहीं है एवं वह तो जादू की सृष्टिमात्र तथा मिथ्या प्रपंच है तो यह आपत्ति तत्काल असफल हो जाती है कि अशुद्ध जगत् शुद्ध ब्रह्म द्वारा उत्पन्न नहीं हो सकता क्योंकि इस प्रकार की आपत्ति कार्य की किंचितमात्र भी सत्यता में विश्वास नहीं करने वाले दार्शनिक शंकर के लिए नहीं, बल्कि उन लोगों के लिए उचित होती जो कारण से कार्य के वास्तविक परिणाम में विश्वास रखते हैं, न कि शंकर जैसे दार्शनिक के लिए जिनको कार्य की सत्यता में बिल्कुल विश्वास नहीं था। ऐसा करने के स्थान पर उन्होंने यह प्रदर्शित किया कि कार्य के विशिष्ट दोष अथवा अन्य लक्षण कारण की शुद्धता को प्रभावित नहीं कर सकते तथा इसके लिए स्वर्ण के आभूषणों का स्वर्ण में वास्तविक लय होने का उदाहरण देना प्रारम्भ किया। इसके साथ-साथ वह एक अन्य उदाहरण भी देते हैं कि बाजीगर के स्वभाव को प्रभावित किए बिना जादुई सृष्टि किस प्रकार तिरोहित हो सकती है। यह उदाहरण सन्दर्भ के साथ बिल्कुल मेल नहीं खाता एवं आश्चर्य की बात है कि यह शंकर के ध्यान में कैसे नहीं आया कि यथार्थ परिणामवाद के उनके उदाहरण यदि खरे उतर सकें तो जादू एवं बाजीगर के उनके उदाहरण बिल्कुल अनुपयुक्त होंगे।

यदि कारणता के परिणामवादी सिद्धान्त को मान लिया जाय तो विवर्तवाद को छोड़ना पड़ेगा। ऐसा प्रतीत होता है कि शंकर को अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में कार्य के मिथ्यात्व के विवर्त-दृष्टिकोण के उदाहरण का प्रच्छन्न रूप से समावेश करके विवादों की इस प्रकार की उलझन का आश्रय लेना पड़ा, जिसकी केवल यथार्थवादी व्याख्या ही हो सकती थी। यहाँ सूत्र इतने विश्वासोत्पादक रूप से यथार्थवादी प्रतीत होते हैं कि अपने कारण के असदृश कार्य की उत्पत्ति की प्रस्तावित असंगति का अन्तिम उत्तर इस तथ्य में प्राप्त होता है कि उपनिषदों के अनुसार यह अशुद्ध एवं अचेतन जगत् ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, चूंकि उपनिषद् इसे घोषित करते हैं अतः तर्क के आधार पर इसके विरुद्ध कोई आपत्ति नहीं उठाई जा सकती।

अगले विभाग में कारण के यथार्थवादी परिणाम का सिद्धान्त उस सूत्र द्वारा और आगे स्पष्ट किया गया है जिसके अनुसार कार्यों का उनके कारण के साथ अभेद होने पर भी उनके अनेकत्व अथवा नानात्व की व्याख्या कई प्रचलित उदाहरणों के साक्ष्य से भी की जा सकती है। अतः यद्यपि तरंगों का समुद्र के साथ अभेद है फिर भी अपने नानात्व एवं वैभिन्य में उनकी सत्ता है। यहाँ भी शंकर को अपनी व्याख्या में सूत्र के भावार्थ का अनुसरण करना पड़ा है। सूत्र पर अपने भाष्य का उपसंहार करते हुए शंकर कहते हैं कि जगत् ब्रह्म के परिणाम का कोई कार्यरूप फल नहीं है केवल ब्रह्म की ही सत्ता है परन्तु फिर भी जब सृष्टिकर्ता के रूप में ब्रह्म सोपाधिक होता है तब प्रतीयमान नानात्व एवं वैभिन्य हो सकता है। यहाँ यह बताना ठीक होगा कि इस प्रकार की अनुपूरक व्याख्या सूत्र के उस

सामान्य अर्थ से पूर्णतः असंगत है, जो निश्चित रूप से यथार्थवादी परिणामवाद के पक्ष में है। यह दुर्भाग्य है कि यहाँ भी शंकर अपने इस अनुपूरक कथन के लिए कोई कारण नहीं देते जो सूत्र एवं उनके द्वारा दिए गए भाष्य के सामान्य अभिप्राय के अनुरूप नहीं है।

आगे के सूत्र के अनुच्छेद में शंकर "कार्य की संभावना, कारण की सत्ता, कार्य की कारण में सत्ता, कारण के विस्तरण हेतुओं के कारण एवं उपनिषदों के आप्त वचन के कारण", कारण एवं कार्य के अभेद को स्पष्ट रूप से स्थापित करते हुए प्रतीत होते हैं। इस प्रकार का अर्थ पूर्वाध्यायों के सामान्य अर्थ के अनुरूप है। शंकर, सूत्र की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि केवल एकमात्र कारण ब्रह्म ही सत्य है। अतः कार्य में कारण का यथार्थ परिणाम नहीं हो सकता। इस प्रकार ब्रह्म की सर्वज्ञता एवं उसकी जगत् सृष्टि केवल सीमित रूप से ही उचित है, क्योंकि वे जगत् की आपेक्षिक सत्यता पर आधारित हैं। अतः पारमार्थिक दृष्टि से ऐसा कोई ईश्वर नहीं है जो जगत् का सर्वज्ञ उत्पत्तिकर्ता हो।[1] शंकर कुछ उपनिषदों के प्रमाण के आधार पर इसका समर्थन करते हैं (जैसे-मृतिकेत्येव सत्यमिति) वह सत्कार्यवाद के सिद्धान्त अर्थात् कार्य के कारण में पहले से ही विद्यमान होने के सिद्धान्त के समर्थन में युक्ति देते हैं। यह सिद्धान्त वास्तव में यथार्थ परिणाम के परिणामवादी एवं विवर्तवादी दोनों दृष्टिकोणों में दो भिन्न-भिन्न प्रकारों से सामान्य है। यह आश्चर्य की बात है कि न्याय के असत्कार्यवादी कर्तृत्व के दृष्टिकोण के विरुद्ध वह सत्कार्यवाद के सिद्धान्त का समर्थन कार्यों को असत् एवं मिथ्या मानने वाले विवर्तवादी दृष्टिकोण के आधार पर न करके परिणामवादी आधार पर करते हैं। इस प्रकार उनकी मान्यता है कि दही का मिट्टी से उत्पन्न न होकर दूध से उत्पन्न होना—इस बात को स्पष्ट करता है कि दही का दूध के साथ कोई ऐसा घनिष्ट सम्बन्ध है जो उसका किसी अन्य के साथ नहीं है। यह घनिष्ट सम्बन्ध कारण की विशिष्ट शक्ति में निहित है जो विशिष्ट कार्य (जैसे दही) उत्पन्न करने में समर्थ है। यह शक्ति कारण का सारतत्त्व है एवं इस शक्ति का सारतत्त्व स्वयं कार्य है। यदि कोई शक्ति किसी कार्य के स्वरूप को निर्धारित करती है तो वह कार्य के सार के रूप में कारण में पहले से ही विद्यमान होनी चाहिए। समवाय संबंध द्वारा परस्पर सम्बन्धित होने पर भी कार्य से कारण के वैभिन्य का प्रतिपादन करने वाले न्याय सिद्धान्त के विरुद्ध युक्ति देते हुए वह कहते हैं कि यदि कारण को कार्य के साथ सम्बद्ध करने के लिए इस प्रकार का समवाय सम्बन्ध आवश्यक है तो समवाय को कारण अथवा कार्य के साथ सम्बद्ध करने के लिए किसी अन्य वस्तु की तथा उसे किसी अन्य की आवश्यकता होगी, इस प्रकार अनवस्था प्रसंग का दोष उत्पन्न होगा। यदि आग्रह किया

---

1 कूटस्थब्रह्मात्मवादिनः एकत्वैकांत्यात् ईशित्रीशितव्यभावः ईश्वरकारण-प्रतिज्ञाविरोधइति चेत् न; अविद्यात्मक-नाम-रूप-बीज व्याकरणापेक्षत्वात् सर्वज्ञत्वस्य।
ब्रह्मसूत्र 2, 1 14 पर शांकर भाष्य न तात्त्विकम्, ऐश्वर्यं सर्वज्ञत्वं च ब्रह्मणः किन्तु अविद्योपाधिकमिति तदाश्रयं प्रतिज्ञा-सूत्रं, तत्त्वाश्रयं तु तदनन्यत्वसूत्रम्। उपर्युक्त भाष्य पर।

जाय कि सम्बन्ध होने के कारण समवाय को किसी अन्य से सम्बद्ध करने के लिए किसी अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं है तो प्रत्युत्तर में यह पूछा जा सकता है कि किस प्रकार उस संयोग को जोकि संबंध माना जाता है संयोगी विषयों के साथ संबद्ध करने के लिए समवाय सम्बन्ध की आवश्यकता होती है? द्रव्यों को अपने गुणों के साथ संबद्ध करने के लिए समवाय का प्रत्यय अनावश्यक है, क्योंकि गुणों की द्रव्यों के साथ प्रतिदिन तादात्म्य प्रतीति होती है। यदि कार्य अर्थात् समग्र की अवस्थिति कारण अर्थात् अवयवों में मान ली जाए तो वह या तो उन सब पुंजीभूत अवयवों में अथवा प्रत्येक अलग अवयव में अवस्थित होगा। यदि समग्र का अस्तित्व केवल अवयवों के जोड़ में ही निहित है तो सब अवयवों के आपस में नहीं जुड़ने के कारण इस प्रकार का समग्र अदृश्य होगा। यदि समग्र की अवस्थिति अवयवों में ही अवस्थित अवयवों में हो तो अपने सारभूत अंश से भिन्न समग्र के अवयवों की अवधारणा करनी पड़ेगी और यदि उन्हीं प्रश्नों को पुनः दोहराया जाय तो इन अवयवों के लिए अन्य अवयवों की एवं उन दूसरे अवयवों को तीसरे अवयवों की आवश्यकता होगी; तथा इस प्रकार अनवस्था प्रसंग का दोष होगा। यदि एक ही समय में समग्र पूर्ण रूप से प्रत्येक अवयव में अवस्थित हो तो समग्रों की संख्या अनेक हो जाएगी। यदि वह अनुक्रम रूप में प्रत्येक भाग में अवस्थित हो तो एक समय में समग्र केवल एक ही अवयव में अवस्थित होगा, अतः उस समय समग्र के कार्य अन्य अवयवों में अनुपस्थित होंगे। यदि यह कहा जाय कि जिस प्रकार वर्ग-प्रत्य के (जैसे गाय) प्रत्येक व्यक्ति में पूर्ण रूप से विद्यमान रहते हुए भी वह अनेक नहीं है उसी प्रकार प्रत्येक अवयव में समग्र भी पूर्णरूप से विद्यमान हो सकता है तो प्रत्युत्तर में कहा जा सकता है कि समग्रों का अनुभव वर्ग-प्रत्ययों के अनुभव के सदृश नहीं होता। गाय का वर्ग-प्रत्येय प्रत्येक गाय में उपलब्ध है, परन्तु प्रत्येक अवयव में समग्र की प्राप्ति नहीं होती। पुनः यदि कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व अविद्यमान हो तो उत्पत्ति के एक प्रक्रिया होने के कारण ऐसे कार्य का कोई भी कर्त्ता नहीं होगा, यह असम्भव है क्योंकि कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व अविद्यमान होने के कारण अपना उत्पत्तिकर्त्ता नहीं हो सकता एवं अविद्यमान होने के कारण वह उत्पत्ति या तो स्वयं अविद्यमान होगी या बिना किसी कर्त्ता के होगी। यदि उत्पत्ति की क्रिया के रूप में परिभाषा न करके उसे स्वकरण-सत्ता-समवाय के रूप में माना जाय तो भी यह आपत्ति की जा सकती है कि दो सम्बन्धित पदों के बीच ही सम्बन्ध सम्भव है एवं चूंकि कार्य अभी तक अविद्यमान है अतः उसका सम्बन्ध अपने कारण से नहीं हो सकता। परन्तु यदि कार्य पहले से ही विद्यमान है तो फिर कारक व्यापार की आवश्यकता ही क्या है? इस प्रकार के प्रश्न का उत्तर इसी मत में पाया जाता है कि कार्य तो कारण का अपने कार्य में विस्तरण मात्र है। जिस प्रकार एक मनुष्य अपने अवयवों को समेट कर अथवा फैलाकर बैठने पर भी वही मनुष्य माना जाएगा, उसी प्रकार कार्य को भी कारण का विस्तरण मानना चाहिए और इसी हेतु कारण और कार्य में अभेद भी मानना चाहिए। इस प्रकार कार्य केवल कारण की रूपान्तरित अवस्था है अतः इस रूपान्तरण को घटित करने के लिए कारक-व्यापार अनावश्यक है, परन्तु ऐसा रूपान्तरण होते हुए भी कार्य-कारण में अपनी शक्ति के रूप में पहले से ही विद्यमान नहीं है।

सात अन्य लघुतर अनुच्छेद हैं। उनमें से प्रथम में इस आपत्ति का कि यदि जगत् चैतन्य ब्रह्म की अपरोक्ष उत्पत्ति है तो फिर ऐसी चेतन सत्ता ने इस दुःख से परिपूर्ण जगत् की रचना ही क्यों की जो स्वयं उसके लिए कारागृह है, उत्तर इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करके बड़ी आसानी से दिया है कि जगदतीत सृष्टिकर्त्ता इस जगत् के कारागृह में दुःख का अनुभव करने वाली सांसारिक जीवात्माओं से अत्यंत परे है। यहाँ भी शंकर एक पूरक व्याख्या के रूप में यह निरूपण सम्मिलित करते हैं कि सृष्टि यथार्थ नहीं एवं सम्पूर्ण जगत् इन्द्रजालमय अवभास मात्र है अतः ऐसी कोई आपत्ति युक्तिसंगत नहीं है जिसके अनुसार सृष्टिकर्त्ता को स्वयं अपने दुःख के लिए एक अवांछनीय जगत् की रचना नहीं करनी चाहिए। परन्तु सूत्रों ने इस प्रकार के निरूपण के लिए कोई अवसर नहीं दिया, ताकि पूर्वाध्यायों की तरह, यहाँ भी उनका माया का सिद्धान्त उनके सूत्रों की सामान्य व्याख्या के अनुरूप नहीं है तथा उनके निरूपण को एक ऐसे पाद-टिप्पण के रूप में जोड़ देना चाहिए जो सुग्रथित नहीं है और जिसकी सूत्रों के सामान्य अर्थ और आशय के साथ कोई उपादेयता नहीं है।

अगले अनुच्छेद में एक आपत्ति यह उठाई गई है कि ब्रह्म किन्हीं अन्य कारणों की सहायता के बिना सृष्टि की रचना नहीं कर सकता; ऐसी आपत्ति का उत्तर इस तथ्य में उपलब्ध है कि स्वयं ब्रह्म सर्वशक्तिमान् होने के कारण किसी अन्य की सहायता के बिना ही जगत् का सृजन अपने अन्दर से ही कर सकने में समर्थ हैं।

आगे के अनुच्छेद में यह आपत्ति उठाई गई है कि यदि जगत् ब्रह्म का परिणाम है तो ब्रह्म के निरवयव होने के कारण सम्पूर्ण ब्रह्म की ही परिणति होनी चाहिए, क्योंकि आंशिक परिणति उसी समय सम्भव है जब परिणामशील द्रव्य सावयव हो। इस प्रकार की आपत्ति का उत्तर जीवात्मा के सादृश्य में मिलता है जो स्वयं में निराकार है तथा स्वयं विविध प्रकार के स्वप्नानुभवों में परिणत होते हुए भी इस प्रकार के परिणामों से अप्रभावित एवं अविकारी रहता है। फिर उपरोक्त आक्षेप स्वयं विपक्षियों पर भी किए जा सकते हैं क्योंकि सांख्य भी निराकर प्रकृति के परिणाम को मानता है।

एक दूसरे अनुच्छेद में यह आग्रह किया गया है कि चूंकि ब्रह्म स्वयं में पूर्ण है तथा जब इससे इन्हें कोई लाभ नहीं तब उसके महान् जगत् की रचना करने का क्या कारण है। इसका उत्तर खेल के सादृश्य पर आधारित है जिसमें लाभ न होने की अवस्था में भी एक व्यक्ति इसमें भाग लेने में आनन्द का अनुभव करता है। अतः ब्रह्म भी अपनी लीला द्वारा जगत् की रचना करता है। फिर भी शंकर सूत्रों के हेतु के संबंध में, अप्रासंगिक होते हुए भी माया के सिद्धान्त का अपना प्राचीन गीत गाना कभी नहीं भूलते जिसका अनुसरण किए बिना वह नहीं रह सके। इस प्रकार इस अनुच्छेद में जगत्-रचना को ईश्वर का लीलामय व्यापार बताकर सूत्र की व्याख्या करते हुए वह कहते हैं कि यह अविस्मरणीय है कि सम्पूर्ण जगत्-रचना अविद्याजनित केवल काल्पनिक अवभासमात्र है एवं परम तत्त्व जीवात्मा तथा ब्रह्म का तादात्म्य है।

उपरोक्त विचार-विमर्श विश्वासप्रद रूप से यह सिद्ध करता हुआ प्रतीत होता है कि स्वयं शंकर के भाष्य के अनुसार भी बादरायण का दर्शन एक प्रकार का भेदाभेदवाद

अथवा ईश्वर (ब्रह्म) के विश्वातीत तथा विश्वानुगत होने का सिद्धान्त हैं । उनका विश्वास था कि जगत् ब्रह्म के वास्तविक परिणाम अथवा यों कहिए कि उसकी शक्ति एवं सामर्थ्य का फल है । ईश्वर स्वयं इस प्रकार के परिणाम द्वारा समाप्त नहीं हुआ है तथा सदा अधिपति स्रष्टा रहा है जिसने अपनी लीला द्वारा सृष्टि की रचना की एवं जो बिना किसी बाह्य सहायता के अपनी शक्ति द्वारा इसका सृजन कर सका । इस प्रकार जगत् ईश्वर की शक्तियों का यथार्थ परिणाम है जबकि वह स्वयं अपनी शक्तियों द्वारा विश्वानुगत होते हुए भी विश्वातीत भी है तथा इसका नियंत्रक है । वह सृष्ट सांसारिक जीवात्माओं के लिए उनके शुभाशुभ कर्मों के अनुसार पुरस्कार अथवा दंड का विधान करता है ।

बहुत से पुराणों का मुख्य मत होने के कारण भेदाभेदवाद का सिद्धान्त निश्चित रूप से शंकर के पूर्व का है । संभवतः ऐसा भी प्रतीत होता है कि भर्तृ प्रपंच ने रामानुज द्वारा वृत्तिकार के रूप में एवं शंकर द्वारा उपवर्ष तथा वृत्तिकार के रूप में उल्लिखित बोधायन का एवं शंकर तथा रामानुज द्वारा उल्लिखित द्रमिड़ाचार्य का उल्लेख किया है, सबने भेदाभेदवाद के किसी न किसी रूप को माना है । शंकर ने बृहदारण्यकोपनिषद् पर लिखे अपने भाष्य में भर्तृप्रपंच का उल्लेख किया है और आनन्दज्ञान ने शंकर-भाष्य पर लिखी अपनी टीका में बृहदारण्यक उपनिषद् पर लिखें गए भर्तृप्रपंच के भाष्य से कई उद्धरण दिए हैं । प्रो० एम० हिरियन्ना ने एक लेख में इन अंशों को इकट्ठा किया जो उन्होंने 1924 में तृतीय ओरियंटल कांग्रेस (मद्रास 1924) के समय पढ़े थे एवं वहाँ उन्होंने भर्तृप्रपंच के दर्शन का निम्न प्रकार से वर्णन किया है :—भर्तृप्रपंच का सिद्धान्त भेदाभेद के प्रकार का अद्वैत का सिद्धान्त है । ब्रह्म एवं जगत् के सम्बन्ध की तरह ब्रह्म एवं जीव का संबंध भी भेदाभेद का है । इस मत का एक तात्पर्य यह है कि जीव एवं भौतिक जगत् की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई, अतः इसे ब्रह्मपरिणामवाद का सिद्धान्त कहा जा सकता है । आध्यात्मिक पक्ष में ब्रह्म को अन्तर्यामिन् और जीव में परिणत कर दिया गया है; भौतिक पक्ष में अव्यक्त सूत्र, विराट् और देवता में परिणत कर दिया गया है जो सब····हैं, तथा जाति और पिण्ड जो नहीं हैं । ये ब्रह्म की अवस्थाएँ हैं और आठ वर्गों का प्रतिनिधित्व करती हैं जिसमें नानात्मक जगत् विभक्त हो सकता है । उनका पुनः तीन राशियों में वर्गीकरण होता है यथा परमात्मराशि, जीवराशि, और मूर्त्तामूर्त्त-राशि जो धर्म एवं दर्शन के त्रिकोणात्मक विषय के अनुरूप है यथा ईश्वर, जीवात्मा, प्रकृति । भर्तृप्रपंच ने प्रमाण-समुच्चय को मान्यता दी है जिसका अर्थ यह है कि सर्वसाधारण अनुभव का प्रमाण भी उतना ही सही है जितना कि वेदों का । प्रथम, नानात्व की सत्यता को तथा द्वितीय एकरूपता को (जैसा कि उपनिषदों में अवबोधित है) प्रमाणित करता है । अतः परमतत्त्व द्वैताद्वैत है । मोक्ष अथवा जीवन का लक्ष्य दो अवस्थाओं में प्राप्त किया जाता है—प्रथम, अपवर्ग की ओर ले जाती है जहां आसङ्ग को वशीभूत करके संसार को अभिभूत किया जाता है, तथा द्वितीय अविद्यानाश द्वारा ब्रह्मत्व की ओर ले जाती है । उपरोक्त दोनों अवस्थाओं में से किसी भी एक अवस्था तक पहुँचने का साधन ज्ञान कर्म समुच्चय कहलाता है जो प्रमाण समुच्चय के सैद्धान्तिक पक्ष का व्यावहारिक दृष्टि से स्वाभाविक परिणाम प्रतीत होता है ।

यह कहना सचमुच कठिन है कि बादरायण के वेदान्त के भेदाभेद सिद्धान्त के ठीक-ठीक लक्षण क्या-क्या थे, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह कोई विशिष्ट प्रकार का भेदाभेद का सिद्धान्त था एवं जैसा कि बार-बार कहा जा चुका है कि स्वयं शांकर भाष्य भी इसी मत को प्रदर्शित करता है (यदि हम उनके केवल निक्षिप्त वाक्य के रूप में रखे हुए उन मन्तव्यों को निकाल दें जो प्राय: उनके अपने भाष्य के सामान्य प्रवाह तथा सूत्रों के प्रसंग के साथ एवं इस प्रकार के प्रसंग द्वारा यथा संभव ज्ञात उनके हेतु तथा अर्थ के साथ असंगत हैं)। फिर भी यदि यह कहा जाय कि वास्तविक परिणाम का यह दृष्टिकोण केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही सत्य है तो कम से कम एक सूत्र तो ऐसा होना ही चाहिए जहाँ पारमार्थिक दृष्टिकोण दिया गया हो, परन्तु इस प्रकार का सूत्र स्वयं शंकर भी ढूँढ निकालने में असमर्थ रहे हैं। यदि अनुभव हमेशा कारण-परिणामवाद को सत्य प्रमाणित करता जाय तो पारमार्थिक दृष्टि से सब कार्यों को भ्रम और असत्य कैसे मान लिया जाय ? यदि यह कहा जाय कि माया के उपादान का वास्तविक परिणमन होता है जबकि ब्रह्म में कभी भी विकार नहीं होता एवं यदि माया को ब्रह्म की शक्ति माना जाय तो फिर ब्रह्म की शक्ति तथा उसका परिणाम किस प्रकार असत् एवं मिथ्या माना जा सकता है जबकि शक्तिमत् ब्रह्म को सत्य एवं परम तत्त्व माना जाता है । शांकरमत के कई वेदान्त लेखकों के बीच इस विषय पर गहरा मतभेद है । इस प्रकार अपने 'सिद्धान्तलेश' में अप्पय दीक्षित ने 'पदार्थनिर्णय' के लेखक को यह कहते हुए बताया है कि ब्रह्म एवं माया, दोनों ही प्रपंचात्मक जगत् के उपादान कारण हैं–ब्रह्म विवर्त कारण तथा माया परिणाम कारण है। कारणत्व की परिभाषा विवर्त एवं परिणाम के बीच की यह कह कर कहते हैं कि अपने से अभिन्न कार्यों को उत्पन्न करने वाला कारण उपादान कारण कहलाता है (स्वाभिन्न-कार्य-जनकत्वम् उपादानत्वम्)। जगत् का ब्रह्म के साथ तादात्म्य है क्योंकि उसकी सत्ता है तथा उसका माया के साथ तादात्म्य है क्योंकि उसमें जड़ता एवं विकारशीलता के लक्षण हैं। अतः दो विभिन्न दृष्टियों से ब्रह्म एवं माया दोनों जगत् के कारण हैं। वाचस्पति मिश्र के मत में माया केवल सहकारी कारण हैं जबकि ब्रह्म वास्तविक विवर्त कारण है।[1] सिद्धान्त-मुक्तावाली के लेखक प्रकाशानन्द के विचार में जगत् का उपादान कारण माया-शक्ति है न कि ब्रह्म । ब्रह्म अविकारी है एवं माया का आश्रय है, इस प्रकार वह औपचारिक अर्थ में जगत् का कारण है। सर्वज्ञात्ममुनि का यह विश्वास है कि केवल ब्रह्म ही विवर्त कारण हैं तथा माया उस हेतु के लिए केवल निमित्त मात्र है। * बादरायण के अनेक सूत्र कारणता के परिणामवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं–इस कठिनाई का अनुभव सर्वज्ञात्म मुनि ने कर लिया था जिन्होंने उसे यह संकेत देकर उड़ा दिया कि परिणाम के सिद्धान्त का विवेचन सूत्रों में समर्थन रूप में केवल इसीलिए किया गया है कि यह सिद्धान्त विवर्त के अत्यंत निकट आता है तथा लोगों को परिणामवाद के सिद्धान्त में दीक्षित करने

---

1 वाचस्पति मिश्र 840 ई० प० में हुए। ब्रह्मसूत्र पर अपनी भामती टीका के अतिरिक्त उन्होंने अन्य दर्शनों पर भी अनेक ग्रंथ एवं टीकाएं लिखीं । उनके महत्त्वपूर्ण ग्रंथ निम्न हैं :

से उन्हें विवर्त सिद्धान्त की ओर ले जाना अधिक सुलभ होगा, जैसा कि सूत्र 2. 1. 14 में संकेत किया गया है ।[1] यदि सूत्रों का विन्यास ऐसा होता कि उससे इस मत का समर्थन हो कि परिणामवाद का आरम्भ केवल पाठक के मनस् को विवर्त्त दृष्टिकोण की ओर ले जाना था, जो अन्ततोगत्वा निश्चित रूप से एक यथार्थ दृष्टिकोण के रूप में स्वीकार किया गया है, तो इस व्याख्या की किंचित् संभावना होगी, परन्तु यह स्पष्ट कर दिया गया है कि 2. 1 के प्रायः सभी सूत्र संगतिपूर्वक परिणामवादी दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं तथा सूत्र 2. 1. 14 की भी कारणत्व के विवर्तवादी दृष्टिकोण को सही बताने के रूप में व्याख्या नहीं की जा सकती क्योंकि शंकर ने उसी खंड के अन्य सूत्रों की व्याख्या परिणामवाद के अनुसार की है, और यदि विषय-सामग्री पर विचार किया जाय तो इस सूत्र की भी व्याख्या भेदाभेद प्रकार के परिणामवाद के दृष्टिकोण के अनुसार करनी पड़ेगी ।

वेदान्ताचार्य एवं शिष्य

उपनिषद् एवं ब्रह्मसूत्र के शांकर दर्शन का प्रधान आग्रह सत्, चित्, आनन्द के स्वतः प्रकाश अभेद ब्रह्म पर है जिसकी अनुभूति के लिए नित्य नैमित्तिक वैदिक कर्मों के संपादन की अपेक्षा नहीं है । अधिकारी गुरु द्वारा उपदिष्ट 'तत्त्वमसि' जैसे उपनिषद् वाक्यों की सम्यक् अनुभूति अपने में ही (स्वतः) जगत अवभास के सब मिथ्या भ्रमों के निवारण के लिए पर्याप्त है । यह बात कुछ विशिष्ट वैदिक कर्मों की अनिवार्यता के मीमांसा-दृष्टिकोण से एकदम विरुद्ध थी तथा इस बात पर शंकर एवं उनके अनुयायियों को मीमांसकों का कड़ा प्रतिरोध करना पड़ा । विभिन्न मीमांसा-लेखकों ने ब्रह्मज्ञान के साथ कर्मों के साहचर्य की आवश्यकता पर विभिन्न रूप से बल दिया, एवं उनमें से कुछ का संक्षिप्त उल्लेख सुरेश्वर पर लिखे गए खंड में किया जा चुका है । एक अन्य प्रश्न वेदान्त के अद्वैत वचनों (यथा तत्त्वमसि) को श्रवण करने की अनिवार्यता के स्वरूप के संबंध में उठा, तथा परकालीन वेदान्त-लेखकों ने इसे भिन्न प्रकार से समझा है । इस प्रकार प्रकटार्थ के लेखक का जिसका काल सम्भवतः द्वादश शताब्दी है, मत है कि उपनिषदों के अनुशासन

तत्त्व बिन्दु पर तत्त्व-वैशारदी, (योग) तत्त्वसमीक्षा, ब्रह्मसिद्धि-टीका, विधि-विवेक पर न्यायकणिका, न्यायतत्त्वालोक, न्यायरत्नटीका, न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, ब्रह्म-तत्त्व संहितोद्दीपनी, युक्तिदीपिका, (सांख्य) सांख्यतत्त्व कौमुदी, वेदान्त-तत्त्व-कौमुदी ।

❀ वह 900 ई० प० के आसपास मनुकुलादित्य राजा के शासनकाल में रहे तथा देवेश्वर के शिष्य थे ।

1 विवर्तवादस्य हि पूर्वभूमिर्वेदान्तवादे परिणामवादः
व्यवस्थितेऽस्मिन् परिणामत्रदे, स्वयं समायाति विवर्तवादः ।

—संक्षेप शारीरक 2.61 ।

उपायमातिष्ठति पूर्वमुच्चैरुपेयमाप्तुं जनता यथैव
श्रुतिर्मुनीन्द्रश्च विवर्तसिद्धयै, विकारवादेवदतस्तथैव । —वही, 2.62 ।

विकारवादं कपिलादिपक्षमुपेत्यवादेन तु सूत्रकारः
श्रुतिश्च सज्जल्पतिपूर्वभूमौ, स्थित्वा विवर्तप्रतिपादनाय ।। —वही, 2.64 ।

द्वारा (यथा "तुम्हें इन वचनों का श्रवण करना चाहिए, उनका तात्पर्य समझना चाहिए तथा मनन करना चाहिए") मनुष्य प्रथमतः यह ग्रहण करता है कि उसे वेदान्त वचनों का श्रवण करना चाहिए–इस दृष्टिकोण को पारिभाषिक अर्थों में अपूर्व-विधि कहा जाता है। अन्यों का मत है कि लोग मोक्ष प्राप्ति के अपने प्रयत्नों में सब प्रकार के ग्रंथों का अध्ययन करें तो पथ भ्रष्ट हो सकते हैं। अतः उन्हें सन् मार्ग पर लाने के लिए उपनिषदों के अद्वैतवचनों का श्रवण करने का निर्देश देते हैं–पारिभाषिक अर्थों में इस दृष्टिकोण को नियम-विधि कहते हैं। सर्वज्ञात्म मुनि के अनुयायियों के तो मत में ब्रह्म ज्ञान के बोध की उपलब्धि के सम्बन्ध में किन्हीं भी अर्थों में किसी कर्म की सत्ता नहीं हो सकती, तथा कर्म करने की आज्ञा का अर्थ यह है कि अपनी मेधा के स्पष्टीकरण के लिए विचार विमर्श करना, तथा आदेशसूचक वाक्य 'तुम्हें श्रवण करना चाहिए' का अर्थ यही है कि अपनी बोध-शक्ति को परिष्कृत करने के लिए मनुष्य सम्यक् विचार विमर्श करें। तो भी सुरेश्वर के अनुयायियों के विचार में कर्म करने की आज्ञा का तात्पर्य यह है कि वेदान्त के विद्यार्थी धीरे-धीरे अबोध गति से वेदान्त के वचनों की यथार्थता की अनुभूति करें, इस दृष्टिकोण को परिभाषिक रूप में परिसंख्या-विधि कहा जाता है। वाचस्पति मिश्र एवं उनके अनुयायियों के मत में इन आदेशों में कर्म की कोई अनिवार्यता नहीं है, उन्हें अनुशासनों के रूप में रखने का तात्पर्य केवल यह है कि प्रगति के वेदान्ती मार्ग पर अग्रसर होने के साधन के रूप में वेदान्त के वचनों के श्रवण और उन पर परिचर्चा करने की महत्ता प्रदर्शित की जा सके।

परन्तु वेदान्त की दार्शनिक समस्या का केन्द्र ब्रह्म-विचार, उसके कारणत्व का स्वरूप, प्रपंचात्मक प्रत्यक्ष जगत् एवं माया के साथ उसका सम्बन्ध तथा जीवात्माओं के साथ उसका सम्बन्ध है। स्वयं शंकर के ग्रंथ हमेशा एकसा तथा स्पष्ट उत्तर नहीं देते, तथा उनकी सामान्य योजना के न्यूनाधिक रूप में सुस्पष्ट व्याख्या होने पर भी उनके ग्रंथ के विभिन्न भागों में कई अंशों में ऐसी झलक मिलती है कि उनकी विभिन्न प्रकार से व्याख्या की जा सकती है। अप्पय दीक्षित ने अपने सिद्धान्त-लेश के प्रारम्भ में प्रदर्शित किया है कि प्राचीन लोगों का ध्यान जीवनात्मा एवं ब्रह्म के स्वरूप की मूलभूत समस्या की ओर अधिक केन्द्रित था तथा उन्होंने गोचरीय अवभास के क्रम की व्याख्या की ओर ध्यान नहीं दिया है, और इसलिए इस विषय पर कई पृथक् मत उद्भूत हो गए हैं। इस प्रकार शंकर की मृत्यु के थोड़े समय बाद ही चार मुख्य आचार्य सुरेश्वर और उनके शिष्य सर्वज्ञात्म मुनि, पद्मपाद और वाचस्पति मिश्र हमारे सामने आते हैं जो वेदान्त की अद्वैत व्याख्या की तीन स्पष्ट प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। सुरेश्वर एवं उनके शिष्य सर्वज्ञात्म मुनि के मत में माया एक द्वार है जिसके द्वारा एक ब्रह्म का अनेक रूपों में अवभास होता है एवं उनके यथार्थ स्वरूप का जीवात्माओं की दृष्टि से आवरण हो जाता है। इस दृष्टिकोण से माया को भावरूप मानते हुए भी इसे द्रव्य नहीं समझा गया, तथा ब्रह्म को माया का विषय एवं आश्रय दोनों ही माना गया। शुद्ध ब्रह्म ही सम्पूर्ण प्रतीतियों का मूल कारण है तथा माया उस पर भ्रम के पर्दे के समान आश्रित है जिसके कारण यह एक (ब्रह्म) अनेक मिथ्या प्रपचों के रूप में अवभासित होता है। यह आसानी से देखा जा सकता है कि यह

दृष्टिकोण गोचरीय अवभास की दार्शनिक व्याख्या देने के महत्त्व की पूर्णतया उपेक्षा करता है एवं इसी दृष्टिकोण पर बल देने में व्यस्त है कि ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। वाचस्पति का दृष्टिकोण इस अर्थ में माया को किंचित् अधिक यथार्थता देता है कि माया का ब्रह्म के साथ सहकारी के रूप में सह-अस्तित्व है जिसकी क्रियाशीलता द्वारा प्रपंचात्मक जगत् की रचना सम्भव है; माया ब्रह्म को अपने विषय के रूप में छिपा देती है परन्तु इसका आश्रय जीवात्माएँ हैं जो पुनः माया पर आश्रित हैं और माया उन पर ऐसे अनादि चक्र में आश्रित है। जगत् अवभास केवल वस्तुपरक प्रत्यय अथवा संवेदनाएँ मात्र नहीं हैं अपितु इसका विषयपरक अस्तित्व भी है यद्यपि इसके अस्तित्व का स्वरूप ऐसा है जिसकी व्याख्या नहीं हो सकती और न जिसका वर्णन किया जा सकता है तथा प्रलय के समय इसका सूक्ष्म एवं स्थूल उपादान कारण अविद्या में छिपा रहेगा जो कल्प के आदि में अर्थात् सृष्टि-रचना के समय पुनरुज्जीवित होगा। तृतीय दृष्टिकोण पद्मपाद का है जो माया को कुछ और अधिक यथार्थता प्रदान करता है। उसके अनुसार माया वह उपादान है जिसका व्यापार द्विविध है—एक ज्ञानात्मक क्रिया-शक्ति, द्वितीय स्पन्दनात्मक क्रिया-शक्ति, एक मनोव्यापार सम्बन्धी प्रक्रिया को निर्धारित करती है तथा दूसरी स्थूल-प्रक्रिया को निश्चित करती है, तथा मायायुक्त ब्रह्म उपरोक्त दो शक्तियों सहित ईश्वर के रूप में जगत् का मूल कारण है। परन्तु स्वयं शंकर की रचनाओं में भी विषयपरक विज्ञानवाद की जड़ें पाई जाती हैं। अतः बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य में वह कहते हैं कि अवच्छेद एवं प्रतिबिम्ब के सिद्धान्तों को छोड़कर यह कहा जा सकता है कि जैसे कुन्ती-पुत्र और राधेय एक ही है उसी प्रकार ब्रह्म भी अनादि अविद्या के कारण जीवात्माओं के रूप में भासित होता है; इस प्रकार जीवात्माएं जन्म ग्रहण करती हैं वे पुनः मिथ्या भ्रम द्वारा अपनी ही अविद्या से जगत् अवभास की रचना करती हैं। आगे के खण्ड में बताया जाएगा कि शंकर के थोड़े ही समय बाद नवम शताब्दी में मंडन ने भी उसी प्रवृत्ति का प्रतिपादन किया। इस प्रकार एक ही शताब्दी में हमारे समक्ष वेदान्ती विकास की चार विभिन्न धाराएं आती हैं जो पश्चात्वर्ती शताब्दियों में उन लेखकों में फैलने लगीं जिन्होंने उनमें से किसी एक अथवा अन्य शाखा का अनुसरण किया, एवं कुछ इनके अतिरिक्त और प्रवृत्तियों का भी प्रादुर्भाव हुआ। वेदान्त-क्षेत्र में दशम शतक अत्यन्त अनुर्वर प्रतीत होता है और संभवतः सुरेश्वर की वार्तिक के टीकाकार ज्ञानोत्तम मिश्र के अतिरिक्त किसी भी अति प्रतिष्ठित लेखक के इस काल में होने का हमें ज्ञान नहीं। दार्शनिक विकास के अन्य क्षेत्रों में भी यह शतक-न्यूनाधिक मात्रा में अनुर्वर ही रहा और न्याय-वैशेषिक में उदयन एवं श्रीधर, गणित ज्योतिष में उत्पल, एवं शैवमत में अभिनव गुप्त के अतिरिक्त संभवतः किन्हीं अन्य अधिक सम्मानित व्यक्तियों के नाम न ीं लिए जा सकते। फिर भी इस काल में कई एक विख्यात् बौद्ध लेखक हुए यथा न्याय-लोक-सिद्धि के लेखक राजशाहीवासी चन्द्रगोमिन् (कनिष्ट) 'प्रमाण-वार्त्तिकालंकार' और 'सहोपलम्भ-निश्चय' के लेखक विक्रमशिलावासी प्रज्ञाकर गुप्त, 'हेतुतत्त्वोपदश धर्म-धर्मी विनिश्चय' और 'बालावतार तर्क' के लेखक राजाशाहीवासी आचार्य जेतारि, प्रमाण-वार्त्तिकालंकार-टीका के लेखक जिन अपोह-सिद्धि, क्षणभंग-सिद्धि और स्थिर-सिद्धि-दूषण के लेखक रत्नकीर्ति तथा 'युक्ति प्रयोग' के लेखक रत्नवज्र। एकादश शतक भी वेदान्त दर्शन के लिए निष्फल ही प्रतीत

होता है। आनन्दबोध भट्टारकाचार्य ही महती ख्याति के एकमात्र लेखक प्रतीत होते हैं जिनका काल संभवतः एकादश शतक का परार्ध एवं द्वादश शतक का पूर्वार्ध प्रतीत होता है। कुलार्क पंडित के 'महाविद्या तर्क वाक्य' संभवतः एकादश शतक में किसी काल से प्रारम्भ हुए और जैसा कि आगे आने वाले खंड में बताया जाएगा कि चतुर्दश शतक तक वेदान्त के लेखकों ने खंडन के लिए उनका उल्लेख किया है। परन्तु यह निश्चित है कि वेदान्त के कई लेखकों ने आनन्द-बंध के पूर्व वेदान्त पर अवश्य ही कार्य किया होगा यद्यपि आज हम उनका ठीक-ठीक पता नहीं लगा सकते। आनन्दबोध का अपने 'न्याय मकरन्द' में कथन है कि उनका ग्रंथ वेदान्त के सम्बन्ध में कई निबंध-पुष्पांजलियों का संग्रह है। चित्सुख ने 'न्याय मकरन्द' पर लिखी अपनी टीका (पृ० ९६) में कहा है कि आनन्दबोध ने 'ब्रह्म प्रकाशिका' के लेखक के मत का खंडन किया है। रत्नप्रभा पृथ्वी पर दिए गए गोविन्दानन्द के कथन के अनुसार त्रयोदश शतक के अमलानन्द में 'प्रकटार्थ' के लेखक का काल एकादश अथवा द्वादश शतक माना जा सकता है। वह शांकर-भाष्य पर टीका थी तथा इसका पुरा नाम 'शारीरिक-भाष्य-प्रकटार्थ' था और आनन्द ज्ञान ने (जिनका नाम जनार्दन भी था) इस ग्रंथ की वेदान्ती व्याख्या के आधार पर अपना 'तत्त्वालोक' लिखा। श्री त्रिपाठी अपनी 'तर्क संग्रह' की भूमिका में लिखते हैं कि इस ग्रन्थ की एक प्रतिलिपि टेक्का मठ में उपलब्ध है, परन्तु इस पुस्तक के लेखक को अड्यार पुस्तकालयस्थ एक पांडुलिपि से इसका अध्ययन करने का सौभाग्य मिला तथा उसके दार्शनिक विचारों का निम्न संक्षिप्त विवरण भिन्न खंड में दिया जाता है। अप्पय दीक्षित कृत 'सिद्धान्त लेश' में प्रकटार्थ विवरण नामक टीका का पता चलता है। यद्यपि आनन्दज्ञान ने अपना 'तत्त्वालोक' 'प्रकटार्थ' के अनुसार लिखा फिर भी आनन्दज्ञान के सामान्य सिद्धान्त उसके (प्रकटार्थ) लेखक के अनुरूप नहीं थे; आनन्दज्ञान की स्थिति प्रायः सर्वज्ञात्ममुनि जैसी ही थी तथा न तो उन्होंने कई अज्ञानों को स्वीकार किया था और न उन्होंने माया एवं अविद्या में कोई भेद माना। परन्तु जहाँ तक 'सिद्धान्त लेश' में प्रकटार्थ के लेखक के बारे में आए उल्लेखों के विवरणों से पता चलता है, 'प्रकटार्थ' के लेखक ने व्यक्तियों के अन्तःकरणों को पृथक् स्थान प्रदान किया है और सोचा कि जिस प्रकार जीव अन्तःकरण की अवस्थाओं में शुद्ध चैतन्य के प्रतिबिम्ब द्वारा ज्ञाता रूप हो सकता है उसी प्रकार ईश्वर भी माया विकार के द्वारा सब कुछ जान लेने के कारण सर्वज्ञ है। विधि के स्वरूप के बारे में 'प्रकटार्थ' के मुंडक लेखक के विचार पहले ही बताए जा चुके हैं। परन्तु जिस ढंग से आनन्दज्ञान ने मुंडक पृ० 32 एवं केन पृ० 23 में 'प्रकटार्थ' का उल्लेख किया है वह इस बात का द्योतक है कि या तो वह 'प्रकटार्थ' के लेखक थे और या उन्होंने उस पर कोई टीका लिखी। परन्तु वह इस ग्रन्थ के लेखक नहीं हो सकते क्योंकि उन्होंने इसे 'तत्त्वालोक' के लेखन में आदर्शरूप मानने का उल्लेख किया है, अतः यह अधिक सम्भव प्रतीत होता कि उन्होंने उस पर भाष्य लिखा होगा, परन्तु यह आश्चर्यजनक है कि शंकर के कई महत्त्वपूर्ण भाष्यों पर टीका लिखने वाले आनन्दज्ञान ने 'प्रकटार्थ' पर एक अन्य टीका लिखने का कष्ट किया जो स्वयं शांकर-भाष्य पर एक टीका ही है। अतः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उसको इतना सम्मान करने के कोई विशिष्ट कारण थे और यह

उसके किसी विख्यात आचार्य की अथवा उनकी पैतृक शृंखला में किसी एक की कृति हो। फिर भी यह नितान्त असम्भव है कि यह ग्रन्थ द्वादश शतक के मध्य के अनन्तर लिखा गया हो।[1]

जैसा कि चित्सुख ने उल्लेख किया है, गंगापुरी भट्टारक का काल भी संभवतः आनन्द-बोध के पूर्व का ही हो। अतः गंगापुरी या तो दशम शतक के उत्तरार्ध में या एकादश शतक के पूर्वार्द्ध में रहे होंगे। यह असम्भव नहीं है कि वह आनन्दबोध के वरिष्ठ समसामयिक रहे हों। उनके ग्रंथ "पदार्थ-तत्त्व-निर्णय" पर आनन्दज्ञान ने टीका की है। उनके मत में माया एवं ब्रह्म, दोनों को जगत् का कारण ही मानना चाहिए। जगत् के सभी प्रकार के प्रत्यक्ष-ज्ञान-विषयों की सत्ता के विषय हैं'। जीव उनके कारण होता है। जीव का कारण वे हैं तथा विद्यमान होने वाले पदार्थों का कोई भी स्वरूप होने पर भी सत् वही है। इस प्रकार जगत् में ब्रह्म अपरिवर्तनशील अथवा विवर्त कारण है, परन्तु सब परिवर्तनशील सामग्रियाँ अथवा व्यक्तिगत सत्ताएँ भी किसी द्रव्य के विकार का परिणाम समझी जानी चाहिए और इस अर्थ में माया को जगत् का परिणामी कारण समझना चाहिए। इस प्रकार ब्रह्म जगत् का विवर्तकारण एवं माया उसका परिणामी कारण है। जगत् दोनों रूपों को प्रकट करता है—अविकारी सत् का रूप एवं विकारी जड़त्व का रूप; अतः माया एवं ब्रह्म दोनों दो प्रकार से जगत् के उपादान कारण हैं (ब्रह्म माया च इति उभयोपादानाम्; सत्त्व जाड्य-रूपोभयधर्मानुगत्युपपत्तिश्च)। इस पुस्तक के 'तर्क-विवेक' एवं 'सिद्धान्त विवेक' नामक दो अध्याय हैं जो क्रमशः वैशेषिक तथा वेदान्त दर्शन का संक्षिप्त विवरण देते हैं। अभी-अभी पदार्थ-तत्त्व-निर्णय में उल्लिखित गंगापुरी का मत निश्चित रूप से आनन्दबोध द्वारा अपने 'प्रमाण माला' पृष्ठ 16 में निश्चित रूप से अस्वीकार किया गया प्रतीत होता है।

जब कुलार्क ने 'महाविद्यातर्कवाक्य' का प्रारम्भ किया और जयन्त तथा उदयन जैसे नवम एवं दशम शतकों के महान् न्याय लेखक दर्शन शास्त्र में उत्साह पूर्वक तार्किक विधियों का समावेश कर रहे थे तथा ज्ञेय की परिभाषा देने का प्रयत्न कर रहे थे, तब ज्ञेय को अनिर्वचनीय बताने वाले वेदान्त मत के प्रभाव का प्रभाव क्षीण हो रहा था; और और सम्भवतः एकादश शती के उत्तरार्द्ध अथवा द्वादश शताब्दि के पूर्वार्द्ध में कृत 'प्रमाण-माला' एवं 'न्याय दीपावली' जैसे ग्रंथ एकादश शतक अथवा द्वादश शतक के पूर्व भाग में वेदान्ती विचारधारा को तार्किक आधार पर स्थिर रखने का क्षीण प्रयास कर रहे थे। केवल श्री हर्ष ने ही द्वादश शतक के तृतीय चतुर्थांश में प्रथम बार नैयायिकों के सम्पूर्ण तार्किक शास्त्र का खंडन करने का प्रयत्न किया। श्रीहर्ष का कार्य त्रयोदश शतक के पूर्व भाग में चित्सुख कृत तत्त्व-प्रदीपिका में, उसी शतक के उत्तर भाग में आनन्दज्ञान कृत "तर्क-संग्रह" में एवं सोलहवीं शतक में नृसिंहाश्रय मुनिकृत "भेद-धिक्कार में" चलता रहा। नृसिंहाश्रम मुनि पर उसके शिष्य नारायणाश्रम ने भेद-धिक्कार-सत्क्रिया नामक

---

[1] त्रिपाठी द्वारा लिखित 'इंट्रोडक्शन टू दी तर्क संग्रह' देखिए।

अपना भाष्य लिखा जिस पर भेद-धिक्कार-सत्क्रियोज्जवला नामक टीका लिखी गयी। तार्किक युक्तियों का प्रारम्भ शंकर में उपलब्ध होता है और उससे भी आगे महान् बौद्ध लेखक नागार्जुन, आर्यदेव चन्द्रकीर्त्ति, आदि में मिल सकता है। परकालीन शताब्दियों के दौरान इन ग्रंथों पर लिखी गई टीकाओं ने उन तर्किक युक्तियों में रुचि को निरन्तर बनाए रखा। इन भाष्यकारों के नामों का उल्लेख श्री हर्ष, चित्सुख एवं आनन्दान पर लिखे गए अध्यायों में किया गया है।

इसके अतिरिक्त सुरेश्वर, पद्मपाद एवं वाचस्पति के साथ प्रारम्भ होने वाली वेदान्त की व्याख्या-शृंखला अपर शतकों में लिखी टीकाओं में तथा स्वतन्त्र ग्रंथों में उत्साह-पूर्वक चालू रखी गई। इस प्रकार त्रयोदश शतक के मध्य में वाचस्पति कृत भामती पर अमलानन्द ने अपने "कल्पतरु" में व्याख्या लिखी; एवं इस "कल्पतरु" पर अप्पय दीक्षित ने सोलहवीं शताब्दी के उत्तर भाग में तथा सत्रहवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में टीका की, और लक्ष्मी नृसिंह ने अपने आभोग में सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में अथवा अट्टारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में टीका की।[1]

पद्मपाद कृत पंचपादिका पर प्रकाशत्मन् ने तेरहवीं शताब्दी में अपने पंचपादिका विवरण में टीका की, अखंडानन्द ने चौदहवीं शताब्दी में अपने "तत्त्वदीपन" में, विद्यारण्य ने उसी शताब्दी में अपने विवरण-प्रमेय-संग्रह में आनन्दपूर्ण एवं नृसिंह ने सोलहवीं शताब्दी में टीका लिखी। सुरेश्वर की शृंखला भी विद्यारण्य कृत सुरेश्वर के महावार्त्तिक के सार 'वार्तिकसार" एवं उस पर लिखी गई टीकाओं में तथा भाष्यों में तथा षोडश शतक के तथा उनके बाद 'संक्षेप शारीरक' पर लिखी टीकाओं में भी चालू रही। सर्वज्ञात्म मुनि के न्यूनाधिक सदृश दृष्टिकोण रखने वाले व्यक्तियों द्वारा भी कई स्वतंत्र ग्रंथ लिखें गये।[2]

सम्भवतः मंडन द्वारा प्रतिपादित दृष्टि-सृष्टिवादी वेदान्त दर्शन के भी निस्सन्देह कुछ अनुयायी थे परन्तु इस विचारधारा के कोई विशिष्ट लेखक हमें सोलहवीं शताब्दी के प्रकाशानन्द एवं उनके शिष्य नाना दीक्षित के अतिरिक्त कोई नहीं मिलते। 'वेदान्त कौमुदी' एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है जिसका उल्लेख अप्पय दीक्षित ने अपने 'सिद्धान्त लेश' में किया है। इस ग्रंथ में ब्रह्म की सर्वज्ञता को इस तथ्य में निहित माना है कि ब्रह्म के रूप में शुद्ध चैतन्य माया में विद्यमान उन सब कार्यों को प्रकट करता है जो या तो रीवास्तव में निवृत्ति को प्राप्त होती हैं, अथवा भविष्य के रूप में—संभाव्य विकृति को प्राप्त होते हैं अथवा भूत के रूप में परोक्ष विकृनि को प्राप्त हो चुके हैं; और परमेश्वर ही जीवात्माओं में अपने आपको अन्तस्थ साक्षी के रूप में प्रकट करता है जो उनके अज्ञान के विकारों तथा स्वप्नहीन निद्रा में उनके गूढ़ अज्ञान को प्रकट करता है। इस पुस्तक में

---

1 त्रिविक्रमाचार्य के पुत्र अल्लाल सूरि ने भामती पर भामती-तिलक नामक टीका लिखी।

2 संक्षेप शारीरक पर मुद्रित दो भाष्यों के अतिरिक्त वेदाध्यक्ष भगवत्पूज्यपाद के शिष्य वेदानन्द कृत 'संक्षेप शारीरक-सम्बन्धोक्ति' नामक अन्य ग्रंथ है जिसमें लेखक उसके

मौलिक प्रकृति के कई महत्त्वपूर्ण वेदान्ती मत व्यक्त किए गए हैं । रामाद्वय का यह ग्रंथ वर्तमान लेखक को राजकीय प्राच्य पाँडुलिपि संग्रहालय, मद्रास, में उपलब्ध हुआ तथा इसके दर्शन का विवेचन अलग खण्ड में किया गया है । मध्व के अनुयायियों के बारे में इसमें उपलब्ध उद्धरणों से यह अनुमान किया जा सकता है कि 'वेदान्त कौमुदी' सम्भवतः चतुर्दश शतक में लिखी गई थी ।

कुछ भी हो, चतुर्दश शतक के बाद आने वाले सब शतकों में हमें कई वेदान्त के लेखक उपलब्ध होते हैं, परन्तु प्रकाशानन्द, मधुसूदन सरस्वतीकृत 'अद्वैत सिद्धि' (जिसमें उन्होंने व्यासतीर्थ द्वारा षोडश शतक में प्रस्तुत की गई अद्वैत वेदान्त के विरुद्ध आपत्ति का खंडन करने का प्रयत्न किया है) और विद्यारण्य कृत विवरण प्रमेय संग्रह और धर्म राजाध्वरीन्द्र कृत परिभाषा तथा रामकृष्ण कृत उसके भाष्य विशिष्ट अपवाद हैं जिनके अतिरिक्त कोई ऐसे लेखक नहीं हैं. जिन्होंने वेदान्त की व्याख्या करने में महान् मौलिकता का परिचय दिया । इन अपर काल के लेखकों में अधिकाश अच्छे संकलनकर्त्ता थे जिन्होंने सब प्रकार के अतीत कालीन वेदान्त सम्बन्धी विचारों का आदर किया एवं उनको अपने ग्रंथों में सुव्यवस्थित रूप में एकत्रित किया । तथापि इनमें से अधिकांश लेखकों पर पंचपादिका-विवरण का प्रभाव अधिकांश बलशाली है एवं विवरण शाखा की विचारधारा ने सम्भवतः इस पूरे काल में वेदान्त की विचारधारा में सर्वाधिक, महत्त्वपूर्ण भाग लिया । इन वेदान्ती लेखकों का विशिष्ट क्षेत्र में ही उद्भव हुआ । ये क्षेत्र-विशेष उन आचार्यों द्वारा अनुप्राणित हैं जिनका कार्य या तो उनके ही वंश में अथवा उनकी शिष्य-परम्परा में चलता रहा । कुछ एक उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाएगा । जैसे जगन्नाथाश्रम पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में दक्षिणी भारत के महान् आचार्य हुए, उनके एक शिष्य नृसिंहाश्रम थे जो सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में वेदान्त के अत्यन्त विख्यात आचार्य थे । सामान्यतः एक ओर तो 'विवरण' और दूसरी ओर श्रीहर्ष, चित्सुख एवं सर्वज्ञात्म मुनि उनके प्रेरणाता के स्रोत थे । उन्होंने कई वेदान्त-ग्रन्थ लिखे यथा अद्वैत-दीपिका (उनके शिष्य नारायणाश्रम ने उस पर अद्वैत-दीपिका विवरण भाष्य लिखा) , अद्वैत पंचरत्न, अद्वैतबोधदीपिका अद्वैत रत्न-कोष, संक्षेप-शारीरक पर तत्त्व-बोधिनी नामक टीका, तत्त्व-विवेक (जिस पर नारायणाश्रम कृत तत्त्व विवेक-दीपन एवं ज्ञानेन्द्र सरस्वती के शिष्य अग्निहोत्र कृत 'तत्त्व विवेचन' नामक दो भाष्य थे), पंच-पादिका-विवरण-प्रकाशिका. भेद-धिक्कार, अद्वैत-रत्न व्याख्यान (मल्लनारोदाय कृत अद्वैत-रत्न पर भाष्य) और वेदान्त-तत्त्व-विवेक सर्वज्ञात्म मुनि के ग्रंथ एवं विवरण ग्रंथ पर उनकी टीका करने तथा उनका 'भेदधिक्कार' (श्रीहर्षकृत तार्किक ग्रंथ की पद्धति पर लिखा गया एक तार्किक वेदान्त पर ग्रंथ) लिखने का सामर्थ्य उस युग की संहतिवादी प्रवृत्ति का द्योतक है जिसमें शाखा के अन्तर्गत सारे व्यक्तिगत मतभेद वेदान्त के विभिन्न दृष्टिकोणों के रूप में स्वीकृत किए गए थे और जिसमें लोगों की वेदान्त में पूर्णरूपेण रुचि थी तथा जिन्होंने वेदान्त-विचार धारा को अपने

श्लोकों के पारस्परिक सम्बन्ध को संगत अर्थ देने के रूप में बताने का प्रयत्न करता है । नृसिंहाश्रम ने भी तत्त्वबोधिनी नामक एक टीका 'संक्षेप शारीरक' पर लिखी । सर्वज्ञात्म भगवत् ने 'पंचप्रक्रिया' नामक एक छोटा सा वेदान्त ग्रंथ लिखा परन्तु यह सम्भव नहीं कि वह वहीं सर्वज्ञात्म मुनि हैं ।

ग्रन्थों के अंगीकार करने में कोई आनाकानी नहीं की । नृसिंहाश्रम के एक शिष्य धर्मराजाध्वरीन्द्र थे जिन्होंने वेदान्त-परिभाषा, गंगेश-कृत तत्त्व-चिंतामणि पर तत्त्व-चूड़ामणि नामक टीका एवं शशधर आचार्य कृत न्याय-सिद्धान्त पर भी टीका एवं पद्मपाद कृत पंच-पादिका पर टीका लिखी । उनके पुत्र एव शिष्य रामकृष्ण दीक्षित ने वेदान्त परिभाषा पर वेदान्त-शिखामणि नामक एक टीका लिखी, और ब्रह्म विज्ञान के शिष्य अमरदास ने रामकृष्ण कृत इस शिखामणि पर एक अन्य टीका लिखी ।[1] रामकृष्ण ने रुचिदत्त कृत 'तत्त्व-चिन्तामणि-प्रकाश' पर 'न्याय शिखामणि' नामक टीका एवं 'वेदान्त-सार' पर भी एक टीका लिखी । अन्य लेखक यथा काशीनाथ शास्त्री एवं ब्रह्मेन्द्र सरस्वती ने भी सत्रहवीं शताब्दी में धर्मराज कृत वेदान्त-परिभाषा के अनुसार वेदान्त परिभाषा नामक अलग-अलग ग्रन्थ लिखे । नृसिंह के प्रभाव क्षेत्र में परन्तु रंगराज अध्वरी के शैव एवं मीमांसक कुल में अप्पय दीक्षित का जन्म हुआ जो सोलहवीं एवं सत्रहवीं शताब्दियों के विख्यात आचार्यों में एक थे । उनके सब ग्रन्थों का उल्लेख उन्हें समर्पित किये गये खण्ड में है । पुनश्च, वह भट्टो जी दीक्षित के आचार्य थे जिन्होंने व्याकरण एवं स्मृति पर कई ग्रन्थों के अतिरिक्त 'तत्त्व-कौस्तुभ' तथा 'वेदान्त-तत्त्व-दीपन-व्याख्या' नामक वेदान्त पर दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे । वेदान्त-तत्त्व-दीपन-व्याख्या' नारायणाश्रम (नृसिंहाश्रम के शिष्य) कृत वेदान्त तत्त्व विवेक पर लिखे तत्त्व-दीपन-भाष्य पर टीका है ।

इन नारायणाश्रम ने भी नृसिंहाश्रम-कृत भेद-धिक्कार पर भेद-धिक्कार-सत्क्रिया नामक एक अन्य टीका भी लिखी थी और आगे चलकर अठारहवीं शताब्दी में राम भद्रा-श्रम एवं नागेश्वर के शिष्य नरसिंह भट्ट ने नृसिंह-कृत 'भेद-धिक्कार' पर 'अद्वैत चन्द्रिका' नामक टीका लिखी । भट्टो जी दीक्षित के पुत्र भानु जी दीक्षित ने अमरकोष की टीका (व्याख्यासुधा अथवा सुबोधिनी) की । भट्टो जी केवल 'अप्पय' के ही नहीं बल्कि नृसिंहाश्रम मुनि के भी शिष्य थे । भट्टो जी के कनिष्ठ भ्राता एवं शिष्य रंगोजी भट्ट ने अद्वैत चिन्तामणि एवं अद्वैत-शास्त्र-सारोद्धार नामक दो ग्रन्थ न्यूनाधिक रूप से उन्हीं दिशाओं में लिखे जिनमें निम्न विषयों का समावेश था : वैशेषिक पदार्थों का खण्डन, आत्मा के स्वरूप का निर्धारण, प्रतिबिम्बवाद के सिद्धान्त एवं अज्ञान के स्वरूप का निर्धारण, जगत् अवभास के मिथ्यात्व के प्रमाण, तथा ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण तथा ब्रह्मत्व की उपलब्धि कैसे हो इस पर विचार । उनके पुत्र कोंड भट्ट मुख्य रूप से व्याकरणा-चार्य थे जिन्होंने वैशेषिक पर भी कुछ लिखा । पुनश्च विश्वेश्वर सरस्वती के (सर्वज्ञ विश्वेश एवं गोविन्द सरस्वती के शिष्य के शिष्य) शिष्य मधुसूदन सरस्वती का जीवन काल सोलहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है । सम्भवतः वह नृसिंहाश्रम के प्रभाव में थे जो मधुसूदन सरस्वती के आचार्य माधव सरस्वती को पराजित करने के लिए विख्यात हैं । मधुसूदन के तीन शिष्य थे, पुरुषोत्तम ने मधुसूदन कृत सिद्धान्त 'तत्त्व-बिन्दु' नामक भाष्य पर 'सिद्धान्त तत्त्व-बिन्दु टीका लिखी ।'[2] दूसरे बाल भद्र एवं शेष गोविन्द थे (जिनमें से द्वितीय

1. नारायण दीक्षित के पुत्र पेट्टा दीक्षित ने भी वेदान्त परिभाषा पर 'वेदान्त-परिभाषा-प्रकाशिका' नामक टीका लिखी ।

2. ब्रह्मानंद ने सिद्धान्त बिन्दु पर 'सिद्धान्त-बिन्दु-टीका' नामक एक अन्य टीका लिखी ।

ने शंकर-कृत सर्व-दर्शन-सिद्धान्त-संग्रह पर सर्व-सिद्धान्त-रहस्य टीका नामक ग्रन्थ लिखा)। पुनश्च, वेदान्त पर सर्वाधिक लोकप्रिय एवं सुपठित संहतिवादी ग्रन्थ वेदान्त सार के लेखक सदानन्द नृसिंहाश्रम के समसामयिक थे, नृसिंह सरस्वती ने 1588 में वेदान्त सार पर सुबोधिनी नामक टीका लिखी। स्वानुभूमि-प्रकाश के लेखक देवेन्द्र भी नृसिंहाश्रम के समसामयिक हैं। यह पहले ही बताया जा चुका है कि प्रकाशानन्द शायद नृसिंहाश्रम के समकालीन थे यद्यपि वह उनसे प्रभावित प्रतीत नहीं होते। इससे यह पता चलता है कि सोलहवीं एवं सत्रहवीं शताब्दियों के कुछ अग्रगण्य वेदान्त लेखक किस प्रकार वेदान्त क्षेत्र में एक साथ उद्भूत हुये जिनमें से कई परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से नृसिंहाश्रम और अप्पय दीक्षित से प्रभावित थे।

लेखकों के अन्य मण्डल की ओर जाने पर हम देखते हैं सत्रहवीं शती के उत्तरार्धकालीन भास्कर दीक्षित ने अपने आचार्य कृष्णानन्द-कृत सिद्धान्त-सिद्धांजन पर 'रत्न-टीका' लिखी। सिद्धान्त-वेदान्त पर एक उत्कृष्ट श्रेणी का संहतिवादी ग्रन्थ है जिसमें धर्म-विचार एवं ब्रह्म-विचार के भेद तथा विधि के मीमांसा-सिद्धान्त एवं ब्रह्म ज्ञान की आवश्यकता के बारे में अधिकांश उत्कृष्ट वेदान्त सिद्धान्तों का समावेश है, इसमें अनेक मीमांसा-सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया गया है और कई वेदान्त सम्बन्धी उपयुक्त विषयों के साथ उनके सम्बन्ध पर विचार किया गया है। ज्ञान एव अविद्या के स्वरूप पर भी यह ग्रन्थ अपने विचार प्रस्तुत करता है। तथापि यह विवरण के प्रभाव से अधिकांशतः स्वतन्त्र प्रतीत होता है एवं यह प्रत्यक्षीकरण के सिद्धान्तों अथवा अन्तःकरण और उसकी वृत्ति के स्वरूप के सिद्धान्तों में नहीं पड़ता है। इस प्रकार नृसिंह अथवा अप्पय के परम्परा में सोलहवीं शती में रचित अधिकांश ग्रन्थों से यह ग्रन्थ अत्यन्त भिन्न है। कृष्णानन्द सम्भवतः सत्रहवीं शती के मध्य में रहे। उनके आचार्य रामभद्रानन्द थे। रामभद्रानन्द को वेदान्त-नय-भूषण के लेखक स्वयं-प्रकाशानन्द ने शिक्षा दी। वेदान्तनयभूषण वाचस्पति मिश्र कृत भामती टीका के आधार पर लिखी ब्रह्म सूत्र पर एक टीका है। इन स्वयंप्रकाश को सम्भवतः उसी शती के उन स्वयंप्रकाश से भिन्न समझना चाहिए जो कैवल्यानन्द योगीन्द्र के शिष्य थे एवं लक्ष्मीधर कवि-कृत 'अद्वैतमकरन्द' पर 'रसाभिव्यंजिका' टीका के लेखक थे। रामभद्रानन्द के आचार्य रामानन्द सरस्वती थे जिन्होंने 'सिद्धान्त-चन्द्रिका' नामक ग्रन्थ लिखा और जिस पर 'साम्राज्य सिद्धि' एवं उसकी टीका कैवल्य कल्पद्रुम के लेखक, सर्वज्ञ सरस्वती के शिष्य के शिष्य तथा रामचन्द्र सरस्वती के शिष्य गंगाधरेन्द्र सरस्वती (1826 ई० प०) ने लिखी। प्रकाशानन्द शांकर-शारीरक भाष्य पर लिखी गई 'ब्रह्म विद्याभरण' नामक टीका के लेखक अद्वैतानन्द के शिष्य थे। अद्वैतानद 'अन्वय प्रकाशिका' (सर्वज्ञात्म मुनि-कृत संक्षेप शारीरक पर टीका) के लेखक रामतीर्थ के शिष्य थे तथा नृसिंहाश्रम के आचार्य जगन्नाथाश्रम के समकालीन कृष्णतीर्थ के शिष्य थे। रामतीर्थ कृत 'अन्वय प्रकाशिका' में मधुसूदन कृत 'अद्वैत-सिद्धि' का ज्ञान होने का पता चलता है और इस प्रकार उनकी काल गणना सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में की जा सकती है। पुनः स्वयंप्रकाशानंद के शिष्य 'अद्वैत-चिन्ता-कौस्तुभ' अथवा 'तत्त्वानुसंधान' के लेखक महादेवानंद अथवा महादेव वेदान्ती थे। यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सत्रहवीं एवं पूर्व अट्ठारहवीं शती के ये लेखक वेदान्ती विचारधारा के विभिन्न मण्डलों में समृद्ध हुए जहाँ वेदान्त की विवरण-शाखा के लेखकों की अपेक्षा वाचस्पति, सुरेश्वर और सर्वज्ञात्म मुनि का अधिक

प्रभाव था। अद्वैत ब्रह्म सिद्धि के लेखक सदानन्द काश्मीरक एक अन्य संहतिवादी वेदांत लेखक थे। जिनका काल अट्ठारहवीं शती का पूर्व भाग है। 'अद्वैत ब्रह्म सिद्धि' अद्वैताचार्यों की विभिन्न शाखाओं में वर्णित वेदान्त-सिद्धान्तों की मुख्य-मुख्य बातों की व्याख्या करने वाला एवं सुलभ शैली में लिखित सम्पूर्ण महत्त्वपूर्ण वेदान्त-सिद्धान्तों का एक उत्कृष्ट सारग्रन्थ है। नरहरि कृत 'बोध सार' अट्ठारहवीं शती के अन्त की महत्त्वपूर्ण कृतियों में से एक मानी जा सकती है।[1]

विशिष्ट क्षेत्रों में आचार्य एवं शिष्यों के सम्बन्ध के बारे में जो संकेत किया गया है वह पूर्वतरलेखकों के सम्बन्ध में भी ठीक उतरता है यद्यपि पूर्वतर पुस्तकों की अनुपलब्धि के कारण एवं प्राचीनतर परम्पराओं के पद चिह्न अधिकाधिक क्षीण पड़ने के कारण इनका पता लगाना अत्यन्त कठिन है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि चौदहवीं शती में

---

1. सत्रहवीं से उन्नीसवीं शताब्दियों में लिखित कई ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण वेदान्त ग्रन्थ भी गिनाये जा सकते हैं—इस प्रकार नृसिंहाश्रम के पौत्र तथा सर्वज्ञनारायण के पुत्र लोकनाथ ने द्वैतवादियों के दृष्टिकोण का खण्डन करने के लिए तीन अध्यायों में अद्वैत मुक्तासार नामक एक छन्द ग्रन्थ तथा उस पर कान्ति नामक टीका की रचना की। ब्रह्मानन्द सरस्वती ने अद्वैत-सिद्धान्त-विद्योतन लिखा। योगानन्द के शिष्य गोपालानन्द सरस्वती ने 'अखण्डात्मक प्रकाशिका' लिखी; विश्वेश्वराश्रम के शिष्य, शिवराम के शिष्य हरिहर परमहंस ने 'अनुभव-विलास' लिखा, और उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ के ब्रह्मानन्द के शिष्य सामिन ने बारह अध्याय में 'ब्रह्मानन्द-विलास' नामक एक महान् ग्रन्थ लिखा। इस सम्बन्ध में कतिपय वेदान्त तर्क विद्या के उन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का उल्लेख करना असंगत नहीं होगा जो अन्य दार्शनिक-दृष्टिकोणों का खण्डन करते हुए न्यूनाधिक उन तार्किक लेखों के आधार पर लिखे गये हैं जिनका प्रस्तुत ग्रन्थ में संकेत है। इस प्रकार श्रीहर्ष-कृत खण्डन-खण्ड-खाद्य के टीकाकार आनन्दपूर्ण (1600 ई० प०) ने न्याय, मीमांसा और वैशेषिक मतों का खण्डन करते हुये चार प्रकरणों में 'न्याय चन्द्रिका' लिखी; सम्भवतः उसी शती वाले नारायण ज्योतिष के शिष्य आनन्दानुभव ने 'पदार्थ-तत्त्व-निर्णय' नामक उसी प्रकार का ग्रन्थ लिखा; सम्भवतः तेरहवीं शती में रहने वाले ज्ञानघन ने 'तत्त्व-शुद्धि' नामक सैंतीस प्रकरणों वाला विशद तार्किक ग्रन्थ लिखा; सम्भवतः सोलहवीं शती में रहने वाले श्रीनिवास यज्वन् ने विशिष्टाद्वैत एवं द्वैत दृष्टिकोणों का खण्डन करते हुए छब्बीस प्रकरणों में 'वादावली' नामक ग्रन्थ लिखा, भवानीशंकर ने भी इसी प्रकार का 'सिद्धान्त-दीपिका' नामक तार्किक ग्रन्थ लिखा, संहतिवादी अर्थ लोकप्रिय वेदान्ती ग्रन्थों के निम्न उदाहरण दिये जा सकते हैं यथा—

वसुदेवेन्द्र कृत 'तत्त्व-बोध', स्वयंप्रकाश योगीन्द्र कृत 'गुणत्रय विवेक', रामचन्द्र योगी कृत 'जगत्-मिथ्यात्व दीपिका', शिवानन्दयती कृत 'आनन्द दीप', (जिस पर रामनाथ ने 'आनन्द-दीप टीका' लिखी थी) योगीश्वर कृत 'स्वात्म योग प्रदीप' (जिस पर अमरानन्द ने टीका लिखी थी) तथा वेदपण्डित कृत 'वेदान्त-हृदय' (गौड़पाद एवं योग वाशिष्ठ के आधार पर)।

विद्यारण्य अमलानन्द के समकालीन थे क्योंकि वे दोनों क्रमशः शंकरानन्द एवं अनुभवानन्द के शिष्य थे, और ये दोनों आनन्दात्मन् के शिष्य थे। शंकरानन्द 'गीता-तात्पर्य-बोधिनी' एवं विमिश्र उपनिषदों तथा 'उपनिषद्रत्न' नामक उपनिषद् सार के भी लेखक थे। लेकिन अमलानन्द के न केवल अनुभवानन्द ही अपितु सुखप्रकाश मुनि भी आचार्य थे जो चित्सुख के शिष्य थे जो स्वयं गौड़ेश्वर आचार्य के शिष्य थे। (जिनका नाम ज्ञानोत्तम भी था)।

वेदान्त का आत्म-विचार एवं बौद्ध अनात्मवाद का सिद्धान्त

शंकर द्वारा बौद्ध दर्शन की आलोचना का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विषय विभिन्न मनोवैज्ञानिक अंगों को एकीकृत करने वाले अथवा अनुभवों के भोक्ता एवं सम्पूर्ण विचारों तथा क्रियाओं के नियन्त्रक के रूप में व्यवहार करने वाले चिरस्थायी आत्मा के निषेध के विरुद्ध नियोजित है। बौद्ध कथित युक्ति के अनुसार इन्द्रिय ज्ञानोत्पत्ति के लिए रूप अथवा शब्द के ज्ञान की तरह रूप के इन्द्रिय प्रदत्त विषय के अतिरिक्त उसके अनुरूप इन्द्रिय शक्ति आवश्यक होती है जबकि इस कार्य-सम्पादन के लिए आत्मा का अस्तित्व आवश्यक है।[1] वसुबन्धु के विचारानुसार इन्द्रिय-प्रदत्त एवं समूहीकृत विषय में उन मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का अनुभव होता है जिन्हें स्कन्ध कहते हैं। जिसे आत्मा कहा जाता है वह वस्तुतः मनोवैज्ञानिक तत्त्वों के समुदाय प्रज्ञप्ति-सत् मात्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वह यथार्थ-तत्त्व मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का समुदाय है। यदि प्रतीयमान आत्मा एवं मनोवैज्ञानिक तत्त्व में रूप और शब्द के समान भावान्तर होता तो उसे पुद्गल माना जाता; परन्तु यदि इन मनोवैज्ञानिक तत्त्वों से इसका भेद वैसा ही होता जैसाकि क्षीर के संघटकों का क्षीर की प्रतीति से भेद है तो आत्मा को केवल प्रज्ञप्ति-सत् वाला ही माना जायेगा।[2]

वस्तुतः आत्मा की मनोवैज्ञानिक तत्त्वों से भिन्नता केवल प्रज्ञप्ति सत् ही है; जिस प्रकार यद्यपि क्षीर अपने सारभूत अंश तत्त्वों के समुदाय से भिन्न अस्तित्व वाला प्रतीत होता है फिर भी वह अपने सारभूत-अंश तत्त्वों के निश्चित प्रकार के समुदाय के अतिरिक्त वस्तुतः कुछ भी नहीं है। उसी प्रकार भिन्न स्वतन्त्र सत्ता के रूप में भासित होने पर भी आत्मा स्कन्ध-समुदाय के अतिरिक्त कुछ नहीं है। तथापि वात्सीपुत्रियों के विचार में लक्षण-वैभिन्य के कारण स्कन्धों की पुद्गल से कुछ भिन्नता है। वात्सीपुत्रीय शाश्वत आत्मा का निषेध करते हैं परन्तु उनका स्कन्धों के भिन्न एवं स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में क्षणिक पुद्गल में विश्वास है। जिस प्रकार वह्नि उपाधि-युक्त ईंधन से भिन्न होता है उसी प्रकार पुद्गल

---

1. यहाँ अभिधर्म कोष में दी गई वसुबन्धु की उन युक्तियों का अनुसरण किया गया है जो 'पुद्गल विनिश्चय' नामक प्रो० शेरवास्की कृत उस ग्रन्थ के आठवें प्रकरण के परिशिष्ट के अनुवाद एवं विश्वभारती, बंगला से ली गई यशोमित्र कृत उसकी टीका की नेपाली पाण्डुलिपि पर आधारित है।

2. यदि यथा रूपादिः शब्दादेर्भावान्तरम् अभिप्रेयते पुद्गल इति अभ्युपगतो भवति भिन्न-लक्षणं हि रूपं शब्दादित्यादि क्षीरादिवत् समुदायश्चेत् प्रज्ञप्तितः। अभिधर्म-कोष-व्याख्या, विश्व भारती पाण्डुलिपि पृष्ठ 337।

उसे कहते हैं जो प्रज्ञप्ति-सत् में एक निर्दिष्ट समय में स्कन्धों द्वारा उपाधि युक्त होता है।[1] फिर भी वसुवन्धु ऐसे पुद्गल के विरुद्ध युक्ति देते हुए कहते हैं कि इस प्रकार के पुद्गल को स्वीकार करना निष्प्रयोजन है। केवल शून्य में वर्षा एवं धूप निष्प्रभावशाली होती हैं, उनका उपयोग तो केवल चर्म को ही है, यदि पुद्गल चर्म की तरह अनुभव के मूल्य को निर्धारित करता है तो इसे वाह्य अंग के रूप में स्वीकार करना होगा; यदि वह शून्य देश की तरह है तो इसे स्वीकार करने में किसी भी हेतु की पूर्ति नहीं होगी।[2] कुछ भी हो, वात्सीपुत्रियों ने सोचा कि जिस प्रकार ईंधन अग्नि को उपाधियुक्त करता है तो उसी प्रकार पुद्गल को उपाधियुक्त करने वाला स्कन्ध है। इस उपाधिकरण से वात्सीपुत्रियों का तात्पर्य यह है पुद्गल एक प्रकार से आश्रयभूत और सहभूत हैं।[3] पुद्गल का व्यक्तिगत तत्त्वों द्वारा उपाधियुक्त होने का तात्पर्य यह है कि स्कन्धों की उपस्थिति में पुद्गल की उपस्थिति है।[4] परन्तु वसुवन्धु का आग्रह है कि व्यक्ति के प्रज्ञप्ति सत् को प्रतिष्ठित करने में इस प्रकार की उपाधि मात्र पर्याप्त नहीं है, क्योंकि रूप भी दृष्टि, प्रकाश एवं अवधान द्वारा इस प्रकार उपाधियुक्त होता है कि इनकी उपस्थिति में भी प्रकाश का प्रत्यक्षीकरण होता है, परन्तु क्या कोई इस आधार पर रूप के अस्तित्व को प्रज्ञप्ति सत् मान सकता है? और क्या प्रज्ञप्ति तत्त्वों को अलग पदार्थ माना जा सकता है? पुनश्च, यह पूछा जा सकता है कि यदि ऐसे किसी व्यक्ति का अस्तित्व हो तो उसका अनुभव कैसे होता है क्योंकि यदि इसका अनुभव किसी एक इन्द्रिय द्वारा होता है तो यह इन्द्रियप्रदत्त विषय होगा; क्योंकि इन्द्रियाँ केवल अपने इन्द्रियप्रदत्त विषयों को ही समझ सकती हैं एवं पुद्गल इन्द्रिय-प्रदत्त विषय नहीं है। अतः यथा क्षीर, रूप, रस इत्यादि समुदित इन्द्रिय-प्रदत्त विषयों के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं उसी प्रकार तथाकथित पुद्गल स्कन्धों के अतिरिक्त कुछ नहीं है।[5] वात्सीपुत्रीय यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि चूंकि स्कन्ध, इन्द्रियप्रदत्त विषय आदि पुद्गल के अनुभव के कारण हैं अतः पुद्गल का इन कारण-तत्त्वों से तादात्म्य नहीं हो सकता जो अनुभव के कारण है; यदि ऐसा होगा तो अपने इन्द्रिय-प्रदत्त विषयों के अनुभव

---

1. Stcherbatsky कृत पुद्गल-विनिश्चय का अनुवाद Bulletin de l Academic des Science de Russia पृ० 830।
   तिब्बती भाषा से अनूदित वसुबन्धु का सही पाठ निम्न है:
   गृहीत-प्रत्युत्पन्नाभ्यन्तर-स्कन्धमुपादाय पुद्गल-प्रज्ञप्तिः। वही, पृष्ठ 953
2. वात्सीपुत्रीयाणां तीर्थिक दृष्टिः प्रसज्यते निष्प्रयोजनत्वचं।
   वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलम्।
   चर्मोपमश्चेद् स नित्यः खतुल्यश्चेदसत्फलः।। यशोमित्र कृत भाष्य का पृष्ठ 338।
3. आश्रयभूतः सहभूतश्च। वही
4. रूपस्यापि प्रज्ञप्तिः वक्तव्या चक्षुरादिषु सत्सु तस्योपलम्भाद्,
   तानि चक्षुरादीनि उपादाय रूपं प्रज्ञाप्यते। वही
5. यथा रूपादीन्येव समस्तानि समुदितानि क्षीरमिति उदकम् इति वा प्रज्ञाप्ते, तथा स्कन्धाश्च समस्ता पुद्गल इति प्रज्ञाप्यते, इति सिद्धम्। यशोमित्र कृत भाष्य 25, पृष्ठ 339 अ।

के कारण प्रकाश, नेत्र, अवधान इत्यादि भी पुद्गल से अभिन्न समझे जायेंगे ।[1] परन्तु यह मान्य नहीं है, ध्वनि के प्रदत्त विषय एवं वर्ण सदा पुद्गल से भिन्न समझे जाते हैं तथा प्रत्येक व्यक्ति सदैव पुद्गल से इन्द्रियप्रदत्त विषयों की भिन्नता प्रदर्शित करता है और कहता है--'यह ध्वनि है' 'यह वर्ण है 'यह व्यक्ति है' ।[2] परन्तु जैसे रूप ध्वनि से भिन्न हैं वैसे पुद्गल एवं स्कन्धों के वैभिन्य का अनुभव नहीं होता । वैभिन्य का सिद्धान्त क्षणों के वैभिन्य के सिद्धान्त में निहित है; रूप का शब्द से पृथक्त्व का कारण इसका पृथक् क्षण में अनुभव है जबकि पुद्गल एवं स्कन्ध पृथक् क्षणों में अनुभूत नहीं होते ।[3] परन्तु प्रत्युत्तर में यह तर्क दिया जाता है कि इन्द्रियप्रदत्त विषय एवं पुद्गल न तो भिन्न है और न अभिन्न है । अतः अनुभव में उनकी प्रज्ञप्ति भी न तो भिन्न है और न अभिन्न ।[4] परन्तु वसुबन्धु का कथन है कि यदि इस सिद्धान्त में यह दृष्टिकोण अपनाया जाये तो जहाँ कहीं भी समुदाय होगा, उन सब सिद्धान्तों में इसी सिद्धान्त को अपनाना पड़ेगा ।[5] इसके अतिरिक्त विभिन्न इन्द्रियों के विशिष्ट क्षेत्र हैं और उनके साथ क्रिया करने वाले मानस् का क्षेत्र भी उनके द्वारा दिये गये विषयों तक ही सीमित है, अत ऐसी कोई विधि नहीं है जिसमें तथाकथित पुद्गल का अनुभव हो सकता है । अजित-उपदेश में बुद्ध ने कहा बताते हैं, 'दृष्टि-चैतन्य दर्शनेन्द्रिय एवं दृष्ट-विषय' पर आधारित है । जब ये तीनों (विषय, इन्द्रिय एवं चैतन्य) संयुक्त होते हैं तब संवेदना उत्पन्न होती है । इसके साथ भाव, प्रतिबिम्ब (यह सिद्धान्त कि इन्द्रियों द्वारा अनुभूत जगत् में प्रथम अनुभूत विषय चेतनातीत विषय को प्रतिबिम्बित करता है) तथा संकल्प आते हैं । जब हम किसी प्राणी के सम्बन्ध में कुछ कहते हैं तो उसका तात्पर्य इतना ही होता है । उनको (पंच तत्त्व को) विभिन्न नाम दिये गये हैं यथा चेतन प्राणी, मनुष्य, मनु की संतान, मानव, बालक, व्यक्ति, जीवन, आत्मा । यदि उनके सम्बन्ध में यह कहा जाये कि 'वह स्वयं अपने नेत्रों से देखता है' तो यह मिथ्यारोपण होगा (क्योंकि वस्तुतः कोई ऐसा प्राणी नहीं है जिसके स्वयं के अपने नेत्र हों) । सामान्य जीवन में उनके बारे में ऐसे कथन प्रचलित हैं यथा इन माननीय पुरुष का उक्त नाम है, वे अमुक जाति तथा अमुक परिवार के हैं, वे अमुक भोजन करते हैं, यह उन्हें अच्छा लगता है, उनकी अमुक उम्र हो गई है, वह अमुक वर्षों तक जीवित रहा है, वह अमुक आयु में मर गया है । बन्धुओं ! अतः ये शब्द मात्र हैं, प्रचलित पद-संज्ञाएँ हैं ।

वे शब्द व्यंजक हैं, (परन्तु सत्य नहीं) ।
यथार्थ तत्त्व काल-बद्ध नहीं होते,

---

1. यथा रूपं पुद्गलोपलब्धेः कारणं भवति स चैतेभ्योऽन्यो न वक्तव्यः आलोक चक्षुर्मनस्कारा अपि रूपोपलब्धेः कारणं भवति तदपि तद् अभिन्न-स्वभावः पुद्गलः प्राप्नोति । वही ।।
2. वही पृष्ठ 339 बी ।
3. स्वलक्षणादपि क्षणान्तरमन्यदिति उदाहार्यम् । वही ।।
4. यथा रूप-पुद्गलयोरन्यानन्यत्वं अवक्तव्यं एवं तदुपलब्ध्योःअपि अन्यानन्यत्वम् अवक्तव्यम् । वही ।।
5. योऽयम् सिद्धान्तः पुद्गल एवं वक्तव्यः सोऽयम् भिद्यते संस्कृतमपि अवक्तव्यम्, इति कृत्वा । वही ।।

पारस्परिक आधारित आभासों में
इन्हें संयुक्त करने वाला चेतनत्व है ।[1]

तथापि वात्सीपुत्रीय भार-हार-सूत्र का उल्लेख करते हैं जिसमें बुद्ध ने कहा बताते हैं, भन्ताओं ! मैं तुम्हारे समक्ष भार (जीवन के) और इसके अतिरिक्त दायित्व को उठाना, इससे मुक्ति पाना तथा इसका वाहक कौन है—इस बात की व्याख्या करूंगा—यह भार क्या है ? पंच तत्त्व-समुदाय व्यक्तिगत जीवन के अधिष्ठान । इस भार को वहन करने का क्या तात्पर्य है ? कई विषयों के उपभोग करते हुए वासनामय कामनाओं से युक्त निरन्तर जीवन के लिए तृष्णा की शक्ति । भार को दूर करने का तात्पर्य क्या है ? यह वासनामय कामनाओं तथा कई विषयों के उपभोग से युक्त जीवित रहने की इच्छा का सम्पूर्ण रूप में बहिष्कार करना प्रत्येक स्थिति में इससे छुटकारा पाना, इसका शमन, इसका अन्त, इसका दमन, इससे विरक्ति, इसका नियन्त्रण, इसका लोप है । वहनकर्त्ता कौन है ? हमें उत्तर देना होगा : यह अमुक संज्ञा युक्त अमुक जाति, अमुक परिवार का, अमुक भोजन करने वाला, इन पदार्थों में सुख अथवा दुःख प्राप्त करने वाला, अमुक आयु का, मानवीय व्यक्ति जो अमुक आयु में उस आयु को प्राप्त करके पंचत्व को प्राप्त हो जायेगा ।[2] परन्तु वसुबन्धु का कथन है कि भार-हार को कोई नित्य आत्मा अथवा वास्तविक व्यक्ति नहीं समझना चाहिए । भार की संज्ञा उसे दी जाती है जो पूर्ववर्त्ती क्षण के तत्त्वों के क्षणिक स्कन्ध है और तुरन्त अनुवर्ती स्कन्ध भार-हार कहलाते हैं ।[3]

वात्सीपुत्रीय पुनः तर्क प्रस्तुत करते हैं कि क्रियाशीलता में क्रियाशील कर्त्ता निहित है और चूँकि ज्ञान एक कर्म है अत. उस ज्ञान में ज्ञाता निहित है । जिस प्रकार देवदत्त की गतिशीलता में वह देवदत्त निहित है जो गमन करता है । परन्तु वसुबन्धु इस प्रकार के तर्क का उत्तर यह देते हैं कि इस प्रकार का एकत्व कहीं भी नहीं है । देवदत्त जैसा कोई व्यक्ति नहीं है, जिसे हम देवदत्त कहते हैं वह तत्त्वों का समुदाय है । दीप-प्रकाश कई चमकीली शिखाओं की शृंखला की अविच्छिन्न उत्पत्ति की सामान्य प्रतीकात्मक संज्ञा है । जब यह उत्पत्ति अपना स्थान परिवर्तन करती है तब हम कहते हैं कि प्रकाश गतिशील हुआ है । उसी प्रकार चेतनत्व भी चेतन क्षणों की शृंखला का प्रचलित नाम है । जब वह अपना स्थान परिवर्तन करता है (अर्थात् जब अन्य विषयक तत्त्व से संयुक्त होकर प्रकट होता है) तब हम कहते हैं कि उसे विषय का बोध होता है और उसी ढंग से भौतिक तत्त्वों के अस्तित्व की बात करते हैं । हम कहते हैं कि 'जड़ पदार्थ' उत्पन्न होता है, इसका अस्तित्व है, परन्तु सत्ता एवं सत्तामय में कोई भेद नहीं है तो यही बात चेतनत्व के सम्बन्ध

---

1. Deli Academic des Science de Russie बुलेटिन में Stcherbatsky कृत अनुवाद ।
2. Stcherbatsky कृत अनुवाद ।
3. यशोमित्र का कथन है कि स्कन्धों के समुदाय से भिन्न कोई भार-हार नहीं है—मारादानवन् न स्कन्धेभ्योऽर्थान्तरभूतः पुद्गल इत्यर्थः । अभिधर्मकोष-व्याख्या विश्व-भारती । एम० ए० :

में सत्य है (वहाँ स्वयं चेतनत्व के गतिशील शिखा के अतिरिक्त ऐसा कुछ भी नहीं है जो ज्ञाता हो)।[1]

यह ज्ञात करना सुलभ है कि शांकर-वेदान्त दर्शन द्वारा प्रस्तुत चेतनत्व का विश्लेषण इससे पूर्णतया भिन्न है। वेदान्त के मत में चेतनत्व का तथ्य अन्य सब मतों से सर्वथा भिन्न है। जब तक किसी ज्ञान की, यथा प्रकाश की विद्यमानता, इन्द्रिय-विषय संनिकर्ष इत्यादि की, पूर्ववर्ती भौतिक अथवा दैहिक अवस्थाओं का समुदाय तैयार किया जाता है तब तक ज्ञान नहीं होता, एवं किसी विशिष्ट क्षण में ही विषय-ज्ञान उद्भूत होता है। यह ज्ञान अवस्थाओं के तथाकथित समुदाय को संगठित करने वाले प्रत्येक तत्त्व और सब तत्त्वों से अत्यन्त भिन्न होता है कि यह किसी भी अर्थ में अवस्थाओं के समुदाय का परिणाम नहीं कहा जा सकता। अत: चेतनत्व किसी वस्तु का परिणाम न होने व किन्हीं संघटकों में विश्लेष्य न होने के कारण क्षणिक स्फुरण भी नहीं माना जा सकता। अहेतुक, अनिर्मित एवं अनुत्पादित, यह नित्य, अनन्त तथा असीम है। चेतनत्व का अन्य सब वस्तुओं से वैभिन्य का मुख्य विषय उसके स्वयं के ज्योति का तथ्य है। चेतनत्व में कोई जटिलता नहीं है। यह अतीव सरल है एवं उसका एकमात्र सार-बल अथवा लक्षण शुद्ध स्वत: प्राकाश्य है। चेतनत्व का तथाकथित क्षणिक स्फुरण इस तथ्य के कारण नहीं है कि यह क्षणिक है एवं इसका अस्तित्व होता है और पश्चात् क्षण में ही नष्ट हो जाता है अपितु इस तथ्य के कारण है कि इसके द्वारा अभिव्यक्त विषय समय-समय पर इसी के द्वारा प्रतिबिम्बित होते हैं। परन्तु चेतनत्व सदैव स्वयं में स्थिर एवं अनिवार्य है। इस चेतनत्व का अपरोक्षत्व इस तथ्य से सिद्ध होता है कि यद्यपि अन्य सब कुछ इसके सम्पर्क द्वारा ही प्रकट होता है जबकि यह स्वयं अनुमान अथवा किसी अन्य विधि द्वारा कदापि वर्णित, सूचित अथवा अभिव्यक्त नहीं होता, बल्कि यह सदैव स्वत: अभिव्यक्त एवं प्राकाश्य है। ज्योंही समस्त विषय इसके सन्निकर्ष में आते हैं त्योंही वे अपरोक्ष रूप में प्रकट हो जाते हैं। सम्विद् अद्वितीय है। यह न तो अपने विषयों से भिन्न है और न चेतनत्व और उनके समुदाय में सारभूत-अंश के तत्त्व के रूप में उनके समान स्तर पर ही है। चेतनत्व के विषय अथवा चेतनत्व में अभिव्यक्त सब कुछ सम्विद् के सन्निकर्ष में आते हैं और स्वयं सम्विद् की तरह प्रतीत होते हैं। यह प्रतीति ऐसी है कि जब वे सम्विद् के सन्निकर्ष में आते हैं तब वे स्वयं चैतन्य की तरह प्रकाशित होते हैं यद्यपि वह अर्थ-क्रिया चैतन्य के प्रकाश में उससे एकरूपता दिखाते हुए अचेतन विषय एवं मानसिक अवस्थाओं की मिथ्या प्रतीति के अतिरिक्त कुछ नहीं है। परन्तु चैतन्य एवं उसके विषयों में सहज अन्तर यह है कि चेतनत्व प्रत्यक् एवं अनुवृत्त हैं जबकि विषय अप्रत्यक् एवं व्यावृत्त है। पुस्तक, मेज इत्यादि का विज्ञान इसलिए भिन्न प्रतीत नहीं होता कि ये ज्ञान के विभिन्न स्फुरण हैं बल्कि इसका कारण चैतन्य का इन विषयों के साथ परिवर्तनशील साहचर्य है। विषय अपने विज्ञान के स्फुरण के साथ ही अस्तित्व में नहीं आते बल्कि उनका अस्तित्व एवं अर्थक्रिया का क्षेत्र भिन्न है।[2] सम्विद् अद्वितीय एवं अविकार्य है; विषयों का इसके साथ

---

1. Bulletin del Academic des Science de Russie, पृष्ठ 938–939।
2. तत्व-दर्शी तु नित्यम् द्वितीयं विज्ञानं विषयाश्च तत्राध्यस्ता: पृथगर्थ-क्रिया-समर्थास्तेषां चाबाधितं स्थायित्वमस्तीति वदति।

सम्बन्ध होने के कारण ही वे सम्विद् में एवं इसके साथ अभिन्न रूप में इस प्रकार प्रतीत होते हैं कि चैतन्य में विषय का स्फुरण स्वयं चैतन्य का स्फुरण प्रतीत होता है। माया के कारण ही चैतन्य का विषय एवं चैतन्य इस प्रकार के समग्र पूर्ण में भासित होते हैं कि उनके पारस्परिक अन्तर की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता और चैतन्य पर प्रयुक्त बाह्य वर्ण की तरह चैतन्य का विषय भिन्न अथवा उसके बाहर प्रतीत नहीं होता बल्कि स्वयं चैतन्य के विशिष्ट प्रकार की तरह प्रतीत होता है। इस प्रकार पुस्तक-ज्ञान, मेज-ज्ञान के रूप में प्रतीत होने वाली विभिन्न विज्ञप्तियाँ वस्तुतः विभिन्न विज्ञप्तियाँ नहीं हैं बल्कि एक अविकार्य चैतन्य है जो सदा परिवर्तनशील विषयों से क्रमिक रूप में सम्बद्ध है और ये विषय चैतन्य से मिथ्या रूप में एकीभूत प्रतीत होते हैं तथा प्रतीति का कारण है कि चैतन्य के गुण रूप में विभिन्न प्रकार से क्षण-क्षण पर स्फुरित होते हैं। चैतन्य को क्षणिक नहीं माना जा सकता। क्योंकि ऐसा होता तो वह प्रत्येक विभिन्न क्षण भिन्न प्रतीत होता। यदि यह कहा जाय कि यद्यपि भिन्न-भिन्न संवित्तियाँ प्रत्येक भिन्न क्षण में उत्पन्न होती हैं तो भी आत्यंतिक सादृश्य के कारण यह ध्यान में नहीं आता; तब यह उत्तर दिया जा सकता है कि यदि दो यथाक्रम क्षणों की दो संवित्तियों में भेद है तो ऐसा विभेद या तो किसी अन्य चैतन्य द्वारा या उसी चैतन्य द्वारा अवश्य ग्राह्य होना चाहिए। प्रथम विकल्प में—प्रथम दो विज्ञप्तियों तथा उनके विभेद का बोध करने वाली तृतीय विज्ञप्ति या तो उनके साथ एकरूप होनी चाहिए और उस अवस्था में तीनों विज्ञप्तियों में कोई विभेद नहीं रह जायेगा; या वह उनसे भिन्न हो सकती है और उस अवस्था में यदि उनके विभेद को ग्रहण करने के लिए किसी अन्य विज्ञप्ति की आवश्यकता हो और फिर उसे किसी अन्य की आवश्यकता हो तो इस प्रकार अनवस्था प्रसंग का दोष होगा। यदि वह भेद संवृत्त-स्वरूपभूत हो एवं यदि इस भेद को ग्रहण करने के लिए कुछ भी न हो तो भेद की अविद्यमानता में स्वयं संवित् की अविद्यमानता निहित है, क्योंकि उपकल्पना द्वारा भेद को संवित्-भूत माना गया है।

इस प्रकार एक क्षण की विज्ञप्ति का अन्य क्षण की विज्ञप्ति से भेद न तो तार्किक दृष्टि से सिद्ध किया जा सकता है और न अनुभव में ही इसका बोध होता है, जो सदैव उसकी प्रतीतियों के समस्त क्षणों में विज्ञाप्ति की एकरूपता को प्रमाणित करता है। यह कहा जा सकता है कि अद्वैत-एकात्मकता का अवभास भ्रान्तिपूर्ण है और इस प्रकार यह मान कर चलता है कि विज्ञप्तियों में सादृश्य है; क्योंकि इस प्रकार के सादृश्य के बिना अद्वैत का भ्रान्तिपूर्ण अवभास नहीं हो सकता था। परंन्तु जब तक विज्ञप्तियों के भेद और सादृश्य पहले सिद्ध नहीं किये जाते तब तक कोई चीज ऐसी नहीं है जो इतना सा संकेत दे सके कि अद्वैत का अवभास भ्रान्तिपूर्ण है।[1] यह आग्रह नहीं किया जा सकता कि दो विभिन्न क्षणों की विज्ञप्तियों में भेद एवं सादृश्य के अस्तित्व कों मिथ्या सिद्ध किये जाने की अवस्था में ही एकरूपता के अवभास को सत्य सिद्ध किया जा सकता है; क्योंकि अद्वैत का अवभास प्राथमिक है एवं अनुभव द्वारा प्रत्यक्ष रूप से सिद्ध होता है। विज्ञप्तियों के

विवरण-प्रमेय-संग्रह पृष्ठ 74।
विजयनगरं संस्कृत सिरीज, वाराणसी, 1893।

1. विवरण-प्रमेय-संग्रह, पृष्ठ 76।

भेद एवं सादृश्य के अस्तित्व को अन्यथा सिद्ध करने की अवस्था में ही इसके साक्ष्य को चुनौती दी जा सकती है। विज्ञप्ति की अद्वैतता विज्ञप्ति के तादात्म्य की प्रत्यभिज्ञा है जो स्वयं-सिद्ध है।

यह भी बताया जा चुका है कि बौद्ध प्रत्यभिज्ञा के तथ्य का विभिन्न विश्लेषण देते हैं। उनके मत में प्रत्यक्षीकरण के समय प्रत्यक्षीकरण वस्तुओं के अस्तित्व को प्रदर्शित करता है जबकि प्रत्यभिज्ञा में भूतकाल के द्वारा उनके अस्तित्व की कल्पना अन्तर्निहित है और यह प्रत्यक्षीकरण द्वारा गम्य नहीं है क्योंकि प्रत्यक्षीकरण केवल वर्तमान क्षण तक ही सीमित है। यदि यह कहा जाय कि प्रत्यभिज्ञा का कारण पूर्वानुभव के संस्कारों के साथ सम्बद्ध वर्तमान प्रत्यक्षीकरण है तो इस प्रकार के तादात्म्य की प्रत्यभिज्ञा 'सोऽहम्' के रूप में आत्मा के तादात्म्य को सिद्ध नहीं करेगी--क्योंकि स्वयं ज्योति आत्मा में कोई संस्कार नहीं हो सकते। स्फुरण के रूप में चैतन्य मात्र किसी प्रकार के तादात्म्य को सिद्ध नहीं कर सकता; क्योंकि वह तो वर्तमान क्षण तक ही सीमित है एवं वह भूत-काल के अनुभव के प्रसंग में वर्तमान-काल के अनुभव के साथ नहीं जोड़ा जा सकता। बौद्ध अपने पक्ष में तादात्म्य के प्रत्यक्षीकरण की अभेदता के रूप में प्रत्यभिज्ञा के अस्तित्व का निषेध करता है और मानता है कि वस्तुतः वे एक नहीं दो प्रत्यय हैं--'अहम्' और 'तत्'--काल में रहते हुए इस आत्मा की अभेदता के पृथक् अनुभव हैं। इस पर वेदान्तियों का उत्तर यह है कि यद्यपि जन्य ज्ञान के रूप में संस्कार असम्भव है फिर भी अन्तःकरण से सम्बद्ध होने के कारण आत्मा में संस्कार हो सकते हैं और इसलिए प्रत्यभिज्ञा सम्भव है।[1] परन्तु इस पर यह आपत्ति की जा सकती है कि आत्मा एवं अन्तःकरण का संयोग ज्ञाता एवं ज्ञेय का द्वैत-कार्य-सम्पादन करेगा, क्योंकि संस्कार युक्त अन्तःकरण एवं आत्मा ही प्रत्यभिज्ञाता का कार्य सम्पादित करते हैं और ठीक वही संस्कार आत्मा से संयुक्त होकर प्रत्यभिज्ञाता की भी सामग्री का निर्माण करते हैं—अतः इस दृष्टिकोण से विषयी एवं विषय एक माने जाते हैं; परन्तु इसके उत्तर में विद्यारण्य मुनि कहते हैं कि दर्शन के सब सिद्धान्त आत्मा के अस्तित्व का शरीर से भिन्न रूप में अनुमान करते हैं, और इस प्रकार आत्मा द्वारा ही अनुमान किया जाता है एवं इस प्रकार आत्मा को ही कर्त्ता तथा इस प्रकार अनुमानों का विषय कहा गया है। विद्यारण्य का कथन है कि यह पुनः कहा जा सकता है कि प्रत्यभिज्ञाता अन्तःकरण की विशिष्टता से आत्मा द्वारा संविहित होता है जबकि प्रत्यभिज्ञेयत्व पूर्वापरकाल द्वारा आत्मा द्वारा गठित होता है।[2] अतः आत्मा के तादात्म्य की प्रत्यभिज्ञा का अर्थ यह नहीं कि वस्तुतः ज्ञाता और ज्ञेय एक ही हैं। यदि यह कहा जाय कि चूंकि आत्म-तादात्म्य की प्रत्यभिज्ञा में दो प्रत्यय निहित हैं--अतः उसमें दो काल भी निहित हैं तो सम्पूर्णज्ञान को क्षणिक बताने वाले कथनों में भी दो प्रत्यय निहित हैं क्योंकि क्षणिकत्व का ज्ञान के साथ तादात्म्य स्थापित नहीं किया जा

---

1. कैवले चिदात्मनि जन्म-ज्ञान-तत्-संस्कारयोरसम्भवेऽप्यन्तःकरणविशिष्टे तत् सम्भवादुक्त-प्रत्यभिज्ञा किं न स्यात्। वही पृष्ठ 76।
2. अन्तःकरणविशिष्टतयैवात्मनः प्रत्यभिज्ञातृत्वं पूर्वापरकाल-विशिष्टतया च प्रत्यभिज्ञेयत्वम्। विवरण-प्रमेय-संग्रह-पृष्ठ 77।

सकता। प्रत्यय की जटिलता का अर्थ यह नहीं होता कि वह एक नहीं बल्कि दो विभिन्न कालों में घटित होने वाले दो भिन्न प्रत्यय हैं। यदि इस तर्क को स्वीकार कर लिया जाय तो सम्पूर्ण ज्ञान को क्षणिक बताने वाले सिद्धान्त को एक प्रत्यय नहीं माना जाकर दो क्षणों में घटित होने वाले दो प्रत्यय मानना होगा और इसलिए क्षणिकत्व को ज्ञान पर आरोपित नहीं किया जा सकता जैसाकि बौद्धों ने किया है, और न ही प्रभाकर के दृष्टिकोण के अनुसार यह माना जा सकता है कि चिरस्थायी 'इस आत्मा' का अस्तित्व केवल 'आत्म-तादात्म्य' के प्रत्यय की प्रत्यभिज्ञा के आधार पर ही स्वीकार किया गया है; क्योंकि भूत-काल में सतत् विद्यमान रहने वाला एवं वर्तमान-काल में विद्यमान आत्मा 'आत्म-तादात्म्य' की प्रत्यभिज्ञा के क्षणिक प्रत्यय पर आधारित नहीं हो सकता। 'आत्म-तादात्म्य' का प्रत्यय एक क्षणिक प्रत्यय है जो केवल वर्तमान काल तक ही ठहरता है, अतः यथार्थ एवं चिरन्तन आत्मा की यथार्थता की सत्ता क्षण के मनोवैज्ञानिक प्रत्यय मात्र के कारण नहीं हो सकती।

पुनः यदि वह युक्ति दी जाती है कि यह स्मृति कि 'मुझे पुस्तक की विज्ञप्ति थी' इस बात को प्रदर्शित करती है कि भूतकाल में जब पुस्तक का प्रत्यक्षीकरण किया गया था तब आत्मा का अस्तित्व था, तो इसके प्रत्युत्तर में यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार की स्मृति एवं पूर्वानुभव आत्मा के भूत-काल के अस्तित्व को सिद्ध कर सकते हैं परन्तु दूसरे यह सिद्ध नहीं होता कि भूतकाल में विद्यमान आत्मा और अभी का अनुभव कर्त्ता आत्मा एक ही हैं। काल के दो क्षणों में आत्मा के अस्तित्व मात्र से यह सिद्ध नहीं होता कि आत्मा अन्तर्वर्ती काल में भी विद्यमान था। दो विभिन्न कालों के दो प्रत्यय प्रत्यभिज्ञा के प्रत्यय की व्याख्या नहीं कर सकते, जिसके लिए सातत्य का होना पूर्वापेक्षित है। यदि यह मान लिया जाय कि दोनों प्रत्यय प्रत्यभिज्ञा के प्रत्यय द्वारा आत्म-स्थायित्व के प्रत्यय का कारण हैं तो उसका अर्थ यह होगा कि बौद्ध यह मानते हैं कि मनुष्य को सोऽहं प्रत्यभिज्ञा हो सकती है। यह नहीं कहा जा सकता कि चूँकि आत्मा का प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता अतः प्रत्यभिज्ञा द्वारा आत्मा के तादात्म्य का प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता क्योंकि जब कोई स्मरण करता है कि, 'मुझे अनुभव हुआ' तो वह स्मृति ही यह सिद्ध करती है कि आत्मा का प्रत्यक्षीकरण हुआ था। यद्यपि जब कोई उसका स्मरण करता है तो उस समय आत्मा उस आत्म-प्रत्यक्षीकरण के विषय के रूप में नहीं, बल्कि द्रष्टा के रूप में अनुभूत होता है। फिर भी वर्तमान काल में पूर्वानुभव के स्मरण के समय स्वयं आत्मा प्रत्यक्षीकरण का विषय अवश्य होगा। यदि यह युक्ति दी जाये कि भूत-कालिकि विज्ञप्ति ही स्मृति का विषय है और यही विज्ञप्ति स्मरण करने पर आत्मा को विज्ञप्ति के ज्ञाता के रूप में व्यक्त करती है, तो इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि स्मरण के समय पूर्व विज्ञप्ति के नहीं होने के कारण वह ज्ञाता भी अनुपस्थित रहता है जिस पर स्वयं विज्ञप्ति आश्रित थी। कोई विज्ञप्ति अपने को अभिव्यक्त करने के समय ही अपने आश्रय दाता को अभिव्यक्त करती है, परन्तु यदि विज्ञप्ति का स्मरण किया जाता है तो स्मृत विज्ञप्ति स्वतः प्रकाश्य वर्तमान विज्ञप्ति का विषयमात्र बन जाती है। परन्तु जिस पूर्व विज्ञप्ति को हम स्मृत मानते हैं वह अतीत एव लुप्त होती है इस कारण न तो इसे अपने किसी आश्रयदाता की आवश्यकता रहती है और न यह वस्तुतः इस

प्रकार के ज्ञाता को प्रकट ही करती है। यह तो केवल स्वतः प्रकाश्य ज्ञान ही है जो स्वयं अपने प्रकाशन के साथ-साथ ज्ञाता को भी तत्काल प्रकाशित करता है, परन्तु जब स्मृति किसी बोध का माध्यम होती है तो उसकी स्मृति के साथ उसका ज्ञाता प्रकाशित नहीं होता।[1] अतः पूर्व में विज्ञप्ति का अनुभव करने वाले आत्मा का केवल स्मृति के माध्यम द्वारा ही वर्णन किया जाता है। अतः प्रभाकर मतानुयायी कहते हैं कि आत्मा की सत्ता 'सोऽहं' जैसे जटिल प्रत्ययों द्वारा अनुभूत होती है तो यह मानना होगा कि केवल प्रत्यभिज्ञा प्रक्रिया द्वारा ही आत्मा की शाश्वतता सिद्ध की जाती है। विद्यारण्य मुनि ने अपने 'विवरण प्रमेय संग्रह' में जिस मुख्य बात पर बल दिया है वह यह है कि प्रत्यभिज्ञा अथवा आत्म-तादात्म्य का तथ्य भूतकालीन ज्ञान अथवा ज्ञाता और वर्तमान विज्ञप्ति जैसे दो पृथक् प्रत्ययों की किसी कल्पना द्वारा समझाया नहीं जा सकता। हम सब यह अनुभव करते हैं कि हमारी आत्माएँ समय के अन्तर में शाश्वत हैं और कल के सुखों से भोक्ता 'अहं' तथा आज के नये सुखों के भोक्ता 'अहं' दोनों में तादात्म्य है, और केवल जिस सिद्धान्त द्वारा आत्म-शाश्वतता अथवा आत्म-तादात्म्य के प्रत्यय की व्याख्या की जा सकती है वह है आत्मा की सत्ता एवं कालक्रम में उसकी शाश्वतता। जैसाकि पहले ही दर्शाया जा चुका है, इस प्रकार के आत्म-तादात्म्य की दो पृथक् प्रत्ययों के कार्य की परिकल्पना द्वारा व्याख्या करने के बौद्ध प्रयत्न पूर्णतः अपर्याप्त हैं। अतः आत्म-तादात्म्य का प्रत्यक्ष केवल चिरन्तन शाश्वत आत्मा के आधार पर ही स्पष्ट किया जा सकता है।

पुनः केवल इस अनुमान मात्र के द्वारा ही आत्मा की सत्ता के विषय में तर्क नहीं दिये जा सकते कि बोध, इच्छा और भावों के लिए किसी ऐसी इकाई की पूर्वापेक्षा है जिसके वे आश्रित अंग हों और इस इकाई की ही संज्ञा आत्मा हो; क्योंकि यदि ऐसा होता तो कोई भी अपनी आत्मा का दूसरों की आत्माओं से विभेद नहीं कर सकता। क्योंकि यदि आत्मा, ज्ञान, इच्छा आदि के धारक के रूप में पूर्वापेक्षित एक इकाई ही होती तो कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के विषय-बोध से अपने विषय-बोध की प्रत्यभिज्ञा को पृथक् कैसे कर पाता। वह कौनसी वस्तु है जो मेरे अनुभव में और दूसरों के अनुभव में अन्तर करती है। मेरी आत्मा मुझको सद्यः प्रत्यक्ष होनी चाहिए ताकि मैं किसी भी अनुभूति को अपने से सम्बद्ध कर सकूं। अतः सब अनुभूतियों में आत्मा को स्वयं प्रकाश्य मानना पड़ेगा; आत्मा को सब अनुभूतियों में स्वयं प्रकाश्य माने बिना यह अन्तर नहीं समझा जा सकता कि यह मेरा अपना अनुभव है और यह दूसरों का। कुछ लोग यह आपत्ति उठा सकते हैं कि आत्मा स्वयं में स्वयंप्रकाश्य नहीं है, अपितु स्वयं चैतन्य आत्म-चैतन्य में संवित्कर्म का विषय होने के कारण ही स्वयं प्रकाश्य है। परन्तु यह युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि आत्मा न केवल आत्म-चैतन्य का ही अपितु स्वयं में सब संवित् कर्मों का भी विषय है। आत्मा को भावों अथवा प्रत्ययों द्वारा व्यक्त भी नहीं माना जा सकता है। यह सत्य नहीं है कि आत्मा का बोध पुस्तक के बोध अथवा उससे पृथक् किसी अन्य समय

---

1. स्वयं प्रकाशमानं हि सम्वेदनं आश्रयं साधयति न तु स्मृतिविषयतया पर-प्रकाश्यम्।
विवरण-प्रमेय-संग्रह, पृष्ठ 78।

के बाद होता है क्योंकि यह सत्य है कि आत्मा एवं पुस्तक का बोध एक ही काल में होते हैं; क्योंकि एक ही विज्ञप्ति दो भिन्न-भिन्न प्रकार के विषयों को एक ही काल में ग्रहण नहीं कर सकती। यदि ऐसा भिन्न-भिन्न कालों में होता तो, 'मैंने यह जान लिया है' इस प्रकार का हमारा अनुभव उस विज्ञप्ति के द्वारा स्पष्ट नहीं होता क्योंकि इस प्रकार के प्रत्यय में ज्ञाता और ज्ञेय के बीच में सम्बन्ध अपेक्षित है; और, यदि ज्ञाता व ज्ञेय का ज्ञान दो पृथक् कालों में होता तो कोई चीज उन दोनों को एक ही ज्ञान-क्रिया में नहीं मिला सकती। यह कहना भी अनुचित है कि आत्मा भावों के धारक के रूप में ही प्रकट होता है; क्योंकि आत्मा स्वयं ज्ञान-क्रिया में व्यक्त होता है। अतः क्योंकि आत्मा को भावों अथवा उनके विषयों का धारक अथवा ज्ञाता नहीं माना जा सकता इसलिए इसको केवल एक ही प्रकार से स्वप्रकाश माना जा सकता है। आत्मा का अपरोक्षत्व इस प्रकार इसकी स्वप्रकाश्य प्रकृति है। इस प्रकार आत्मा की सत्ता आत्मा की स्वयंप्रकाश्य प्रकृति द्वारा सिद्ध होती है। आत्मा इसी अर्थ में विषयों का ज्ञाता है कि मानसिक क्रिया की कुछ निश्चित अवस्थाओं में एक विशिष्ट इन्द्रिय द्वारा मनस्···· विषय सम्पर्क होता है और इसके परिणामस्वरूप एक विचित्र भ्रांति द्वारा इन विषयों की चैतन्य में प्रतीति होती है। इसी प्रकार मनोभाव, प्रत्यय, इच्छाएँ और संवेदनाएँ चैतन्य में आभासित होती हैं और चेतन-अवस्थाओं के रूप में उनकी प्रतीति होती है तो मानो कि चैतन्य उनका सहज एवं सामान्य स्वभाव हो यद्यपि वास्तव में चैतन्य····स्वयंप्रकाश्य आत्मा पर उनका केवल मिथ्यारोपण ही होता है।

विद्यारण्य ने अपने तर्क आनन्दबोध भट्टारकाचार्य से उद्धृत किये हैं। आनन्दबोध का कथन है कि आत्मा की स्व-प्रकाश्यता इसलिए माननी पड़ती है कि इसको किसी अन्य चीज द्वारा प्रकट हुआ नहीं मान सकते। आत्मा को मानस प्रत्यक्ष द्वारा गोचर नहीं माना जा सकता; क्योंकि ऐसा करने में यह मानना पड़ेगा कि आत्मा स्वयं अपनी क्रिया का ही विषय है; क्योंकि सम्वित् अन्ततः आत्मा का ही व्यापार है। आत्मा के संवित् सम्बन्धी व्यापार स्वयं आत्मा में विकार नहीं उत्पन्न कर सकते।[1] वेदान्त को प्रभाकर मत के विरुद्ध भी संघर्ष करना पड़ा इसके अनुसार संवित् अपने साथ-साथ विषय एवं आत्मा को प्रकट करती है, तथा वेदान्त को स्वयं अपने इस दृष्टिकोण के विरुद्ध भी संघर्ष करना पड़ा कि आत्मा ही स्वयंप्रकाश्य है और उससे ही ज्ञान का तादात्म्य है। अतः आनन्दबोध प्रभाकर के मत पर यह आपत्ति उठाते हैं कि विषय······ संवित् ही आत्मा एवं अनात्म दोनों को व्यक्त करते हैं और उनका मत है कि आत्मा को विज्ञप्ति का विषय नहीं माना जा सकता। आनन्दबोध यह प्रदर्शित करते हैं कि यह···· माना जा सकता है कि संवृति द्वारा प्रकट वस्तु को संवृत्ति का विषय होना चाहिए और इसी हेतु आत्मा संवृत्ति का विषय नहीं है तो यह संवृति द्वारा प्रकट नहीं हो सकता।[2] अतः आत्मा अथवा संवेदिता संविद् द्वारा

---

1. तथा सति स्वाधार विज्ञानवृत्तिव्याप्यत्वादात्मनः कर्मत्वे स्वात्मनि वृत्तिविरोधादिति क्रमः ।।······ न्यायमकरंद पृ० 131।
2. न्यायमकरंद, पृ० 134–135।

प्रकट नहीं होती; क्योंकि संविद् के समान ही यह स्वप्रकाश एवं अपरोक्ष है, तथा जो संवित् का विषय नहीं है।[1]

आनन्दबोध ने संवेदन के स्वप्रकाशत्व में तर्क दिये हैं। उनका कथन है कि यदि यह माना जाय कि संवेदन अपने विषयों को प्रकट करके भी अपने-आपको प्रकट नहीं करता है तो यह उत्तर दिया जा सकता है कि ऐसी स्थिति में जब विषय को संवित्ति होती है तो संवेदिता को संशय हो जायेगा कि उसने उस काल में कोई संवेदन प्राप्त किया या नहीं। यदि किसी से पूछा जाय कि तुमने अमुक व्यक्ति को देखा या नहीं, तो वह अपने ज्ञान के बारे में निश्चित होता है कि उसने अमुक व्यक्ति को देखा है और इस विषय में उसे सन्देह नहीं है। इसलिए यह निश्चित है कि जब एक विषय किसी संवेदन के द्वारा प्रकाशित होता है तो संवेदन भी अपने आप प्रकाशित होता है। यदि यह तर्क दिया जाय कि इस प्रकार का संवेदन किसी अन्य संवेदन द्वारा प्रकाशित होता है,तो उसके प्रकाशन के लिए अन्य संवेदन की, उसको किसी अन्य की इत्यादि अनन्त संवेदनों की आवश्यकता होगी, और इस प्रकार अनवस्था दोष होगा और न यह माना जा सकता है कि कोई ऐसा अन्य मनः संवेदन है (जो किसी विषय की विज्ञप्ति का युगपत् कालीन हो अथवा पर कालीन हो) जिसके द्वारा किसी विषय की विज्ञप्ति की संवित्ति हो। क्योंकि एक ही मनः सन्निकर्ष से उपर्युक्त प्रकार की दो पृथक् विज्ञप्तियाँ नहीं हो सकतीं तो फिर, यदि किसी परकाल में मनः-क्रिया, एक मनः सन्निकर्ष का विराम और पुनः दूसरी मनः-क्रिया और अन्य मनः सन्निकर्ष का उद्भव होता है, तो उसके लिए अनेकों अन्तरिम कालों की अपेक्षा होगी और इस प्रकार जिस सवेदन से किसी विषय की विज्ञप्ति की संवित्ति की कल्पना की जाती है, वह संवेदन बहुत काल बाद में होगा जबकि जिस विज्ञप्ति से उस संवेदन का प्रकाशन होता है वह पहले ही अतीत हो जायेगी। अतः यह मानना पड़ेगा कि संवेदन स्वयं स्वयंप्रकाश है और अन्य विषयों के प्रकाशन के साथ-साथ अपना प्रकाशन भी करता है। आपत्ति में यह कहा गया है कि आत्मा अथवा संवेदन अपनी वृत्ति के कारण विकार को प्राप्त नहीं होते; इसका उत्तर यह है कि संवेदन प्रकाश के समान है और उसकी कोई व्यवधायिका क्रिया नहीं है जिसके कारण वह स्वयं में अथवा अपने विषयों में विकार उत्पन्न करे। जिस प्रकार प्रकाश अन्धकार हटाकर दर्शन-क्रिया में सहायक होता है तथा विषयों को प्रकाशित करके किसी अन्य प्रकाश की व्यवधायिका क्रिया के बिना ही एक ही क्षण अपने-आपको प्रकाशित करता है, ठीक उसी प्रकार संवेदन भी अपने विषयों एवं स्वयं को एक ही स्फुरण में प्रकाशित करता है और इसकी कोई ऐसी वृत्ति नहीं होती जिससे इसमें स्वयं में विकार पैदा हो। यह संवेदन इस कारण स्फुरण मात्र नहीं कहा जा सकता कि नील वर्ण की विज्ञप्ति के समय पीत वर्ण की विज्ञप्ति नहीं होती; क्योंकि नील-विज्ञप्ति, पीत-विज्ञप्ति अथवा श्वेत-विज्ञप्ति के अतिरिक्त भी एक ऐसी सहज विज्ञप्ति अथवा चैतन्य है जिसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ऐसा कहना अनुचित होगा कि केवल

---

1. संवेदिता न सविदधीनप्रकाशः संवित्कर्मतामंतरेण अपरोक्षत्वात् संवेदनवत्। न्याय-मकरंद पृ. 135। विद्यारण्य ने अपने 'विवरण प्रमेय संग्रह', पृ. 85 पर इस तर्क को अक्षरशः उद्धृत किया है।

विशिष्ट विज्ञप्तियाँ क्षण-क्षण में प्रकट एवं लुप्त होती रहती है, क्योंकि यदि विशिष्ट विज्ञप्तियों की एक शृंखला मात्र ही होती तो उनके भेद को बतलाने वाली कोई चीज नहीं होती। शृंखला की प्रत्येक विज्ञप्ति का एक विशिष्ट एवं निश्चित गुण होता, और अपने गुजरने के साथ-साथ अन्य विज्ञप्ति को स्थान देती और वह अन्य दूसरी को, ताकि एक विज्ञप्ति से दूसरी विज्ञप्ति का निर्धारण करने का कोई उपाय नहीं रह जाता, क्योंकि चर्चित सिद्धान्त के अनुसार व्यतीयमान विज्ञप्तियों के अतिरिक्त अन्य चैतन्य नहीं है और इस प्रकार उनका भेद किसी प्रकार भी जोना नहीं जा सकता, क्योंकि चाहे विज्ञप्ति के विषय, यथा नील और पीत, अपने में पृथक् क्यों न हों, फिर भी वह यह स्पष्ट नहीं कर सकता कि नील-विज्ञप्ति एवं पीत-विज्ञप्ति के भेद का ग्रहण कैसे होता है। अतः यही सर्वोत्तम है कि आत्मा को शुद्ध चैतन्य-स्वरूप मान लिया जाये।

उपर्युक्त चर्चा से यह प्रकट होगा कि वेदान्त को आत्मा के शुद्ध चैतन्य स्वरूप होने एवं उसके शाश्वत न कि क्षणिक होने के अपने सिद्धान्त के स्थापन के लिए तीन विरोधियों का खण्डन करना पड़ा। प्रथम विरोधी बौद्ध थे, जिनका न तो किसी आत्मा की सत्ता और न उसके शुद्ध शाश्वत चैतन्य स्वरूप में ही विश्वास था। किसी शाश्वत आत्मा के न होने की बौद्ध आपत्ति का वेदान्तियों ने आत्म-तादात्म्य के हमारे प्रत्यय के निर्णय का आश्रय लेकर भली प्रकार निराकरण कर दिया जिसकी भूतकाल की 'वह आत्मा' और वर्तमान के 'मैं हूँ' के दो पृथक् प्रत्ययों की परिकल्पना के बौद्ध तरीकों द्वारा व्याख्या नहीं की जा सकी और न चैतन्य को प्रतीयमान भावों अथवा विशिष्ट विज्ञप्तियों की शृंखला के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसे सिद्धान्त में यह बताना असंभव होगा कि हम उसकी मानसिक अवस्थाओं के प्रति प्रतिक्रिया कैसे करते हैं और कैसे उनका भेद ज्ञात कर सकते हैं। अतः चैतन्य को शाश्वत मानना पड़ेगा। दूसरे विरोधी, नैयायिकों के विरुद्ध वेदान्तियों का कहना है कि आत्मा अनुमानगम्य विषय नहीं है जिसके विज्ञप्तियाँ, इच्छाएँ अथवा भाव धर्म हैं, अपितु उसका अपरोक्ष एवं सद्यः रूप में मनस्कार होता है क्योंकि यदि ऐसा नहीं होता तो कोई व्यक्ति अपने अनुभवों को अपने और दूसरों के अनुभवों से मिला हुआ कैसे जान सकता। मेरे अपने अनुभवों की आन्तरिकता यह प्रकट करती है कि उनका मेरे अपने अनुभवों के रूप में अपरोक्षतः मनस्कार होता है और उनको केवल किसी ऐसी अन्य आत्मा नहीं माना जाता, जो उसके अनुभवों का स्वामी है क्योंकि अनुमान किसी संवेदना अथवा भाव की आन्तरिकता को प्रकाशित नहीं कर सकता। तीसरे विरोधी, मीमांसकों के विरुद्ध वेदान्त का कथन है कि आत्मा का स्वरूप स्वयंप्रकाश्य है एवं आत्मा का विज्ञान के साथ तादात्म्य है—जबकि मीमांसकों के मत में विज्ञान स्वयंप्रकाश्य के रूप में आत्मा एवं विषयों को अपने से पृथक् प्रकाशित करता है। आत्मा एवं विज्ञान का तादात्म्य एवं इसका स्वयंप्रकाश्य स्वरूप भी प्रतिपादित किया गया है; और अनेकों भिन्न-भिन्न तार्किक हेतुओं द्वारा यह प्रदर्शित किया गया है कि इस प्रकार की कल्पना ही हमारे पास एकमात्र विकल्प रह गया है।

शुद्ध चैतन्य-रूप से यह आत्मा निर्विकल्प रूप से अमूर्त्त, असीम एवं अनन्त है। यह एक आत्मा अनेकों व्यक्तियों एवं परमात्मा के रूप में प्रकट हो, ऐसा सम्भव करने हेतु ही यह कल्पना की गई है कि यह माया के आवरण के कारण अपने आपको भिन्न-भिन्न

रूपों में प्रदर्शित करता है। इस प्रकार 'प्रकटार्थ विवरण' में यह कहा है कि 'सिद्धान्त लेश' के मतानुसार जब यह शुद्ध चैतन्य अनादि, अनिर्वचनीय माया द्वारा प्रतिबिम्बित होता है तो इसकी संज्ञा 'ईश्वर' होती है। परन्तु जब यह आवरण एवं विविध सृष्टि (जिसे 'अविद्या' कहते हैं) की शक्तियों से मुक्त माया द्वारा प्रतिबिम्बित होता है तब व्यक्तिगत आत्माएँ अथवा जीवों का प्रकाशन होता है। नृसिंहाश्रम कृत 'तत्त्वविवेक' में यह पुनः कहा गया है कि जब यह शुद्ध चैतन्य प्रकृति के अन्य अशुद्ध अंगों पर प्राधान्य प्राप्त किये हुए शुद्ध सत्त्व गुणों द्वारा प्रतिबिम्बित होता है तो ईश्वर प्रकाशित होता है। जबकि प्रकृति के सात्त्विक अंगों पर (जिनको भी अविद्या कहा है) प्राधान्य प्राप्त करके रजस् एवं तमस् के अशुद्ध अंगों के माध्यम से शुद्ध चैतन्य के प्रतिबिम्बित होने पर जीवों का प्रकाशन होता है। सत्त्व-प्रधान, तथा रजस् एवं तमस् प्रधान इन दो निम्न रूपों में एक ही प्रकृति को माया तथा अविद्या का नाम दिया गया है और यह शुद्ध चैतन्य की उपाधि बनती है; तथा माया और अविद्या की उपाधियों के भिन्न स्वरूप के कारण शुद्ध चैतन्य सर्वज्ञ ईश्वर अथवा अज्ञानी जीवात्माओं के रूप में प्रकट होता है। सर्वज्ञात्म मुनि का मत है कि शुद्ध चैतन्य के अविद्या के माध्यम से प्रतिबिम्बित होने पर उसे ईश्वर की संज्ञा दी जाती है और अन्तःकरण के माध्यम से प्रतिबिम्बित होने पर उसे जीव कहा जाता है।

जीवात्मा और ईश्वर के मूल के कारण बताने वाले इन विभिन्न प्रकारों का बहुत थोड़ा दार्शनिक महत्त्व है। परन्तु इससे यह प्रदर्शित होता है कि वेदान्त की मुख्य रुचि उस शुद्ध चैतन्य की अतिलौकिक इकाई की सर्वोच्च यथार्थता को स्थापित करने में है जो स्वभावतः अस्पष्ट एवं अनासक्त होने पर भी एक ऐसी अन्तर्निहित इकाई है जो हमारे समस्त चेतन अनुभवों के जीवनप्रद एवं प्रकाशक समस्त तथ्यों की व्याख्या कर सकती है। जो कुछ भी ससीम है, चाहे वह जीवात्मा हो अथवा विज्ञप्ति का विषय हो, वह सब किसी न किसी अर्थ में चेतन इकाई पर अचेतन इकाई के विकारों का भ्रांतिमय आरोपण ही है। विज्ञान और दर्शनशास्त्र दोनों की जगत्-प्रक्रिया के स्वरूप की उसकी समस्त बारीकियों के साथ व्याख्या करने की समान रुचि है परन्तु वेदान्त इस स्वरूप की व्याख्या करने का न तो इच्छुक ही है और न समर्थ ही है। इसकी एकमात्र रुचि यह सिद्ध करने में है कि जगत्प्रक्रिया के लिए एक ऐसी शुद्ध चैतन्य इकाई की सत्ता पूर्वापेक्षित है जो निर्विकल्प और अन्तिम रूप से सत् हो और अपरोक्ष एवं यथार्थ का अर्थ है कि वह किसी अन्य से सीमित न हो और इस अर्थ में शुद्ध चैतन्य ही एकमात्र सत् है—और अन्य सब अनिर्वचनीय है—न तो सत्य है, न असत्य ही; और वेदान्त इसके स्वरूप निर्धारण में रुचि नहीं लेता है।

वेदान्ती ब्रह्माण्ड-मीमांसा

उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि माया (जिसे अविद्या अथवा अज्ञान भी कहा गया है) स्वयं में अपरिभाष्य रहस्यमय उपादान है जिसका न केवल मनोवैज्ञानिक अस्तित्व ही नहीं है बल्कि सत्तामूलक अस्तित्व भी है। यही अज्ञान एक ओर आत्मपरक स्तर पर मनस् एवं इन्द्रियों का निर्माण करता है (केवल आत्मा के ही ब्रह्म एवं परम सत्य होने के कारण) और दूसरी ओर वस्तुपरक स्तर पर विषयात्मक विश्व का निर्माण करता है।

इस अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं--आवरण-शक्ति एवं विक्षेप-शक्ति। जिस प्रकार एक छोटा-सा मेघ लाखों मील व्यास वाले सूर्य को आच्छादित कर सकता है ठीक उसी प्रकार अपना सीमित स्वरूप होते हुए भी छोटी सी आवरण-शक्ति ज्ञाता के रूप में असीम अविकारी आत्मा के स्वतः प्रकाश्यत्व को आच्छादित कर सकती है। आत्मा के आवरण का तात्पर्य अनन्त, नित्य, असीम शुद्ध चैतन्य के रूप में उस आत्मा के प्रकाशमान अविकारी आत्म-प्रत्यक्षीकरण को आच्छादित करना है जो उस आवरण के फलस्वरूप सीमित, विषय-ज्ञान एवं विषयानन्द से बद्ध तथा जीवात्माओं की तरह गूढ़ प्रतीत होता है।[1] इस अज्ञान की आवरण-शक्ति के कारण ही अन्धेरे में रज्जु का सर्प के रूप में भ्रमात्मक प्रत्यक्षीकरण होने की तरह आत्मा कर्त्ता, सुख-दुःखों का भोक्ता एवं पुनर्जन्म के अज्ञानी भय से ग्रसित प्रतीत होता है। जिस प्रकार रज्जु का यथार्थ स्वरूप दृष्टि से प्रच्छन्न होने के कारण रज्जु की सर्प की तरह प्रतीति होती है, उसी प्रकार अज्ञान अपनी विक्षेप शक्ति के द्वारा प्रच्छन्न आत्मा पर नानारूपात्मक जगत् प्रपंच का निर्माण करता है। चूँकि अज्ञान अपनी आवरण-शक्ति द्वारा आत्मा के केवल स्वतः प्रमेय एवं स्वतः प्रकाश्य स्वरूप को ढक देता है अतः शुद्ध सत्त्व के रूप में आत्मा का दूसरा स्वरूप एक ऐसे अधिष्ठान के रूप में खुला रहता हैं जिस पर उसकी विक्षेप-शक्ति द्वारा सम्पूर्ण जगत्-प्रपंच की सृष्टि होती है। इस प्रकार जब जगत्-प्रपंच की रचना करने वाले आधार के रूप में शुद्ध चैतन्य के शुद्ध चैतन्यात्मक स्वरूप पर बल दिया जाता है, तो अज्ञान की दो शक्तियों द्वारा प्रच्छन्न शुद्ध चैतन्य महत्त्वपूर्ण निमित्त कारण माना जा सकता है; जब इसके अज्ञान अर्थात् आवरण के रूप पर बल दिया जाता है तब इसे उपादान कारण कहा जाता है। यह उस मकड़ी के सदृश है जो अपना जाला बुनते समय निमित्त कारण कहलाती है और उसके शारीरिक रूप को प्राधान्य देनें की अवस्था में स्वयं अपने शरीर से जाले के उपादान प्रदान करने के कारण जाले का उपादान कारण मानी जा सकती है। सांख्य प्रकृति के समान ही अज्ञान की विक्षेप-शक्तियों को सत्त्व, रजस् और तमस् प्रकार की त्रिविधधर्मा कहा है। शुद्ध चैतन्य को अधिष्ठान मानकर तमः प्रधान अज्ञान से सम्बद्ध आवरण-शक्ति द्वारा प्रथम आकाश की उत्पत्ति हुई है; आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल एवं जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई है। अपनी सूक्ष्म एवं अयौगिक अवस्थाओं में ये तत्त्व ही सांख्य तथा पुराणों में तन्मात्रा कहलाते हैं। इन्हीं तत्त्वों से स्थूल पदार्थों के साथ-साथ सूक्ष्म शरीरों का विकास हुआ है।[2] सूक्ष्म शरीर अथवा लिंग शरीर तन्मात्राओं की

---

1. वस्तुतोऽज्ञानस्यात्माच्छादकत्वाभावेऽपि प्रभातृबुद्धिमात्राच्छादकत्वेन अज्ञानस्यात्माच्छादकत्वमुपचारादुच्यते। वेदान्त-सार सुबोधिनी पृष्ठ 13, निर्णय-सागर प्रेस, मुंबई, 1916।
2. स्थूलतर पदार्थों की उत्पत्ति के लिए सूक्ष्म तत्त्वों के संगठित होने की विधि के बारे में दो सिद्धान्त हैं; यथा त्रिवृत्करण एवं पंचीकरण। त्रिवृतकरण का अर्थ यह है कि तेज, जल और पृथ्वी (सूक्ष्म तत्त्वों के रूप में) में से प्रत्येक दो समान भागों को उत्पन्न करते हुए दो अर्धों में विभाजित है। तब प्रत्येक तत्त्व का मौलिक 1/2 भाग अन्य दो तत्त्वों के 1/4 भागों के साथ संगठित होता है। इस प्रकार प्रत्येक तत्त्व के

अतिरिक्त सत्रह मात्राओं से बना है, यह सूक्ष्म शरीर पंच ज्ञानेन्द्रियों, पंच कर्मेन्द्रियों, पंचवायु अथवा जीव चालक क्रिया और बुद्धि और मन तथा पंच तन्मात्राओं द्वारा निर्मित है। ज्ञानेन्द्रियाँ नेत्र, त्वचा, चक्षु दृष्टि, घ्राणेन्द्रिय, रसना क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, अप् एवं पृथ्वी इन पाँचों तत्त्वों के सत्त्वभाग से उद्भूत होती है। बुद्धि का अर्थ है निश्चयात्मिका अथवा विधेयात्मिका अन्त.करण वृत्ति। मनस् का अर्थ है विकल्प अथवा संकल्प अथवा विकल्प अथवा केवल संकल्प की अन्तःकरण प्रक्रिया।[1] चित्त एवं अहंकार के व्यापार बुद्धि एवं मनस् में निहित है।[2] उन सबकी उत्पत्ति पंचतत्त्वों के सत्त्व भागों से हुई है अतः वे तत्त्वयुक्त हैं। यद्यपि वे तत्त्वयुक्त हैं फिर भी सम्पूर्ण तत्त्वों के संगठित सत्त्व भागों से उत्पन्न होने के कारण उनकी ज्ञानात्मक प्रक्रिया में प्रकाशिका-प्रक्रिया प्रकट होती है। ज्ञानेन्द्रिय-युक्त बुद्धि विज्ञानमय-कोष कहलाती है। ज्ञानेन्द्रिय-सहित मनस्

1/2 भाग और दूसरे दो तत्त्वों के 1/4 भाग का मिश्रण होता है। वाचस्पति एवं अमलानन्द पंचीकरण से त्रिवृतकरण को श्रेष्ठ समझते हैं; क्योंकि उनके मत में वायु एवं आकाश में अन्य तत्त्वों के भागों को एकीकृत मानना व्यर्थ है तथा वैदिक ग्रन्थों में भी त्रिवृत्‌करण का कथन है, पंचीकरण का नहीं। पंचीकरण के सिद्धान्त के अनुसार पंच तन्मात्राओं का प्रथमतः दो अर्धों में विभाग होता है, तदनन्तर इन पंचतत्त्वों के दो अर्ध भागों में से एक का पुनः चार भागों में विभाजन होता है और तब प्रत्येक तन्मात्रा का प्रथमं अर्ध भाग संघटक रूप में विद्यमान पूर्ण अर्ध भाग वाली तन्मात्रा को छोड़कर अन्य तन्मात्राओं के अर्ध भाग के चतुर्थांश से संयुक्त होता है। इस प्रकार प्रत्येक तत्त्व अपने अर्ध भाग एवं अन्य तत्त्वों के आधे के चतुर्थांश (अर्थात् अन्य चार तत्त्वों के अष्ठमांश) से बनता है। इस प्रकार के प्रत्येक तत्त्व में अन्य तत्त्वों के कुछ अंश पुंजीभूत अवश्य होते हैं। इस दृष्टिकोण का समर्थन 'वेदान्त परिभाषा' तथा उसकी शिखामणि' टीका ने किया है। पृष्ठ 363।

1. 'वेदान्तसार' में विकल्प एवं संकल्प का वर्णन है एवं इसकी व्याख्या सुबोधिनी द्वारा संशय के अर्थ में की गई है। दृष्टव्य वेदान्त-सार एवं सुबोधिनी पृष्ठ 17। वेदान्त-परिभाषा एवं उसके टीकाकारों ने केवल संकल्प को ही मनस् का कार्य कहा है परन्तु उसका अर्थ है संशय। दृष्टव्य पृष्ठ 88–89 एवं 358।
2. स्मरणाकार-वृत्तिमदन्तःकरणं चित्तम् (वेदान्त परिभाषा मणिप्रभा पृष्ठ 89) अनयोरेव चित्ताहंकारयोरन्तर्भावः (वेदान्त-सार, पृष्ठ 17) परन्तु वेदान्त परिभाषा का कथन है कि मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार इन चारों के समूह का नाम अन्तःकरण है। देखिये वेदान्त परिभाषा पृष्ठ 88। परन्तु वेदान्तसार के अनुसार बुद्धि, मनस्, चित्त और अहंकार ये चार प्रक्रियाएँ नहीं हैं; चित्त और अहंकार को बुद्धि और मनस् के सदृश ही माना गया है। इस प्रकार वेदान्तसार के अनुसार केवल दो पदार्थ ही हैं परन्तु चूँकि वेदान्त परिभाषा में केवल बुद्धि और मनस् को ही सूक्ष्म शरीर का सारभूत अंश कहा गया है अतः यह नहीं मानना चाहिए कि अन्ततोगत्वा इसमें और वेदान्तसार में कोई अन्तर है।

मनोमय-कोष कहलाता है। विज्ञानमय-कोष से सम्बद्ध आत्मा स्वयं अपने आपको कर्त्ता, भोक्ता सुखी अथवा दुःखी और सांसारिक अनुभव एवं पुनर्जन्म में से गुजरने वाला जीव अनुभव करता है। कर्मेन्द्रियाँ पंचतत्त्वों के रजस् भागों द्वारा निर्मित्त हैं। पंच-वायु अथवा धारक प्रक्रियाओं को प्राण अथवा श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया, उदान अथवा ऊर्ध्वगति और समान अथवा पाचन-क्रिया कहा गया है। कुछ अन्य लोगों ने अन्य पंच-वायु को जोड़ा है यथा वमनकारी अपानयान प्रक्रिया, नाग; पलकों को खोलने की संहृत-क्रिया, कूर्म; कास की प्रक्रिया, कृकल्; जम्हाई लेने की प्रक्रिया देवदत्त और पोषण क्रिया, धनंजय। ज्ञानेन्द्रियों से सम्बद्ध ये प्राण क्रिया शील-प्राणमय-कोष का निर्माण करते हैं। विज्ञानमय, मनोमय, एवं प्राणमय इन तीनों कोषों में विज्ञानमय-कोष कर्तृ-रूप हैं; सम्पूर्ण संकल्प एवं एषणाओं का श्रोत मनोमय कोष है, अतः उसको नैमित्तिक प्रक्रिया वाला माना गया है; प्राणमय कोष कर्म करने वाली क्रियाओं का प्रतिनिधित्व करता है। ये तीनों कोष मिलकर सूक्ष्म शरीर की रचना करते हैं। हिरण्यगर्भ (जिसे सूत्रात्मा अथवा प्राण भी कहा गया है) वह देव है जो सब सजीव प्राणियों के संयुक्त सूक्ष्म शरीरों का अध्यक्ष है। व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक प्राणी का एक सूक्ष्म शरीर है। अतः हमारी जाग्रत् वासनामयता के स्रोत सम्पूर्ण अर्द्धचेतन संस्कारों से युक्त ये तीनों कोष स्वप्न कहलाते हैं (जाग्रद्-वासनामयत्वाद् स्वप्नः)।

तन्मात्राओं से पंचभूत महाभूतों के निर्माण की प्रक्रिया को पारिभाषिक अर्थ में पंचीकरण कहा गया है। इस विधि में प्रत्येक मूल तत्त्व प्रत्येक अन्य मूल तत्त्व के 1/8 भाग से मिश्रित होता है। इस प्रकार के संयोग की प्रक्रिया द्वारा ही प्रत्येक तत्त्व में अन्य तत्त्वों के कुछ गुण विद्यमान रहते हैं। सम्पूर्ण विश्व में सात ऊर्ध्व जगत् (भूः भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्) तथा सात निम्न जगत् हैं—(अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल एवं पाताल) हैं एवं समस्त सजीव प्राणियों के समस्त स्थूल शरीर हैं। सब प्राणियों के स्थूल शरीरों का अध्यक्ष विश्वव्यापी देवता है और इसको विराट् कहते हैं। व्यक्ति भी है जो प्रत्येक शरीर का अध्यक्ष है और इस दृष्टि से उसे विश्व कहते हैं।

बुद्धि एवं मनस् की क्रिया करने वाले अन्तःकरण के संघटक के रूप में अज्ञान सदैव आत्मा से सम्बद्ध होता है; इन अन्तःकरणों के वैभिन्य के कारण ही एक आत्मा अनेक जीवात्माओं के रूप में दिखाई देता है, और इन अन्तःकरणों की अवस्थाओं के कारण ही आत्मा एवं विषयों पर से आवरण दूर होकर परिणामतः विषय-ज्ञान सम्भव होता है। अन्तःकरण शरीर में स्थित है जिसमें यह पूर्ण रूप से व्याप्त है। यह पंच मूल तत्त्वों के सत्त्व भागों द्वारा निर्मित है और आत्यन्तिक पारदर्शकता के कारण विशिष्ट इन्द्रियों द्वारा इन्द्रिय-विषयों के सन्निकर्ष में आता है एवं उनका रूप ग्रहण कर लेता है। इसके भौतिक उपादान होने के कारण एक भाग शरीर के अन्दर रहता है, दूसरे भाग का इन्द्रिय विषयों के साथ सन्निकर्ष होता है तथा तृतीय भाग दोनों के बीच और एक सम्पूर्ण के रूप में उन दोनों से सम्बन्ध होता है। अन्तःकरण का आन्तरिक भाग अहं अथवा कर्त्ता है। मध्यस्थ भाग का कर्मज्ञान है जिसे वृत्ति-ज्ञान भी कहते हैं। ज्ञान के समय इन्द्रिय विषयों के आकार में परिणत होने वाले तृतीय भाग का कार्य उन्हें ज्ञान में

अपने विषय के रूप में प्रकाशित करना है। तीनों भागों के अन्तःकरण के पारदर्शक होने के कारण शुद्ध चैतन्य भी उसमें अच्छी प्रकार से प्रकट हो सकता है। शुद्ध चैतन्य के एक होने पर भी वह अन्तःकरण के तीन विभिन्न भागों को ज्ञाता (प्रमातृ), ज्ञान-क्रिया (प्रमाण) एवं ज्ञान अथवा प्रमिति—इन तीन विभिन्न प्रकारों से प्रकट करता है। क्योंकि वह अन्तःकरण के तीन विभिन्न विकारों द्वारा स्वयं अपने-आपको व्यक्त करता है। अतः तीनों में से प्रत्येक अवस्था में परम सत्ता शुद्ध चैतन्य का भाग है। इन्द्रिय विषय आवरणयुक्त शुद्ध चैतन्य ब्रह्म, माया ही है जो उनका सारभूत अंश है। जीव चैतन्य एवं ब्रह्म चैतन्य में अन्तर यही है कि प्रथम अन्तःकरण द्वारा उपाधियुक्त अथवा उसके माध्यम से प्रतिबिम्बित शुद्ध चैतन्य को प्रस्तुत करता है जबकि ब्रह्म चैतन्य मुक्त, अनन्त 'चैतन्य' जिसके आधार पर माया की समस्त ब्रह्माण्ड-सृष्टि का निर्माण होता है। जिस अविद्या के आवरण को दूर करने के लिए अन्तःकरण की प्रक्रिया आवश्यक समझी गई है, यह दो प्रकार की है, आत्मपरक अविद्या एवं वस्तुपरक अविद्या। जब मैं कहता हूँ कि मुझे पुस्तक का ज्ञान नहीं है, तो इसमें 'मुझे ज्ञान नहीं है' के अर्थ में आत्मपरक अविद्या निहित है एवं पुस्तक के सम्बन्ध के रूप में वस्तुपरक अविद्या है। प्रथम का निराकरण प्रत्यक्ष अथवा अनुमिति, सब प्रकार के ज्ञान की पहली शर्त है जबकि द्वितीय का निराकरण केवल प्रत्यक्ष ज्ञान में ही होता है। इन्द्रिय-विषयों के आकार एवं सामग्री के अनुसार यह विविध प्रकार की होती है; एवं प्रत्येक प्रत्यक्ष का ज्ञान केवल उस विशिष्ट अविद्या का ही निराकरण करता है जिसके द्वारा उस विशिष्ट ज्ञान की उत्पत्ति होती है।[1]

शंकर एवं उनके सम्प्रदाय

यह ठीक-ठीक कहना कठिन है कि स्वयं शंकर ने कितने ग्रन्थ लिखे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शंकर द्वारा लिखित बताई गई कई पुस्तकें उन्होंने नहीं लिखीं। यद्यपि निःसन्देह रूप से निश्चित होना अत्यधिक कठिन है फिर भी मैं उन पुस्तकों की सूची प्रस्तुत करता हूँ जो मुझे उनके मौलिक ग्रन्थ प्रतीत होते हैं। मैंने केवल उन्हीं ग्रन्थों को चुना है जिन पर अन्य लेखकों ने टीकाएँ लिखी हैं क्योंकि इससे यह स्पष्ट है कि उनकी मौलिकता का समर्थन करने के लिए उनके पास परम्परा का बल है। शंकर की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृतियाँ दस उपनिषदों, ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छांदोग्य, बृहदारण्यक, पर उनके भाष्य एवं शारीरक-मीमांसा-भाष्य हैं। उनके द्वारा सम्भवतः नहीं लिखे गये कई ग्रन्थों को उनके द्वारा लिखित बताने के दो मुख्य कारण हैं; प्रथय, यह कि उसी नाम अर्थात् शंकराचार्य के अन्य लेखक थे और दूसरा यह कि भारतीय लेखकों की यह प्रवृत्ति रही है कि बाद के ग्रन्थों को अतीत के महान् लेखकों द्वारा लिखित बताकर उनकी प्रतिष्ठा को बढ़ाया जाये। व्यास को समस्त पुराणों का लेखक बताना इस बात को अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करता है। ईशोपनिषद् के

---

1. मधुसूदन सरस्वती-कृत सिद्धान्त बिन्दु, देखिए पृष्ठ 132–150; एवं ब्रह्मानन्द सरस्वती-कृत न्याय रत्नावली, देखिए पृष्ठ 132–150, श्री विद्या प्रेस, कुम्भकोणम्, 1892।

शंकर-भाष्य पर 'आनन्दज्ञान' ने एक टीका लिखी है और एक अन्य दीपिका दूसरे शंकर-आचार्य ने लिखी है। उनके केनोपनिषद्-भाष्य पर दो टीकाएँ लिखी गई हैं, केनोपनिषद्-भाष्य-विवरण एवं आनन्दज्ञान कृत एक टीका। आनन्दज्ञान और बालगोपाल योगीन्द्र ने काठकोपनिषद्-भाष्य पर दो टीकाएँ लिखी हैं। प्रश्नोपनिषद्-भाष्य पर दो टीकाएँ हैं एक आनन्दज्ञान कृत तथा दूसरी नारायणेन्द्र सरस्वती कृत आनन्दज्ञान और अभिनव नारायणेन्द्र सरस्वती ने मुण्डकोपनिषद् पर दो टीकाएँ लिखी हैं। आनन्दज्ञान एव मथुरानाथ शुक्ल ने माण्डूक्योऽपनिषद् पर दो टीकाएँ एवं राघवानन्द ने माण्डूक्योऽपनिषद् भाष्यार्थ-संग्रह नामक सार ग्रन्थ लिखा है। आनन्दज्ञान, अभिनव नारायण, नृसिंह आचार्य, बालकृष्ण दास, ज्ञानामृतयति और विश्वेश्वर तीर्थ कृत ऐतरोयोपनिषद् भाष्य पर छः टीकाएँ हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि तैत्तिरियोपनिषद्-भाष्य पर केवल एक ही टीका आनन्दज्ञान ने लिखी है। छांदाग्योपनिषद्-भाष्य पर भाष्य-टिप्पण नामक एवं आनन्दज्ञान कृत टीकाएँ हैं। बृहदारण्यकोपनिषद्-भाष्य पर आनन्दज्ञान ने टीका लिखी है और सुरेश्वर ने उस पर बृहदारण्यकोपनिषद्-भाष्य-वार्तिक अथवा केवलवार्तिक नामक एक महान् स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा है, जिस पर भी कई टीकाएँ हैं; सुरेश्वर के बारे में लिखे गये अध्याय में ये बातें बताई गई हैं। उनके 'अपरोक्षानुभव' पर शंकर आचार्य बालगोपाल, चण्डेश्वर वर्मन् (अनुभव दीपिका) एवं विद्यारण्य ने चार टीकाएँ लिखी हैं। गौड़पादकृत माण्डूक्य-कारिका पर उनके गौड़पादीय-भाष्य अथवा आगम-शास्त्र-विवरण' पर शुद्धानन्द एवं आनन्दज्ञान ने एक-एक टीका लिखी है। आनन्दज्ञान एवं पूर्णानन्द तीर्थ ने उनके आत्म-ज्ञानोपदेश पर दो टीकाएँ लिखी हैं, 'एक श्लोक' पर स्वयंप्रकाश यति ने 'तत्त्व-दीपन' नामक भाष्य लिखा है, किन्तु 'विवेक-चूड़ामणि' पर कोई भाष्य नहीं लिखा गया जो शंकर का मौलिक ग्रन्थ प्रतीत होता है; अद्वयानन्द, भासुरानन्द, बोधेन्द्र (भाव प्रकाशिका), मधुसूदन सरस्वती एवं रामानन्द तीर्थ ने आत्म-बोध पर कम से कम पांच टीकाएँ लिखीं; पद्मपुराण, पूर्णानन्द तीर्थ, सायण और स्वयंप्रकाश यति ने 'आत्मानात्म-विवेक' पर कम से कम चार भाष्य लिखे। आनंदज्ञान ने 'आत्मोपदेश-विधि' पर टीका लिखी बताते हैं। अप्पय दीक्षित, कविराज, कृष्ण आचार्य (मन्जु-भाषिणी), केशव भट्ट, कैवल्याश्रम (सौभाग्य-वर्धिनी), गंगाहरि (तत्त्वदीपिका), गंगाधर, गोपीराम, गोपीकान्त सार्वभौम (आनन्द-लहरी-तारी),जगदीश, जगन्नाथ, पंचानन, नरसिंह, ब्रह्मानंद (भावार्थ-दीपिका),मल्ल भट्ट, महादेव, विद्यावागीश, महादेव वैद्य, रामचंद्र, रामभद्र, रामानंद तीर्थ, लक्ष्मीधर देशिक, विश्वम्भर और श्रीकण्ठ भट्ट एवं अन्य विद्वन्मनोरमा नामक ने 'आनन्द-लहरी' पर करीब चौबीस टीकाएँ लिखीं। उपदेश-साहस्त्री पर आनन्दज्ञान, रामतीर्थ (पदयोजनिका), विद्याधामन् के एक शिष्य बोधनिधि और शंकराचार्य ने क्रम से कम चार टीकाएँ लिखीं। उनके चिदानन्दस्तव-राज पर भी जो 'चिदानन्द-दश-श्लोकी' अथवा केवल दश-श्लोकी' भी कहलाता है, कई टीकाएँ एवं उपटीकाएँ लिखी गई; जैसे मधुसूदन सरस्वती कृत 'सिद्धान्त-तत्त्व-बिन्दु' मधुसूदन-कृत भाष्य पर कई लोगों ने टीकाएँ लिखीं, यथा नारायणयति (लघु-टीका), पुरुषोत्तम सरस्वती (सिद्धान्त-बिन्दु-संदीपन), पूर्णानन्द सरस्वती (तत्त्व-विवेक), गौड़ ब्रह्मानन्द सरस्वती (सिद्धान्त-बिन्दु-न्याय-रत्नावली), सच्चिदानन्द और शिवलाल शर्मा। गौड़ ब्रह्मानन्द कृत टीका सिद्धान्त-बिन्दु-न्याय-रत्नावली पर कृष्णकान्त ने (सिद्धान्त-न्याय-रत्न-प्रदीपिका) एक और टीका लिखी।

शांकर 'दृग् दृश्य-प्रकरण' पर रामचन्द्र तीर्थ ने टीका लिखी; उनकी पंचीकरण-प्रक्रिया पर पुनः कई टीकाएँ लिखी गई—सुरेश्वर ने पंचीकरण-वार्त्तिक लिखा जिस पर भी पंचीकरण-वार्त्तिकाभरण नामक टीका ज्ञानेन्द्र सरस्वती के शिष्य अभिनव नारायणेन्द्र सरस्वती द्वारा लिखी गई। पंचीकरण-प्रक्रिया पर अन्य टीकाएँ निम्न हैं—

पंचीकरण-भाव-प्रकाशिका, पंचीकरण-टीका तत्त्व-चन्द्रिका, पंचीकरण-तात्पर्य-चन्द्रिका, आनन्दज्ञान कृत पंचीकरण-विवरण, स्वयंप्रकाशयति एवं प्रज्ञानानन्द द्वारा पंचीकरण-विवरण एवं तत्त्व चन्द्रिका नामक उप टीका। शंकर ने भगवद्गीता पर भी भाष्य लिखा, इस भाष्य की परीक्षा इसी ग्रन्थ में भगवद्गीता पर लिखे गये अध्याय में की गई है। उनके 'लघु वाक्य' वृत्ति पर 'पुष्पाञ्जलि' नामक टीका एवं रामानन्द सरस्वती कृत 'लघुवाक्य-वृत्ति-प्रकाशिका' नामक अन्य टीका है; उनके 'वाक्यवृत्ति' पर आनन्दज्ञान ने टीका की एवं विश्वेश्वर पण्डित ने वाक्य-वृत्ति-प्रकाशिका नामक टीका लिखी। उन्होंने अपनी 'वाक्य-वृत्ति' का प्रारम्भ उसी प्रकार किया है जैसे ईश्वर कृष्ण ने अपनी सांख्य-कारिका का प्रारम्भ यह कह कर किया है कि जीवन के त्रिविधतापों से दुःखी होकर उनसे मुक्ति प्राप्त करने के साधन के बारे में शिक्षा प्राप्त करने के लिए शिष्य योग्य आचार्य के पास जाता है। सुरेश्वर भी अपने 'नैष्कर्म्यसिद्धि' नामक ग्रन्थ को उसी प्रकार आरम्भ करते हैं और इस प्रकार दर्शन के अध्ययन को ऐसा क्रियात्मक रूप देते हैं जिसका विधान ब्रह्मसूत्र भाष्य में नहीं पाया जाता। निस्सन्देह कई अन्य स्थलों पर दिया गया उत्तर ही यहाँ पर दिया गया है कि ब्रह्म एवं जीव की एकरूपता प्रतिपादित करने वाले उपनिषद् वाक्यों की सम्यक् अनुभूति के अनन्तर ही मोक्ष-प्राप्ति सम्भव है। वे आगे चल कर बताते हैं कि समस्त वाह्य वस्तुएँ तथा मनस् अथवा मानसिक अथवा लिंग शरीर शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा के लिए विजातीय है; वे यहाँ यह भी कहते हैं कि मानव के कर्म-फलों का निबटारा मीमांसकों द्वारा स्वीकृत अपूर्व की रहस्यमयी शक्ति द्वारा नहीं, बल्कि ब्रह्म के श्रेष्ठतर भ्रमात्मक स्वरूप ईश्वर, द्वारा होता है। तिरेपन श्लोकों के इस लघु ग्रन्थ के अन्त में वे इस तथ्य पर बल देते हैं कि यद्यपि उपनिषदों की अद्वैत श्रुति यथा 'तत् (ब्रह्मन्) त्वम् असि' एक द्वैतार्थक शाब्दिक रचना हो सकती है फिर भी उनका मुख्य बल तादात्म्य के सम्बन्ध द्वारा ग्राह्य बौद्धिक प्रक्रिया के बिना विशुद्ध आत्मा की अपरोक्ष एवं सद्यः अनुभूति पर है। इस प्रकार वाक्य-वृत्ति को वहाँ अपरोक्षानुभूति से भिन्न ग्रहण किया है जहाँ आसन एवं प्राणायाम की योग-प्रक्रियाओं को आत्मा के यथार्थ स्वरूप की अनुभूति में सहायक बताया गया है। इससे अपरोक्षानुभूति के वास्तविक लेखकत्व के सम्बन्ध में संशय उत्पन्न हो सकता है यद्यपि स्वयं शंकर के मस्तिष्क के विकास की विभिन्न अवस्थाओं को इसका कारण बताया जा सकता है; उनके गौड़पादकारिका-भाष्य में वर्णित विज्ञानवाद में भी विभिन्न प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं। वहाँ जाग्रदावस्था को स्वप्नावस्था के पूर्ण समरूप माना गया है एवं बाह्य विषयों का कोई भी अस्तित्व नहीं माना गया है क्योंकि शारीरक-मीमांसा-भाष्य में वर्णित स्वप्न-सर्गों से अतीव भिन्न अनिवर्चनीय अस्तित्व वाले बाह्य विषयों की तुलना में वे निर्विकल्प रूप से स्वप्न प्रत्यक्ष सम है। उन्नीस अध्याय तथा छः सौ पचहत्तर श्लोक युक्त उपदेश साहस्री का वाक्य-वृत्ति के साथ अधिक साम्य है। इसमें यद्यपि सुविज्ञात समस्त वेदान्त विषयों पर किंचित् प्रकाश

ही डाला गया है फिर भी ब्रह्मत्व प्राप्ति के साधन रूप 'तत्त्वमसि' जैसे वेदान्ती अद्वैत-श्रुतियों की सम्यक् अनुभूति पर अधिक बल दिया गया है। कई ऐसे लघु श्लोक एवं मन्त्र भी हैं जिनके लेखक शंकराचार्य बताये जाते हैं यथा अद्वैतानुभूति, आत्मबोध, तत्त्वोपदेश, प्रौढानुभूति इत्यादि। उनमें से निस्सन्देह कुछ की रचना तो उन्होंने की जबकि बहुत से ऐसे भी हो सकते हैं जिनके रचयिता वे नहीं हों, परन्तु इस सम्बन्ध में कोई अन्य प्रमाण नहीं होने के कारण किसी निश्चयात्मक निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है।[1] इन मन्त्रों में कोई और अधिक दार्शनिक सामग्री नहीं है, परन्तु इनका उद्देश्य अद्वैती सम्प्रदाय के पक्ष में धार्मिक श्रद्धा एवं उत्साह को जागृत करना है। तथापि उनमें से कुछ में टीकाकारों ने ऐसे वेदान्ती सिद्धान्तों को निकालने का बहाना प्राप्त कर लिया है जो स्पष्टतः उनमें से उद्भूत नहीं कहे जा सकते। उदाहरणस्वरूप यह बताया जा सकता है कि शंकर के दस श्लोकों से ही मधुसूदन ने एक महान् भाष्य लिख डाला एवं ब्रह्मानन्द सरस्वती ने मधुसूदनकृत भाष्य पर एक अन्य महान् भाष्य लिखा तथा वेदान्त सम्बन्धी कई जटिल समस्याओं का विस्तृत विवेचन किया जिनका स्वयं श्लोकों से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। परन्तु शंकर का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ ब्रह्मसूत्र-भाष्य है, जिस पर वाचस्पति मिश्र ने नवम् शतक में, आनन्दज्ञान ने तेरहवें शतक में और गोविन्दानन्द ने चौदहवें शतक में टीकाएँ लिखीं। वाचस्पति-कृत भाष्य की टीकाएँ वाचस्पति मिश्र के बारे में लिखित अध्याय में देखी जा सकती हैं। सुब्रह्मण्य ने भाष्यार्थ-न्याय-माला नामक शांकर भाष्य का छन्दोबद्धसार लिखा है, और भारतीतीर्थ ने वैयासिक-न्याय-माला लिखी जिसमें उन्होंने शांकर-भाष्य के आधार पर ब्रह्मसूत्र की सामान्य युक्तियों का विवेचन करने का प्रयत्न किया है। कई अन्य व्यक्तियों के यथा वैद्यनाथ दीक्षित, देवराम भट्ट इत्यादि ने भी शांकर-भाष्य लिखित ब्रह्मसूत्र की सामान्य युक्तियों में से मुख्य विषयानुसार सार ग्रन्थ लिखे जिन्हें न्याय माला अथवा अधिकरण-माला कहते हैं। परन्तु कई अन्य व्यक्तियों को शांकर-भाष्य से (अथवा वाचस्पति मिश्रकृत एवं शांकर-शाखा के अन्य महान् लेखकों द्वारा टीकाओं से) प्रेरणा मिली और ब्रह्मसूत्र पर स्वतन्त्र भाष्यों के नाम पर उन्होंने इन भाष्यों में लिखित सामग्री की केवल पुनरुक्ति ही की। इस प्रकार अमलानन्द ने शांकर-भाष्य पर वाचस्पति कृत टीका की मुख्य बातों का अनुकरण करते हुए अपना 'शास्त्र-दर्पण-लिखा, और स्वयप्रकाश ने भी अपना 'वेदान्त-नय-भूषण. लिखा जिसमें अधिकतर उन्होंने भामती टीका में नीति के विचारों को संक्षेप में प्रस्तुत किया। ब्रह्मसूत्र की स्वतंत्र व्याख्याओं के रूप में हरिदीक्षित ने अपना 'ब्रह्म-सूत्र-वृत्ति', शंकरानन्द ने 'ब्रह्म-सूत्र-दीपिका' और ब्रह्मानन्द ने 'वेदान्त-सूत्र-मुक्तावली' ग्रन्थ लिखे परन्तु ये सब मुख्यतया स्वयं शांकर-भाष्य के अनुसार लिखे गये हैं। जिन ग्रंथों ने शंकर के परवर्ती काल में उनकी शाखा के दार्शनिकों एवं शांकर-भाष्य के व्याख्याताओं द्वारा विकसित अन्य वेदान्ती विचारों को जोड़ कर शांकर भाष्य के पूरक का कार्य किया उनमें से कुछेक निम्न हैं—विश्वेश्वरानन्द के शिष्य ब्रह्मानंद यति कृत 'ब्रह्मसूत्र भाषार्थ-संग्रह', गौरी एवं शिव के पुत्र

1. पद्मपाद ने अपने आत्म-बोध-व्याख्यान में, जिसे वेदान्त-सार भी कहते हैं, आत्म-बोध पर टीका की है।

वेंकटकृत 'ब्रह्मसूत्रार्थ दीपिका', अन्नम् भट्टकृत ब्रह्म-सूत्र-वृत्ति' (जिसे मिताक्षरा भी कहा गया है), ज्ञानघन के शिष्य ज्ञानोत्तम भट्टारककृत 'ब्रह्मसूत्र-भाष्य-व्याख्या' (जिसे विद्याश्री भी कहा गया है।) इस अन्तिम ग्रंथ की विशेषता यह है कि एकजीववाद पद्धति पर लिखी यह केवल एक ही ऐसी टीका है जो वर्तमान लेखक को उपलब्ध हो सकी। इनके अतिरिक्त कुछ और टीकाओं का उल्लेख किया जा सकता है; यथा मुकुन्दाश्रम के शिष्य एवं रामचंद्रार्य के शिष्य धर्मभट्टकृत 'ब्रह्म-सूत्र-वृत्ति' ब्रह्मानंद के शिष्य के शिष्य एवं रामानंद के शिष्य अद्वैतानंदकृत 'सूत्र-भाष्य-व्याख्यान' (जिसे ब्रह्मविद्याभरण भी कहा गया है), अप्पय दीक्षितकृत 'ब्रह्म-सूत्र-व्याख्यान', (जिसे न्यायरक्षामणि भी कहते हैं), सदाशिवेन्द्र सरस्वतीकृत 'ब्रह्मतत्त्व-प्रकाशिका' (जो पूर्वतर ग्रंथ ब्रह्मप्रकाशिका से भिन्न है), रामानंद के शिष्य रामेश्वर भारतीकृत 'ब्रह्मसूत्रोपन्यास', सुब्रह्मण्य अग्निचित् मखीन्द्र-कृत शारीरक 'मीमांसा-सूत्र-सिद्धांत-कौमुदी', सीतारामकृत 'वेदांत-कौस्तुभ', जिनमें से कोई भी सोलहवें शतक के पूर्व की नहीं प्रतीत होती। परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकाशात्मन् 1200 ई० प० के आचार्य अनन्यानुभव ने शारीरक-न्याय-मणिमाला नामक एक अन्य भाष्य लिखा। प्रकाशात्मन् ने स्वयं भी शांकरभाष्य की मुख्य सामग्री को छंदोबद्ध साररूप में लिखा जिसका नाम 'शारीरक मीमांसा न्याय संग्रह' है और उनके बहुत बाद कृष्णानुभूति ने 'शारीरक मीमांसा संग्रह' नामक उसी प्रकार छंदोबद्ध सारग्रंथ की रचना की।

मंडन, सुरेश्वर एवं विश्वरूप

सामान्य परम्परानुसार मंडन, सुरेश्वर एवं विश्वरूप को सदा एक ही माना गया है; और ऐसा प्रतीत होता है कि कर्नल जी० ए० जैकब अपने 'नैष्कर्म्य-सिद्धि' के द्वितीय संस्करण के प्राक्कथन में इस परम्परा को मानते हैं। यह परम्परा सम्भवतः विद्यारण्य-कृत शंकर-दिग्विजय से प्रारम्भ हुई जिसमें मण्डन को उम्बेक ही नहीं बल्कि विश्वरूप नाम से भी सम्बोधित किया गया है (8.63)। आगे चलकर वे उसी ग्रंथ के 10.4 में कहते हैं कि जब मण्डन शंकर के शिष्य हुए तब उन्होंने उन्हें सुरेश्वर नाम दिया। परंतु 'शंकर-दिग्विजय' एक पौराणिक जीवन-चरित है और जब तक किसी विश्वसनीय साक्ष्य से उसके कथन पुष्ट नहीं हो जायें तब तक इनमें विश्वास करना भयावह है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सुरेश्वर 'शांकर-वृहदारण्यक उपनिषद् वार्त्तिक' अथवा पद्यात्मक टीकाओं के लेखक थे जिसका संक्षेपण विद्यारण्य द्वारा भी वार्त्तिक सार नामक ग्रंथ में किया गया जिसकी टीका बाद में महेश्वर तीर्थ द्वारा अपनी 'लघु-संग्रह' नामक टीका में की गई। सुरेश्वर कृत वार्त्तिक पर टीका कम से कम दो टीकाकारों ने, आनंदगिरि ने 'शास्त्र-प्रकाशिका' में और आनंदपूर्ण ने अपने 'न्याय-कल्प-लतिका' में की। बिब्लियोथेका इंडिका पुस्तकमाला (पृ० 51) में मुद्रित पराशर-स्मृति टीका में इस वार्त्तिक से अद्भुत एक उद्धरण को विश्वरूप द्वारा कथित बताया गया है, परंतु यह टीका बाद का ग्रंथ है और अधिक सम्भावना इस बात की है कि इसने विद्यारण्य के इस आप्तवचन में विश्वास कर लिया कि विश्वरूप एवं सुरेश्वर एक ही व्यक्ति है। विद्यारण्य भी अपने विवरण-प्रमेय-संग्रह (पृष्ठ 93) में सुरेश्वर कृत वार्त्तिक (4.8) में से एक गद्यांश उद्धृत करके उसे विश्वरूप द्वारा लिखित बताते हैं। परंतु विवरण-प्रमेय-संग्रह (पृष्ठ 224) के एक अन्य

स्थल में वे एक वेदांत-सिद्धांत का उल्लेख करते हैं और उसे ब्रह्म-सिद्धि के लेखक द्वारा प्रतिपादित बताते हैं। परंतु यह ग्रंथ प्रकाशित नहीं हुआ है और उसकी पाण्डुलिपियाँ बड़ी दुर्लभ हैं; वर्तमान लेखक को सौभाग्यवश एक उपलब्ध हो गई। इस ग्रंथ के दर्शन का विस्तृत विवेचन अलग विभाग में किया जायेगा। 'ब्रह्म-सिद्धि' एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है और इस पर वाचस्पति ने अपनी तत्त्व-समीक्षा में आनंदपूर्ण ने अपनी ब्रह्म-सिद्धि व्याख्या-रत्न में शंखपाणि ने अपनी ब्रह्म-सिद्धि टीका में और चित्सुख ने अपनी अभिप्राय-प्रकाशिका में टीका की है। परतु केवल अंतिम दो ग्रंथों की ही पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हैं। किंतु कई महत्त्वपूर्ण ग्रंथ ब्रह्मसिद्धि का एवं सामान्यतया ब्रह्मसिद्धि के लेखक (ब्रह्मसिद्धिकार) द्वारा प्रतिपादित उस ग्रंथ के विचारों का उल्लेख करते हैं। परंतु जहाँ तक वर्तमान लेखक को विदित है, इनमें से किसी भी उल्लेख में ब्रह्मसिद्धिकार को सुरेश्वर नहीं बताया गया है। 'ब्रह्म-सिद्धि' पद्य एवं गद्य में लिखा गया था क्योंकि चित्सुख-कृत 'तत्त्व-प्रदीपिका' में (पृष्ठ 381 निर्णय-सागर-प्रेस) और न्याय-कणिका (पृष्ठ 80) में इसके दो उद्धरण पद्य में हैं जबकि 'तत्त्व-प्रदीपिका' (पृष्ठ 80) के अन्य स्थलों पर अन्य उद्धरण में हैं। फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं कि मण्डन अथवा मण्डनमिश्र ने 'ब्रह्म-सिद्धि' लिखा; क्योंकि श्रीधर ने अपनी 'न्याय-कंदली' (पृष्ठ 218) में और चित्सुख ने अपनी 'तत्त्व-प्रदीपिका' (पृष्ठ 140) में मण्डन को ब्रह्मसिद्धि का लेखक बताया है। वस्तुत इस सम्बन्ध में दशम शतक के मध्य में रहने वाले श्रीधर के साक्ष्य को विश्वसनीय समझना चाहिए क्योंकि मण्डन की मृत्यु के सौ वर्षों के बीच में यह रहे; चाहे मण्डन कोई भी हों, परंतु चूँकि वह शंकर (820 ई० प०) के परकालीन थे अतः नवम शतक के मध्य से पूर्वतर नहीं रहे होंगे। अतः यह निश्चित रूप से ज्ञात है कि सुरेश्वर ने 'नैष्कर्म्य सिद्धि' और 'वार्त्तिक' लिखे और मण्डन ने 'ब्रह्मसिद्धि' लिखा। यदि ब्रह्मसिद्धि के सिद्धांत अथवा दृष्टिकोण की तुलना नैष्कर्म्य सिद्धि अथवा वार्त्तिक के साथ की जाय तो इन दोनों व्यक्तियों के एक ही होने का प्रश्न हल किया जा सकता है। इसका उल्लेख करने वाले विभिन्न लेखकों की रचनाओं में प्राप्त कुछेक उद्धरणों से कुछ निश्चयात्मक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।[1]

समस्त उद्धरणों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वह उद्धरण है जो विवरण-प्रमेय-संग्रह (पृष्ठ 224) में ब्रह्म-सिद्धि से उद्धृत है। वहाँ कहा गया है कि ब्रह्म-सिद्धि के लेखक के अनुसार जीव ही स्वयं अपनी अविद्या द्वारा अपने लिए अविकारी ब्रह्म पर मिथ्या जगत

---

1 उपरोक्त विभाग लिखने के बाद मैंने ब्रह्मसिद्धि की एवं उसकी टीका की पाण्डुलिपि की एक प्रतिलिपि का आधार राजकीय संस्कृत पाण्डुलिपि संग्रहालय व ग्रंथालय में अवलोकन किया था एवं मुझे यह लिखने में प्रसन्नता का अनुभव होता है कि इसकी सामग्री की पूर्ण परीक्षा द्वारा उपरोक्त अनुमान की पुष्टि होती है। प्रो० कुप्पुस्वामी निकट भविष्य में ही ब्रह्मसिद्धि को मुद्रित करवा रहे हैं और मैंने दिसम्बर 1928 में मद्रास में प्रो० कुप्पुस्वामी शास्त्री के सौजन्य से उसके तर्कपाद का अवलोकन किया। मण्डनकृत ब्रह्मसिद्धि का दर्शन अलग विभाग में वर्णित है।

अवभास की रचना करते हैं। ब्रह्म न तो स्वयं अपने में, न मायायुक्त अथवा माया में प्रतिबिम्बित होकर जगत् का कारण है (ब्रह्म न जगत्कारणम्)। अवभास केवल जीव के अविद्या की ही सृष्टि है, अतः जीव के सांसारिक मिथ्या प्रत्ययों का कोई वस्तुपरक आधार नहीं है। व्यक्तिगत प्रत्ययों में साम्य का कारण एक ही प्रकार की अविद्या के मिथ्या प्रभाव से पीड़ित विभिन्न व्यक्तियों में भ्रम-सादृश्य है; इस प्रकार इसका सादृश्य कई व्यक्तियों के द्विचंद्र के मिथ्या प्रत्यय से किया जा सकता है। सारे व्यक्ति एक ही जगत् का प्रत्यय नहीं करते; उनके मिथ्या प्रत्यय में सादृश्य है परंतु प्रत्यय के वस्तुपरक आधार में कोई सादृश्य नहीं है। (संवादस्तु बहु-पुरुषावगत-द्वितीय-चंद्रवत् सादृश्याद् उपपद्यते)। यदि यह मान लिया जाय कि यह वृत्तान्त सही है तो बाद के समय में प्रकाशानंद द्वारा इतने बलपूर्वक प्रतिपादित दृष्टि-सृष्टिवाद के वेदांती सिद्धांत का मूल-प्रतिपादक मण्डन मिश्र को माना जा सकता है। पुनः प्रकाशात्मन् कृत पंचपादिका-विवरण में (पृष्ठ 32) यह माना गया है कि ब्रह्मसिद्धि के लेखक के अनुसार अविद्या एवं माया दोनों मिथ्या प्रत्यय के अतिरिक्त कुछ नहीं (अविद्या माया मिथ्याप्रत्यय इति) ज्ञान के संशयनाशक कार्य के बारे में उनका यह विचार है (जैसा कि न्याय-कंदली पृष्ठ 218 में वर्णित है) कि ज्ञात की सत्यता के बारे में संशय का छेदन स्वयं ज्ञान द्वारा ही होता है। न्याय-कणिका में (पृष्ठ 80) यह कहा गया है कि मण्डन के अनुसार परम सत्ता स्वयं अपने आपको एकत्व अथवा विश्वरूपत्व के अनन्त प्रत्ययों में प्रकट करती है जबकि सीमित प्रत्यय के फलस्वरूप ही भेद का अवभास होता है। पुनः लघु-चंद्रिका में (पृष्ठ 112 कुम्भकोणम् संस्करण) अविद्या के नाश के स्वरूप एवं ब्रह्मज्ञान के साथ उनके सम्बंध के बारे में विचार-विमर्श करते समय मण्डन का परिचय प्राप्त होता है। शंकर के अनुसार जैसाकि सुरेश्वर तथा उनके कई अनुयायियों ने व्याख्या की है, अभाव की भिन्न सत्ता नहीं होने के कारण अविद्यानिवृत्ति अभाव नहीं है। अतः अविद्या-निवृत्ति का अर्थ केवल ब्रह्म है। परतु मण्डन के अनुसार अविद्या-निवृत्ति के रूप में इस प्रकार के अभाव के अस्तित्व को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नही है; क्योंकि ब्रह्म के एकत्व का अर्थ यह है कि केवल एक ही असंदिग्ध सत्ता है। अभाव से इसका कोई सम्बंध नहीं अर्थात् द्वैत के अभाव का अर्थ केवल यही है कि ब्रह्म के अतिरिक्त समस्त विध्यात्मक सत्ताओं का अभाव होता है (भावाद्वैत)। अविद्या की निवृत्ति के रूप में इस प्रकार के अभाव का अस्तित्व अद्वैती सिद्धांत को हानि नहीं पहुंचाता। पुनः अपने संक्षेप-शारीरक (2.174) में सर्वज्ञात्म मुनि कहते हैं कि अविद्या का आश्रय शुद्ध चैतन्य है (चिन्मात्राश्रित-विषयम् अज्ञानम्) और जहाँ भी शांकर भाष्य के प्रसंग से ऐसा प्रतीत हो कि मानों वे जीव को ही अज्ञान का आश्रय मानते हों, वहाँ भी उसकी इसी अर्थ में व्याख्या करनी चाहिए। अतः ऐसे दृष्टिकोण के प्रति यथा अविद्या का आश्रय जीव है, मण्डन की आपत्तियों की ओर कोई ध्यान नहीं देना चाहिए; क्योंकि मण्डन के विचार सर्वथा अन्यथा निष्कर्षों को ही प्राप्त कराते हैं (परिहृत्य मण्डन-वाचः तद्ध्यन्यथा प्रस्थितम्)।[1] 'संक्षेप-

1. जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी 1923 में श्री हिरीयन्न इस बात का तथा अविद्या निवृत्ति के सम्बन्ध में मण्डन के दृष्टिकोण का अभाव की स्वीकृति के रूप में उल्लेख करते हैं।

शारीरक' के टीकाकार रामतीर्थ स्वामी भी उक्त स्थल पर टीका करते हुए मण्डन के उपरोक्त दृष्टिकोण का सुरेश्वर से वैषम्य प्रदर्शित करते हैं। सुरेश्वर को उन्होंने संक्षेप-शारीरक ग्रंथांशों में बहुश्रुत कहा है और उनका मण्डन के विचारों के विरुद्ध सर्वज्ञात्म मुनि के विचारों से साम्य बताया है। अब जैसाकि मण्डन के सम्बन्ध में कही गई निम्न बातों से प्रतीत होगा मण्डन के इन कई विचारों से सुरेश्वर सहमत नहीं हैं। अतः यह प्रतीत नहीं होता कि मण्डन मिश्र और सुरेश्वर एक ही व्यक्ति थे। परन्तु यदि मण्डन के विचारों को इतना अधिक जानने वाले विद्यारण्य उन दोनों को शंकर-दिग्विजय में एक ही बताते हैं तो यह विचारणीय है। अब श्री हिरियन्ना ने जरनल ऑफ रोयल एशियाटिक सोसाइटी 1924 में अपने संक्षिप्त नोट द्वारा इस कठिनाई को दूर कर दिया है जिसमें उन्होंने बताया है कि विद्यारण्य अपने वार्तिक सार में ब्रह्म-सिद्धि के लेखक को वार्तिक के लेखक, अर्थात् सुरेश्वर से भिन्न बताते हैं। अब, यदि वार्तिक-सार के लेखक विद्यारण्य को यह पता होता कि ब्रह्म-सिद्धि के लेखक मण्डन और सुरेश्वर एक ही व्यक्ति नहीं हैं तो वे शंकर-दिग्विजय में उन्हें एक ही व्यक्ति नहीं बताते। उससे स्वभावतः यह संशय उत्पन्न होता है कि विवरण-प्रमेय-संग्रह एवं वार्तिक-सार के लेखक विश्वारण्य और शंकर-दिग्विजय के लेखक विद्यारण्य एक ही व्यक्ति नहीं थे। एक अन्य दृष्टि से भी यह विचार उत्पन्न होता है कि विद्यारण्य (विवरण-प्रमेह-संग्रह) शंकर-दिग्विजय के लेखक नहीं हो सकते थे। आनन्दात्मा के दो शिष्य अनुभवानन्द और शंकरानन्द थे। अनुभवानंद के अमलानंद और शंकरानंद के विद्यारण्य शिष्य थे। अतः अमलानंद के आचार्य सुखप्रकाश थे जिसके आचार्य चित्सुक थे। इस प्रकार चित्सुख विद्यारण्य के परम-गुरु आनन्दात्मा के समकालीन माने जा सकते हैं। यदि ऐसा होता तो वह अपने शंकर-दिग्विजय (13.5) में यह नहीं लिख सकते थे कि पद्मपाद के कई शतक बाद रहने वाले चित्सुख पद्मपाद के शिष्य थे। अतः यह बेखटके कहा जा सकता है कि शंकर-दिग्विजय के लेखक विवरण-प्रमेय-संग्रह के लेखक नहीं थे। अब, यदि ऐसा है तो विवरण-प्रमेय-संग्रह के लेखक पर हमारा विश्वास सन्देहास्पद एवं असुरक्षित नहीं कहा जा सकता। परन्तु विवरण-प्रमेय-संग्रह के पृष्ठ 92 पर सुरेश्वर-कृत वार्तिक का एक गद्यांश (4.8) विश्वरूप आचार्य का बताया गया है। अतः जब तक हम यह नहीं मान लेते कि मण्डन केवल मीमांसा लेखक ही नहीं बल्कि एक महान् सम्मानित वेदांत लेखक भी थे और शंकर द्वारा उनके मत परिवर्तन का अर्थ केवल यही था कि उन्होंने अपने कुछ वेदांती-विचारों में परिवर्तन किया और शंकर की विचारधारा को अंगीकार किया और इसी अवस्था में वह सुरेश्वर कहलाये तब-तक यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि ब्रह्म-सिद्धि के लेखक मण्डन और सुरेश्वर एक ही व्यक्ति थे। इस सिद्धान्त के अनुसार उनका ग्रन्थ-ब्रह्म-सिद्धि सम्भवतः उनके शांकर मत ग्रहण करने के पूर्व लिखा गया। यह सम्भव है कि यह सिद्धांत ठीक हो और यह कि विधि-विवेक के लेखक ही ब्रह्म-सिद्धि के लेखक हों, क्योंकि वाचस्पति ने अपनी न्याय-कणिका में ब्रह्म-सिद्धि का एक अंश इस ढंग से उद्धृत किया है कि जिससे ऐसा संकेत होता है कि सम्भवतः विधि-विवेक के लेखक के ब्रह्म-सिद्धि के भी लेखक होने की ही सम्भावना है। यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि विश्वरूप और सुरेश्वर दोनों के एक होने की ही सम्भावना है, यद्यपि इस विषय पर वर्तमान लेखक को विवरण-प्रमेय-

संग्रह के लेखक द्वारा प्रदत्त विवरणों के अतिरिक्त अन्य कोई महत्त्वपूर्ण विवरण उपलब्ध नहीं है।

मण्डन (800 ई० प०)

मण्डन मिश्र कृत ब्रह्म-सिद्धि एवं उस पर शंखपाणि कृत टीका की पांडुलिपियाँ उपलब्ध हैं, मद्रास के महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी शास्त्री शीघ्र ही उस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का आलोचनात्मक संस्करण निकालने वाले हैं। महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी शास्त्री के सौजन्य से वर्तमान लेखक को ब्रह्म-सिद्धि का प्रूफ पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ था एवं अड्यार पुस्तकालय के अवैतनिक संचालक श्री सी० कुन्हनराजा के सौजन्य से शंखपाणि-कृत टीका की पाण्डुलिपियों का भी उपयोग कर सका।[1] ब्रह्म-सिद्धि-कारिका एवं वृत्ति रूप में ब्रह्मसिद्धि के ब्रह्म-काण्ड, तर्क-काण्ड, नियोग-काण्ड और सिद्धि-काण्ड, चार अध्याय हैं। मण्डन के शंकर का समकालीन होना इस तथ्य से सिद्ध होता है कि वे शंकर के किसी भी परकालीन लेखक के बारे में कदापि नहीं लिखते यद्यपि उन्होंने कई ऐसे लेखकों के उद्धरण प्रस्तुत किये हैं जो शंकर के पूर्वकालीन थे यथा शबर, कुमारिल अथवा योग-सूत्र भाष्य के लेखक व्यास एवं उपनिषद् वाक्यों का प्रचुर उल्लेख करते हैं।[2] मण्डनकृत ब्रह्मसिद्धि पर वाचस्पति ने भी 'तत्त्व-समीक्षा' नामक टीका लिखी; परन्तु जहाँ तक कि वर्तमान लेखक को ज्ञात है, दुर्भाग्यवश मूल पाठ का अभी तक पता नहीं चल सका है। ब्रह्म-काण्ड अध्याय में मण्डन ब्रह्म के स्वरूप की विवेचना करते हैं, तर्क-काण्ड में वह यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि हमें प्रत्यक्ष द्वारा भेद' गोचर नहीं हो सकता अत: किसी को भी उपनिषद्-ग्रन्थों की द्वैतवादी विचारधारा की इस आधार पर व्याख्या करने का विचार नहीं करना चाहिए कि प्रत्यक्ष भेद अभिव्यक्त करता है। नियोग-काण्ड नामक तृतीय अध्याय में वे इस मीमांसा-विचारधारा का खण्डन करते हैं कि उपनिषद् वाक्यों की व्याख्या इस मीमांसा सिद्धान्त के अनुसार की जाये कि समस्त वैदिक ग्रन्थ हमें किसी

---

1. ज्ञानोत्तम के शिष्य चित्सुख ने भी इस पर अभिप्राय-प्रकाशिका नामक एक टीका लिखी जिसके प्रारम्भिक कुछ हिस्सों के अतिरिक्त करीब 2 पूरा भाग राजकीय प्राच्य पाण्डुलिपि ग्रन्थालय, आर० नं० 3853 में उपलब्ध है। आनन्दपूर्ण ने भी ब्रह्म-सिद्धि पर भाव-शुद्धि नामक एक टीका लिखी।

2. मण्डन के अन्य ग्रन्थ भावना विवेक, विधि-विवेक, भ्रम-विवेक और स्फोट-सिद्धि है। इनमें से विधि-विवेक पर वाचस्पति मिश्र ने अपनी न्याय-कणिका में टीका की, एवं स्फोट-सिद्धि पर भक्तदास के पुत्र ने टीका लिखी, जिन्होंने वाचस्पति कृत तत्त्व-बिन्दु पर तत्त्व-विभावना नामक टीका भी लिखी। स्फोट-सिद्धि पर टीका का नाम गोपालिका है। मण्डन-कृत विभ्रम-विवेक एक छोटा सा ग्रन्थ है जो भ्रम के चार सिद्धान्तों (ख्याति) यथा आत्म-ख्याति, असत्-ख्याति अन्यथा-ख्याति एवं अख्याति की विवेचना करता है। अब तक उनके केवल भावना-विवेक एवं विधि-विवेक ही प्रकाशित हुए।

प्रकार का कर्म करने अथवा न करने का आदेश देते हैं। यह पुस्तक का सबसे लम्बा अध्याय है चौथा अध्याय सिद्धि काण्ड सबसे छोटा है : मण्डन यहाँ कहते हैं कि उपनिषद् ग्रन्थ यह बताते हैं कि नाना प्रपंचात्मक जगत् की कोई सत्ता ही नहीं है तथा इसका प्रतीयमान अस्तित्व जीव की अविद्या के कारण है।

ब्रह्म काण्ड में मण्डन ने सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वेदान्ती-विचारों की व्याख्या अपने दृष्टिकोण के अनुसार की है। वे प्रथमतः द्रष्टा एवं दृश्य की समस्या को प्रस्तुत करते हैं और कहते हैं कि द्रष्टा एवं दृश्य के प्रतीयमान द्वैत को हटा कर के ही अनुभव की व्याख्या की जा सकती है। क्योंकि, यदि द्रष्टा एवं दृश्य का कोई वास्तविक द्वैत हो, तो उस द्वैत को हटाया नहीं जा सकता एवं दोनों के मध्य किसी प्रकार का भी संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता; दूसरी ओर यदि केवल द्रष्टा की ही सत्ता हो तो प्रत्यक्षीकृत समस्त वस्तुओं की व्याख्या एकमात्र परम सत्ता आत्मा पर आरोपित भ्रमात्मक रचनाओं के रूप में की जा सकती है।[1] इसी युक्ति के साथ अग्रसर होते हुए कहते हैं कि इस द्रष्टा-दृश्य सम्बन्ध को स्थापित करने के लिए मध्यस्थ अन्तःकरण की क्रिया के सिद्धान्त द्वारा प्रयत्न किये हैं; परन्तु इस माध्यम का कैसा ही स्वरूप क्यों न हो, शुद्ध अविकारी चिदात्मा अथवा द्रष्टा विभिन्न दृश्यों के साथ अपने सम्बन्ध के अनुसार अपने परिवर्तनशील विकारों के साथ विकृत नहीं हो सकता; यदि यह कहा जाये कि आत्मा अविकारी है एवं अन्तः-करण में उसके प्रतिविम्ब द्वारा विकार की प्रतीति मात्र होती है तो यह स्पष्टतया स्वीकार करना पड़ेगा कि विषयों का वस्तुतः प्रत्यक्षीकरण न होकर प्रत्यक्षीकरण का अवभास मात्र होता है। यदि विषयों का यथार्थ प्रत्यक्षीकरण नहीं होता तो उनकी सत्ता को आत्मा से स्वतन्त्र एवं पृथक् मानना दोष युक्त है।[2] जिस प्रकार दर्पण में देखी गई

---

1. एकत्व एवायं द्रष्टृ दृश्य-भावोऽवकल्पते, द्रष्टुरेव चिदात्मनः तथा तथा विपरिणामाद् विवर्त्तनाद्वा; नानात्वेतु विविक्तस्वभावयोः असंसृष्टपरस्परस्वरूपयोः असम्बद्धयोः कीदृशो द्रष्टृ दृश्य-भावः।

   कुप्पुस्वामी शास्त्री कृत ब्रह्म-सिद्धि संस्करण, पृष्ठ 7 (मुद्रणालय में)

2. एकान्तःकरण-संक्रान्तावस्त्येव सम्बन्ध इति चेत्, न चितेःशुद्धत्वाद् अपरिणामाद् अप्रति-संक्रामाच्च; दृश्याबुद्धिः चिति-सन्निधेश्छायया विवर्तत इति चेत् अथ केयम् तच्छायता? अ-तद्-आत्मनःतदवमासः; न तर्हि परमार्थतो दृश्यं दृश्यते, परमार्थतश्च दृश्यमाणं द्रष्टृा-व्यतिरिक्तमस्ति इति दुर्भणम्। वही। इस पर टिप्पणी करते हुए शंखपाणि इस विचार-धारा को अग्राह्य करते हैं कि दृश्य पदार्थ इन्द्रिय प्रणाली द्वारा आते-जाते हैं और अन्तःकरण पर आरोपित होते हैं तथा उसके द्वारा आत्मा के शुद्ध चैतन्य के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हैं और उनका विषमीकरण हो जाता है : न तु स्फटिकोपमे चेतसि इन्द्रियप्रणालीसंक्रातानाम् अर्थानां तत्रैव संक्रान्तेन आत्मचैतन्येन सम्बन्धानां तद्-दृश्यत्वं घटिष्यते। अड्यार-पाण्डुलिपि, पृष्ठ 75। इस सम्बन्ध में यह बताना असंगत नहीं होगा कि धर्मराजाध्वरीन्द्र द्वारा बाद में सम्बन्धित पद्मपाद प्रकाशात्मन् का सिद्धान्त सम्भवतः प्रत्यक्षीकरण में चिच्छायापत्ति के सांख्य सिद्धान्त

स्वयं अपनी आकृति को कोई व्यक्ति अपने से भिन्न मानता है और उसे अपने से पृथक् सत्ता वाला मानता है उसी प्रकार एक ही आत्मा का अपने से भिन्न नाना विषयों के रूप में अवभास होता है। यह सोचना कठिन है कि किस प्रकार कोई व्यक्ति शुद्ध चैतन्य से पृथक् बाह्य विषयों की सत्ता को स्वीकार करता है, क्योंकि उस स्थिति में दोनों में सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक होगा।[1]

मण्डन के अनुसार अविद्या को माया अथवा मिथ्या-प्रतीति कहा गया है क्योंकि न तो यह बाह्य का स्वभाव है और न यह उससे भिन्न, न सत् और न असत्। यदि यह किसी का स्वभाव होती तो, उससे एकरूप अथवा उससे भिन्न होने पर भी यह यथार्थ होती और उसे अविद्या नहीं कहा जा सकता; यदि यह निर्विकल्प रूप से असत् होती तो आकाश-कुसुम के समान उसका अनुभव से कोई व्यावहारिक सम्बन्ध नहीं होता जैसा अविद्या का है, इस प्रकार यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अविद्या अनिवर्चनीय है।[2]

मण्डन के अनुसार अविद्या का अधिष्ठान जीव है। वे स्वीकार करते हैं कि इस दृष्टिकोण में असंगति है, परन्तु उनके विचार में स्वयं अविद्या के असंगत पदार्थ होने के कारण इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि जीव के साथ इसका सम्बन्ध भी असंगत एवं अनिर्वचनीय हो। जीवों के साथ अविद्या के सम्बन्ध की असंगति निम्न प्रकार से उत्पन्न होती है—

जीवों का आवश्यक रूप से ब्रह्म के साथ तादात्म्य है, एवं जीवों के नानात्व का कारण कल्पना है; परन्तु ब्रह्म के कल्पनाशून्य होने के कारण यह कल्पना ब्रह्म की नहीं हो सकती (तस्याविद्यात्मनः कल्पनाशून्यत्वात्); यह कल्पना जीवों की भी नहीं हो सकती

से अपनाया गया था जिसके अनुसार प्रत्यक्षीकरण में अन्तःकरण का आरोपण बाह्य विषयों पर होता है। यह सिद्धान्त किसी प्रकार शंकर ने अस्पष्ट प्रमाण-मीमांसा-सम्बन्धी सिद्धान्तों के ऊपर लादा गया था एवं व्यवस्थित प्रमाणमीमांसा-सिद्धान्त के रूप में काम करने लगा। मण्डन द्वारा इस प्रमाण-मीमांसक सिद्धान्त की अग्राह्यता एक ओर यह बताती है कि उन्होंने इस सिद्धान्त की शंकर की व्याख्या को सही नहीं माना और शायद दूसरी ओर इसे पद्मपाद की व्याख्या की आलोचना माना जा सकता है। परन्तु उस शाखा का उत्तर सम्भवतः यह होगा कि यद्यपि जीव के अतिरिक्त विषयों की सत्ता में उनका बिश्वास था फिर भी वे शुद्ध चैतन्य के बाह्य किन्हीं विषयों की सत्ता को स्वीकार नहीं करते।

1. तथा हि दर्पण-तलस्थम् आत्मानंविभक्तम् इवात्मनः प्रत्येति, चितेस्तु विभक्तम् असंसृष्टं तथा चेत्यतइति दुरवगम्यम्। ब्रह्म-सिद्धि।

2. वही। पृष्ठ 9। यहाँ यह बताना अनुपयुक्त नहीं होगा कि न्याय-मकरन्द में अविद्या के अनिवर्चनीय स्वरूप (जो इस अध्याय के बाद के विभाग में वर्णित है) के बारे में आनन्दबोध द्वारा दी गई युक्ति मण्डन की इस युक्ति पर आधारित है।

क्योंकि जीव तो स्वयं कल्पना के ही आश्रित हैं।[1] इस कठिनाई के दो हल प्रस्तुत किये जा सकते हैं; प्रथम, माया शब्द का अर्थ ही असंगत पदार्थ है, यदि यह संगत एवं वचनीय प्रत्यय होता तो यह यथार्थ होता, माया नहीं।[2] द्वितीय यह कहा जा सकता है कि जीव अविद्या पर एवं अविद्या जीवों पर आश्रित है; और यह चक्र अनादि है तथा इसलिए जीवों का अथवा अविद्या का प्रथम, आदि नहीं है।[3] यह मत उन लोगों का है जो अविद्या को जगत् का उपादान कारण नहीं मानते हैं; पारिभाषिक शब्दावली में ये अविद्योपादान-भेद-वादी कहलाते हैं। इसी अविद्या के द्वारा जीव आवागमन के चक्र में पड़ते हैं और यह अविद्या जीवों में नैसर्गिक है क्योंकि स्वयं जीव अविद्या के उत्पाद्य हैं।[4] एवं वेदान्त-वचनों के श्रवण, मनन, निदिध्यासन इत्यादि से यथार्थ ज्ञान का उदय होता है एवं अविद्या का नाश होता है, इसी अविद्या के कारण ही ब्रह्म से जीव विभक्त हुआ; उसकी निवृत्ति अथवा नाश से ही वे ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त होते हैं।[5]

ब्रह्म के स्वरूप की शुद्ध आनन्द के रूप में परिभाषा देते हुए टीकाकार शंखपाणि कुछेक अत्यन्त रुचिकर विचार-विमर्श करते हैं। वे प्रारम्भ में दुःख-निवृत्ति के रूप में अथवा इस प्रकार की अभावात्मक स्थिति द्वारा विशिष्ट विद्यात्मक आत्मोपलब्धि के रूप में सुख की अभावात्मक परिभाषा की आलोचना करते हैं।[6] वे कहते हैं कि सचमुच कई अभावात्मक सुख हैं जिनका अभावात्मक सुखों के रूप में अनुभव किया जाता है (यथा शीतल-जल में डुबकी लगाना दुखदायक उष्णता से बचना है), परन्तु उनके मत में कई ऐसी अवस्थाएँ हैं जहाँ सुख और दुख का अनुभव एकसाथ होता है, न कि एक-दूसरे के निषेध रूप में। किसी मनुष्य को अपने शरीर के ऊपरी भाग में आनन्ददायक उष्णता का अनुभव हो सकता है और उसके शरीर के निचले भाग में आनन्ददायक शीतलता का अनुभव हो सकता है और इस प्रकार सुख दुःख युगपत् उत्पन्न हो सकते हैं (सुख-दुःखे युगपज्जन्येते)। पुनः शास्त्रों के अनुसार नरक में असंश्लिष्ट दुख है और इससे स्पष्ट है कि कि दुःख आवश्यक रूप से सापेक्ष नहीं होता। पुनः ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है (यथा, कपूर की आनन्ददायक गंध को सूंघना) जहाँ हमें आत्मोपलब्धि का अनुभव होता है।[7]

---

1. इतरेतराश्रयप्रसंगात् कल्पनाधीनोहि जीवविभागः, जीवाश्रया कल्पना। वही, पृष्ठ 10।
2. अनुपपद्यमानार्थैव हि माया; उपपद्यमानार्थत्वे यथार्थभावान्न माया स्यात्। वही।
3. अनादित्वान्नेतरेतराश्रयत्व-दोषः। ब्रह्मसिद्धि।
4. न हि जीवेषु निसर्गजा विद्यास्ति, अविद्यैव हि नैसर्गिकी, आगन्तुक्या विद्यायाः प्रविलयः। वही। पृष्ठ 11–12।
5. अविद्ययैव ब्रह्मणो जीवो विभक्तः, तन्निवृत्तौब्रह्म-स्वरूपमेव भवति, यथा घटादि-भेदे तदाकाशपरिशुद्धं परमाकाशमेव भवति। वही।
6. दुःखनिवृत्तिर्वा तद्-विशिष्टात्मोपलब्धिर्वा सुखमस्तु सर्वथा सुखं नाम न धर्मान्तिरमस्ति। शंखपाणि-कृत टीका। अड्यार पाण्डुलिपि, पृष्ठ 18।
7. वही, पृष्ठ 20–21।

शंखपाणि विषय-प्राप्ति के बिना काम ही को दुख और उससे निवृत्ति को ही सुख (विषयप्राप्तिम् बिना काम एव दुखमत: तन्निवृत्तिरेव सुखंभविष्यति) मानने वाले सिद्धान्त का खण्डन यह बताकर करते हैं कि सुख की आत्मोपलब्धि किसी व्यक्ति के सुख की कामना किये बिना भी सम्भव है।[1] इस पर आपत्ति यह है कि सुख की आत्मोपलब्धि सहज परन्तु अस्थाई रूप से निष्क्रिय कामनाओं को अवचेतन अथवा प्रच्छन्न अवस्था में तृप्त करती है।[2] पुन: कुछ उपलब्धियों द्वारा कुछ विषयों में अन्यों की अपेक्षा अधिक सुख का आविर्भाव होता है और इसका स्पष्ट कारण यह है कि एक को दूसरे की अपेक्षा अधिक प्रसुप्त कामनाएँ तृप्त करनी होती हैं। इन आपत्तियों के उत्तर में शंखपाणि बताते हैं कि किसी विषय की अधिक कामना होने पर भी यदि वह अधिक कष्ट के बाद उपलब्ध होता है तो यह मनुष्य को इतना अधिक तृप्त नहीं करता जितना सुलभ-प्राप्य सुख कर सकता है। यदि सुख की परिभाषा काम-निवृत्ति के रूप में की जाये तो सुखानुभव के पूर्व अथवा अनन्तर आनन्द का अनुभव होना चाहिए जब कामनाओं की पूर्ण रूप से निवृत्ति हो जाती है, न कि सुखानुभव का आनन्द लेते समय; क्योंकि उस समय पूर्णरूपेण काम-निवृत्ति नहीं होती। सर्वाधिक प्रबल कामनाओं की तृप्ति का आनन्द लेते समय भी किसी को दु:ख का अनुभव हो सकता है। यह मानना होगा कि सुख ऐसा सापेक्ष प्रत्यय नहीं है जो काम-निवृत्ति का फल हो, अपितु यह एक विध्यात्मक प्रत्यय है जिसका अस्तित्व काम-निवृत्ति के पूर्व होता है।[3] यदि काम-निवृत्ति को सुख की परिभाषा माना जाये तो भोजन के प्रति श्लेष्मज अरुचि को भी सुख ही कहना पड़ेगा।[4] अत यह स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रथमत: विध्यात्मक सुखों का अनुभव होता है और उसके बाद उनकी कामना होती है। यह सिद्धान्त मिथ्या है कि सुख दु:ख सापेक्ष हैं एव दु:ख के अभाव में सुख का अनुभव नहीं होता और सुख के अभाव में दु:ख का अनुभव नहीं होता और परिणामत: वेदान्ती दृष्टिकोण यह है कि ब्रह्म के रूप में मोक्ष की अवस्था को विध्यात्मक शुद्ध आनन्द का अनुभव कहा जा सकता है।

ब्रह्मसूत्र एवं कुछ उपनिषदों के भाष्य तथा माण्डूक्य-कारिका में शंकर ने तार्किक-आलोचना के कुछ तत्त्वों का प्रयोग किया था जिनके सिद्धान्त बहुत समय पूर्व ही बौद्धों द्वारा सुविकसित रूप में प्रचलित किये गये थे। शांकर-शाखा के तीन महान् तार्किकों श्रीहर्ष, आनन्दज्ञान एवं चित्सुख के नाम सुविज्ञात हैं और इस अध्याय में उनका सम्यक् ध्यान रखा गया है। परन्तु शंकर के शिष्यों में मण्डन ही ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने तार्किक युक्ति-प्रणाली का प्रारम्भ किया, और जो तार्किक शक्तियों में अद्वितीय थे और जिन्होंने शांकर शाखा के अन्य सब तर्क-शास्त्रियों यथा आनन्दबोध, श्रीहर्ष, आनन्दज्ञान, चित्सुख, नृसिंहाश्रम एवं अन्यों को प्रभावित किया। मण्डन की महान् तार्किक उपलब्धि ब्रह्मसिद्धि के तर्क-काण्ड-अध्याय में भेद के प्रत्यक्षीकरण का खण्डन करने में पाई जाती है। युक्ति

---

1. वही, पृष्ठ 22।
2. सहजोहि रागः सर्वपुसामस्ति स तु विषय-विशेषेण आविर्भवति, वही, पृष्ठ 23।
3. अतः काम-निवृत्तं प्रागभावि सुख-वस्तु-भूतंएष्टव्यम्, वही, पृष्ठ 27।
4. वही, पृष्ट 25।

निम्न प्रकार से दी गई है—भेद-पदार्थ की अभिव्यक्ति प्रत्यक्षीकरण में होती है और यदि यह सत्य है तो भेद की वास्तविकता का निषेध नहीं किया जा सकता और इसलिए वचन की व्याख्या इस प्रकार नहीं करनी चाहिए कि भेद की वास्तविकता ही समाप्त हो जाये। इस प्रकार के दृष्टिकोण के विरुद्ध मण्डन यह सिद्ध करते हैं कि भेद का अनुभव प्रत्यक्ष द्वारा नहीं होता चाहे वह वस्तुधर्म के रूप में हों, चाहे इकाई के रूप में हो।[1] वे प्रारम्भ में यह कहते हैं कि प्रत्यक्ष हमें तीन सम्भव विकल्प देता है यथा—(1) वस्तुस्वरूप सिद्धि (2) अन्य वस्तुओं से इसका व्यवच्छेद (3) दोनों।[2] तृतीय विकल्प भी पुनः त्रिविध हो सकते हैं, यथा—(1) युगपद् भाव (2) व्यवच्छेद-पूर्वक विधि (3) विधिपूर्वक व्यवच्छेद।[3] यदि प्रत्यक्ष द्वारा अन्य विषयों से व्यवच्छेद का अनुभव होता है अथवा यदि यह दोनों वस्तुस्वरूप एवं उसके व्यवच्छेद को प्रकट करता तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि 'भेद' प्रत्यक्ष प्रस्तुत होता है, परन्तु यदि यह सिद्ध किया जा सके कि किसी व्यवच्छेदपूर्वक विधि से असम्बद्ध प्रत्यय में ही केवल वस्तुस्वरूप प्रस्तुत किया जाता है तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भेद का प्रत्यय हमें प्रत्यक्ष द्वारा नहीं मिलता और उस अवस्था में उपनिषदों के उस निर्णय का प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा बाध नहीं होता कि सत् एक है और नानात्व सत् नहीं हो सकते। अब प्रमाण दिये जाते हैं।

प्रत्यक्ष न तो केवल भेद को ही प्रकट नहीं करता, न यह प्रथम भेद प्रकट करके तदनन्तर वस्तुस्वरूप को और न ही दोनों एकसाथ प्रकट करता है; क्योंकि किसी भेद के प्रकट होने के पूर्व वस्तुस्वरूप का प्रकट होना आवश्यक है। भेद का सम्बन्ध केवल दो वस्तुस्वरूपों के सम्बन्ध में ही होना चाहिए यथा गाय घोड़े से भिन्न है अथवा यहाँ कोई घट नहीं है। जिस वस्तु का अभाव है, अथवा जिस वस्तु में उसका अभाव है, इनके बिना भेद के प्रत्यय में अन्तर्निहित अभाव का कोई अर्थ नहीं और ये दोनों ही धारणाएँ वास्तविक हैं। किसी काल्पनिक सत्ता (यथा आकाश-पद्म) के अभाव की व्याख्या उसके अंगों के मिथ्या सम्बन्ध के अभाव से ही की जानी चाहिए जो स्वयं अपने में सत् है; (यथा पद्म और आकाश दोनों सत् हैं, असामंजस्य उनके सम्बन्ध के कारण है और इन दो सत् तत्त्वों के बीच इसी सम्बन्ध का निषेध किया गया है) अथवा, इस प्रकार के तत्त्वों की बाह्य सत्ता का निषेध करना है जो केवल बुद्धि के प्रत्यय के रूप में प्राप्य हैं।[4] यदि भेद-पदार्थ दो विषयों का एक-दूसरे से अन्तर प्रकट करता है तो प्रथमतः उन विषयों का ज्ञान होना आवश्यक है जिनका भेद प्रकट किया जाता है। पुनः यह नहीं माना जा

---

1. यह विवेचना ब्रह्मसिद्धि (मुद्रणालय में) के पृष्ठ 44 से द्वितीय अध्याय के अन्त तक की गई है।
2. तत्र प्रत्यक्षे त्रयःकल्पाः वस्तुस्वरूपसिद्धिः, वस्त्वन्तरस्य व्यवच्छेदः उभयं वा ब्रह्मसिद्धि॥
3. उभयस्मिन्नपि त्रैविध्यमयौगपद्यम्, व्यवच्छेदपूर्वको विधिः, विधि-पूर्वको व्यवच्छेदः। वही।
4. कुतश्चिन्निमित्ताद् बुद्धौ लब्ध-रूपाणाम् बहिर्निषेधः क्रियते। ब्रह्मसिद्धि॥

सकता कि वस्तुस्वरूप को प्रकट करके प्रत्यक्ष अन्य विषयों से अपने भेद को भी प्रकट करता है, क्योंकि प्रत्यक्ष एक अद्वितीय ज्ञान-प्रक्रिया है और इसमें कोई दो ऐसे क्षण नहीं हैं कि प्रथमतः उसे उस विषय को अभिव्यक्त करना चाहिए जो वर्तमान में इन्द्रिय सन्निकर्ष जन्य हैं और तदनन्तर उन विषयों को प्रकट करे जो उस समय इन्द्रिय संनिकर्ष में नहीं हों और कि दोनों के भेद फिर भी हैं।[1] स्वयं अपने भ्रम का ज्ञान होने पर यथा 'यह रजत नहीं, बल्कि शुक्ति है' केवल उत्तरवर्ती ज्ञान ही प्रत्यक्ष परक होता है एवं यह ज्ञात-विषय को रजत के रूप में पूर्ववर्ती ज्ञान का निषेध होने पर ज्ञान उससे सम्बन्धित होता है तथा उसका निषेध करता है। जब केवल प्रस्तुत विषय का प्रत्यक्ष 'पूर्वेदम्' के रूप में किया गया है तब भी पूर्वाविभासित रजत का निषेध हुआ है और जब उसका निषेध हुआ है तब ही शक्ति का प्रत्यक्ष हुआ है। बिना किसी भावात्मक प्रत्यय के अभावात्मक प्रत्यय नहीं होता, परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि भावात्मक प्रत्यय के पूर्व अभावात्मक प्रत्यय नहीं हो सकता।[2] अतः वह ऐसी अवस्था नहीं है जिसके एक अलौकिक प्रत्यक्ष में दो क्षण हों परन्तु इस अवस्था में यहाँ विभिन्न ज्ञानात्मक अनुभव होते हैं।[3]

पुनः एक मत (बौद्ध) यह है कि किसी भी विषय के अनिर्वाच्य निर्विकल्प ज्ञान की सामर्थ्य द्वारा सविकल्प ज्ञान एवं उसका अन्य से भेद, दोनों उत्पन्न होते हैं। यद्यपि भावात्मक एवं अभावात्मक दो ज्ञान हैं फिर भी दोनों निर्विकल्प ज्ञान से प्रादुर्भूत होने के कारण यह ठीक ही कहा जा सकता है कि एक के विध्यात्मक प्रत्यय द्वारा हम अन्य के साथ इसका व्यवच्छेद प्रकट कर सकते हैं (एक विधिरेव अन्य व्यवच्छेदः)।[4] इस विचारधारा के विरुद्ध मण्डन आग्रह करते हैं कि एक विध्यात्मक अनुभव अन्य सब प्रकार के सम्भव तथा असम्भव विषयों से व्यवच्छेद को प्रकट नहीं कर सकता। एक विशिष्ट समय एवं विशिष्ट स्थान पर प्रत्यक्षीकृत रूप उसी विशिष्ट समय एवं विशिष्ट स्थान पर प्रत्यक्ष अन्य रूप का निषेध कर सकता है, परन्तु वह उसी विशिष्ट स्थान एवं समय पर के रस, गुण की उपस्थिति का निषेध नहीं कर सकता, परन्तु केवल रूप ही का प्रत्यक्ष रूप से अन्य उन सब वस्तुओं का इतना निषेध करे, तो उन रस धर्मों का भी निषेध

---

1. क्रमः संगच्छते युक्त्या नैक-विज्ञान कर्मणोः न सन्निहितजं तच्च तदन्यामपि जायते। वही ।। कारिका 3।
2. पूर्व-विज्ञान-विहिते रजतादौ 'इदम्' इति च सन्निहितार्थ-सामान्ये निषेधो विधि पूर्व एव, शुक्तिका-सिद्धिस्तु विरोधि-निषेध-पूर्वंउच्यते, विधि-पूर्वता च नियमेन निषेधस्योच्यते, न विधेर्निषेध-पूर्वकता निषिध्यते। ब्रह्मसिद्धि ।। कारिका 3।
3. न च तत्र एकज्ञानस्य क्रमवद्-व्यापारता उभयरूपस्य उत्पत्तेः। वही।
4. नीलस्य निर्विकल्प-दर्शनस्य यत् सामर्थ्यं नियतैक-कारणत्वं तेन अनादि-वासना-वशात् प्रतिभासितं जनितं इदं नेदं इति विकल्पो भावाभावव्यवहारं प्रवर्तयति...... सत्यं, ज्ञान-द्रव्यं इदं सविकल्पकं तु निर्विकल्पकं तयोर्मूलभूतं तत्प्रत्यक्षं तत्र च एकविधिः एव अन्य-व्यवच्छेद इति ब्रूम इति। शंखपाणि कृत वही।

हो जायेगा और चूँकि यह सम्भव नहीं है अतः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि किसी विध्यात्मक तत्त्व के प्रत्यक्ष में उसी प्रक्रिया के फलस्वरूप समस्त अन्य तत्त्वों का निषेध होना आवश्यक नहीं है।

पुनः एक दृष्टिकोण यह भी है कि वस्तुएँ प्रकृति से ही भिन्नस्वरूप होती हैं (प्रकृत्यैव भिन्नाभाव) और इस प्रकार जब प्रत्यक्ष द्वारा कोई विषयानुभव होता है तब उसी प्रक्रिया द्वारा उस विषय की अन्य विषयों से भिन्नता का भी ग्रहण होता है। इस आपत्ति के उत्तर में मण्डन कहते हैं कि वस्तुएँ भेद-स्वरूप नहीं होतीं, क्योंकि प्रथमतः उस अवस्था में समस्त विषय भेद-स्वरूप वाले होंगे, और इसलिए उनमें कोई भेद नहीं रहेगा। द्वितीय, चूँकि भेद का कोई रूप नहीं होता अतः स्वयं विषय भी अरूप होंगे; तृतीय, भेद के तत्त्वतः रूप से अभाव स्वरूप होने के कारण स्वयं विषय भी अभावस्वरूप होंगे; चतुर्थ, भेद के प्रत्यय में द्वैत अथवा बहुत्व निहित होने के कारण किसी भी विषय को एक नहीं माना जा सकता; कोई भी वस्तु दोनों एक और अनेक नहीं मानी जा सकती है।[1] इसका उत्तर देते हुए विपक्षी कहते हैं—वस्तु का भेद स्वभावतः परापेक्षी होता है, आत्मापेक्षी नहीं (परापेक्षः वस्तुनोभेद-स्वभावः नात्मापेक्षः) इसके उत्तर में मण्डन का कथन है कि सम्पूर्ण सम्बन्ध मानसिक होने के कारण उन लोगों पर आश्रित हैं जो वस्तुओं के बारे में विचार करते हैं, अतः अपेक्षा नामक कोई वस्तुधर्म नहीं है।

यदि अन्य वस्तु की अपेक्षा ही तत्त्वतः वस्तुधर्म है तो प्रत्येक वस्तु को दूसरों की अपेक्षा होगी उनको अपने अस्तित्व के लिए एक-दूसरे के आश्रय की अपेक्षा होगी (इतरेत्तर-आश्रय-प्रसंगात्)। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक विरोधी पद के अनुरूप भेद अलग-अलग हैं और प्रत्येक विषय का विभिन्न अन्य विषयों के अनुसार एक विभिन्न स्वरूप है जिसके साथ उसका विरोध सम्बन्ध हो परन्तु, यदि ऐसा हो तो विषयों की उत्पत्ति केवल स्वयं अपने कारणों द्वारा ही नहीं होती है, क्योंकि यदि भेद उनका स्वरूप माना जाता है तो ये स्वरूप ऐसे प्रत्येक विषय के अनुसार भिन्न-भिन्न होने चाहिएँ जिसके साथ उसका विरोध हो। इसके उत्तर में विपक्षी द्वारा यह आग्रह किया जाता है कि यद्यपि विषय स्वहेतुक है फिर भी भेद रूप में उसको उन अन्य विषयों की अपेक्षा होती है जिनके साथ इसका विरोध हो। मण्डन यह प्रत्युत्तर देते हैं कि इस प्रकार के दृष्टिकोण पर इस विरोधी अपेक्षा का अर्थ एवं कार्य समझना कठिन होगा, क्योंकि यह स्वयंहेतु के विषय का उदय नहीं करता और इसकी कोई नैमित्तिक सामर्थ्य नहीं है तथा अन्य विषयों के साथ सम्बन्धों से इसका अनुभव भी नहीं होता (नानापेक्षः—प्रतियोगिनां भेदः प्रतीयते)। भेद भी तत्त्वतः विरोध्यपेक्षी नहीं माना जा सकता, पहले से ही अनुभूत के बीच विरोधात्मक अपेक्षा होने पर ही भेद अपने आपको प्रकट करता है। सम्बन्ध आंतरिक होते हैं एवं उनकी अनुभूति प्रत्यक्षकर्त्ता एवं ग्राहक के अन्तःकरण में होती है।[2] परन्तु

1. न भेदो वस्तुनो रूपम् तदभावप्रसंगतः। अरूपेण च भिन्नत्वं वस्तुनो नावकल्पते। ब्रह्म-सिद्धि ॥5॥
2. पौरुषेयीमपेक्षां न वस्त्वनुवर्तते, अतो न वस्तुस्वभावः। वही।

आगे चलकर इस पर आपत्ति की जाती है कि पिता एवं पुत्र के प्रत्यय दोनों सापेक्ष हैं हैं और स्पष्टतया बाह्य हैं। इस पर मण्डन उत्तर देते हैं कि ये दोनों प्रत्यय अपेक्षा पर आश्रित नहीं होकर उत्पत्ति के प्रत्यय पर आश्रित हैं, जो उत्पन्न करता है वह पिता हैं एवं जिसकी उत्पत्ति होती है वह पुत्र है। इसी प्रकार दीर्घ एवं लघु के प्रत्यय भी नापने के समय न्यून अथवा अधिक क्षेत्र में व्याप्त होने पर आश्रित हैं, न कि अपेक्षा में ही उनका स्वरूप होने के कारण।

इसके उत्तर में पूर्व पक्ष का कथन है कि यदि सम्बन्धों को परम नहीं माना जाये और यदि वे विभिन्न प्रकार के कार्यों द्वारा प्रादुर्भूत होते हों तो उसी आधार पर भेदों के अस्तित्व को भी स्वीकार किया जा सकता है। यदि विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ नहीं हों तो विभिन्न प्रकार के कार्यों की व्याख्या करना कठिन होगा। परन्तु मण्डन का उत्तर यह है कि तथाकथित भेद केवल नाम मात्र के ही भेद हैं; एक ही अग्नि की ज्वलन क्रिया को कभी दाहक और कभी पाचक कहा जाता है। वेदान्त के मतानुसार तथाकथित समस्त विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ एक ही विषय ब्रह्म में भासित होती हैं, अतः यह आपत्ति न्याय संगत नहीं है कि विभिन्न प्रकार की क्रियाओं के लिए उनके उत्पादक कर्त्ताओं में भेद होना आवश्यक है। पुनः, बौद्धों की कठिनाई स्वयं उनकी विचारधारा में नहीं है, क्योंकि उनके अनुसार सब प्रतीतियाँ क्षणिक हैं और यदि ऐसा होता तो दृश्यमान कार्यों के सादृश्य की व्याख्या वे किस प्रकार करते हैं। उनके अनुसार यह केवल कारणों के साम्य के भ्रमात्मक प्रत्यय पर ही आधारित किया जा सकता है; अतः यदि बौद्ध हमारे सादृश्य के अनुभव की व्याख्या कारणों के साम्य की मिथ्या प्रतीति के आधार पर करते हैं तो वेदान्ती भी अपने पक्ष में नानात्व की प्रतीतियों की व्याख्या भेद के भ्रमात्मक प्रत्यय द्वारा कर सकता है। अतः हमारे भेद के अनुभूत प्रत्यय की व्याख्या करने के लिए भेदों की यथार्थता को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है।[1] दूसरों का तर्क है कि जगत् वैभिन्ययुक्त होना चाहिए क्योंकि हमारे अनुभवगत विभिन्न विषय हमारे विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं और एक ही वस्तु द्वारा विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति असम्भव है। परन्तु यह आपत्ति युक्तिसंगत नहीं है, एक ही अग्नि दाहक, प्रकाशक और पाचक हो सकती है। एक ही वस्तु के कई अविच्छिन्न गुण अथवा धर्मों के होने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। कभी-कभी यह कहा जाता है कि वस्तुएँ अपनी भिन्न-भिन्न शक्तियों के कारण एक-दूसरे से भिन्न होती हैं (यथा दूध, आँवले से भिन्न है क्योंकि दही. दूध से उत्पन्न होता है न कि आँवले से) परन्तु शक्ति-वैभिन्य गुण-वैभिन्य के समान है और जिस प्रकार एक ही अग्नि की दो भिन्न शक्तियाँ अथवा उसके दो भिन्न-भिन्न धर्म, अर्थात् दहन एवं पाचन, हो सकते हैं, इसी प्रकार एक ही इकाई में भिन्न-भिन्न क्षणों में कोई शक्ति हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है, और कम से कम इसका यह तात्पर्य कि किसी वस्तु की विविधता अथवा विभिन्नता है। यह बड़ा रहस्य है कि एक ही वस्तु में इस प्रकार का सामर्थ्यातिशय हो कि वह अनेकों विविध प्रतीतियों का अधिष्ठान हो क्योंकि एक वस्तु को अनेक भिन्न-भिन्न

---

1. अथ निरन्वयविनाशानामपि कल्पनाविषयाद् भेदात् कार्यस्य तुल्यता हन्त तर्हि भेदादेव कल्पना-विषयात् कार्याभेदसिद्धेः मूढा कारण-भेद-कल्पना। वही।

शक्तियों वाला माना जाता है; अतः उसी सिद्धान्त के अनुसार एक ही वस्तु को विभिन्न प्रतीतियों का कारण भी माना जा सकता है।

पुनः, कुछ लोगों का मत है कि एक वस्तु में दूसरी वस्तु के निषेध में ही 'भेद' विद्यमान है। प्रत्युत्तर में यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार के निषेध स्वभावतः निर्विकल्प नहीं हो सकते, क्योंकि इस अवस्था में सब वस्तुओं का सब देशों में निषेध उन वस्तुओं को निरर्थक बना देगा। फिर भी यदि सविकल्प वस्तुओं के प्रसंग में निषेध-विशेषों से ही तात्पर्य हो तो एक-दूसरे से भिन्न इन वस्तुओं के स्वभाव के इन निहित निषेधों पर आश्रित होने के कारण एवं इन निहित निषेधों के भिन्न वस्तुओं के विद्यमान होने पर ही कार्य कर सकने के कारण, वे दोनों परस्पर एक-दूसरे पर आश्रित (इतरेतराश्रय) हैं और स्वतन्त्र रूप से विद्यमान नहीं रह सकते। पुनश्च: यह नहीं कहा जा सकता कि 'भेद' के प्रत्यय की उत्पत्ति सविकल्प प्रत्यक्ष जैसी प्रत्यक्ष-प्रक्रियाओं के कार्य (प्रत्यक्ष-प्रक्रिया की चरम सीमा के रूप में घटित होने वाले) द्वारा नहीं होती है, क्योंकि परस्पर निषेध की अवस्था के अतिरिक्त ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जिसमें निषेध को निश्चितरूपेण अनुभव किया जा सके। पुनः यदि सत् रूप में सब वस्तुओं का अद्वैत अनुभवगम्य नहीं होता तो किसी को भी वस्तुओं के तद्भाव की प्रत्यभिज्ञा कैसे होती। वस्तुओं का यह तद्भाव अथवा अद्वैत सबसे महत्त्वपूर्ण आधारभूत अनुभव है और यह उस निर्विकल्प अनुभव के रूप में प्रथम प्रकाशित होता है जिसकी बाद में भेद के विभिन्न प्रत्ययों में परिणति हो जाती है।[1] इस सम्बन्ध में वस्तुओं के द्विविध स्वभाव, अद्वैत तथा भेद के अपने-अपने प्रकार से सत् होने के जैन मत का भी खण्डन करने का मण्डन को कठिन प्रयास करना पड़ा। परन्तु इन विशदताओं को छेड़ने की आवश्यकता नहीं है। उनके भेद-प्रकरण (पदार्थ के खण्डन) की मुख्य बात यह है कि वह यह प्रदर्शित करते हैं कि प्रत्यक्ष द्वारा भेद पदार्थ का अनुभव हो सकने की कल्पना करना प्रत्यय के लिए अगम्य एवं तार्किक दृष्टि से असंवह है और वस्तुतः प्रत्यक्ष में अनुभूत अद्वैत एव भेद के अगणित साम्य होने की कल्पना की अपेक्षा यह कल्पना दार्शनिक दृष्टि से अधिक समीचीन होगी कि एक वस्तु ही अविद्या के कारण भेद के विभिन्न प्रत्ययों को उत्पन्न करती है।[2]

ब्रह्मसिद्धि के न्यायकाण्ड नामक तृतीय अध्याय में मण्डन मीमांसकों के इस मत का खण्डन करते हैं कि वेदान्त वाक्यों की मीमांसक-व्याख्या-पद्धति के अनुसार ही व्याख्या की जानी चाहिए अर्थात् वैदिक वचनों का अर्थ आदेश है या निषेध है। परन्तु, क्योंकि उस परिचर्चा का अधिक दार्शनिक महत्त्व नहीं है अतः इसमें पड़ना वांछनीय नहीं है। सिद्धि-काण्ड नामक चतुर्थ अध्याय में मण्डन इस मत का पुनः समर्थन करते हैं कि उपनिषद्

---

1. प्रत्येकमनुविद्धत्वादभेदेन मृषा मतः। भेदो यथा तरंगाणां भेदाद्भेदः कलावतः। ब्रह्मसिद्धि 2 अध्याय, 31 कारिका।
2. एकस्यैवास्तु महिमा यन्नानेव प्रकाशते,
   लाघवान्नतु भिन्नानां यच्चकाशत्यभिन्नवत्।

   ब्रह्मसिद्धि, द्वितीयाध्याय की 32वीं कारिका।

ग्रन्थों का मुख्य विषय यह प्रदर्शित करता है कि नानाप्रपंचात्मक जगत् असद् है एवं उसका प्रकाशन जीवों की अविद्या के कारण होता है। जिस प्रकार के परमार्थ का उल्लेख उपनिषदों में है वह हमारे चारों ओर दृश्यमान यथार्थ से बिल्कुल भिन्न है, और साधारण अनुभव द्वारा अगम्य। इसी सत्य को प्रतिपादित करने के हेतु ही उपनिषदों को ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का एकमात्र स्रोत माना गया है।

दूसरे लोग पुनः यह युक्ति देते हैं कि यह जगत् अवश्य ही नानात्मक है क्योंकि हमारे मूलभूत विविध विषय विविध उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं और इस एक ही वस्तु के लिए विविध उद्देश्यों की पूर्ति असम्भव है। परन्तु यह आपत्ति न्यायसंगत नहीं है क्योंकि ठीक वही वस्तु भी विविध उद्देश्यों की पूर्ति कर सकती है; वही अग्नि जला सकती है, प्रकाशित कर सकतो है और पका सकती है। एक ही वस्तु में विविध अवच्छिन्न गुणों के होने में कोई आपत्ति नहीं है। कभी-कभी यह आग्रह किया जाता है कि वस्तुओं के पारस्परिक वैभिन्य का कारण उनकी विविध शक्तियां हैं (यथा दूध तिल से भिन्न इसलिए है कि दूध से दही उत्पन्न होता है तिल से नहीं) परन्तु शक्ति-वैभिन्य गुण-वैभिन्य के समान है, और, जैसे एक ही आग की दो विविध शक्तियाँ अथवा गुण यथा जलाना अथवा पकाना, हो सकती है, उसी प्रकार एक ही तत्त्व विभिन्न कालों में शक्तियुक्त अथवा शक्ति-संयुक्त हो सकता है और इसमें किंचित् मात्र भी तत्त्व वैभिन्य का अर्थ निहित नहीं है। यह एक महान् रहस्य है कि एक ही वस्तु का ऐसा अतिशय सामर्थ्य हो कि वह असंख्य विविध प्रतीतियों का आधार बन सकता हो। जैसा कि एक ही तत्त्व में कई विविध शक्तियाँ रहती हैं उसी प्रकार ठीक वही तत्त्व उसी आधार पर विविध प्रतीतियों का कारण माना जा सकता है।

पुनः कुछ लोगों की यह मान्यता है कि एक तत्त्व का दूसरे में अभाव होने में 'भेद' निहित है। इस पर यह प्रत्युत्तर दिया जा सकता है कि ऐसे अभाव अपने स्वरूप में अनिश्चित नहीं हो सकते; क्योंकि तब सब स्थानों पर समस्त वस्तुओं का अभाव उन्हें रिक्त बना देगा। तथापि, यदि विशिष्ट अभाव निश्चित तत्त्वों के सम्बन्ध में निहित है, तो चूँकि इन तत्त्वों के एक-दूसरे भिन्न रूप में इन तत्त्वों के स्वरूप निहित अभावों पर आश्रित हैं और चूँकि इन विभिन्न तत्त्वों के होने पर ही निहित अभाव क्रियाशील हो सकते हैं, अतः इतरेतर आश्रित है, अतः स्वयं डटे नहीं रह सकते। पुनः यह नहीं कहा जा सकता कि 'भेद' का प्रत्यय, प्रत्यक्ष प्रक्रियाएँ यथा सविम्लपक प्रत्यक्ष की क्रियाशीलता द्वारा उत्पन्न होता है (प्रत्यक्ष प्रक्रिया की चरमावस्था के रूप में घटित होते हुए); क्योंकि ऐसा कुछ भी प्रमाण नहीं है कि पारस्परिक अभाव के अतिरिक्त भेद का निश्चित रूप से अनुभव किया जा सकता है। वस्तु एक ही है जो अज्ञान द्वारा भेद के विविध प्रत्यय देती है। पुनः यदि सत् के रूप में समस्त वस्तुओं के एकत्व को अनुभवगम्य नहीं किया जाये तो यह समझना कठिन होगा कि किस प्रकार वस्तुओं की एकरूपता को पहचाना जा सकता है। वस्तुओं की यह एकरूपता सर्वाधिक मूलभूत अनुभव है एवं यह प्रथमतः निर्विम्लपक अनुभव के रूप में प्रकट होता है जो बाद में अपनेआपको भेद के विविध प्रत्ययों

में परिवर्तित करता है ।[1] इस सम्बन्ध में मण्डन वस्तुओं के स्वरूप को द्विविध अर्थात् दोनों भेद एवं अभेद बताने वाली विचारधारा का तथा भेद एवं अभेद को स्वयं अपने में निजी तरीकों में सत्य बताने वाली जैन विचारधारा का खण्डन करते हैं परन्तु यहाँ इनका विस्तृत विवरण देना आवश्यक नहीं है । भेद पदार्थ का खण्डन करने में मुख्य बात उन्होंने यह कही है और यह सिद्ध किया है कि भेद-पदार्थ को प्रत्यक्ष द्वारा अनुभूत समझना और यह समझना कि दार्शनिक दृष्टि से इस बात को मानने से कि वस्तुतः भेद और अभेद असंख्य हैं जैसाकि उनका प्रत्यक्षीकरण होता है, यह मानना सरल है कि वस्तु एक ही है जो अज्ञान द्वारा भेद के विविध प्रत्यय देती है ।

ब्रह्मसिद्धि के नियोग काण्ड नामक तृतीय अध्याय में खण्डन मीमांसा-दर्शन का खण्डन करते हैं कि वेदान्ती अंशों की व्याख्या के मीमांसा-नियमों के अनुसार की जानी चाहिए अर्थात् वैदिक अंशों में या तो विधि अथवा निषेध निहित हैं, परन्तु इस चर्चा का अधिक दार्शनिक महत्त्व नहीं होने के कारण इसमें पड़ना वांछनीय नहीं है । सिद्धि काण्ड नामक चोथे अध्याय में मण्डन इस दृष्टिकोण को पुनः दोहराते हैं कि उपनिषद् अंशों की मुख्य शिक्षा यह प्रदर्शित करने में है कि प्रतीतियों के नानारूपात्मक जगत् का कोई अस्तित्व नहीं है और जीवों की अविद्या के कारण इसकी अभिव्यक्ति होती है । उपनिषद् ग्रन्थों में वर्णित परम सत्ता उससे पूर्णतया भिन्न है जो हम अपने चारों ओर देखते हैं और मानों साधारण अनुभव द्वारा एक महान् सत्य को अज्ञात करना ही होगा । हो सकता है उपनिषदों को ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति का एकमात्र स्रोत माना गया है ।

सुरेश्वर (800 ई० प०)

सुरेश्वर ने मुख्य ग्रन्थ नैष्कर्म्य-सिद्धि एवं बृहदारण्यकोपनिषद्-भाष्य-वार्त्तिक हैं । नैष्कर्म्य सिद्धि पर कम से कम पाँच भाष्य लिखे गये हैं यथा चित्सुख कृत भाव तत्त्व-तत्त्व-प्रकाशिका जो ज्ञानोत्तम कृत चन्द्रिका पर आधारित है । इस प्रकार यह चन्द्रिका नैष्कर्म्य-सिद्धि पर प्राचीनतम भाष्य है । ज्ञानोत्तम का काल निर्धारित करना कठिन है । इस भाष्य के अन्तिम श्लोकों में सत्यबोध और ज्ञानोत्तम नाम मिलते हैं; और श्री हिरियन्ना नैष्कर्म्यसिद्धि की अपनी भूमिका में यह संकेत करते हैं कि ये दो नाम कंजीवरम् संजीव-पीठ में भी मिलते हैं । जहाँ वे आचार्य एवं शिष्य के रूप में रहे और उसके मठाचार्यों की सूची के अनुसार ज्ञानोत्तम शंकर से चतुर्थ थे । इससे ज्ञानोत्तम का काल अत्यन्त प्राचीन माना जायेगा; फिर भी यदि अन्तिम श्लोक उनके नहीं होकर किसी अन्य द्वारा प्रक्षिप्त हों तो निस्सन्देह इसके सिवाय कोई संकेत नहीं मिलता कि वे चित्सुक के पूर्व रहे होंगे क्योंकि चित्सुख कृत भाष्य ज्ञानोत्तम कृत भाष्य चन्द्रिका पर आधारित है । एक अन्य भाष्य उत्तमामृत के शिष्य ज्ञानामृत कृत विद्या-सुरभि है; एक अन्य टीका दशरथ प्रिय के

---

1. प्रत्येकम् अनुविद्धत्वादभेदन मृषा मतः
   भेदो यथा तरंङ्गानां भेदाद्भेदः कलावतः ।
   ब्रह्मसिद्धि । कारिका 31 ।

शिष्य अखिलात्मन् कृत नैष्कर्म्यसिद्धि विवरण है; और रामदत्त कृत साराथ एक-दूसर भाष्य है जो आपेक्षिक रूप से निकटवर्ती काल का है।

सुरेश्वर कृत नैष्कर्म्यसिद्धि चार अध्यायों में विभाजित है। प्रथम अध्याय में वेदान्ती ज्ञान प्राप्त करने के लिए वैदिक कर्मों के सम्बन्ध के बारे में विवेचना की गई है। यहां अविद्या की परिभाषा अपने अनुभव में आत्मा के परम एकत्व के अप्रत्यक्षीकरण के रूप में दी गई है; इसके कारण पुनर्जन्म होता है और इस अविद्या का नाश ही आत्मा की मुक्ति है। मीमांसकों के विचार में यदि कोई व्यक्ति काय-कर्म एवं निषिध कर्मों का त्याग कर दे तो फल-प्राप्ति के बाद समय पर उन संचित कर्मों का स्वभावतः नाश हो जायेगा और इसलिए नित्य-नैमित्तिक कर्मों द्वारा नये कर्म अनुत्पन्न होने के कारण अन्य नये कर्म संचित नहीं होंगे अतः वह व्यक्ति स्वभावतः कर्म से मुक्ति प्राप्त कर लेगा। किन्तु यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिए वेदों में विधि-निषेध का उल्लेख नहीं है। अतः केवल वैदिक कर्मों के सम्पादन द्वारा ही मनुष्य को मुक्ति प्राप्त करना चाहिए। इस मीमांसा-दर्शन के विरुद्ध सुरेश्वर की मान्यता है कि मुक्ति का कर्म सम्पादन से कोई सरोकार नहीं। वैदिक कर्मों के सम्पादन द्वारा चित्त-शुद्धि के रूप में कोई परोक्ष एवं दूरगामी परिणाम निकल सकता है, परन्तु निश्चित रूप से मोक्ष प्राप्ति पर इसका कोई अपरोक्ष प्रभाव नहीं पड़ता। सुरेश्वर विद्या-सुरभि-भाष्य में वर्णित ब्रह्मदत्त की विचारधारा का इस रूप में कथन करते हैं कि निरन्तर लम्बे समय तक ब्रह्मोपासना अथवा ब्रह्म-ध्यान द्वारा ही, न कि केवल आत्मा एवं ब्रह्म के तादात्म्य ज्ञान द्वारा अविद्या का नाश होता है जैसाकि वेदान्त ग्रन्थों में प्रतिपादित है। अतः ब्रह्म जीव के तादात्म्य के सम्बन्ध में उपनिषदीय अशों का यथार्थ ज्ञान तत्काल मुक्ति उत्पन्न नहीं करता; तादात्म्य के ऐसे विचारों पर जिज्ञासु को दीर्घ समय तक ध्यान करना पड़ता है; और प्रत्येक समय सब नित्य-नैमित्तिक कर्मों को करना पड़ता है क्योंकि यदि कोई उनका त्याग कर दे तो यह कर्त्तव्योल्लंघन होगा और स्वभावतः पापों की उत्पत्ति होगी, तथा व्यक्ति के लिए मोक्ष प्राप्त करना सम्भव नहीं होगा। अतः ज्ञान-कर्म-समुच्चय आवश्यक है जिसका शंकर ने घोर विरोध किया है। एक अन्य दृष्टिकोण भी वार्त्तिक में उल्लिखित है और जिसको भास्कर आनन्द ज्ञान ने मण्डन द्वारा प्रतिपादित बताया है--वह यह है कि वेदान्त-ग्रन्थों द्वारा प्राप्त ज्ञान मौखिक एवं प्रत्ययात्मक होने के कारण अपनेआप ब्रह्मज्ञान की ओर नहीं ले जाता, परन्तु जब ये अंश निरन्तर दोहराये जाते हैं, तो अन्य वैदिक कर्मों के अथवा यज्ञ, दान आदि कर्मों द्वारा विचित्र प्रभाव उत्पन्न करने वाली प्रक्रिया की तरह विचित्र प्रभाव के रूप में ब्रह्मज्ञान उत्पन्न करते हैं। वार्त्तिक में ज्ञान-कर्म-समुच्चय के समर्थकों के विविध सम्प्रदायों का वर्णन है, कुछ लोग ज्ञान को अधिक महत्त्व देते हैं, अन्य कर्म को अधिक महत्त्वपूर्ण समझते हैं; और कई ऐसे हैं जिनकी दृष्टि में ज्ञान-कर्म दोनों समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं; इस प्रकार ज्ञान-कर्म-समुच्चय के तीन सम्प्रदाय उद्भूत होते हैं। सुरेश्वर इन तीनों विचारधाराओं का खण्डन करते हुए कहते हैं कि यथार्थ-ज्ञान एवं मुक्ति एक ही वस्तु है और इसमें किंचित् मात्र भी वैदिक कर्मों के सम्पादन की अपेक्षा नहीं है। सुरेश्वर ज्ञान-कर्म-समुच्चय के सिद्धान्त का भी खण्डन भर्तृप्रपंच जैसे अपरिवर्तित द्वैतवादियों की तरह करते हैं जिनके अनुसार परम सत्ता भेदाभेद है जिससे भेद का सिद्धान्त उतना ही सत्य है जितना अभेद

का, एवं मुक्ति की अवस्था में भी कर्म-सम्पादन आवश्यक है क्योंकि भेदों के भी सत्य होने के कारण विकास की किसी भी अवस्था में, और मोक्ष की अवस्था में भी, कर्मों की आवश्यकता की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यद्यपि अभेद के सत्य का अनुभव करने के लिए यथार्थ ज्ञान भी है। सुरेश्वर द्वारा इस दृष्टिकोण का खण्डन दो तथ्यों पर आधारित है तथा परम सत्ता का भेदाभेद-प्रत्यय परस्पर विरोधी है और जब यथार्थ का ज्ञान द्वारा एकत्व का अनुभव होता है तथा परत्व का भाव और नानात्व दूर हो जाता है तब यह सम्भव नहीं है कि उस अवस्था में कोई कर्म किये जा सकते हैं, क्योंकि कर्मों के पालन में द्वैत एवं भेद के अनुभव की आवश्यकता निहित है।[1]

नैष्कर्म्यसिद्धि के द्वितीय अध्याय में योग्य आचार्य द्वारा की गई उपनिषदों के एकत्वसम्बन्धी अंशों की व्याख्या द्वारा अपरोक्षानुभूति के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। एकत्व के यथार्थ आत्म-ज्ञान के उदय के साथ ही अहं भाव तथा उससे सम्बद्ध राग-द्वेष इत्यादि के अनुभवों का नाश हो जाता है। अह-प्रत्यय विकारी एवं बाह्य तत्त्व है अतः शुद्ध चैतन्य-तत्त्व के बाहर है। द्वैत के समस्त व्यक्त स्वरूप अन्तःकरण के भ्रान्त परिणामों के कारण हैं। जब यथार्थ ज्ञान का उदय होता है तब ज्ञान में विषय रूप आत्मा का लोप हो जाता है। समस्त भ्रमात्मक प्रतीतियाँ शुद्ध आत्मा पर अज्ञान के आरोपण के कारण हैं; किन्तु जो इस शुद्ध आत्मा के अविकल एकत्व को विचलित क्षुब्ध नहीं कर सकते। इन ज्ञानात्मक प्रक्रियाओं में अन्तःकरण विकार-ग्रसित होता है; अन्तर्निहित शुद्ध चैतन्य पूर्णरूप से अविचलित रहता है। फिर भी, मनस्, बुद्धि, एवं उसके विषय के रूप में प्रतीत होने वाला अनात्मा सांख्य प्रकृति के समान अनाश्रित तत्त्व नहीं हैं; क्योंकि उसकी प्रतीति केवल अविद्या एवं भ्रम के कारण है। यह जगत् प्रपंच अज्ञान अथवा मिथ्या और अनिवर्चनीय आत्मभ्रम की ही उत्पत्ति है तथा सांख्य-सिद्धान्त के समान किसी यथार्थ द्रव्य की यथार्थ उत्पत्ति नहीं है। इस प्रकार ज्योंही परम सत्य की अनुभूति होती है त्योंही शुक्ति में भ्रमात्मक शुक्ति की तरह जगत्-प्रपंच का नाश हो जाता है।

तृतीय अध्याय में सुरेश्वर अज्ञान के स्वरूप, आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध एवं उसकी प्रलय-विधि की विवेचना करते हैं। तत्त्व दो हैं; आत्मा एवं अनात्मा। अब स्वयं अज्ञान (माया अथवा अविद्या) की उत्पत्ति होने के कारण अनात्मा उसका आश्रय नहीं कहा जा सकता; अतः अज्ञान का आश्रय शुद्ध आत्मा अथवा ब्रह्म है; आत्मा का अज्ञान भी स्वयं अपने बारे में ही है चूँकि विषयात्मक प्रपंच के सम्पूर्ण क्षेत्र को स्वयं अज्ञान की उत्पत्ति के रूप में समझने के कारण आत्मा के यथार्थ स्वरूप का अज्ञान अपने आपको सम्पूर्ण आत्म-परक एवं वस्तु-परक बुद्धि एवं उसके विषय में विकृत करता है। इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि वाचस्पति मिश्र एवं मण्डन के विपरीत सुरेश्वर के मतानुसार अविद्या जीव पर आधारित नहीं होकर स्वयं शुद्ध चैतन्य पर आधारित है। यह अविद्या ही है जो शुद्ध आत्मा से सम्बन्धित तथा उस पर आधारित होने के कारण जीवों की

---

1. प्रो० हिरियन्ना-कृत नैष्कर्म्यसिद्धि के अपने संस्करण में देखिए।

प्रतीतियाँ एवं उनके आत्मपरक तथा विषयपरक अनुभवों को उत्पन्न करती है। इस अज्ञान का अनुभव अविद्या मात्र के रूप में सुषुप्ति में होता है, जब उसके समस्त परिणाम एवं प्रतीतियाँ उसके अन्दर ही संकुचित हो जाती हैं और उसकी अनुभूति स्वयं में शुद्ध अविद्या के रूप में होती है जो पुनः जागृतावस्था में अनुभवों की समस्त शृंखलाओं में अपने आपको प्रकट करता है। यह देखना आसान है कि शुद्ध चैतन्य के साथ अज्ञान के सम्बन्ध का यह दृष्टिकोण मण्डन द्वारा उपदिष्ट विज्ञानवाद से भिन्न है जैसा कि पूर्व विभाग में बताया गया है। यह आपत्ति उठाई जाती है कि यदि अहं भी तथाकथित बाह्य विषयों के समान अज्ञान की बाह्य उत्पत्ति है तो अहं की प्रतीति अन्य बाह्य अथवा आन्तरिक विषयों के समान (यथा सुख, दुःख आदि) ज्ञाता के रूप में नहीं बल्कि ज्ञेय के रूप में होनी चाहिए। सुरेश्वर इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं कि जब अन्तःकरण अथवा मनस् बाह्य विषयों के आकार में विकृत होते हैं तब उसे आत्मपरकत्व देने के लिए वस्तुपरक अनुभवों को आत्मपरक विशिष्ट केन्द्रों के साथ सम्बद्ध करने के लिए अहंकार का तत्त्व उत्पन्न होता है। अहंकार के तत्त्व के शुद्ध चैतन्य के साथ अपरोक्ष और घनिष्ट रूप से सम्बन्धित होने के कारण स्वयं ज्ञाता के रूप में वह अवभासित होता है और अहंकार की विषयात्मकता का भास नहीं होता जिस प्रकार जलती हुई लकड़ी में आग एवं जलने वाले विषय को अलग नहीं किया जा सकता। अहंकार के तत्त्व में अज्ञानोत्पत्ति द्वारा जब शुद्ध चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है केवल तभी आत्मपरकता का प्रत्यय इस पर लागू होता है और इसके साथ जो कुछ सम्बद्ध होता है वह 'यह' विषय के रूप में अनुभूत होता है यद्यपि वस्तुतः अहंकार भी उतना ही विषय है जितने स्वयं विषय हैं। तथापि सम्पूर्ण मिथ्यानुभव ब्रह्मानुभूति में नष्ट होता है जब एकत्व के वेदान्ती अंशों की अनुभूति होती है। नैष्कर्म्यसिद्धि के तृतीय अध्याय में अन्य तीन अध्यायों के मुख्य विचारों की संक्षेपावृत्ति की गई है। वार्त्तिक में सुरेश्वर और अधिक विस्तृत विधि से उन्हीं समस्याओं की विवेचना करते हैं, परन्तु इन विस्तृत विवरणों में पड़ना हमारे वर्तमान उद्देश्यों के लिए उपयोगी नहीं है।

पद्मपाद (८20 ई० प०)

सब लोग पद्मपाद को शंकराचार्य का प्रत्यक्ष शिष्य मानते हैं और चूँकि शंकराचार्य को अभिवादन करने का स्वयं उनका तरीका इस परम्परा को परिपुष्ट करता है तथा ऐसे कोई तथ्य ज्ञात नहीं हैं जो इस प्रकार के दृष्टिकोण का प्रतिवाद नहीं कर सकते हैं अतः यह निस्सन्देह माना जा सकता है कि वे शंकराचार्य के कनिष्ठतर समकालीन थे। उनके सम्बन्ध में और शंकराचार्य के साथ उनके सम्बन्धों के बारे में कई पारस्परिक कथाएँ हैं, परन्तु चूँकि उनके सत्य का प्रमाणीकरण किसी विश्वसनीय साक्ष्य द्वारा नहीं किया जा सकता अतः उन पर निर्णय देना सम्भव नहीं है। उनके ग्रन्थ केवल दो हैं यथा पंचपादिका जो ब्रह्मसूत्र के प्रथम चार सूत्रों पर शांकर-भाष्य पर भाष्य हैं और अध्याय तथा सम्भावना भाष्य नामक शांकर भाष्य की भूमिका और आत्म-बोध-व्याख्यान जिसे वेदान्त-सार कहते हैं। यह पंचपादिका हमें ज्ञात वेदान्ती ग्रन्थों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। प्रकाशात्मन् ने (1200 ई० प०) अपने पंच-पादिका-विवरण में इस पर

टीका लिखी ।[1] आनन्दगिरि के शिष्य अखण्डानन्द (1350 ई० प०) ने अपने तत्त्वदीपन में पंचपादिका-विवरण पर एक और भाष्य लिखा। श्रीहर्ष कृत खण्डन-खण्ड-खाद्य पर विद्या-सागरी नामक भाष्य लिखा तथा लेखक आनन्दपूर्ण (1600 ई० प०) ने पंचपादिका पर भाष्य लिखा।[2] नृसिंहाश्रम ने भी पंच-पादिका विवरण-प्रकाशिका नामक पंचपादिका विवरण पर एक भाष्य लिखा एवं श्री कृष्ण ने भी पंचपादिका विवरण लिखा। आॅफ्रेच्ट अमलानन्द के एक अन्य भाष्य पंच-पादिका-शास्त्र-दर्पण का उल्लेख करते हैं; परन्तु उसके शास्त्र दर्पण के लिए वह निःसन्देह भ्रान्तियुक्त है। अमलानन्द वाचस्पति के सिद्धान्त के अनुगामी थे। पद्मपाद एवं प्रकाशात्मन् के नहीं। शांकर भाष्य पर रत्नप्रभा टीका के लेखक गोविन्दानन्द के शिष्य रामानन्द सरस्वती ने शांकर भाष्य पर टीका के रूप में अपना विवरणोपन्यास (विवरण के मुख्य सिद्धान्त का संक्षेपण) लिखा; परन्तु यह सर्वथा पंचपादिका-विवरण के सिद्धान्त पर था यद्यपि यह उस पर प्रत्यक्ष भाष्य नहीं था। विद्यारण्य ने भी विवरण प्रमेय संग्रह नामक एक अलग निबन्ध लिखा जिसमें उन्होंने वेदान्ती विचार-धारा की व्याख्या पंचपादिका-विवरण के सिद्धान्त पर की। इन सब में से रामानन्द सरस्वती कृत विवरणोपन्यास सम्भवतः विवरण सिद्धान्त पर अन्तिम महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ था; क्योंकि शिवराम के शिष्यानुशिष्य गोपाल सरस्वती के शिष्य रामानन्द के आचार्य गोविन्दानन्द अपनी रत्नप्रभा टीका में जगन्नाथाश्रम-कृत भाष्य-दीपिका नामक शांकर भाष्य पर टीका का एवं आनन्दगिरि कृत भाष्य का भी 'वृद्धाः'; पृष्ठ 5 (निर्णय सागर प्रेस 1904) इस उल्लेख के रूप में प्रसंग देते हैं। जगन्नाथाश्रम नृसिंहाश्रम के आचार्य थे; अतः गोविन्दानन्द सोलहवें शतक के अन्त तक रहे होंगे। अतः रामानन्द सत्रहवें शतक के पूर्व भाग में रह सकते हैं। स्वयं गोविन्दानन्द ने भी अपनी रत्नप्रभा टीका में विवरण व्याख्या-सिद्धान्त का अनुसरण किया और वे प्रकाशात्मन् का महान् आदर के साथ प्रकाशात्म श्री–चरणैः के रूप में संकेत करते हैं (रत्नप्रभा, पृष्ठ 3)।

पद्मपाद कृत निरूपण-विधि, जैसी कि प्रकाशात्मन् ने व्याख्या की है, वेदान्त की विवेचना के निर्देशक के रूप में वर्तमान ग्रन्थ के प्रथम एवं द्वितीय खण्ड में ली गई हैं। अतः इन दो महान् आचार्यों की वेदान्ती विचारधाराओं के बारे में अलग विभागों में और अधिक कहना आवश्यक नहीं है। परन्तु फिर भी पद्मपाद दर्शन के बारे में दो शब्द अलग कहना लाभदायक ही होगा। पद्मपाद की मान्यता है कि माया, अव्याकृत, प्रकृति, अग्रहण, अव्यक्त तमः, कारण, लय, शक्ति, महासुप्ति, निद्रा, क्षर और आकाश के पद हैं जो अविद्या के पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्राचीन साहित्य में प्रयुक्त किये गये हैं। यह

---

1. प्रकाशात्मन् ने शांकरभाष्य का एक छन्दोबद्ध संक्षेप तथा शब्द निर्णय नामके ग्रन्थ भी लिखा जिसमें उन्होंने शास्त्रीय शब्द के प्रमा के रूप में अधिकारों को सिद्ध करने का प्रयत्न किया।
2. जैसाकि श्री तेलंग, महा-विद्या-विडम्बन पर लिखित अपनी भूमिका में यह बताते हैं कि आनन्दपूर्ण शंकर मिश्र के बाद रहे (1529 ई० प०) जैसाकि उनके खण्डन-खण्ड-खाद्य पृ० 586 (चौखम्बा) के अंश के पाठ की आलोचना से स्पष्ट है।

वह तत्त्व है जो शुद्ध और स्वतन्त्र स्वतः प्रकाश्य ब्रह्म के स्वरूप में बाधा डालता है और इस प्रकार अविद्या, कर्म एवं पूर्व-प्रज्ञा संस्कारों की चित्र-भित्ति के रूप में खड़े हुए जीवत्वापादिका को उत्पन्न करते हैं। ईश्वर के साथ आश्रय के रूप में अपने विशिष्ट परिणामों को भोगते हुए वह विज्ञान एवं क्रिया की दो आश्रय शक्तियों के रूप में अपने आपको प्रकट करती हैं और सर्व-कर्म-कर्त्ता तथा सर्वानुभवभोक्ता के रूप में कार्य करती है। शुद्ध, अविकारी, ब्रह्मप्रकाश से सम्बद्ध वह इन परिणामों की ग्रन्थि है जो अहंकार के रूप में प्रतीत होता है। इसी अहंकार के साथ सम्बन्ध द्वारा आत्मा मिथ्या रूप से अनुभवों का भोक्ता समझा जाता है। यह परिणाम अपनी ज्ञानात्मा क्रिया के अर्थ में अन्तःकरण, मनस्, बुद्धि और अहंकार अथवा अहं-प्रत्यायन कहलाता है जबकि स्पन्द-शक्ति के अर्थ में यह प्राण कहलाती है। अहंकार का शुद्ध आत्मा के साथ सम्बन्ध जपापुष्प की रक्तता का शीशे के साथ सम्बन्ध की तरह एक ग्रन्थि जो अविद्या-उत्पादन-क्रिया के दो लक्षणों को तथा शुद्ध आत्मा के चैतन्य को प्रकट करती है।

इस प्रश्न पर कि अविद्या का आश्रय एवं विषय ब्रह्म है या नहीं, स्वयं पद्मपाद का विचार अधिक स्पष्ट प्रतीत नहीं होता। वे केवल यही कहते हैं कि अविद्या स्वतः प्रकाश रूप ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप में बाधा डालकर अपने आपको जीव में प्रकट करती है और ब्रह्म अपने अनुच्छेद से अनादि अविद्या द्वारा अनन्त जीवों के अवभास का कारण है। परन्तु प्रकाशात्मन् एक लम्बे विवाद का प्रारम्भ कहते हैं और यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि ब्रह्म अविद्या का आश्रय एवं विषय दोनों है। यह सिद्धान्त वाचस्पति मिश्र के उस दृष्टिकोण के विरुद्ध है जहाँ उन्होंने अविद्या का विषय ब्रह्म को एवं आश्रय जीव को माना है। इस प्रकार विवरण पक्ष की व्याख्या और वाचस्पति पक्ष की व्याख्या में मूलभूत अन्तर इसी बात पर है। इस बात पर प्रकाशात्मन् का सुरेश्वर एवं उनके शिष्य सर्वज्ञात्मन् से मतैक्य है यद्यपि जैसा कि विचारणीय है, सर्वज्ञात्मन् कई अच्छे विभेन बताते हैं, जिनका सुरेश्वर को पता नहीं है।

पद्मपाद मिथ्या के दो अर्थों में भेद स्थापित करते हैं यथा अपह्नव-वचन और अनिर्वचनीयता-वचन। सम्भवतः समस्त भाष्कारों में ये प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने अज्ञान अथवा अविद्या को जड़ात्मिका तथा अजड़ात्मिका-अविद्या-शक्ति कहकर वर्णन किया और शंकर की मुहावरेदार शक्ति मिथ्या-ज्ञान-निमित्त की व्याख्या इस अर्थ में की कि यह वही अज्ञान की जड़ात्मिका शक्ति है जो जगत् प्रपंच के उपादान कारण का सारभूत अंश है। फिर भी, प्रकाशात्मन् अविद्या को भावरूप मानने के मत के पक्ष में प्रमाण देने का प्रयत्न करते हैं तथा उसकी विस्तृत विवेचना करते हैं। ये प्रमाण बार-बार कई अन्य परवर्त्ती लेखकों ने दिये हैं तथा वर्तमान ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में इनका वर्णन किया जा चुका है। पद्मपाद भी सम्भवतः प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने वेदान्ती-प्रत्यक्ष की प्रक्रिया की व्याख्या करने का प्रयास किया है। आगे चलकर इसकी विस्तृत व्याख्या प्रकाशात्मन् ने की और सोलहवें शतक में धर्मराज अध्वरीन्द्र कृत वेदान्त परिभाषा के प्रतिपादन की व्याख्या करते हुए उनके विचार एकत्रित तथा व्यवस्थित किये गये। इस प्रक्रिया का वर्णन करते हुए, पद्मपाद का कथन अहंकार की ज्ञानात्मक क्रिया के फलस्वरूप वे विषय उससे जुड़ जाते हैं जिनके साथ उसका सम्बन्ध है, जिसके परिणामस्वरूप उसमें कई परिवर्तन होते हैं और

ये वे ही परिवर्तन हैं जो ज्ञान के ज्ञाता-ज्ञेय-सम्बन्ध का निर्माण करते हैं। अन्तःकरण शुद्ध चैतन्य की सीमित अभिव्यक्ति का पथ प्रदर्शन उसी सीमा तक कर सकता है जितना उस विषय के साथ उसका सम्बन्ध है। विषयों के अपरोक्ष प्रत्यक्ष अनुभव का अर्थ अन्तःकरण की परिवर्तनशील अवस्थाओं द्वारा शुद्ध चैतन्य की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार अहंकार अपने अन्तर्निहित चैतन्य के साथ सम्बन्ध द्वारा प्रमाता बनता है। किन्तु प्रकाशात्मन् यह मानकर इसका विस्तृत निरूपण करते हैं कि अन्तःकरण बाहर विषयात्मक शून्य स्थान की ओर जाता है और प्रत्यक्षीकृत विषय के स्थानसम्बन्धी आकार को ग्रहण करता है। अतः पद्मपाद ने जिसे अन्तःकरण का विषयों के साथ परिवर्तनशील सम्बन्ध द्वारा अन्तःकरण की अवस्थाओं में विकार माना था इसकी व्याख्या अन्तःकरण के विषयों पर स्थान सम्बन्धी अध्यारोपण के रूप में निश्चित अर्थ देते हुए की है तथापि अनुमान में अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता क्योंकि यह लिंग सम्बन्ध द्वारा मध्यस्थित होता है। ज्ञान का अर्थ परोक्ष एवं अपरोक्ष दोनों है; क्योंकि अर्थ-प्रकाश के रूप में इसकी परिभाषा दी गई है।

ब्रह्म के कारणत्व के विषय पर पद्मपाद कहते हैं कि जिस ब्रह्म पर जगत् प्रपंच की अभिव्यक्ति होती है वह जगत् का कारण है। इस विषय पर प्रकाशात्मन् तीन विकल्प प्रस्तुत करते हैं, यथा (1) रज्जु में गुथे हुए दो धागों की तरह माया एवं ब्रह्म संयुक्त रूप से जगत् के कारण हैं (2) माया जिसकी शक्ति के रूप में है वह कारण है। (3) माया का आश्रय ब्रह्म जगत् का कारण है, परन्तु उपर्युक्त सब में परम कारण तो ब्रह्म को ही माना गया है क्योंकि माया उस पर आधारित है। ब्रह्म सर्वज्ञ इस अर्थ में है कि जो कुछ इससे सम्बन्धित है उसको वह प्रकट करता है और वह ब्रह्म ही है जो माया के द्वारा दृश्य जगत् के रूप में प्रतीत होता है। वर्तमान ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में विवेचित अवच्छेद्वाद और प्रतिबिम्बवाद के सिद्धान्त कम से कम पद्मपाद कृत पंचपादिका के समान प्राचीन हैं और पद्मपाद तथा प्रकाशात्मन् जीव को ब्रह्म का केवल प्रतिबिम्बित आकार मानने वाले प्रतिबिम्बवाद के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए प्रतीत होते हैं।[1]

वाचस्पति मिश्र (840 ई० प०)

शांकर-भाष्य पर भामती नामक टीका के यशस्वी लेखक वाचस्पति मिश्र, मंडन-कृत ब्रह्म-सिद्धि पर तत्त्व समीक्षा नामक भाष्य के लेखक हैं; उन्होंने सांख्य-कारिका, विधि-विवेक, न्याय-वार्तिक के भी भाष्य लिखे एवं वे कई अन्य ग्रन्थों के भी लेखक थे। आपने न्याय-सूची निबन्ध में वह अपना काल 898 (वस्वंक वस्सु वत्सरे)

---

1. प्रथम खण्ड पृष्ठ 475, 476 देखिए। ये दोनों सिद्धान्त संभवतः नवम शतक में बीज रूप में वर्तमान थे। परन्तु शनैः शनैः इनकी ओर अधिकाधिक ध्यान दिया गया। अप्पय दीक्षित इन दोनों के सिद्धान्तों का संक्षेपण परिमल पृष्ठ 335-343 श्री वाणी-विलास प्रेस, श्री रंगम्, इनमें से एक भी मत को न तो स्वयं इन्होंने और न वाचस्पति ने स्वीकार किया है।

सूचित करते हैं जो अवश्य ही विक्रम सम्वत् के रूप में समझा जाना चाहिए जिसके परिणामस्वरूप उनका काल 842 ई० प० आसानी से माना जा सकता है। अपने भामती-भाष्य में वे मार्तण्ड-तिलक-स्वामी का अभिवादन करते हैं जो उनके आचार्य की ओर संकेत माना जाता है। परन्तु अमलानन्द उस पर टीका करते हुए ठीक ही संकेत करते हैं कि यह शब्द किसी के कर्मफल के कारण पूजित एवं देवों के दो नाम-मार्तण्ड एवं तिलक स्वामिन् का संयोग है। तिलक स्वामिन् का उल्लेख याज्ञवल्क्य 1.294 में देवता के रूप में किया गया है एवं मिताक्षरा देव कार्त्तिकेय अथवा स्कन्द के नाम के रूप में व्याख्या करते हैं। तथापि उदयन वाचस्पति-कृत तात्पर्य-टीका पर अपनी न्याय-वार्त्तिक-तात्पर्य-परिशुद्धि (पृष्ठ 9) में वाचस्पति के आचार्य के रूप में त्रिलोचन का उल्लेख करते हैं एवं वर्धमान अपनी न्याय-निबन्ध-प्रकाश नामक टीका में इसकी पुष्टि करते हैं : स्वयं वाचस्पति भी त्रिलोचन गुरु का उल्लेख करते हैं जिनका उन्होंने व्यवसाय (न्याय-सूत्र 1.1.4) शब्द की व्याख्या सविकल्प ज्ञान के अर्थ में करने में अनुसरण किया।[1] फिर भी न्याय-कणिका (श्लोक 3) में वे न्याय मंजरी (संभवतः जयन्त) के लेखक का अपने विद्यागुरु के रूप में उल्लेख करते हैं।[2] वाचस्पति अपनी भामती-टीका के अन्त में कहते हैं कि उन्होंने उस ग्रन्थ को महान् नृप नृग के राज्य काल के समय लिखा। इस नृग का जैसाकि वर्तमान लेखक को ज्ञात है, ऐतिहासिक पता नहीं लगता। भामती वाचस्पतिकृत अन्तिम महान् कृति थी; क्योंकि पुष्पिका में भामती के अन्त में वे कहते हैं कि वे पहिले से ही अपनी न्याय-कणिका, तत्त्व-समीक्षा, तत्त्व बिन्दु एवं न्याय, सांख्य और योग पर लिख चुके थे।

वाचस्पति-कृत वेदान्ती ग्रन्थ भामती और तत्व समीक्षा (ब्रह्मसिद्धि) है। अन्तिम ग्रन्थ अभी तक मुद्रित नहीं हुआ है। उनके ग्रन्थ तत्त्व बिन्दु का उल्लेख करते हुए ऑफ्रेच्ट कहते हैं कि वह वेदान्त ग्रन्थ है। किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि इस ग्रन्थ में ध्वनि के स्फोट सिद्धान्त का वर्णन किया गया है एवं इसका वेदान्त से कोई सरोकार नहीं। वाचस्पति-कृत तत्त्व-समीक्षा की अनुपस्थिति में, जो अभी तक मुद्रित नहीं हुई है और जिसकी पाण्डुलिपियाँ अत्यन्त दुर्लभ हो गई हैं, वाचस्पति की वेदान्त विचार-धारा के विशिष्ट लक्षणों का पूर्णतया सन्तोषजनक वृत्तान्त देना कठिन है। परन्तु उनकी भामती-टीका एक महान् ग्रन्थ है और उससे उनकी विचारधाराओं के कुछ मुख्य लक्षण संकलित करना संभव है। जहाँ तक वाचस्पति-भाष्य की विधि का प्रश्न है वे सदैव अपने आपको पृष्ठभूमि में देख कर उसकी यथाशक्य यथातथ्य व्याख्या करने का प्रयत्न करते हैं। वे ग्रंथांश में से अपरोक्ष रूप से उत्पन्न होने वाली विषयसम्बन्धी महान् ज्ञान

---

1. त्रिलोचन-गुरून्नीतमार्गानुगमनोन्मुखैः
   यथा मानं यथा वस्तु व्याख्यातं इदमीदृशम् ॥
   —न्याय-वार्त्तिकतात्पर्य-टीका-पृष्ठ 87, बनारस 1898

2. अज्ञानतिमिरशमनी न्यायमंजरी रूचिराम्
   प्रसवित्रे प्रभवित्रे विद्या तरवे नमो गुरवे।

की उन समस्याओं के स्पष्टीकरण की ओर निर्देश करते हैं और मूल-पाठ में उल्लिखित अन्य विचार शाखाओं के विचार एवं आक्षेप, विचार-संदर्भ एवं प्रसंग का स्पष्टीकरण करते हैं। शांकर-भाष्य पर भामती भाष्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और इस पर कई महत्त्वपूर्ण उप-भाष्य थे। इनमें से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्राचीनतम अमलानन्द कृत (1247-1260 ई० प०) वेदान्त कल्पतरु है जिस पर अप्पय दीक्षित (लगभग 1600 ई० प०) ने वेदान्त कल्पतरु-पीरमल नामक अन्य भाष्य लिखा।[1] तर्क-दीपिका के लेखक, कौंड भट्ट के पुत्र एवं रंगोजी भट्ट के प्रपौत्र लक्ष्मीनृसिंह ने सत्रहवें शतक के अन्त में आभोग नामक भाष्य लिखा। आभोगभाष्य अधिकतर वेदान्त कल्पतरु-परिमल द्वारा प्रेरित है, यद्यपि बहुत सी अवस्थाओं में उसका उससे मतभेद है तथा उसकी आलोचना करता है। इनके अतिरिक्त भामती पर कई अन्य भाष्य भी लिखे गए हैं यथा भामती-तिलक, भामती-विलास, श्री रंगनाथ कृत भामती-व्याख्या तथा वैद्यनाथ पागुंड-कृत वेदान्त कल्पतरु-मंजरी नामक वेदान्त-कल्पतरु पर अन्य भाष्य।

वाचस्पति सत् एवं परम सत्ता की परिभाषा अपरोक्ष स्वप्रकाशता के रूप में देते हैं जो कदापि अबाधित नहीं होती। इस अर्थ में केवल शुद्ध आत्मा ही परम सत्ता कही जा सकती है। इस प्रकार वह निश्चित रूप से नैयायिकों को मान्य सत् के वर्ग-प्रत्यय के भाग-ग्रहण के रूप में परम सत्ता की परिभाषा का खंडन करते हैं अथवा अर्थ-क्रिया-कारित्व का जोकि बौद्धों की है। वे दो प्रकार का अज्ञान मानते हैं, यथा मनोवैज्ञानिक एवं मनस् के उपादान कारण के रूप में तथा मानव के आन्तरिक स्वरूप अथवा भौतिक बाह्य जगत् के रूप में। इस प्रकार शांकर भाष्य 1. 3. 30 पर अपनी टीका में वे कहते हैं कि महाप्रलय के समय अविद्या की समस्त उत्पत्तियां यथा अन्तःकरण स्वयं अपनी क्रियाएं करना बन्द कर देते हैं परन्तु उसके कारण उनका नाश नहीं होता; उस समय वे अपने मूल कारण अनिर्वचनीय अविद्या में विलीन हो जाते हैं और भ्रम के मिथ्या संस्कारों एवं मनोवैज्ञानिक वृत्तियों के साथ सूक्ष्म शक्ति रूप से उसमें रहते हैं। जब ईश्वर के संकल्प द्वारा चलित महाप्रलय की अवस्था का अन्त होता है तब वे कछुए के अंगों की तरह बाहर निकल आते हैं अथवा मेंढ़कों के शरीर की तरह जो सम्पूर्ण वर्ष तक निर्जीव एवं निश्चल अवस्था में रहते हैं तथा वर्षाकाल में पुनर्जीवित हो जाते हैं और तब, अपनी युक्त वृत्तियों और संस्कारों के कारण महाप्रलय के पूर्व पुरातन रूप में विशिष्ट नाम-रूप धारण कर लेते हैं। यद्यपि सम्पूर्ण सृष्टि की रचना ईश्वर के संकल्प द्वारा

---

1. अमलानन्द ने शास्त्र दर्पण नामक एक अन्य ग्रन्थ भी लिखा जिसमें ब्रह्मसूत्रों के विभिन्न अधिकरणों को लेकर इस विषय पर विभिन्न सूत्रों की व्याख्या पर बिना अधिक वादविवाद के सम्पूर्ण विषय का सादा एवं सरल सामान्य विवेचन करने का प्रयत्न किया तथापि ब्रह्मसूत्रों के अधिकरणों पर दिए गए इन सामान्य भाषणों द्वारा अमलानन्द की मौलिक विचारधारा व्यक्त नहीं होती थी, बल्कि वाचस्पति की व्याख्या पर आधारित थे जैसाकि स्वयं अमलानन्द शास्त्र दर्पण के द्वितीय श्लोक में स्वीकार करते हैं। (वाचस्पति-प्रतिबिम्बित आदर्श प्रारंभ विमलम्) श्री वाणी विलास प्रेस, 1913, श्री रंगम्, मद्रास)।

ही होती है फिर भी ईश्वर का संकल्प भी उसके द्वारा उत्पन्न संस्कार एवं कर्म की अवस्थाओं द्वारा निश्चित होता है। यह कथन सिद्ध करता है कि उनका अनिर्वाच्य स्वरूप वस्तुपरक तत्त्व के रूप में अविद्या में विश्वास था जिसमें सम्पूर्ण जगत् उत्पत्तियां महाप्रलय के समय विलीन हो जाती हैं एवं जिसके अन्दर से अन्त में वे पुनः प्रकट होती हैं और मनोवैज्ञानिक अविद्या एवं मिथ्या संस्कारों से सम्बद्ध होती हैं जो महाप्रलय के काल में उसके अन्दर विलीन हो गए थे। इस प्रकार वर्णित अविद्या का योग की प्रकृति से अधिक सादृश्य है जिसके अन्दर पंचविध अविद्या तथा उनके संस्कारों के साथ महाप्रलय-काल में सम्पूर्ण जगत्-उत्पत्तियाँ विलीन हो जाती हैं, जो सृष्टि के समय स्वयं अपनी युक्त बुद्धि से सयुक्त होती हैं। भामती के अर्चना-मंत्र में ही वाचस्पति अविद्या को द्वितीय बताते हुए कहते हैं कि सम्पूर्ण दृश्य जगत् की उत्पत्ति द्वितीय अविद्या के सहकारी कारण से संयुक्त ब्रह्म से होती है। इस गद्यांश की व्याख्या करते हुए अमलानन्द बताते हैं कि यह दो अविद्याओं से सबंधित है—एक अनादि भावरूपतत्त्व और अन्य पूर्वापूर्व अनादि भ्रम-संस्कार। इस प्रकार अविद्या का एक रूप तो वह है जो प्रतीतियों का उपादान कारण है; परन्तु प्रतीतियाँ वास्तव में प्रतीतियाँ नहीं होती यदि भ्रमात्मक रूप से उनका तादात्म्य अपरोक्ष चित्स्व-प्रकाशता के साथ नहीं होता। प्रत्येक जीव अपने अन्तःकरण एव मानसिक अनुभवों को स्वयं अपने में चित् के रूप में सम्भ्रमित एवं मिथ्या ग्रहण करता है और इसी प्रकार की भ्रमात्मक अव्यवस्था द्वारा ही ये मानसिक अवस्थाएं प्रतीतियों के रूप में सार्थक बनती हैं, क्योंकि इसके बिना इन प्रतीतियों की व्याख्या तक नहीं की जा सकती थी। परन्तु व्यक्ति का आगमन किस प्रकार होता है जबकि व्यक्ति का प्रत्यय स्वयं उसी परिभ्रान्ति की पूर्व धारणा करता है? वाचस्पति इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं कि व्यक्तित्व की प्रतीति पूर्व मिथ्या सम्भ्रान्ति के कारण होती है और वह अन्य पूर्व मिथ्या सम्भ्रान्ति के कारण होती है (तुलना कीजिए, मडन)। अतः प्रत्येक मिथ्या परिभ्रान्ति का कारण कोई पूर्व मिथ्या सम्भ्रान्ति होती है और उस पूर्व की कोई अन्य मिथ्या भ्रान्ति और इस प्रकार एक अनादि शृंखला है। केवल परि-भ्रान्ति की इस अनादि शृंखला के द्वारा ही सम्पूर्ण बाद में आने वाली सम्भ्रान्ति की अवस्थाओं की व्याख्या की जानी चाहिए। इस प्रकार, एक ओर अविद्या जीव में उसके आश्रय के रूप में क्रिया उत्पन्न करती है और दूसरी ओर ब्रह्म अथवा शुद्ध स्वतः प्रकाश्य चिदात्मा उसका विषय रूप है जिसको वह प्राच्छादित कर देता है और जिसके द्वारा वह अपनी मिथ्या प्रतीतियों को प्रकट करके उन्हें सत्ता का मिथ्या रूप देता है जिसके द्वारा सम्पूर्ण जगत् प्रतीतियाँ परम सत्ता का स्वरूप भासित होती हैं।[1] यह देखना सुलभ है कि यह दृष्टि-कोण सर्वज्ञात्ममुनि के संक्षेप शारीरक के दृष्टिकोण से किस प्रकार भिन्न है; क्योंकि सर्वज्ञात्ममुनि के मत में ब्रह्म अज्ञान का आश्रय एवं विषय है जिसका अर्थ यह होता है कि भ्रम जीव में नहीं रहता परन्तु उसकी स्थिति विषयातीत है। वह जीव इस प्रकार नहीं है, परन्तु प्रत्यक् चित् है जो उस प्रत्येक जीव द्वारा प्रकाशित होता है जिस पर आवरण आया हुआ है और विश्वातीत रूप से नाना रूपात्मक प्रतीतियों में भिन्न-भिन्न लगता है।

---

1. ऊपरी दृष्टिकोण में ही वाचस्पति का मंडन से मतभेद है जिसकी ब्रह्मसिद्धि पर उन्होंने अपनी तत्त्व समीक्षा लिखी।

तथापि वाचस्पति के मत में भ्रम मनोवैज्ञानिक है जिसके लिए जीव उत्तरदायी है और उसका कारण भ्रम अथवा परिभ्रान्ति की अनादि शृंखला है। जहाँ प्रत्येक अनुवर्ती भ्रमात्मक अनुभव की व्याख्या पूर्ववर्ती भ्रमात्मक अनुभव के प्रकार द्वारा होती है और वह पुनः किसी अन्य द्वारा एवं इससे ऊपर भ्रमात्मक अनुभव की सामग्री भी अनिर्वाच्य माया से व्युत्पन्न हुई है जो परम सत्य स्वतः प्रकाश्य सत् ब्रह्म के साथ अपने भ्रमात्मक प्रागभाव के कारण सत्य के रूप में भासित की जाती है। भ्रमात्मक प्रतीतियाँ, अपने इस रूप में, न तो सत् और न असत् ही कही जा सकती हैं; क्योंकि यद्यपि उनका व्यक्तिगत अस्तित्व प्रतीत होता है, फिर भी उनका अन्य अस्तित्वों द्वारा सदैव अभाव होता है और उनमें से किसी एक की भी उस प्रकार की सत्ता नहीं हैं जो संपूर्ण अभाव एवं पारस्परिक विरोध अथवा बोध की उपेक्षा करती है; और वह केवल इस प्रकार का अबाधित स्वतः प्रकाश्य है जिसे परम सत् कहा जा सकता है। जगत्-प्रतीतियों का मिथ्यात्व इस तथ्य में है कि उनका अभाव एवं बोध होता है; और फिर भी वे निरपेक्ष रूप से शश-शृंग की तरह असत् नहीं है क्योंकि यदि वे ऐसी होतीं तो उनका किंचित् मात्र भी अनुभव नहीं होता। अतः प्रतीतियों के अविद्या द्वारा उत्पन्न होने पर भी; जहाँ तक उनकी विकृत सत्ता को मानने का प्रश्न है, उनका अन्तर्निहित आधार ब्रह्म है और इसी कारण ब्रह्म को जगत् का परम कारण माना जाएगा। ज्योंही इस ब्रह्म की अनुभूति होती है, प्रतीतियां नष्ट हो जाती हैं; क्योंकि सम्पूर्ण प्रतीतियों का मूल उनकी परम सत्ता ब्रह्म के साथ भ्रमात्मक परिभ्रान्ति है। शांकर-भाष्य 2.2.28 पर भामती भाष्य में वाचस्पति यह बताते हैं कि शांकर वेदान्त के अनुसार ज्ञान के विषय स्वयं स्वरूपतः अनिर्वचनीय हैं और न कि मानसिक प्रत्यय मात्र (न हि ब्रह्मवादिनो नीलाद्याकारां वृत्तिम् अभ्युपगच्छन्ति किन्तु अनिर्वचनीयं नीलादि) अतः बाह्य विषय पूर्वतः प्रत्यक्षकर्त्ता के बाहर विद्यमान हैं, केवल उनका स्वरूप और उपादान, अनिर्वचनीय और युक्तिहीन है। अतः हमारे प्रत्यक्षीकरणों का सम्बन्ध उनके ऐसे विषयों से है जो उनके उत्तेजक अथवा उत्पादक हैं और उनका स्वरूप बाह्य विषयों की सहायता के बिना अन्दर से उत्पन्न शुद्ध संवेदनाएं अथवा प्रत्यय नहीं हैं।

सर्वज्ञात्म मुनि (900 ई० प०)

सर्वज्ञात्म मुनि शंकर के शिष्य सुरेश्वराचार्य के शिष्य थे जिनका वे अपने ग्रन्थ संक्षेप-शारीरक के प्रारम्भ में सुरेश्वर में सुर शब्द का पर्यायवाची शब्द होने के कारण देवेश्वर नाम द्वारा अभिनन्दन करते हैं। देवेश्वर का सुरेश्वर के साथ ऐक्य संक्षेप शारीरक के भाष्यकार रामतीर्थ ने किया है और इस ऐक्य का मतभेद कोई ऐसी अन्य बात से नहीं है जो सर्वज्ञात्म मुनि के बारे में या तो उसके ग्रन्थांशों द्वारा अथवा उसके अन्य सामान्य उल्लेखों द्वारा ज्ञात होती है। यह कहा जाता है कि उसका अन्य नाम नित्यबोधाचार्य था। सुरेश्वर अथवा सर्वज्ञात्म का ठीक-ठीक काल निश्चित रूप से निर्धारित नहीं किया जा सकता। श्री पंडित गौड़वहो की अपनी भूमिका में यह विचार व्यक्त करते हैं कि चूँकि भवभूति कुमारिल के शिष्य थे अतः कुमारिल सप्तम शतक के मध्य में रहे होंगे और चूँकि शंकर कुमारिल के समकालिक थे (शंकर-दिग्विजय के साक्ष्य पर) अतः वह या तो सप्तम शतक में या अष्टम शतक के पूर्वार्द्ध में रहे होंगे। वर्तमान ग्रन्थ के प्रथम खंड में शंकर का काल 780-820 ई० प० के मध्य माना गया। श्री पंडित द्वारा दी गई

युक्तियों में कोई नई बात विचारणीय नहीं है। भवभूति को कुमारिल का शिष्य मानने का उसका सिद्धान्त दो पांडुलिपियों के साक्ष्य पर आधारित है। जहाँ मालती-माधव के अंक के अन्त में यह कहा जाता है कि वह ग्रन्थ कुमारिल के शिष्य द्वारा लिखा गया था, यह साक्ष्य, जैसाकि मैंने अन्यत्र कहा है, अनुचित है। शंकर को कुमारिल का समकालीन मानने वाली परम्परा में केवल शंकर दिग्विजय के साक्ष्य पर आधारित होने के कारण गम्भीरतापूर्वक विश्वास नहीं किया जा सकता। जो कुछ कहा जा सकता है वह यह है कि संभवतः कुमारिल शंकर के बहुत पूर्व नहीं रहे, यदि कोई इसका अनुमान इस तथ्य से लगाए कि शंकर कुमारिल का कोई उल्लेख नहीं करते। अतः इस परम्परागत मान्य दृष्टिकोण को छोड़ देने में कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि शंकर का जन्म संवत् 844 अथवा ई० प० 788 अथवा कलियुग 3889 में हुआ।[1] शंकर का मृत्यु काल लगभग 820 ई० प० समझते हुए और इस बात की ओर ध्यान देते हुए कि सर्वज्ञात्मन् के आचार्य सुरेश्वर ने अपने उच्च धर्माध्यक्षीय पद को दीर्घ काल तक अधिकार में रखा, यह धारणा कि सर्वज्ञात्मन 900 ई० प० में रहें, अधिक अनुचित नहीं। तथापि इसका इस तथ्य के साथ कोई संघर्ष नहीं है कि 842 ई० प० में वाचस्पति ने न्याय-सूची-निबन्ध नामक अपना पूर्वतर ग्रन्थ लिखा और मंडन-कृत ब्रह्मसिद्धि पर भी अपना भाष्य लिखा जबकि सुरेश्वर धर्माध्यक्षीय पद को धारण किये हुए थे।

इस प्रकार, सर्वज्ञात्म मुनि संभवतः वाचस्पति मिश्र के कनिष्ठ समकालीन थे। अपने संक्षेप-शारीरक में वे शंकर द्वारा स्पष्टीकृत वेदान्त-दर्शन की मूलभूत समस्याओं का वर्णन करने का प्रयत्न करते हैं। यह एक ही उनका ग्रन्थ संभवतः हमें ज्ञात है जो विभिन्न छन्दों के श्लोकों में लिखे गए चार अध्यायों में विभाजित है। इसके प्रथम अध्याय में 563 श्लोक, द्वितीय अध्याय में 248, तृतीय अध्याय में 248, और चतुर्थ अध्याय में 63 श्लोक हैं। ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में उनकी धारणा है कि शुद्ध ब्रह्म अज्ञान के द्वारा समस्त-वस्तुओं का परम कारण है। चिदात्मा पर आश्रित एवं उसके विषय के रूप में उस पर क्रिया करने वाला अज्ञान उसके यथार्थ स्वरूप को आच्छादित करके भ्रमात्मक प्रतीतियों का विक्षेप करता है तथा उसके द्वारा ईश्वर, जीव और जगत् की त्रिविध प्रतीतियाँ उत्पन्न करता है। अज्ञान की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और उसके प्रभाव केवल चिदात्मा के द्वारा ही उसके आश्रय एवं विषय के रूप में दिखाई देते हैं तथा उसकी सम्पूर्ण सृष्टि मिथ्या है। सुषुप्ति अवस्था में चिदात्मा किंचित् मात्र भी शोक से अस्पृष्ट तथा चिदानन्द और चित्सुख के स्वरूप में अपरोक्ष रूप से प्रत्यक्षीकृत होता है और चिदानन्द की परिभाषा परम लक्ष्य एवं किसी भी परिस्थिति में किसी वस्तु के असाधन के रूप में ही दी जा सकती है; चिदात्मा वही है जो किसी भी अन्य का साधन नहीं माना जा सकता; इसके अतिरिक्त यह सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति को सदैव अपनी आत्म प्राप्ति के परम विषय के रूप में अभीष्ट है जो उसे सर्वाधिक प्रिय है। ऐसा अनन्त प्रेय एवं परम लक्ष्य सीमित आत्मा नहीं हो सकता जिसका हमारे साधारण कार्यों के कर्त्ता के रूप में और जीवन की दैनिक क्रियाओं में भोक्ता के रूप में उल्लेख है। उपनिषद् के दृष्टाओं

1. आर्य विद्या सुधाकर, देखिए पृष्ठ 226–227।

की अपरोक्षानुभूति भी अनन्त एवं चिदानन्द के रूप में आत्मा के सत्य की पुष्टि करती है। दूसरी ओर भ्रमात्मक अध्यास विषय एवं विषयी की सीमित प्रतीतियाँ हैं जो केवल मिथ्या आरोपण की सम्भावना में योगदान करते हैं अतः वे वास्तविक नहीं हो सकते। जब ब्रह्म अज्ञान से संबद्ध होता है तब दो मिथ्या तत्त्व होते हैं यथा अज्ञान एवं अज्ञान से संबद्ध ब्रह्म; परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इन समस्त मिथ्या संबंधों में अन्तर्निहित ब्रह्म स्वयं मिथ्या है क्योंकि इसके कारण इस आलोचना को समर्थन प्राप्त होगा कि बौद्धों की तरह सब कुछ मिथ्या होने के कारण परम सत्य जैसा कोई तत्त्व ही नहीं है। यहाँ आधार एवं अधिष्ठान के बीच भेद का निर्देश किया गया है। समस्त प्रतीतियों में अन्तर्निहित चिदात्मा यथार्थ अधिष्ठान है जबकि मिथ्या अज्ञान द्वारा विकृत रूप में ब्रह्म मिथ्या आधार अथवा मिथ्या विषय है जिसके साथ प्रतीतियाँ अपरोक्ष रूप से सम्बन्धित हैं। समस्त भ्रमात्मक प्रतीतियों की अनुभूति इसी प्रकार होती है। इस प्रकार इस अनुभव में कि 'मैं यह रजत का टुकड़ा देखता हूँ" (शुक्ति की रजत के रूप में मिथ्या प्रतीति होने की अवस्था में) राजत लक्षण अथवा रजत की मिथ्या प्रतीति प्रत्यक्षकर्त्ता के समक्ष 'यह' तत्त्व के साथ रजत सम्बन्धित है और 'यह' तत्त्व मिथ्या विषय के रूप में अपनी पारी में 'यह रजत' के रूप में मिथ्या रजत से संबद्ध होता है। परन्तु, यद्यपि मिथ्या रजत की विषयपरकता प्रत्यक्ष कर्त्ता के समक्ष 'यह' के रूप में मिथ्या है, शुक्ति का वास्तविक विषय 'यह' मिथ्या नहीं है। यह उपर्युक्त प्रकार के मिथ्या प्रतीति के विषय पर एवं मिथ्या विषय का मिथ्या प्रतीति पर द्विविध आरोपण परस्पराध्यास कहलाता है। केवल मिथ्या विषय ही भ्रमात्मक प्रतीति में प्रतीत होता है एवं यथार्थ विषय अस्पष्ट रहता है। अन्तःकरण का पराभासी स्थिति के कारण कुछ सीमा तक चिदात्मा के साथ सादृश्य है और इस सादृश्य के कारण प्रायः इसे चिदात्मा समझा जाता है। यह कहा जा सकता है कि बिना भ्रमात्मक आरोपण के अन्तःकरण नहीं हो सकता अतः यह स्वयं भ्रम के स्वरूप की व्याख्या नहीं कर सकता। ऐसी आपत्ति का उत्तर यह है कि भ्रमात्मक आरोपण एवं उसके परिणाम अनादि हैं और ऐसा कोई विशिष्ट काल केन्द्र नहीं है जिसे उसका प्रारम्भ कहा जा सकता है। अतः यद्यपि वर्तमान भ्रम का प्रारम्भ अन्तःकरण के साथ हुआ है फिर भी स्वयं अन्तःकरण पूर्वारोपण का परिणाम है और वह पूर्वान्तःकरण का तथा इस प्रकार अनादि है। जिस प्रकार यद्यपि शुक्ति रजत भ्रम में शुक्ति के वस्तुतः विद्यमान होते हुए भी उसे भिन्न नहीं देखा जाता और जो कुछ विद्यमान प्रत्यक्षीकृत होता है वह असत्य रजत है, अतः यथार्थ ब्रह्म अधिष्ठान के रूप में विद्यमान है, यद्यपि प्रतीति काल में केवल जगत् का ही अस्तित्व प्रतीत होता है और ब्रह्म उससे अनुभूत नहीं होता। फिर भी यह इस अज्ञान का वास्तविक अस्तित्व नहीं है और अज्ञानियों के लिए ही यह विद्यमान है। ब्रह्म के यथार्थ ज्ञान के उदय होने पर ही इसका (अज्ञान का) निराकरण हो सकता है और उपनिषदों के शब्दों द्वारा ही इस यथार्थ ज्ञान का उदय हो सकता है; क्योंकि ब्रह्म के स्वरूप की अनुभूति करने का कोई अन्य साधन नहीं है। पुनः सत्य की परिभाषा प्रमाण द्वारा परीक्षणीय के रूप में नहीं दी गई है, बल्कि सत्य वह है जिसकी स्वतन्त्र एवं अपरोक्षानुभूति हो सकती है। अज्ञान की परिभाषा भावरूप कह कर दी गई है और इसके चिदात्मा ब्रह्म पर आश्रित होने पर भी, नवनीत-वह्नि-संपर्क के समान, वह भी कुछ विशिष्ट अवस्थाओं में स्पर्श होने पर द्रवीभूत हो जाता है। अज्ञान के भाव-रूप का मान जगत् के जड़त्व में

तथा हमारे अन्दर अविद्या के रूप में होता है। तथापि उपनिषदों के शब्द के अनुसार चिदात्मा वास्तविक अधिष्ठान कारण है और अज्ञान वह उपकरण अथवा साधन है जिसके द्वारा वह समस्त प्रतीतियों का कारण हो सकता है; परन्तु स्वयं अज्ञान किसी भी प्रकार से जगत् का उपादान कारण नहीं होने से सर्वज्ञात्मन् की यह निश्चित धारणा है कि अज्ञान से संबद्ध ब्रह्म अथवा दोनों एक साथ मिलकर जगत् का उपादान कारण नहीं कहे जा सकते। अज्ञान केवल गौण साधन है जिसके बिना प्रतीतियों का विकार सचमुच सम्भव नहीं है परन्तु उनसे अन्तर्निहित परम कारण में जिसका कोई सम्भाग नहीं है वह निश्चित रूप से इसका निषेध करते हैं कि ब्रह्म किसी अनुमान द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है जिसके फलस्वरूप ब्रह्म जगत्, जन्म, स्थिति एवं भग का कारण है क्योंकि ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान केवल शास्त्रीय वचनों द्वारा ही हो सकता है। इस बात का प्रदर्शन करने के लिए कि किस प्रकार उपनिषदों द्वारा परमतत्त्व ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति सम्भव हो सकती है, वे लम्बे पर्यालोचन में पड़ते हैं।

पुस्तक के द्वितीय अध्याय में मुख्यतया इन्हीं सिद्धान्तों की व्याख्या की गई है। उस अध्याय में सर्वज्ञात्म मुनि वेदान्त दर्शन का बौद्ध दर्शन से भेद प्रदर्शित करते हैं जो मुख्यतया इसी तथ्य में है कि भ्रम के सिद्धान्त के होते हुए भी वेदान्त ब्रह्म को ही परम सत्य मानता है जो बौद्धों को मान्य नहीं है। उनका यह भी कथन है कि किस प्रकार जाग्रदवस्था की तुलना स्वप्नों से की जा सकती है। तब वे यह बताने का प्रयत्न करते हैं कि जगत् प्रतीति की सत्यता न तो प्रत्यक्ष और न अन्य प्रमाणों द्वारा ही सिद्ध की जा सकती है और सांख्य दर्शन न्याय तथा अन्य दर्शनों की आलोचना करते हैं। ब्रह्म-अज्ञान संबंधी सिद्धान्त को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं अज्ञान का संबंध एक चिदात्मा तथा जीवों से नहीं होकर ब्रह्म के चित्प्रकाश से है जो जीवों के आधार एवं अधिष्ठान के रूप में प्रकाशित होता है; क्योंकि केवल इसी के सम्बन्ध में अज्ञान की प्रतीति होती है और उसका प्रत्यक्ष होता है। जब यथार्थ ज्ञान का उदय होने पर चिदात्मा अद्वितीय ब्रह्म की अनुभूति होती है तब अज्ञान का अनुभव नहीं होता। जीवों में अन्तर्निहित रूप में केवल ब्रह्म के प्रकाश में अज्ञान का प्रत्यक्ष होता है, जब कोई कहता है 'जो तुम कहते हो, वह मैं नहीं जानता'; अतः वह ब्रह्म न तो जीव है और न एक चित् है, परन्तु चित्प्रकाश है जैसा कि स्वयं अपने आपको प्रत्येक जीव द्वारा अभिव्यक्त करता है।[1] ब्रह्म का यथार्थ प्रकाश सदैव वहाँ है और मोक्ष का अर्थ अज्ञान के नाश के अतिरिक्त कुछ नहीं है। तृतीय अध्याय में सर्वज्ञात्म उन साधनों का वर्णन करते हैं जिनके द्वारा इस अज्ञान का नाश करना चाहिए और इस परिणाम तथा अन्तिम ब्रह्म ज्ञान के लिए अपने आपको तैयार करना चाहिए। अन्तिम अध्याय में वे मोक्ष के स्वरूप एवं ब्रह्मत्व की प्राप्ति का वर्णन करते हैं।

---

1. नाज्ञानमद्वयसमाश्रयमिष्टमेवम्
नाद्वैत-वस्तु-विषयं निशितेक्षणानाम्
नानन्द-नित्यविषयाश्रयमिष्टमेतत्
प्रत्यक्त्वमात्र-विषयाश्रयतानुभूतेः। —संक्षेप-शारीरक, ।। 211 8.2 ।

कई विख्यात लेखकों ने संक्षेप शारीरक पर भाष्य लिखे जिनमें से कोई अति प्राचीन प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार नृसिंहाश्रम ने तत्त्व बोधिनी, नामक टीका, राघवानन्द ने विद्यामृत-वर्षिणी नामक अन्य टीका, विश्वदेव ने एक अन्य सिद्धान्तदीप नामक भाष्य लिखा जिस पर कृष्णतीर्थ के शिष्य रामतीर्थ ने अपने भाष्य अन्वयार्थ प्रकाशिका को आधार बनाया। मधुसूदन सरस्वती ने भी संक्षेप शारीरक-सार-संग्रह नामक एक अन्य भाष्य लिखा।

आनन्दबोध यति

शांकर वेदान्त के सम्प्रदाय में आनन्द बोध एक महान् नाम है। संभवतः वे एकादश अथवा द्वादश शतक में रहे।[1] वाचस्पति कृत तत्त्व समीक्षा का वे उल्लेख करते हैं और चिदानन्द रूप में आत्मा के स्वरूप की व्याख्या करने वाले सर्वज्ञात्मन् के दर्शन का उनका नाम लिए बिना उल्लेख है। उन्होंने शांकर वेदान्त पर कम से कम तीन ग्रन्थ लिखे यथा न्याय-मकरन्द, न्याय दीपावली एवं प्रमाण माला. इनमें से चित्सुख एवं उनके शिष्य सुखप्रकाश ने न्याय-मकरन्द पर न्याय-मकरन्द-टीका एवं न्याय-मकरन्द-विवेचनी नामक भाष्य लिखे। सुखप्रकाश ने भी न्याय दीपावली पर न्याय-दीपावली-तात्पर्य-टीका नामक भाष्य लिखा। आनन्द ज्ञान के आचार्य अनुभूतिस्वरूप आचार्य (तेरहवें शतक के अन्त) ने भी आनन्द बोध के तीनों ग्रन्थों पर भाष्य लिखे। आनन्द बोध मौलिक योगदान का बहाना नहीं करते एवं कहते हैं कि उन्होंने अपनी सामग्री अन्य ग्रन्थों से इकट्ठी की जो उनके काल में विद्यमान थे।[2] वे अपना न्याय मकरन्द इसी प्रतिपाद्य विषय के साथ प्रारम्भ करते हैं कि विभिन्न जीवात्माओं का भासित भेद मिथ्या है क्योंकि यह सिद्धान्त केवल उपनिषदों को ही मान्य नहीं है बल्कि यह तर्क के आधार पर भी बुद्धिगम्य है कि जीवात्माओं के प्रतीत होने वाले नानात्व की व्याख्या नानात्व के काल्पनिक पुरुष भेद के आधार पर की जा सकती है, यद्यपि वस्तुतः आत्मा एक ही है। इस तथ्य पर तर्क करना कि काल्पनिक नानात्व की भ्रमात्मक मान्यता भी नानात्व की प्रतीतियों की व्याख्या कर सकती है, आनन्द बोध सांख्य कारिका के तर्क का खंडन करने का प्रयत्न करते हैं कि जीवात्माओं का नानात्व इस तथ्य से सिद्ध होता है कि कुछ लोगों के जन्म मृत्यु के साथ अन्य लोगों की जन्म मृत्यु नहीं होती। जीवात्माओं के नानात्व का अपने ही ढंग से खंडन करने के बाद वे विषयों के नानात्व का खंडन करते हैं। उनकी धारणा है कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा भेद का प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता क्योंकि भेद का प्रत्यक्ष विषय एवं उन सबसे भेद स्थापित करने वाली अन्य सब वस्तुओं के प्रत्यक्ष हुए बिना नहीं किया जा सकता। यह नहीं कहा जा सकता कि प्रथम विषय का प्रत्यक्ष होता है और तदनन्तर भेद। क्योंकि विषय के ज्ञान के साथ प्रत्यक्ष की स्वभावतः निवृत्ति हो जाएगी; और

---

1. श्री त्रिपाठी आनन्द ज्ञान-कृत तर्कसंग्रह की भूमिका में आनन्दबोध का काल 1200 ई० प० देते हैं।

2. नाना निबन्ध-कुसुम-प्रभवावदात-
न्यायापदेशमकरन्दकदम्ब एष। न्याय मकरन्द पृष्ठ—359।

ऐसा कोई ढंग नहीं है जिससे भेद की अवधारणा के लिए वह क्रिया कर सकता है; न यह माना जा सकता है कि भेद का बोध किसी भी प्रकार से इन्द्रिय प्रत्यक्ष के साथ होता है; न यह संभव है कि जब दो इन्द्रिय विषयों का प्रत्यक्ष दो विभिन्न कालों में होता है तो कोई अन्य तरीका भी हो सकता है जिसके द्वारा उनके भेद का प्रत्यक्ष संभव हो; क्योंकि दो इन्द्रिय-विषयों का प्रत्यक्ष एक ही काल में नहीं हो सकता। पुनः यह भी नहीं कहा जा सकता कि किसी भी इन्द्रिय विषय के प्रत्यक्ष के यथा नील के साथ समस्त अ-नील, पीत, श्वेत, रक्त इत्यादि अन्तर्निहित है क्योंकि उस अवस्था में किसी भी इन्द्रिय विषय के प्रत्यक्ष में जगत् के अन्य सब विषय अन्तर्निहित हैं। किसी तत्व के भेद के निषेध का अर्थ उसकी वास्तविक विध्यात्मकता से कुछ भी अधिक नहीं है। परन्तु यह धारणा सही नहीं है कि समस्त विध्यात्मक तत्व भेद स्वरूप हैं; क्योंकि यह सम्पूर्ण अनुभवों के विपरीत है। यदि भेद विध्यात्मक तत्वों के रूप में प्रत्यक्षीकृत होते हैं तो उन्हें समझने के लिए अन्य भेदों की आवश्यकता होगी एवं इस प्रकार अनवस्था प्रसंग का दोष उत्पन्न होगा। इसके अतिरिक्त भेद अपने स्वरूप में निषेधात्मक होने के कारण विध्यात्मक इन्द्रिय विषयों के रूप में प्रत्यक्षीकृत नहीं हो सकते। उद्देश्य अथवा विधेय के रूप में चाहे 'घट का स्तम्भ से भेद' अथवा 'घट स्तम्भ से भिन्न है' के रूप में दोनों अवस्थाओं में दोनों विषयों के बीच पूर्वतर एवं अधिक पुरातन भेद की अवधारणा है जिसके आधार पर भेद के तत्त्व की अनुभूति होती है।

तब आनन्द बोध न्याय मीमांसा और बौद्ध दर्शन द्वारा प्रतिपादित ख्याति के विभिन्न सिद्धान्तों की विवेचना करते हैं और अनिर्वचनीय ख्याति का समर्थन करते हैं :[1] इस संबंध में वे अपने मत को प्रस्तुत करते हैं कि अविद्या को जगत् प्रतीति के कारण के रूप में क्यों स्वीकार करना पड़ता है। वे बताते हैं कि जगत् प्रतीति की विविधता और नानात्व की उसके द्रव्यभूत कारण में विश्वास किए बिना व्याख्या नहीं की जा सकती। चूंकि जगत्-प्रतीति मिथ्या है अतः वह सत्य द्रव्य में से उत्पन्न नहीं हो सकती और न इसकी उत्पत्ति निरपेक्ष रूप से असत् और असत्य में से हो सकती है क्योंकि ऐसी वस्तु स्पष्टतया किसी का भी कारण नहीं हो सकती; अतः जगत् प्रतीति का कारण न तो सत् अथवा न असत् ही हों सकता है अतः इसका कारण ऐसा होना चाहिए जो न तो सत्य है और न असत्य, और न सत् तथा न असत् तत्त्व अविद्या है।[2]

आगे चलकर वे इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं कि आत्मा संविद् रूप है अर्थात् शुद्ध चैतन्य है। प्रथमतः वे इसका प्रतिपादन इस प्रकार करते हैं कि विज्ञप्ति अपने आपको प्रकट करने के साथ-साथ अपने विषयों को भी तत्काल प्रकट करती है और द्वितीय विज्ञप्ति विषय के विकारशील होते हुए भी एक अविकारी-चैतन्य है जो विषय के नहीं होने पर भी वैसा ही स्थायी रहता है। यदि केवल विज्ञप्तियों की शृंखलाएं उत्पन्न एवं समाप्त होती हैं और यदि प्रत्येक समय निरन्तर स्थाई रहने वाली विज्ञप्ति है तो किस प्रकार एक विज्ञप्ति तथा अन्य विज्ञप्ति में, नीले और पीले में भेद स्थापित किया जाय? अविद्या के सन्दर्भ

---

1. वर्तमान ग्रन्थ का प्रथम खंड अध्याय 10, पृष्ठ 485 देखिए।
2. न्याय-मकरन्द पृष्ठ 122, 123।

में वे इसके ब्रह्माश्रित होने के मत की पुष्टि करते हैं क्योंकि अविद्या का स्वरूप अनिर्वचनीय होने के कारण अर्थात् न अभाव और न भाव होने के कारण, इसे ब्रह्माश्रित मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त केवल अविद्या-युक्त ब्रह्म ही सर्वज्ञ माना जा सकता है क्योंकि सब सापेक्ष वस्तुएं अविद्या स्वरूप हैं और सापेक्ष वस्तुओं के ज्ञान के बिना कोई सर्वज्ञता नहीं हो सकती। अपनी न्याय-दीपावली में भ्रमात्मक रजत के मिथ्यात्व के दृष्टान्त पर जगत् प्रतीति के मिथ्यात्व का वे अनुमान द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। उसके निरूपण की विधि न्यूनाधिक वही है जो निरूपण मधुसूदन सरस्वतीकृत अद्वैत-सिद्धि में अत्यंत अपर काल में है। उनकी प्रमाण माला में देखा जाय तो कुछ भी नई बात नहीं है। प्रायोगिक पच्चीस पृष्ठ का यह एक छोटा-सा ग्रन्थ है और इसमें न्याय मकरन्द की युक्तियों को कुछ भिन्न रूप में और भिन्न बल के साथ पहचाना जा सकता है। आनन्द बोध की सर्वाधिक युक्तियाँ वेदान्त सम्प्रदाय के बाद के लेखकों ने अपनाई। वेदान्त के मध्य सम्प्रदाय के व्यासतीर्थ ने खण्डन करने के लिए अपने न्यायामृत में बहुत से वेदान्त प्रमाण आनंदबोध एवं प्रकाशात्मन् से इकट्ठे किए और उनका खंडन मधुसूदन की महान् कृति अद्वैत-सिद्धि में किया गया तथा फिर जिनका खंडन रामतीर्थ कृत न्यायामृत-तरङ्गिणी में किया गया। इस विवाद के इतिहास का वर्णन वर्तमान ग्रन्थ के तृतीय खंड में किया जाएगा।

महा-विद्या एवं तार्किक युक्ति संगतता का विकास

नागार्जुन काल से ही बौद्धों ने तार्किक वाद-विवाद की नैयामिक विधि का सूत्रपात कर लिया था। परन्तु यह किसी भी प्रकार से बौद्धों तक ही सीमित नहीं थी। नैयायिकों ने भी इन विधियों को ग्रहण किया जैसा कि वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति, उदयन एवं अन्य लोगों के लेखों से सूदाहृत है। स्वयं शंकर ने बौद्ध, जैन, वैशेषिक एवं भारतीय दर्शन के अन्य मतों का खण्डन करने के लिए इसी विधि का उपयोग किया था। परन्तु यद्यपि इन लेखकों ने अधिकतर नागार्जुन के प्रमाणों की तार्किक विधि को अपनाया था फिर भी नागार्जुन के तार्किक प्रमाणों की विशुद्ध युक्तिसंगतता का विकास करने के लिए उन्होंने कुछ भी प्रयत्न नहीं किया। जैसे, पूर्णतः निश्चित युक्ति संगत कठोरता सहित परिभाषाओं को सूत्र-बद्ध करने का प्रयत्न करना और युक्ति संगतता और तर्क युक्त सूक्ष्मता पर अधिक बल के साथ आलोचनाएं करना जिनकी चरमावस्था उत्तरवर्त्ती न्याय लेखकों में जैसे रघुनाथ शिरोमणि, जगदीश भट्टाचार्य, मथुरानाथ भट्टाचार्य एवं गदाधर भट्टाचार्य में दिखायी थी। सामान्यतया यह विश्वास किया जाता है कि इस प्रकार के हानिकारक मानसिक परिश्रम करवाने वाली तार्किक युक्ति संगतता की विधियों को मिथिला के गंगेश उपाध्याय ने पूर्व त्रयोदश शतक में प्रथमतः प्रारम्भ किया। परन्तु सत्य यह प्रतीत होता है कि तार्किक युक्ति संगतता की विधि कुछ लेखकों में दशम एवं एकादश शतकों में धीरे-धीरे विकसित हो रही थी। इसका एक प्रख्यात उदाहरण एकादश शतक में कुलार्क पंडित द्वारा अनुमान के महा-विद्या प्रकार का सूत्रीकरण है। श्री हर्ष (1187–ई० प०) के पूर्व इस महाविद्या अनुमान का वस्तुतः कोई उल्लेख नहीं मिलता।[1] इस अनुमान के

---

1. गंधे गन्धान्तर-प्रसंजिका न च युक्तिरस्ति; तदस्तित्वे वा का नो हानिः; तस्याऽपि

उदाहरण चित्सुख आचार्य (1220 ई० प०) अमलानन्द, जिसे व्यासाश्रम भी कहते हैं, (1247 ई० प०), आनन्दज्ञान (1270 ई० प०), वेंकट (1369 ई० प०), शेष शर्ङ्गधर (1450 ई० प०) एवं अन्य लोगों के लेखों में उपलब्ध हैं।[1]

महा-विद्या अनुमान का सम्भवतः एकादश शतक में प्रारम्भ हुआ था और पन्द्रहवें शतक तक उनका उल्लेख अथवा खंडन होता रहा, यद्यपि यह आश्चर्य है कि उनका उल्लेख गंगेश अथवा उनके किसी भी समर्थक यथा रघुनाथ, जगदीश आदि ने केवलान्वीय अनुमान के स्वरूप के बारे में विचार करते हुए नहीं किया है।

सम्भवतः महाविद्या अनुमान का प्रारम्भ प्रथमतः कुलार्क पंडित ने अपने दशश्लोकी महा-विद्या-सूत्र में किया जिसमें सोलह विभिन्न प्रकार के महा-विद्या अनुमान की सोलह विभिन्न प्रकार की परिभाषाएं उल्लिखित हैं। यदि यह मान लिया जाए कि महा-विद्या अनुमान के संस्थापक कुलार्क पंडित एकादश शतक में रहे तो यह कहा जा सकता है कि वादीन्द्र के त्रयोदश शतक के प्रथम चतुर्थांश में इसका खंडन करने के पूर्व इस विषय पर कई लेखकों ने लिख डाला था। पूर्ववर्त्ती लेखकों द्वारा महाविद्या के समर्थन और खंडन में अपने महाविद्या-विडम्बन में दी गई युक्तियों का उल्लेख केवल वादीन्द्र ने ही नहीं किया बल्कि भुवनसुन्दर सूरि ने भी महाविद्या-विडम्बन पर लिखी अपनी टीका में महाविद्या पर अन्य आलोचकों का उल्लेख किया है। सम्प्रति महाविद्या पर पुरुषोत्तम वन एवं पूर्णप्रज्ञ द्वारा लिखित दो विभिन्न भाष्यों का शोध हुआ है। वेंकेट अपनी न्याय-परिशुद्धि में महाविद्या, मान-मनोहर एवं प्रमाण-मंजरी का उल्लेख करते हैं एवं श्री निवास न्याय परिशुद्धि पर अपनी टीका न्याय सार में वक्रानुमान का विवेचन करने वाले ग्रन्थों के रूप में उनका वर्णन करते हैं।[2] इससे स्पष्ट है कि एकादश शतक से षोडश शतक के

अस्माभिः खंडनीयत्वात्। श्री हर्ष-कृत खंडन-खंड-खाद्य पृष्ठ 1181, चौखम्बा संस्करण।

1. अथवा अयं घटः एतद्घटान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणान्यपदार्थत्वात् पटवद् इत्या-दिमहाविद्या-प्रयोगैरपि वेद्यत्व-सिद्धिरपि ऊहनीया-चित्सुख आचार्य कृत तत्त्व-प्रदीपिका, पृष्ठ 13 एवं पृष्ठ 304 भी। भाष्यकार प्रत्यंगरूप भगवान् कुलार्क पंडित का नाम से उल्लेख करते हैं एवं सर्वा महाविद्यास्तच्छाया वान्ये प्रयोगाः खंडनीया इति अमलानन्द-कृत वेदान्त कल्पतरु-पृष्ठ 304 (बनारस, 1895) सर्वास्वेव महाविद्यासु इत्यादि-आनन्दज्ञान-कृत तर्क संग्रह, पृष्ठ 22। वेंकट-कृत न्याय-परिशुद्धि भी, पृष्ठ 125, 126, 273,–276 आदि। सर्वार्थ सिद्धि संहित तत्त्व मुक्ता कलाप पृष्ठ 478, 485, 486-491। श्री म. र. तैलंग ने महाविद्या के समस्त उपरोक्त प्रसंगों को महा-विद्या-विडम्बन गायकवाड़ की ओरियंटल सिरीज़, बड़ौदा, 1920 पर लिखित अपनी भूमिका में एकत्रित किया है।

2. महा-विद्या-विडम्बन पर म. र. तैलंग द्वारा लिखित भूमिका देखिए।

मध्य चार अथवा पाँच शतकों तक विशिष्ट क्षेत्रों में महाविद्या अनुमान का समर्थन अथवा खंडन हुआ।

यह सुविज्ञात है कि कुमारिल भट्ट एवं उनके अनुयायियों जैसे महान् मीमांसकों ने ध्वनियों की नित्यता के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की जबकि न्याय-वैशेषिक के अनुयायी योगाचार्य ध्वनि को अनित्य मानते थे। महा-विद्या अनुमान के विशिष्ट प्रकार थे जिनका आविष्कार सम्भवतः कुलार्क पंडित ने मीमांसा द्वारा प्रस्तुत ध्वनियों की नित्यता संबंधी युक्तियों का खंडन करने के लिए एवं ध्वनियों की अनित्यता को सिद्ध करने के लिए किया था। यदि वक्रानुमान के ये प्रकार प्रामाणिक माने जाएँ तो अन्य सिद्धान्तों को सिद्ध अथवा असिद्ध करने के लिए उनका अन्य प्रकार का प्रयोग होगा। महा-विद्या अनुमानों का विशिष्ट लक्षण केवलान्वयी विधि द्वारा प्रतिपाद्य विषय को सिद्ध करने का प्रत्यन करना है। साधारणतया व्याप्ति का अर्थ साध्य सहित हेतु के अस्तित्व में और साध्य के अभाव में उसके अवृत्तित्व में है (साध्याभावात् अवृत्तित्वम्) परन्तु नैयायिकों द्वारा स्वीकृत केवलान्वयी अनुमान उन दिशाओं पर लागू होता है जहाँ साध्य इतना सार्वलौकिक होता है कि ऐसी कोई दशा नहीं है जहाँ इसका अभाव है और जिसके फलस्वरूप इसका कोई ऐसा हेतु नहीं हो सकता जिसकी इसके साथ व्याप्ति उसकी उन सब दिशाओं के अभाव द्वारा निर्धारित साध्य के अभाव के साथ हो सकती है और साध्य के भाव के साथ उसके अस्तित्व का निर्धारण हो सकता है। इस प्रकार इस वाक्य में 'प्रमेयत्व होने के कारण' यह अभिधेय है (इदम् अभिधेयम्), साध्य एवं हेतु, दोनों इतने सार्वभौम हैं कि ऐसी कोई दशा नहीं है जहाँ अभावात्मक उदाहरणों द्वारा उनकी व्याप्ति की परीक्षा की जा सकती है। महाविद्या अनुमान इसी प्रकार के केवलान्वयी अनुमान के प्रकार थे और इसके सोलह विभिन्न प्रभेदों को उनके साथ सम्बन्ध होने का लाभ था। उनके अनुमान केवलान्वयी प्रकार के होने के कारण और उनकी अवस्था में कोई अभावात्मक उदाहरण उपलब्ध नहीं होने के कारण, साध्य एवं हेतु की व्याप्ति की भूलें अथवा दोष बताकर उनकी आलोचना करना सुलभ नहीं था। ध्वनि के अनित्यत्व की अभिपुष्टि करने के लिए केवलान्वयी अनुमान की प्रायोगिकता की संभावना के हेतु कुलार्क ने सोलह विभिन्न विधियों द्वारा वाक्यों को सूत्रबद्ध करने का प्रयत्न किया ताकि केवलान्वयी को आधार मानकर इस प्रकार का अभिपुष्टीकरण किसी विषय के बारे में किया जा सके जिसके फलस्वरूप अन्य संभावित विकल्पों को नियम-विरुद्ध घोषित कर दिया जाए एवं ध्वनि का अनित्यत्व आवश्यक रूप से एकमात्र परिणाम के रूप में अनुगामी हो। अनुमान की यह परोक्ष उपगम्यता है जिसे महाविद्या के आलोचकों ने अनुमान के निकटवर्ती बताया है। इस प्रकार महाविद्या की परिभाषा अनुमान के उस प्रकार के रूप में की गई है जिसके द्वारा अन्वय-व्यतिरेक की संयुक्त विधि के द्वारा प्रमाणित किया जाने वाला अभीष्ट साध्य विशेष (अन्वय-व्यतिरेक-साध्य-विशेषं वादी-अभिमतं साधयति) और पक्षविशेष में एक विशिष्ट साध्य के अस्तित्व को आवश्यक पर्यवसान द्वारा केवलान्वयी ढंग पर पक्ष हेतु के भाव द्वारा प्रवर्तमान साध्यविशेष के रूप में (केवलान्वयिनि व्यापके प्रवर्तमानो हेतुः) सिद्ध किया जाता है (पक्षे व्यापक-प्रतीत्य-पर्यवसान-बलात्)। दूसरे शब्दों में एक हेतु जो किसी पक्ष में अचूक एवं अपृथक् रूप स्थित साध्य में है, इस बात को सिद्ध करता है कि उस पक्ष

में एवं उस ढंग से इस साध्य का नित्य अस्तित्व केवल उपकल्पना के अधीन संभव है; अर्थात् एक अन्य पक्ष में अन्य साध्य का अभिमत होना, जैसे, साध्य 'अनित्यत्व' 'शब्द' का ध्वनि पक्ष के साथ अभिमत जो, अन्वय एवं व्यतिरेक की प्रत्यक्ष विधि द्वारा सामान्य रूप से सिद्ध किया जा सकता है। महाविद्या-अनुमान के अनुकरण द्वारा ही यह समझ में आ सकता है। इस प्रकार यह कहा जाता है कि मेयत्व के कारण जैसे कि शब्द के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं के संपूर्ण नित्य एवं अनित्य गुणों के सम्बन्धों से विच्छिन्न आत्मा अनित्यत्व से संबंधित है (आत्मा शब्देतरानित्य-नित्य-व्यावृत्तित्वानधिकरणानित्यवृत्ति-धर्मवान् मेयत्वाद् घटवत्)। 'जीव' की उपाधि के द्वारा आत्मा का सम्बन्ध सम्पूर्ण उन गुणों से विच्छिन्न हो जाता है, जो शब्द के अतिरिक्त सम्पूर्ण अन्य नित्य एवं अनित्य विषयों के साथ सममोगी है, और जिसके फलस्वरूप शब्द के सम्बन्ध में एक प्रकार का अनित्य गुण ही उसमें रह जाता है क्योंकि उपाधि में वह पहले से ही असम्मिलित था जिसके कल्पना क्षेत्र में शब्द नहीं लिया गया था। चूंकि न्याय दर्शन के अनुसार कई सम्बन्ध भी गुण के रूप में निरूपित हैं अतः ऐसा आत्मा का शब्द से अनित्य सम्बन्ध अन्योन्यमाव समझा जा सकता है। अतः निर्विवाद रूप से नित्य स्वीकार की गई आत्मा का यदि ऐसा अनित्यगुण अथवा शब्द से सम्बन्व हो तो यह केवल एक अभ्युपगम के कारण हो सकता है; जैसे शब्द अनित्य है, परन्तु सारे अन्य अनित्य सम्बन्ध जो आत्मा के अन्य अनित्य विषयों के साथ हो सकते हैं और सारे नित्य सम्बन्ध जो उसके अन्य नित्य वस्तुओं से हो सकते हैं, एवं सारे अन्य ऐसे सम्बन्ध जो शब्द के अतिरिक्त सारे नित्य एवं अनित्य विषयों से हो सकते हैं वे सब अविचारणीय समझे जा चुके हैं। उन अपृथक् एवं अचूक अनित्य गुणों का सम्बन्ध शब्द से है जो आत्मा में किन्हीं निषेधात्मक उदाहरणों के अभाव में हो सकते हैं; परन्तु यदि उसमें शब्द के सम्बन्व का अनित्य गुण है, तो वह केवल एक अभिमत के कारण ही हो सकता है; वैसे शब्द स्वयं अनित्य है, क्योंकि निर्विवाद रूप से आत्मा नित्य है। अनुमान के इस परोक्ष चक्रक ढंग को ही महा-विद्या कहते हैं। महाविद्या के अभिमतों के सोलह प्रकारों के उदाहरण देकर उसका विस्तार करना व्यर्थ है, क्योंकि ये सम्पूर्ण अभिमत एक ही सिद्धान्त पर साधारण परि-वर्तनों के साथ व्यक्त किए गए हैं।

वादीन्द्र ने अपने महा-विद्या-विडम्बन ग्रन्थ में अनुमान के इन प्रकारों को मिथ्या बतलाकर खंडन किया है और यह ज्ञात नहीं है कि किसी अन्य ने वादीन्द्र की आलो-चनाओं का खंडन करके उन्हें पुनः पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न किया हो। वादीन्द्र अपने महा-विद्या-विडम्बन के प्रथम पाठ के अन्त में अपने को पुष्पिका में 'हर-किंकर न्यायाचार्य-परम-पंडित-भट्ट-वादीन्द्र' कह कर सम्बोधित करते हैं, और अपने ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक में योगीश्वर का अपने गुरु के रूप में उल्लेख करते हैं। तथापि 'हर-किंकर-न्यायाचार्य' के उपरोक्त विशेषण उसका यथार्थ नाम नहीं बताते। महाविद्या-विडम्बन की अपनी भूमिका में श्री तैलंग का कथन है कि उनके शिष्य भट्ट राघव भासर्वज्ञ-कृत न्याय-सार पर न्याय-सार-विचार नामक भाष्य में उनका उल्लेख महादेव नाम द्वारा करते हैं। अतः वादीन्द्र का यथार्थ नाम महादेव था और शेष विशेषण उनकी उपाधियाँ थीं। भट्ट राघव का कथन है कि वादीन्द्र के पिता का नाम सारंग था। भट्ट राघव स्वय अपना काल

शक सम्वत् में देते हैं। परन्तु उस वाक्य की दो विभिन्न रचनाएँ हो सकती हैं जो हमें दो विभिन्न काल देती हैं यथा 1252 ई० प० और 1352 ई० प०। परन्तु इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए कि वादीन्द्र देवगिरि के शासक राजा श्रीसिंह (जिन्हें सिंघनों भी कहा जाता है) 1210-1247 ई० प० के धार्मिक सलाहकार थे और यह कि संभवतः वह वेंकट (1267-1369 ई० प०) के पूर्व रहे जो उसके महा-विद्या विडम्बन का उल्लेख करता है। श्री तैलंग का कथन है कि भट्ट राघव का काल हमें 1252 ई० प० मानना पड़ेगा और वादीन्द्र के शिष्य होने के कारण उनके काल में से लगभग 27 वर्ष घटाए जा सकते हैं और वादीन्द्र का काल 1225 ई. प. निश्चित किया जा सकता है। श्री तैलंग का कथन है कि इस प्रकार का काल उसके राजा श्रीसिंह के धार्मिक सलाहकार होने के मत से मेल खाता है। वादीन्द्र उदयन (984 ई. प.) एवं शिवादित्य मिश्र (975-1025 ई. प.) का उल्लेख करता है। श्री तैलंग भी वादीन्द्र के दो अन्य ग्रन्थों यथा रस-सार और कणाद-सूत्र-निबन्ध का उल्लेख करते हैं और वादीन्द्र कृत महा-विद्या-विडम्बन में सम्मिलित उदाहरणों द्वारा तर्क करते हैं कि उसने महा-विद्या का खंडन करते हुए अन्य ग्रन्थ लिखे होंगे। वादीन्द्र कृत महा-विद्या-विडम्बन के तीन अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में वह महा-विद्या-अनुमान की व्याख्या करता है, द्वितीय एवं तृतीय अध्याय में अनुमानों का खंडन किया गया है। वादीन्द्र कृत महा-विद्या-विडम्बन के दो भाष्य हैं; एक का नाम आनन्द पूर्ण (1600 ई. प.) द्वारा लिखित 'महा-विद्या-विडम्बन-व्याख्यान' एवं दूसरे का नाम भुवन सुन्दर सूरि (1400 ई. प.) द्वारा लिखित 'व्याख्यान दीपिका' है। इनके अतिरिक्त भुवन सुन्दर सूरि ने 'लघु-महा-विद्या-विडम्बन' नामक छोटा सा ग्रन्थ एवं एक अज्ञात लेखक द्वारा लिखित महाविद्या-दशश्लोकी-विवरण पर महा-विद्या-विवरण-टिप्पण नामक भाष्य भी लिखे।

वादीन्द्र की आलोचना की मुख्य बातें संक्षेप में निम्नलिखित हैं:—

वह कहते हैं कि केवलान्वयी हेतु अशक्य है। यह सिद्ध करना कठिन है कि किसी विशिष्ट गुण का अस्तित्व सर्वत्र होना चाहिए और कोई ऐसा उदाहरण अथवा अवस्था नहीं होनी चाहिए जहाँ यह घटित नहीं होता है। तृतीय अध्याय में यह कहा है कि केवलान्वयी हेतु अशक्य ही नहीं है बल्कि इस प्रकार के केवलान्वयी हेतु के आधार पर दिए गए प्रमाणों में भी स्व-व्याघात के हेत्वाभास, एवं अनेकान्तिकत्व इत्यादि के हेत्वाभास की संभावना अधिक होगी। वह यह भी स्पष्ट करते हैं कि किस प्रकार से ये सब हेत्वाभास कुलार्क पंडित द्वारा आविष्कृत महाविद्या अनुमानों पर लागू होते हैं। हमारे वर्तमान हेतु के लिए वादीन्द्र के विस्तृत तार्किक विचार-विमर्श में पड़ना अनावश्यक है, क्योंकि महा-विद्या अनुमान पर वर्तमान विषयान्तरण यहाँ पर यही प्रदर्शित करने के लिए आरम्भ किया गया है कि अत्यन्त सूक्ष्म तर्क वेत्ता श्री हर्ष ने प्रथमतः प्राक्कथन नहीं किया था बल्कि उनसे कुछ शतक पूर्व उनका निर्माण हो गया था। यद्यपि निःसंदेह दर्शन में अत्यंत सूक्ष्म विधियों का प्रयोग करने वालों में श्री हर्ष सर्वाधिक विख्यात थे।

इस प्रकार, यह स्पष्ट हो जाएगा कि दर्शन में विधि के रूप में तार्किक युक्तिसंगतता पर बल देने की प्रणाली नैयायिकों एवं वेदान्तियों ने समान रूप से तृतीय एवं चतुर्थ शतकों में नागार्जुन, आर्य देव इत्यादि तथा पंचम, षष्ठ और सप्तम शतकों में परवर्ती क्रमानुयायियों के समान बौद्धों द्वारा उत्तराधिकार में प्राप्त की थी। परन्तु अष्टम नवम

एवं दशम शतकों के समय इस ओर विख्यात न्याय लेखकों के ग्रन्थ में सुस्थिर विकास देखा जा सकता है; यथा वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र, उदयन और वेदान्ती लेखक जैसे महान् आचार्य शंकराचार्य, वाचस्पति मिश्र और आनन्दबोध यति के ग्रन्थों में परन्तु अमूर्त्त एवं शुष्क शिष्टाचार वादिता का सम्प्रदाय ठीक-ठीक कुलार्क पंडित अथवा एकादश शतक के परवर्त्ती भाग में रहने वाले मान-मनोहर एवं प्रमाण-मंजरी से प्रारम्भ हुआ और तार्किक युक्तिसंगतत्ता का कार्य कई अन्य लेखकों के ग्रन्थों से प्रारम्भ हुआ। जब तक कि हम पूर्व त्रयोदश शतक के गंगेश का उल्लेख नहीं करते जिसने अवच्छेदकता के नूतन प्रत्ययों का उल्लेख करके अपने तीक्ष्ण मनस् की सूक्ष्मताओं द्वारा उसे अनुप्राणित किया और जो व्याप्ति के बाद नया परिवर्तनस्थल माना जा सकता है। यह ग्रन्थ अत्यन्त विस्तार पूर्वक परवर्त्ती क्रमानुयायी नव्य-न्याय के महान् लेखक रघुनाथ शिरोमणि, जगदीश भट्टाचार्य, गदाधर भट्टाचार्य आदि द्वारा आगे जारी रखा गया। वेदान्त की दिशा में यह तार्किक युक्तिसंगतता श्री हर्ष (1187 ई. प.) चित्सुख (लगभग 1220 ई. प.) (जिसके वादीन्द्र समकालीन थे) आनन्दज्ञान अथवा आनन्दगिरि (लगभग 1260 ई. प.) और कई द्वितीय श्रेणी के लेखकों अर्थात् सप्तम शतक के नृसिंहाश्रम और मधुसूदन सरस्वती द्वारा आगे चालू रखा गया। अनुमान लगाया जा सकता है कि श्री हर्ष की युक्ति संगत आलोचनाएं संभवत: नैयायिकों में नई जागृति का मुख्य कारण थी जिन्होंने नए प्रदत्त के समूहीकरण से अविचलित रह कर अपना सम्पूर्ण ध्यान दृढ़तापूर्वक अपनी परिभाषाओं एवं तर्कों को युक्तिसंगत विशुद्धता एवं सूक्ष्मता प्रदान करने की दिशा में और नए अनुभव अथवा नई समस्याओं अथवा जिज्ञासा की नई दिशाओं की खोज में पूर्णत्व प्रदान करने की ओर दिया, जो यथार्थ दर्शन के विकास में अत्यंत आवश्यक है। परन्तु जब एक बार उन्होंने विशुद्ध तार्किक साधन-सामग्री को पूर्णत्व प्रदान करना प्रारम्भ किया और उन्हें सफलता पूर्वक वाद-विवादों में प्रयोग करना प्रारम्भ किया तो वेदान्तियों के लिए भी अपने प्राचीन मतों की रक्षा के लिए दर्शन में नए सृजनों की पूर्णत: उपेक्षा करते हुए इस नई बार्किक युक्तिसंगतता की विधि को अभिभूत करना आवश्यक हो गया। इस प्रकार, वेदान्त दर्शन में तार्किक युक्तिसंगतता के न्याय शास्त्र के विकास के इतिहास में ऐसा लगता है कि अष्टम, नवम, दशम और एकादश शतकों में युक्तिसंगतता का तत्त्व निम्नतम अवस्था में था एवं वदान्त के बौद्धों, मीमांसकों और नैयायिकों के साथ मत-वैभिन्य वेदान्ती दृष्टि से अनुभव के विश्लेषण पर एवं दर्शन के प्रति इसकी सामान्य उपगम्यता पर अधिकतर आधारित है। परन्तु द्वादश एवं त्रयोदश शतकों में विवाद अधिकतर न्याय एवं वैशेषिक के साथ था और सर्वोपरि तार्किक युक्तिसंगतता के निरूपण से अतिरोहित था। आलोचनाओं का तात्पर्य अधिकतर न्याय वैशेषिक की परिभाषाओं की आलोचनाओं से था। इन्हीं शतकों में इसके समानान्तर रामानुज एवं उसके अनुयायियों के लेखों में एक नई शक्ति धीरे-धीरे विकसित हो रही थी और अनुवर्त्ती शतकों में महान् वैष्णव लेखक मध्व के अनुयायियों ने वेदान्तियों की (शांकर सम्प्रदाय के) अत्यंत बलपूर्वक आलोचना करना प्रारम्भ किया। अत: यह लिखा गया है कि त्रयोदश अथवा चतुर्दश शतकों से वेदान्ती आक्रमण अधिकतर रामानुज और मध्व के विरुद्ध नियोजित था। इस विवाद का इतिहास वर्तमान ग्रन्थ के तृतीय एवं चतुर्थ भाग में दिया जाएगा। परन्तु तार्किक युक्तिसंगतता की विधि इस समय में इतनी अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई थी कि वैष्णवों द्वारा दर्शन में कई नए मत-मतान्तर लाने पर भी न्याय-शास्त्र के वाद-विवादों में तार्किक युक्तिसंगतता की

विधि ने अपना उच्च स्थान कदापि नहीं खोया।

श्री हर्ष (ईसवी सन् 1150) का वेदान्ती द्वन्द्ववाद

श्री हर्ष संभवतः बारहवीं शताब्दी ईसवी के मध्य में हुए थे। जैसा कि **लक्षणावली** की पुष्पिका से स्पष्ट है।[1] प्रसिद्ध नैयायिक उदयन दसवीं शताब्दी के अन्त में हुए थे। श्री हर्ष प्रायः उदयन की परिभाषाओं का प्रत्याख्यान करते हैं और अतएव उनका समय उदयन के बाद ही रखना होगा। पुनः, मिथिला के प्रसिद्ध तर्क-शास्त्री गंगेश ने श्री हर्ष का उल्लेख किया है तथा उनके विचारों का प्रत्याख्यान किया है; चूंकि गंगेश का समय बारहवीं शताब्दी ईसवी में है अतः श्री हर्ष को इस तिथि के पूर्व रखना होगा। इस प्रकार श्री हर्ष का समय उदयन के पश्चात् तथा गंगेश के पूर्व–अर्थात् दसवीं तथा बारहवीं शताब्दी के बीच में–निश्चित होता है। अपने ग्रन्थ के अन्त में वे स्वयं को कनौज के शासक (कान्यकुब्जेश्वर) द्वारा आदर प्राप्त करता हुआ बताते हैं। यह संभव है कि यह शासक कनौज का जयचन्द्र रहा हो जो 1195 ईसवी में सिंहासनच्युत हुआ था।[2] अपने काव्यग्रन्थ **नैषधचरित** के विविध अध्यायों के अन्त में उन्होंने स्वरचित कई ग्रन्थों का उल्लेख किया है: **अर्णववर्णन, गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति, नवसाहसांकचरित, विजयप्रशस्ति, शिवशक्तिसिद्धि, स्थैर्यविचारण, छन्दःप्रशस्ति,** तथा **ईश्वराभिसन्धि** एवं **पंचनलीय काव्य**।[3] यह तथ्यविशेष कि उनका एक ग्रन्थ गौड-शासकों के वंश की प्रशस्ति में लिखा गया है इस संभावना की ओर निर्देश करता है कि वह उन पांच ब्राह्मणों में से रहे हों जिन्हें ग्यारहवीं शताब्दी के प्रथम भाग में बंगाल के आदिशूर द्वारा कनौज से आने के लिए निमंत्रित किया गया था—जिस दशा में श्री हर्ष को उस समय रखना होगा तथा 1195 ईसवी में सिंहासनच्युत हुए जयचन्द्र के साथ उनका संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता। श्री हर्ष का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक योगदान **खण्डनखण्डखाद्य** (शब्दशः 'प्रत्याखान के मिष्ठान्न') है जिसमें उन्होंने न्यायमत द्वारा अनुभव की कोटियों की यथार्थता को सिद्ध करने के उद्देश्य से प्रस्तुत की गई सभी परिभाषाओं के प्रत्याख्यान का प्रयास किया है और यह प्रदर्शित करने की चेष्टा की है कि जगत् तथा समस्त जागतिक अनुभव पूर्णतया इन्द्रियविषय हैं तथा उनके पीछे कोई वास्तविकता नहीं है। एकमात्र यथार्थ वस्तु संविद्

---

1. तर्काम्बरांक (906) प्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः।

   वर्षेसूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम्॥

   लक्षणावली, पृ० 72, सुरेन्द्रलाल गोस्वामी का संस्करण, बनारस, 1900।

2. **खण्डनफक्किका** नाम से **खण्डनखण्डखाद्य** के ऊपर लिखी गई अपनी टीका में आनन्दपूर्ण ने कान्यकुब्जेश्वर को काशीराज अर्थात् काशी अथवा बनारस के शासक के रूप में व्याख्यायित किया है।

3. किन्तु इनमें से कोई भी उपलब्ध नहीं है।

का स्वतः प्रकाशमान ब्रह्म है ।[1] उनका शास्त्रार्थ न्याय के विरुद्ध है जिसकी यह मान्यता है कि प्रत्येक ज्ञात वस्तु का सुपरिभाषित यथार्थ अस्तित्व होता है, तथा श्री हर्ष का मुख्य प्रयोजन यह सिद्ध करना है कि जो कुछ भी ज्ञात है, वह अपरिभाष्य तथा अयथार्थ है क्योंकि प्रत्येक ज्ञात वस्तु इन्द्रियविषयगत स्वभाव की होती है तथा उसका अस्तित्व केबल आपेक्षिक है जो स्वीकृति, परम्पराओं एवं प्रथाओं के व्यावहारिक प्रकारों पर आश्रित होता है । किन्तु, यद्यपि उनका प्रमुख विवाद-विषय न्याय के विरुद्ध है, तथापि नागार्जुन के समान उनकी सभी आलोचनाएँ ध्वंसात्मक होने के कारण, कुछ संशोधनों के साथ, उनका उपयोग समानरूपेण किसी भी अन्य दर्शन के विरुद्ध किया जा सकता है । जो किन्हीं विधानात्मक परिभाषाओं की स्थापना के उद्देश्य से आलोचना करते हैं वे अन्य दर्शनों की कुछ परिभाषाओं अथवा मतों के विरुद्ध ही आपत्ति करेंगे; किन्तु श्री हर्ष तथा उच्छेदवादी दोनों की ही रुचि सभी परिभाषाओं के ही प्रत्याख्यान में है एवं इस कारण उनका न्याय अन्य दर्शनों के सभी मतों एवं परिभाषाओं के विरोध में तर्कसिद्ध ठहरेगा ।[2]

वे इस प्रतिज्ञा से प्रारम्भ करते हैं कि हमारी किसी भी चेतना के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसे और अधिक जाना जाय अथवा यह कि वे ज्ञान की ओर आगे की क्रिया के विषय हो सकते हैं । वेदान्त तथा विज्ञानवादी बौद्धों के बीच अन्तर इसमें निहित है कि विज्ञानवादी बौद्ध यह मानते हैं कि सभी कुछ अयथार्थ तथा अनिर्वचनीय है और

---

1. अपनी पुस्तक के अन्त में श्री हर्ष ने इसे जान बूझ कर यत्र-तत्र जटिल बनाने की बात कही है ताकि कोई बिना गुरु की सहायता के इसकी कठिनाइयों को सरलता से न समझ सके । उन्होंने लिखा है :

   ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित् क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया
   प्राज्ञम्मन्यमना हठेन पठितीमास्मिन् खलः खेलतु ।
   श्रद्धाराध्यगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादय
   त्वेतत्तर्करसोर्म्मिमज्जनसुखेष्वासंजनं सज्जनः ।।

   खण्डनखण्डखाद्य, पृ० 1341, चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, बनारस, 1914 ।

   इस प्रसिद्ध ग्रन्थ के ऊपर कई टीकाएं लिखी गई हैं, उदाहरणार्थ परमानन्द कृत **खण्डनमण्डन**, भवनाथकृत **खण्डनमण्डन**, रघुनाथशिरोमणिकृत **दीधति**, वर्धमानकृत **प्रकाश**, विद्याभरण कृत **विद्याभरणी**, विद्यासागरकृत **विद्यासागरी**, पद्मनाभ पण्डितकृत **खण्डन-टीका**, शंकर मिश्रकृत **आनन्दवर्धन**, शुभकरकृत **श्रीदर्पण** चरित्रसिंहकृत **खण्डनमहातर्क**, प्रगल्भ मिश्रकृत **खण्डन-खण्डन**, पद्मनाभकृत **शिष्य-हितैषणी**, गोकुलनाथ उपाध्यायकृत **खण्डन कुठार** । जैसाकि बंगाल के एक परवर्ती वाचस्पति (ईसवी सन् 1350) की कृति **खण्डनोद्धार** से प्रमाणित होता है, नैयायिकों ने इसके प्रत्याख्यान का कम से कम एक प्रयास किया था ।

2. श्रीहर्ष ने स्वयं ही अपनी तथा नागार्जुन की आलोचनाओं के बीच समानता स्वीकार की है; उन्होंने लिखा है : 'तथा हि यदि दर्शनेषु शून्यवादा-निर्वचनीयपक्षयोराश्रयणं तदा तावदमूषां निर्बाधैव सार्वपथीनता' इत्यादि । **खण्डनखण्डखाद्य**, पृ० 229-230 चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, बनारस, 1914 ।

हाँ तक कि वे संज्ञानों को भी इसका अपवाद, नहीं मानते; जब कि वेदान्त संज्ञानों को अपवाद मानता है और यह मानता है कि, ज्ञान अथवा चेतना को छोड़कर, समस्त विश्व सत् अथवा असत् दोनों ही रूपों में अनिर्वचनीय है (सदसद्भ्याम् विलक्षणम्) और अयथार्थ है ।[1] यह अनिर्वचनीयता संसार की सभी वस्तुओं तथा सभी अनुभवों के स्वभाव में ही है (मेयस्वभावानुगामिन्याम् अनिर्वचनीयता) एवं वैदग्ध्य तथा विद्वत्ता का कोई भी परिमाण किसी ऐसी वस्तु की परिभाषा में सफल नहीं हो सकता जिसका परिभाषेय स्वरूप अथवा अस्तित्व नहीं है । श्री हर्ष यह प्रदर्शित करने का प्रयास करते हैं कि स्वयं नैयायिक द्वारा स्वीकृत तार्किक वाद-विवादों तथा परिभाषाओं के अनुसार भी न्याय लेखकों द्वारा प्रस्तुत वस्तुओं की परिभाषाएं तथा कोटियां निर्बल तथा त्रुटिपूर्ण ठहरती हैं; एवं यदि कोई भी परिभाषा नहीं की जा सकती, तो इससे अनिवार्यतः यह व्युत्पन्न होता है कि परिभाषाएं की ही नहीं जा सकतीं अथवा, दूसरे शब्दों में, यह कि इन्द्रिय-गोचर जगत् की कोई परिभाषा संभव नहीं है तथा यह कि इन्द्रियगोचर जगत् तथा इससे संबद्ध हमारे समस्त तथाकथित अनुभव अनिर्वचनीय हैं । इस प्रकार, वेदान्ती यह कह सकता है कि जगत् की अयथार्थता सिद्ध होती है । किसी के लिए तर्कों का आश्रय लेकर यथार्थ वस्तु को प्राप्त करने की चेष्टा करना निरर्थक है; क्योंकि तर्कों को स्वयं उन्हीं ग्रन्थों के आधार पर मिथ्या सिद्ध किया जा सकता है जिन पर कि वे आधारित होते हैं । किन्तु, यदि कोई यह कहे कि श्री हर्ष के तर्कों के प्रति यही आपत्ति उठाई जा सकती है तथा वे सत्य नहीं हैं तो इससे उन्हीं के विचार का पोषण होता है । क्योंकि श्री हर्ष अपने तर्कों की यथार्थता में विश्वास नहीं करते तथा उनकी यथार्थता अथवा अयथार्थता में किसी पूर्वधारणा के बिना ही उनका व्यवहार करते हैं । यह कहा जा सकता है कि तर्कों की यथार्थता के स्वीकरण के बिना तर्क करना संभव नहीं है । किन्तु इस यथार्थता का प्रतिष्ठापन प्रमाणों का उपयोग किए बिना नहीं हो सकता; तथा प्रमाणों के उपयोग के लिए और तर्कों की आवश्यकता होगी और पुनः इनके लिए प्रमाणों का प्रतिष्ठापन करना होगा — इस प्रकार इस प्रक्रिया का कोई अन्त नहीं हो सकता । किन्तु, यदि उनकी परिभाषाओं के निरास के उद्देश्य से, प्रतिपक्षियों के शास्त्रों से संगत तर्कों को ही मिथ्या मान लिया जाय तो इसका यह अर्थ होगा कि प्रतिपक्षी स्वयं अपने शास्त्रों का तिरस्कार करते हैं, एवं परिणामतः उनकी स्थिति का प्रत्याख्यान करने वाले वेदान्ती तर्क प्रभावी होंगे । यहाँ वेदान्त की रुचि केवल प्रतिपक्षियों की परिभाषाओं तथा प्रतिज्ञाओं का ध्वंस करना है; और इस प्रकार जबतक कि प्रतिपक्षी वेदान्त के आक्रमणों के विरुद्ध अपनी प्रस्थापनाओं का औचित्य नहीं सिद्ध कर पाते, वेदान्त के मत का प्रत्याख्यान नहीं होगा । इस प्रकार हमारे अनुभव का विविधपक्षी जगत् अनिर्वचनीय है तथा एक ब्रह्म ही पूर्ण तथा परम सत्य है ।

---

1. विज्ञानवादी बौद्धों से यहां श्रीहर्ष का अभिप्राय लंकावतार के विज्ञानवाद से है जिसमें से वे निम्न श्लोक उद्धृत करते हैं :

   बुद्धया विविच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते ।

   अतो निरभिलप्यास्ते निस्स्वभावाश्च देशिताः

   लंकावतारसूत्र, पृ० 287, ओतानी यूनिवर्सिटी प्रेस, 1923

परम एकत्व के संबंध में प्रमाण की जो मांग की जा सकती है उसके विषय में श्रीहर्ष का कहना है कि यह मांग ही यह सिद्ध करती है कि परम एकत्व की भावना पहले से ही विद्यमान है क्योंकि यदि इस भावना का ही अस्तित्व नहीं होता तो कोई इसके प्रमाण की मांग करने के विषय में सोच ही नहीं सकता था। अब यह स्वीकार करने पर कि परम एकत्व की भावना अस्तित्व में है (प्रतीत) यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह प्रतीति यथार्थ ज्ञान (प्रमा) है अथवा मिथ्या ज्ञान (अप्रमा)। यदि यह यथार्थ भावना है तो, इसका स्रोत चाहे जो हो, इस यथार्थ भावना को प्रमाण मानना होगा। यदि इस प्रकार की भावना मिथ्या है, तो वेदान्ती से मिथ्या वस्तु को प्रदर्शित करने के लिए प्रमाणों की मांग करना उचित नहीं होगा। यह तर्क किया जा सकता है कि यद्यपि नैयायिक इसे मिथ्या मानते हैं किन्तु वेदान्ती द्वारा तो इसे सत्य माना जाता है और इस कारण वेदान्ती से यह सिद्ध करने के लिए कहा जा सकता है कि जिस उपाय से अथवा जिन प्रमाणों के माध्यम से उसे यह भावना मिली वह यथार्थ है। किन्तु, इसे वेदान्ती तुरन्त अस्वीकार कर देगा; क्योंकि यद्यपि परम एकत्व की भावना यथार्थ हो सकती है तथापि जिस उपाय विशेष से इस भावना की उपलब्धि हुई, वह मिथ्या हो सकता है। पर्वत पर अग्नि हो सकती है; किन्तु फिर भी यदि इस अग्नि के अस्तित्व का अनुमान धूप के रूप में दिखाई पड़ने वाले कुहांसे के आधार पर किया गया है, तो इस प्रकार का अनुमान मिथ्या होगा, यद्यपि स्वयं अग्नि की प्रतीति यथार्थ होगी। प्रतिपक्षियों द्वारा इस प्रकार की मांगों की उपयुक्तता की चर्चा को छोड़ते हुए, वेदान्ती का यह कहना है कि उपनिषद्-ग्रन्थों में परम सत्ता के परम एकत्व के सत्य को प्रदर्शित किया गया है।

उपनिषद्-ग्रन्थों में उपदिष्ट सभी वस्तुओं के परम एकत्व का 'विविधता' के हमारे प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा निरास नहीं होता। क्योंकि हमारा प्रत्यक्ष एक क्षणविशेष के पृथक्-पृथक् वस्तुओं से संबद्ध होता है और इस कारण यह भूत, वर्तमान तथा भविष्य की सभी वस्तुओं पर लागू नहीं हो सकता और उनके परस्पर पृथक् होने के तथ्य का प्रतिष्ठापन नहीं कर सकता। प्रत्यक्ष केवल तात्कालिक वर्तमान के अनुभव से संबद्ध होता है और इस कारण उपनिषदों द्वारा उपदिष्ट सभी वस्तुओं के एकत्व के सार्वभौमिक सिद्धान्त-वाक्य का प्रत्याख्यान करने में समर्थ नहीं है। पुनः, जैसाकि श्रीहर्ष कहते हैं, अनुभव की वस्तुओं के अपने प्रत्यक्ष में हम प्रत्यक्ष-विषयों तथा अपने बीच स्थित विभेदों को जानते हैं। ज्ञान का आत्म-प्रकाशन भी जगत् की सभी विषयों से अपना विभेद नहीं प्रदर्शित कर पाता। पुनः, दृष्ट विषयों का सभी अन्य वस्तुओं से विभेद स्वरूप-भेद के रूप में स्वयं दृष्ट विषयों के स्वभाव में, अथवा विभेदित विषयों के स्वभावी के रूप में, नहीं प्रकाशित होता—यदि ऐसा होता तो रजत का मिथ्या तथा दोषपूर्ण प्रत्यक्ष उस विषय से (शुक्तिका) से, जिस पर कि मिथ्या रजत का आरोपण होता है, अपने विभेद को तत्काल ही प्रकट कर देता। इस रूप में श्रीहर्ष ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि वैदिक ग्रन्थों में प्रतिपादित अद्वैत के आशय का किसी अन्य अधिक पुष्ट प्रमाण द्वारा प्रत्याख्यान नहीं होता। शाब्दिक स्वरूप वाले इनमें से अधिकांश तर्कों को यहां छोड देना उपयुक्त होगा। मुख्य बल इस विचार पर प्रतीत होता है कि दृष्ट वस्तुओं में स्थित तात्कालिक विभेद न्यूनतम मात्रा में भी यह प्रस्तावित अथवा निर्दिष्ट नहीं करते कि वे, तत्त्वतः अथवा अपनी समग्रता में, वस्तुओं के हमारे प्रगतिशील तथा और विस्तीर्ण ान के परिणामस्वरूप, परस्पर अभिन्न

सत्ता के रूप में नहीं ग्रहण किए जा सकते (जैसाकि उपनिषदों में कहा गया है)। यदि प्रत्यक्ष कुछ सिद्ध नहीं कर सकता तो केवल अनुमान से उपनिषदों में उपदिष्ट अद्वैत का समर्थन अथवा प्रत्याख्यान नहीं हो सकता। इन्द्रियगोचर अनुभव के हमारे विश्व में हमारे मन सदैव विभेद की अवधारणा से प्रभावित होते हैं; किन्तु श्रीहर्ष का कहना है कि किसी विचार का अस्तित्व मात्र उसकी यथार्थता को नहीं सिद्ध करता। शब्द सर्वथा अस्तित्वहीन वस्तुओं से संबद्ध विचारों को उत्पन्न कर सकते हैं।

पुनः, 'विभेद' की अवधारणा की परिभाषा असंभव सी है। यदि यह भिन्न होने वाली वस्तुओं के मूल स्वभाव में ही स्थित है तो विभेद भिन्न होने वाली वस्तुओं के स्वभाव से अभिन्न होगा। यदि विभेद भिन्न होने वाली वस्तुओं से पृथक् है तो 'विभेद' तथा भिन्न होने वाली वस्तुओं के बीच के संबंध को प्रतिष्ठित करने का कोई उपाय ढूँढना होगा, और इसके लिए किसी अन्य संबंध की आवश्यकता हो सकती है, और उसके लिए किसी अन्य की, और इस प्रकार हमें एक असमाप्य शृंखला प्राप्त होगी। उनका कहना है कि 'विभेद' को कई संभव दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है। प्रथम, 'विभेद' को वस्तुओं के स्वभाव वाला माना जा जाता है। किन्तु, भिन्न होने वाली वस्तुओं के स्वभाव वाले 'विभेद' को सभी को एक में सन्निविष्ट करना चाहिए; क्योंकि जिन वस्तुओं से विभेद है, उनके उद्धरण के बिना कोई विभेद नहीं हो सकता। यदि 'पुस्तक' से हम मेज से इसका विभेद समझते हैं, तो मेज को पुस्तक के स्वभाव में प्रविष्ट होना होगा एवं इसका अर्थ होगा मेज तथा पुस्तक की अभिन्नता। विभेद को वस्तु के रूप में कहने का कोई अर्थ नहीं है जबकि इस प्रकार के विभेदों का अन्य वस्तुओं के उद्धरण द्वारा केवल निर्धारण हो सकता है। कोई वस्तु, उदाहरण के लिए पुस्तक, मेज से भिन्न के रूप में ही समझी जाती है—यहां विभेद के स्वभाव का विवेचन 'मेज से भिन्न होने के गुण' के रूप में किया जा सकता है; किन्तु 'भिन्न होने के गुण' का कोई अर्थ अथवा आधार नहीं होगा जबतक कि 'मेज' को भी इसके साथ न लिया जाय। यदि कोई यह कहे कि पुस्तक 'से भिन्न होने के गुण' से अभिन्न है तो यह सदैव पुस्तक के स्वभाव में 'मेज' को भी सन्निविष्ट करेगा क्योंकि 'मेज' 'से भिन्न होने' के जटिल गुण का एक घटक है जिसका अर्थ अनिवार्यतः 'मेज से भिन्न होना' होता है। इस प्रकार इस विचार के अनुसार भी 'मेज' तथा पुस्तक से पृथक् की जा सकने वाली अन्य सभी वस्तुएँ सभी वस्तुओं के स्वभाव में ही निहित होती हैं—यह एक ऐसा निष्कर्ष है जो विभेद की अवधारणा का ही प्रत्याख्यान करता है। यह भी इंगित किया जा सकता है कि विभेद की अवधारणा वस्तुओं—जिस रूप में उन्हें देखा अथवा समझा जाता है—की अवधारणा के सर्वथा बाहर है। स्वयं 'विभेद' की अवधारणा पुस्तक तथा मेज—चाहे इन्हें साथ-साथ अथवा पृथक्-पृथक् लिया जाए—की अवधारणा से भिन्न है। पुस्तक तथा मेज का सम्मिलित विचार पुस्तक मेज से भिन्न हैं' इस विचार से भिन्न है। पुस्तक का स्वभाव समझने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि पहले मेज से इसका विभेद समझा जाय। अपरञ्च यदि विभेद के विचार को किसी अर्थ में विशिष्ट वस्तुओं के बोध तक ले जाने वाला भी कहा जाय तो इस प्रकार की विशिष्ट वस्तुओं का बोध अपने साथ इस विचार को नहीं लेकर चलता कि इस प्रकार के विभेद के कारण ही विशिष्ट वस्तुएं देखी जाती हैं। दो वस्तुओं की समानता अथवा सदृशता के माध्यम से—उदाहरण के लिए, जंगली गाय (गवय) तथा पालतू गाय (गो) में—कोई व्यक्ति जंगली गाय को पशु के रूप में पहचान सकता,

है; तथापि, जब वह किसी पशु को जंगली गाय समझता है तो वह सदैव इस पशु को गाय से सदृशता के कारण ही जंगली गाय नहीं समझता। किसी पशु को गाय अथवा जंगली गाय समझने का मानसिक निर्णय उसके उत्पादन कारण की प्रत्यक्ष सहभागिता के बिना ही तुरन्त उत्पन्न होता है। इस प्रकार, विभिन्न विशिष्ट वस्तुओं के हमारे बोध के लिए विभेद के विचार को उत्तरदायी स्वीकार करने पर भी, किसी विशिष्ट वस्तुओं का बोध विभेद की किसी अवधारणा को एक घटक के रूप में नहीं सन्निविष्ट करता। अतएव यह सोचना गलत है कि वस्तुएं विभेद के स्वभाव की होती हैं।

एक अन्य विचार में, जिसमें विभेद की व्याख्या 'मानसिक प्रत्याख्यान' अथवा 'अनन्यता' (अन्योन्याभाव) के रूप में की जाती है, इस अनन्यता (उदाहरणार्थ, पुस्तक की मेज से) को एक की दूसरे से एकात्मकता के प्रत्याख्यान के रूप में व्याख्यायित किया जाता है। जब हम यह कहते हैं कि पुस्तक मेज से भिन्न है, तो इसका अर्थ पुस्तक की मेज से एकात्मकता का प्रत्याख्यान होता है। श्रीहर्ष यहां यह आपत्ति उठाते हैं कि यदि पुस्तक की मेज से एकात्मकता, शश-शृंग के समान, सर्वथा भ्रान्ति-पूर्ण है, तो एकात्मकता का इस प्रकार का प्रत्याख्यान सर्वथा अर्थहीन होगा। पुनः यह नहीं प्रस्तावित किया जा सकता कि इस मानसिक प्रत्याख्यान, अथवा अनन्यता के रूप में प्रत्याख्यान का अर्थ किसी अन्य के प्रसंग में (उदाहरणार्थ, मेज पर रखी किसी पुस्तक का) एक जाति प्रत्यय का प्रत्याख्यान होता है; क्योंकि इन जाति-प्रत्ययों में कोई ऐसा विशेष धर्म नहीं होता जिनसे एक में दूसरे का प्रत्याख्यान अथवा दूसरे से विभेद किया जा सके, क्योंकि नैयायिक जिनके, विरुद्ध श्रीहर्ष के तर्क उद्दिष्ट हैं, यह नहीं स्वीकार करते कि जाति-प्रत्ययों में कोई विभेदक गुण होते हैं। इस प्रकार के विभेदक गुणों के अभाव में उन्हें अभिन्न समझा जा सकता है: किन्तु उस दशा में एक जाति-प्रत्यय (उदाहरणार्थ मेज) का अस्वीकरण उस वस्तु के ही (उदाहरणार्थ, पुस्तक) जाति-प्रत्यय का प्रत्याख्यान सन्निविष्ट करेगा क्योंकि कोई विभेदक गुण न रखने के कारण पुस्तक तथा मेज के जाति-प्रत्यय अभिन्न हैं; अपरंच, मानसिक प्रत्याख्यान द्वारा पुस्तक तथा मेज दोनों ही पुस्तक तथा मेज के जाति-प्रत्ययों से विहीन होंगे और इस प्रकार एक को दूसरे से, पुस्तक को मेज से, भिन्न कर सकने का कोई उपाय नहीं रह जाएगा। पुनः, यदि विभेद को विरोधी गुणों (वैधर्म्य) का होना माना जाय तो भी यह पूछा जा सकता है कि क्या विरोधी गुणों में पारस्परिक भिन्नता लाने के लिए और भी विरोधी गुण हैं तथा इनमें क्या और भी विरोधी गुण हैं, और इस प्रकार इस प्रक्रिया का कोई अन्त नहीं; यदि इन्हें किसी एक बिन्दु पर समाप्त हुआ मान लिया जाए तो, उन्हें पृथक् करने वाले और विरोधी गुणों के न होने से, उस अवस्था के अन्तिम गुण अभिन्न होंगे, और इस प्रकार पीछे की ओर उन्मुख शृंखला में सभी विरोधी गुण अर्थहीन ठहरेंगे और सभी वस्तुएं अभिन्न होंगी। यदि इसके विपरीत प्रथम अवस्था में ही यह स्वीकार कर लिया जाय कि विरोधी अथवा पृथक् गुणों में परस्पर पृथक्ता लाने वाले भिन्न गुण नहीं होते तो गुण अभिन्न होंगे। पुनः यह पूछा जा सकता है कि ये विभेदक गुण स्वयं उनको धारण करने वाली वस्तुओं से भिन्न होते हैं अथवा नहीं। यदि वे भिन्न हैं तो पुनः इस विभेद तक ले जाने वाले विरोधी गुणों के विषय में और पुनः इनके अन्य विरोधी गुणों के विषय में पूछा जा सकता है और यह प्रक्रिया बढ़ती जाएगी। इन अनन्त विरोधों की सत्यता तभी प्रतिष्ठित हो सकती है जबकि इनकी प्राप्ति

अनन्त समय से कम में न मानी जाय जबकि विषय समय में सीमित होता है ! यदि, पुनः, ये सभी एक साथ आएं तो इन अनन्त विरोधों का ऐसा अव्यवस्थित गोलमाल होगा कि उनके पृथक्-पृथक् आधारपदार्थों तथा एक दूसरे के ऊपर उनकी व्यवस्थापूर्ण अनुक्रमिक निर्भरता को निर्धारित करने का कोई उपाय नहीं रह जाएगा। तथा, चूंकि शृंखला के पूर्व पदों की प्रतिष्ठा विभेद की अपर पदों की प्रतिष्ठा द्वारा ही हो सकती है, विभेद के पूर्व पदों के समर्थन में, विभेद के अपर पदों के खोज की अग्रगामी गति विभेद के इन पूर्व पदों को अनावश्यक बना देती है।[1]

अतएव, यह नहीं कहा जा सकता कि विभेदों के हमारे प्रत्यक्ष में कोई ऐसी अन्तर्भूत प्रामाणिकता है कि यह उपनिषदों में उपदिष्ट एकात्मकता का प्रत्याख्यान कर सके। श्रीहर्ष यह नहीं अस्वीकार करते कि हम सभी वस्तुओं में प्रतीत विभेदों को देखते हैं, किन्तु वह, उन्हें अविद्या से उत्पन्न मानने के कारण, उनकी अन्तिम प्रामाणिकता को अस्वीकारण करते हैं।[2]

श्रीहर्ष के द्वन्द्ववाद की प्रमुख विधा इस धारणा पर आधारित है कि परिभाषित की जाने वाली वस्तुओं की यथार्थता परिभाषाओं के दोषविहीन स्वभाव पर निर्भर करती है; किन्तु एक चक्र में तर्क के मिथ्यात्व को सन्निविष्ट करने के कारण सभी परिभाषाएं दोषपूर्ण होती हैं और इस कारण वस्तुओं के यथार्थ स्वभाव को प्रदर्शित अथवा परिभाषित करने का कोई उपाय नहीं है। हमारे अनुभव का जगत् ज्ञाता तथा ज्ञान में निहित होता है: ज्ञाता के ज्ञान के स्वामी के रूप में परिभाषित करने पर ज्ञान का बोध ज्ञाता के उद्धरण से ही संभव है; पुनः ज्ञाता का बोध ज्ञान तथा ज्ञाता के उद्धरण से ही संभव है, और इस प्रकार आपेक्षिकता का एक चक्र है जिसके कारण इनमें से किसी वस्तु की स्वतंत्र परिभाषा प्रदान करने का प्रयास व्यर्थ हो जाता है। मुख्यतः यह आपेक्षिकता ही विशिष्ट रूपों में सभी कोटियों की परिभाषा के सभी प्रयास व्यर्थ कर देती है।

विभिन्न कोटियों तथा प्रत्ययों के प्रति द्वन्द्ववाद का व्यवहार

श्रीहर्ष अपनी आलोचना के लिए सर्वप्रथम सम्यक् संज्ञान की परिभाषाओं को लेते हैं। सम्यक् संज्ञान की परिभाषा को वस्तुओं के यथार्थ स्वभाव का प्रत्यक्ष बोध मानते हुए, वे सर्वप्रथम यह आग्रह करते हैं कि इस प्रकार की परिभाषा दोषपूर्ण है क्योंकि यदि कोई आवरण के पीछे छिपी तथा अदृष्ट किन्हीं वस्तुओं को संयोग से ठीक अनुमान कर लेता है अथवा दोषपूर्ण आधार-सामग्री के आधार पर अथवा दोषपूर्ण विधाओं के द्वारा सही

---

1. प्रथमभेदास्वीकारप्रयोजनस्य भेदव्यवहारादेर्द्वितीयभेदादेव सिद्धेः प्रथमभेदो व्यर्थः स्यादेव, द्वितीयभेदादिप्रयोजनस्य तृतीयभेदादिनैव सिद्धेः सोऽपि व्यर्थः स्यात्।

   खण्डनखण्डखाद्य पर विद्यासागरी, पृ० 206। चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, बनारस, 1914।

2. न वयं भेदस्य सर्वथैवासत्त्वम् अभ्युपगच्छामः किं नाम न पारमार्थिकं सत्त्वं; अविद्याविद्यमानत्वं तु तदीयमिष्यत एव। खण्डनखण्डखाद्य, पृ० 214।

अनुमान कर लेता है तो इसे सम्यक् संज्ञान नहीं कहा जा सकता।[1] यह आग्रह किया गया है कि प्रामाणिक होने के लिए संज्ञान का दोषविहीन उपकरणों द्वारा उत्पन्न होना आवश्यक है; किन्तु, यहां पर संयोगात्मक अनुमानों का दृष्टान्त है जो इन्द्रियों के दोषविहीन उपकरणों द्वारा उत्पन्न न होने पर भी कभी कभी ठीक हो सकते हैं। न ही बोध की अपने विषय के साथ संगति ही (यथार्थानुभवः प्रमा) सम्यक् संज्ञान की सही परिभाषा मानी जा सकती है। इस प्रकार की संगति को या तो इस अर्थ में परिभाषित किया जा सकता है कि वह स्वयं विषय की यथार्थता का प्रतिनिधित्व करती है अथवा इस अर्थ में कि वह विषय की सदृशता का प्रतिनिधित्व करती है। किसी भी विषय का यथार्थ स्वभाव अनिर्वचनीय है, और इस कारण विषय के साथ ज्ञान की संगति को प्रथम की अपर के साथ सदृशता के रूप में व्याख्यायित करना अधिक उपयुक्त होगा।

यदि इस सदृशता का यह अर्थ है कि ज्ञान में विषय द्वारा अधिगत स्वभाव विद्यमान हो (ज्ञानविषयीकृतेन रूपेण सादृश्यम्), तो यह स्पष्टतः असंभव है; क्योंकि विषय के गुण ज्ञान में नहीं हो सकते—दो सफेद तथा कड़ी गोलियों का ज्ञान हो सकता है किन्तु ज्ञान न तो दो है, न सफेद और कड़ा।[2] यह कहा जा सकता है कि संगति इसमें निहित होती है, कि सफेदपन इत्यादि विषय में इसके द्वारा अधिगत गुणों के रूप में होते हैं जबकि ज्ञान में ये इसके द्वारा प्रकाशित गुणों के रूप में होते हैं।[3] किन्तु, यह शुक्तिका में रजत के मिथ्या प्रत्यक्ष के दृष्टान्त में ठीक नहीं बैठेगा। 'मेरे सामने रजत' के प्रत्यक्ष में 'मेरे सामने' के ज्ञान को सम्यक् संज्ञान के रूप में स्वीकार करना होगा। यदि इसे सम्यक् संज्ञान स्वीकार किया जाता है तो सम्यक् संज्ञान को यथार्थ आनुरूप्य के रूप में व्याख्यायित करना अर्थहीन था; इसे केवल संज्ञान के रूप में ही परिभाषित किया जा सकता था क्योंकि सभी संज्ञान का कोई न कोई विषय होगा और जहां तक केवल इसका संबंध है सभी संज्ञान प्रामाणिक होंगे। किन्तु, यदि विचार तथा विषय की सम्पूर्ण संगति का आग्रह किया जाए तब ऊपर के समान आंशिक संगति को संतोषपूर्ण नहीं माना जा सकता। किन्तु यदि संपूर्ण संगति को अपरिहार्य माना जाय तब आंशिक संगति की शुद्धता का ध्यान छोड़ देना होगा, जबकि नैयायिक यह स्वीकार करते हैं कि जहाँतक किसी विषय के उद्धरण का प्रश्न है,

---

1. उदाहरण के लिए, जब कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति की मुठ्ठी में छिपी कौड़ियों का सही सही अनुमान कर लेता है अथवा जब कुहासे को धुंआ समझ कर कोई पर्वत पर अग्नि होने का गलत अनुमान करता है तथा संयोग से पर्वत पर अग्नि होता है—तब उसका निर्णय सही हो सकता है यद्यपि उसका अनुमान अशुद्ध हो सकता है।

2. द्वौ घटौ शुक्लावित्यत्र रूपसंख्यादिसमवायित्वं। न ज्ञानस्य गुणत्वाद् अतः प्रकाशमान-रूपेण अर्थसादृश्यं ज्ञानस्य नास्ति-अस्ति च तस्य ज्ञानस्य तत्र घटयोः प्रमात्वम्। खण्डन पर विद्यासागरी, पृ० 398।

3. अर्थस्य हि यथा समवायाद् रूपं विशेषणीभवति तथा विषयभावाज्ज्ञानस्यापि तद्वि-शेषणन् भवत्येव। खण्डन, पृ० 399।

सभी संज्ञान प्रामाणिक हैं; जब हम विषय के स्वभाव की संगति तथा विषय के ज्ञान द्वारा विशेषित स्वभाव पर विचार कर रहे हैं, उस समय केवल संज्ञान के स्वभाव के ऊपर विवाद हो सकता है कि वह शुद्ध है अथवा अशुद्ध। यदि विषय के साथ सम्पूर्ण संगति नहीं सुनिश्चित होती तब, बाधक परिस्थितियों के कारण, अशुद्ध अथवा आंशिक असंगति के साथ किसी विषय के संज्ञान को मिथ्या मानकर तिरस्कृत कर देना होगा। पुनः, चूँकि संगति सदैव वस्तु के स्वभाव, स्वरूप अथवा आविर्भाव का निर्देश करती है, उन विषयों–जिन्हें ये स्वभाव संबद्ध मानते हैं—के प्रसंग में हमारे सभी अभिवचन मिथ्या होंगे।

सम्यक् संज्ञान की उदयन की परिभाषा को 'सम्यक् परिच्छित्ति' अथवा उचित के अवबोध रूप में उल्लेख करते हुए, श्रीहर्ष कहते हैं कि 'सम्यक्' शब्द अर्थहीन है; क्योंकि यदि सम्यक् का अर्थ संपूर्ण है तो परिभाषा का कोई प्रयोजन नहीं रहता क्योंकि किसी वस्तु के सभी दृष्ट तथा अदृष्ट घटक अंशों को देखना असंभव है एवं एक सर्वज्ञ के अतिरिक्त कोई भी किसी वस्तु को अपने सभी स्वभावों, तत्त्वों तथा गुणों के साथ नहीं देख सकता। यदि सम्यक् बोध का अर्थ किसी विषय का अपने सभी विभेदक विशेषताओं के साथ बोध है तो यह भी अबोधगम्य है; क्योंकि अशुद्ध संज्ञान-उदाहरणार्थ, शुक्तिका को रजत समझना देखने वाला शुक्तिका में रजत के विभेदक गुणों को देखता है। सारी बात निर्णय की इस कठिनाई में निहित है कि दृश्यमान विभेदक लक्षण यथार्थ हैं अथवा नहीं और इसे निश्चित करने का कोई उपाय नहीं है। पुनः यदि विभेदक लक्षणों का उन विशेषताओं के रूप में वर्णन किया जाए जिनके प्रत्यक्ष के बिना निश्चित ज्ञान संभव ही नहीं है तथा जिनका प्रत्यक्ष सम्यक् संज्ञान को सुनिश्चित बनाता है, तब यह कहा जा सकता है कि किसी ऐसे संज्ञान, जिसकी शुद्धता के विषय में कोई पूर्ण निश्चित हो सकता है, के किसी लक्षण की खोज असंभव है। एक स्वप्न देखने वाला सभी प्रकार के स्वभावों तथा प्रकटनों में भ्रान्त-मति होता है तथा सभी को यथार्थ मानता है। यह आग्रह किया जा सकता है कि शुद्ध प्रत्यक्ष में–जैसा कि रज्त के शुद्ध प्रत्यक्ष में–विषय को अपने विशेष विभेदक लक्षणों के साथ देखा जाता है जबकि शुक्तिका में रजत के अशुद्ध प्रत्यक्ष में इस प्रकार के विभेदक लक्षण नहीं देखे जाते। किन्तु, इस दृष्टान्त में भी विभेदक लक्षणों के मूल स्वभाव को परिभाषित करना कठिन होगा; क्योंकि यदि किसी प्रकार का विभेदक लक्षण पर्याप्त होता तो शुक्तिका में रजत के मिथ्या प्रत्यक्ष के दृष्टान्त में भी आँखों के सामने होने का विभेदक लक्षण शुक्तिका में भी विद्यमान होता है। यदि सभी विशिष्ट विभेदक लक्षणों पर आग्रह किया जाए तो अनन्त विभेदक लक्षण होंगे एवं कोई ऐसी परिभाषा बना सकना असंभव होगा जो सबको समाविष्ट कर सके। किसी पूर्ववर्ती अशुद्ध संज्ञान का प्रत्याख्यान करने वाले संज्ञान की निश्चितता के प्रति वही आपत्ति व्यवहृत हो सकती है जो कि स्वयं अशुद्ध संज्ञान पर होती है क्योंकि इसकी प्रामाणिकता को प्रतिष्ठित कर सकने में समर्थ, विशिष्ट विभेदक लक्षणों के स्वभाव को सम्यक् ज्ञान की किसी परिभाषा द्वारा नहीं प्रतिष्ठित किया जा सकता।

सम्यक् संज्ञान की 'जो अशुद्ध अथवा त्रुटिपूर्ण नहीं है' ऐसा बोध (अव्यभिचारी अनुभवः) इस रूप में की जाने वाली परिभाषा के विरुद्ध तर्क करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं कि 'जो अशुद्ध नहीं है' अथवा 'जो त्रुटिपूर्ण नहीं है' का यह अर्थ नहीं हो सकता कि संज्ञान का अस्तित्व उसी समय होगा जबकि विषय का अस्तित्व होगा; क्योंकि तब अनुमानात्मक

संज्ञान जो प्रायः अतीत कालिक अथवा भावी वस्तुओं का निर्देश करता है, मिथ्या होगा। न ही इसका अर्थ हो सकता है कि संज्ञान का देश काल में अपने विषयों के साथ सहास्तित्व होता है; न ही इसका यह अर्थ हो सकता है कि सम्यक् संज्ञान सभी रूपों में अपने विषय के समान होता है क्योंकि संज्ञान स्वभाव में अपने विषय से इतना भिन्न होता है कि किसी ऐसे दृष्टान्त का होना संभव नहीं है जिसमें यह सभी रूपों में उसके सदृश होगा। तथा, यदि ज्ञान तथा इसके विषय की एकात्मकता के विचार को स्वीकार किया जाय तब यह उन दृष्टान्तों पर भी लागू होगा जहाँ एक विषय कोई गलती से अन्य के रूप में देखा जाता है; और इस कारण 'अव्यभिचारी शब्द' सम्यक् ज्ञान को अशुद्ध संज्ञान से विभेदित करने के लिए पर्याप्त नहीं है।

'ऐसा बोध जो ज्ञात विषय से असंगत नहीं है (अविसंवादी)' के रूप में सम्यक् संज्ञान की बौद्ध परिभाषा के विरुद्ध तर्क करते हुए, श्री हर्ष अशुद्ध ज्ञान का निर्धारण करने वाले विषय के साथ संज्ञान की असंगतता के सभी संभावित अर्थों में इस परिभाषा के प्रत्याख्यान का प्रयास करते हैं। यदि परिभाषा को सम्यक् संज्ञान को ऐसे संज्ञान में प्रतिबद्ध करने वाला माना जाता है जिसका ज्ञान अपने विषय के साथ सहमति रखने वाले के रूप में एक अन्य संज्ञान द्वारा होता है, तब—बहुसंख्यक क्षणों में अनुक्रमिक रूपेण पुनरावृत्त तथा सभी अनुक्रमिक क्षणों में, जब तक कि इसका प्रत्याख्यान नहीं होता, अपने विषय के साथ सम्मत रूप में प्राप्त—एक अशुद्ध संज्ञान को भी सम्यक् मानना होगा क्योंकि इन दृष्टान्त में पूर्ववर्ती संज्ञान अनुवर्ती क्षणों के संज्ञान द्वारा प्रमाणित होता है। पुनः, यदि सम्यक् संज्ञान को ऐसे संज्ञान के रूप में परिभाषित किया जाए, अपने विषय के साथ जिसकी असंगति का प्रत्यक्षीकरण किसी अन्य संज्ञान द्वारा नहीं होता, तब भी इसमें कई कठिनाइयाँ शेष रहती हैं। क्योंकि अशुद्ध संज्ञान भी कुछ समय तक किसी अन्य संज्ञान द्वारा अखंडित रह सकते हैं। अपरंच, सामान्य दृष्टि द्वारा शुक्तिका का सफेद के रूप में दर्शन के बाद में किसी पाण्डुरोगग्रस्त दृष्टि के पीले के रूप में दर्शन द्वारा खण्डन हो सकता है। यदि यह आग्रह किया जाता है कि खण्डन एक त्रुटिविहीन परवर्ती संज्ञान द्वारा होना चाहिए, तब यह कहा जा सकता है कि यदि त्रुटिविहीन संज्ञान को परिभाषित करने का कोई उपाय होता तब सम्यक् संज्ञान की परिभाषा बड़ी सरल होती। इसके विपरीत, सम्यक् संज्ञान की ठीक परिभाषा के बिना त्रुटिपूर्ण अथवा अशुद्ध संज्ञान की बात करने का कोई अर्थ नहीं है। यदि सम्यक् संज्ञान को कारणात्मक सामर्थ्य से संपन्न संज्ञान के रूप में परिभाषित किया जाए तो वस्तुतः यह भी ठीक परिभाषा नहीं है; क्योंकि सर्प के अशुद्ध संज्ञान से भी भय की उत्पत्ति तथा यहाँ तक की मृत्यु भी हो सकती है। यदि यह आग्रह किया जाता है कि कारणात्मक सामर्थ्य का संपादन विषय द्वारा उसी रूप में होना चाहिए जिस रूप में यह देखा जाता है, तो इसे अभिनिश्चित करना अत्यन्त कठिन है; तथा कारणात्मक सामर्थ्य का भी मिथ्या संज्ञान हो सकता है; अतएव, कारणात्मक सामर्थ्य के आधार पर सम्यक् संज्ञान के स्वभाव की अभिनिश्चित करना अत्यन्त कठिन होगा। श्रीहर्ष पुनः यह कहते हैं कि समानरूपेण विषय की प्राप्ति कराने वाले के रूप में (अर्थ-प्रापकत्व) सम्यक् संज्ञान की धर्मकीर्ति की परिभाषा भी अबोधगम्य है क्योंकि यह निश्चित कर सकना कठिन है कि कौन सा विषय प्राप्य है तथा कौन सा नहीं, तथा यह विचार कि वस्तु उस रूप में प्राप्य है जिस रूप में वह देखी जाती है, शुक्तिका में रजत के मिथ्या

प्रत्यक्ष के दृष्टान्त में भी विद्यमान रह सकता है। यदि सम्यक् संज्ञान को ऐसे संज्ञान के रूप में परिभाषित किया जाता है जिसका कि खण्डन नहीं होता तब यह पूछा जा सकता है कि क्या खण्डन का अभाव केवल प्रत्यक्ष के समय होता है जिस दशा में शुक्तिका में रजत का मिथ्या प्रत्यक्ष भी सम्यक् संज्ञान होगा क्योंकि यह कम से कम भ्रम की उत्पत्ति के समय खण्डित नहीं होता। यदि यह आग्रह किया जाता है कि सम्यक् संज्ञान ऐसा संज्ञान है जिसका कभी खंडन नहीं होता तब हम किसी संज्ञान की शुद्धता के निश्चयात्मक कथन की स्थिति में नहीं रहते; क्योंकि इसका निश्चित होना असंभव है कि कोई विशेष संज्ञान कभी भी किसी भी समय खण्डित नहीं होगा।

यह प्रदर्शित करने के बाद कि सम्यक् संज्ञान (प्रमा) को परिभाषित करना असंभव है, श्रीहर्ष यह प्रदर्शित करने का प्रयास करते हैं कि संज्ञान के उपकरणों (प्रमाण) की अवधारणा में सन्निविष्ट के रूप में उपकरणों (करण) की अवधारणा अथवा उनके व्यापार को परिभाषित करना असंभव है। श्रीहर्ष यह प्रदर्शित करने का प्रयास करते हैं कि कर्ता के रूप में करणत्व को अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखने वाले के रूप में पृथक् रूप से नहीं उपकल्पित किया जा सकता क्योंकि इसके पृथक् अस्तित्व को निर्धारित करना कठिन है। श्रीहर्ष ने इस विवेचन को जिस रूप में प्रस्तुत किया है उसकी सूक्ष्मताओं में जाना एक लम्बी कथा होगी एवं हमारे वर्तमान प्रयोजनों के लिए केवल यह जानना पर्याप्त है कि श्रीहर्ष ने एक पृथक् कर्त्ता के रूप में 'करणत्व' के प्रत्यय का–इसके लोकप्रिय रूप तथा जिस रूप में यह संस्कृत व्याकरण में उपकल्पित हुआ है, दोनों में–प्रत्याख्यान किया है। उन्होंने 'करण' के प्रत्यय के प्रति संलग्न किए जा सकने वाले विभिन्न वैकल्पिक अर्थों की भी चर्चा की है और यह दिखाया है कि इनमें से किसी भी अर्थ का संतोषपूर्ण ढंग से औचित्य-स्थापन नहीं किया जा सकता।[1]

प्रत्यक्ष की परिभाषा का प्रत्याख्यान करने में वह प्रत्यक्ष की सम्यक् ज्ञान के उपादान के रूप में परिभाषा करने की निरर्थकता का प्रदर्शन करने वाली एक विस्तृत चर्चा प्रस्तुत करते हैं। न्याय में प्रत्यक्ष को एक ऐसे संज्ञान के रूप में परिभाषित किया गया है जो किसी इन्द्रियविशेष के अपने विषय के साथ संसर्ग के कारण उत्पन्न होता है; किन्तु यह जानना असंभव है कि क्या कोई संज्ञान इन्द्रिय-संसर्ग से उत्पन्न हुआ है क्योंकि इन्द्रिय-संसर्ग से ज्ञान की उत्पत्ति का तथ्य किसी अन्य उपाय द्वारा नहीं देखा अथवा जाना जा सकता। चूँकि प्रत्यक्ष में इन्द्रियाँ एक ओर आत्मा के संसर्ग में और दूसरी ओर बाह्य विषयों के संसर्ग में रहती है, श्रीहर्ष विविध तर्कों द्वारा यह आग्रह करते हैं कि जब तक कि प्रत्येक दृष्टान्त में उस विषय विशेष, जिसके संसर्ग में इन्द्रिय है, का उल्लेख नहीं किया जाता, प्रत्यक्ष की कोई ऐसी परिभाषा प्रदान कर सकना कठिन होगा कि यह केवल बाह्य विषय के प्रकाशन को ही उपलक्षित करे, आत्मा को नहीं जो कि इन्द्रिय के उतने ही संसर्ग में है जितना कि विषय। पुनः, प्रत्येक प्रत्यक्ष में विषय का सविशेष उल्लेख उसे विशिष्ट बना देगा और इससे परिभाषा, जिसका कि केवल सम्बन्ध प्रत्ययों के प्रति व्यव-

---

1. कई अन्य परिभाषाओं में श्रीहर्ष ने उद्योतकर द्वारा दी गई 'करण' की परिभाषा का भी प्रत्याख्यान किया है–'यद्वानैव करोति तत् करणम्'। –खण्डन, पृ० 506।

होता है, के प्रयोजन का ही निरास होगा। तात्कालिकता के रूप में प्रत्यक्ष की एक संभव परिभाषा के विरुद्ध तर्क करते हुए श्रीहर्ष यह उपकल्पित करते हैं कि यदि प्रत्यक्ष विषय के, इसके नित्य लक्षण के रूप में, किसी विशेष गुण का प्रकाशन करता है तब, ताकि इस गुण का अभिज्ञान हो सके, वहाँ एक अन्य लक्षण की आवश्यकता होगी, और यह एक अन्य लक्षण को अग्रकल्पित करेगा, और इस प्रकार एक असमाप्य शृंखला चलेगी; और यदि इस असमाप्य शृंखला की किसी अवस्था में यह मान लिया जाता है कि अब आगे किसी लक्षण की आवश्यकता नहीं है तब जब तक कि प्रत्यक्ष की संभावना का भी निरास न कर दिया जाय, इसमें पूर्ववर्ती निर्धारक लक्षणों की उपेक्षा समाविष्ट होती है। यदि इस तात्कालिकता को इन्द्रियों के कारणत्व द्वारा उत्पादित संज्ञान के रूप में परिभाषित किया जाए तो, पुनः; यह अबोधगम्य है; क्योंकि इन्द्रियों का कारणत्व अबोध्य है। श्रीहर्ष प्रत्यक्ष की विभिन्न वैकल्पिक परिभाषाओं को लेते हैं एवं सभी का न्यूनाधिक समान रूप में--मुख्यतः परिभाषाओं के निर्माण में शाब्दिक त्रुटियों को प्रदर्शित करते हुए--खण्डन करने का प्रयास करते हैं।

श्रीहर्ष के खण्डनखण्डखाद्य के टीकाकार चित्सुख आचार्य प्रत्यक्ष की परिभाषा का अपेक्षाकृत अत्यधिक संक्षिप्त रूप में प्रत्याख्यान प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि अक्षपाद द्वारा विषय के साथ इन्द्रिय-संसर्ग से उत्पन्न होने वाले अखण्डित संज्ञान के रूप में प्रत्यक्ष की परिभाषा अबोध्य है। हम यह कैसे जान सकते हैं कि संज्ञान का खण्डन नहीं होगा? इसे संस्थित परिस्थितियों की त्रुटिविहीनता के ज्ञान से नहीं जाना जा सकता क्योंकि त्रुटिविहीनता को तभी जाना जा सकता है जब कि कोई असंगति न हो और इस कारण त्रुटिविहीनता को पहले से अथवा स्वतंत्रतः नहीं जाना जा सकता, तथा संस्थित परिस्थितियों में बहुतेरे अदृश्य तत्त्व होंगे। यह कहना भी असंभव है कि कोई अनुभव सर्वदा के लिए अखण्डित रहेगा। न ही यह आग्रह किया जासकता है कि सम्यक् संज्ञान वह है जो द्रष्टा द्वारा कोई प्रयास (प्रवृत्ति-सामर्थ्य) उत्पन्न कर सके; क्योंकि भ्रामक ज्ञान भी, इसके द्वारा भ्रमित, व द्रष्टा में एक प्रयास की उत्पत्ति कर सकता है। परिणाम की उपलब्धिमात्र संज्ञान की शुद्धता की कसौटी नहीं है; क्योंकि कोई व्यक्ति मणि की प्रभा को देख सकता है और इसे मणि सोच सकता है और वस्तुतः मणि को पा सकता है, तथापि इसमें संदेह नहीं किया जा सकता कि मणि की किरण का मणि के रूप में उसका बोध त्रुटिपूर्ण था।[1] तारकों तथा ग्रहों के प्रत्यक्ष के दृष्टान्त में इन वस्तुओं की किसी वास्तविक उपलब्धि की कोई संभावना नहीं होती, तथापि संज्ञानों की प्रामाणिकता के अस्वीकरण का कोई कारण नहीं है।

लिंगपरामर्श अथवा 'पक्ष' (उदाहरण के लिए पर्वत) लिंग' (उदाहरण के लिए धूम), जो कि साध्य (उदाहरण के लिए अग्नि) के साथ सदैव सदास्तित्वमान होता है, के अस्तित्व की सिद्धि के रूप में, अथवा लिंग के साध्य (उदाहरणार्थ अग्नि) के साथ नित्य सहास्तित्व के रूप में श्रीहर्ष के अनुमान की परिभाषाओं के प्रत्याख्यान में प्रयुक्त न्यूनाधिक

---

1. दृश्यते हि मणिप्रभायां मणिबुद्ध्या प्रवर्तमानस्य मणिप्राप्तेः प्रवृत्तिसामर्थ्यं न चाव्यभिचारित्वम्। तत्त्व-प्रदीपिका पृ० 218। निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1915।

शाब्दिक तर्कों तथा इसके अन्य थोड़े संशोधित प्रकारों पर ध्यान न देते हुए, में उनकी सहास्तित्व (व्याप्ति) के स्वभाव की आलोचना पर आता हूं जोकि अनुमान की अवधारणा का मूल है। यह आग्रह किया जाता है कि व्याप्ति में अपेक्षित नित्य सहास्तित्व के सार्वभौमिक संबंध को तब तक प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता जबतक कि किसी जाति में सन्निविष्ट सभी व्यष्टियों के नित्य सहास्तित्व को न जाना जाय, जोकि असंभव है। नैयायिकों का कहना है कि मन, सामान्य प्रत्यासत्ति संज्ञा वाले जाति-प्रत्ययों अथवा सामान्यों के साथ एक प्रकार के मानसिक संसर्ग द्वारा, वस्तुतः उसके सभी व्यष्टियों के अनुभव के बिना किसी जाति के सभी व्यष्टियों का प्रतिज्ञान कर सकता है। वस्तुतः इसी रूप में बहुतेरे दृष्टान्तों में धूम तथा अग्नि के नित्य सहास्तित्व को देख कर, हम दूरवर्ती पर्वत पर धूम-देख कर, 'धूम' के जाति-प्रत्यय के साथ एक प्रकार के मानसिक संसर्ग के अनुभव द्वारा अग्नि के साथ धूम के नित्य सहास्तित्व को समझते हैं। इस प्रकार की व्याख्या का प्रत्याख्यान करते हुए श्रीहर्ष तर्क करते हैं कि यदि सभी विशिष्ट धूमों को इस प्रकार जाति-प्रत्ययों के साथ मानसिक संसर्ग द्वारा जाना जा सके तब 'ज्ञेय' जाति-प्रत्यय के साथ मानसिक संसर्ग द्वारा हम सभी विशिष्ट ज्ञेयों को जान सकेंगे और सर्वज्ञ हो जाएंगे। कोई वस्तु, अपने विशिष्ट गुणों के साथ, एक व्यष्टि के रूप में ही ज्ञेय होती है, और इस कारण किसी वस्तु को एक ज्ञेय के रूप में जानना इस प्रकार के सभी विशिष्ट गुणों का ज्ञान सन्निविष्ट करेगा; क्योंकि 'ज्ञेय' जाति-प्रत्यय उन सभी व्यष्टियों को सन्निविष्ट करेगा जिनका एक विशिष्ट ज्ञेय स्वभाव है। यह आग्रह किया जा सकता है कि ज्ञेयत्व एक ऐकान्तिक स्वभाव है, तथा यह कि वस्तुएं अन्यथा पूर्ण भिन्न हो सकती है तथापि, जहां तक ज्ञेयता का संबंध है, वे एक हो सकती हैं, और इस प्रकार वस्तुएँ स्वभाव की भिन्नता में, संपूर्णतः अज्ञात रह सकती हैं और फिर भी, जहां तक वे केवल ज्ञेय हैं, ज्ञात हो सकती हैं। इसके प्रति श्रीहर्ष का उत्तर यह है कि 'ज्ञेय' जाति-प्रत्यय सभी ज्ञातों को सन्निविष्ट करेगा और इस प्रकार ज्ञेय' शब्द के अर्थ में स्वभावों की भिन्नता भी सन्निविष्ट होगी।

पुनः केवल तर्क के लिए यह स्वीकार करने पर भी कि व्यष्टियों के माध्यम से जाति-प्रत्यय के साथ मानसिक संसर्ग रखना संभव है, नित्य सहास्तित्व को कैसे देखा जा सकता है? यदि हमारी इन्द्रियां बिना किसी अन्य सहायता के सहास्तित्व के इस प्रकार के संबंधों को देख सकती हैं, तो इस प्रकार के सहास्तित्व के दर्शन में त्रुटियों की कोई संभावना नहीं होगी। किन्तु, इस प्रकार की त्रुटियां होती हैं और परवर्ती अनुभव द्वारा उनकी शुद्धि होती है, एवं इन्द्रिय-निर्णय में त्रुटि की व्याख्या का कोई उपाय नहीं रह जाता। पुनः यदि इस सहास्तित्व को अविनाभाव के रूप में परिभाषित किया जाय, जिसका अर्थ यह है कि एक का अभाव होने पर दूसरे का भी अभाव है, तो इस प्रकार की परिभाषा त्रुटिपूर्ण है; क्योंकि वह उन दृष्टान्तों पर भी लागू हो सकता है जहां कोई वास्तविक नित्य सहास्तित्व नहीं है। इस प्रकार 'भूमि' तथा 'काटे जाने की संभावना' में कोई नित्य सहास्तित्व नहीं है; तथापि आकाश में भूमि का तथा 'काटे जाने की संभावना' का भी अभाव है। यदि यह आग्रह किया जाता है कि सहास्तित्व का निर्धारण किसी एक वस्तु के अभाव का किसी अन्य वस्तु के अभाव के साथ संगति के एकांकी दृष्टान्त द्वारा नहीं किया जा सकता, तो यह सिद्ध करना होगा कि सार्वत्रिक रूप में किसी एक–

उदाहरणार्थ, अग्नि–के अभाव के सभी दृष्टान्तों में दूसरे–उदाहरणार्थ, धूम–का भी अभाव है, किन्तु इस प्रकार के सार्वजनिक अभाव का निर्णय उतना ही कठिन है जितना कि सार्वजनिक सहास्तित्व का। पुनः, यदि इस सहास्तित्व को लिंग अथवा हेतु या साधन के अस्तित्व की असंभाविता के रूप में परिभाषित किया जाय, जहांकि साध्य का अभाव है, तब भी यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार की असंभाविता का, इन्द्रिय-ज्ञान द्वारा अथवा किसी अन्य उपाय द्वारा, निर्धारण संभव नहीं है।

अब, संभावनाओं के निर्णय में तर्क अथवा निरसनकारी विचार को नित्य सहास्तित्व का प्रतिष्ठापक नहीं माना जा सकता; क्योंकि सभी तर्क नित्य सहास्तित्व पर आधारित होते हैं, और इस प्रकार की मान्यता असमाप्य अन्योन्याश्रितता को लाएगी। प्रसिद्ध तर्कशास्त्री उदयन ने इस पर आपत्ति की है और कहा है कि यदि धूम तथा अग्नि के नित्य सहास्तित्व का अस्वीकरण किया जाता है तो इस प्रकार के अस्वीकरण (बाधकस्तर्कः) के विरुद्ध सबल तर्क हैं, अर्थात् यह कि यदि धूम को अग्नि के साथ सहास्तित्वमान् नहीं माना जाता तब या तो धूम का अस्तित्व बिना किसी कारण के होगा अथवा इसका अस्तित्व ही नहीं होगा, जो असंभव है। किन्तु श्रीहर्ष का कहना है कि यहां एक वैकल्पिक प्रवृत्ति के लिए स्थान है जिस पर उदयन का ध्यान नहीं गया है, अर्थात् यह कि धूम के अस्तित्व का कारण अग्नि के अतिरिक्त कुछ और है। यह हो सकता है कि ऐसे धूम हों जो अग्नि के कारण नहीं हैं। कोई इस विषय में कैसे निश्चित हो सकता है कि सभी धूमों की उत्पत्ति अग्नि से होती है? अग्नि की इन दो जातियों में, जिन पर हमारा ध्यान नहीं गया है, भिन्नताएं हो सकती हैं, और इस प्रकार इस उपकल्पना के लिए सदैव स्थान रहता है किसी विशेष धूम का अस्तित्व अग्नि के बिना हो सकता है और इस प्रकार की शंकाएं अनुमान को असभव बना देंगी। उदयन ने यह मान लिया था कि यदि हम किसी भावी दृष्टान्त के संबंध में शंका रखते हैं--कि यह संभव है कि किसी दृष्टान्त विशेष में सहास्तित्व को गलत पाया जाय--तब इस प्रकार की शंका अनुमान द्वारा समर्थित होगी, और इस बात का स्वीकरण में अनुमान का स्वीकरण सन्निविष्ट करेगा। यदि इस प्रकार की अतिशयोक्तिपूर्ण शंका को अनुचित माना जाए तो अनुमान के मार्ग में कोई बाधा नहीं रहती। शंकाओं को तभी तक स्वीकार किया जा सकता है जबकि शंकाएं व्यावहारिक जीवन से असंगत हों। प्रतिदिन हम पाते हैं कि भोजन से क्षुधा की शान्ति होती है और इस पर भी यदि हम यह शंका करें कि किसी दिन विशेष पर क्षुधित होने पर हमें भोजन ग्रहण करना चाहिए अथवा नहीं तो जीवन असंभव हो जाएगा।[1] किन्तु

---

1. शंका चेद् अनुमास्त्येव
   न चेच्छंका ततस्तराम्।
   व्याधातावधिराशंका
   तर्कः शंकावधिर्मतः॥

   कुसुमांजलि, 3.7। चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, बनारस, 1912।

इस मत का उत्तर श्रीहर्ष उदयन की अपनी कारिका के शब्दों में व्यावर्त्तन करते हुए देते हैं, जिसमें कि उन्होंने कहा कि जब तक शंका है अनुमान अप्रामाणिक हैं; यदि शंका नहीं है तो यह तभी हो सकता है जबकि अनुमान की अप्रामाणिकता को प्रकाशित कर दिया गया हो, और जब इस प्रकार की अप्रामाणिकता पाई जाएगी, शंकाओं का अस्तित्व होगा। और इस कारण संभावनाओं का तर्क कभी भी शंकाओं को नहीं हटा सकता।[1]

श्रीहर्ष 'नित्य सहास्तित्व' का स्वाभाविक संबंध (स्वाभाविकः सम्बन्धः) के रूप में परिभाषा के प्रति भी आपत्ति करते है। वे 'स्वाभाविक संबंध' शब्द का प्रत्याख्यान करते हैं और कहते हैं कि नित्य सहास्तित्व अपने विविध संभव अर्थों में से ये संभव अर्थ हैं : (1) सम्बंधी के स्वभाव पर निर्भरता (सम्बन्धिस्वभावाश्रित), (2) सम्बन्धी के स्वभाव द्वारा उत्पन्न (सम्बन्धिस्वभावजन्य), (3) सम्बन्ध का निर्माण करने वाले स्वभाव से अभिन्नता–किसी में भी तर्कसंगत नहीं ठहरेगा क्योंकि ये अत्यन्त व्यापक होंगे जो नित्य सहास्तित्वमान् नहीं हैं उन पर भी लागू होंगे उदाहरणार्थ, जो कुछ भी पर्थिव है, उसे लोहे की सुई से खुरचा जा सकता है। आगे वे नित्य सहास्तित्व की सोपाधिक स्थितियों (उपाधि) पर अनाश्रित सम्बन्ध के रूप में परिभाषा का प्रत्याख्यान करते हैं। श्रीहर्ष के तर्क के विवरणों में गए बिना, यह कहा जा सकता है कि यह अत्यन्त विस्तृत रूप में इस विश्वास पर आधारित है कि संबंधों की सोपाधिकता का नित्य सहास्तित्व के स्वभाव के ज्ञान बिना निर्धारित नहीं हो सकता तथा यह भी कि नित्य सहास्तित्व का निर्धारण नित्य सहास्तित्व की सोपाधिकता के पूर्वगामी निर्धारण के बिना संभव नहीं है।

श्रीहर्ष द्वारा सादृश्य, विवक्षा तथा प्रमाण का प्रत्याख्यान तथा साथ ही अनुमान के विभिन्न तर्कदोषों की परिभाषाओं का प्रत्याख्यान दार्शनिक दृष्टिकोण से अधिक महत्त्व के नहीं हैं और यहां उनके विस्तृत विवेचन की आवश्यकता नहीं है।

श्रीहर्ष द्वारा न्याय की कोटियों के प्रत्याख्यान पर ध्यान देने पर हम पाते हैं कि वह 'सत्' अथवा 'भावत्व' के प्रत्याख्यान से प्रारंभ करते हैं। उनका कहना है कि भाव को स्वयं अस्तित्वमान् के रूप में नहीं परिभाषित किया जा सकता क्योंकि अभाव भी स्वयं अस्तित्वमान् है; हम भाव को उतने ही अधिकारपूर्वक अस्तित्वमान् कह सकते हैं जितना कि अभाव को अस्तित्वमान् कह सकते हैं; अभाव तथा भाव दोनों 'अस्तित्वमान् हैं' इस क्रिया के व्याकरणीय कर्तृकारक—बोधकों के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं। पुनः प्रत्येक अस्तित्वमान् वस्तु के स्वयं विलक्षण होने के कारण, 'अस्तित्व' अथवा 'भाव' के समान कोई ऐसा समान गुण नहीं है जो सब में विद्यमान हो। पुनः, 'भाव' उतना ही 'भाव' का निरसन है जितना कि 'अभाव' 'भाव' का; इस कारण 'भाव' को किसी ऐसी वस्तु के रूप में परिभाषित नहीं किया जा सकता जोकि किसी वस्तु का निरसन नहीं हैं।

---

1. व्याघातो यदि शंकास्ति
   न चेच्छंका ततस्तराम्।
   व्याघातावविराशंका।
   तर्कः शंकावधिः कुतः॥ खण्डनखण्डखाद्य. पृ० 693।

निरसन वाणी का एक प्रकार है तथा भाव एवं अभाव दोनों को निरसनकारी रूप में अभिव्यक्त किया जा सकता है।

अभाव की कोटि पर विचार करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं कि यह किसी वस्तु के निरसन के रूप में परिभाषित नहीं किया जा सकता; क्योंकि जिस प्रकार अभाव को भाव का निरसन कहा जा सकता है, उसी प्रकार भाव को भी अभाव का निरस कहा जा सकता है (भावाभावयोर्द्वयोरपि परस्परप्रतिक्षेपात्मकत्वात्)। न ही अभाव को भाव का विरोध करने वाले के रूप में परिभाषित किया जा सकता है; क्योंकि सभी अभाव सभी भाव के विरोधी नहीं होते (उदाहरणार्थ, 'भूमि पर जलपात्र नहीं है' में जलपात्र भूमि का विरोधी नहीं है, जिसके कि संदर्भ में जलपात्र का निरास किया जाता है); यदि अभाव कुछ अस्तित्वमान् वस्तुओं का विरोध करता है तो वह निरसन का भेद नहीं करता; क्योंकि ऐसी कई अस्तित्वमान् वस्तुएं हैं जो परस्पर विरोधी हैं (उदाहरणार्थ अश्व तथा वृषभ')।

न्याय की गुणों के आश्रय के रूप में द्रव्य की परिभाषा का प्रत्याख्यान करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं कि गुण भी सांख्यिक तथा अन्य गुणों से युक्त प्रतीत होते हैं (उदाहरणार्थ, हम दो या तीन रंगों की, किसी रंग के गहरा अथवा हल्का होने की, मिश्रित अथवा मौलिक होने की बात करते हैं—एवं रंग को गुण माना जाता है)। यदि यह आग्रह किया जाता है कि यह गलती है तब तथाकथित द्रव्यों के गुणों से युक्त के रूप में प्रकटन को भी समानरूपेण त्रुटिपूर्ण मानना होगा। पुनः, द्रव्य की गुणों के आश्रय के रूप में परिभाषा का क्या अर्थ है? चूंकि गुण गुणत्व के जाति-प्रत्यय में अवस्थित रह सकते हैं, गुण के जाति-प्रत्यय को, परिभाषा के अनुसार, द्रव्य मानना चाहिए। यह आग्रह किया जा सकता है कि द्रव्य वह है जिसमें गुण अन्तर्भूत रहते हैं। किन्तु यहाँ 'में' का क्या अर्थ होगा? हम सफेद शुक्तिका में पाण्डुरोगी द्वारा देखे गए पीलेपन के मिथ्या दर्शन को सफेदपन के शुद्ध दर्शन से कैसे विभेदित करेंगे? जब तक शुक्तिका में पीलेपन के दर्शन के मिथ्यात्व का अभिज्ञान नहीं होता, दोनों दृष्टान्तों में कोई भेद नहीं हो सकता। पुनः, द्रव्य को अन्तर्भूत अथवा उपादान कारण (समवायिकारण) के रूप में नहीं परिभाषित किया जा सकता, क्योंकि यह जानना संभव नहीं है कि कौन सा अन्तर्भूत कारण है एवं कौन सा नहीं; क्योंकि सख्या को एक गुण गिना जाता है तथा रंग को भी एक गुण गिना जाता है, और फिर भी हम रंगों को एक, दो अथवा कई रंगों से विशेषित करते हैं।

अपरंच, न्याय द्वारा गुण की ऐसी वस्तु के रूप में परिभाषा, जिसकी एक जाति है तथा जो गुणों से विहीन है अबोध्य है; क्योंकि यह परिभाषा, गुण की अवधारणा को सन्निविष्ट करती है, जिसकी परिभाषा अपेक्षित है। अपरंच, जैसा कि ऊपर कहा गया है, गुणों में भी—जैसे कि रंगों में—सांख्यिक गुण होते हैं; क्योंकि हम एक, दो अथवा कई रंगों की बात करते हैं। सांख्यिक गुणों से युक्त, गुणों के इस प्रकटन को धारण करते हुए ही गुण की परिभाषा को प्रतिष्ठित किया जा सकता है तथा गुण की परिभाषा के आधार पर ही इस प्रकार के प्रकटनों को अशुद्ध मान कर उनका निरास किया जा सकता है। यदि रंगों को अन्य हेतुओं के विचार से गुणों के रूप में जाना जाता है तो, सांख्यिक गुणों से युक्त, ये केवल इसी कारण गुण नहीं कहे जा सकते; क्योंकि, परिभाषा के अनुसार, गुण

केवल द्रव्यों में होते हैं। यहाँ तक कि संख्याएँ भी पृथक्ता के गुण से युक्त होती हैं। इस प्रकार कोई एक भी दृष्टान्त नहीं है जिसे नैयायिक गुण का उदाहरण बना सके।

सम्बन्धों की चर्चा करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं कि यदि सम्बन्ध को किसी वस्तु में अवस्थित किसी वस्तु के रूप में उपकल्पित किया जाए तो इसका अर्थ अबोध्य है। सम्बन्ध का 'में' अथवा 'इसमें' अर्थ सर्वथा स्पष्ट नहीं है; क्योंकि 'आधार' के रूप में किसी वस्तु की अवधारणा 'में' अथवा 'इसमें' की अवधारणा के ऊपर आश्रित होती है, तथा वह अवधारणा भी एक आधार की अवधारणा पर आश्रित होती है, एवं ऐसी कोई अवधारणा नहीं है जो इनमें से किसी भी अवधारणा की स्वतंत्ररूपेण व्याख्या कर सके। आधार को अन्तर्भूत कारण नहीं माना जा सकता; क्योंकि उस दशा में 'इस पात्र में एक अंगूर है' अथवा 'शश में शृंगों का अभाव' जैसे उदाहरण अव्याख्येय होंगे। तत्पश्चात् वे कई संभावित अर्थों को लेते हैं जिन्हें आधार की अवधारणा के लिए दिया जा सकता है किन्तु, दार्शनिक दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण न होने के कारण उन्हें यहाँ छोड़ दिया जाता है। वह ज्ञान के विषय तथा विषयी के संबंध (विषयविषयिभाव) की परिभाषा की असंभाव्यता की भी चर्चा करते हैं।

कारण की परिभाषा का प्रत्याख्यान करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं कि कारण को तात्कालिक पूर्वगामिता के रूप में नहीं परिभाषित किया जा सकता; क्योंकि तात्कालिक पूर्वगामिता को केवल कारणात्मक व्यापार के प्रति आरोपित किया जा सकता है जो कि कारण तथा परिणाम के बीच सदैव मध्यवर्ती होता है। यदि इस सिद्धान्त के आधार पर, कि जो (उदाहरणार्थ, कारणात्मक व्यापार) किसी वस्तु (उदाहरणार्थ, कारण) में है उसे इसके (कारण) तथा इसके अनुवर्ती (परिणाम)का मध्यवर्ती घटक नहीं माना जा सकता-कारणात्मक व्यापार को पृथक् तथा स्वतंत्र घटक नहीं माना जाए तो कारणके कारण को भी कारण से अभिन्न और अतएव कारण मानना होगा। किन्तु यदि यह आग्रह किया जाता है कि चूँकि कारण का कारण व्यापार नहीं है अतः इसे कारण से अभिन्न नहीं माना जा सकता, तब कोई प्रतिपक्षी से व्यापार के अर्थ की परिभाषा करने को कह सकता है। यदि प्रतिपक्षी इसे ऐसे घटक के रूप में परिभाषित करता है जिसके बिना कारण परिणाम को उत्पन्न नहीं कर सकता तब प्राकृतिक नियम, देश-काल तथा इस प्रकार की सहयोगी परिस्थितियों एवं सर्वसामान्य तथा नित्य अवस्थाओं को भी व्यापार मानना होगा, जो असंभव है। अपरंच, 'व्यापार' को कारण द्वारा स्वयं उत्पन्न के रूप में नहीं विशेषित किया जा सकता; क्योंकि कारण के प्रत्यय के अर्थ की व्याख्या तथा परिभाषा अभी भी अपेक्षित है। पुनः, यदि कारण को जो 'अ-कारण' से भिन्न है उसकी पूर्वगामिता के रूप में परिभाषित किया जाए तो यह भी दोषपूर्ण होगा; क्योंकि कोई भी कारण के स्वभाव तथा इसके विपरीत को समझे बिना परिभाषा के 'अ-कारण' को नहीं समझ सकता। अपरंच, स्थायी द्रव्य होने के कारण आकाश किसी भी वस्तु के 'अ-कारण' के रूप में सदैव विद्यमान रहता है, और फिर भी ध्वनि का कारण माना जाता है। पुनः, यदि कारण को ऐसी वस्तु के रूप में परिभाषित किया जाए जो परिणाम के विद्यमान रहने पर विद्यमान एवं परिणाम की अनुपस्थिति में अनुपस्थित रहती है तो यह आकाश, जिसे कभी अनुपस्थित नहीं जाना जाता, के कारणत्व को नहीं व्याख्यायित करेगा। पुनः यदि कारण को

नित्य पूर्वगामिता के रूप में परिभाषित किया जाए तो आकाश जैसे नित्य द्रव्यों को परिणामों के एकमात्र कारण के रूप में स्वीकार करना होगा। किन्तु यदि नित्य पूर्वगामिता को निरुपाधि पूर्वगामिता के अर्थ में समझा जाए तो एक जलाए जाने वाले मृत्तिकापात्र के स्वाद तथा वर्ण जैसे सहास्तित्वमान सत्ताओं को अन्योन्याश्रित रूप में जले हुए मृत्तिकापात्र के वर्ण तथा स्वाद का कारण होना चाहिए; क्योंकि न तो वर्ण स्वाद का निर्धारण करता है और न स्वाद वर्ण का। इसके अतिरिक्त, यदि केवल नित्य पूर्वगामियों को ही कारण माना जाता है, तो, उनकी नित्य पूर्वगामिता के कारण, किसी रोग के नित्यशः पूर्वगामी लक्षणों को ही रोग का कारण मानना होगा। पुनः, कारणत्व को किन्हीं वस्तुओं का विशेष स्वभाव अथवा गुण नहीं माना जा सकता, जिस गुण को हमारे द्वारा प्रत्यक्षरूपेण वस्तुओं में अस्तित्वमान् के रूप में देखा जा सकता हो। इस प्रकार, कुम्भकार के चक्र-दण्ड को हम इसके द्वारा उत्पादित विशेष पात्रों के कारण के रूप में देख सकते हैं किन्तु कारणत्व को एक दण्ड अथवा किसी अन्य वस्तु के सामान्य गुण के रूप में देखना संभव नहीं है। यदि कारणत्व सामान्य रूप में वस्तुओं के संदर्भ में ही अस्तित्वमान् होता तो व्यष्टियों की उत्पत्ति की उपकल्पना असंभव होती, और किसी के लिए यह जानना संभव नहीं होता कि कौन सा कारणविशेष किस परिणामविशेष को उत्पन्न करेगा। इसके विपरीत इन्द्रियों द्वारा यह देखना सम्भव नहीं है एक विशिष्ट वस्तु कई विशिष्ट परिणामों का कारण है; क्योंकि जब तक ये विशिष्ट परिणाम वस्तुतः उत्पन्न नहीं हो जाते, उनको देखना संभव नहीं है, क्योंकि इन्द्रियसन्निकर्ष प्रत्यक्ष की आवश्यक अपेक्षा है। हमारे वर्तमान प्रयोजनों के लिए कारण के उन सभी विभिन्न संभव प्रत्ययों की चर्चा आवश्यक नहीं है जिनके प्रत्याख्यान का प्रयास श्रीहर्ष ने किया है: ऊपर की समीक्षा से कार्य की कोटि के प्रत्याख्यान के लिए श्रीहर्ष द्वारा प्रयुक्त विधि के पर्याप्त व्यापक-अभिज्ञान की अपेक्षा की जाती है।

न ही प्रस्तुत पुस्तक के सीमित क्षेत्र के भीतर यह संभव है कि न्याय दर्शन में स्वीकृत विभिन्न कोटियों के सभी विविध वैकल्पिक प्रतिवादों का अथवा उन उपायों का पूरा विवरण दिया जा सके जिनकी सहायता से **खण्डनखण्डखाद्य** में श्रीहर्ष ने इनका प्रत्याख्यान किया है। अतएव यहाँ मैंने उनके द्वन्द्ववादी तर्क के अधिक महत्त्वपूर्ण अंशों के कुछ दृष्टान्तों को ही प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। श्रीहर्ष की आलोचनाओं का मुख्य दोष यह है कि वे प्रायः शाब्दिक कुतर्कों का रूप ग्रहण करने लगती हैं तथा प्रतिपक्षी की परिभाषाओं की अभिव्यक्ति के दोषों पर बल देती हैं, तथा उसके सामान्य विचारों के प्रति सहानुभूतिपरक व्यवहार करने का न्याय नहीं करतीं। यह देखना सरल है कि किस प्रकार न्याय की शाब्दिक परिभाषाओं के इन प्रत्याख्यानों ने नैयायिकों में रक्षात्मक वृत्ति को उभारा और उन्होंने अपनी परिभाषाओं को और सम्यक् ढंग से प्रस्तुत किया जिनमें श्रीहर्ष तथा अन्य आलोचकों के प्रत्याख्यानों के विषय बने दोषों को दूर करने का प्रयास किया गया। अतएव, एक अर्थ में श्रीहर्ष तथा उनके कुछ अनुयायियों की आलोचनाओं ने न्याय-चिन्तना के विकास में बड़ी हानि पहुँचाई; क्योंकि पूर्ववर्ती न्याय-विचारकों के विपरीत, गंगेश, रघुनाथ तथा अन्य परवर्ती न्याय-विचारक केवल ऐसे उपयुक्त अनुबन्धों तथा शब्दावलियों के अनुसंधान में प्रवृत्त रहे जिनके द्वारा वे अपनी कोटियों को इस प्रकार परिभाषित कर सकें कि उनके प्रतिपक्षियों की आलोचनाओं द्वारा प्रदर्शित, उनकी

परिभाषाओं के अवांछनीय प्रयोगों का परिहार हो सके। यदि ये आलोचनाएँ मुख्यतः न्याय-चिन्तन के दोषों की ओर उद्दिष्ट होतीं तो ये परवर्ती लेखक दार्शनिक गांभीर्य तथा कुशाग्रता के व्यय पर शाब्दिक अभिव्यक्तियों को विकसित करने का मार्ग ग्रहण करने को बाध्य नहीं हुए होते। अतएव, श्रीहर्ष को प्रथम महान् लेखक कहा जा सकता है जो अप्रत्यक्ष रूप से न्याय चिन्तना में शाब्दिकता के विकास के लिए उत्तरदायी हैं।

श्रीहर्ष की आलोचनाओं का दूसरा दोष यह है कि वे मुख्यतः स्वयं को न्याय की कोटियों की परिभाषाओं की आलोचना तक सीमित करते हैं और विचार की इस प्रकार की कोटियों में सन्निविष्ट सामान्य विचारों की इतने विस्तार से चर्चा नहीं करते। किन्तु श्रीहर्ष के साथ पूर्ण न्याय करते हुए यह अवश्य कहा जाना चाहिए कि यद्यपि उन्होंने न्याय की परिभाषाओं को अपनी आलोचनाओं का मुख्य विषय बनाया तथापि इस प्रकार की परिभाषाओं के विभिन्न वैकल्पिक प्रकारों एवं दृष्टिकोणों की चर्चा में वे प्रायः विवाद में सन्निविष्ट समस्याओं का विस्तारपूर्ण विवेचन करते हैं। किन्तु बहुतेरे दृष्टान्तों में उनकी चूकें अत्यन्त स्पष्ट हैं। उदाहरणार्थ, संबंधों की चर्चा में केवल आधार तथा अन्तर्निविष्ट के रूप में अन्तर्भूतता के रूप में तथा संज्ञानों के विषय-विषयी संबंध के रूप में संबंध की परिभाषाओं का प्रत्याख्यान करने का प्रयास करते हैं, तथा संबंध के बहुतेरे अन्य प्रकारों को छोड़ देते हैं जिनकी चर्चा की जा सकती थी। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उनके प्रत्याख्यान की एक विशेषता यह है कि उनका दृष्टिकोण केवल ध्वंसात्मक है तथा वे अपने दृष्टिकोण से किसी स्थिति की परिभाषा करने का उत्तरदायित्व स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। वे यह प्रदर्शित करने में प्रसन्न होते हैं कि कोई भी जागतिक आभास किसी भी प्रकार परिभाषित नहीं हो सकता और इस प्रकार, अनिर्वचनीय होने के कारण, वे सभी मिथ्या हैं। श्रीहर्ष ने यह नहीं प्रदर्शित किया और न वे कर सकते थे कि विभिन्न कोटियों की परिभाषा केवल उन्हीं रूपों में हो सकती है जिनके कि प्रत्याख्यान का उन्होंने प्रयास किया है। संभवतः उन्हें अन्य तथा अधिक सुन्दर रूपों में परिभाषित किया जा सकता था, और यहाँ तक कि उन परिभाषाओं को भी, जिनका उन्होंने प्रत्याख्यान किया, उपयुक्त शब्दावलियों के प्रयोग द्वारा और परिष्कार किया जा सकता था। उन्होंने यह दिखाने का प्रयास नहीं किया कि कोटियों में सन्निविष्ट प्रत्यय इस प्रकार के अन्तर्विरोधों से संयुक्त हैं कि उन्हें चाहे जिस रूप में भी परिभाषित किया जाय उन आभ्यन्तर अन्तर्विरोधों से, जो कि स्वयं प्रत्ययों के स्वभाव में ही अन्तर्भूत है नहीं बचा जा सकता। इसके स्थान पर उन्होंने उन औपचारिक परिभाषाओं पर ध्यान केन्द्रित किया जो न्याय तथा कभी-कभी प्रभाकर द्वारा प्रस्तुत की गई थीं और उन परिभाषाओं की दोषमयता को प्रदर्शित करने का प्रयास किया। विशिष्ट परिभाषाओं की अशुद्धता प्रदर्शित करने से यह प्रदर्शित नहीं होता कि परिभाषित वस्तुएँ अशुद्ध हैं। यह निस्संदेह सत्य है कि कुछ परिभाषाओं का प्रत्याख्यान उन परिभाषाओं में समाविष्ट प्रत्ययों का प्रत्याख्यान सन्निविष्ट करता है; किन्तु प्रत्यय को प्रस्तुत करने के विशिष्ट प्रकार के प्रत्याख्यान का यह अर्थ नहीं है कि स्वयं प्रत्यय असंभव है। इस दूसरी बात को प्रदर्शित करने के लिए, इसके अपने वृत्तों के आधार पर, इस प्रत्ययविशेष का विश्लेषण और इस प्रकार के विश्लेषण में उपस्थित असंगतियों का प्रदर्शन आवश्यक है।

शांकर वेदान्त के प्रत्ययों की चित्सुख द्वारा प्रस्तुत व्याख्याएं

श्रीहर्ष के टीकाकार चित्सुख (लगभग 1200 ईस्वी), में श्रीहर्ष के प्रखर द्वन्द्वात्मक चिन्तन की सभी शक्तियाँ थीं किन्तु वे, श्रीहर्ष के समान न केवल न्याय की कोटियों का संक्षिप्त प्रत्याख्यान प्रस्तुत करते हैं अपितु अपनी **तत्त्वप्रदीपिका** में, जिस पर प्रत्यग्भगवान् (ईसवी सन् 1400) ने अपनी **नयनप्रसादिनो**[1] में टीका की है, शांकर वेदान्त के कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रत्ययों का तीक्ष्ण विश्लेषण तथा व्याख्या भी प्रस्तुत करते हैं। वे न केवल वेदान्त के अद्वैत सिद्धान्त के संरक्षक अपितु वेदान्ती प्रत्ययों के व्याख्याता भी हैं।[2] यह ग्रन्थ चार अध्यायों में लिखा गया है। प्रथम अध्याय में चित्सुख ने स्व-प्रकाश के वेदान्ती प्रत्ययों की व्याख्या, संविद् के रूप में आत्मा के स्वभाव, (आत्मनः संविद्-रूपत्व), अन्धकार के रूप में अज्ञान के स्वभाव, मिथ्यात्व के स्वभाव, अविद्या के स्वभाव, सभी प्रत्ययों की सत्यता के स्वभाव (सर्व प्रत्ययानाम् यथार्थत्वम्), भ्रान्तियों के स्वभाव इत्यादि की चर्चा की है। दूसरे अध्याय में उन्होंने न्याय की कोटियों, विभेद, पृथक्ता, गुण, कर्म,

---

1. गौडेश्वराचार्य, जिन्हें ज्ञानोत्तम नाम से भी जाना जाता है, के शिष्य चित्सुख ने आनन्दबोध भट्टारकाचार्य के न्यायमकरन्द पर तथा श्रीहर्ष के खण्डनखण्डखाद्य पर भी टीका लिखी है; उन्होंने **तत्त्वप्रदीपिका** अथवा **चित्सुखी** नामक एक स्वतंत्र कृति की रचना भी की जिस पर कि वर्तमान भाग का अध्ययन आधारित है। इस ग्रन्थ में उन्होंने उदयन, उद्योतकर, कुमारिल, पद्मपाद, वल्लभ (लीलावती), शालिकनाथ, सुरेश्वर, शिवादित्य, कुलार्क पंडित तथा श्रीधर (**न्यायकन्दली**) का उल्लेख किया है। इन कृतियों के अतिरिक्त उन्होंने शंकर के ब्रह्मसूत्र भाष्य पर **भाष्यभाव-प्रकाशिका** नामक टीका, आनन्दबोध की **प्रमाणमाला** पर **विवरण-तात्पर्य-दीपिका** नामक टीका, मण्डन की **ब्रह्मसिद्धि** पर **अभिप्राय प्रकाशिका** नामक टीका, ब्रह्मसूत्र के अधिकरणों के लिए **अधिकरण-मंजरी** नामक विषय सूची की भी रचना की। उनके गुरु ज्ञानोत्तम ने वेदान्त के ऊपर **न्यायसुधा** तथा **ज्ञानसिद्धि** नामक दो पुस्तकें लिखीं; किन्तु वे उस ज्ञानोत्तम से भिन्न व्यक्ति प्रतीत होते हैं जिन्होंने सुरेश्वर की **नैष्कर्म्यसिद्धि** पर टीका लिखी थी; क्योंकि ये दूसरे ज्ञानोत्तम एक गृहस्थ थे (वे स्वयं को 'मित्र' की गृहस्थ-सूचक उपाधि से विशेषित करते हैं) एवं चोल देश के मंगल नामक गाँव के निवासी थे जबकि पहले ज्ञानोत्तम, जैसा कि चित्सुख ने अपनी **तत्त्वप्रदीपिका** की पुष्पिका में बताया है, संन्यासी थे एवं गौड-नरेश के गुरु थे। उन्हें **ब्रह्मस्तुति, विष्णु पुराण टीका, षड्दर्शन-संग्रह-वृत्ति, अधिकरणसंगति** (ब्रह्मसूत्र के विषयों के अन्तः संबंधों की व्याख्या करने वाली कृति) एवं **नैष्कर्म्यसिद्धि** पर **नैष्कर्म्यसिद्धि-टीका** अथवा **भाव-तत्त्वप्रकाशिका** नामक टीका का भी रचनाकार बताया जाता है। उनके शिष्य सुखप्रकाश ने **ब्रह्मसूत्र** के विषय पर **अधिकरण-रत्नमाला** नामक पुस्तक लिखी।

2. इस प्रकार, पंडित हरिनाथ शर्मा ने **तत्त्वप्रदीपिका** अथवा **चित्सुखी** की अपनी संस्कृत भूमिका में इस कृति का 'अद्वैतसिद्धान्तरक्षकोऽप्यद्वैतसिद्धान्तप्रकाशको व्युत्पादकश्च' कह कर उल्लेख किया है।

जाति-प्रत्यय, विशेष, समवाय, प्रत्यक्ष, शंका, भ्रान्ति, स्मृति, अनुमान, व्याप्ति, व्याप्ति-ग्रह, पक्ष-धर्मता, हेतु, उपमान, निहितार्थ, भाव, अभाव, द्वैत, परिमाण, कारणत्व, काल, आकाश इत्यादि की चर्चा की है। तीसरे अध्याय में, जो कि पुस्तक में सबसे छोटा अध्याय है, उन्होंने ब्रह्म के साक्षात्कार की संभावना तथा ज्ञान द्वारा मुक्ति के स्वभाव पर विचार किया है। चतुर्थ अध्याय में, जो प्रथम दो की अपेक्षा बहुत छोटा है, उन्होंने मुक्ति की अन्तिम अवस्था की चर्चा की है।

चित्सुख वेदान्त के सर्वाधिक आधारभूत प्रत्यय, अर्थात् स्व-प्रकाश के प्रत्यय, की औपचारिक परिभाषा से प्रारम्भ करते हैं। **पंचपादिका** तथा **पंचपादिका विवरण** में पद्मपाद तथा प्रकाशात्मन् दोनों ने आत्मा को अहंकार से स्व-प्रकाश (स्वयम्-प्रकाश) के रूप में विभेदित किया था। इस प्रकार, प्रकाशात्मन् का कहना है संविद् स्व-प्रकाशी है तथा इसका स्व-प्रकाश किसी अन्य स्व-प्रकाशी कारण से उत्पन्न नहीं है।[1] संविद् के इस स्वाभाविक स्व-प्रकाश के कारण ही इसके विषय स्व-प्रकाशी रूप में प्रकट होते हैं।[2] यह कहते हुए कि आत्मा शुद्ध स्व-प्रकाशी संविद् के स्वभाव का है। पद्मपाद यही बात दुहराते हैं; जबकि संविद् अन्य विषयों के संबंध में प्रकट होती है तथा इन्हें प्रकाशित करती है, तब इसे अनुभव कहते हैं, तथा जब यह सर्वथा एकाकी होती है तब इसे आत्मन् कहते हैं।[3] किन्तु, चित्सुख संभवतः प्रथम व्यक्ति हैं जिसने इस स्व-प्रकाश के स्वभाव को औपचारिक परिभाषा प्रदान की है।

चित्सुख ने इसे ऐसी वस्तु के रूप में परिभाषित किया है जो तात्कालिक (अपरोक्ष-व्यवहार-योग्य) कहलाने की अधिकारी है, यद्यपि यह किसी संज्ञान अथवा किसी संज्ञानात्मक कर्म (अवेद्यत्वेऽपि) का विषय नहीं होती।[4] यह आपत्ति की जा सकती है कि इच्छाएँ, अनुभूतियाँ इत्यादि भी किसी संज्ञान का विषय नहीं होतीं और फिर भी तात्कालिक कहलाने की अधिकारी होती हैं, और इस कारण यह परिभाषा उन पर भी लागू हो सकती है; क्योंकि संज्ञान के विषय का एक पृथक् वस्तुनिष्ठ अस्तित्व होता है, तथा एक मन-विषय-संसर्ग के द्वारा मन विषय के स्वरूप में परिवर्तित हो जाता है और इसके द्वारा उस एक संविद् को जो प्रत्यक्षतः दो रूपों—भौतिक पदार्थों के रूप में प्रकट होने वाले विषय-संविद् के रूप में तथा प्रज्ञाता के रूप में प्रकट होने वाली विषय-संविद् के रूप में विभक्त हैं, विषय-रूप पर विषयी-रूप के अध्यारोपण द्वारा पुनः इसकी एकता में प्रतिष्ठित किया जाता है एवं विषय-रूप संविद् में एक जलपात्र अथवा पुस्तक के रूप में प्रकाशित होता है। किन्तु,

---

1 संभेदनं तु स्वयंप्रकाश एव न प्रकाशान्तरहेतुः ।
—पंचपादिका-विवरण, पृ० 52।

2 तस्माद् अनुभवः सजातीयप्रकाशान्तरनिरपेक्षः प्रकाशमान एव विषये प्रकाशादिव्यवहार-निमित्तं भवितुम् अर्हति अव्यवधानेन विषये प्रकाशादि-व्यवहारनिमित्तत्वात् । —वही

3 तस्मात् चित्स्वभाव एवात्मा तेन प्रमेयभेदेन उपधीयमानोऽनुभवाभिधानीयकं लभते अविवेक्षितोपाधिरात्मादिशब्दैः । —पंचपादिका, पृ० 10।

4 अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वं स्वयम्प्रकाशलक्षणम् । —चित्सुखी, पृ० 9।

हमारी इच्छा अथवा हमारी अनुभूतियों के अनुभव के दृष्टान्त में इनका हमारे मन से पृथक् अस्तित्व नहीं होता और इस प्रकार इनका संज्ञान उस रूप में नहीं होता जिस प्रकार कि बाह्य विषयों का होता है। वेदान्त ज्ञान-मीमांसा के अनुसार, इच्छा, संवेदनाओं इत्यादि के विषयीगत अनुभव मानसिक घटकों, स्वरूपों अथवा अवस्थाओं से भिन्न होते हैं, जो कि प्रत्यक्ष तथा भ्रामक ढंग से स्वप्रकाशी संविद् के ऊपर आरोपित होते हुए अनुकूल होते हैं। इस कारण विषयीगत अवस्थाओं का उस रूप में संज्ञान नहीं होता जिस रूप में बाह्य पदार्थों का होता है। किन्तु, चूँकि इन अवस्थाओं का अनुभव भ्रान्तिपूर्ण आरोपण की एक प्रक्रिया के माध्यम से संभव है, वे तात्कालिक कहलाने के अधिकारी नहीं हैं।[1] इस प्रकार, यद्यपि वे तात्कालिक के रूप में प्रकट होते हैं, उनमें कोई उपयुक्त योग्यता नहीं होती अथवा, दूसरे शब्दों में, वे तात्कालिक कहलाने के अधिकारी नहीं होते। किन्तु वास्तविक अर्थ में बाह्य विषय भी स्व-प्रकाशी संविद् के ऊपर भ्रान्तिपूर्ण आरोपण ही होते हैं, और इस प्रकार उन्हें भी तात्कालिक कहलाने का अधिकारी नहीं कहा जा सकता। इस कारण, स्व-प्रकाशी संविद् को ऐसी वस्तु के रूप में, जिसके कि संज्ञान का कोई विषय नहीं होता, विभेदित करने की चेष्टा का कोई अर्थ नहीं है; क्योंकि वेदान्त के सिद्धान्त के अनुसार कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो तात्कालिक कहलाने की अधिकारी हो और इस कारण स्व-प्रकाशी सविद् के एक विशिष्ट विभेदक लक्षण के रूप में 'अवेद्यत्वे' (संज्ञान का विषय न होना) पद अनावश्यक है; इस कारण 'तात्कालिक' विशेषण भी आवश्यक हैं। इस प्रकार की आपत्ति के विरोध में चित्सुख का यह उत्तर है कि बाह्य विषयों के अनुभव को केवल प्रलय तथा ब्रह्मत्व की अन्तिम अवस्थाओं में 'अ-तात्कालिक' तथा भ्रान्तिपूर्ण पाया जाता है, और चूँकि हमारे अनुभव की सभी सामान्य अवस्थाओं में जागतिक विषय का अनुभव तात्कालिक होता है, 'अवद्यत्वे' विरुद्ध स्व-प्रकाशी संविद् को उन बाह्य वस्तुओं के सभी संज्ञानों से सफलतापूर्वक विभेदित करता है जो तात्कालिक कहलाने के अधिकारी हैं तथा जिनका केवल संज्ञान के विषय होने के कारण स्व-प्रकाशी संविद् के क्षेत्र से बहिष्करण किया जाना है। सामान्य अनुभव के क्षेत्र में दृष्ट जागतिक विषय स्व-प्रकाशी संविद् के समान ही तात्कालिक कहलाने के अधिकारी पाए जाते हैं, तथा संज्ञान के विषय होने के कारण ही उन्हें स्व-प्रकाशी सविद् से विभेदित किया जा सकता है।

स्व-प्रकाशी संविद् की स्वतन्त्र कोटि के स्वीकरण के पक्ष में मुख्य तर्क यह है कि जब तक स्वतन्त्र स्व-प्रकाशी संविद् का स्वीकरण नहीं किया जाता, तब तक किसी संज्ञान की उत्पत्ति की पूर्वगामी प्रक्रिया में एक दूषित शृंखला होगी; क्योंकि यदि स्व-प्रकाशी संविद् के शुद्ध अनुभव को, इसके पहले कि इसे समझा जाता है, आगे भी किसी अन्य प्रक्रिया के अधीनस्थ रखना है, तो उसे भी किसी अन्य प्रक्रिया की अपेक्षा हो सकती है, और फिर किसी अन्य की, और इस प्रकार एक असमाप्य शृंखला बनेगी। इसके अतिरिक्त स्वयं अनुभव के तथ्य से ही यह सिद्ध हो जाता है कि शुद्ध अनुभव स्व-प्रकाशी होता है; क्योंकि कोई भी अपने अनुभव के प्रति शंकालु नहीं होता और उसने अनुभव किया अथवा नहीं इस

---

1 अवेद्यत्वेऽपि नापरोक्षव्यवहारयोग्यता तेषाम्, अध्यस्ततयैव तेषां सिद्धेः।
—चित्सुखी, पृ० 10, निर्णय सागर प्रेस, बाम्बे, 1915।

बात के लिए उसे किसी और समर्थन अथवा संपुष्टि की आवश्यकता नहीं होती। यह आपत्ति की जा सकती है कि वह सुविज्ञात है कि हम किसी वस्तु के अपने बोध से अभिज्ञ (अनुव्यवसाय) रह सकते हैं, और इस प्रकार के दृष्टान्त में स्व-प्रकाशी अवबोध का और भी संज्ञान हो सकता है। इसके उत्तर में चित्सुख का कहना है कि जब कोई जलपात्र देखता है तब पहले मानस व्यापार होता है फिर उसकी समाप्ति हो जाती है फलतः जलपात्र के ज्ञानोदय-काल में मानस व्यापार का जो पूर्व संयोग हुआ था, उसका विनाश हो जाता है। तदनन्तर उत्तर संयोग होता है फिर ज्ञानान्तर उत्पन्न होता है। इस तरह अनेक क्षणों के विलम्ब से उत्पन्न हुए ज्ञान के लिए यह सम्भव नहीं है वह पूर्व ज्ञान का ग्राहक हो तो इन्द्रियाँ और बाह्य विषय स्वयमेव ज्ञान के स्व-प्रकाश को उत्पन्न नहीं कर सकते।[1] यदि ज्ञान को स्व-प्रकाशी नहीं स्वीकार किया जाता तो सम्पूर्ण जगत् अन्धा होगा और स्व-प्रकाश का अस्तित्व संभव नहीं होगा। जब कोई यह जानता है कि वह जलपात्र अथवा पुस्तक को जानता है तब यह संज्ञान किया हुआ विषय है जिसे जाना जाता है, बोध को नहीं जाना जाता; बोध का कोई बोध नहीं हो सकता, बोध केवल संज्ञान किए हुए विषय का ही हो सकता है।[2] यदि पूर्ववर्ती बोध को अनुवर्ती बोध का विषय बनाया जा सके, तो इसका अर्थ होगा आत्मा द्वारा जाने जाने वाले आत्मा की संभावना का स्वीकरण (स्वस्यापिस्वेन वेद्यत्वापातात्) ऐसा सिद्धान्त जो वेदान्ती प्रत्ययवाद के साथ नहीं प्रत्युत् बौद्ध विज्ञानवाद को संगत होगा। यह निःसंदेह सत्य है कि शुद्ध स्व-प्रकाशी संविद् स्वयं को एक मानसिक स्थिति के अवसर पर ही प्रदर्शित करती है; किन्तु अन्य संज्ञानात्मक स्थितियों से इसका अन्तर इस तथ्य में निहित होता है कि इसका कोई रूप अथवा विषय नहीं होता, और इस कारण यद्यपि इसे एक मानसिक स्थिति द्वारा संस्पष्ट किया जा सकता है तथापि यह इसके द्वारा प्रकाशित विषयों से भिन्न धरातल पर स्थित होता है।

दूसरी बात, जिस पर चित्सुख आग्रह करते हैं, यह है कि आत्मा शुद्ध स्व-प्रकाशी संविद् के स्वभाव का होता है (आत्मनः संविद्रूपत्वम्)। यह निश्चित ही चित्सुख का नया योगदान नहीं है क्योंकि यह विचार उपनिषदों में प्रतिष्ठित हुआ था और शंकर, पद्मपाद प्रकाशात्मन्, तथा अन्यों द्वारा पुनरावृत्त हुआ था। चित्सुख का कहना है कि ज्ञान के समान, आत्मा भी, किसी संज्ञानात्मक कार्यव्यापार अथवा संज्ञान का विषय बने बिना, तात्कालिकरूपेण प्रकाशित अथवा अनुभूत होता है और इस कारण आत्मा भी ज्ञान के स्वभाव का है। कोई भी अपनी आत्मा के विषय में शंकालु नहीं होता; क्योंकि आत्मा सदैव प्रत्यक्षतः तथा तात्कालिकरूपेण अवस्थित होता है। आत्मा तथा ज्ञान के अभिन्न होने के कारण, उनके बीच अभिन्नता को छोड़ कर कोई अन्य सम्भव नहीं होता (ज्ञानात्मनोः सम्बन्धस्यैव अभावात्)।

---

1 घटज्ञानोदयसमये मनसि क्रिया ततो विभागस्ततः पूर्वसंयोगविनाशस्तत् उत्तरसंयोगोत्पत्तिस्ततो ज्ञानान्तरम् इति अनेकक्षणविलम्बेन उत्पद्यमानस्य ज्ञानस्य अपरोक्षतया पूर्वज्ञानग्राहकत्वानुपपत्तेः। —चित्सुखी, पृ० 17।

2 विदितो घट इत्यत्र अनुव्यवसायेन घटस्यैव विदितत्वम् अवसीयते न तु वित्तेः। —वही, पृ० 18।

चित्सुख मिथ्यात्व को जिसे इसका कारण माना जाता है, उसमें उस वस्तु के अभाव के रूप में परिभाषित करते हैं।[1] वह उसे यह बताते हुए प्रदर्शित करते हैं कि अपूर्ण को, यदि इसका अस्तित्व कहीं होना है तो, उन घटकों में होना चाहिए जिनसे कि यह बना है, और यदि इसका अस्तित्व वहाँ भी नहीं है तो इसका अस्तित्व कहीं नहीं होता तथा यह मिथ्या है। किन्तु, यह स्पष्ट है कि सम्पूर्ण का अस्तित्व घटकों में कहीं हो सकता क्योंकि, सम्पूर्ण होने के कारण यह घटकों में नहीं हो सकता।[2] जागतिक आभास के मिथ्यात्व के लिए चित्सुख द्वारा प्रयुक्त एक अन्य तर्क यह है स्व-प्रकाशी संविद्, जो कि ज्ञाता (दृक्) है, तथा संज्ञान किए जाने वाले विषयों (दृश्य) के बीच किसी प्रकार के सम्बन्ध का होना असम्भव है। ज्ञान को इन्द्रिय-संसर्ग से उत्पन्न हुआ नहीं कहा जा सकता; क्योंकि रजत के भ्रान्तिपूर्ण प्रत्यक्ष में रजत के साथ किसी वास्तविक इन्द्रिय-संसर्ग के बिना ही रजत का मिथ्या प्रत्यक्ष होता है। विषयी तथा विषय के सम्बन्ध (विषयविषयिभाव) का उल्लेख इसे नहीं व्याख्यायित कर सकता क्योंकि स्वयं विषयी तथा विषय का सम्बन्ध अस्पष्ट तथा अव्याख्येय होता है ज्ञान में विषयी तथा विषय के सम्बन्व (विषयविषयिभाव) की उपयुक्त व्याख्या की असम्भावना के सम्बन्ध में तर्क करते हुए चित्सुख कहते हैं कि यह नहीं माना जा सकता कि विषयी तथा विषय के सम्बन्ध का यह अर्थ है कि ज्ञान विषय में कोई परिवर्तन उत्पन्न करता है तथा यह कि ज्ञाता यह परिवर्तन लाता है। क्योंकि इस प्रकार के परिवर्तन का क्या स्वभाव हो सकता है? यदि इसे ज्ञातता अथवा ज्ञात होने का स्वभाव कहा जाय, तो मेरे ज्ञान द्वारा वर्तमान क्षण में इस प्रकार के स्वभाव को कैसे उस वस्तुविशेष में एक निश्चित गुण के रूप में उत्पन्न किया जा सकता है तो ऐसा कोई निश्चित नियम नहीं होगा जिसके अनुसार इस प्रकार के गुणों की उत्पत्ति हो। न ही इस प्रकार के सम्बन्ध को, एक व्यावहारिक आधार पर, हमारे द्वारा ज्ञात विषयों अथवा वस्तुओं के हमारे ज्ञान से संबद्ध आभ्यन्तर संकल्पों अथवा संवेदनाओं के प्रसंग में, वास्तविक शारीरिक व्यावहारिक कार्य के उल्लेख द्वारा व्याख्यायित किया जा सकता है। क्योंकि अपने सामने दिखाई पड़ने वाले रजत खण्ड को उठाते हुए हम अनजान में इसके साथ रजत में स्थित मैल खींच सकते हैं, और इस कारण केवल इस आधार पर मैल के शारीरिक आहरण का तथ्य इसे हमारे ज्ञान का विषय नहीं बनाता, और इस कारण ज्ञान के विषयी-विषय-संबंध को केवल संज्ञान के अनुगामी शारीरिक कर्म के रूप में नहीं परिभाषित किया जा सकता। सकल्प की आभ्यन्तर मानसिक स्थितियाँ तथा ज्ञान से संलग्न मनोभाव ज्ञाता से संबद्ध होते हैं एवं ज्ञान के विषय

---

1. सर्वेषामपि भावानाम् आश्रयत्वेन सम्मते ।
प्रतियोगित्वम् अत्यन्ताभावं प्रति मृषात्मता ।।

—चित्सुखी, पृ० 39।

मिथ्यात्व की इन परिभाषाओं में से कुछ चित्सुखी के बहुत बाद लिखी गई पुस्तक मधुसूदन कृत अद्वैतसिद्धि में संगृहीत हैं।

2. अंशिनः स्वांशगात्यन्ताभावस्य प्रतियोगिनः अंशित्वाद् इतरांशीव ...विमतः पटः एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी अवयवित्वात् पटान्तरवत् ।

—चित्सुखी, पृ० 400, 41।

के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता। यदि यह आग्रह किया जाता है कि वस्तुनिष्ठता इस तथ्य में निहित होती है कि कोई भी ज्ञात वस्तु संविद् में प्रकट होती है, तब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि संविद् में इस प्रकटन का क्या अर्थ है ? इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि संविद् आधार है तथा विषय इसमें अन्तर्विष्ट है; क्योंकि संविद् के आभ्यन्तर तथा विषय के बाह्य होने के कारण, विषय इसमें अन्तर्विष्ट नहीं हो सकता। यह केवल अव्याख्यायित सम्बद्धता नहीं हो सकती; क्योंकि उस दशा में विषय को समानरूपेण विषयी माना जा सकता है और विषयी को विषय। यदि वस्तुनिष्ठता को ज्ञान को उभारने में समर्थ वस्तु के रूप में परिभाषित किया जाता है तो इन्द्रियों, प्रकाश तथा ज्ञान की उत्पत्ति में सहायक अन्य उपादानों को भी समानरूपेण विषय मानना होगा। विषय को ऐसी वस्तु के रूप में नहीं परिभाषित किया जा सकता जिसके कारण कि ज्ञान का अपना विशिष्ट स्वरूप है; क्योंकि ज्ञान का अपने स्वरूप से अभिन्नता के कारण, ज्ञान की उत्पत्ति में सहायक सभी वस्तुओं इन्द्रियाँ, प्रकाश इत्यादि को समानरूपेण विषय माना जा सकता है। इस प्रकार, विषयी-विषय-सम्बन्ध के स्वभाव को चाहे जिस रूप में उपकल्पित किया जाए, निराशा ही हाथ लगेगी।

चित्सुख अज्ञान के विषय में इस परम्परागत विचार का अनुसरण करते हैं कि यह एक अनादि सकारात्मक सत्ता है जो यथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति के साथ विलुप्त हो जाता है।[1] अज्ञान सकारात्मक तथा नकारात्मकता दोनों से भिन्न है, तथापि यह नकारात्मक नहीं है इस तथ्यविशेष, के कारण इसे केवल सकारात्मक कहा जाता है।[2] अज्ञान को एक सकारात्मक स्थिति के रूप में कहा जाता है, इसे केवल ज्ञान का निरास नहीं कहा जाता; और इस प्रकार यह कहा जाता है कि किसी व्यक्ति में किसी विषय के शुद्ध ज्ञान की उत्पत्ति उस विषय के प्रसंग में अज्ञान की सकारात्मक सत्ता को विनष्ट कर देती है तथा यह कि यह अज्ञान शुद्ध ज्ञान के निरास से कोई व्यक्ति जो समझेगा उससे भिन्न वस्तु है।[3] चित्सुख का कहना है कि अज्ञान का सकारात्मक स्वरूप उस समय स्पष्ट हो जाता है जब हम यह कहते हैं कि हम नहीं जानते कि तुम जो कह रहे हो वह सत्य है।' यहाँ इस तथ्यविशेष का शुद्ध ज्ञान है कि जो कहा गया है वह ज्ञात है, किन्तु यह नहीं ज्ञात है कि जो कहा गया है वह सत्य है।[4] यहाँ भी तथ्य के

---

1. अनादिभावरूपं यद्विज्ञानेन विलीयते तद् अज्ञानमिति प्राज्ञालक्षणम् संप्रचक्षते अनादित्वे सति भावरूपं विज्ञाननिरास्यम् अज्ञानमिति लक्षणं इह विवक्षितम्।
—चित्सुखी, पृ० 57।
2. भावाभावविलक्षणस्य अज्ञानस्य अभावविलक्षणत्वमात्रेण भावत्वोपचारात्।
—वही।
3. विमीतं देवदत्तनिष्ठप्रमाणज्ञानं देवदत्तनिष्ठप्रमाभावातिरिक्तानादेर्निवर्त्तकं प्रमाणत्वाद् यज्ञदत्तादिगतप्रमाणज्ञानवदित्यनुमानम्।
—वही, पृ० 58।
4. त्वदुक्तेऽर्थे प्रमाणज्ञानं मम नास्ति इत्यस्य विशिष्टविषयज्ञानस्य प्रमात्वात्।
—चित्सुखी, पृ० 59।

अज्ञान का सकारात्मक ज्ञान है, जो कि केवल ज्ञान का अभाव नहीं है। किन्तु, इस प्रकार का अज्ञान इन्द्रिय-संसर्ग अथवा इन्द्रिय-प्रक्रिया के माध्यम से नहीं अपितु सीधे स्व-प्रकाशी संविद्-साक्षिन् द्वारा अनुभूत होता है। किसी विषय के बारे में शुद्ध ज्ञान की उत्पत्ति के ठीक पूर्व अज्ञान रहता है, तथा, इस प्रकार के अज्ञान द्वारा विशेषित के रूप में विषय का अज्ञात के रूप में अनुभव किया जाता है। सभी वस्तुएँ ज्ञात अथवा अज्ञात के रूप में साक्षि-चैतन्य की विषय होती हैं।[1] ऐसी अवस्था जिसमें हमें कुछ नहीं ज्ञात हुआ (न किंचिदवेदिषम्) के रूप में गंभीर स्वप्नविहीन निद्रा के हमारे अभिकथन को भी स्वप्न-विहीन अवस्था में अज्ञान के सकारात्मक अनुभव के रूप में उल्लिखित किया जाता है।

वेदान्त ज्ञान मीमांसा का एक प्रमुख सिद्धान्त इस मान्यता में निहित है कि मिथ्या का प्रस्तुतीकरण अनुभव का एक तथ्य है। इससे विपरीत यह मत प्रभाकर का है कि मिथ्या का कभी भी अनुभव में प्रस्तुतीकरण नहीं होता तथा मिथ्यात्व मन द्वारा अनुभव के ऊपर आरोपित त्रुटिपूर्ण रचनावृत्ति में निहित होता है, जो, मिथ्या-रूपेण एक के रूप में संलग्न, दो वस्तुओं के बीच में सम्बन्ध के वास्तविक अभाव को नहीं देख पाती।

वेदान्त ज्ञान-सिद्धान्त का एक मुख्य सिद्धान्त इस परिकल्पना में है कि मिथ्या वस्तु की अभिव्यक्ति अनुभूत तथ्य में आती है; प्रभाकर का इससे विपरीत मत है। उनके अनुसार मिथ्या का दर्शन अनुभव में नहीं होता और दो वस्तुओं को मिथ्या रूप से एक मान कर उनके परस्पर संबंध के वास्तविक अभाव को मन देख नहीं पाता है और इससे मन द्वारा अनुभव पर जो अयथार्थ कल्पना का अध्यास होता है उससे ही मिथ्यात्व होता है। इस मत के अनुसार सारी भ्रान्ति उन दो वस्तुओं के मिथ्या संसर्ग अथवा मिथ्या सम्बन्ध के कारण होती है जो अनुभव में सम्बद्ध नहीं दिखती। यह मिथ्या संसर्ग मानस के सक्रिय व्यापार के कारण कहीं होता अपितु इस कारण कि मन यह नहीं देख पाता कि ऐसा कोई संसर्ग अनुभव में वस्तुतः आया ही नहीं था (असंसर्गाग्रह)। महान् मीमांसाचार्य प्रभाकर के अनुसार मिथ्या का कभी अनुभव नहीं होता और मिथ्या अनुभव का कारण मन की असत् कल्पना की स्वच्छंद भावपरक क्रिया ही नहीं अपितु अनुभव में प्रस्तुत कुछ भेदों को केवल देख पाना भी है। इसे न देख पाने के कारण ही पृथक् विषयों को पृथक् रूप में नहीं देखा जाता और इसीलिए जो वस्तुएँ पृथक् एवं भिन्न हैं उन्हें मिथ्या रूप से एक ही समझा जाता है तथा शुक्ति को रजत माना जाता है। परन्तु इसमें अनुभव में वही मिथ्या दर्शन नहीं है। जो ज्ञात है वह सत्य है और मिथ्यात्व ज्ञान की त्रुटियों एवं भेदों को न देख पाने के कारण होता है।

चित्सुख इस मत के प्रति आपत्ति उठाते हैं और कहते हैं मिथ्या ज्ञान की समस्त अवस्थाओं का इससे स्पष्टीकरण नहीं होता। उदाहरणार्थ इस वाक्य को लें—'मिथ्याज्ञान एवं मिथ्या दर्शन होते हैं'; यदि इस वाक्य को सत्य स्वीकार किया जाय तो प्रभाकर का

---

1. अस्मन्मते अज्ञानस्य साक्षिसिद्धतया प्रमाणावोध्यत्वात्, प्रमाणज्ञानोदयात् प्राक्काले अज्ञानं तद्विशेषितोऽर्थः साक्षिसिद्धः अज्ञात इत्यनुवादगोचरः ··· सर्वं वस्तु ज्ञाततया अज्ञाततया वा साक्षिचैतन्यस्य विषयः।

—वही, पृ॰ 60।

कथन असत्य हो जाएगा; यदि इसको असत्य माना जाय तो यह वाक्य मिथ्या हो जायगा, जिसके मिथ्यात्व का कारण अंतर को न देख पाना नहीं है। यदि यह कहा जाय कि समस्त प्रतिज्ञाओं के मिथ्यात्व का कारण अंतर का न देख पाना है तो किसी एक भी सत्यप्रतिज्ञा अथवा सत्य अनुभव को ढूंढ पाना कठिन होगा। सदा परिवर्तनशील दीपशिखा को एक ही मानने के हमारे मिथ्या अनुभव की उपमा के आधार पर समस्त सत्य प्रत्यभिज्ञाओं को भी मिथ्या माना जा सकता है और इस हेतु सारे अनुमान शंकास्पद हो जाएंगे। समस्त यथार्थ एवं सत्य संसर्गों का होना भेदों को न देख पाने के कारण बताया जा सकता है। ऐसा कोई भी संसर्ग नहीं जिसमें कोई यह निश्चय कर सके कि वह वास्तविक संसर्ग का ही प्रयोग कर रहा है न कि केवल संसर्ग के अभाव की अग्राह्यता को (असंसर्गाग्रह)। अतः चित्सुख का तर्क है कि सारे मिथ्या ज्ञान का कारण भेदों की अग्राह्यता है, ऐसी व्याख्या कर सकना आवश्यकता से अधिक आशा करना है क्योंकि यह मानना बिल्कुल युक्तियुक्त है कि मिथ्या ज्ञान दोषयुक्त इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न होता है क्योंकि वे यथार्थ ज्ञान के उदय में बाधक होकर निश्चित रूप से अयथार्थ ज्ञान की जनक होती हैं।[1] अतः शुक्ति में रजत के मिथ्या प्रत्यक्ष होने में शुक्ति ही रजत का टुकड़ा प्रतीत होती है। परन्तु जो मिथ्याप्रत्यक्ष के आलम्बन को प्रस्तुत करता है उसका स्वरूप क्या है? वह पूर्णतः असत् नहीं माना जा सकता क्योंकि जो पूर्णतः असत् है वह अयथार्थज्ञान का आलंबन भी नहीं हो सकता। इसके उपरान्त यह ऐसे ज्ञान (यथा, केवल शुक्ति के अयथार्थ ज्ञान वश उसको रजत मान कर उठाने की प्रवृत्ति) द्वारा द्रष्टा में भी भौतिक क्रिया व्यापार प्रवृत्त नहीं कर सकता। न वह सत् ही माना जा सकता है क्योंकि परवर्ती अनुभव से पूर्व के अयथार्थ ज्ञान का बाध होता है और वह यह कहता है कि रजत का टुकड़ा इस क्षण में नहीं है और भूतकाल में भी रजत का टुकड़ा नहीं था: केवल शुक्ति ही रजतवत् प्रतीत होती थी। अतएव मिथ्यादर्शन को वास्तविक प्रतीत होते हुए भी सत् अथवा असत् नहीं कहा जा सकता और समस्त माया की अनिर्वचनीयता का ठीक वही लक्षण है।[2]

चित्सुख द्वारा वर्णित वेदान्त के अन्य सिद्धान्तों का विवेचन करना आवश्यक नहीं है क्योंकि उनमें कोई नवीनता नहीं है और इस ग्रन्थ के प्रथम खंड में दशम अध्याय में उसका वर्णन हो चुका है। अतएव न्याय पदार्थों की द्वन्द्वात्मक आलोचना का वर्णन करना वांछनीय है। तथापि केवल कुछ आलोचनाओं का उल्लेख पर्याप्त होगा क्योंकि अधिकांशतः उनमें उन पदार्थों के खंडन का उल्लेख है जिनकी चर्चा श्रीहर्ष की महान् रचना 'खंडन-खंडखाद्य' में की गई है और एक ही प्रकार के पदार्थों का दो भिन्न-भिन्न लेखकों द्वारा किया गया खंडन दुरुह होगा, यद्यपि चित्सुख के बहुत से तर्क नवीन और श्रीहर्ष द्वारा दिए हुए तर्कों से भिन्न हैं। ऐसे खंडनों में चित्सुख का सामान्य क्रम श्रीहर्ष के क्रम से कुछ भिन्न है। क्योंकि श्रीहर्ष के असदृश चित्सुख ने वेदान्त की मुख्य प्रतिज्ञाओं का विवेचन किया और

---

1. तथा दोषानामपि यथार्थज्ञानप्रतिबंधकत्वम् अयथार्थज्ञानजनकत्वं च किं न स्यात्।
—चित्सुख, पृ० 66।

2. प्रत्येकं सदसद्भ्यां विचारपदवीं न यद्गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवेदिनः—
—चित्सुखी, पृ० 79।

उनके द्वारा न्याय पदार्थों के खण्डनों का लक्ष्य उन पदार्थों की अनिर्वचनीयता अथवा अस्पष्टता प्रदर्शित करना उतना नहीं था जितना कि यह प्रदर्शित करना कि वे मिथ्या प्रतीतियाँ हैं और शुद्ध स्वप्रकाश ब्रह्म ही परम तत्त्व और परम सत् है ।

अतः काल के खण्डन में चित्सुख लिखते हैं कि काल का प्रत्यय न तो चक्षु द्वारा और न त्वचा द्वारा ही हो सकता है और न यह मन द्वारा ही ग्राह्य है क्योंकि मन का व्यापार केवल बाह्य इन्द्रियों के संसर्ग से ही सम्भव है । इसके अतिरिक्त किसी प्रत्यक्षगम्य सामग्री के अभाव में इसका अनुमान भी नहीं हो सकता । पूर्व एवं पश्चात्, अनुक्रम एवं युगपद्भाव, शीघ्रता एवं अवधि, स्वतः ही काल के इस स्वरूप को नहीं प्रदर्शित कर सकते जो स्वरूप स्वयं काल का है । यह कहा जा सकता है कि क्योंकि सूर्य के स्पंदन मानव शरीर अथवा जगत् की वस्तुओं के सम्बन्ध में ही हो सकते हैं जिससे कि वे केवल किसी अन्य कर्तृत्व, यथा दिन, मास इत्यादि, के द्वारा ही युवा अथवा वृद्ध प्रतीत होते हैं, अतः सूर्य के स्पन्दन को विश्व की वस्तुओं के साथ सम्बन्ध करने वाला वह कर्तृत्व काल कहलाता है ।[1] इसका उत्तर चित्सुख यह देते हैं कि क्योंकि घटनाओं और वस्तुओं के प्रकट होने की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के अनुसार उन घटनाओं एवं वस्तुओं के काल के प्रकाशन का कारण स्वयं आत्मा को माना जा सकता है इसलिए 'काल' संज्ञक किसी पदार्थ के अस्तित्व की कल्पना करना अनावश्यक है । पुनः यह भी नहीं कहा जा सकता कि पूर्व एवं पश्चात् की धारणा का उपादान कारण काल है क्योंकि इन धारणाओं की यथार्थता वेदान्ती नहीं मानते । उनको सूर्य के परिस्पंदन की अधिक अथवा कम मात्रा द्वारा उत्पन्न संस्कार ही माना जा सकता है । अतः काल को पृथक् पदार्थ मानने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि उसके ज्ञान की व्याख्या हमारे अनुभव के ज्ञात तथ्यों के आधार पर ही की जा सकती है । कुछ तथ्यों के विचार से दिक् भी त्याज्य है क्योंकि दिक् का प्रत्यक्ष इन्द्रियों के द्वारा नहीं हो सकता अथवा अनुभूत तथ्यों के न होने के कारण उसका अनुमान भी नहीं हो सकता । काल और दिक् दोनों का कारण अपेक्षा बुद्धि है और उस अपेक्षा बुद्धि के कारण शारीरिक स्पंदन के हमारे अनुभव के संसर्ग से मन दिक् की धारणा का निर्माण करता है । अतः दिक् को पृथक् पदार्थ मानना अनावश्यक है ।

वैशेषियों के अणु सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए चित्सुख कहते हैं कि—वैशेषिक अणुओं को स्वीकार करने का कोई आधार नहीं । यदि इन अणुओं को इस आधार पर स्वीकार किया जाए कि वह समस्त वस्तुओं को सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतर भागों में विभक्त होने योग्य माना जाय तो वही बात स्वयं अणुओं पर भी प्रयुक्त होगी । यदि यह कहा जाय कि कहीं तो रुकना ही पड़ेगा, अतः अणु अन्तिम अवस्था समझी जानी चाहिए और वे समान

---

1. तरणिपरिस्पन्दविशेषाणां युवास्थविरशरीरादिपिण्डेषु मासादिविचित्रबुद्धिजनन द्वारेण तदुपहितेषु परत्वापरत्वादिबुद्धिजनकत्वं न च तैरसम्बद्धानां तत्र बुद्धिजनकत्वं न च साक्षात् सम्बन्धोगरविपरिस्पंदानां पिण्डैरस्ति अतः तत्सम्बन्धकतया कश्चिदष्ट द्रव्यविलक्षणो द्रव्यविशेषः स्वीकर्तव्यः, तस्य च काल इति संज्ञा । (काल के प्रति यह वल्लभ का दृष्टिकोण है) । चित्सुखी पर प्रत्यक्स्वरूप भागवत कृत 'नयन प्रसादिनी'' टीका, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई 1915 ।

आकार के एवं अविभाज्य हैं तो खिड़कियों में दिखने वाले धूलिकणों को (जिन्हें त्रसरेणु कहा जाता है) भी सूर्य के प्रकाश के समय वैसी ही अन्तिम विभाज्य अवस्था मानना होगा। यदि यह आपत्ति उठाई जाय कि द्रव्य होने के कारण वे सावयव हैं और इस हेतु से उनको अविभाज्य नहीं माना जा सकता, तो यह कहा जा सकता है कि योगियों द्वारा अणु के दर्शन की सम्भावना को न्याय लेखकों द्वारा स्वीकार करने के कारण त्रसरेणुओं की दृश्यमानता को उनको अविभाज्य न मानने का कारण क्यों नहीं माना जा सकता। पुनः अणुओं का बड़े कणों के निर्माण में और उनको बृहद रूप प्रदान करने में उनका संयुक्त होना आवश्यक नहीं क्योंकि वस्त्र में सूत्र के सदृश अनेक अणु के संयोग बिना ही भौतिक-प्रतीति को सम्भव कर सकते हैं। चित्सुख आगे अंश एवं अंशों के प्रत्यय के शंकर द्वारा किए गए खंडन की इन शब्दों में पुनरुक्ति करते हैं कि यदि अंशी अंश से भिन्न है तो या तो वे अंश ही होने चाहिए या उनका अस्तित्व नहीं होगा। यदि वे अंश नहीं हैं तो यह मानना कठिन होगा कि अंशी का निर्माण अंशों द्वारा हुआ है, यदि वे अंश ही हैं तो उनका आंशिक अथवा पूर्ण रूप से उनमें अस्तित्व होना चाहिए। यदि उनका अंशों में पूर्णतः अस्तित्व है तो ऐसे अनेकों अंशी होंगे अथवा प्रत्येक अंश में अंशी दृष्टिगोचर होगा, और यदि वे अंशों में आंशिक रूपेण विद्यमान हैं तो अंश एवं अंशी की वही कठिनाई ज्यों-की-त्यों रहेगी।

पुनश्च संयोग के संप्रत्यय की भी व्याख्या नहीं की जा सकती। इसको दो परस्पर असंयुक्त वस्तुओं की प्राप्ति भी नहीं माना जा सकता (अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगः) क्योंकि जब तक कोई संयोग का अर्थ ही न समझे तब तक वह 'असंयोग' का अर्थ नहीं समझ सकता। यदि इसकी परिभाषा दो परस्पर असम्बन्धित वस्तुओं की प्राप्ति की जाए तो संयोग में समवाय सम्बन्ध भी सम्मिलित हो जाएगा जैसा कि सूत्र एवं वस्त्र में होता है। यदि उसको काल-जनित अनित्य सम्बन्ध माना जाए (अनित्यः सम्बन्धः जन्मत्वविशेषतो वा) तो अनादि सयोग इनमें सम्मिलित नहीं हो सकेंगे और क्रीत वस्तुओं के स्वामित्व को भी संयोग में सम्मिलित करना पड़ेगा क्योंकि स्वामित्व का सम्बन्ध भी काल-जनित है। 'स्वामित्व' के सम्बन्ध होने के विषय में आपत्ति नहीं उठाई जा सकती क्योंकि सम्बन्ध के लिए यह आवश्यक है कि वह दो वस्तुओं के बीच हो। यदि आपत्ति उचित हो तो वस्तु एवं गुण के बीच का सम्बन्ध सम्बन्ध नहीं रहेगा क्योंकि वस्तु एवं गुण का अस्तित्व एक साथ ही होता है और कोई दो पृथक् वस्तुएँ परस्पर सम्बन्धित नहीं हो सकतीं; यदि आपत्तिकर्त्ता का अर्थ यह हो कि सम्बन्ध दो पदों के मध्य हो तो स्वामित्व में भी दो पद हैं, एक अधिगत वस्तु और दूसरा अधिगन्ता। इसके उपरान्त यदि संयोग की परिभाषा ऐसे सम्बन्ध के रूप में की जाए जो दो वस्तुओं का पूर्णरूपेण संयोग न करे (अव्याप्यवृत्तित्व-विशेषितो) तो वह भी अनुचित ही होगा, क्योंकि संयोग सम्बन्ध अंशभूत निरवयव तत्त्वों को संयुक्त नहीं कर सकता क्योंकि उनके अंश होते ही नहीं। चित्सुख 'विभाग' के प्रत्यय का भी इसी प्रकार से खण्डन करते हैं और दो तीन चार आदि संख्या के खण्डन पर अग्रसर होते हैं।

चित्सुख का कथन है कि दो तीन इत्यादि को पृथक् संख्याएँ मानना आवश्यक नहीं क्योंकि हमें केवल एक वस्तु का ही प्रत्यक्ष होता है और पुनः अपेक्षाबुद्धि से हम उनको सम्बद्ध करते हैं और दो तीन इत्यादि का रूप देते हैं। इन संख्याओं की कोई पृथक् एवं

स्वतन्त्र सत्ता नहीं है अपितु वे एकाकी विषयों की अपेक्षाबुद्धि द्वारा काल्पनिक सृष्टि मात्र ही हैं। अतएव यह मानना आवश्यक नहीं कि दो, तीन इत्यादि संख्याओं की सृष्टि यथार्थ हैं। हम अपने मानसिक संसर्ग की शक्ति के बल पर ही दो-तीन इत्यादि भावों का वर्णन करते हैं।[1]

तत्पश्चात् चित्सुख 'जाति' का इस आधार पर खण्डन करते हैं कि इसको प्रत्यक्ष अथवा अनुमान द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। प्रश्न यह है कि जाति का वास्तविक अर्थ क्या है? यदि यह कहा जाय कि एक पशुविशेष के प्रत्यक्ष से हमें गौ के भाव का ग्रहण हो और दूसरे ऐसे ही पशुविशेषों के प्रत्ययों में भी गौ के भाव का ग्रहण हो तो वह जाति होती है, तो उत्तर में यह कहा जा सकता है कि इसका यह अर्थ लगाना आवश्यक नहीं कि गौ की पृथक् जाति को स्वीकार कर लिया गया है क्योंकि जिस प्रकार एक प्राणी कुछ विशेषताओं के कारण 'गौ' संज्ञा धारण करने के योग्य हो जाता है, ठीक उसी प्रकार अन्य प्राणियों में भी ऐसी विशेषताएं हैं जिनसे वे भी गौ संज्ञा के योग्य हो जाते हैं। हम भिन्न-भिन्न स्थानों में चन्द्रबिम्ब देखते हैं और उसको चन्द्र ही कहते हैं। 'गौ' का भाव किन तत्त्वों से बना हुआ है ? गौओं का एक ही विश्व-व्यापी लक्षण निर्धारित करना कठिन है, यदि एक ऐसा लक्षण मिल जाए तो गौ की जाति को स्वीकार करने की आवश्यकता ही नहीं होगी, क्योंकि उस स्थिति में वह एक ही लक्षण होगा और प्रत्येक स्थान पर वह गौ के रूप में ही जाना जाएगा और एक पृथक् जाति को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं होगी। पुनश्च, जाति से पृथक् इस लक्षण को अथवा लक्षण से पृथक् जाति को प्राप्त करना कठिन होगा एवं उनकी अन्योन्याश्रयता इनमें से एक की भी परिभाषा असंभव बना देगी। जाति को स्वीकार कर भी लिया जाए तो यह प्रदर्शित करना ही पड़ेगा कि प्रत्येक अवस्था में उसका तत्त्व क्या है, और यदि प्रत्येक अवस्था में ऐसा तत्त्व ढूंढ निकालना आवश्यक ही हो तो गौ का गौ के रूप में एवं अश्व का अश्व के रूप में ज्ञान प्राप्त करने के लिए ये तत्त्व के पर्याप्त प्रमाण होंगे। तब फिर जाति को स्वीकार करने से क्या लाभ ? पुनः यदि इस जाति को स्वीकार भी कर लिया जाय तो यह ज्ञात करना कठिन है कि प्राणियों के साथ इसके सम्बन्ध को कैसे ग्रहण किया जाए। यह संसर्ग, तादात्म्य, समवाय अथवा कहीं पर भी विद्यमान अन्य किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि समस्त जातियों का सर्वत्र अस्तित्व हो तो समस्त जातियों का एक साथ मिश्रण हो जायगा और समस्त वस्तुओं का सर्वत्र अस्तित्व होगा। पुनः यदि यह माना जाए कि 'गौ' जाति की सत्ता विद्यमान गौ में ही है तो नवीन गौ के जन्म लेते समय इस जाति का उसमें कैसे समावेश हो जाता है और न जाति के कोई ऐसे अवयव हैं जिससे उसकी सत्ता आंशिकरूपेण यहां हो और आंशिक रूप में वहां। यदि प्रत्येक पृथक् गौ में इस प्रकार की जाति पूर्णतः विद्यमान हो तो अनेकों जातियां हो जाएंगी और यदि इस

1. आरोपितद्वित्वत्रित्वादिविशेषितैकत्वसमुच्चयालंबना बुद्धिर्द्वित्वादिजनिकेति चेद् न तथाभूतया बुद्धेर्द्वित्वादिव्यवहारजनकत्वोपपत्तौ द्वित्वाद्युत्पादकत्वकल्पनावैयर्थ्यात्
—नयन प्रसादिनी –पृ० 300।

प्रकार की जाति का विस्तार समस्त पृथक्-पृथक् गौग्रों तक कर दिया जाए तो समस्त गौग्रों को एकत्र किए बिना 'जाति' का भाव उपलब्ध नहीं हो सकेगा।

'कारण' के खंडन का वर्णन करते हुए चित्सुख का कथन है कि उसकी परिभाषा केवल 'पूर्वकालभावित्व' नहीं की जा सकती क्योंकि ऐसी स्थिति में तो धोबी के घर में सदा पाए जाने वाले धोबी के वस्त्रों को अपनी पीठ पर उठाने वाले गधे को घर में प्रज्ज्वलित धूम्रयुक्त अग्नि की कालपूर्वी वस्तु मानना पड़ेगा और इस प्रकार उसको अग्नि का कारण मानना होगा। यदि इस पूर्वकालभावित्व का यह गुण भी बताया जाए कि वह कार्य की विद्यमानता में विद्यमान रहता है और उसके अभाव में अविद्यमान रहता है तो भी धोबी के घर की अग्नि के प्रसंग में धोबी का गधा इस प्रकार के पूर्वकालभावित्व की अवस्थाओं का प्रतिपादक माना जा सकता है। (जब धोबी गधा लेकर घर से बाहर होता है तो उसके घर में अग्नि का अभाव होता है और उसके गधे को लेकर घर में लौटते ही अग्नि पुनः प्रज्ज्वलित हो जाती है)। यदि पूर्वकालभावित्व में एक और विशेषण अनन्यथासिद्ध जोड़ दिया जाए तो भी गधा और दिक् आकाश इत्यादि अन्य सामान्य तत्त्व अग्नि के कारण माने जा सकते हैं। यदि यह तर्क दिया जाय कि गधे की विद्यमानता केवल अन्य उपाधियों की विद्यमानता के कारण ही है तो यही बात बीज, भूमि, जल इत्यादि के विषय में भी कही जा सकती है जो अंकुरों की उत्पत्ति के कारण माने जाते हैं। यदि आकाश के धुएँ का कारण होने की संभावना में इस आधार पर आपत्ति उठाई जाय कि वह सामान्य, व्यापी एवम् नित्य तत्त्व है तो उसी तर्क से आत्मा को (जो एक सर्वव्यापी तत्त्व है) सुख दुःख का कारण मानने वाले न्याय दृष्टिकोण के विरुद्ध आपत्ति के रूप में ग्रहण करना पड़ेगा। कारण की परिभाषा यह नहीं हो सकती कि उसके होने से कार्य होता है, क्योंकि बीज अंकुर का कारण नहीं हो सकता क्योंकि पृथ्वी जल, आकाश प्रकाश, आदि सहायक तत्त्वों के बिना अंकुर स्वयमेव उत्पन्न ही नहीं हो सकते। पुनः कारण की परिभाषा यह भी नहीं हो सकती कि जिसके सहायक तत्त्वों अथवा सहकारी तत्त्वों के मध्य विद्यमान होने पर कार्य होता है क्योंकि गधे जैसी एक अप्रासंगिक वस्तु भी अनेकों सहयोगी परिस्थितियों में विद्यमान हो सकती हैं, परन्तु इससे किसी अप्रासंगिक वस्तु को कारण बताना किसी के लिए उचित नहीं होगा। इसके अतिरिक्त यह परिभाषा उन अवस्थाओं में प्रयुक्त नहीं होगी जिनमें कई सहयोगी तत्त्वों के संयुक्त व्यापार से कार्य उत्पन्न होता है। इससे भी अधिक जब तक कारण की परिभाषा ठीक प्रकार से न की जाए, तब तक सहयोगी तत्त्वों की परिभाषा किसी प्रकार से नहीं हो सकेगी और न कारण की यह परिभाषा ही हो सकती कि उसके विद्यमान होने पर कार्य होता है और उसके अभाव में कार्य नहीं होता है (सतिभावोऽसत्यभावएव) क्योंकि ऐसा सिद्धान्त कारणों की बहुलता के द्वारा अप्रमाणित हो जाता है (अग्नि लकड़ी के दो टुकड़ों के रगड़ने से, केवल काँच ताल से अथवा चकमक के जोर से टक्कर देने से उत्पन्न होती है)। यह कहा जा सकता है कि भिन्न-भिन्न निमित्तों द्वारा उत्पन्न प्रत्येक प्रकार की अग्नि में अन्तर है। इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि यदि ऐसा कोई अन्तर हो भी तो भी वह निरीक्षण द्वारा अगम्य है और इस प्रकार के भेदों के गोचर होने पर भी ऐसे भेदों से यह अर्थ होना आवश्यक नहीं कि भिन्न-भिन्न कारणों से भिन्न-भिन्न कार्य भिन्न-भिन्न श्रेणी के हैं क्योंकि भेद कई पश्चात् की घटनाओं से भी हो सकते हैं। पुनः, कारण को वस्तुओं का एक स्थान पर एकत्र होना भी नहीं

कहा जा सकता क्योंकि ऐसा सह-अस्तित्व निरर्थक तत्त्वों का भी हो सकता है। 'कारण' को भिन्न-भिन्न कारणों का एकत्र होना भी नहीं कह सकते क्योंकि 'कारण' का क्या अर्थ है इसकी परिभाषा करना ही अभी तक हमारे लिए सम्भव नहीं हुआ है। अतः 'कारणों का एकत्र होना' यह वाक्यांश निरर्थक होगा। इसके अतिरिक्त यह पूछा जा सकता है कि सामग्री कारणों से भिन्न है अथवा उनसे अभिन्न। यदि भिन्नता मानी जाए तो प्रत्येक कारण से भी कार्य उत्पन्न होगा और उस सामग्री से कार्य की उत्पत्ति की कल्पना करना अनावश्यक होगा। यदि सामग्री के कारण अभिन्न माना जाए तो प्रत्येक कारण सामग्री के कारण होने से और प्रत्येक में उसकी विद्यमानता होने से सामग्री भी सदा विद्यमान रहती है तथा इसी हेतु कार्य भी सदा रहते हैं, और यह बात बिल्कुल मूर्खतापूर्ण है। पुनः यह प्रश्न उठता है कि सामग्री का अर्थ क्या है? उसका अर्थ एक ही काल अथवा देश में घटना नहीं हो सकता क्योंकि देश सदा एक से ही न होने के कारण देश अथवा काल स्वयं भी बिना कारण के ही होगा। पुनः यह भी नहीं कहा जा सकता कि यदि कारण का ही अस्तित्व अस्वीकार किया जाय तो कारण ही न होने के कारण वस्तुओं का अभाव हो जाएगा क्योंकि न्याय की यह मान्यता है कि अणु, आत्माएँ इत्यादि नित्य वस्तुएँ हैं जिनका कोई कारण नहीं है।

कारण की परिभाषा न हो सकने के कारण कार्य की भी परिभाषा संतोषजनक रूप से नहीं हो सकती क्योंकि कार्य की ग्राह्यता सदा कारण के भाव पर निर्भर करती है। द्रव्य के भाव के खंडन में चित्सुख का कथन है, कि द्रव्य की परिभाषा केवल यह है कि उसमें गुण समवायी रूप से रहते हैं। परन्तु क्योंकि गुणों में भी गुण देखे जाते हैं और नैयायिकों का विश्वास है कि उत्पत्ति के क्षण में द्रव्य निर्गुण होता है, इसलिए ऐसी परिभाषा द्रव्य की विशेषता नहीं बताई जा सकती, अथवा परिभाषा नहीं की जा सकती। यदि द्रव्य की परिभाषा गोल-मटोल ढंग से इस प्रकार की जाए कि उसमें गुणों का अत्यन्ताभाव विद्यमान नहीं होता (गुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणता) तो भी इसमें यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि ऐसी परिभाषा भी हमें अभाव को भी गुण मानने के लिए बाध्य करेगी क्योंकि स्वयं गुणों का अभाव एक प्रकार अभाव होने के कारण अभाव में स्थित नहीं रह सकता।[1] पुनः यह प्रश्न भी उठ सकता है कि गुणों के अभाव की अनुपस्थिति कई गुणों के अथवा सारे गुणों के प्रसंग में कही गई है, प्रत्येक अवस्था में यह असत्य है क्योंकि प्रथम अवस्था में ऐसे द्रव्य को द्रव्य नहीं कहा जा सकता जो कुछ गुणों का आश्रय हो और अन्यों का न हो और दूसरी अवस्था में किसी ऐसी वस्तु को ज्ञात करना कठिन होगा जिसे द्रव्य नहीं कहा जा सके क्योंकि ऐसा द्रव्य कौन सा है जिसमें सारे गुणों का अभाव हो। यह तथ्य फिर भी रह जाता है कि ऐसी गोल मटोल परिभाषा द्रव्य और गुण का भेद नहीं कर सकती क्योंकि गुणों में भी संख्या का एवम् पृथकत्व का गुण होता ही है।[2]

---

1. तत्रैवात्यन्ताभावेऽतिव्याप्तेः, सोऽपि गुणवत्त्वात्यंताभावस्तस्याधिकरणं स्वस्य स्वस्मिन्नवृत्तेः— चित्सखी–पृ० 176।

2. अस्मिन्नपि वक्रलक्षणे गुणादिषु अपि संख्यापृथक्त्वगुणयोः प्रतीतेः कथं नातिव्याप्तिः— चित्सुखी–पृ० 177।

यदि यह तर्क दिया जाए कि गुणों में और गुणों की विद्यमानता मानली जाए तो अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी, तो इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि इस पर अनवस्था दोष का आक्षेप नहीं किया जा सकता क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता कि संख्या एवम् पृथक्ता के अन्य और कोई गुण होते हैं। पुनः द्रव्यों में ऐसी कोई सामान्य वस्तु नहीं जिसके कारण उनको द्रव्य की जाति के अन्तर्गत माना जा सके।[1] सोना, मिट्टी एवम् वृक्ष सारे द्रव्य माने जाते हैं परन्तु उनमें कोई वस्तु सामान्य नहीं है जिसके कारण सोना और मिट्टी अथवा वृक्ष को एक ही माना जा सके। अतः यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि द्रव्यों में कोई एक ऐसा धर्म पाया जाता है जो उन सब में एकसा रह सके।[2] गुणों का उल्लेख करते हुए चित्सुख प्रशस्तपाद कृत 'वैशेषिक भाष्य' में दी गई गुण की परिभाषा करते हैं कि गुण द्रव्याश्रयी, द्रव्य जाति से सम्बद्ध, निर्गुण और निष्क्रिय होता है।[3] परन्तु गुण की परिभाषा में 'निर्गुण' पद का समावेश नहीं हो सकता क्योंकि गुण की परिभाषा तो अपेक्षित ही रह जाती है। पुनः यदि गुण की उचित परिभाषा न की जाए तो क्रिया से उसका भेद नहीं जाना जा सकता। अतः, 'निष्क्रिय' पद निरर्थक हो जाता है। पुनः 'गुण' जाति का निर्धारण करने के लिए यह आवश्यक है कि गुणों के सामान्य धर्म ज्ञात हों एवं जाति का स्वरूप भी निर्धारित हो। अतः किसी भी दृष्टिकोण से इस प्रश्न को देखा जाए तो भी गुणों की परिभाषा करना असम्भव है।

चित्सुख द्वारा प्रस्तुत ऐसे खंडनों के और अधिक उदाहरण देना अनावश्यक है। उपर्युक्त विवेचन से वह प्रकट होगा कि चित्सुख पदार्थविशेष से सम्बन्धित अधिकांश प्रत्ययों के विस्तार में जाकर उनकी स्वाभाविक असंभवता को प्रदर्शित करने का प्रयत्न करते हैं। तथापि कहीं-कहीं वह अपने कार्य में पूर्णतः सफल नहीं हो सके और नैयायिकों द्वारा दी हुई परिभाषाओं की आलोचना मात्र से ही संतुष्ट हो गए। परन्तु इस स्थल पर यह बता देना उचित होगा कि यद्यपि श्रीहर्ष एवम् चित्सुख ने न्याय द्वारा प्रस्तुत भिन्न-भिन्न पदार्थों की परिभाषाओं की असंभवता प्रदर्शित करने लिए उन पदार्थों के एक आलोचक की विस्तृत योजना को क्रियान्वित किया है तो भी उनमें से कोई भी वेदान्त में नई तार्किक रीति का नवीन प्रणेता नहीं माना जा सकता। स्वयं शंकर ने अपने वेदान्त सूत्र 22 में न्याय एवं अन्य दर्शनों के अपने खंडन में इसका प्रचलन कर दिया था।

---

1. जातिमभ्युपगच्छता तज्जातिव्यंजकं किंचिदवश्यमभ्युपेयं न च तन्निरूपणं सुशकम्
वही–पृ० 178।

2. द्रव्यं द्रव्यमिति अनुगतप्रत्ययः प्रमाणः इति चेन्न सुवर्णमुपलभ्य मृत्तिकानुपलभ्यमानस्य लौकिकस्य तदेवेदं द्रव्यमिति प्रत्ययाभावात्परीक्षकाणां चानुगतप्रत्यये विप्रतिपत्तेः— चित्सुखी–पृ० 179।

3. रूपादीनां गुणानां सर्वेषां गुणत्वाभिसंबंधो द्रव्याश्रितत्वं निर्गुणत्वं निष्क्रियत्वम्, प्रशस्तपाद भाष्य–पृ० 94—विजयनगरम् संस्कृत सीरीज, बनारस, 1895।

नागार्जुन का तर्क एवं वेदान्त-तर्क विवेचन

श्री हर्ष का तर्क-विवेचन न्याय-वैशेषिक की यथार्थवादी परिभाषाओं का विरोधी था, जिनके अनुसार समस्त ज्ञेय परिभाष्य हैं। इसका लक्ष्य यह था कि समस्त वस्तुओं का अस्तित्व एवं स्वरूप मायामय होने के कारण उन सब के स्वरूप को अपरिभाष्य सिद्ध करने के लिए उन परिभाषाओं का खंडन किया जाए। ब्रह्म ही केवल सत्य है। समस्त परिभाषाओं में छिद्रान्वेषण सरल है, इसकी शिक्षा नागार्जुन ने बहुत पहले ही दे दी थी, और उस अर्थ में (न्याय परिभाषाओं में शुद्ध शाब्दिक प्रकार के दोषों को खोजने की प्रवृत्ति को छोड़कर) श्रीहर्ष की पद्धति नागार्जुन-पद्धति को चालू रखना और न्याय वैशेषिक की वास्तविक परिभाषाओं पर उसका प्रयोग करना था। परन्तु नागार्जुन की पद्धति के मुख्यतम अंश की श्रीहर्ष और उसके अन्य अनुयायियों ने जानबूझ कर उपेक्षा कर दी। इन्होंने नागार्जुन के निष्कर्षों के खंडन का प्रयत्न नहीं किया। नागार्जुन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यह है कि सब वस्तुएँ सापेक्ष होने के कारण स्वयं में अपरिभाष्य हैं, अतः उनके तत्त्व किसी प्रकार भी नहीं ढूँढे जा सकते हैं तथा उनके तत्त्व न केवल अपरिभाष्य एवं अनिर्वचनीय अपितु अगम्य भी होने के कारण ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उनका स्वयं का कोई तत्त्व है। नागार्जुन के अनुयायी आर्यदेव थे। उनका जन्म श्री लंका में हुआ था तथा उन्होंने उसी विषय पर 400 श्लोकों का एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा था। इसके लगभग दो शताब्दियों के पश्चात् तक नागार्जुन का सिद्धान्त उपेक्षित सा रहा जैसाकि इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि चतुर्थ शताब्दी ई० प० के बुद्धघोष उनका उल्लेख नहीं करते। पंचम शती ई० प० में गुप्त साम्राज्य काल में असंग और वसुबन्धु हुए। षष्ठ शताब्दी ई० प० में सूरत जिलान्तर्गत वलभी के निवासी बुद्ध पालित एवं उड़ीसा निवासी भव्य अथवा भावविवेक के हाथों सापेक्षवादी दर्शन पुनः पल्लवित हुआ। नागार्जुन के तर्कों की भव्य के अपने विशिष्ट तर्कों द्वारा पूर्ति होने के कारण, उनकी शाखा को 'माध्यमिक सौत्रान्तिक' कहा जाता है। इस समय उत्तर में महायान के विज्ञानवाद की योगाचर शाखा का विकास हो रहा था तथा इस शाखा का लक्ष्य यह प्रदर्शित करना था कि विज्ञान के यथार्थ ज्ञान के लिए समस्त तर्कशास्त्रीय तर्क निष्फल हैं। समस्त युक्तियुक्त तर्क अपनी असंगति मात्र प्रदर्शित करते हैं।[1] यह अधिक सम्भव प्रतीत होता है कि श्रीहर्ष को योगाचार लेखकों से और नागार्जुन से भव्य तक के उनके सापेक्षतावादी अन्य साथियों से तथा नागार्जुन कृत माध्यमिककारिका के सर्वोत्कृष्ट टीकाकार चन्द्रकीर्ति से प्रेरणा मिली हो। बुद्धपालित ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि 'विज्ञान' का ग्रहण एवं उसकी सिद्धि युक्तिपूर्ण तर्कों द्वारा नहीं हो सकती क्योंकि समस्त तार्किक विवेचन निष्फल एवं असंगत होते हैं, जबकि भावविवेक ने 'विज्ञान' को युक्तियुक्त तर्कों द्वारा प्रतिपादित करने का यत्न किया। चन्द्रकीर्ति ने अन्ततः 'भावविवेक' की व्यवस्था के विरुद्ध बुद्धपालित की व्यवस्था का समर्थन किया और समस्त युक्तियुक्त तर्कों की निष्प्रयोजनता को सिद्ध करने का प्रयत्न

1. सोवियत संघ की विज्ञान अकादमी, लेनिनग्राद, द्वारा 1927 में प्रकाशित 'कन्सेप्शन ऑव् बुद्धिस्ट निर्वाण'—पृष्ठ 66-67

किया। विज्ञान की सिद्धि के लिए अन्ततः चन्द्रकीर्ति की माध्यमिक की व्यवस्था का ही तिब्बत एवं मंगोलिया में प्रयोग किया गया।

सत् के विभिन्न पदार्थों के खण्डन में नागार्जुन सृष्टि की परीक्षा से प्रारम्भ करते हैं। बौद्धेतर दर्शन कारण-प्रक्रिया को किसी नित्य चित् उपादान के आन्तरिक विकास द्वारा अथवा अनेक तत्त्वों की सामग्री द्वारा अथवा किसी अविकारी एवं नित्य वस्तु पर क्रियमाण कुछ तत्त्वों द्वारा उत्पत्ति मानते हैं। परन्तु नागार्जुन न केवल इस तथ्य को अस्वीकार ही करते हैं कि किसी वस्तु का कभी प्रादुर्भाव होता है अपितु यह भी कि उसका कभी उपर्युक्त किसी एक प्रकार से भी प्रादुर्भाव होता है। बुद्धपालित का मत है कि वस्तुएं स्वयमेव ही उत्पन्न नहीं हो सकतीं, क्योंकि यदि वे पूर्व ही विद्यमान हों तो उनके उत्पन्न होने का कोई अर्थ ही नहीं रहता; यदि विद्यमान वस्तुओं को पुनः उत्पन्न होने में समर्थ माना जाए तो वस्तुएँ अन्ततः उत्पन्न होती ही रहेंगी। बुद्ध-पालित की आलोचना में भावविवेक का कथन है कि बुद्धपालित द्वारा प्रस्तुत खंडन का हेतु और उदाहरणों द्वारा पुष्टि की अपेक्षा है और उसके खण्डन का आशय यह अवांछनीय सिद्धान्त होगा कि यदि वस्तुएं स्वयमेव उत्पन्न नहीं होती हैं तो वे अन्य कारणों से उत्पन्न होनी चाहिएं। परन्तु चन्द्रकीर्ति भावविवेक की आलोचना पर आपत्ति उठाते हुए कहते हैं कि कार्य एवं कारण का तादात्म्य स्थापित करने का भार उस दृष्टिकोण को ग्रहण करने वाले उनके विपक्षियों, सांख्यमतावलम्बियों, पर है। जो पूर्व से ही विद्यमान है उसके उत्पन्न होने का कोई अर्थ ही नहीं; और यदि पूर्व से विद्यमान वस्तु को पुनः उत्पन्न होना पड़े और तत्पश्चात् पुनः पुनः उत्पन्न होना पड़े तो अनवस्था-प्रसंग की प्राप्ति होगी। सांख्य सत्कार्यवाद दृष्टिकोण के खण्डन में नवीन तर्क देना अनावश्यक है; सांख्य दृष्टिकोण की असंगति प्रदर्शित कर देना ही पर्याप्त है। आर्यदेव का कथन है कि माध्यमिक दृष्टिकोण के पास अपना कोई प्रतिपाद्य विषय नहीं है जिसको वह स्थापित करना चाहता है, इसका कारण यह है कि वह किसी वस्तु के सत् अथवा असत् अथवा सत् एवं असत् के योग को नहीं मानता।[1] ठीक इसी दृष्टिकोण को श्रीहर्ष ने ग्रहण किया। श्रीहर्ष का कथन है कि वेदान्तियों का जड़ जगत् की वस्तुओं एवं उनमें निहित विभिन्न पदार्थों के विषय में अपना कोई दृष्टिकोण नहीं है। अतः किसी प्रकार से भी वेदान्त-दृष्टिकोण पर कोई आक्षेप नहीं लगाए जा सकते। तथापि, अन्य दृष्टिकोणों के छिद्रान्वेषण में वेदान्त स्वतन्त्र है, और ऐसा हो जाने पर तथा अन्य मतों की संगतियों के प्रदर्शित किए जाने पर वेदान्त का कार्य समाप्त हो जाता है, क्योंकि वेदान्त को स्वयं अपने दृष्टिकोण को स्थापित करने की आवश्यकता नहीं है। जब मुझे अपना कुछ प्रमाणित करना हो तो मुझ से किसी त्रुटि का होना सम्भव है, परन्तु मुझे कुछ भी प्रमाणित नहीं करना है। मुझ पर असंगति का दोष नहीं लगाया जा सकता। यदि मुझे वस्तुतः किसी पृथक् वस्तु का ज्ञान होता तो उस प्रत्यक्ष अथवा अनुमित वस्तु के आधार पर अपनी स्वीकृति अथवा अस्वीकृति दे सकता। परन्तु मेरे लिए

---

1. सदसच्चेति यस्य पक्षो न विद्यते।
   उपालम्भश्चिरेणापि तस्य वक्तुं न शक्यते।। माध्यमिक वृत्ति पृ० 16।

इस पृथक् वस्तु की कोई सत्ता ही नहीं है अतः मुझ पर इस आधार पर कोई दोष नहीं लग सकता ।[1]

अतः चन्द्रकीर्ति यह बल पूर्वक कहते हैं कि माध्यमिकों को अपने स्वयं के किसी दृष्टि-कोण की पुष्टि नहीं करनी है अतः उनके लिए किसी मत की आलोचना करते समय किसी नवीन तर्क अथवा दृष्टान्त को प्रस्तुत करना सम्भव नहीं । वे अपनी स्वयं की मान्यताओं को प्रमाणित नहीं कर सकते और यदि उनकी मान्यताओं में कोई प्रतिपाद्य विषय हो तो उनका स्वयं का उससे भी विग्रह हो जाएगा । अतः माध्यमिक आलोचना-पद्धति समस्त प्रतिपाद्य विषयों का छिद्रान्वेषण करती है, चाहे वे विषय जो कुछ भी हों, तथा उसका लक्ष्य प्रति-पक्षी के प्रत्यारोपों का उसके प्रतिपाद्य विषयों एवं विधियों में यथासम्भव पाई जाने वाली असंगतियों के आधार पर प्रत्युत्तर देना है न कि किसी नवीन तर्क अथवा किसी नवीन अन्यथा प्रतिपाद्य विषय को प्रस्तुत करना क्योंकि माध्यमिकों का अपना प्रतिपाद्य विषय तो कोई है ही नहीं । किसी तर्क में कोई किसी के द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तों को केवल समझ सकता है; कोई भी केवल अपने प्रतिपक्षी द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तों के आधार पर प्रस्तुत किए तर्कों द्वारा पराजित नहीं किया जा सकता ।

वस्तुओं की विजातीय घटकों अथवा कारणों के किसी समूह से उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि यदि ऐसा होता तो ऐसी उत्पत्ति का कोई नियम नहीं होता और कोई भी वस्तु किसी अन्य वस्तु से उत्पन्न हो जाती यथा प्रकाश से अन्धकार ।[2] और यदि कोई वस्तु स्वयं से अथवा किसी अन्य वस्तु से उत्पन्न नहीं हो सकती, तो वह उन दोनों के संयोग से भी उत्पन्न नहीं हो सकती । पुनः जगत् बिना किसी हेतु के (अहेतुतः) अस्तित्व में नहीं आ सकता था ।

बौद्ध तार्किक इस मत का खण्डन यह प्रदर्शित करके करते हैं कि मत चाहे जो भी हो, वह उचित प्रमाण द्वारा प्रतिपादित होना चाहिए । अतः समस्त सत्तावान् वस्तुओं के अनुत्पन्न होने के कारण प्रतिपाद्य विषय को प्रमाणित करने के लिए माध्यमिकों को कुछ प्रमाण देना आवश्यक है और इसके लिए ऐसे प्रमाणों के स्वरूप-निरूपण की और उनके द्वारा स्वीकृत सत्य प्रमाणों की संख्या के निर्धारण की आवश्यकता होगी । परन्तु यह सिद्धान्त कि 'समस्त भाव असिद्ध हैं' एक कथनमात्र है और उसकी पुष्टि के लिए कोई प्रमाण न हों तो इसके विपरीत कथन भी यथेष्ट संख्या में दिए जा सकते हैं और उनके लिए किसी प्रमाण को प्रदर्शित करने की आवश्यकता नहीं होगी, तथा यदि एक के लिए

---

1. 'विग्रहव्यावर्तिनी' में नागार्जुन इस प्रकार लिखते हैं :

अन्यत्प्रतीत्य यदि नाम परोऽभविष्यत्, जायेत तर्हि बहुलः शिखिनोऽन्धकारः ।
सर्वस्य जन्म च भवेत्खलु सर्वतश्च, तुल्यं परत्वमखिलेऽजनकेऽपि यस्मात् ।।

—माध्यमिक वृत्ति, पृ० 36 ।

2. माध्यमिक वृत्ति, पृ० 36 । श्चेर्बास्की कृत 'कन्सेप्शन ऑव् बुद्धिस्ट निर्वाण' । लेखक अनुवाद के अन्तिम दो पदच्छेदों की सामग्री के लिए उनका ऋणी है ।

प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है तो अन्य के लिए भी उनकी अपेक्षा नहीं की जा सकती। अतः उतनी ही सत्यता के साथ यह भी कहा जा सकता है कि समस्त विद्यमान वस्तुएँ सत्य हैं और कारणों से उत्पन्न होती हैं। इस आपत्ति का चन्द्रकीर्ति द्वारा प्रस्तुत माध्यमिक प्रत्युत्तर यह है कि माध्यमिकों का अपना प्रतिपाद्य विषय कोई नहीं है, अतः प्रतिपाद्य विषय के सत्य प्रमाणों द्वारा पुष्ट अथवा अन्यथा होने का प्रश्न उतना ही निरर्थक है, जितना कि अश्वतर (खच्चर) के शृंगों की लघुता अथवा दीर्घता का प्रश्न। किसी प्रतिपाद्य विषय के न होने के कारण माध्यमिकों को सत्य प्रमाण के स्वरूप अथवा संख्या के विषय में कुछ भी नहीं कहना है। परन्तु यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि माध्यमिकों का कोई अपना प्रतिपाद्य विषय नहीं है तो उनको यह प्रतिज्ञा क्यों मान्य होनी चाहिए कि 'सर्वभाव अनुत्पन्न हैं' (सर्वभावाअनुत्पन्नाः) ? इसका प्रत्युत्तर माध्यमिक यह देते हैं कि ऐसी प्रतिज्ञाएँ केवल जन साधारण को ही निश्चित मत प्रतीत होती हैं, बुद्धिमानों को नहीं। बुद्धिमानों के लिए समुचित स्थिति शान्त रहना ही है। जो लोग उनको ध्यान से सुनना चाहते हैं उन्हें ही वे लौकिक दृष्टिकोण से शिक्षा देते हैं। उनके तर्क न तो उनके अपने होते हैं और न ऐसे होते हैं जिनमें उनकी श्रद्धा हो, अपितु ऐसे होते हैं जो उनके श्रोताओं को रूचिकर हों।

यहाँ यह बताना असंगत नहीं होगा कि माध्यमिक दृश्य एवं यथार्थ अथवा पारलौकिक दृष्टिकोण को बिल्कुल पृथक् रखना चाहते हैं। दृश्य-दृष्टिकोण के अनुसार वस्तुओं को उनके प्रत्यक्ष होने के रूप में ही स्वीकार किया जाता है, और उनके सम्बन्धों को भी यथार्थ ही माना जाता है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के स्वरूप के विषय में दिङ्नाग के साथ चन्द्रकीर्ति के परिसंवाद का उल्लेख करना रोचक होगा। जहाँ दिङ्नाग का कथन है कि वस्तु स्वलक्षण है, वहाँ चन्द्रकीर्ति का मत है कि प्रत्यक्ष में सम्बन्धों के सत्य होने के कारण वस्तुएं सापेक्ष भी होती हैं। दृश्य जगत् में द्रव्यों के साथ-साथ उनके गुणों की भी सत्ता है। दिङ्नाग की स्वलक्षण वस्तु भी उतनी ही सापेक्ष प्रत्यय है जितनी कि वे सम्बन्ध युक्त वस्तुएँ जिनका प्रत्यक्ष लौकिक रूप में सत्य है। ऐसी अवस्था में प्रत्यक्ष की केवल 'स्वलक्षण' वस्तु के रूप में परिभाषा करना निरर्थक है। अतः चन्द्रकीर्ति के विचार में नैयायिकों के यथार्थवादी तर्कशास्त्र की आलोचना से कोई हित साधन नहीं होता क्योंकि सामान्य प्रत्यक्ष अथवा धारणाओं का प्रश्न है, न्याय तर्कशास्त्र उनका विवेचन करने एवं उनका विवरण देने में बिलकुल समर्थ हैं। एक दृश्यमान सत्य एवं क्रम है, जो सामान्य जन के लिए सत्य है और जिन पर हमारी समस्त भाषाएँ एवं अन्य प्रयोग आधारित हैं। प्रत्यक्ष की परिभाषा करते समय दिङ्नाग उसे एकमेव 'स्वलक्षण' वस्तु तक ही सीमित रखते हैं और उनके विचार में सारे गुण-सम्पर्क एवं सम्बन्ध प्रत्यक्ष के लिए विजातीय होने के कारण कल्पना अथवा अनुमान में सम्मिलित किए जाने चाहिएं। तथापि यह हमारे सामान्य अनुभव का बाधक है और उससे कोई उद्देश्य भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि दिङ्नाग द्वारा प्रस्तुत प्रत्यक्ष की परिभाषा अलौकिक दृष्टिकोण से नहीं दी गई है। यदि ऐसा ही है तो न्याय-दर्शन की यथार्थवादी धारणाओं को ही क्यों न स्वीकार किया जाय, जो सामान्य जन के अनुभव से मेल खाती हैं ? यह हमें वेदान्तियों की स्थिति का स्मरण करा देता है, जो एक ओर तो जनसामान्य के अनुभव के दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं और सब वस्तुओं की एक यथार्थ वस्तुपरक सत्ता मानते हैं और दूसरी ओर परमार्थ के अलौकिक दृष्टिकोण से उनको मिथ्या

एवं असत्य मानते हैं। इस बात पर वेदान्तियों की स्थिति माध्यमिकों की स्थिति से प्रत्यक्षतः प्रेरित हुई प्रतीत होती है। न्याय की यथार्थवादी परिभाषाओं के खण्डन में श्रीहर्ष के प्रयासों का आशय यह प्रदर्शित करना था कि न्याय की परिभाषाओं को चरम एवं सत्य नहीं माना जा सकता, जैसा कि नैयायिक सोचते हैं। परन्तु माध्यमिकों का अपना कोई दृष्टिकोण नहीं था जिसकी वे पुष्टि करते, अतः जहाँ वे अनुभव के क्षेत्र को पूर्णतः अविचल छोड़ सकते थे एवं न्याय की यथार्थवादी परिभाषाओं को जन-सामान्य की अनुभूतियों की अपने इच्छित प्रकार से व्याख्या करने दे सकते थे वहाँ वेदान्त का अपना एक प्रतिपाद्य विषय है, अर्थात् स्वप्रकाश ब्रह्म एकमात्र सत्य है और इसी से अन्य सब वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं। अतः वेदान्त अनुभवों एवं उनकी परिभाषाओं की न्याय द्वारा प्रस्तुत व्याख्याओं से सहमत नहीं हो सकता था, परन्तु क्योंकि वेदान्त नानाविध जगत्प्रपंच को यथार्थ में कोई आधार प्रदान करने में असमर्थ था, अतः इसने उस जगत्-प्रपंच को किसी प्रकार से स्वतः विद्यमान माना एवं प्रत्यक्ष के एक ऐसे सिद्धान्त का आविष्कार किया जिसके अनुसार इसको ब्रह्म के सम्पर्क में आने के कारण प्रकाशित एवं मायामय रूप से उस पर आरोपित माना जा सके।

उत्पत्ति के स्वरूप का विवेचन जारी रखते हुए नागार्जुन एवं चन्द्रकीर्ति का मत है कि उत्पादक की सामग्री कार्य से भिन्न है और कार्य उत्पन्न नहीं कर सकती, जैसाकि हीनयानी बौद्धों का भी मत है, क्योंकि उस कारणत्व में कार्य के प्रत्यक्ष न होने के कारण उसकी उत्पत्ति निष्प्रयोजन हो जाती है। किन्हीं विजातीय कारणों से किसी वस्तु की उत्पत्ति का अर्थ है कि वह वस्तु उनसे सम्बद्ध है, और इस सम्बन्ध का यह अर्थ है कि उसका उनमें किसी न किसी प्रकार से भाव है। उत्पत्ति अथवा कारणत्व के प्रत्यय का विभिन्न प्रकारों से खण्डन करने के लिए नागार्जुन द्वारा प्रयुक्त मुख्य प्रकार यह है कि यदि किसी वस्तु का भाव है तो वह उत्पन्न नहीं हो सकती. और यदि उसका भाव नहीं है तो वह कदापि उत्पन्न हो ही नहीं सकती। जिस वस्तु का स्वयं कोई भाव नहीं है वह किसी अन्य वस्तु द्वारा उत्पन्न नहीं हो सकती, तथा अपना कोई तत्त्व नहीं होने के कारण वह किसी अन्य वस्तु का कारण नहीं हो सकती।[1]

इसी प्रकार नागार्जुन आवागमन के प्रत्यय की परीक्षा करके कहते हैं कि गमन क्रिया पार किए देश में उपलब्ध नहीं होती और न उसकी उपलब्धि पार न किए देश में ही होती है, तथा पार किए हुए अथवा न किए हुए देश से भिन्न गमन क्रिया सम्भव नहीं। यदि यह कहा जाय कि गमन न तो पार किए अथवा न पार किए गए देश में निहित है, अपितु गमन का प्रयत्न करने वाले गमनशील व्यक्ति में निहित है तो यह भी सत्य नहीं हो सकता। क्योंकि यदि गमन को गमनशील व्यक्ति से संबद्ध किया जाए तो उसको पारित देश से संबद्ध नहीं किया जा सकता। एक ही क्रिया दो से संबद्ध नहीं हो सकती और जब तक कुछ देश को पार नहीं किया जाय तब तब गन्ता नहीं हो सकता। यदि गमन गन्ता मात्र में ही निहित हो तो गमन बिना भी कोई व्यक्ति गन्ता हो सकता है, ऐसा होना असंभव

---

1 माध्यमिक वृत्ति, पृ॰ 90, 1:6।

है। यदि गन्ता एवं गत देश दोनों को गमन से संबद्ध किया जाय तो दो क्रियाओं की, न कि एक की, अपेक्षा होगी; उसका अर्थ होगा कि कर्ता भी दो हों। ऐसा कहा जा सकता है कि गमन क्रिया गन्ता से संबद्ध होने के कारण गमन गन्ता में निहित है, परन्तु यदि गन्ता के अभाव में गमन एवं गमन के अभाव में गन्ता न हो तो गमन को गन्ता से संबद्ध ही कैसे किया जा सकता। पुनः 'गन्ता जाता है' (गन्ता गच्छति) वाक्य में गमन की केवल एक ही क्रिया है, जो क्रिया पद 'गच्छति' से पूर्ण होती है, पृथक् 'गमन' कौन सा है जिसके संबंध के कारण 'गन्ता' को गन्ता कहा जा सके ? तथा गमन की दो पृथक् क्रियाओं के अभाव में गन्ता का भाव असंभव है। पुनः गमन की गति प्रारंभ भी नहीं हो सकती, क्योंकि जब गमन की गति होती है उस समय आदि नहीं होता, और जब गमन की गति नहीं होती तो उस समय किसी प्रकार का आदि नहीं हो सकता। पुनश्च, यह नहीं कहा जा सकता कि 'गमन' की विपरीत अवस्था 'स्थिति' का भाव होने के कारण 'गमन' का भी भाव होना चाहिए, क्योंकि 'स्थिति' में कौन है ? यदि गन्ता और गमन दोनों को एक ही माना जाय तो, न तो कर्ता होगा और न क्रिया ही। अतः गमन में कोई यथार्थता नहीं है। यहाँ 'गमन' का अर्थ किसी प्रकार के निष्कर्षण अथवा हो जाने से है, और 'गमन' के खण्डन का अर्थ समस्त प्रकार के निष्कर्षणों का भी खण्डन है। यदि बीज अंकुर हो जाते हैं, तो वे बीज होंगे, न कि अंकुर, अंकुर न तो बीज हैं और न उनसे भिन्न ही हैं, तथापि वहाँ बीजों के होने के कारण अंकुर हैं। एक मटर दूसरे मटर से होता है, फिर भी एक मटर दूसरा मटर नहीं हो जाता। एक मटर न तो अन्य मटर में विद्यमान है और न उससे भिन्न ही है। यह तो ऐसा ही है जैसे कोई दर्पण में स्त्री के सुन्दर मुख को देखकर उस पर आसक्ति का अनुभव करगे लगे और उसके पीछे भागने लगे, यद्यपि मुख का दर्पण में कभी निष्कर्षण नहीं हुआ और प्रतिबिम्बित बिम्ब में कोई मानव मुख नहीं आया। जिस प्रकार अज्ञों में स्त्री के मुख का तत्त्वहीन प्रतिबिम्बित बिम्ब आसक्ति उत्पन्न कर सकता है ठीक उसी प्रकार जगत्प्रपंच भी माया और आसक्ति के कारण हैं।

विभिन्न बौद्ध एवं अन्य पदार्थों के खंडन के लिए अपने तत्त्व-विवेचन को प्रयोग करने की नागार्जुन की पद्धति का विशद् विवरण देना एवं उदाहरणों की संख्या बढ़ाना यहाँ अनावश्यक है परन्तु जो कुछ कहा जा चुका है उससे नागार्जुन एवं श्रीहर्ष के तत्त्व-विवेचन की तुलना करना संभव है। न तो नागार्जुन और न श्रीहर्ष की ही जगत् प्रक्रिया की युक्ति संगत व्याख्या करने में रुचि है, और न ही वे हमारे जगत् अनुभवों की वैज्ञानिक पुनर्रचना करने में रुचि लेते हैं। वे जगदनुभवों की यथातथ रूप में प्रामाणिकता को अस्वीकार करने में एक मत हैं परन्तु जहाँ नागार्जुन के पास स्थापित करने के लिए अपना कोई प्रतिपाद्य विषय नहीं था, वहाँ श्रीहर्ष ने 'ब्रह्म' की सत्यता एवं परमार्थता स्थापित करने का प्रयत्न किया है। परन्तु ऐसा प्रतीत नहीं होता कि श्रीहर्ष ने कभी अपने तत्त्व-विवेचन का अपने प्रतिपाद्य विषय पर प्रयोग करने का उचित रूपेण प्रयत्न किया हो और यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया हो कि 'ब्रह्म' की परिभाषा उनके अपने तत्त्व-विवेचन की आलोचना की कसौटी पर खरी उतरती है। तथापि नागार्जुन एवं श्रीहर्ष दोनों का ही इस बात पर मतैक्य था कि जगदवभास की पुनर्रचना का कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं है जिसकी पुष्टि प्रामाणिक रूप में की जा सके। परन्तु जहाँ श्रीहर्ष ने केवल न्याय-परिभाषाओं पर आक्षेप किए, वहाँ नागार्जुन ने मुख्यतः बौद्ध पदार्थों एवं उनसे प्रत्यक्षतः

संबद्ध कुछ अन्य उपयुक्त पदार्थों पर ही आक्षेप किया। परन्तु श्रीहर्ष के सम्पूर्ण प्रयासों का लक्ष्य यह प्रदर्शित करना था कि न्याय-परिभाषाएँ सदोष हैं और न्याय किसी भी प्रकार से पदार्थों की सम्यक् परिभाषा नहीं कर सकता। पदार्थों की परिभाषा करने में न्याय की असमर्थता से उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि वे वस्तुत: अपरिभाष्य हैं और इसी हेतु उन पदार्थों के माध्यम से आका गया व जाँचा गया जगत् अवभास भी मिथ्या ही है। नागार्जुन की पद्धति श्रीहर्ष से इस बात में पर्याप्त भिन्न है कि नागार्जुन ने अपने आलोच्य प्रत्ययों को उन धारणाओं पर वस्तुतः आधारित एवं निर्मित प्रदर्शित किया जिनका अपना कोई स्वरूप नहीं है, अपितु वे अन्यों के सम्बन्ध से ही ग्रहण किए जाते हैं। किसी प्रत्यय में अपना स्वयं का वास्तविक स्वरूप प्रकट नहीं होता, और किसी प्रत्यय का ग्रहण केवल अन्य प्रत्यय के द्वारा ही हो सकता है और वह भी किसी अन्य द्वारा, चाहे वह पूर्ववर्त्ती हो अथवा परवर्त्ती, इत्यादि। अतः समस्त जगदवभास सापेक्ष प्रत्ययों पर आधारित हो जाएगा और इस प्रकार मिथ्या होगा। तथापि, नागार्जुन की आलोचनाएँ अधिकांशतः कारण से कार्य सिद्धान्त के स्वरूप की हैं और प्रत्ययों का ठोस प्रकार से विवेचन नहीं करतीं तथा हमारे मनोवैज्ञानिक मानसिक अनुभवों की साक्षी पर आधारित नहीं है। अतः जो विरोध प्रदर्शित किए गए हैं वे अधिकांशतः प्रायः अमूर्त रूप के हैं तथा कभी-कभी शब्दाडम्बर मात्र रह जाते हैं। परन्तु नियमित रूप में वे हमारे अनुभवों के मूलभूत सापेक्ष स्वरूप पर आधारित हैं। वे श्रीहर्ष की आलोचनाओं की तुलना में आधी मात्रा में भी विशद नहीं हैं, परन्तु इसके साथ ही वे मूलभूत रूप में श्रीहर्ष के तत्त्व-विवेचन की विशद गोलमटोल तार्किक सूक्ष्मताओं की अपेक्षा अधिक विश्वासप्रद एवं प्रत्यक्ष हैं। यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि नागार्जुन बुद्धपालित एवं चन्द्रकीर्ति की तत्त्व-विवेचन-पद्धति पर आधारित होने के कारण श्रीहर्ष की आलोचनाएँ एक बिलकुल भिन्न योजना का अनुसरण करती हुई तार्किक सूक्ष्मता और चातुर्य का विलक्षण सामार्थ्य प्रदर्शित करती हैं, यद्यपि उसका सम्पूर्ण प्रभाव कठोर दार्शनिक दृष्टि से शायद ही उन्नत माना जा सके, जबकि इनकी कई आलोचनाओं का प्रायः वाग्जाल उनके संपूर्ण कार्य के लिए अशोभनीय ही है।

वदान्त तत्त्व-विवेचन के अग्रणियों के रूप में शान्तरक्षित एवं कमलशील (760 ई० प०) का तार्किक आलोचन

(क) सांख्य परिणामवाद की आलोचना :

वेदान्त विचारधारा के तार्किक प्रकारों के इतिहास को खोजते समय पूर्व विभागों में यह प्रदर्शित किया जा चुका है कि शंकर एवं श्रीहर्ष, चित्सुख आदि उनके कुछ अनुयायियों पर नागार्जुन एवं चन्द्रकीर्ति का प्रभाव बहुत अधिक था। यह भी प्रदर्शित किया जा चुका है कि न केवल नागार्जुन एवं चन्द्रकीर्ति ने ही अपितु अन्य कई बौद्ध लेखकों ने भी विवेचन की आलोचनात्मक एवं तार्किक विधियों को ग्रहण किया था। कमलशील की 'पंजिका' टीका सहित शान्तरक्षित कृत 'तत्त्व-संग्रह' में प्रस्तुत भारतीय विचारधारा की विभिन्न शाखाओं की आलोचना इस बात का प्रमुख उदाहरण है। शान्तरक्षित का काल अष्टम शताब्दी का पूर्वार्द्ध है और कमलशील सम्भवतः उनके अवर समकालीन थे।

उन्होंने लोकायत शाखानुयायी कम्बलाश्वतर, बौद्ध वसुमित्र (100 ई० प०), धर्मत्रात (100 ई० प०), घोषक (150 ई० प०), बुद्ध देव (200 ई० प०), नैयायिक वात्स्यायन (300 ई० प०), मीमांसक शबरस्वायी (300 ई०प०), सांख्य विंध्यस्वामी (300 ई०प०), बौद्ध संघभद्र (350 ई०प०), वसुबन्धु (350 ई०प०), सांख्य ईश्वरकृष्ण (390 ई०प०), बौद्ध दिङ्नाग (400 ई० प०), जैन आचार्यसूरि (478 ई० प०), सांख्य माठराचार्य (500 ई०प०), उद्योतकर (600 ई० प०), छंद शास्त्री भामह (640 ई० प०), बौद्ध धर्मकीर्ति (650 ई०प०), वैयाकरण-दार्शनिक भर्तृहरि (650 ई०प०), मीमांसक कुमारिल भट्ट (680 ई०प०), जैन शुभगुप्त (700 ई०प०), बौद्ध योगासन (700 ई०प०), नैयायिक अविद्धकर्ण (700 ई० प०), शंकरस्वामी (700 ई० प०), प्रशस्तमति (700 ई० प०), भावविवेक (700 ई० प०), जैन पात्रस्वामी (700 ई० प०), आह्निक (700 ई० प०), सुमति (700 ई०प०)[1] एवं मीमांसक उम्वेक (700 ई०प०) के मतों का खंडन किया। शान्तरक्षित एवं कमलशील द्वारा प्रस्तुत विभिन्न दार्शनिकों की सारी आलोचनाओं के पूर्ण विश्लेषण को हाथ में लेना यहाँ सम्भव नहीं है, तो भी इन आलोचनाओं के कुछ मुख्य-मुख्य विषयों पर ध्यान देना चाहिए जिससे कि यह प्रदर्शित हो सके कि जो आलोचनात्मक विचारधारा समस्त बोद्धों में शंकर से पूर्व व्याप्त थी और जिस विचारधारा से श्रीहर्ष, चित्सुख अथवा आनन्दज्ञान जैसे शंकर के अनुयायियों के अत्यधिक प्रभावित होने की पूर्ण सम्भावना है, उस आलोचनात्मक विचारधारा के स्वरूप को भी प्रकट करने वाले उस कार्य का स्वरूप एवं महत्त्व क्या है ?

सांख्य दृष्टिकोण की आलोचना करते समय उनका कथन है कि यदि कार्य, प्रकृति, और कारण, प्रधान, दोनों में एकात्मकता हो तो प्रकृति के प्रधान से उत्पन्न होने का कारण क्या है ? दोनों में एकात्मकता होने की अवस्था में स्वयं प्रकृति को कारण अथवा प्रधान को कार्य माना जा सकता है। उत्पत्ति के निर्धारण का सामान्य प्रकार नित्य पूर्वकालभावित्व है। परिणाम के भाव का अर्थ है विविधता में एकात्मकता, जो सांख्यों की कारण-योजना है, यह परिणाम का भाव अस्वीकार्य है, क्योंकि, यदि यह कहा जाय कि कोई तत्त्व अनेक रूपों में विकृत हो जाता है, तो यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या कारण-तत्त्व का भी स्वभाव विकृत होता है या नहीं ? यदि वह विकार को प्राप्त नहीं होता है तो कारण एवं कार्य अवस्थाएं परकालीन परिणाम में एक साथ रहनी चाहिएं, यह असम्भव है। यदि यह विकार को प्राप्त होता है तो स्थायी कारण जैसी कोई वस्तु नहीं है क्योंकि इसका अर्थ यह होगा कि एक पूर्व की अवस्था का बाध होकर एक नवीन अवस्था का जन्म होता हैं। यदि यह कहा जाय कि कारणगत परिणाम का अर्थ नए गुणों को धारण करना है तो यह प्रश्न हो सकता कि क्या ऐसे गुण कारणभूत

---

1. ये तिथियाँ डा० बी० भट्टाचार्य की तत्त्व संग्रह की भूमिका से संगृहीत हैं। यद्यपि इस ग्रन्थकार के मत में इनमें से अधिकांश तिथियाँ प्रायः ठीक हैं, फिर भी उनकी चर्चा के लिए स्थानाभाव के कारण उनकी सत्यता के लिए वह उत्तरदायी नहीं है।

द्रव्य से भिन्न हैं अथवा नहीं ? यदि वे भिन्न हैं तो नवीन गुणों का उत्पन्न होना इस मत को मानने का अधिकार नहीं देता कि कारणभूत द्रव्य परिणाम को प्राप्त होता है । यदि विकारी गुण एवं कारणभूत द्रव्य दोनों में तादात्म्य है तो तर्क का प्रथम भाग पुनः प्रकट हो जाएगा । पुनः, जो तर्क सत्कार्यवाद के पक्ष में दिए जाते हैं वे ही उसके विरुद्ध भी दिए जा सकते हैं । अतः, यदि दुग्ध के स्वभाव में दधि आदि की अवस्था पहले से ही विद्यमान हो, तो उनके उससे उत्पन्न होने का क्या अर्थ है ? यदि उत्पत्ति का आशय नहीं है तो कारणत्व का कोई भाव ही नहीं रहता । यदि यह कहा जाय कि कार्य कारण में संभाव्य रूप से विद्यमान रहता है और कारण-व्यापार उनको केवल वास्तविक रूप ही प्रदान करता है, तो यह स्वीकार किया जाता है कि वस्तुतः कार्यों का कारण में अभाव है और हमें कारण में किसी विशेष धर्म को स्वीकार करना होगा जो उस कारण-व्यापार का परिणाम है, जिसके अभाव के कारण कार्य 'कारण' में संभाव्य अवस्था में रहे और जो कारण-व्यापार कार्यों को वास्तविक रूप प्रदान करते हैं वे कारण में कुछ विशिष्ट निर्धारकों को जन्म देते हैं जिनके परिणामस्वरूप जिस कार्य का पहले अभाव था वह वास्तविक रूप धारण करता है; इसका अर्थ यह होगा कि जिसका अभाव है वह उत्पन्न हो सकता है, यह बात सत्कार्यवाद सिद्धान्त के विपरीत होगी । सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार कारणगत परिणाम असंभव होने के कारण उपर्युक्त आलोचना के प्रकाश में 'सत्कार्यवाद' के पक्ष में दिया हुआ यह सांख्य तर्क भी अस्वीकार्य है कि केवल विशिष्ट प्रकार के कारणों से ही विशिष्ट प्रकार के कार्य उत्पन्न हो सकते हैं ।

पुनः सांख्य के अनुसार किसी वस्तु का भी निश्चित रूप से कथन नहीं किया जा सकता, क्योंकि सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार बुद्धि, मन अथवा चैतन्य इनमें से किसी एक के भी विकार के रूप में शंकाएं एवं त्रुटियाँ सदा विद्यमान रहती हैं । पुनः समस्त सांख्य तर्कों का प्रयोग व्यर्थ माना जा सकता है, क्योंकि समस्त तर्कों का लक्ष्य निश्चय की प्राप्ति है । तथापि यदि कहा जाय कि निश्चयों का भाव पहले नहीं था, अपितु वे तर्कों के प्रयोग का फल है, तो जिसका भाव नहीं था उसकी उत्पत्ति हुई और इस प्रकार सत्कार्यवाद का सिद्धान्त असफल हो जाता है । यदि यह कहा जाय कि यद्यपि निश्चय तार्किक प्रतिज्ञाओं के प्रयोग के पूर्व ही विद्यमान होता है फिर भी उसे इन प्रतिज्ञाओं के प्रयोग से अभिव्यक्त माना जा सकता है, तो सांख्यों से यह प्रश्न किया जा सकता है कि उनका 'अभिव्यक्ति' से क्या तात्पर्य है ? इस अभिव्यक्ति का अर्थ कोई नवीन धर्म अथवा कोई ज्ञान अथवा बोध के किसी बाधा का निवारण हो सकता है । प्रथम विकल्प में, यह प्रश्न पुनः किया जा सकता है कि क्या इन प्रतिज्ञाओं के प्रयोग से उत्पन्न नवीन स्वभावातिशय स्वयं निश्चय से भिन्न है अथवा उसके समरूप है ? यदि यह समरूप है तो उसके समावेश की आवश्यकता नहीं है, यदि वह भिन्न है तो उन दोनों में कोई सम्बन्ध स्वीकार्य नहीं होगा क्योंकि दो असंबद्ध तत्त्वों के मध्य संबंध को स्थापित करने का कोई भी प्रयत्न हमें अनवस्था दोष में डाल देगा । इसका अर्थ उस विषयविशेष के ज्ञान की उत्पत्ति भी नहीं हो सकता जिसकी अभिव्यक्ति के लिए प्रतिज्ञाओं का प्रयोग होता है, क्योंकि सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार, वह ज्ञान उसमें पहले से ही विद्यमान है । पुनः, इसका अर्थ ज्ञान की बाधाओं का निवारण भी नहीं हो सकता क्योंकि यदि कोई बाधा हो, तो वह भी सदा विद्यमान भी होगी । वस्तुतः, यथार्थ ज्ञान के प्रति उद्दिष्ट सांख्यदर्शन की समस्त शिक्षाओं सिद्धान्तों का मिथ्या

होना अपेक्षित है क्योंकि यथार्थ ज्ञान सदा सत् होता है, अतः कोई सीमा अपेक्षित है, तथा इसी हेतु समस्त व्यक्ति सदा मुक्त ही रहेंगे। पुनः यदि कोई मिथ्या ज्ञान है तो उसका विनाश नहीं हो सकता, और इस हेतु से मुक्ति नहीं हो सकती।

तत्पश्चात् शान्तरक्षित एवं कमलशील का कथन है कि यद्यपि उपर्युक्त खंडन से स्वभावतः असत्कार्यवाद (असत् का उत्पन्न होना) के सिद्धान्त को प्रमाणित होना चाहिए तथापि असत्कार्यवाद के सांख्य खंडन के प्रत्युत्तर में कुछ शब्द कहे जा सकते हैं। अतः असत् के नैरूप्य के कारण अनुत्पाद्य होने का तर्क मिथ्या है, क्योंकि उत्पादन क्रिया स्वयं उत्पाद्य वस्तु के स्वभाव का प्रतिनिधित्व करती है। जिस प्रकार सत्कार्यवादियों का मत है कि कारणसामग्री के अनुसार गुणत्रयी से विभिन्न प्रकार के कार्य उत्पन्न हो सकते हैं, उसी प्रकार इस अवस्था में भी कारणशक्तियों के विभिन्न प्रकारों के नियम (कारणशक्तिनियमात) के अनुसार विभिन्न प्रकार के असत् कार्य भी सत्ता में आ जाते हैं। यह मानना निरर्थक है कि कारण-शक्तियों का परिसीमन कार्यों की पूर्व विद्यमानता में उपलब्ध है। क्योंकि वस्तुतः कारणशक्तियों के विभिन्न सामर्थ्यों के कारण ही विभिन्न कार्य उत्पन्न होते हैं। विभिन्न कार्यों का उत्पादन उनकी उत्पादक कारणशक्तियों के विविध स्वभाव मात्र के ही कारण होता है। अतः कारणशक्ति-नियम ही परम मूलभूत नियम है। तथापि, 'असत्कार्य-वाद' संज्ञा भ्रामक है, क्योंकि निश्चय ही ऐसा कोई असत् तत्त्व नहीं है जो उत्पत्ति को प्राप्त होता है।[1] यथार्थ में उत्पादन का अर्थ पूर्व और अपर क्षणों के समस्त संयोगों से रहित क्षणिक स्वभाव मात्र के अतिरिक्त कुछ नहीं है।[2] असत्कार्यवाद का अर्थ यह है कि एक कार्य-संज्ञक तत्त्व का एक कारण-व्यापार के तत्क्षण पश्चात् दर्शन होता है और निश्चय ही इसका द्वितीय क्षण के पूर्व अस्तित्व नहीं था, क्योंकि यदि यह कारण-व्यापार के प्रथम क्षण में विद्यमान होता तो उसका प्रत्यक्ष होता; अतः यह कहा जाता है कि कार्य का पहले अस्तित्व नहीं था; परन्तु इसकी व्याख्या इस अर्थ में नहीं करनी चाहिए कि बौद्ध कार्य के असत्-रूप-अस्तित्व को मानते थे, जो कारण-व्यापार के पश्चात् अकस्मात् उत्पन्न हो जाता है।

अन्य सांख्य सिद्धान्तों के खंडन करते समय शान्तरक्षित एवं कमलशील यह प्रदर्शित करते हैं कि यदि किसी कार्य (यथा, दधि) को कारण (यथा दुग्ध) में विद्यमान कहा जाय तो ऐसा कार्य के वास्तविक रूप में नहीं हो सकता क्योंकि उस अवस्था में दुग्ध में दधि का स्वाद आएगा। यदि यह कहा जाय कि यह एक विशेष शक्ति के रूप में विद्यमान रहता है तो कारण में कार्य के अस्तित्व का स्वभावतः ही निषेध हो जाता है, क्योंकि कार्य की शक्ति ही, न कि स्वयं कार्य, कारण में विद्यमान रहती है। पुनः सांख्यों की मान्यता है कि समस्त इन्द्रियगोचर वस्तुएँ सुख दुःखात्मक होती हैं; यह स्पष्टतः असंभव है क्योंकि चेतनावस्थाएँ ही सुखमय अथवा दुःखमय मानी जा सकती है। पुनः, यदि वस्तुपरक जड़ वस्तुएँ स्वयं सुखमय अथवा दुःखमय

---

1. न ह्यसन्नाम किंचिदस्ति यदुत्पत्तिमाविशेत्, किन्तु काल्पनिकोऽयं व्यवहारो यदसदुत्पद्यत इति यावत्–तत्त्वसंग्रह पंजिका–पृ॰ 33।
2. वस्तूनां पूर्वापरकोटिशून्यक्षणमात्रावस्थायी स्वभाव एवं उत्पादः इत्युच्यते–वही।

हों तो एक ही वस्तु के एक व्यक्ति का सुखमय प्रतीत होने और अन्य को दुःखमय प्रतीत होने के तथ्य को समझाया नहीं जा सकेगा। तथापि, यदि यह माना जाय कि किसी मनुष्य की मानसिक अवस्था विशेष या उसके दुर्भाग्य के कारण सुखमय विषय भी उसे दुःखमय प्रतीत हो सकते हैं; तब विषय स्वयं दुःखमय अथवा सुखमय नहीं हो सकते। पुनः यदि विषयों को गुणत्रयी द्वारा निर्मित माना जाय, तो एक शाश्वत प्रकृति को ही उन सबका स्रोत न मानने का कोई कारण नहीं। यदि कारण कार्यों के सदृश हैं तो विषय जगत् के अनेक अथवा सीमित अथवा अनित्य होने के तथ्य से यह मानना पड़ेगा कि विषयों के कारण भी अनेक, सीमित एवं अनित्य होंगे। कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि जिस प्रकार सर्व मृद् भाण्ड एक मृत्तिका से ही उत्पन्न होते हैं इसी प्रकार सारे विषय भी एक प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं; परन्तु यह तर्क भी हेत्वाभासमय है, क्योंकि समस्त मृद्भाण्ड एक मृत्पिण्ड से नहीं अपितु भिन्न-भिन्न मृत्पिण्डों से उत्पन्न होते हैं। अतः, यद्यपि यह अनुमान किया जा सकता है कि कार्य-जगत् के कारण अवश्य होंगे, तो भी हम इससे यह अनुमान नहीं लगा सकते कि सांख्यों की प्रकृति जैसा कोई एक ऐसा कारण है।

(ख) ईश्वर की आलोचना :

ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष में नैयायिक आस्तिकों का मुख्य तर्क इस तथ्य पर आधारित है कि विभिन्न सांसारिक विषयों के रूप एवं आकार विशेषों का स्पष्टीकरण किसी चैतन्य युक्त व्यवस्थाता अथवा निर्माता के बिना नहीं हो सकता। इसके प्रत्युत्तर में शान्तरक्षित एवं कमलशील का कथन है कि हमें केवल विभिन्न प्रकार के रूपवान् एवं स्पर्शवान् विषयों का ही प्रत्यक्ष होता है और उनसे आगे रूपवान् अवयवियों अथवा तथा कथित विषयों के प्रत्यक्ष की कल्पना ही नहीं कर सकते। यह सोचना निरर्थक है कि रूपवान् एवं स्पर्शवान् भूतों से ही सम्पूर्ण विषय निर्मित होता है। यह कहना गलत है कि यह वही वर्णयुक्त विषय है जिसका दिन में अवलोकन किया था और जिसका रात्रि में न देख पाने पर स्पर्श किया था; क्योंकि रूप-विषय स्पर्श-विषयों से पूर्णतः भिन्न प्रकार के तत्त्व हैं, अतः यह कहना निरर्थक है कि यह वही अवयवी अथवा विषय है जिसके रूप एवं स्पर्श दोनों ही स्वभाव हैं। यदि दो रूप, यथा पीत एवं नील, भिन्न हों तो रूप एवं स्पर्श के विषय तो और भी अधिक भिन्न होंगे। अतः सत्तावान् विषय रूप एवं स्पर्श के स्वभाव से युक्त अवयवी नहीं है अपितु रूप एवं स्पर्श विषयों की तन्मात्राएँ मात्र हैं; उनका अवयवी में संयोग मिथ्या कल्पना के मात्र के कारण ही होता है। किसी भी विषय का दो इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो सकता; किसी एक ही विषय के चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष होने एवं स्पर्श होने का प्रमाण उपलब्ध नहीं है। अतः केवल शिथिल एवं अमूर्त इन्द्रियविषयों का ही अस्तित्व है। साकार अवयवी के अभाव में आकार-प्रदाता एवं व्यवस्थाता के रूप में ईश्वर का अस्तित्व अस्वीकार्य है। कार्यों के अस्तित्व के तथ्य से यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि एक चेतन स्रष्टा एवं व्यवस्थाता का अस्तित्व है क्योंकि किसी वर्णन के सादृश्य मात्र से कारणयुक्त अनुमान नहीं किया जा सकता; अनन्यथासिद्ध एवं अपरिवर्तनीय संबंध (प्रतिबन्ध) का नियम होना आवश्यक है। यह तर्क अनुचित है कि घटादिक का निर्माण एक चेतन स्रष्टा से होने के कारण वृक्षादि का भी निर्माण किसी चेतन स्रष्टा के द्वारा हुआ होगा; क्योंकि वृक्षादि का स्वभाव घटादि से इतना भिन्न है कि पूर्व से पर के विषय में

किसी कथन का करना अनुचित है। किसी शाश्वत तत्त्व के अस्तित्व के विरुद्ध बौद्धों के सामान्य तर्क किसी नित्य ईश्वर की सत्ता के विरुद्ध भी प्रयुक्त होंगे। यह तर्क गलत है कि समस्त दृश्य जगत् में विराम की अवस्था से क्रिया अथवा सर्ग की अवस्था प्रस्फुटित होने के कारण कोई चेतन स्रष्टा अवश्य होगा; क्योंकि प्रकृति में विरामावस्था कोई नहीं हैं; सारी सांसारिक वस्तुएँ क्षणिक हैं। पुनः यदि वस्तुएँ कारणरूप कर्त्ता के व्यापार के द्वारा कालान्तर में क्रम से घटित हो रही हैं तो ईश्वर को भी कालान्तर में कार्य करना चाहिए, तथा स्वयं विपक्षियों के तर्कों के द्वारा ही उसको अपने क्रियाव्यापार में पथप्रदर्शन के लिए किसी अन्य सत्ता की अपेक्षा होगी, उसको किसी अन्य की, इस प्रकार अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी। यदि ईश्वर स्रष्टा होता, तो सारी वस्तुएँ एक साथ ही अस्तित्व में आ जातीं। उसको सहकारी सहायता पर आश्रित नहीं होना पड़ता, क्योंकि उसके इस प्रकार की सब सहकारी परिस्थितियों का स्रष्टा होने से वे परिस्थितियाँ उसको अपने सर्ग में कोई सहायता प्रदान नहीं कर सकतीं। यदि यह कहा जाय कि यह तर्क इसलिए स्थिर नहीं रह सकता कि ईश्वर अपनी इच्छानुसार ही सृष्टि रचता है, तो प्रत्युत्तर में यह कहा जा सकता है कि ईश्वर की इच्छा एक एवं नित्य माने जाने के कारण युगपत् सृष्टि की पूर्व आपत्ति स्थिर रहती है। तथापि ईश्वर के नित्य होने के कारण एवं उसकी इच्छा केवल उसी पर निर्भर रहने के कारण उसकी इच्छा क्षणिक नहीं हो सकती। अब यदि ईश्वर और उसकी इच्छा के नित्य होने पर भी किसी प्रपंचविशेष की उत्पत्ति के समय अन्य सब प्रपंचों की उत्पत्ति नहीं हो तो उन प्रपंचों को ईश्वर अथवा उसकी इच्छा द्वारा सृष्ट नहीं माना जा सकता। पुनश्च, यदि तर्क मात्र के लिए भी यह स्वीकार कर लिया जाय कि सारे नैसर्गिक विषयों यथा, पर्वत, वृक्षादि, को चेतन स्रष्टा की पूर्व में ही अपेक्षा है, तो भी ऐसी कल्पना के पक्ष में कोई तर्क नहीं उपलब्ध होता है कि एक चेतन स्रष्टा ही विविध नैसर्गिक विषयों एवं प्रपंचों का कारक है। अतः एक सर्वज्ञ स्रष्टा के अस्तित्व के पक्ष में तर्क नहीं है।

ईश्वर एवं प्रकृति के खंडन में प्रस्तुत तर्क ईश्वर एवं प्रकृति के संयुक्त कारणत्व को स्वीकार करने वाले पातंजल-सांख्य के विरुद्ध भी प्रयुक्त होते हैं, क्योंकि इसमें भी प्रकृति एवं ईश्वर के नित्यकारण होने से समस्त कार्यों की युगपत् सृष्टि अपेक्षित है। यदि यह कहा जाता है कि ईश्वर के व्यापार के संदर्भ में तीन गुण सहकारी कारण के रूप में कार्य करते हैं, तो उस अवस्था में भी यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या सर्ग के समय प्रलय अथवा स्थिति का क्रिया-व्यापार भी अपेक्षित है ? अथवा क्या प्रलय के समय सर्ग-क्रिया भी हो सकती है ? यदि यह कहा जाय कि प्रकृति में सब प्रकार की शक्तियों के विद्यमान होने पर भी केवल वे शक्तियाँ ही क्रियमाण होती हैं जो कार्य रूप ग्रहण करती हैं, तो यह आपत्ति की जा सकती है कि प्रकृति की कुछ शक्तियों की निष्क्रियता की अवस्था में अन्य शक्तियों को क्रियामाण बनाने के लिए किसी अन्य प्रकार के कारण को स्वीकार करना पड़ेगा, और इस अवस्था में एक तीसरा तत्त्व और आ जाएगा; अतः पुरुष और प्रकृति के संयुक्त कारणत्व का भी सुगमता पूर्वक खंडन हो जाता है। पुनः यह मत भी मिथ्या है कि ईश्वर अपने अनुग्रहवश जगत् की सृष्टि करता है, क्योंकि ऐसी अवस्था में जगत् इतना दुःखमय नहीं होता। पुनश्च, सृष्टि से पूर्व किसी प्राणी के न होने के कारण ईश्वर असद् प्राणियों पर कृपा भाव नहीं रख सकता। यदि वह इतना कृपालु होता तो वह जगत् का प्रलय नहीं

करता, यदि वह जगत् की सृष्टि एवं प्रलय शुभाशुभ कर्मानुसार करता है, तो उस अवस्था में वह स्वतन्त्र नहीं हो सकता। यदि वह स्वतन्त्र होता तो वह जगत् में दुःख को उत्पन्न करने के लिए अपने आप को अशुभ कर्मों के फलों से प्रभावित नहीं होने देता। यदि उसने जगत् की सृष्टि लीलावृत्ति मात्र से ही की है तो ये लीलावृत्तियाँ उससे वरीयान् होनी चाहिएँ। यदि उसे अपनी सर्जक एवं संहारक लीला से पर्याप्त आनन्द प्राप्त होता है तो यदि उसमें सामर्थ्य हो तो वह जगत् की उत्पत्ति एवं संहार युगपत् ही करता। यदि उसमें जगत् की युगपत् उत्पत्ति एवं संहार की सामर्थ्य नहीं है, तो कालान्तर में ऐसा करने की उसकी सामर्थ्य की कल्पना करने का कोई हेतु नहीं है। यदि यह कहा जाय कि जगत् की उत्पत्ति निसर्गत: उसके स्वयं के अस्तित्व के कारण हुई, तो युगपत् उत्पत्ति होनी चाहिए। यदि यह आपत्ति की जाय कि जिस प्रकार मकड़ी अपने जाल की रचना करते हुए भी उस सारे की एकदम रचना नहीं करती, ठीक उसी प्रकार ईश्वर भी जगत् की सृष्टि एक साथ न करके क्रमशः करता है, तो यह प्रदर्शित किया जा सकता है कि मकड़ी की उपमा मिथ्या है क्योंकि मकड़ी जाल की रचना नैसर्गिक रूप से न करके कीटों के भक्षण के लोभ-वश करती है और ऐसे ही उद्देश्यों से उसके कार्यकलापों का निर्धारण होता है। तथापि ईश्वर एक ही है, अतः उसका एक ही समरूप उद्देश्य हो सकता है। यदि यह कहा जाय कि सर्ग ईश्वर से मानो अचेतन रूप में ही प्रवाहित होता है, तो यह आपत्ति की जा सकती है कि इतने महान् विश्व को बिना किसी चेतन आश्रय के उत्पन्न करने वाली सत्ता अवश्य ही अत्यन्त अचेतन होगी।

(ग) आत्मा के सिद्धान्त का खण्डन :

शान्तरक्षित एवं कमलशील आत्मा के विषय में न्याय के इस मत का खण्डन करते हैं कि हमारे विचारों का कोई ज्ञाता होना चाहिए, कि हमारी इच्छाओं एवं अनुभूतियों का कोई आश्रयतत्त्व होना चाहिए, और वह तत्त्व आत्मा है तथा इसी आत्मा की सत्ता के द्वारा ही एक व्यक्ति की अनुभूति के रूप में हमारी समस्त चेतन अवस्थाओं की एकात्मकता का स्पष्टीकरण होता है। उनका मत है कि किसी विचार अथवा ज्ञान को अपने प्रकाश के लिए किसी अन्य ज्ञाता की अपेक्षा नहीं है, यदि ऐसा होता तो अनवस्था प्रसंग की प्राप्ति हो जाती। पुनः इच्छा, भाव आदि जड़ विषयों के समान नहीं है जिनको एक आधार की अपेक्षा हो जिनमें वे रह सकें। चैतन्य की तथाकथित एकता का कारण क्षणिक चैतन्यों को एक मानने की मिथ्या कल्पना है। यह सुविदित है कि विभिन्न तत्त्वों को एक ही प्रकार के कार्यों का सम्पादन करने के कारण संयुक्त माना जाता है। ज्ञान को अपने अहंकार रूप में ही आत्मा की संज्ञा दी जाती है, यद्यपि उसके अनुकूल कोई विषय-परक तत्त्व नहीं है। कभी-कभी यह तर्क दिया जाता है कि आत्मा की सत्ता इस तथ्य से प्रमाणित होती है कि जब तक मनुष्य के जीवन-प्रवाह आत्मा से संबद्ध रहते हैं तब तक ही वह जीवित रहता है और जब वे उससे पृथक् हो जाते हैं वह मर जाता है, परन्तु यह मिथ्या है, क्योंकि आत्मा की सत्ता प्रमाणित हुए बिना जीवन के निर्धारण में उसको जीवन-प्रवाहों से सम्बद्ध करना अग्राह्य है। तथापि, कुछ का कथन है कि अनुभूतियों में आत्मा का प्रत्यक्ष गोचर होता है। यदि उसका अभाव होता तो उसकी सत्ता के विषय में इतने विविध मत नहीं होते। अहंकार का भाव आत्मा का संकेतक नहीं माना जा

सकता, क्योंकि अहंकार का भाव नित्य नहीं है, जैसा कि उसे माना जाता है। इसके विपरीत कभी इसका संदर्भ हमारे शरीर से (यथा, जब मैं कहता हूँ कि 'मैं श्वेत हूँ') कभी इन्द्रियों से (यथा, जब मैं कहता हूँ कि 'मैं बहरा हूँ') और कभी बौद्धिक अवस्थाओं से होता है। यह नहीं कहा जा सकता कि इसका शरीर अथवा इन्द्रियों से संदर्भ केवल अप्रत्यक्ष ही है, क्योंकि इसका स्वभाव अन्य किसी नित्य एवं प्रत्यक्ष प्रकार से अनुभवगम्य नहीं है।

इच्छा, भाव आदि को भी प्रायः क्रम में ही उत्पन्न होने के कारण किसी नित्य आत्मा में आश्रित नहीं माना जा सकता। निष्कर्ष यह निकलता है कि समस्त जड़ विषयों के समान मानव प्राणी भी आत्महीन है। कल्पित नित्य आत्मा देह से इतना भिन्न है कि यह समझ पाना कठिन है कि एक दूसरे का कैसे सहायक हो सकता है अथवा उससे संबद्ध भी हो सकता है ? अतः न्याय वैशेषिक आत्मा के सिद्धान्त का शायद ही कोई तर्क रहता हो।

(घ) मीमांसा के आत्म-सिद्धान्त का खण्डन :

कुमारिल की आस्था थी कि यद्यपि शुद्धचैतन्य के रूप में आत्मा का स्वभाव नित्य एवं अविकारी है, तथापि वह अन्य भावशील एवं संकल्पशील अवस्थाओं के विभिन्न विकारशील चरणों में से विचरित होता है। आत्मा का शुद्ध चैतन्यस्वरूप होना इस तथ्य से प्रमाणित होता है कि स्वयं भूत एवं वर्तमान कालों में ज्ञाता के रूप में प्रत्यक्ष होता है। अतः अहंवृत्ति द्वारा आत्मा की सत्ता प्रमाणित होती है। इसके प्रत्युत्तर में शान्तरक्षित एवं कमलशील का कथन है कि यदि आत्मा को एक नित्य चैतन्य मान लिया जाय तो उसी प्रकार ज्ञान अथवा बुद्धि को भी एक तथा नित्य मानना पड़ेगा। परन्तु प्रकटतः कुमारिल बुद्धि को ऐसा नहीं मानते। यदि बुद्धि को एक तथा नित्य माना जाए तो रूपज्ञान, रसज्ञान, आदि ज्ञान की विभिन्न अवस्थाओं की व्याख्या कैसे की जाएगी। यदि यह कहा जाए कि बुद्धि के एक होने पर भी (यथा अग्नि में सदा दहन-सामर्थ्य होने पर भी वह दाहक पदार्थों के समक्ष आने पर ही प्रज्वलित होती है) वह अपने समक्ष विभिन्न प्रकार के विषयों के प्रस्तुत होने के अनुसार ही विभिन्न प्रकार के प्रत्यक्षों में से विचरित होती है; अथवा जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्ब सामर्थ्य होने पर भी वस्तुएँ उसके समक्ष प्रस्तुत होने पर ही उसमें प्रतिबिम्बित होती हैं ठीक उसी प्रकार आत्माएँ नित्य चैतन्य होने पर भी अपने शरीरविशेषों के संबंध में ही व्यापारशील होती हैं और विभिन्न इन्द्रियविषयों को ग्रहण करते हैं तथा समस्त ज्ञान उससे (आत्मा से) निर्मित होते हैं। यदि ज्ञानविकार इन्द्रियों एवं इन्द्रियविषयों के विक्रियमाण व्यापारों के कारण होता, तो ऐसी बुद्धि नित्य एवं एक नहीं मानी जा सकती। यदि चैतन्य के सातत्य के अनुभव के कारण बुद्धि को नित्य माना जाए तो, ज्ञान-वैभिन्य की किस प्रकार व्याख्या की जाएगी ? यदि यह कहा जाए कि ज्ञान-वैभिन्य बुद्धि के द्वारा विषयों के विभिन्न रूपों को ग्रहण करने के कारण होता है, तो विभ्रान्ति के समय ज्ञान-वैभिन्य की अनुभूति की किस प्रकार व्याख्या की जाएगी, जबकि विषयों का अभाव होता है ? इसके अतिरिक्त मीमांसकों के मत में बुद्धि ज्ञात विषयों का आकार नहीं ग्रहण करती है, अपितु उनका मत है कि ज्ञान विषयजगत् के विषयों को प्रकाशित

करता है और बुद्धि स्वयं निराकर है। ज्ञान का तत्सम्बन्धी यथार्य विषयीपरक अभिव्यक्ति के अभाव में भी होना यह सिद्ध करता है कि हमारा ज्ञान विषयपरक एवं स्वप्रकाश्य है और वह विषयीपरक तत्त्वों को प्रकाशित नहीं करता है। यदि वह कहा जाए कि बुद्धि में समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने की सदा सामर्थ्य होती है, तो शब्द-ज्ञान एवं रूप-ज्ञान एक ही होंगे। अग्नि की उपमा भी मिथ्या है, क्योंकि एक ही अग्नि सतत नहीं रहती; प्रतिबिम्बकारी दर्पण की उपमा भी मिथ्या है, क्योंकि वस्तुतः दर्पण स्वयं में कोई प्रतिबिम्ब नहीं होता; कोई व्यक्ति दर्पण में प्रतिबिम्ब एक विशेष कोण से ही देख सकता है, अतः दर्पण मिथ्या ज्ञान उत्पन्न करने का एक यन्त्र मात्र ही है। पुनः बुद्धि की दर्पण से तुलना भ्रान्तिपूर्ण बिम्बों के उत्पादक यन्त्र के रूप में नहीं की जा सकती; क्योंकि उस अवस्था में भ्रान्तिपूर्ण बिम्बों का प्रत्यक्ष करने के लिए एक अन्य बुद्धि की आवश्यकता होगी। पुनः, यदि आत्मा को एक एवं नित्य माना जाए तो वह परिवर्तनशील भावमय एवं संकल्पमय अवस्थाओं के मध्य से विचरण नहीं कर सकती। यदि ये अवस्थाएँ आत्मा से पूर्णतः भिन्न नहीं हैं तो उनके विकारों का अर्थ आत्मा का विकार होगा, और यदि वे आत्मा से पूर्णतः भिन्न हैं तो उनके विकार का आत्मा पर क्या परिणाम होगा? पुनः, यदि ये सब अवस्थाएँ आत्मा की ही हैं और यह कहा जाए कि जीवात्मा के स्वभाव में सुखी अवस्था के लीन हो जाने पर ही दुःखी अवस्था उत्पन्न होती है, तो यह आपत्ति प्रदर्शित की जा सकती है कि यदि सुखी अवस्थाएँ आत्मा के साथ एकरूपता में उसके स्वभाव में लीन हो जाएँ, तो वे आत्मा के स्वभाव के साथ एकरूप होंगी। यह कल्पना करना भी गलत है कि अहंवृत्ति के भाव का संबंध एक तत्सम्बन्धी यथार्थ में विद्यमान तत्त्व से है। वस्तुतः इसका कोई ऐसा विशिष्ट विषय नहीं है जिसे आत्मा कहा जा सके। अतः यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि आत्मा की सत्ता आत्मचैतन्य द्वारा प्रमाणित नहीं होती।

(ङ) पुरुष-विषयक सांख्य दृष्टिकोण का खण्डन :

आत्मसंबंधी सांख्य दृष्टिकोण के विरुद्ध यह प्रदर्शित किया गया है कि सांख्य आत्मा को शुद्ध चैतन्य, एक तथा नित्य मानता है, और, ऐसी अवस्था में, वह विविध अनुभूतियों का भोक्ता नहीं हो सकता। यदि यह माना जाय कि भोगादि सब बुद्धि के धर्म हैं और पुरुष तो बुद्धिगत बिम्ब मात्रों का भोक्ता है तो यह आपत्ति की जा सकती है कि यदि बुद्धिगत प्रतिबिम्बों का पुरुष से तादात्म्य है तो उनके विकारों के साथ पुरुषों में भी विकार होना चाहिए, और यदि वे भिन्न हैं तो पुरुष को उनका भोक्ता नहीं माना जा सकता। पुनः यदि प्रकृति अपने समस्त क्रियाकलापों को पुरुष के भोग के लिए केन्द्रित करती है तो उसे अचेतन कैसे माना जा सकता हैं? पुनश्च; यदि समस्त क्रियाकलाप बुद्धि के ही हों तथा बुद्धि पुरुष से भिन्न हो तो बुद्धिकृत कर्मों को पुरुष क्यों भोगे। तथापि पुनः, यदि सुख एवं दुःख की परिवर्तनशील अवस्थाओं का पुरुष के स्वभाव पर कोई प्रभाव नहीं होता है, तो वह भोक्ता नहीं माना जा सकता, और यदि वह प्रभावित हो सकता है तो वह स्वयं विकारी हो जाएगा।

(च) आत्म-सम्बन्धी औपनिषद दृष्टिकोण का खण्डन :

उपनिषद् विचारकों का मत है कि एक ही नित्य चैतन्य भ्रमवश सर्व विषयों के

रूप में प्रतीत होता है, तथा वस्तुतः न कोई ज्ञाता है और न कोई ज्ञेय, अपितु एक नित्य चैतन्य मात्र ही सत् है। इस दृष्टिकोण के विरुद्ध शान्तरक्षित एवं कमलशील का कथन है कि रूप, रस आदि के पृथक् ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई किसी नित्य, अविकारी चैतन्य का अनुभव नहीं होता। यदि एक नित्य चैतन्य एक सत्य हो, तो प्रमा एवं अप्रमा में, बन्धन एवं मोक्ष में, अन्तर नहीं हो सकता। एक ही सत्य होने के कारण सत्यज्ञान की प्राप्ति आवश्यक नहीं।

(छ) सत् तत्त्वों के स्थायित्व के सिद्धान्त का खण्डन :

शान्तरक्षित एवं कमलशील यह प्रदर्शित करते हैं कि नैयायिक सत् तत्त्वों को दो वर्गों में विभक्त करते हैं–कृतक (उत्पन्न) एवं अकृतक (अनुत्पन्न) तथा उनका मत है कि कृतक विनाशवान् हैं : इसी प्रकार वात्सीपुत्रीय भी सत् तत्त्वों को क्षणिक (यथा विचार, शब्द, ज्वाला, इत्यादि) और अ–क्षणिक (यथा पृथ्वी आकाशादि) को दो भागों में विभाजित करते हैं। इस विषय पर शान्तरक्षित एवं कमलशील का कथन है कि जो कृतक हैं वह क्षणिक हैं क्योंकि क्षणिक वस्तुओं की विनश्वरता उनके कृतक होने के अतिरिक्त अन्य किसी बात पर आश्रित नहीं रहती, क्योंकि यदि ऐसे तत्त्वों की विनश्वरता उनके कृतक होने के अतिरिक्त किसी अन्य हेतु अथवा अवस्था पर आश्रित होती तो यह अवयव कि 'जो कृतक है वह विनश्वर है' मिथ्या होता। अतः कृतकों को अपने विनाश के लिए अन्य अवस्थाओं पर आश्रित मानने का नैयायिक मत असत्य है। यदि कृतक तत्त्व अपने विनाश के लिए कृतकत्व के अतिरिक्त किसी अन्य अवस्था अथवा हेतु पर आश्रित नहीं हैं तो उनको उत्पन्न होते क्षण ही नष्ट हो जाना चाहिए अथवा अन्य शब्दों में वे क्षणिक हैं। इसके अतिरिक्त विनाश अभावात्मक होने के कारण एक भावात्मक तत्त्व नहीं है और पूर्णतः निरवयव है, तथा केवल भावात्मक तत्त्व ही अपने कृतकत्व के लिए अन्य हेतुओं अथवा अवस्थाओं पर निर्भर करते हैं। विनाश अभावात्मक होने के कारण भावात्मक तत्त्व के समान किसी कारण अथवा अवस्था पर निर्भर नहीं करता। अतः विनाश किसी पृथक् कारण-साधन के द्वारा उत्पन्न नहीं होता, अपितु जिन कारणों से किसी तत्त्व की उत्पत्ति होती है उन्हीं से अगले ही क्षण इसका विनाश भी होता है। विनश्वरता उत्पाद्यता का आवश्यक धर्म होने के कारण विनाश को किसी अन्य कारण के हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं। यह ऊपर कहा जा चुका है कि विनाश शुद्ध अभाव है और इसी हेतु उसके ऐसे कोई धर्म नहीं जिनकी कारणों अथवा अवस्थाओं के किसी भावात्मक समूह द्वारा उत्पत्ति आवश्यक है।[1]

---

1. शान्तरक्षित के मतानुसार 'क्षणिक' शब्द पारिभाषिक शब्द है। किसी तत्त्व में उत्पत्ति के तत्क्षण पश्चात् नष्ट हो जाने के धर्म को पारिभाषिक रूप में 'क्षण' कहते हैं; जिसमें भी यह गुण है वह क्षणिक है। उत्पादानान्तरविनाशिस्वभावो वस्तुतः क्षण उच्यते, स यस्यास्ति सः क्षणिक इति-तत्त्वसंग्रह-पृ० 142, अतः क्षण का अर्थ कालिक क्षण नहीं है। इसका अर्थ है उत्पादान के तत्क्षण पश्चात् विनष्ट हो जाना। अतः उद्योतकर की यह आपत्ति अस्वीकार्य है कि एक कालिक क्षण की समाप्ति पर क्षणिक

कमलशील एवं शान्तरक्षित का कथन है कि किसी उद्देश्य की पूर्ति में समर्थ (अर्थक्रियासमर्थाः) तत्त्वों का ही केवल सत्त्व पुष्ट हो सकता है। उनका कथन है कि क्षणिक होने पर ही तत्त्व अर्थक्रियासमर्थ हो सकते हैं। स्थायी तत्त्वों के अर्थक्रियासमर्थ न होने के कारण उनका कोई अस्तित्व नहीं है। इस साध्य को प्रमाणित करने के लिए वे निम्न तर्क का आश्रय लेते हैं। यदि किसी अर्थ की पूर्ति आवश्यक है तो वह क्रमिक रूप से अथवा युगपत् भाव से हो सकती है क्योंकि पूर्ण हेतु के विद्यमान रहने पर कार्यों को भी विद्यमान होना चाहिए, तथा कार्य के क्रमिक होने का कोई कारण नहीं हैं, परन्तु यह अनुभव सिद्ध है कि कार्य क्रमिक रूप से न कि युगपत् भाव से होते हैं। तथापि यह आपत्ति की जाए कि क्रमशील सहकारियों के साथ स्थायी तत्त्व के संयोग के कारण स्थायी तत्त्व भी क्रमिक क्रिया कर सकता है, तो यह प्रश्न किया जा सकता है कि कार्य के उत्पादन में स्थायी तत्त्व को क्रमशील सहकारियों द्वारा दी गई सहायता का स्वरूप क्या है ? क्या यह स्थायी कारण के विशेष विकार उत्पादन (अतिशयाधान) के कारण होता है अथवा स्थायी तत्त्व के उत्पादन क्रिया के साथ साम्य में कार्य करने के कारण होता है? प्रथम विकल्प की अवस्था में अतिशयाधान स्थायी तत्त्व के स्वरूप के सदृश अथवा भिन्न हो सकता है; तथा ये दोनों विकल्प असम्भव हैं, क्योंकि यदि यह सदृश है तो सहकारियों को अतिशयाधान के परिणामस्वरूप कार्य के होने के कारण अतिशयाधान के तत्त्व को ही न कि स्थायी तत्त्व को कार्य का कारण मानना चाहिए। पुनः यदि यह कहा जाय कि कार्य अतिशयाधान के साथ स्थायित्व के संयोग के कारण होता है तो ऐसे संयोग के स्वरूप की परिभाषा करना असम्भव होगा, क्योंकि कोई भी संयोग सादृश्य अथवा उत्पत्ति (तादात्म्य और तदुत्पत्ति) का हो सकता है और वर्तमान अवस्था में उनमें से कोई भी सम्भव नहीं, क्योंकि अतिशयाधान को स्थायित्व से भिन्न माना गया है और उसकी सहकारियों से उत्पन्न होने की कल्पना की गई है। पुनः इस प्रकार के संयोग को समवाय स्वभाव का नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह अतिशयाधान एक अतिरिक्त सहायता (उपकार) के स्वभाव का होने के कारण समवाय के स्वभाव का नहीं माना जा सकता। यदि इस अतिशयाधान को न तो उपकार-स्वभावी और न स्थायी तत्त्व के साथ तादात्म्यस्वभावी माना जाए, और यदि फिर भी उसे स्थायी तत्त्व के साथ समवायसंबंध से संयुक्त माना जाय तो संसार में किसी भी वस्तु को अन्य किसी भी वस्तु के साथ समवाय सम्बन्ध में युक्त माना जा सकता है। दूसरे विकल्प की यह मान्यता है कि स्थायी तत्त्व सहकारियों के स्वतन्त्र क्रिया-कलाप की प्रतीक्षा करता है; इस विकल्प में यह प्रश्न उठता है कि क्या स्थायी तत्त्व का कारणस्वभाव सहकारियों की पूर्णता की अवस्था में उनकी अपूर्णता की अवस्था के सदृश ही होता है ? प्रथम अवस्था में सहकारी भी स्थायी होंगे। द्वितीय अवस्था में, स्थायी तत्त्व को स्थायी नहीं माना जा सकता।

तत्त्वों को क्षणिक मानने से उन्हीं कठिनाइयों के उत्पन्न होने की भदन्त योगासन

जैसा कुछ भी शेष न रहने के कारण एक काल में एक क्षणावस्थायी क्षणिक नहीं कहा जा सकता। तथापि, क्षणिक धर्म से पृथक् कोई तत्त्व नहीं है, और व्याकरण के अनुसार, 'क्षणिक' धर्म का अधिकरण एवं क्षणिक धर्म का विभेद करने वाला 'क्षणिक' पद का कारण शाब्दिक प्रयोग की अनुमति मात्र है।

की आपत्ति के विषय में शान्तरक्षित एवं कमलशील प्रत्युत्तर देते हैं कि उनके मतानुसार सहकारी दो प्रकार से आचरण करते हैं; प्रथमतः, स्वतन्त्र सहयोग (एकार्थक्रियाकारिता) के रूप में, और द्वितीयतः, परस्पर सहायता (परस्परोपकारिता) के रूप में। अतः प्रथम क्षण में विभिन्न सहकारी इकाईयाँ केवल स्वतन्त्र रूप से सहयोगी हैं, क्योंकि एक क्षण में उनकी पारस्परिक क्रियाएँ एक दूसरे की सहायता नहीं कर सकतीं, परन्तु द्वितीय क्षण में कार्यों को संयुक्त स्वभाव का माना जा सकता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार यद्यपि प्रत्येक तत्त्व स्वतन्त्र रूप से क्रिया करता है, तथापि उनकी कोई भी क्रिया असंगत नहीं होती। उन सब का उत्पादन होता है और एक अनादि क्रम में सम्बद्ध कारणों एवं अवस्थाओं द्वारा निर्धारण होता है।

वस्तुओं के एकत्व होने एवं स्थायित्व होने के प्रत्यक्ष एवं प्रत्यभिज्ञा के आधार पर समस्त वस्तुओं की क्षणिकता के विरुद्ध आपत्ति सत्य नहीं है। स्थायित्व का तथ्य इन्द्रियप्रत्यक्ष द्वारा सम्भव न होने के कारण मिथ्या कल्पना के कारण मानना पड़ेगा। समस्त प्रत्यभिज्ञा का कारण स्मृति-व्यापार माना गया है; जिसे प्रामाणिक ज्ञान के लिए प्रायः सब लोग अप्रामाणिक मानते हैं। इस बात पर यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि यदि वर्तमान काल में प्रत्यक्षतत्त्व किसी पूर्वकाल में प्रत्यक्षीकृत तत्त्व को कैसे ग्रहण कर सकता है ? यदि उनको भिन्न-भिन्न माना जाए, तो यह स्वीकार किया जाता है कि प्रत्यभिज्ञा में एक ही रूप में प्रत्यक्षीकृत तत्त्व वस्तुतः एक नहीं है। एक ही संज्ञा से वस्तुओं के ज्ञात होने के कारण उन के स्थायी होने का आपत्तिकर्ता का मत भी प्रमाण-विरुद्ध है, क्योंकि यह सुविदित है कि साधारण प्रत्यक्ष में भी अग्निशिखा को सामान्य बोलचाल की भाषा में एक ही अग्निशिखा माना जाता है जबकि यह ज्ञात है कि अग्नि-शिखा प्रतिक्षण नष्ट होती है। अतः सारी विद्यमान वस्तुओं को क्षणिक मानना चाहिए।

(ज) तत्त्वों के अस्थायित्व की आलोचना का खण्डन :

नैयायिकों तथा अन्यों द्वारा यह आपत्ति की जाती है कि यदि वस्तुएँ क्षणिक हैं तो कर्मसिद्धान्त स्थिर नहीं रह सकेगा, क्योंकि यह कैसे जाना जा सकता है कि कर्म तो एक आदमी करे और फल दूसरा भोगे ? पुनः यह कैसे जाना जा सकता है कि कार्य के उत्पन्न होने तक स्थिर न रहने वाला एक क्षणिक कारण कैसे उस कार्य को उत्पन्न कर सकता है ? पुनश्च, यदि विषय क्षणिक है तो उनका चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? वर्तमान और भूत की एकात्मकता का निर्धारण करने वाले किसी स्थायी दृष्टा के अभाव में प्रत्यभिज्ञान भी दुरूह हो जाएगा। पुनश्च, बन्धन और मोक्ष अस्थायी सत्ताओं पर कैसे प्रयुक्त होंगे ? इसके उत्तर में शान्तरक्षित एवं कमलशील का कथन है कि जिस प्रकार एक बीज से किसी चेतन कर्त्ता के अधिष्ठातृत्व के बिना ही अपनी अपरिवर्तनीय शक्ति के द्वारा अंकुर उत्पन्न हो जाते हैं ठीक उसी प्रकार किसी स्थायी चेतन कर्त्ता के अधिष्ठातृत्व के बिना ही मनुष्य की आभ्यन्तर अवस्थाओं से अन्य अवस्थाएं उत्पन्न हो सकती हैं; समस्त उत्पत्ति के लिए यह धर्म संकेत है, 'ऐसा होने पर वैसा होता है', 'इसके उत्पन्न होने पर उसकी उत्पत्ति होगी है'; अविद्या के कारण ही मनुष्य यह नहीं देख पाता कि परिणाम-अवस्थाओं का निर्धारण पूर्ववर्त्ती अवस्थाओं की नैसर्गिक शक्ति द्वारा होता है और अपने आपका इस या उस कार्य का कर्त्ता अथवा मोक्ष के लिए प्रयत्नशील समझने

लगता है। वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप का निर्धारण मनुष्यों के भ्रान्तिमय अनुभवों द्वारा नहीं हो सकता। कभी-कभी यह आपत्ति की जाती है कि बीज के अवयव अपनी उपयुक्त संरचना द्वितीय अवस्था में पोषक तत्त्वों को आत्मसात् करके प्राप्त करते हैं, और तत्पश्चात् पुनः तृतीय अवस्था में नए पोषक तत्त्वों की अतिरिक्त वृद्धि द्वारा नवीन संरचना को प्राप्त करते हैं, अतः यह नहीं माना जा सकता कि द्वितीय अवस्था में बीज के अवयव पूर्णतः नष्ट हो जाते हैं। इसके प्रत्युत्तर में शान्तरक्षित का कथन है कि द्वितीय अवस्था में कार्य की उत्पत्ति प्रथम कारणक्षण के अविनष्ट अर्थक्रियाकारित्व के अधीन होती है, जिसके कारण विनष्ट न होने तक प्रथम क्षण के अर्थक्रियाकारित्व के कारण कार्य की उत्पत्ति होती है तथापि कारण का नाश द्वितीय क्षण में होता है, क्योंकि कारण द्वारा एक बार कार्य उत्पन्न होने के पश्चात् कारण से कार्य की उत्पत्ति पुनः पुनः नहीं हो सकती; यदि ऐसा होता तो अनवस्था दोष की प्राप्ति होती। अतः यह स्वीकार करना होगा कि कारण का अर्थक्रियाकारित्व उत्पादन के तत्क्षण पश्चात् विरत हो जाता है।[1] कारण के साथ ही कार्य के होने (सहभूतं कार्यम्) का मत अयुक्तियुक्त है, क्योंकि स्वयं कारण की उत्पत्ति हुए बिना कारण से कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती; पुनः कारण स्वयं उत्पन्न होने के पश्चात् उत्पादन नहीं कर सकता क्योंकि उस अवस्था में कार्य को भी कारणस्वभावी मानना होगा, परन्तु उसके साथ ही इसके अर्थक्रियाकारित्व के लिए भी कोई स्थान नहीं रहेगा। अतः कार्य एवं कारण सहभूत नहीं हो सकते। कारण व्यापार को कारण से भिन्न एवं पृथक् स्वीकार करने की भी आवश्यकता नहीं है। तदन्तरभावित्व (नियतपूर्वकालभावित्व) ही केवल उसका कारण है।[2] यदि कारण को कार्य से सम्बद्ध करने के लिए कारण-व्यापार को स्वीकार करना आवश्यक ही है, तो उसको अन्य व्यापार की आवश्यकता होगी, उसे किसी अन्य की, और इस प्रकार अनवस्था की प्राप्ति होगी। यदि कारण-व्यापार को स्वतः स्वतंत्र रूप से कार्य के उत्पादन में समर्थ माना जाए तो कारण को भी कार्य के उत्पादन में समर्थ माना जा सकता है। यह आपत्ति अयुक्तियुक्त है कि यदि पूर्व-कालभावित्व मात्र को कारणत्व का निर्धारक माना जाए तो किसी वस्तु के दर्शन के पश्चात् उसकी गंध ग्रहण करने के तथ्य से यह अनुमान भी किया जा सकता है कि रूप गंध का कारण है, क्योंकि रूप गंध का सहकारी कारण मानने के विषय में बौद्धों को कोई आपत्ति नहीं है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि बौद्ध पूर्वकालभावित्व मात्र को ही नहीं, अपितु अपरिवर्तनीय एवं आवश्यक पूर्वकालभावित्व को कारण की परिभाषा मानते हैं।[3] पुनः यदि विषयों को क्षणिक मान लिया जाए तो प्रत्यक्ष में किसी कठिनाई का

---

1 शान्तरक्षित के अनुसार वैभाषिकों का मत है कि कार्य की उत्पत्ति तृतीय क्षण में होती है, इस मत के अनुसार कार्य की उत्पत्ति नष्ट कारण से होती है।

2. इदमेव हि कार्यस्य कारणापेक्षा यत् तदनन्तरभावित्वम्।

—तत्त्वसंग्रह, पृ० 177।

3 न हि वयमानन्तर्यमात्रं कार्यकारणभावाधिगतिनिबंधनं.......... यस्यैवानन्तरं यद्भवति तत् तस्य कारणमिष्यते।

—वही, पृ० 180।

अनुभव नहीं होगा, क्योंकि विज्ञप्तियों को विषयानुरूप आकार वाला अथवा निराकार परन्तु विषयप्रकाशी माना जा सकता है। प्रत्येक अवस्था में विज्ञप्तियाँ अपने कारणों से उत्पन्न होती हैं, विषयों में क्षणिकत्व अथवा स्थायित्व का उनके निर्धारण से कोई संबंध नहीं। यथार्थ में न तो कोई कारण है और न कोई भोक्ता, अपितु विचरमाण मानसिक घटनाओं की शृंखला मात्र ही हैं। कारणत्व पूर्व अवस्थाओं द्वारा पर अवस्थाओं के निर्धारण में निहित है। उद्योतकर की यह आपत्ति अनुपयुक्त है कि यदि मन क्षणिक है तो कर्मों द्वारा वासनाएँ नहीं हो सकतीं; बौद्धों के मत में इसका कारण यह है कि वासना का अर्थ विकृत स्वभाव की एक नवीन मानसिक अवस्था की उत्पत्ति के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। पुनः कोई ऐसा स्थायी द्रष्टा नहीं जो स्मर्ता और प्रत्यभिज्ञाता हो; किन्हीं चेतन अवस्थाओं की एक विशिष्ट शृंखला में किसी विशिष्ट प्रत्यक्ष के बल पर जब ऐसी वासनाएँ उत्पन्न होती हैं जिनको स्मृति के बीजों से युक्त माना जा सके, तब ही स्मृति का होना सम्भव है। बौद्धों का भी यह मत नहीं है कि एक ही व्यक्ति बंधन एवं मोक्ष को भोगता है; उनका विचार है कि बंधन अविद्या तथा अन्य कारणों के कारण दुःखमय अवस्थाओं की उत्पत्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं, और मोक्ष यथार्थ ज्ञान द्वारा अविद्या के विराम के कारण मानस अवस्थाओं की शुद्धि के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

(झ) न्याय-वैशेषिक पदार्थों का खण्डन :

शान्तरक्षित एवं कमलशील गुण, कर्म, सामान्य जाति, विशेष, समवाय, शब्दार्थ, इन शाखाओं सहित द्रव्य के पदार्थों का खंडन करने का प्रयास करते हैं। यह खंडन संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत है।

अणुतत्त्वों का विरोध करते हुए उनका कथन है कि नित्य तत्त्वों में विशेषातिशय उत्पन्न न होने के कारण किसी प्रकार की कोई अवस्थाएँ अथवा सामग्रियाँ परमाणु में कोई विकार उत्पन्न नहीं कर सकतीं; अतः परमाणुओं के सदा एक स्वभाव होने के कारण सारे विषय उनसे तो एक साथ उत्पन्न होने चाहिएँ अथवा उत्पन्न ही नहीं होने चाहिएँ। परमाणुओं के किसी भी कारण का ज्ञान न होना मात्र उनको कारणहीन मानने का आधार नहीं है। अवयवियों का जो खण्डन पहले ही किया जा चुका है, वह द्रव्यावयवियों को स्वीकार करने के विरुद्ध भी सत्य है, और इसी से परमाणु-रचित द्रव्यावयवी माने जाने वाले चार द्रव्यों पृथ्वी, जल, वायु एवं आकाश का भी खण्डन हो जाता है। पुनः स्वतंत्र तथा पृथक् दिक् एवं काल तत्त्वों का अस्तित्व सिद्ध करना भी सुकर नहीं है, क्योंकि देशीय तथा कालिक निर्धारणाओं की व्याख्या भी अनुभूति के अन्य तथ्यों के समान ही अपने विशिष्ट कारणों के कारण उत्पन्न वासनाओं से की जा सकती है। बौद्ध ज्ञानेन्द्रियों से भिन्न कारण के रूप में मन के अस्तित्व को स्वीकार तो करते हैं, परन्तु वे नित्य एवं एक मात्र तत्त्व के रूप में उसके अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते।

द्रव्यों के खंडन में द्रव्याश्रयी माने जाने वाले गुणों का खंडन भी निहित है। यदि द्रव्यों का अस्तित्व नहीं है तो जिस समवायिसंबंध से गुणों का द्रव्यों में अस्तित्व माना जाता है वह समवायसंबंध भी नहीं रह सकता। पुनः, जिन परमाणुओं में रूपादिकों का

अस्तित्व माना जाता है, उनसे भिन्न इन रूपादिकों के अस्तित्व को स्वीकार करने का भी कोई अर्थ नहीं। संख्याप्रत्यक्ष को भी विशिष्ट संवेदनाओं से युक्त वासनाओं के कारण ही मानना चाहिए। संख्याओं को पृथक् गुण मानने का भी कोई कारण नहीं। कुछ इसी प्रकार से शांतरक्षित एवं कमलशील अन्य न्याय गुणों के खंडन में अग्रसर होते हैं।

कर्म के खंडन की ओर अग्रसर होते हुए उनका कथन है कि यदि समस्त वस्तुओं को क्षणिक स्वीकार कर लिया जाए तो कर्म को उनका गुण नहीं बताया जा सकता' क्योंकि कर्म में अवयवों के क्रमिक पार्थक्य एवं संधिस्थलों के संयोग की अपेक्षा होने के कारण उसके सम्पादन के लिए कई क्षणों की अपेक्षा है। यदि वस्तुओं को स्थायी अथवा नित्य माना जाए तो भी क्रिया की व्याख्या नहीं की जा सकती। यदि वस्तुओं को सदा क्रियाशील माना जाय तो वे क्रियारत ही रहेंगी जबकि उनका प्रत्यक्ष निष्क्रिय रूप में होता है; ऐसा होना असंभव है। यदि वस्तुएँ स्वभावतः निष्क्रिय हैं तो उनमें कोई स्पन्द-नात्मक क्रिया नहीं हो सकती। गुणों एवं कर्मों के खंडन में निहित मुख्य सिद्धान्त यह है कि बौद्ध गुणों तथा कर्मों को और विशिष्ट इन्द्रिय विषयोपलब्धियों को एक ही मानते हैं। उनके अनुसार इन्द्रियविषयों का पदार्थों के ऐसे द्रव्यों के रूप में विश्लेषण करना गलत है जिनमें गुण और क्रिया का उनमें भिन्न पदार्थों के रूप में समवाय है। कोई भी द्रव्य हो, उसका गुण भी वही होता है जिसके समवाय की उसमें कल्पना की जाती है और क्रिया भी वही होती है जिसका सम्पादन उससे अपेक्षित है।

जातियों के खंडन के विषय में बौद्ध तर्कों की मुख्य धारा इस प्रकार है कि जाति स्वभाव का प्रत्यक्ष किसी कारण के कारण होने की कल्पना होने पर भी एक जाति के समस्त विकारशील एवं विविध पृथक् सदस्यों में सतत विद्यमान नित्य जातिस्वभाव के अस्तित्व की कल्पना करना गलत है। क्योंकि किसी भी प्रकार से हम इसकी व्याख्या करने का प्रयत्न करें, तो भी यह जानना कठिन है कि जिन पृथक्-पृथक् अवयवों में किसी वस्तु को विद्यमान माना जाता है उन सबके निरन्तर विकृत होते रहने पर भी वह वस्तु निरन्तर वही कैसे रह सकती है। यदि विशेष गुणों, यथा पाचक में पाचकत्व, के कारण जाति स्वभाव का समवाय माना जाता है, तो भी यह आपत्ति की जा सकती है कि प्रत्येक अवस्था में पाचन कर्म भिन्न होने के कारण ऐसा कोई एक पाचन धर्म नहीं है जिसके कारण पाचक का जातिस्वभाव स्वीकार्य हो। इसके अतिरिक्त पाचक को पाचन कर्म न करने पर भी पाचक ही कहा जाता है। इस प्रकार के विचारों से कोई भी विचारशील व्यक्ति नित्य जातिस्वभाव के अस्तित्व को अस्वीकार करने लगेगा।

विशेष के खंडन के विषय में कहा जाता है कि यदि योगी परम-विशेष का एक दूसरे से भिन्न रूप में प्रत्यक्ष कर सकते हैं तो वे उसी प्रकार परमाणुओं का एक दूसरे से भिन्न रूप में प्रत्यक्ष कर सकते हैं; यदि कुछ अन्य गुणों के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से परमाणुओं का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता तो यही बात स्वयं विशेष गुणों को अपेक्षित है।

समवाय के खंडन के विषय में बौद्ध मुख्यतः एक नित्य समवाय संबंध को स्वीकार करने में आपत्ति करते हैं; यद्यपि जिनमें इस संबंध के अस्तित्व की कल्पना की जाती है वे सब वस्तुएँ विकारशील एवं विनाशशील हैं। यह एक मिथ्या कल्पना है कि–जैसा कि

नैयायिकों की कल्पना है—समवाय संबंध, यथा तन्तु में वस्त्र का संबंध, के होने की कभी अनुभूति होती हो; मानो कि एक (यथा वस्त्र) अन्य (तन्तु) में विद्यमान हों।

शंकर एवं आनन्दज्ञान का तत्त्व विवेचन

यह सुविदित है कि शंकराचार्य ब्रह्मसूत्र 2. 2. 11–17 पर अपने भाष्य में वैशेषिक परमाणु सिद्धान्त की आलोचना करते हैं। उनका प्रथम प्रतिपाद्य विषय यह है कि कारण से भिन्न स्वभाव वाले कार्य की उत्पत्ति, यथा शुद्ध ब्रह्म से अशुद्ध जगत् की उत्पत्ति, वेदान्त के आलोचक वैशेषिकों की उपमा के आधार पर भी न्यायोचित प्रदर्शित की जा सकती है। वैशेषिकों का मत है कि परमाणु से द्व्यणुक एवं द्व्यणुक से चतुरणुक के उत्पादन में, परमाणु और द्वयणुक में क्रमशः विशेष होने वाले पारिमाण्डल्य (विशिष्ट-परमाण्विकमात्रा) और अणुह्रस्व (विशिष्टद्वयणुकमात्रा) के अतिरिक्त परमाणु और द्वयणुक के अन्य सब गुण क्रमशः द्वयणुक एवं चतुरणुक में स्थानान्तरित हो जाते हैं। अतः, यद्यपि परमाणुओं के अन्य समस्त गुण उनके संयोगों द्वारा उत्पादित द्वयणुकों में चले जाते हैं, तथापि परमाणुओं का विशिष्ट पारिमाण्डल्य परिमाण अणु-ह्रस्व परिमाण वाले द्वयणुकों में स्थानान्तरित नहीं होता। इसी प्रकार यद्यपि द्वयणुकों के समस्त गुण द्वयणुकों के संयोग से निर्मित चतुरणुकों में स्थान ग्रहण कर लेते हैं, तथापि उनका अणुह्रस्व परिमाण द्वयणुकों के परिमाण द्वारा अनुत्पन्न एवं स्वयं अपने परिमाण, अर्थात् महत्परिमाण, से युक्त चतुरणुकों में स्थानान्तरित नहीं होगा। इससे यह प्रकट होता है कि यह वैशेषिकों की मान्यता है कि परमाणुओं का पारिमाण्डल्य परिमाण अपने उत्पाद्य, द्वयणुक में एक बिलकुल भिन्न परिमाण, अर्थात् महत् परिमाण, को उत्पन्न कर सकता है। इस उपमा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैशेषिकों को एक बिलकुल भिन्न कारण, शुद्ध ब्रह्म, से एक बिलकुल भिन्न कार्य, अशुद्ध जगत्, के उत्पन्न होने में कोई आपत्ति नहीं है। यदि यह कहा जाय कि परमाणु का परिमाण द्वयणुक में इसलिए नहीं जा सकता कि एक विपरीत गुण (अणुह्रस्वपरिमाण) द्वारा उसके अधिग्रहण के कारण उसका संचरण असंभव हो गया है तो जगत् एवं ब्रह्म के मध्य भेद के लिए भी एक ऐसा ही उत्तर दिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, वैशेषिक मतानुसार, समस्त उत्पादन एक क्षण के लिए गुणहीन होने के कारण ऐसा कोई हेतु नहीं है कि जब द्वयणुक उपत्न्न हुआ तो पारिमाण्डल्य परिमाण भी उसमें न जाए उस क्षण में अन्य गुणों के समान पारिमाण्डल्य परिमाण के उसमें न जाने के कारण यह निष्कर्ष निकलता है कि पारिमाण्डल्य परिमाण के संचरण का अन्य परिमाण द्वारा विरोध होने से परिमाण स्वभावतः उसमें नहीं गया। पुनः यह आपत्ति नहीं की जा सकती कि गुणों के सादृश्य की उपमा द्रव्यों के असादृश्य की पुष्टि में प्रस्तुत नहीं की जा सकती।

शंकर का द्वितीय प्रतिपाद्य विषय यह है कि परमाणुसंयोग की वैशेषिक मान्यता मिथ्या है क्योंकि परमाणुओं के निरवयव होने के कारण तथा संयोग के लिए संपर्क एवं संपर्क के लिए संपर्क में आने वाले अवयवों की अपेक्षा होने के कारण परमाणुओं का कोई संयोग संभव नहीं। इसके अतिरिक्त सर्ग से पूर्व किसी प्रयत्नकर्ता के अभाव के कारण, तथा परमाणुओं का संपर्क बिना प्रयत्न फलित न हो सकने के कारण तथा उस काल में

अचेतन होने से जीवों के प्रयत्न में असमर्थ होने के कारण उस क्रिया का कारण देना असंभव है जिसके अभाव में परमाणुओं का सम्पर्क भी असम्भव हो जाएगा। अतः ऐसे सम्पर्क के लिए आवश्यक प्रयत्न के अभाव में परमाणु संयुक्त नहीं हो सकते। शंकर का तृतीय प्रतिपाद्य विषय यह है कि वैशेषिकों को मान्य समवायसम्बन्ध स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि यदि दो वस्तुओं के योग में समवायसम्बन्ध की अपेक्षा है तो स्वयं समवाय के उनसे भिन्न होने के कारण स्वयं को उनसे युक्त करने के लिए एक अन्य समवाय की आवश्यकता होगी, उसके लिए एक अन्य की, इस प्रकार इसका कोई अन्त नहीं। यदि सम्पर्क सम्बन्ध को सम्पर्कगत विषयों से अपने को सम्बद्ध करने लिए समवाय सम्बन्ध की आवश्यकता हो, तो समवाय सम्बन्ध को अपने लिए अन्य संबंध की आवश्यकता न होने का कोई कारण नहीं। पुनः, यदि परमाणुओं को सदा व्यापारशील, क्रियाशील एवं संयोगशील माना जाए तो प्रलय नहीं हो सकता और यदि वे सदा विघटनशील हैं तो सर्ग असम्भव होगा। पुनश्च परमाणुओं के रूपादिगुणों से युक्त होने के कारण उनको किसी सरल कारण का उसी प्रकार फल होना चाहिए जिस प्रकार अन्य गुणवान् विषय सरलतर तत्त्वों से निर्मित होते हैं। इसके अतिरिक्त यह मानना भी ठीक नहीं कि हमें अनित्यता का बोध होने के कारण उन में नित्यता का आशय निहित है और इसी हेतु परमाणुओं का भी नित्य होना आवश्यक है; क्योंकि यद्यपि इसमें नित्यता की सत्ता निहित है तथापि ब्रह्म जैसी नित्य वस्तु के होने के कारण इसका आशय यह नहीं कि परमाणु भी नित्य हों। पुनः परमाणुओं के विनाश का कारण ज्ञात न होने का यह अर्थ नहीं कि वे नित्य हैं, क्योंकि विनाश की विधियों की अज्ञान मात्र का आशय नित्यता नहीं है। पुनश्च, वैशेषिक गलती पर हैं जब वे कहते हैं कि छः विभिन्न पदार्थ होते हैं और फिर भी यह मानते हैं कि अन्य सब पांचों पदार्थ अपने अस्तित्व अथवा प्रकाशन के लिए द्रव्य पर आश्रित हैं। एक द्रव्य और उसका गुण उतने भिन्न नहीं प्रतीत होते जितने दो द्रव्य। एक द्रव्य श्याम अथवा श्वेत प्रकट होता है और इसका आशय यह है कि मूलतः गुणों का द्रव्य से तादात्म्य है (द्रव्यात्मकता गुणस्य)। इसके अतिरिक्त यह नहीं कहा जा सकता कि द्रव्य पर अन्य पदार्थों का आश्रयत्व द्रव्य से गुणों के अपृथक्त्व (अयुतसिद्धत्व) में निहित है। यह अयुतसिद्धत्व देशीय अयुतसिद्धत्व नहीं हो सकता, क्योंकि जब तन्तु अपने परिणामस्वरूप वस्त्र की रचना करते हैं तो तन्तुओं एवं वस्त्र को एक देशीय नहीं माना जा सकता, तथापि कारण एवं कार्य होने के कारण उनको अयुतसिद्ध माना जाता है; और फिर भी वस्त्र की श्वेतता को तन्तुओं में व्याप्त नहीं माना जाता। यदि अयुतसिद्धत्व का अर्थ कालिक अयुतसिद्धत्व है तो वृषभ के दोनों सहभूत शृंगों को भी अयुतसिद्ध ही मानना पड़ेगा, और यदि अयुतसिद्धत्व का अर्थ धर्म का अयुतसिद्धत्व अथवा समानधर्मता हो तो गुण को द्रव्य से भिन्न नहीं माना जा सकता। पुनः, कारण के कार्य से पूर्व विद्यमान होने के कारण कार्य को कारण से अयुतसिद्ध नहीं माना जा सकता। तो भी वैशेषिक इस पर बल देते हैं कि उनका सम्बन्ध समवायसम्बन्ध है क्योंकि वे स्वभावतः अयुतसिद्ध हैं।

तथापि उपरिनिर्दिष्ट तार्किक विवेचन-जैसे तार्किक विवेचनों में शंकर बहुत कम पड़ते हैं, और कुछ विरले उदाहरण ऐसे हैं जिनमें वे अपने प्रतिपक्षी पर शुद्ध तार्किक दृष्टिकोण से आक्षेप करते हैं। परन्तु यहाँ भी वे वैशेषिक परिभाषाओं की उतनी आलोचना

नहीं करते जितना कि वे कुछ महत्त्वपूर्ण वैशेषिक-सिद्धान्तों के परिणामस्वरूप सामान्य तार्किक एवं आध्यात्मिक अव्यवस्थाओं को प्रदर्शित करते हैं। शंकर द्वारा प्रस्तुत इस प्रकार की आलोचनाओं और नैयायिकों द्वारा रचित शुद्ध-तर्क के प्रतिष्ठित सिद्धान्तों के खंडन में अपने तत्त्व-विवेचन की सूक्ष्मताओं की समस्त शक्ति के प्रयोग द्वारा अपने खण्डन-खण्डखाद्य में ही श्रीहर्ष द्वारा प्रस्तुत आलोचना का अन्तर सुगमता से दृष्टिगोचर हो सकता है। श्रीहर्षकृत आलोचना का उद्देश्य किसी सिद्धान्त की पुष्टि के लिए अन्य सिद्धान्त की आलोचना न होकर सम्पूर्ण तर्कगम्य अथवा प्रत्यक्षजन्य ज्ञान की सम्भावना का खण्डन है। यह किसी विशिष्ट आध्यात्मिक मत को हाथ में नहीं लेती अपितु यथार्थ ज्ञान के लिए प्रत्यक्ष एवं अनुमान के सामर्थ्य को अस्वीकार करके यह मान लेती है कि प्रत्यक्ष एवं अनुमान के परिभाषा की न्यायिकपद्धति को सदोष एवं विरोधाभास युक्त प्रमाणित करके ही उसके काम की इतिश्री हो जाती है। चित्सुख के प्रयास अधिक ठोस हैं, क्योंकि वह न केवल तर्क के न्याय पदार्थों की ही आलोचना करते हैं अपितु वैशेषिक अध्यात्म की भी आलोचना करते हैं और स्वयं वेदान्तमत के विषय में कुछ स्वीकारात्मक एवं महत्त्वपूर्ण कथन भी प्रस्तुत करते हैं। आनन्दज्ञान रचित 'तर्क संग्रह' वैशेषिक पदार्थों की निषेधात्मक आलोचना का एक अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, और उस अर्थ में चित्सुख कृत वैशेषिक पदार्थों की आलोचना का एक अधिक विस्तृत परिमाण में पुनरारम्भ मात्र है। यथार्थवादी वैष्णव आचार्यों, यथा मध्व और उनके अनुयायियों, द्वारा ज्यों-ज्यों वैशेषिक का शनैः-शनैः अंगीकार किया गया त्यों-त्यों वैशेषिक के महत्त्व की भी शनैः-शनैः वृद्धि होती गई और यह माना जाने लगा कि वैशेषिक के खंडन का अर्थ उन द्वैताचार्यों का भी खंडन होगा जिन्होंने वैशेषिक पदार्थ-विद्या एवं अध्यात्म-विद्या से अपना मुख्य संबल प्राप्त किया।

आनन्दगिरि नाम से भी प्रख्यात, आनन्दज्ञान सम्भवतः गुजरात प्रदेश के निवासी थे और उनका काल मध्य त्रयोदश शताब्दी है। आनन्दज्ञान कृत 'तर्क संग्रह' के आमुख में श्री त्रिपाठी यह प्रदर्शित करते हैं कि आनन्दज्ञान शंकर के द्वारिकापीठ के मठाधीश थे; श्री शंकराचार्य इस मठ के प्रथम गुरु थे। आनन्दज्ञान अनुभूतिस्वरूपाचार्य एवं शुद्धानन्द, इन दो गुरुओं के शिष्य थे। अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने पांच ग्रंथ लिखे : (1) 'सारस्वत प्रक्रिया' नामक व्याकरण ग्रन्थ (2) गौडपादरचित 'माण्डूक्यकारिका' पर शांकर भाष्य की टीका (3) आनन्दबोधयतिकृत-'न्याय मकरंद' पर 'न्यायमकरंदसंग्रह' नामक टीका (4) आनन्दबोध कृत 'न्याय दीपावली' पर 'चन्द्रिका' नामक टीका (5) आनन्दबोध कृत 'प्रमाणमाला' पर 'निबन्ध' नामक भाष्य। उनके द्वितीय गुरु शुद्धानन्द के बारे में कुछ भी नहीं ज्ञात है। यह शुद्धानन्द सत्रहवीं शताब्दीकालीन स्वयंप्रकाश के गुरु एवं अद्वैत मकरंद टीकाकार शुद्धानन्द से भिन्न है। प्रकाशात्मन् कृत 'पंचपादिकाविवरण' की 'तत्त्वदीपन' टीका के लेखक अखंडानन्द आनन्दगिरि के पट्टशिष्यों में से एक थे, क्योंकि 'तत्त्वदीपन' के चतुर्थ श्लोक में वे आनन्दगिरि का 'शैलाह्वपंचास्यंसततं भजे' इन शब्दों में उल्लेख करते हैं। आनन्दगिरि ने अनेकों ग्रन्थ रचे जिनमें अधिकांश टीकाएँ ही हैं। उनमें से निम्न पहले से ही मुद्रित हो चुकी हैं : 'ईशावास्यभाष्यटिप्पण', 'केनोपनिषद् भाष्यटिप्पण' वाक्यविवरणव्याख्या, माण्डूक्यगौडपादीय भाष्यव्याख्या, तैत्तिरीयभाष्यटिप्पण, छान्दोग्य-

भाष्यटीका, तैत्तिरीयभाष्यवार्तिक टीका, शास्त्रप्रकाशिका, बृहदारण्यकभाष्यवार्तिकटीका, शारीरकभाष्य टीका (जिसे 'न्यायनिर्णय' भी कहा जाता है), गीताभाष्यविवेचन, जगन्नाथाश्रय (पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्धकालीन) के शिष्य रामतीर्थ कृत 'तत्त्वचन्द्रिका' टीका सहित पंचीकरण विवरण; एवं 'तर्क संग्रह'। परन्तु उपदेशसाहस्त्रीविवृति, वाक्य-वृत्ति टीका, आत्मज्ञानोपदेश टीका, स्वरूपनिर्णय टीका, त्रिपुरीप्रकरण टीका, पदार्थतत्त्व-निर्णय विवरण तथा तत्त्वालोक जैसे उनके कुछ अन्य ग्रन्थ अभी भी मुद्रित होने शेष हैं। इस प्रकार यह ज्ञात होगा कि उनके प्रायः समस्त ग्रन्थ शंकर के भाष्यों अथवा अन्य ग्रन्थों की टीकाएँ मात्र हैं। केवल 'तत्त्वसंग्रह' एवं 'तत्त्वालोक' (जिन्हें जनार्दनकृत बताया जाता है; जनार्दन सम्भवतः आनन्दगिरि का गृहस्थाश्रम का नाम हो) ही उनके दो स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रतीत होते हैं।[1] आनन्दगिरि 'तत्त्वालोक' में कई अन्य दार्शनिकों के सिद्धान्तों का यहाँ तक कि भास्कर के प्रमाण सिद्धान्त का भी खंडन करते हैं, परन्तु इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि दुर्भाग्यवश वर्तमान लेखक को उपलब्ध नहीं हुई। 'तत्त्वसंग्रह' को लगभग पूर्ण रूप में वैशेषिक दर्शन के सविस्तर खंडन के लिए लगाया गया है। यह ग्रन्थ तीन अध्यायों में विभक्त हैं। प्रथम अध्याय में द्रव्य की आलोचना करते हुए वे द्वैत, तत्त्व, सत्त्व, असत्त्व, भाव, अभाव के प्रत्ययों के खंडन से प्रारम्भ करते हैं। तत्पश्चात् आनन्दज्ञान द्रव्य की परिभाषा तथा उसके नवधा विभाजन (वैशेषिक दर्शक के अनुसार) के खंडन की ओर अग्रसर होते हैं। तत्पश्चात् वे पृथ्वी द्रव्य और उसके विविध रूपों; यथा परमाणु तथा द्वयणुक, उसके महाभौतिक रूपों और उनकी विकृत अवस्थाओं, यथा शरीर, इन्द्रियों और इन्द्रियार्थों की आलोचना करके जल, अग्नि और वायु के द्रव्यों और सर्ग तथा प्रलय, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन के सिद्धान्तों का खंडन करते हैं। द्वितीय अध्याय में वे रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि गुणों की, पीलुपाक अथवा पिठर पाक द्वारा इन्द्रियार्थों के परिवर्तन पर ताप के प्रभाव, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, ज्ञान के स्वभाव, माया और स्वप्न, प्रमाण तथा प्रमा, प्रत्यक्ष, अनुमान, व्याप्ति हेतु, हेत्वाभास, दृष्टान्त, वाद, वितण्डा, जल्प, आगम, उपमान, स्मृति, सुख; दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व पाप, पुण्य आदि की आलोचना करते हैं। तृतीय अध्याय में वे कर्म, जाति, समवाय एवं विभिन्न प्रकार के अभावों के प्रत्ययों का खंडन करते हैं। उन सब खंडनों में उनका प्रतिपाद्य विषय वही है जो श्रीहर्ष अथवा चित्सुख का है अर्थात् वैशेषिक जिस किसी प्रकार से ही जगत् प्रपंचों के विभाग, वर्गीकरण अथवा परिभाषा का प्रयत्न करें वे उसमें असफल ही रहे हैं।

इतनी लम्बी आलोचना एवं खंडन के पश्चात् जिस निष्कर्ष पर आनन्दज्ञान पहुँचते हैं, वह हमें आनन्दबोध रचित 'न्यायमकरन्द' में दिए हुए उनके निष्कर्षों का स्मरण करा देते हैं। 'न्यायमकरन्द' पर आनन्दज्ञान के गुरु अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने टीका लिखी थी। इसका उल्लेख आनन्दबोध के मत की विवेचना करते समय पहले ही किया जा चुका है। अतः, आनन्दज्ञान का कथन है कि एक मायामय आरोपण को सत् नहीं माना जा सकता

---

1 देखिए तर्क संग्रह की श्री त्रिपाठी जी के संस्करण की उनकी भूमिका, बड़ोदा–1917।

क्योंकि प्रतीति के अधिष्ठान में उसके असत् होने के कारण वह अन्य कहीं भी सत् नहीं हो सकता और न उसे अतिशयासत् ही माना जा सकता है क्योंकि यदि ऐसा होता तो वह अपरोक्षप्रत्यक्ष के रूप में प्रकट नहीं होता (अपरोक्षप्रतीतिविरोधात्) और न उसे एक ही विषय में सत् और असत् नहीं माना जा सकता। एक मात्र विकल्प यह शेष रहता है कि मायामय आरोपण स्वभावतः अनिर्वाच्य है।[1] इस अनिर्वाच्यता का यह अर्थ है कि चाहे जिस प्रकार से इसके वर्णन का प्रयत्न किया जाय, यह ज्ञात होगा कि उसके संदर्भ में उनमें से किसी भी प्रकार की पुष्टि नहीं हो सकती, अथवा अन्य शब्दों में वह उनमें से प्रत्येक प्रकार में अनिर्वाच्य है।[2] अब, चूँकि समस्त प्रतीतियों का कोई न कोई कारण होना आवश्यक है तथा चूँकि किसी असत् वस्तु का सत्वस्तु उपादान कारण नहीं हो सकती (न च अवस्तुनो वस्तु उपादानमुपपद्यते) और चूंकि स्वभावतः वे सब अनिर्वाच्य हैं, अतः उनका कारण भी उसी स्वभाव, अर्थात् अधिष्ठान की अज्ञानता का होना चाहिए।[3]

इसके पश्चात् उनका कथन है कि समस्त प्रतीतियों का उपादान, अज्ञान ब्रह्म से सम्बद्ध है, क्योंकि यदि सर्वज्ञ (प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय एव उनके सम्बन्ध) के उपादान अज्ञान से ब्रह्म सम्बन्ध न हो तो उसको सर्वज्ञ नहीं माना जा सकता।[4] एक तत्त्व आत्मा, ब्रह्म, के अतिरिक्त सब प्रतीयमान जगत् अज्ञान का फल है। यह एक अज्ञान अनन्तविध प्रतीतियों की व्याख्या कर सकता है और प्रतीतियों की विविधता अथवा अनेकता को स्पष्ट करने के लिए अनेकों अज्ञानों को स्वीकार करने की लेशमात्र भी आवश्यकता नहीं है। अतः अनेक आत्माएँ इस एक अज्ञान के साथ ब्रह्म के सम्बन्ध से उत्पन्न मात्र प्रतीतियाँ ही हैं।[5] यही एक अज्ञान स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं की प्रतीतियों के लिए उत्तरदायी है। यही एक अज्ञान अपने विविध कार्यों अथवा व्यापारों के तरीकों द्वारा समस्त प्रकार की विविधताओं का हेतु है। यदि तत्त्व एक ही है, जो एक अज्ञान के माध्यम से समस्त नानारूप प्रतीतियों

---

1 पारिशेष्यादनिर्वच्यमारोप्यमुपगम्यतां सत्त्वादीनां प्रकाराणां प्रागुक्तन्यायबाधनात्
तर्कसंग्रह–पृ० 135।

2 येन येन प्रकारेण परो निर्वक्तुमिच्छति, तेन तेनात्मनायोगस्तदनिर्वाच्यता मता।
तर्कसंग्रह–पृ० 136।

3 तस्माद्रूप्यादिकार्यस्यानिर्वाच्यत्वात् तदुपादानमपि अधिष्ठानाज्ञानमुपादेयम्–वही
पृ० 137।

4 प्रमाणतः सर्वज्ञत्वेऽपि प्रमातृत्वस्य प्रमाणप्रमेयसम्बन्धस्य चाज्ञानसम्बन्धमन्तरेणासिद्धेः, तस्मिन्नज्ञानवत्त्वमवश्यमाश्रयितव्यमन्यथा सर्वज्ञत्वायोगात्–
वही–पृ० 137-38।

5 एकस्तावदात्मा द्वयोरपि आवयोः सम्प्रतिपन्नोऽस्ति, तस्य स्वज्ञानादेव अविवादसिद्धादेकस्मादतिरिक्तं सर्वं प्रतिभाति—समस्तस्यैव भेदमानस्यापारमार्थिकस्यैकज्ञानसामर्थ्यादेव सभवान्नाज्ञानभेदे हेतुरस्ति–तर्कसंग्रह–तर्कसंग्रह–पृ० 138-139।

में प्रकट होता है तो अहंभाव एवं आत्मप्रत्यभिज्ञा के व्यापारों की व्याख्या कैसे की जाएगी? इस कठिनाई के उत्तर में आनन्दज्ञान का उत्तर है कि द्रष्टा एवं दृश्य आत्मा दोनों ही अन्तःकरणगत (अज्ञान का फल) मात्र मिथ्याप्रतीतियाँ हैं, और इसकी किसी प्रकार की क्रिया से एक सत्य आत्मा किसी भी प्रकार से दूषित नहीं होता। अतः ब्रह्म अद्वितीय है और उससे सम्बद्ध एक अनादि अनिर्वाच्य अज्ञान है, जो उस सब अनन्त रूप में विविध प्रतीतियों का कारण है जिनके द्वारा मानों ब्रह्म अशुद्ध प्रतीत होता है तथा बन्धन भोगता है और पुनः मानों आत्मा के यथार्थ स्वरूप के वेदान्ती सत्य की उपलब्धि के द्वारा पुनः मुक्त हुआ प्रतीत होता है।[1] वस्तुतः न तो बन्धन ही होता है और न मोक्ष ही।

उपर्युक्त से यह संकेत दिया जा सकता है कि ब्रह्म के साथ अज्ञान के जिस सम्बन्ध को वाचस्पति और आनन्दबोध ने स्वीकार किया उसी व्याख्या को आनन्दज्ञान ने भी अपनाया है। शांकरदर्शन के व्याख्याता के रूप में आनन्दज्ञान की स्थिति शांकरभाष्यों पर उनके द्वारा रचित अनेकों सक्षम टीकाओं तथा परकालीन लेखकों द्वारा किए गए उनके उल्लेखों से भी स्पष्ट है। उनमें से कुछ लेखकों के नाम श्री त्रिपाठी ने संगृहीत किए हैं; वे हैं—प्रज्ञानानन्द, शेषशार्ङ्गधर, वादिवागीश्वर, वादीन्द्र, रामानन्द सरस्वती, सदानन्द काश्मीरक (1547 ई०प०), कृष्णानन्द (1650 ई०प०) महेश्वरतीर्थ (1650 ई० प०) इत्यादि।

'प्रकटार्थ विवरण' का दर्शन

'प्रकटार्थ विवरण' (जैसाकि स्वयं लेखक इस ग्रन्थ के अन्त में पुष्पिका में लिखते हैं—प्रारभ्यते विवरणं प्रकटार्थमेतत्) ब्रह्मसूत्र पर शांकर भाष्य की अभी तक पाण्डुलिपि में उपलब्ध एक महत्त्वपूर्ण टीका है। अड्यार पुस्तकालय मद्रास के पुस्तकालयाध्यक्ष श्री टी० आर० चिन्तामणि के सौजन्य से वर्तमान ग्रन्थ के लेखक को इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि का अड्यार पुस्तकालय में अवलोकन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। श्री चिन्तामणि इसका एक संस्करण प्रकाशित करने का विचार कर रहे हैं। तथापि, ग्रन्थकार ग्रन्थ में कहीं भी अपना नाम प्रकट नहीं करता है और अन्य ग्रन्थों में इसके 'प्रकटार' नाम का अथवा प्रकटार्थ के रचयिता (प्रकटार्थकार) का सर्वत्र उल्लेख किया गया है, न कि ग्रन्थकार के व्यक्तिगत नाम का।[2] त्रयोदशशती के आनन्दज्ञान ने इस ग्रन्थ का (आनन्दाश्रम संस्करण

---

1 अद्वितीयमात्मतत्त्वम् तत्र च अनाद्यमनिर्वाच्यमेकमज्ञानमनन्तभेदप्रतिभाननिदानम् ततश्चानेककार्यकलुषितमात्मतत्त्वं बद्धमिवानुभूयमानं, वेदान्तवाक्योत्थतत्त्वसाक्षात्कार-पराकृतसकार्याज्ञानं मुक्तम् इवभाति, परमार्थतो, न बन्धो न मुक्तिरिति सकार्याज्ञान-निवृत्त्युपलक्षितम् परिपूर्णमात्मतत्त्वमेव परमपुरुषार्थरूपं सिद्ध्यति। –वही–141।

2 ग्रन्थ के अन्त में पुष्पिका निम्न है—
ज्ञात्वापि यस्य बहुकालमचिन्तनेन, व्याख्यातुमक्षमतया परितापि चेतः
तस्योपतापहरणाय मयेह भाष्ये, प्रारभ्यते विवरणं प्रकटार्थमेतत्।
पांडुलिपि सं. 1.38, 37 राजकीय पांडुलिपि पुस्तकालय, मद्रास।

के 'मुण्डक' पृ. 32, केन पृ. 23) उल्लेख किया है, और यह मानना ठीक होगा कि ग्रन्थकार द्वादश शती के उत्तरार्ध काल में विद्यमान थे। ये 'वेदान्तकौमुदी' के रचयिता रामाद्व से तो निश्चित ही पूर्ववर्ती होंगे। रामाद्वय न केवल 'प्रकटार्थ' का उल्लेख ही करते हैं अपितु अपने कई प्रत्ययों में इस ग्रन्थ के तर्कों से भी बहुत प्रभावित हुए हैं।[1] प्रकटार्थ-कार का मत है कि शुद्ध चैतन्य के संयोग में माया (चिन्मात्रसम्बन्धिनी) समस्त भूत-प्रकृति की जन्मदात्री होती है। शुद्ध चैतन्य (चिन्मात्र) के माया में प्रतिबिम्ब के द्वारा ईश्वर की उत्पत्ति होती है और उसके परिणामस्वरूप स्रष्टा ब्रह्म की उत्पत्ति होती है, तथा उस ब्रह्म के अनन्त अवयवों में चिन्मात्र के प्रतिबिम्ब द्वारा ही माया की आवरण एवं सर्जन क्रियाओं के कारण अनन्त जीवात्माओं का उदय होता है। 'माया' अथवा 'अज्ञान' एक अभाव न होकर ठीक वैसे ही एक भावात्मक उपादान कारण है जैसे कि मिट्टी घट का कारण है (अज्ञाननाभाव उपादामत्वम् मृद्वत्), परन्तु माया के आवरणत्व (आवरणत्वात्) एवं सत्य ज्ञान के द्वारा नश्वर होने के कारण (प्रकाशहेयत्वात्) उसको उसके विद्यमान रूप में जाना नहीं जा सकता, तथापि उसे समस्त भ्रमों का भावात्मक कारण भी माना जा सकता है।[2] सुविदित वेदान्ती पद 'स्वप्रकाश' की परिभाषा प्रकटार्थ में इस प्रकार की गई है: स्वयं अपने संविद् के ज्ञान बिना प्रकाश (स्वसंविन्नैरपेक्षेण स्फुरणम्)। आत्मा को स्वप्रकाश मानना होगा, क्योंकि ऐसी परिकल्पना के अभाव में आत्मा का प्रकाश अगम्य होगा।[3] तत्पश्चात् 'प्रकटार्थकार' कुमारिल के मत की ज्ञान के विषयीपरक एवं संविद् विशेष होने के कारण अनुमानगम्य होने के कारण आलोचना करते हैं तथा ज्ञान को विषयी में समवायी रूप से विद्यमान विषय का प्रकाश मानने वाले न्याय वैशेषिक एवं प्रभाकर मतों की, (आत्मसमवायी विषयप्रकाशो ज्ञानम्) और ज्ञान को आत्मा की प्रवृत्तिविशेष मानने वाले भास्कर मत की आलोचना भी करके अन्त में यह मत व्यक्त करते हैं कि मन प्रकाश-स्वभावी सत्त्वगुणप्रधान द्रव्य है और यही मन नैतिक भाग्य से युक्त होकर (अदृष्टादिसहकृतम्) उस पद की प्राप्ति करता है जहाँ विषय प्रकाश की एक लम्बी किरण के सदृश स्थित रहते हैं तथा उसके सन्निकर्ष में आते हैं तथा तब उसके परिणामस्वरूप चिन्मात्र के विषय पर प्रतिबिम्बित होने के कारण उनका ज्ञान होता है। इस प्रकार परिभाषित प्रत्यक्षज्ञान एक मानस परिणाम है जो किसी विषय का प्रकाश नहीं हो सकता (मनः परिणामः संविद्व्यञ्जको ज्ञानम्),[4] तथापि अनुमान में मन का परिणाम विषयों के

---

1 वेदान्त कौमुदी पांडुलिपि की रूपान्तरित प्रतिलिपि–पृ. 99।

2. आवरणत्वात्प्रकाशहेयत्वाद्वा तमोवत्स्वरूपेण प्रमाणयोग्यत्वेप्यभावव्यावृत्ति-भ्रमकारणत्वादिधर्मविशिष्टस्य प्रामाणिक त्वं न विरुध्यते।

पांडुलिपि–पृ. 12।

3. आत्मा स्वप्रकाशस्ततोऽन्यथाऽनुपद्यमानत्वे सति, प्रकाशमानत्वान्न य एनं न स एवं तथा कुम्भः ।। प्रकटार्थ पांडुलिपि।

4 पांडुलिपि, पृ. 54।

साथ वास्तविक संस्पर्श बिना ही होता है, अतः कोई विषय प्रकाशक स्फुरण नहीं होता, क्योंकि उसमें मन के हेतु अथवा लिंग के प्रत्यक्ष संसर्ग में होने के कारण अनुमेय विषय के साथ मन के सन्निकर्ष का बाध होता है। यहाँ कोई ऐसा व्यापार नहीं होता जिसके द्वारा विषय ज्ञान अपरोक्ष रूपेण प्रकाशित हो सके, अपितु मन का ऐसा परिणाम होता है कि विषय संबंधी संविद् के उदय में बाधा न हो।[1] 'प्रकटार्थकार' ईश्वर और जीव की उपाधियों के रूप में माया और अज्ञान में अन्तर मानते हैं।

विमुक्तात्मा (1200 ई० प०)

अव्ययात्मा भगवत्पूज्यपाद के शिष्य विमुक्तात्मा ने अपना 'इष्टसिद्धि' ग्रन्थ संभवतः त्रयोदश शताब्दी के प्राथमिक वर्षों के पश्चात् नहीं लिखा। चतुर्दश शताब्दिकालीन मधुसूदन द्वारा अपने 'अद्वैतसिद्धि' एवं रामाद्वय द्वारा अपनी 'वेदान्तकौमुदी' में उनको उद्धृत किया गया है। उस पर चित्सुख के आचार्य ज्ञानोत्तम ने टीका लिखी है और उस टीका का नाम 'इष्टसिद्धिव्याख्या' अथवा 'इष्टसिद्धिविवरण' है। अन्यत्र वर्णित हेतुओं के कारण ज्ञानोत्तम का काल त्रयोदश शताब्दी के उत्तरार्ध के पश्चात् नहीं माना जा सकता। विमुक्तात्मा ने 'प्रमाणवृत्तिनिर्णय' नामक अन्य ग्रन्थ भी लिखा जिसका वे अपने 'इष्टसिद्धि' (पांडु–पृ० 72) में उल्लेख करते हैं। यह ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है। वर्तमान लेखक को अड्यार पुस्तकालय में उपलब्ध इसकी पांडुलिपि कोचीन राज्यान्तर्गत नाडुविल मठम् की पांडुलिपि का लिप्यन्तरित रूप है परन्तु यह अनेक भागों में अत्यन्त आंशिक ही है, यहाँ तक कि प्रायः चर्चा के अर्थ को सम्यक् रूप में ग्रहण करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त है और इसका अधिकांश वेदान्त दर्शन एवं अन्य दर्शनों में भ्रमों के विश्लेषण से सम्बद्ध चर्चाओं के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस ग्रन्थ को मण्डन कृत 'ब्रह्मसिद्धि,' सुरेश्वर कृत 'नैष्कर्म्यसिद्धि' विमुक्तात्मा कृत 'इष्टसिद्धि' तथा मधुसूदन कृत 'अद्वैतसिद्धि' इन चार सिद्धियों में एक माना जाता है। अब तक 'नैष्कर्म्यसिद्धि' तथा 'अद्वैतसिद्धि' ही प्रकाशित हुए हैं। मद्रास में 'ब्रह्मसिद्धि' के शीघ्र ही प्रकाशन की आशा की जाती है। परन्तु अभी तक वर्तमान लेखक को इस महत्त्वपूर्ण कृति के विषय में किसी प्रयास का ज्ञान नहीं है।

ग्रन्थ का प्रारम्भ लेखक द्वारा की गई वंदना की व्याख्या से प्रारम्भ होता है। इसमें वह उस अज, अबोध्य, आत्मानन्द स्वरूप अनन्त अनुभूति की वंदना करते हैं जो

---

1 उपलब्धसम्बन्धार्थाकारेण परिणतं मनोऽन्नावभासव्यावृत्तिमात्रफलम् न तु संविद् व्यंजकम्, लिंगादिसंविद्व्यवधानप्रतिबन्धात्।

—पांडु०, पृ० 54।

यह सुगमता से देखा जा सकता है कि किस प्रकार धर्मराजध्वरीन्द्र ने अपने पूर्वाचार्यों द्वारा निर्मित इन तथा अन्य सामग्रियों से प्रत्यक्ष तथा अनुमान के अपने वेदान्त सिद्धान्त को विषद किया।

ऐसा पट है जिस पर भ्रान्तिमय जगदवभास चित्रित है। अतः वह शुद्ध अनुभूति के रूप में परमतत्त्व के स्वभाव के विषय में चर्चा प्रारम्भ करते हैं। शुद्ध चैतन्य के अतिरिक्त कुछ भी अनादि तथा नित्य नहीं हो सकता। परमाणुओं को प्रायः अनादि माना जाता है, परन्तु उनके वर्ण एवं इन्द्रिय गुण होने के कारण वे प्रकृति के अन्य विषयों के सदृश ही हैं, तथा उनके अवयव भी हैं क्योंकि उनके अभाव में परमाणुओं का संयोग असंभव होगा। केवल वही अविभाज्य हो सकता है जो निरवयव एवं अनादि हो, और केवल अनुभूति ही को ऐसा कहा जा सकता है। अनुभूति और अन्य विषयों में यह भेद है कि जबकि विषयों का 'यह' अथवा 'विषय' कह कर वर्णन किया जा सकता है, वहाँ अनुभूति स्पष्टतः ऐसी नहीं है। परन्तु, यद्यपि यह भेद सामान्यतः स्वीकृत है; तथापि तत्त्व-विवेचन सम्बन्धी तर्क यह प्रदर्शित करते हैं कि दोनों आभ्यन्तर दृष्टि से भिन्न नहीं हैं। तार्किक दृष्टि से प्रत्यक्ष कर्ता तत्त्व (दृक्) और प्रत्यक्ष (दृश्य) में कोई भेद नहीं हो सकता, क्योंकि दृक् अप्रत्यक्ष है (अदृश्यत्वात्)। दृश्य और अदृश्य के मध्य किसी भेद को ग्रहण नहीं किया जा सकता क्योंकि समस्त भेद दो ज्ञात तत्त्वों का वर्णन करता है परन्तु यह तर्क किया जा सकता है कि यद्यपि दृक् का ज्ञान नहीं होता तथापि यह स्वप्रकाश है और इसीलिए भेद का भाव प्रकट होना आवश्यक है। इस आपत्ति के उत्तर के लिए भेद के स्वरूप के विषय में विचार-विमर्श अनावश्यक है। यदि भेद भिन्न तत्त्वों के स्वभाव का होता तो भेद तत्त्वों के संदर्भ पर आश्रित नहीं होता (न स्वरूपदृष्टिः प्रतियोग्यपेषा)। अतः भेद को भिन्न तत्त्व के स्वरूप से भिन्न तथा पृथक् ज्ञान-प्रक्रिया, यथा रूप रसादि, के द्वारा ग्राह्य मानना पड़ेगा।[1] परन्तु यह मत भी ठीक नहीं है क्योंकि 'भेद' को भिन्न तत्त्वों से भिन्न स्वीकार करना कठिन है। इसका कारण यह है कि ऐसे भेद को अपने ज्ञेय होने के लिए अन्य भेद की अपेक्षा होगी, उसकी किसी अन्य की, इस प्रकार अनवस्था प्रसंग की प्राप्ति होगी, तथा यही आपत्ति पृथक् तत्त्व के रूप में अन्योन्याभाव के लिए भी प्रयुक्त होती है। ऐसी अवस्था में यह कल्पना करना कठिन है कि दृक् एवं दृश्य के मध्य भेद अथवा अन्योन्याभाव कैसे अभिगम्य है? क्योंकि यह असंभव है कि ऐसा कोई अन्य ज्ञान हो जिसके द्वारा दृक् को एक एकान्तर प्रतियोगी के रूप में रखने वाले इस 'भेद' अथवा अन्योन्याभाव का दर्शन हो सके।[2] इसके अतिरिक्त स्वप्रकाश दृष्टि-सामर्थ्य सदा विद्यमान रहता है, और उसका अभाव होना असंभव है—इस अवस्था के बिना भेद अथवा अभाव किसी का भी होना असंभव है। इसके उपरान्त ऐसे भेद को गम्य स्वीकार करना भी यह सिद्ध करता है कि यह दृक् आत्मा का धर्म नहीं है। भेद को स्वप्रकाश मानने पर वह परापेक्षी नहीं रहेगा, तथा भेद एवं अन्योन्याभाव की समस्त धारणाओं के लिए यह अवस्था आवश्यक है। अतः 'भेद' एवं 'अन्योन्याभाव' न तो दृक् आत्मा के रूप में और न उसके धर्म के रूप में ही सिद्ध होते हैं,

---

1 तस्मात् कथंचिद्भिन्नो ज्ञानान्तरगम्यो रूपरसादिवद्भेदोऽभ्युपेयः—

—आधार 'इष्ट सिद्धि' पांडु० पृ० 5।

2 एवं च सति न दृक्दृश्ययोर्भेदो द्रष्टं, शक्यः, नाह्यन्योन्याभावः, न हि दृश स्वयं दृष्टेः प्रतियोग्यपेक्षदृष्ट्यन्तरदृश्यं रूपान्तरं स्वं समस्ति स्वयं दृष्टित्वहानात्।

—पांडु० पृ० 6।

और किसी अन्य प्रकार के भेद अग्राह्य होने के कारण यह स्पष्ट है कि दृक् आत्मा एवं उसके धर्मों में भेद नहीं है ।

पुनः अभाव की परिभाषा दृश्य के अदर्शन के रूप में की जाती है, परन्तु दृक् दृष्टिस्वभावी है और उसकी अदृष्टि असंभव होगी । यदि तर्क के लिए यह स्वीकार भी कर लिया जाय कि दृक् का अभाव शक्य है तो ऐसे अभाव का ज्ञान कैसे होगा ? क्योंकि स्वयं दृक् के दृष्टिस्वभावी होने के कारण दृक् के अभाव में दृष्टि का होना असंभव है । अतः दृक् का भाव भ्रान्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता । अतः दृक् और दृश्य परस्पर भिन्न नहीं हो सकते । तथापि यह कठिनाई उत्पन्न होती है कि यदि दृक् और दृश्य अभिन्न हैं तो दृश्य के धर्म, अवच्छेद और भेद, दृक् के भी धर्म हो जाएँगे । ऐसी सामान्य लोक-व्यवहार और अनुभव के विपरीत होने जैसी कल्पनाओं के विरुद्ध अन्य आपत्तियाँ की जा सकती हैं । इन दोनों के युगपद् अनुभव के कारण (सहोपलम्भनियमात्) दोनों के अभिन्न होने का तर्क दिया जा सकता, परन्तु उत्तर में यह कहा जा सकता है कि दोनों का न कि एक का अनुभव होने के कारण उनको अभिन्न नहीं माना जा सकता, क्योंकि उन दोनों के अनुभव में ही उनके भेद की अभिव्यक्ति हो जाती है ।[1] ऐसे प्रत्यक्ष अनुभवव्याघात के उपरान्त भी दृक् एवं दृश्य की अभिन्नता को स्वीकार करने का साहस नहीं किया जा सकता । युगपत् दृष्टि के कारण दृक् और दृश्य की अभिन्नता के न्याय को सत्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रथमतः दृक् एक ज्ञात विषय नहीं है और दृश्य कभी स्वप्रकाश नहीं; द्वितीयतः, दृक् सदा स्वप्रकाशी है, परन्तु दृश्य नहीं है; तृतीयतः यद्यपि दृक् के अभाव में 'दृश्य' प्रकाशित नहीं हो सकता तथापि क् सर्वदा स्वयं प्रकाश है, अतः सीधे रूप में दृक् और दृश्य में सहभावित्व नहीं है । जब संविद् में एक दृश्य विषय 'क' प्रकाशित होता तो अन्य विषय 'ख', 'ग', 'घ' आदि प्रकाशित नहीं होते और दृश्य 'ख' के प्रकाशित होने पर 'क' प्रकाशित नहीं होता, अपितु संवित् सदा स्वप्रकाश रहता है, अतः किसी संवित् को किसी विशिष्ट विषयपरक भाव से सदा उपाधियुक्त नहीं माना जा सकता, क्योंकि उस अवस्था में वह भाव भी सदा स्वप्रकाशित हो जायगा ।[2] इसके अतिरिक्त प्रत्येक विशिष्ट भान (यथा 'नील' का भान) क्षणिक है एवं स्वप्रकाश है, और इस हेतु किसी अन्य भान का विषय नहीं हो सकता, और यदि कोई विशिष्ट भान किसी अन्य भान का विषय होता, तो यह भान न होकर घटपुस्तकादिवत् विषयमात्र होता । अतः विषय एवं उसके भान में अन्तर्भूत भेद हैं और इस हेतु संविद् रूप में दृक् को दृश्य से अभिन्न नहीं

---

1 अभेदे सहभानायोगाद् द्वयोर्हि सहभानं न एकस्यैव न हि दृशैव दृक्सहभातीति भवताप्युच्यते नापि दृश्येनैवं दृश्यं सह भातीति किन्तु दृग्दृश्ययोः सहभानमुच्यते, अतस्तयोर्भेदो भात्येव ।

—पांडु०, पृ० 25 ।

2 किं विद्य्द्विशेषितता नाम संविदः स्वरूपमुत संवेद्यस्य, यदि संविदः सापि भात्येव संविद्भानात्संवेद्यस्वरूपं चेत्तदा भानान्न संविदो भानम् ।

—पांडु, पृ० 27 ।

माना जा सकता ।[1] यह पहले ही प्रदर्शित किया जा चुका है कि दृक् और दृश्य को भिन्न नहीं माना जा सकता, और अब यह प्रदर्शित किया गया है कि उनको अभिन्न भी नहीं माना जा सकता । एक अन्य विकल्प यह है कि वे भिन्न और अभिन्न दोनों हो सकते हैं (जोकि भास्कर तथा रामानुज, तथा अन्यों का भेदाभेद मत हैं) और विमुक्तात्मा इस विकल्प के भी असंभव होने तथा दृक् एवं दृश्य के भिन्न तथा अभिन्न दोनों ही न हो सकने को प्रदर्शित करने का प्रयत्न करते हैं । भेदाभेद मत के मानने वाले शायद यह कहें कि यद्यपि दृक् एवं दृश्य को अपनी वर्तमान अवस्था में अभिन्न नहीं माना जा सकता है । इसके प्रत्युत्तर में यह कहा जा सकता है कि यदि वे दोनों ब्रह्म के साथ एक और अभिन्न हैं तो उनमें भेद नहीं हो सकता । यदि यह तर्क दिया जाय कि उनका ब्रह्म के साथ तादात्म्य एक अन्य रूप में है तो भी यह प्रश्न उठता है कि दृक् एवं दृश्य के रूप में उनके रूपों का उस रूप से तादात्म्य है, जिस रूप में उनका ब्रह्म से तादात्म्य है; तथा किसी को भी दृक् एवं दृश्य के प्रत्यक्ष रूपों के अतिरिक्त अन्य किसी रूप का ज्ञान नहीं है; अतः यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि अपने भेदों के उपरान्त भी वे किसी रूप में एक ओर अभिन्न हैं । यदि पुनः यह आपत्ति की जाय कि यह बिलकुल संभव है कि एक तादात्म्य-युक्त तत्त्व के दो भिन्न रूप होने चाहिए, तब भी यह प्रश्न उठता है कि क्या ये रूप एक, भिन्न अथवा उस तत्त्व से अभिन्न एवं भिन्न दोनों ही हैं । प्रथम विकल्प में रूप भिन्न नहीं होंगे, द्वितीय विकल्प में वे उस तत्त्व के साथ एक नहीं होंगे । इसके अतिरिक्त यदि तत्त्व के किसी भाग का किसी रूपविशेष से तादात्म्य हो तो उसका अन्य रूपों से तादात्म्य नहीं हो सकता, क्योंकि उस अवस्था में ये भिन्न-भिन्न रूप एक दूसरे से भिन्न नही होंगे तथा पुनः यदि रूप तत्त्व से अभिन्न हों तो रूप का तत्त्व (रूपी) से अन्तर कैसे किया जा सकता है । तृतीय विकल्प में यह प्रश्न उठता है कि क्या रूपी का उसके एक रूपविशेष से तादात्म्य है और अन्य रूपों से भेद है, अथवा उसका एक ही रूप से तादात्म्य तथा भेद दोनों हैं ? प्रथम अवस्था में प्रत्येक रूप के दो रूप होने चाहिएँ और उनके भी दो अन्य रूप जिनमें वे अभिन्न और भिन्न हों, और उनके दो भी रूप, इस प्रकार अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी तथा इसी प्रकार का अनवस्था दोष रूपी एवं रूपों के मध्य संबंध में भी प्रकट होगा । इन तथा ऐसे ही अन्य कारणों से यह मानना असंभव है कि दृक् एवं दृश्य अपने प्रत्यक्ष रूप में अभिन्न होने पर भी ब्रह्मरूप में एक और अभिन्न हैं ।

यदि नानाविध जगत् दृक् से न तो भिन्न, न अभिन्न और न भिन्नाभिन्न हैं, तो उसकी स्थिति क्या है ? मानाकि दृक् शुद्ध प्रत्यक्ष एवं शुद्ध आनन्द के सदृश ही है, तथा यदि वह नानाविध जगत् से अभिन्न अथवा भिन्न, दोनों भिन्नाभिन्न नहीं है तो नानाविध जगत् को अवश्य ही अवस्तु होना चाहिए, क्योंकि यदि उसमें कोई वस्तुत्व होता तो वह उपर्युक्त तीन संबंधप्रकारों में में किसी एक प्रकार से संबद्ध होता । परन्तु यदि यह अवस्तु है तो उपर्युक्त आपत्तियों में से कोई भी उस पर नहीं लग सकती । पुनः यह आपत्ति की

---

1 असंवेद्यैव संवित् संवेद्य चासंविदेव, अतः संवेद्यस्य घटसुखादेः संविदश्चाभेदगन्धोऽपि न प्रमाणवान् ।

—वही, पृ० 31 ।

जा सकती है कि यदि जगत् अवस्तु होता तो हमारे सामान्य अनुभव एवं इस जगत् के साथ व्यावहारिक बर्ताव दोनों में व्याघात होता। इसके प्रत्युत्तर में विमुक्तात्मा का कथन है कि जगत् को माया-निर्मित स्वीकार करने के कारण (मायानिर्मितत्वाभ्युपगमात्) तथा माया के कार्य वस्तु अथवा अवस्तु न माने जा सकने के कारण, इस दृष्टिकोण पर कोई भी उपर्युक्त आपत्ति प्रयुक्त नहीं होगी। जगत्प्रपंच के अवस्तु होने के कारण उसको स्वीकार करना अद्वैत दृष्टिकोण में व्याघात उत्पन्न नहीं कर सकता, तथा उसके अवस्तु होने के कारण अनुभव के तथ्य को भी न्यायसंगत बताया जा सकता है।[1] जो प्रतीति न तो वस्तु हो और न अवस्तु ही, उसके उदाहरण के रूप में स्वप्रतीतियों का उल्लेख किया जा सकता है, जिनको इस कारण से अयथार्थ नहीं माना जा सकता कि वे न तो वस्तुस्वभावी हैं और न अवस्तुस्वभावी ही, अपितु इसलिए कि व्यावहारिक अनुभव में उनका व्याघात होता है। जिस प्रकार कोई पट अपने पर चित्रित चित्र का न तो उपादान होता है और न चित्र का घटक ही, और जिस प्रकार चित्र को पट का विकार नहीं माना जा सकता, जैसेकि घट मिट्टी का विकार है, अथवा गुण का विकार नहीं माना जा सकता यथा पके आम की लालिमा को माना जाता है, तथा जिस प्रकार पट चित्र से पहले भी था एवं जिस प्रकार चित्र के धो दिए जाने पर भी पट विद्यमान रहेगा जबकि पट के अभाव में चित्र नहीं रह सकेगा, ठीक उसी प्रकार चिदात्मा भी इस जगत्प्रपंच से संबद्ध है जो चिदात्मा पर माया का चित्रमात्र है।[2]

माया भाव एवं अभाव दोनों से भिन्न रूप में नहीं अपितु भाव एवं अभाव के धर्मों से युक्त रूप में अकथ्य एवं अनिर्वचनीय है। अतः इसे अविद्या-शक्ति माना जाता है जो प्रत्यक्ष के समस्त विषयों का उपादान कारण है, तथा इसे अन्यथा जड़ तत्त्व कहा जाता है (सर्वजडोपादानभूत)। परन्तु बांसों से उत्पन्न अग्नि जिस प्रकार स्वयं बांसों के मूल तक का दहन कर देती है उसी प्रकार अविद्या और उसकी प्रक्रिया का परिणाम ब्रह्म ज्ञान स्वयं उस अविद्या का नाश कर देता है जिससे वह उत्पन्न हुआ था तथा उसकी प्रक्रिया एवं अन्ततः वह स्वयं निरस्त होकर ब्रह्म को स्वयं अपने प्रकाश में प्रकाशित होने देता है।[3] जिस प्रकार कूप खनन का अर्थ सर्वव्यापी आकाश की अवरोधक मिट्टी का हटाना है उसी प्रकार अज्ञान अथवा अविद्या के प्रक्रियामात्र प्रमाण का कार्य स्वप्रकाश संविद् के प्रकाश को आवृत करने वाले अवरोध का हटाना है। अतः प्रमाणों का कार्य स्वप्रकाश संविद्

---

1 प्रपंचस्य वस्तुत्वाभावान्नाद्वैतहानिः अवस्तुत्वाभावाच्च प्रत्यक्षाद्यप्रामाण्यमप्युक्तदोषाभावात्।

—पांडु०, पृ० 64।

2 यथा चित्रस्य भित्तिः साक्षात् नोपादानं नापिसहजं चित्रं तस्याःनाप्यवस्थान्तरं मृदिव घटादिः नापि गुणान्तरागमः आम्रस्येव रक्तादि न चास्या-जन्मादिश्चित्रात्प्रागूर्ध्वं च भावात्, यद्यपि भित्ति विना चित्रं न भाति तथापि न सा चित्रं विना भाति इत्येवमाद्यनुभूतिर्भित्तिजगच्चित्रयोर्योज्यम्।

—पांडु० पृ० 73।

3 वही, पृ० 137।

की अभिव्यक्ति नहीं है, वे तो आवरक अज्ञान का निराकरण ही करते हैं।[1] अतः ब्रह्मज्ञान का भी अर्थ अज्ञान के अन्तिम अवशेषों को दूर करना है जिसके पश्चात् अज्ञान का अन्तिम चह्न होने के कारण प्रत्ययात्मक ज्ञान के रूप में स्वयं ब्रह्मज्ञान भी विरत हो जाता है। अज्ञान का यह विराम स्वयं अज्ञान के सदृश ही अनिर्वचनीय है। मण्डन के असदृश, विमुक्तात्मा अविद्या को विषयीपरक मात्र नहीं मानते हैं, अपितु उसे विषयीपरक एवं विषयपरक दोनों ही मानते हैं, जिसमें न केवल दृश्य जगत् अपितु उनके सब पारस्परिक संबंध तथा यथार्थ में संबंध रहित चिदात्मा को अविद्या से सम्बद्ध मानने वाला संबंध भी सम्मिलित है। विमुक्तात्मा ने ग्रन्थ के अधिकांश में ख्याति (भ्रान्ति) के विभिन्न प्रकार के सिद्धान्तों और विशेषतर अन्यथाख्याति की आलोचना की है। इन आलोचनाओं में कई नवीन एवं महत्त्वपूर्ण बातें हैं; परन्तु प्रथम खण्ड के दशम अध्याय में माया के इन सिद्धान्तों तथा उनकी आलोचनाओं के मुख्य तत्त्वों का पहले ही विवेचन कर दिए जाने के कारण विमुक्तात्मा की उन नवीन आलोचनाओं में पड़ना वांछित नहीं है, जिनमें वेदान्त व्याख्या का कोई नवीन दृष्टिकोण नहीं प्रस्तुत किया गया है। वह कुछ मुख्य वेदान्ती चर्चा के विषयों का विवेचन भी करते हैं, यथा बंधन तथा मोक्ष का स्वरूप तथा व्यावहारिक जीवन के अद्वैत अनुभवों का वेदान्त के अद्वैत सिद्धान्त के साथ सामंजस्य, परन्तु उनमें आलोचना का कोई महत्त्वपूर्ण नवीन प्रकार न होने के कारण उनको इस खंड में छोड़ दिया गया है।

रामाद्वय (1300 ई० प०)

अद्वयाश्रम के शिष्य रामाद्वय ने चार अध्यायों का 'वेदान्तकौमुदी' नामक एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखा। उसमें उन्होंने ब्रह्मसूत्र के प्रथम चार विषयों पर शांकर-भाष्य की विषयवस्तु का विवेचन करते हुए कई वेदान्ती समस्याओं का एक विवादास्पद ढंग से विवेचन किया है। यह ग्रन्थ यद्यपि अद्यावधि प्रकाशित नहीं हुआ है, परन्तु राजकीय प्राच्य पांडुलिपि पुस्तकालय, मद्रास में इसकी एक पांडुलिपि तो उपलब्ध है। अध्यक्ष की कृपा से वर्तमान लेखक को इस पांडुलिपि का उपयोग करने का अवसर मिला। रामाद्वय ने 'वेदान्त-कौमुदी' पर 'वेदान्त-कौमुदी व्याख्यान' नामक भाष्य भी लिखा है। इसके प्रथम अध्याय की एक पांडुलिपि वर्तमान लेखक को कलकत्ता एशियाटिक सोसायटी के पुस्तकालय में उपलब्ध हुई। इस ग्रन्थ की अद्यावधिज्ञात संभवतः केवल ये ही पांडुलिपियाँ हैं। 'वेदान्तकौमुदीव्याख्यान' की प्रतिलिपि करने की तिथि प्रतिलिपिकार शेषनृसिंह ने 1512 ई० प० दी है। अतः यह सुनिश्चित है कि ग्रन्थ रचना पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद नहीं हुई होगी। अपनी चर्चाओं में रामाद्वय कई प्रमुख न्याय एवं वेदान्त लेखकों का उल्लेख करते हैं जिनमें से एक भी त्रयोदश शताब्दी से परकालीन नहीं है। वर्त्तमान लेखक ने 'इष्टसिद्धिकार' विमुक्तात्मा का काल त्रयोदश शती का पूर्वार्द्ध निश्चित किया है, परन्तु रामाद्वय उनका मान्य रूप से उल्लेख करते हैं, मानों कि उनके विचार अधिकांशतः विमुक्तात्मा द्वारा निर्दिष्ट हों; वे अपने 'वेदान्त-कौमुदीव्याख्यान' (पांडुलिपि पृ० 14) में जनार्दन का उल्लेख करते हैं। जनार्दन आनन्दज्ञान का गृहस्थ नाम था, परन्तु जनार्दन का काल मध्य

1 वही, पृ० 143।

त्रयोदश शताब्दी है, अतः यह सम्भव प्रतीत होता है कि रामाद्वय का काल चतुर्दश शताब्दी का पूर्वार्ध हो।

प्रत्यक्ष एवं अनुमान के वेदान्ती सिद्धान्तों के प्रतिपादन में रामाद्वय 'प्रकटार्थ' कार के विचारों से अत्यधिक प्रभावित प्रतीत होते हैं, क्योंकि वे इस सन्दर्भ में उनके नाम का उल्लेख न करके भी किंचित् विशद रूप में उनकी पदावली की पुनरावृत्ति करते हैं।[1] जिस प्रकार निर्मेघ आकाश मेघाच्छन्न होकर नानारूपों को ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार शुद्ध चैतन्य, अनिर्वचनीय अविद्या से आवृत होकर विविध अवच्छिन्न रूपों में प्रकट होता है। यही संविद् सर्वज्ञात विषयों का तात्त्विक आधार है। जिस प्रकार उपाधिरूप ईंधन के अभाव में अग्नि-स्फुलिंग की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, उसी प्रकार समस्त विषयों का आधारभूत तत्त्व शुद्ध संविद् अपने कार्य के सहयोग के लिए उचित अवस्थाओं के अभाव में उन विषयों को प्रकाशित नहीं कर सकता।[2] ऐसी उपाधि शुद्ध सत्त्वात्मक मनस् में विद्यमान है; इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष के अवसर पर यह मनस् अदृष्ट से क्षुब्ध होकर (अदृष्टादिक्षुब्धम्) स्वयं अर्थ तक पहुँचने वाली ज्योति के रूप में स्वयं को परिणत कर देता है।[3] शुद्ध चैतन्य अन्तःकरण से उपाधियुक्त अथवा अवच्छिन्न होकर (अन्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यम्) इस प्रकार की वृत्ति द्वारा अविद्या के आवरण को हटा देता है (यद्यपि जीवात्मा के रूप में अपनी अवछिन्न अवस्था में इस अविद्या ने स्वयं अपने देह का निर्माण किया) तथा उसी वृति द्वारा उसके सन्निकर्ष में आया हुआ विषय भी प्रकाशित हो जाता है।

---

1 देखिए वेदान्तकौमुदी, पांडुलिपि की लिप्यन्तर प्रतिलिपि–पृ० 36 तथा 47।

2 यहाँ रामाद्वय ब्रह्मसूत्र के अनुमानतः 1.3.19 पर शांकर-भाष्य के दहराधिकरण का उल्लेख करते हैं, जिसमें शंकर जीवात्मा एवं ब्रह्म के कल्पित अन्तर का उल्लेख करते हैं। उसमें शंकर का कथन है कि उनके भाष्य का उद्देश्य उन औपनिषद एवं उपनिषद्-इतर मतों का नियमन है जिनके अनुसार जीवात्मा सत्य है (अपरे तु वादिनः पारमार्थिकमेव जैवं रूपमिति मन्यन्ते अस्मदीयाश्चकेचित्)। इस प्रकार का मत आत्मा को ऐसे परमतत्त्व के रूप में सम्यक् प्रकार से ग्रहण करने में बाधक है जोकि अविद्या के कारण जीवात्मा के रूप में अपने आपको अभिव्यक्त करता है, तथा उस आवरण के दूर हो जाने पर ठीक वैसे ही यथार्थ ज्ञान होने पर अपने यथार्थ स्वरूप में परमेश्वर के रूप में प्रकाशित होता है जैसेकि भ्रान्तिमान् सर्प अपने आपको रज्जु के टुकड़े के रूप में प्रदर्शित करता है। नित्य, अविकारी एवं घाता, चैतन्य, परमेश्वर एकमेव तत्त्व है जो अविद्या के कारण वैतालिक के समान अनेक रूपों में प्रकट होता है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई चैतन्य नहीं है (एक एवं परमेश्वरः कूटस्थनित्यो विज्ञानधातुरविद्यया मायया मायाविवदनेकधा विभाव्यते नान्यो विज्ञानधातुरस्ति)।

3 यह उद्धरण प्रकटार्थ से सीधा उद्धृत प्रतीत होता है, जैसाकि उनके शाब्दिक समन्वय से अनुमान किया जा सकता है। परन्तु यह अधिक संभव है कि वेदान्तकौमुदी व प्रकटार्थ दोनों ने इसको पंचपादिका-विवरण से लिया हो।

विषयी एवं विषय की दो अभिव्यक्तियाँ वहाँ एक ही वृत्ति में घटित होकर एक ही प्रत्यय यथा 'मुझे यह विषय विदित हुआ हैं' संयुक्त हो जाते है (वृत्तेरुभयसंलग्नत्वाच्च तदाभिव्यक्तचैतन्यस्यापि तथात्वेन मयेदं विदितमिति संश्लेषप्रत्ययः); तथा उसके अन्य कार्य के रूप में, चैतन्य अन्तःकरण से अवच्छिन्न एवं प्रमा की वृत्ति के रूप में परिणत होकर प्रमाता के रूप में प्रतीत होता है (वृत्तिलक्षणप्रमाश्रयान्तःकरणावच्छिन्नस्तत्प्रमातेत्यपि व्यपदिश्यते) ।[1] विषय भी अभिव्यक्त होने पर एक नवीन स्थिति को ग्रहण कर लेता है और इस प्रकार विषय रूप में जाना जाता है (कर्मकारकाभिव्यक्तं च तत्प्रकाशात्मना फलव्यपदेशभाक्) । तत्त्वतः, आधारभूत चैतन्य ही अन्तःकरण के वृत्ति-परिणाम की अभिव्यक्ति करता है परन्तु तप्त लौह में अग्नि एवं लौह के समान चैतन्य और अन्तःकरण के ऐक्य का अध्यास होने के कारण चैतन्य का भी अन्तःकरण के वृत्तिपरिणाम के साथ ऐक्य कर दिया जाता है । तथा, विषय पर वृत्ति का अध्यास होने के कारण वृत्ति की अभिव्यक्ति द्वारा यह विषय को भी अभिव्यक्त करता है, अतः विज्ञप्ति के रूप में विषयीपरक प्रकाश से अतिरिक्त विषय के प्रकाशन का एक विषयपरक तथ्य भी है (एवं वृत्तिव्यंजकमपि तप्तायःपिण्डन्यायेन तदेकताभिवाप्तं वृत्तिवद्विषयप्राकट्यात्मना सम्पद्यते) ।[2] रामाद्वय के अनुसार प्रत्यक्ष में ज्ञान-प्रक्रिया के क्षणों का इस प्रकार वर्णन किया जा सकता है । इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष से अदृष्ट अन्तःकरण को क्षुब्ध करने का अवसर प्राप्त करता है तथा उसके परिणामस्वरूप अन्तःकरण वृत्तिसंज्ञक एक विशिष्ट अवस्था में परिणत हो जाता है । अन्तःकरण के मूल में स्थित शुद्ध चैतन्य मानो मलिन एवं आवृत अवस्था में स्थित था, तथा अन्तःकरण के वृत्ति में परिणत होते ही चैतन्य उज्ज्वल होकर अपने आवरक आवरण को क्षण भर के लिए भेद डालता है । अतः वृत्ति मूलगत चैतन्य को और अधिक आवृत नहीं रख पाती, अपितु जिस विषय पर वृत्ति का अध्यास है उस विषय पर वह चैतन्य के प्रकाश के पारदर्शक वाहक का कार्य करती है और उसके परिणामस्वरूप विषय की विषयपरक अभिव्यक्ति होती है जो वृत्ति की परिणति के प्रथम क्षण में चैतन्य की उज्ज्वलता से पृथक् होती है । अब, चैतन्य की विषयपरक उज्ज्वलता एवं विषय के विषयपरक प्रकाश का वृत्ति द्वारा संश्लेष होने के कारण इन दोनों का संश्लेष हो जाता है (संश्लेष प्रत्ययः) । तथा उसका परिणाम होता है, यह ज्ञान 'यह विषय मुझे विदित है'; इस ज्ञान के कारण वृत्ति में परिणत अहंकार द्वारा अवच्छिन्न मूलगत चैतन्य के रूप में ज्ञाता एवं विषयपरक रूप से प्रकाशित ज्ञेय का भेद करना सम्भव है । वेदान्त परिभाषा में प्रमातृ-चैतन्य (अन्तःकरण का उपाधियुक्त चैतन्य), प्रमाण-चैतन्य (अन्तःकरण की वृत्ति की उपाधि से युक्त वही चैतन्य) तथा विषय-चैतन्य (विषय की उपाधि से युक्त वही चैतन्य) इन तीन चैतन्यों का अवलोकन करते हैं । इसके अनुसार प्रत्यक्ष के धर्म का निरूपण ज्ञान के दृष्टिकोण (ज्ञानगतप्रत्यक्षत्व) से अथवा विषय के दृष्टिकोण से किया जा सकता है; दोनों को एक ही प्रत्यक्ष-प्रकाशन के दो भिन्न-भिन्न चरण, ज्ञानपरक एवं विषय परक, मानना चाहिए । ज्ञान के दृष्टिकोण से प्रत्यक्ष की परिभाषा विषय पर वृत्ति के

---

1 वेदान्तकौमुदी—पांडुलिपि की लिप्यन्तरित प्रतिलिपि–पृ. 36 ।

2 वेदान्तकौमुदी, पांडुलिपि की लिप्यन्तरित प्रतिलिपि–पृ. 28 ।

देशीय अध्यास के कारण प्रमाण-चैतन्य से विषय-चैतन्य के अभेद के रूप में की गई है। विषय के दृष्टिकोण से प्रत्यक्ष (विषयगतप्रत्यक्षत्व) की परिभाषा अन्तःकरण द्वारा उपाधियुक्त प्रमाण-चैतन्य अथवा द्रष्टा से विषय के अभेद के रूप में की गई है। यह बाद वाला दृष्टिकोण अर्थात् अन्तःकरण द्वारा अवच्छिन्न चैतन्य से विषय के अभेद होने की परिभाषा (घटादेरन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्याभेदः) इस गम्भीर आपत्ति का विषय है कि तत्त्वतः अभेद विषय (अन्तःकरण द्वारा उपाधियुक्त चैतन्य-अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य) से न होकर ज्ञान (प्रमाण-चैतन्य अथवा वृत्ति-चैतन्य) से है, क्योंकि ज्ञान अथवा वृत्ति द्रष्टा एवं विषय के मध्य आ जाते हैं तथा विषय का वृत्ति के साथ अपरोक्ष सम्पर्क होता है न कि द्रष्टा (अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य) के साथ। इसका ऐसा होना रामकृष्णाध्वरी के पुत्र धर्मराजाध्वरीन्द्र ने भी वेदान्त परिभाषा पर अपनी टीका शिखामणि' में स्वीकार किया है।[1] परन्तु वह यह प्रदर्शित करके धर्मराजाध्वरीन्द्र को न्याय संगत बताने का प्रयत्न करते हैं कि धर्मराजाध्वरीन्द्र अभेद के रूप में विषयगतप्रत्यक्षत्व की परिभाषा विषयी से विषय के अभेद के रूप में करने को विवश थे क्योंकि इस दृष्टिकोण को प्रकाशात्मा कृत 'विवरण' एवं वेदान्त के अन्य परम्परागत ग्रन्थों में भी अपनाया गया था।[2] तथापि यह एक त्रुटि प्रतीत होती है क्योंकि विवरण के जिस उद्धरण का यहाँ उल्लेख है उसमें एक बिलकुल भिन्न दृष्टिकोण का ही प्रतिपादन किया गया है।[3] उसमें यह कहा गया है कि विषय का प्रत्यक्षत्व संवेदन अवस्था अथवा संविद् को प्रत्यक्ष एवं अपरोक्ष रूप से विशेषित करने में है।[4] अन्य पारम्परिक वेदान्ती व्याख्याकारों का धर्मराजाध्वरीन्द्र के मत से पूर्णतः असहमत होना रामाद्वय द्वारा दिए गए प्रत्यक्षप्रक्रिया के विश्लेषण के विवरण से भी स्पष्ट हो जाता है। जैसाकि अभी प्रदर्शित किया जा चुका है, रामाद्वय का कथन है कि इसी प्रकाशित ज्ञान-प्रक्रिया अथवा वृत्ति के विषयी और विषय दो ध्रुव हैं, तथा इसी हेतु वह विषयी और विषय का 'यह मुझे विदित है', इस विधेय-विधेयक रूपी मानसिक अवस्था में एकीकरण करती है। इस प्रकार विषय वृत्ति द्वारा प्रकाशित होकर विषय का विषयी के साथ नहीं, अपितु वृत्ति के साथ, अपरोक्ष रूप से एकीकरण होता है। धर्मराजाध्वरीन्द्र स्वयं अपनी व्याख्या के विरुद्ध आपत्ति करते हैं कि यह कहा जा सकता है कि यदि प्रत्यक्ष के विषयी-विषय-अभेद होता तो विषय, यथा पुस्तक, के प्रत्यक्ष में यह अनुभव किया जाता कि मैं पुस्तक हूँ" न कि 'मैं पुस्तक का प्रत्यक्ष करता हूँ"। इस प्रकार की आपत्ति के उत्तर में वे कहते हैं कि

---

1 यद्वा योग्यत्वेसति विषयचैतन्याभिन्नप्रमाणचैतन्यविषयत्वं घटादेर्विषयस्य प्रत्यक्षत्वं तथापि विषयस्यापरोक्षत्वं संद्विदभेदादिति विवरणे तत्र तत्र च साम्प्रदायिकैः प्रमात्रभेदस्यैव विषयप्रत्यक्षलक्षणत्वेनाभिधानादेवमुक्तम्-वेदान्त परिभाषा पर शिखामणि टीका। —पृ० 75 मुम्बई 1911, वेंकटेश्वर प्रेस।

2 वही।

3 तस्मादव्यवधानेन संविदुपाधितया परोक्षता विषयस्य—पंचपादिकाविवरण— पृ० 50, बनारस, 1892।

4 यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि 'संविद्' का अर्थ ज्ञानोत्पादक विज्ञान अथवा इन्द्रिय

प्रत्यक्ष-प्रक्रिया में अभेद केवल विषय के मूलगत चैतन्य एवं द्रष्टा के मूलगत चैतन्य के मध्य होता है, और निरपेक्ष होने के कारण इस अभेद का यह आशय नहीं कि 'मैं पुस्तक हूँ' के भाव में फलित होने वाले ऐक्य-संबंध की पुष्टि होती है।[1] निस्सन्देह ऐसा होता है, परन्तु उठाई गई आपत्ति का यह शायद ही उत्तर हो सकता है। यह सत्य है कि विषयी और विषय दोनों ही भेदरहित शुद्ध चैतन्य पर अविद्या का अध्यासमात्र ही हैं; परन्तु इससे विषयी-विषय अनुभूतिमय जटिल जगत् के नानाविध अनुभवों की शायद ही व्याख्या हो सके। 'पंचपादिकाविवरण' में प्रतिपादित प्रत्यक्ष के वेदान्ती दृष्टिकोण का बौद्ध विज्ञान-वाद से इस बात में भेद है कि बौद्ध विषयों को विज्ञान से भिन्न कोई स्वतंत्र स्थिति नहीं प्रदान करते हैं, जबकि वेदान्त बाह्य जगत् के प्रत्यक्ष में विषयों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति को स्वीकार करता है।[2] अतः दृश्य विज्ञान एवं विषय में अन्तर है, परन्तु उनमें एक अपरोक्ष एवं प्रत्यक्ष सम्बन्ध भी है, और विज्ञप्ति के साथ इस अपरोक्ष सम्बन्ध में ही विषय की संविद् उपाधिता है। (अव्यवधानेन संविदुपाधिता अपरोक्षता विषयस्यविवरण, पृ॰ 50)। प्रत्यक्ष में विषय का प्रकाश केवल संविद् के विषय के रूप में ही होता है, जबकि संविद् एवं विषयी स्वयं का अपरोक्ष रूप से न कि अन्य किसी अनुमान अथवा अन्तर्ज्ञान के विषय के रूप में प्रकाशन करता है (प्रमेयं कर्मत्वेन अपरोक्षं, प्रमातृप्रमिती पुनरपरोक्षे एवं केवलं न कर्मतया)।[3]

तथापि 'वेदान्त कौमुदी' की मान्यताओं को किसी भी अर्थ में मौलिक नहीं माना जा सकता क्योंकि वे पद्मपाद कृत 'पंचपादिका' तथा प्रकाशात्मा कृत 'पंचपादिका विवरण' में वर्णित विषयों की व्याख्या मात्र हैं। प्रत्यक्ष के सम्पूर्ण सिद्धान्त के विकास का श्रेय 'पंचपादिकाविवरण' को दिया जा सकता है, क्योंकि प्रत्यक्ष सिद्धान्त के समस्त सारभूत विषयों का अवलोकन उस कृति में किया जा सकता है। अतः, इसके अनुसार समस्त सांसारिक विषय अविद्या से आवृत हैं, जैसे-जैसे विषयों पर अध्यास के कारण अन्तःकरण की अवस्थाओं का रूपान्तरण होता है, वैसे-वैसे मूलगत चैतन्य द्वारा वह प्रकाशित होता जाता है, तथा विषयों के साथ देशीय संपर्क के द्वारा यह अन्तःकरण का रूपान्तरण विषयों के आवरण को हटा देता है, इससे दो स्पष्टीकरण सामने आते हैं, वे हैं; अन्तःकरण के रूपान्तरण का (जिन्हें 'वेदान्तकौमुदी' एवं 'वेदान्त परिभाषा' में 'वृत्ति' कहा गया है) तथा शुद्ध चैतन्य

संभूत ज्ञान है न कि प्रमाता (अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य) जैसा कि शिखामणि-कार का कथन है। अतः तत्त्वदीपन भाष्य में अखंडानन्द संविद् शब्द की व्याख्या इस प्रकार करते हैं : संविच्छब्देन इन्द्रियार्थसम्प्रयोगजज्ञानस्य विवक्षित तत्वात्।

—तत्त्वदीपन पृ. 194 बनारस, 1902।

1 वेदान्त परिभाषा, पृ. 76-77।

2 न च विज्ञानाभेदादेव आपरोक्ष्यमवभासते बहिष्ट्वस्यापि रजतादेरापरोक्ष्यात्।

—पंचपादिका विवरण, पृ. 50।

3 पंचपादिका, पृ॰ 17 बनारस, 1891।

को; विषय के मूलगत चैतन्य और अन्तःकरण (अर्थात्-विषयी) के मूलगत चैतन्य के ऐक्य होने पर प्रत्यक्षगत द्वैत (यथा: 'मैं पुस्तक का प्रत्यक्ष करता हूँ' और 'मैं पुस्तक हूँ' और केवल 'मैं पुस्तक हूँ' रूप की ही तीनों चैतन्यों के ऐक्य से अपेक्षा की जा सकती है की व्याख्या की आवश्यकता नहीं रहने के प्रश्न के उत्तर में प्रकाशात्मा का कथन है कि अन्तःकरण चैतन्य (विषय) के साथ विषय-चैतन्य का ऐक्य अन्तःकरण की वृत्ति अथवा विकार द्वारा प्रतिपादित होने के कारण, तथा अन्तःकरण का उसकी वृत्ति के साथ ऐक्य होने के कारण, वृत्ति के व्यापार को अन्तःकरण का कारक मानना उचित है; तथा यह अंतःकरण के मूलगत चैतन्य द्वारा प्रकाशित होता है जिसके परिणामस्वरूप प्रमाता को प्रत्यक्ष होता है जो विषय के उस प्रकाशन से भिन्न है जो देशीय अध्यास में वृत्ति के व्यापार का लक्ष्य होता है—अतः प्रत्यक्ष में विषयी एवं विषय का भेद, विषयी एवं विषय के संदर्भ में वृत्ति के रूप अथवा अवस्था के भेद के कारण होता है।[1] ठीक यही व्याख्या 'वेदान्तकौमुदी' में की गई है और ऊपर यह प्रदर्शित किया जा चुका है कि 'वेदान्तपरिभाषा' की व्याख्याएँ उससे अत्यधिक भिन्न हैं तथा यह अधिक संभव है कि वे अपूर्ण हैं। वृत्ति द्वारा विशिष्ट विषयी (विशिष्ट अन्तःकरण द्वारा अवच्छिन्न चैतन्य) तथा विशिष्ट विषय (विषयों के संघटक विशिष्ट अविद्या उपादानों से अवच्छिन्न चैतन्य) में उस ऐक्य की स्थापना के कारण इस एक्य का परिणाम केवल एक विषयीविशेष एवं एक विषयविशेष न कि समस्त विषयियों तथा विषयों का प्रकाशन हो सकता है।[2] इसका इस मत में विस्तार किया गया है कि अज्ञानावरणों की संख्या अनन्त है तथा प्रत्येक ज्ञानात्मक प्रकाश एक विषय से सम्बद्ध केवल एक अज्ञान का निराकरण करता है।[3] परन्तु यह भी रामाद्वय का मौलिक योगदान नहीं है क्योंकि इसको भी उनके पूर्वज आनन्दज्ञान ने अपने तर्कसंग्रह में तथा अन्यों ने प्रचलित कर दिया था।[4] सम्पूर्ण विवेचन का उद्देश्य यह है कि मनस् प्रमाण के अवसर

---

1 देखिए पंचपादिका विवरण पृ० 70, तथा तत्त्वदीपन, पृ० 256–259, बनारस, 1902।

2 एतत्प्रमातृचैतन्याभिन्नतयैव अभिव्यक्तं तद्विषयचैतन्यं न प्रमात्रन्तरचैतन्याभेदेन अभिव्यक्तमतो न सर्वेषामवभास्यत्वम्। —पंचपादिका विवरण, पृ० 71।

3 यावन्ति ज्ञानानि तावन्ति स्वतंत्राणि परतन्त्राणि वा अज्ञानानि ततो न दोषः।
—वेदान्त कौमुदी, पांडुलिपि, पृ० 43।

4 सिद्धांत यह है कि अज्ञान आवरण असंख्य हैं, वृत्ति-विषयसंयोग होते ही आवरण दूर होकर विषय प्रकाशित हो जाता है, अगले ही क्षण पुनः विषय के आवरक अज्ञानावरण होने पर पुनः वृत्ति-विषय से संयोग होकर पुनः विषयप्रकाश होता है; तथा उस प्रकार जब काल में प्रत्यक्ष होता रहता है तो आवरण और उनका निवारण अत्यन्त द्रुत क्रम में होते रहते हैं। इस क्रम की द्रुतता के कारण उसको देख पाना संभव नहीं (वृत्तिविज्ञानस्य सावयवत्वाच्च ह्रासदशायां दीपज्वालाया इव तमोऽन्तरंमोहान्तरमावरितुम् विषयं प्रवर्तते ततोऽपि क्रममाणं क्षणान्तरे सामग्यनुसारेण विज्ञानान्तरं विषयावरणभंगेनैव स्वकार्यं करोति, तथा सर्वाण्यपि अति

पर मनस् एवं प्रमाण दोनों ही प्रमातृ-चैतन्य एवं विज्ञप्ति के रूप में अन्तःस्थित शुद्ध चैतन्य द्वारा उत्तेजित एवं प्रकाशित हो जाते हैं, तथा प्रमाण के संयोग से विषय भी न केवल विज्ञप्ति के अवयव के रूप में अपितु बाह्य जगत् में भासमान विषयपरक तथ्य के रूप में प्रकाशित होता है। विषयों का ज्ञान, अतः, प्रमाता के रूप में न तो आत्मा का गुण मात्र ही है, जैसा नैयायिकों का मत है, और न आत्मा का विषय से अपरोक्ष संयोग ही है (संयोग के केवल प्रमाण द्वारा ही होने के कारण); ज्ञान को आत्मा का ऐसा अप्रत्यक्षीकृत स्पन्दन, विकार अथवा परिणाम भी नहीं मानना चाहिए, जिसका अनुमान ज्ञातता से हो सके, जैसा कुमारिल का मत है, और न विषय के प्रकाश को विषयपरक तत्त्व के रूप में संबद्ध अभिव्यक्ति के अभाव में विज्ञान का रूप मात्र ही मानना चाहिए (विषयाभिव्यक्तिर्नाम विज्ञाने तदाकारोल्लेखमात्रं न बहिरंगरूपस्य विज्ञानाभिव्यक्तिः), जैसा कि बौद्ध विषयीपरक विज्ञानवादियों का मत है। विषय के साथ अपने संयोग से पूर्व प्रमाण अभेदित विज्ञान मात्र है, जिसका केवल विषयपरक प्रसंग ही होता है एवं जो इन्द्रिय धर्मों की समस्त विशेषताओं से रिक्त है। बाद में, यह विज्ञान जिन विषयों के सम्पर्क में आता है उनके अनुसार ही इन्द्रिय धर्मों को ग्रहण कर लेता है तथापि यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि प्रमाण एक अमूर्त भाव नहीं है अपितु एक यथार्थ सत्त्व-उपादान मन (अन्तःकरण) की क्रियाशील परिणति है।[1] क्योंकि एक ही विषय के हमारे निरन्तर प्रत्यक्ष में ज्ञान-कर्मों का एक द्रुत क्रम होता है जिसमें प्रत्येक ज्ञान-कर्म विषय के प्रकाशन से पूर्व विषय को आवृत करने वाले बौद्धिकतम का विनाश कर देता है, इसलिए विषयों से भिन्न तत्त्व के रूप में काल का पृथक् प्रत्यक्ष नहीं होता, काल प्रत्यक्ष ज्ञान-कर्मों के क्रम का प्रत्यक्ष मात्र है; तथा जिसे वर्तमान काल माना जाता है, वह वस्तु है जिसमें क्रमिक-काल-क्षण एक स्थिर काल में लीन हो गए हैं; उसी स्थिर काल को जो तत्त्वतः क्षणिक ज्ञान-क्रियाओं तथा विज्ञप्तियों का लय मात्र है, वर्तमान काल की संज्ञा दी जाती है।[2] अतः रामाद्वय के

शैघ्र्यात्तु ज्ञानभेदवदावरणान्तरं न लक्ष्यते, वेदान्त कौमुदी, पांडुलिपि, पृ० 46) वेदान्त कौमुदी का यह मत 'वेदान्त परिभाषा' के इस मत से भिन्न है कि एक ही विषय के निरन्तर प्रत्यक्ष से भिन्न क्रमिक विज्ञान न होकर एक अविकारी निरन्तर वृत्ति होती है न कि विभिन्न अज्ञानों की निवारक विभिन्न वृत्तियाँ (किं च सिद्धान्ते धारावाहिकबुद्धिस्थले न ज्ञानभेदः किन्तु यावद्घटस्फुरणं तावद् घटाकारांतःकरणवृत्तिरेकैव न तु नाना वृत्तेः स्वविरोधिवृत्त्युत्पत्तिपर्यन्तं स्थायित्वाभ्युपगमात्।

—वेदान्त परिभाषा, पृ० 26, 27, बम्बई, 1911।

1 अतः सावयवसत्त्वात्मकमन्तःकरणमेव अनुद्भूतरूपस्पर्शमदृश्यमस्पृश्यं च विषयाकारेण परिणमते। —वेदान्त कौमुदी, पांडुलिपि, पृ. 42।

2 न कालः प्रत्यक्षगोचरः····· स्तम्भादिरेव प्रागभावनिवृत्तिप्रध्वंसानुत्पत्तिरूपो वर्तमानः तदवच्छिन्नः कालोऽपि वर्तमानः स च तथाविधोऽनेकज्ञानसाधारण एवं न चैतावता ज्ञानयौगपद्यापत्तिः सूक्ष्मकालापेक्षया क्रमसम्भवात्, न च सूक्ष्मकालोपाधीनामप्रतीतिः कार्यक्रमेणैव उन्नीयमानत्वात्।

—वेदान्त कौमुदी, पांडु. पृ. 20–22।

अनुसार प्रत्यक्ष की परिभाषा में प्रत्यक्ष की पृथक् सामग्री के रूप में विषय से इतर एक पृथक् तत्त्व के रूप में वर्तमान काल का समावेश नहीं होगा, क्योंकि उनका मत काल को विषयपरक तत्त्व के रूप में अस्वीकार करता है तथा उसे ज्ञान-प्रक्रिया का एक रूप मात्र मानता है।

रामाद्वय की प्रमा की परिभाषा भी धर्मराजाध्वरीन्द्र की परिभाषा से भिन्न है। रामाद्वय प्रमा की परिभाषा ऐसे अनुभव के रूप में करते हैं जो अपने विषय को मिथ्या रूप से प्रस्तुत नहीं करता है (यथार्थानुभावः प्रमा) और प्रमाण उसे बताते हैं जो प्रमा को प्राप्त कराता है।[1] शाब्दिक दृष्टि से यह परिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्र की परिभाषा से बिलकुल भिन्न है। धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार प्रमा के लिए दो आवश्यक अवस्थाएँ ये हैं कि यह पहले से ज्ञात का ज्ञान न हो (अनधिगत) तथा यह व्याघात रहित हो।[2] तथापि द्वितीय अवस्था रामाद्वय की परिभाषा से शाब्दिक भेदमात्र को प्रदर्शित करती प्रतीत होती है; परन्तु इसका आशय शाब्दिक भेद से कहीं अधिक हो सकता है क्योंकि यद्यपि व्याघात का अभाव (धर्मराजाध्वरीन्द्र की अवस्था) तथा मिथ्या प्रस्तुतीकरण का अभाव (रामाद्वय की अवस्था) का अर्थ एक ही वस्तु हो सकता है; तथापि प्रथम अवस्था में सत्य की परिभाषा द्वितीय अवस्था की अपेक्षा अधिक विषयीपरक हो जाती है, क्योंकि प्रस्तुतीकरण का अभाव एक विषयपरक संदर्भ एवं एक विषयपरक निश्चितता से संबद्ध है। एक विज्ञप्ति किसी विषय को मिथ्या रूप से प्रस्तुत कर सकती है, परन्तु फिर भी किसी एक अथवा अनेकों द्रष्टाओं को व्यक्तिगत जीवन में उसका व्याघात नहीं दृष्टिगोचर हो। सत्य की ऐसी परिभाषा की अपने विषय के संदर्भ में कोई निश्चित सीमा नहीं होने के कारण सत्य की यह परिभाषा अत्यन्त सापेक्ष हो जाती है। यदि यह विचार किया जाए कि विषय पर अन्तःकरण के विकार (जो इसकी ज्ञान-प्रक्रिया है) के यथार्थ देशीय अध्यास के विषय में वेदान्त द्वारा कथन किया गया है तो सत्य की वेदान्तपरिभाषा का यथार्थ होना न कि विषयीपरक अथवा सापेक्ष होना अपेक्षित है। वेदान्त विज्ञानवाद इस बात से सन्तुष्ट है कि विषयों के साथ ये बोधात्मक सम्बन्ध चाहे कितने ही यथार्थ क्यों न हों, तो भी वे अध्यास एवं प्रतीतियाँ ही हैं जिनका परम आधार एक अविकारी चैतन्य है। विषयों को मिथ्या रूप से प्रस्तुत न करने वाले (यथार्थानुभव) विज्ञान के रूप में की गई रामाद्वय की प्रमा की परिभाषा को सदोष नहीं पाया जा सका क्योंकि वेदान्त के अनुसार जगत् का समस्त द्वैत अनुभव मिथ्या है, इसका कारण यह है कि यद्यपि अनन्तः अनुभव ऐसा ही है तो भी समस्त व्यावहारिक आशयों के लिए इसकी एक यथार्थ सत्ता है, तथा रामद्वय अपने उस दृष्टिकोण को न्यायसंगत बताने के लिए 'इष्टसिद्धि' का उल्लेख करते हैं।

---

1 वही पृ. 16।

2 तत्र स्मृतिव्यावृत्तम् प्रमात्वमनधिगताबाधितार्थविषयज्ञानत्वम्।

—वेदान्तपरिभाषा, पृ. 20।

जहाँ तक दूसरे विषय, अर्थात् प्रमा को सदा पूर्व में अज्ञात से परिचय कराने (अनधिगत), का प्रश्न है, रामद्वय निश्चित रूप से ऐसे सुझाव को अस्वीकार करते हैं।[1] उनका कथन है कि प्रायः ऐसा होता है कि हमें उन वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है, जिनका हमें पहले ही प्रत्यक्ष हो चुका है, और इसी से प्रत्यभिज्ञा संभव होती है, तथा यदि हम उनके प्रमात्व को अस्वीकार करें तो प्रमारूप में जो विश्वजनीन रूप से स्वीकृत हैं उनमें से बहुतों का हमें त्याग करना होगा। यह भी अगम्य है कि किसी विषय के निरन्तर प्रत्यक्ष में विषय में नवीन गुणों का उदय कैसे संभव है, जिससे कि प्रतिक्षण प्रमा के रूप में चैतन्य की यथार्थता को न्यायोचित बताया जा सके, और न यह कहा जा सकता है कि ज्ञानेन्द्रियां किसी विषय की प्रमा (जो कुछ क्षण स्थिर रहती है तथा क्षणिक नहीं है) को उत्पन्न करने के पश्चात् नवीन विज्ञान की उत्पत्ति होने तक निष्क्रिय हो जाती हैं। अतः प्रत्यक्ष की आवश्यक अवस्था के रूप में अनधिगत तत्त्व के समावेश करने का कोई औचित्य नहीं है। प्रत्यक्ष एवं अनुमान के भेद की ओर ध्यान देते हुए रामाद्वय का कथन है कि अनुमान में अनुमित विषय किसी सामग्री का निर्माण नहीं करता, तथा अनुमित विषय (यथा अग्नि) से अन्तःकरण का कोई प्रत्यक्ष एवं अपरोक्ष संयोग नहीं होता। अनुमान में अन्तःकरण हेतु अथवा लिंग (यथा धूम) मात्र के ही संपर्क में होता है और इसके द्वारा (लिंगादिबललब्धाकारोल्लेखमात्रेण) मन में (यथा, अग्नि की सत्ता के विषय में) एक विज्ञान की उत्पत्ति होती है जिसे अनुमान कहा जाता है।[2]

ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य के विषय में धर्मराजाध्वरीन्द्र के समान रामाद्वय दोष के अभाव (दोषाभाव) को स्वतः प्रामाण्य की परिभाषा में सम्मिलित नहीं करते हैं। यह स्मरण ही होगा कि धर्मराजाध्वरीन्द्र ने ज्ञान के प्रामाण्य की परिभाषा किसी विषय के यथागत रूप के धर्म को निर्देशित करने वाले विज्ञान के रूप में की है (तद्वति तत्प्रकारक-ज्ञानत्वम्) जबकि स्वतः प्रामाण्य की परिभाषा मूलगत साक्षी-चैतन्य द्वारा विज्ञान (जिसके प्रामाण्य की पुष्टि की जाती है) के सुनिश्चित प्रकारों के अनुसार तथा किसी दोष के अभाव में विज्ञान की विषयपरक अवस्थाओं के अनुसार इस प्रामाण्य की स्वीकृति के रूप की है।[3] तथापि रामाद्वय ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य के कुमारिल मत का अति निकट से अनुसरण करते हैं तथा उसकी परिभाषा उससे करते हैं जो उस ज्ञान की यथार्थ सामग्री

---

1 अज्ञातज्ञापनं प्रमाणमिति तदसारम्।

—वेदान्तकौमुदी, पांडुलिपि, पृ. 18।

2 वेदान्त कौमुदी, पांडुलिपि पृ. 47, अनुमान के वेदान्ती दृष्टिकोण की प्राचीनतम व्याख्याओं में से एक प्रकटार्थ विवरण में उपलब्ध है, जिसकी वेदान्त कौमुदी प्रायः ऋणी है।

3 दोषाभावे सति यावत्स्वाश्रयग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वं, स्वाश्रयो वृत्तिज्ञानम्; तद्ग्राहकं साक्षिज्ञानं तेनापि वृत्तिज्ञाने गृह्यमाणे तद्गतं प्रामाण्यमपि गृह्यते।

—वेदान्तपरिभाषा, पृ. 336–337।

से उद्भूत होकर अन्य स्रोतों से प्राप्त किसी तत्त्व का अपने में समावेश नहीं करता।[1] किसी दोषों अथवा विकृति कारक तत्त्वों की विद्यमानता का परकालीन ज्ञान किसी ज्ञान को अप्रामाण्य बना सकता है, परन्तु जब तक ऐसे दोष ज्ञान नहीं हो जाते, तब तक प्रत्येक ज्ञान ऐसे ही कारणों से स्वतः प्रामाण्य है जैसे कारणों को कुमारिल ने माना है, तथा जिनका विवेचन पूर्व ही हो चुका है।[2] इस संबंध में रामाद्वय यह प्रदर्शित करते हैं कि हमारे ज्ञान पूर्णतः आन्तरिक घटनाएँ हैं तथा विषयों के सम्पर्क में नहीं रहते हैं और यद्यपि, विषयों का प्रकाशन बाहर होता है तो भी अपनी आन्तरिक अवस्थाओं गुणों तथा अवगुणों के कारण ही हमें उनका प्रत्यक्ष होता है।[3]

विद्यारण्य (ई. प. 1350)

सर्वदर्शनसंग्रह के अतिरिक्त माधव ने शांकर वेदान्त दर्शन पर 'विवरणप्रमेय 'संग्रह' तथा 'पंचदशी' नामक दो ग्रंथ तथा 'जीवन्मुक्तिविवेक' भी लिखे। इनमें से प्रथम प्रकाशात्माकृत पंचपादिकाविवरण का स्वतन्त्र अध्ययन है; इसमें माधव ने प्रकाशात्मा के तर्कों को अपने ही ढंग से विशद किया है। उनकी अन्य कृति 'पंचदशी' एक लोकप्रिय पद्यसंग्रह है। इन दोनों कृतियों को अपनी स्पष्ट एवं 'ओजस्वी शैली तथा शब्द-चयन के कारण अत्यधिक प्रतिष्ठा मिली। यह प्रसिद्ध है कि विद्यारण्य तथा महान् वेदभाष्यकार सायण के भ्राता माधव एक ही हैं। वे शंकरानन्द के शिष्य थे, शंकरानन्द ने उपनिषदों पर अल्प महत्त्व के कुछ ग्रंथ लिखे हैं।[4]

'पंचदशी' में विद्यारण्य 'विवरण' के इस वेदान्त दृष्टिकोण को दुहराते हैं कि हमारे जाग्रत अवस्था अथवा स्वप्नों में, अथवा निःस्वप्न अवस्था में किसी भी क्षण चैतन्य का अभाव नहीं होता जैसाकि निःस्वप्न अवस्था के बाद की अनुभव की स्मृति से स्पष्ट है। अतः चैतन्य का प्रकाश किसी भी विकार अथवा अस्थिरता के बिना ही सदा विद्यमान रहता है। अतः इसे अन्ततोगत्वा यथार्थ मानना चाहिए। यह स्वप्रकाश है तथा इसका उदय वा अस्त नहीं होता।[5] यह आत्मा शुद्ध आनन्द है, क्योंकि अपनी आत्मा के समान

---

1 विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति यत्तदन्यजन्यत्व तदाभावस्यैव स्वत स्त्वोत्तयंगीकारात्—वेदान्तकौमुदी–पांडुलिपि–पृ. 52 । ज्ञप्तावपि ज्ञानज्ञापकसामग्रीमात्रज्ञाप्यत्वं स्वतस्त्वम् । —वही पृ. 61।

2 ए हिस्ट्री ऑव् इण्डियन फिलासफी, खंड, 1–कैम्ब्रिज 1922, पृ 372-375।

3 प्राकट्येन युक्तस्यापि तस्य न सर्वेविदितत्वं स्वप्रकाशमपि प्राकट्यं कस्यचिदेवादृष्टयोगात्स्फुरति न गुणत्वे ज्ञानस्य कथंचिदर्थयोगः समस्तीति ।
वेदान्तकौमुदी; पांडुलिपि–पृ. 67–68।

4 भारतीतीर्थ और विद्यातीर्थ भी विद्यारण्य के गुरु थे। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि विद्यारण्य के तीन गुरु थे, भारती तीर्थ, विद्यातीर्थ तथा शंकरानन्द।

5 नोदेति नास्तमेत्येका सम्विद् एषा स्वयंप्रभा-पंचदशी 1·7 वसुमति संस्करण, कलकत्ता, 1907।

हम अन्य किसी से भी इतना प्रेम नहीं करते हैं। यदि आत्मा का स्वभाव आवरणहीन होता तो हमें इन्द्रियार्थों में कोई सुख नहीं प्राप्त होता। आत्मा के अधिकृतः आवृत होने के ही कारण हमें आत्मज्ञान मात्र से संतोष नहीं होता, और हम इन्द्रियार्थों के अन्य सुखों के लिए लालायित रहते हैं। माया इस आवरण का कारण है तथा उसका नानाविध जगत्प्रपंचों की उत्पादक शक्ति के रूप में वर्णन किया गया है। इस शक्ति को पूर्णतः न तो सत्य और न असत्य ही माना जा सकता है। तथापि, यह ब्रह्म के एक अंश के साथ न कि उसके सम्पूर्ण के साथ संयुक्त है तथा ब्रह्म के एक अंश के साथ अपने संयोग से ही वह अपने आपको विभिन्न तत्त्वों तथा उनके विकारों में परिणत कर देती है। इस प्रकार जगद् के समस्त विषय ब्रह्म एवं माया के मिश्रणमात्र है। ब्रह्म समस्त वस्तुओं का भाव है तथा भाव से एक रूप प्रतीत होने वाला सब कुछ माया का अंश है। ब्रह्म की शक्ति के रूप में माया विश्व के समस्त सम्बन्धों और व्यवस्था का नियमन करती है। ब्रह्म के चैतन्य के संयोग से यह ऐसी चैतन्यशक्ति के रूप में आचरण करती है, जो वस्तुओं के समस्त गुणों की व्यवस्थितता, उनके आन्तरिक सम्वन्ध एवं आन्तरिक कार्यों के लिए उत्तरदायी है।[1] जगत्प्रतीति की उन्होंने एक ऐसे चित्र से उपमा दी है जिसमें श्वेत पट ब्रह्म है, श्वेत वर्ण अन्तर्यामी है, कृष्णवर्ण महाभूतों का नियंता (सूत्रात्मा) है और विविधवर्णता पांचभौतिक जड़ जगत् का नियंता (विराट्) है, तथा उसमें चित्रित समस्त आकृतियाँ इस जगत् के प्राणी एवं अन्य विषय हैं। माया के माध्यम से प्रतिविम्बित होकर, ब्रह्म ही विविध आकृतियों और धर्मों को ग्रहण करता है। जीवात्माओं की मिथ्या प्रतीति का कारण विषयीपरकत्वमाया का फल–के साथ मूलस्थित शुद्ध-चैतन्य-ब्रह्म का मिथ्या तादात्म्य है। तत्पश्चात् विद्यारण्य वेदान्त के सामान्य विषयों का वर्णन करते हैं। इनका विवेचन पहले ही किया जा चुका है। विद्यारण्य की पंचदशी की मुख्य एवं महत्त्वपूर्ण विशेषता वेदान्त के सुप्रतिष्ठित सिद्धान्तों की एक स्पष्ट, लोकप्रिय एवं आकर्षक ढंग से निरन्तर आवृत्ति करना है। यह पुनरावृत्ति आत्मज्ञान के वेदान्ती मार्ग में अपने मन को दीक्षित करने के इच्छुक लोगों के लिए अत्यग्त सहायक है।[2] उनका विवरण 'प्रमेय संग्रह' अधिक पांडित्यपूर्ण ग्रंथ है, परन्तु इसमें उल्लिखित विषयों के पृथक् वर्णन की यहाँ आवश्यकता नहीं है क्योंकि इस अध्याय में तथा इससे पहले अध्याय में प्रस्तुत वेदांत के वर्णन के लिए मुख्य पथप्रदर्शक के रूप में 'पंचपादिकाविवरण' का सामान्यतः अनुसरण

---

1 शक्तिरस्त्यैश्वरी काचित् सर्ववस्तुनियामिका, 38—चिच्छायावेशतः शक्तिश्चेतनेव विभाति सा, 40 वही 3।

2 पंचदशी पर चार टीकाएँ हैं–तत्त्वबोधिनी, स्वामी निश्चलदास कृत 'वृत्तिप्रभाकर' रामाद्वय कृत 'तात्पर्यबोधिनी' तथा सदानंद कृत एक टीका। परम्परागत यह विश्वास है कि 'विद्यारण्य एवं भारतीतीर्थ ने संयुक्त रूप से पंचदशी की रचना की। स्वामी निश्चलानंद अपने 'वृत्तिप्रभाकर' में यह प्रदर्शित करते हैं कि विद्यारण्य पंचदशी के प्रथम दश अध्यायों के रचयिता थे और भारतीतीर्थ शेष पांच के। तथापि सप्तम अध्याय पर अपनी टीका के प्रारम्भ में भारतीतीर्थ को उस अध्याय का लेखक बताते हैं और यह इस अन्य परम्परा से मेल खाता है कि प्रथम छः अध्यायों की रचना विद्यारण्य ने की और शेष नौ की भारतीतीर्थ ने।

करते हुए उसके ही भावों का उस ग्रंथ में विस्तार किया गया है तथा कुछ ही विचार ऐसे हैं जिनको वेदान्त विचारधारा के विकास में विद्यारण्य का मौलिक योगदान माना जा सके।[1] 'जीवमुक्तिविवेक' के सार का प्रयोग वर्तमान ग्रंथ के प्रथम खंड के दशम अध्याय के सत्रहवें अनुभाव में पहले ही किया जा चुका है; यह एक आचार संबंधी पुस्तिका है, जिसमें न्यूनाधिक उन्हीं विषयों का उल्लेख है जिनका सुरेश्वर कृत 'नैष्कर्म्यसिद्धि' में उल्लेख है।

नृसिंहाश्रम मुनि (ई. प. 1500)

नृसिंहाश्रम मुनि (ई. प. 1500) गीर्वाणेन्द्र सरस्वती एवं जगन्नाथाश्रम के शिष्य तथा 'भेदधिक्कार' के टीकाकार नारायणाश्रम के गुरु थे। उन्होंने कई ग्रंथों की रचना की, यथा, अद्वैतदीपिका, अद्वैतपंचरत्न, अद्वैतबोधदीपिका, अद्वैतवाद, भेदधिक्कार, वाचारम्भण, वेदान्ततत्त्वविवेक, तथा संक्षेपशारीरक एवं पंचपादिकाविवरण-तत्त्वबोधिनि और पंचपादिकाविवरणप्रकाशिका नामक टीकाएँ। नृसिंहाश्रम अपने समकालीनों के मध्य अत्यधिक सुविख्यात थे, परन्तु ऐसा प्रतीत नहीं होता है कि उन्होंने वेदान्त में किन्हीं नवीन विचारों को प्रचलित किया हो। माया के स्वरूप एवं उसकी रचना का तथा जिस प्रकार से माया को जगत्प्रपंच का उपादान माना जा सकता है उसका अन्वेषण करने की अपेक्षा उनकी रुचि ब्रह्म के साथ आत्मा के ऐक्य तथा जगत्प्रतीति के मिथ्या स्वरूप पर बल देने में अधिक है। वह जगत्प्रतीति के मिथ्यात्व की परिभाषा उसके प्रकट होने के आश्रय में उसके अभाव के रूप में ही करते हैं (प्रतिपन्नोपाधावभावप्रतियोगित्व)[2] जब शुक्तिरजवत् प्रतीत होती है तो रजत सत्प्रतीत होता है परन्तु सत् रजतस्वरूप नहीं हो सकता (न तावद्रजतस्वरूपं सत्)। इसी प्रकार जब-जब हम जगत्प्रतीति को सत् मान लेते हैं तो जगत्प्रतीति भी सत् स्वरूप नहीं हो सकती; उनके साथ उसका ऐक्य अवश्य ही मिथ्या है।[3] उसी प्रकार स्वप्रकाश आत्मा में विषयि परकता अथवा अहंकारी धर्मों की प्रतीति भी मिथ्या है, क्योंकि दोनों बिल्कुल भिन्न है तथा उनका ऐक्य नहीं हो सकता है। तथापि, नृसिंहाश्रम नैयायिक तर्कों अथवा अनुभव के उल्लेख के द्वारा यह प्रदर्शित नहीं कर सकते कि विषयपरकता अथवा अहंकार (जिसे वह अन्तःकरण भी कहते हैं) आत्मा से भिन्न है, तथा वह वेदान्त-सिद्धान्त के लिए मूलभूत महत्त्व के इस विषय को सिद्ध करने के लिए उपनिषद्-वचनों का आश्रय लेते हैं। प्रत्यक्षीकरण के स्वरूप के स्पष्टीकरण में वह हमारे सामने उसी प्रकार वर्णन प्रस्तुत करते हैं जैसा कि इस ग्रंथ के प्रथम खंड के दशम अध्याय

---

1 उन्होंने विवरण पर एक अन्य ग्रंथ विवरणोपन्यास की भी रचना की। अप्पय दीक्षित अपने सिद्धान्तलेश में पृष्ठ 68 पर इसका उल्लेख करते हैं· विवरणोपन्यासे भारती तीर्थवचनम्।

2 वेदान्ततत्त्व विवेक पृ. 12 दी पंडित; जिल्द 25 मई, 1903 इस ग्रंथ पर तत्त्वविवेकदीपन तथा भट्टोजी कृत तत्त्वविवेक दीपन व्याख्या नामक दो महत्त्वपूर्ण टीकाएँ हैं।

3 वेदान्त तत्त्वविवेक—पृ. 18।

में वर्णित ढंग से उनके शिष्य धर्मराजाध्वरीन्द्र ने अपनी 'वेदान्तपरिभाषा' में प्रस्तुत किया है।[1] वह आत्मा को सुखरूप मानते हैं और यह स्वीकार नहीं करते कि आत्मा और सुख में कोई भेद है। (स चात्मा सुखान्न भिद्यते)।[2] उनकी अज्ञान की परिभाषा चित्सुख की अज्ञान की इस परिभाषा के समान ही है कि अज्ञान अनादि उपादान कारण है जिसकी निवृत्ति यथार्थ ज्ञान द्वारा सम्भव है।[3] इस प्रकार व्यवहारत उनके वेदान्त को प्रस्तुत करने में कोई नवीन तर्क-पद्धति नहीं है। तात्त्विक विवेचन के तर्कों में, उनके भेद-धिक्कार में भेद के खंडन से उनके प्रयासों में उनके महान् पूर्वज श्रीहर्ष और चित्सुख उनके पूर्वगामी थे।

अप्पय दीक्षित (ई. प. 1550)[4]

अप्पय दीक्षित द्वारा षोडश शताब्दी के प्रारम्भ काल में विद्यमान नृसिंहाश्रम मुनि के उल्लेख के कारण, अप्पय दीक्षित का काल संभवतः मध्य षोडश शताब्दी है। वह एक महापंडित थे, संस्कृत भाषा की अनेक शाखाओं में उनकी गति थी तथा कई विषयों पर उन्होंने अनेक ग्रंथ लिखे। उनके पितामह आचार्य दीक्षित थे, जो अपने पांडित्य के लिए हिमालय से भारत के धुर दक्षिण तक विख्यात थे; अप्पय दीक्षित के पिता का नाम रंगराज मखीन्द्र (अथवा सीधा राजा मखीन्द्र) था। तथापि अप्पय दीक्षित के वेदान्त-सिद्धांतों में कुछ भी महत्त्वपूर्ण नहीं है। क्योंकि अपने पांडित्य के उपरान्त भी वह एक अच्छे संकलनकर्ता थे न कि मौलिक विचारक; तथा जहाँ उनको अपने मौलिक विचारों को प्रस्तुत करने का अवसर मिला, ऐसे कई स्थलों पर अन्यों के विचारों को प्रस्तुत करके ही सन्तुष्ट हो जाते हैं ह कहा जाता है कि अपने जीवन के दो भिन्न कालों में उनके दो भिन्न, शैव तथा वेदान्ती, धार्मिक विचार थे। परन्तु उसके विषय में कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनके ऐसे सर्वतोमुखी पांडित्य के कारण उनके द्वारा लिखित शैव-टीका और वेदान्ती-टीका से यह कल्पना नहीं की जा सकती कि उन्होंने अपना धर्म परिवर्तन किया था। ब्रह्म-सूत्र पर श्रीकण्ठ कृत शैव-भाष्य पर अपनी 'शिवार्क-मणि-

---

1 यदाऽन्तःकरणवृत्त्या घटावच्छिन्नचैतन्यमुपधीयते तदा अन्तःकरणावच्छिन्न-घटावच्छिन्नचैतन्ययोवस्तुत एकत्वेऽप्युपाधिभेदाद् भिन्नयोरभेदोपाधिसंबंधेन ऐक्याद् भवत्यभेद इत्यन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यस्य विषयाभिन्नतदधिष्ठानचैतन्यस्याभेदसिद्ध्यर्थं वृत्तेनिर्गमनं वाच्यम्। —वही, पृ० 22।

2 वही, पृ० 29।

3 अनाद्युपादानत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यमज्ञानम्, निखिलप्रपंचोपादानब्रह्मगोचरमेव अज्ञानम्। —वही, पृ० 43।

4 उनको अप्पय दीक्षित तथा अवधानी यज्वा भी कहा जाता था, तथा यज्ञेश्वर मखीन्द्र से उन्होंने तर्क का अध्ययन किया था। देखिए जानकीनाथ कृत 'सिद्धांत-मंजरी' पर अप्पय दीक्षित कृत 'न्यायसिद्धांत मंजरी व्याख्यान' (पांडुलिपि) नामक भाष्य की पुष्पिका।

दीपिका' नामक टीका में अप्पय दीक्षित का कथन है कि यद्यपि ब्रह्म-सूत्र की शुद्ध व्याख्या शंकर एवं अन्यों द्वारा की गई अद्वैत व्याख्या है, तथापि अद्वैत की इस यथार्थबुद्धि को प्राप्त करने की इच्छा (अद्वैतवासना) का उदय शिव की अनुकम्पा से ही होने के कारण व्यास ने श्रीकण्ठाचार्य द्वारा व्याख्यात सगुण ब्रह्म, शिव की महत्ता को स्थापित करने का प्रयत्न किया है। इससे यह प्रकट होता है कि श्रीकण्ठ रचित शैव-भाष्य पर अपनी टीका लिखते समय उनमें शंकर की अद्वैत-व्याख्या के प्रति आदर की भावना में न्यूनता नहीं आई तथा वह अपने मन में शिव के रूप में सगुण ब्रह्म के शैव-सिद्धांत का निर्गुण शुद्ध ब्रह्म के साथ किसी प्रकार से सामंजस्य स्थापित करने में समर्थ हुए। तथापि यह संभव है कि प्रारम्भ में अद्वैत वेदान्त के प्रति उनकी जो सहानुभूति केवल मंद थी वह अवस्था के साथ गंभीर होती गई। अपने 'शिवार्कमणिदीपिका' में उनका कथन है कि वह महाराजा चिन्नवोम्म (जिनके भूमिदान के उत्कीर्ण लेख विजयनगर के महाराजा सदाशिव, 1566 ई. प. से 1575 ई., के काल के हैं, देखिए हुल्त्शकृत दक्षिण भारतीय उत्कीर्ण लेख, खंड 1) के शासनकाल में विद्यमान थे, तथा महाराजा चिन्नवोम्म के आदेश से उन्होंने श्रीकण्ठकृत भाष्य पर शिवार्क-मणिदीपिका नामक टीका लिखी। उनके पौत्र नीलकण्ठ दीक्षित अपने 'शिवलीलार्णव' में कहते हैं कि अप्पय दीक्षित बहत्तर वर्ष की पक्वावस्था तक जीवित रहे। श्री टेलर द्वारा अनुक्रमबद्ध 'ओरिएंटल हिस्टोरिकल मैन-स्क्रिप्ट्स, द्वितीय खंड' में यह कहा गया है कि पाण्ड्य महाराजा तिरुमलनायक की प्रार्थना पर वह सद् 1626 ई० प० में पाण्ड्य देश में शैवों और वैष्णवों के कुछ विवादों को हल करने गए थे। 'शिवलीलार्णव' की अपनी संस्कृत भूमिका में महामहोपाध्याय कुप्पु-स्वामी शास्त्री का कथन है कि कालहस्तीशरण शिवानन्द योगीन्द्र ने 'आत्मार्पणस्तव' की अपनी टीका में अप्पय दीक्षित की जन्मतिथि कलिकाल का 4654 वां वर्ष अथवा 1554 ई० प० दी है। उनकी 72 वर्ष की आयु होने के कारण उनका देहावसान 1626 में हुआ होगा, इसी वर्ष वह पांड्य देश में गए थे। उनके शिष्य भट्टोजी दीक्षित थे, जैसा कि भट्टोजी दीक्षित कृत 'तन्त्रसिद्धांतदीपिका' में उनके ही कथन से प्रकट होता है। अतः भट्टोजी दीक्षित अवश्य ही अप्पय दीक्षित के कनिष्ट समकालीन होंगे, जैसाकि उनके 'तत्त्वकौस्तुम' में उनके इस अन्य कथन से भी प्रमाणित होता है कि उन्होंने 'तत्त्व कौमुदी' की रचना 1604 से 1626 तक शासन करने वाले महाराजा केलादि वेंकटेन्द्र की प्रार्थना पर की (देखिए हुल्त्श कृत रिपोर्टस आन संस्कृत मैनस्क्रिप्ट्स का द्वितीय खंड)।[1]

ऐसा कहा जाता है कि अप्पय दीक्षित ने लगभग 400 ग्रंथों की रचना की। उनमें से कुछ का उल्लेख यहाँ किया जा सकता है। अद्वैतनिर्णय, चतुर्मतसारसंग्रह (जिसके न्याय-मुक्तावलि नामक प्रथम अध्याय में मध्व के सिद्धांतों का साररूप में उल्लेख है; 'न्याय मयूखमालिका' नामक द्वितीय अध्याय में रामानुज के सिद्धांतों का साररूप उल्लेख है, 'न्यायमणिमाला' नामक तृतीय अध्याय में श्रीकण्ठकृत भाष्य के दृष्टिकोण से प्राप्त निर्धा-रक निष्कर्षों का उल्लेख है तथा 'न्यायमंजरी' नामक चतुर्थ अध्याय में शंकराचार्य के दृष्टि

1. देखिए शिवलीलार्णव, श्रीरंगम्, 1911, महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी शास्त्री की भूमिका।

कोरण के अनुसार निर्धारक निष्कर्षों का उल्लेख है); एक व्याकरण ग्रंथ व्याकरणवाद-नक्षत्रमाला, पूर्वोत्तर मीमांसावादनक्षत्रमाला (जिसमें मीमांसा तथा वेदान्त के विवेचन के विभिन्न पृथक् विषयों का उल्लेख है), शांकर अद्वैत पद्धति के अनुसार ब्रह्मसूत्र पर रचित टीका 'न्यायरक्षामणि', वाचस्पतिकृत 'भामती' टीका पर अमलानन्द कृत 'वेदान्त कल्पतरू' नामक भाष्य पर 'वेदान्त कल्पतरूपरिमल' नामक टीका, 'सिद्धान्त-लेशसंग्रह' जिसमें वेदान्त के कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों पर अद्वैतवाद की शांकर शाखा के विभिन्न विचारों का उनमें ऐक्य स्थापित करने के अथवा हेतुमय तर्कों द्वारा उनमें से किसी के प्रति अपनी अधिमान्यता प्रदर्शित किए बिना संग्रह किया गया है तथा जिसमें अच्युतानन्द तीर्थ (कृष्णालंकार), गंगाधरेन्द्र सरस्वती (सिद्धान्त बिन्दुशीकर) रामचन्द्र यज्वा (गूढार्थप्रकाश), विश्वनाथतीर्थ, धर्मय दीक्षित तथा अन्यों के अनेक भाष्य भी सम्मिलित हैं; 'ब्रह्मसूत्र' पर श्रीकण्ठ कृत शैवभाष्य की 'शिवार्कमणिदीपिका' नामक टीका, शिवकर्णामृत, शिवतत्त्वविवेक; शिवपुराणतामसत्व खंडन, शिवाद्वैतनिर्णय, शंकरकृत 'शिवानंदलहरी' पर 'शिवानंदलहरी चन्द्रिका' नामक टीका, शिवार्चनचन्द्रिका, शिवोत्कर्ष-चन्द्रिका, शिवोत्कर्ष-मंजरी' पंचकल्पद्रुम, सिद्धान्तरत्नाकर, मध्वमुख भंग, जिसमें यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया है कि 'ब्रह्मसूत्र' की मध्वकृत व्याख्या उपनिषद् ग्रंथों के आशय के अनुकूल नहीं है, रामानुज मत खंडन, रामायणतात्पर्यनिर्णय रामायण-भारत-सारसंग्रह, रामायणसार, रामायणसारसंग्रह, रामायणसारस्तव, मीमांसा संबंधी एक लघु कृति 'मीमांसाधिकरणमालाउपक्रमपराक्रम', 'धर्म मीमांसा परिभाषा', नाम संग्रह मालिका, विधिरसायन, विधिरसायनोपजीवनी, शब्दों के विविध अर्थों के विषय में एक लघु कृति 'वृत्तिवार्त्तिक', कुवलयानन्द नामक अलंकार शास्त्र विषयक कृति, जिस पर दश से अधिक टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं, 'चित्रमीमांसा नामक काव्यशास्त्रीयग्रंथ, भागवतपुराण पर 'जयोल्लास निधि' नामक टीका, वेंकट रचित 'यादवाभ्युदय' पर 'यादवाभ्युदय टीका' तथा 'प्रबोधचन्द्रोदय नाटक' पर टीका, इत्यादि।

प्रकाशानन्द (1550-1600 ई. प.)

यह प्रदर्शित किया जा चुका है कि शंकर द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद का वेदांत सिद्धांत माया के संयोग में अपने प्रकट द्वैत का निवारण नहीं कर सका; शंकर के परकालीन अनुयायियों के हाथों में माया क्रमशः एक ऐसे उपादान के रूप में घनीभूत होती गई जिसके विकास अथवा रूपान्तरण द्वारा जगत्प्रपंच की समस्त घटनाओं की व्याख्या हो सके। वेदान्तियों का मत था कि यह माया यद्यपि ब्रह्म से अनुबद्ध रहती है, अपनी ऐन्द्रजालिक सृष्टि को उस पर छा देती है, तथापि यह अकथनीय, अनिर्वाच्य, अपरिमाण्य, विकारी एवं अविचार्य होने के कारण स्वप्रकाश अविकारी ब्रह्म से एकदम भिन्न है। ऐसे दर्शन के विरुद्ध द्वैतवाद के आरोप का वेदान्ताचार्यों द्वारा यही मानने से खंडन हो सकता है कि ब्रह्म के परमतत्त्व होने के कारण माया अयथार्थ तथा मिथ्या है, और इसी हेतु द्वैत का आरोप असत्य होगा। परन्तु जब हम यह विचार करते हैं कि माया को भावात्मक तथा जगत्प्रतीति के परिणामों के उपादान के रूप में माना गया है तो यह जानना कठिन ही है कि कैसे उसका किसी प्रकार का अस्तित्व न होने का विचार ही नहीं किया जाय? यदि एकदम अद्वैतवादी सिद्धांत का स्थिरता से पालन करना है तो समस्त जगत्प्रपंचों के उपादान के रूप में माया के भावात्मक धर्म का त्याग करना होगा। तथापि शंकर के प्रायः समस्त

अनुयायी अपने आचार्य के विचारों की एक ऐसे प्रकार से व्याख्या करते रहे हैं कि प्रत्यक्ष-मय प्रस्तुतीकरण के आधार के रूप में अपनी अनन्त विभिन्नताओं से युक्त एक विषयपरक जगत् के भावात्मक अस्तित्व को कभी स्वीकार नहीं किया गया। इन वेदांताचार्यों के हाथों वेदांत-सिद्धांत का सम्पूर्ण क्रम इस दृष्टिकोण का संगठित रूप धारण करने लगा कि शुद्ध अविकारी ब्रह्म द्वारा जगत्प्रपंच की विभिन्नता तथा विविधता की व्याख्या असंभव होने के कारण इस जगत् के आधार स्वरूप एक अनिर्वाच्य उपादान, माया, को आवश्यकतावश स्वीकार करना पड़ता है। प्रकाशानद ही सम्भवतः प्रथम व्यक्ति हैं जो विज्ञानवाद के एक द्ध इन्द्रियजनित ज्ञानवादी दृष्टिकोण से वेदांत की व्याख्या करने का प्रयास करते हैं तथा किसी उपादान के विषयपरक अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं। विषयों का अस्तित्व उनकी दर्शन-दृष्टि के अतिरिक्त कुछ नहीं है। प्रकाशानंद के मुख्य सिद्धांत का वर्णन इस पुस्तक के प्रथम खंड के दशम अध्याय के 15वें अनुभाग में किया जा चुका है तथा प्रत्यक्ष-जन्य ज्ञान के स्वरूप के उनके विश्लेषण का उल्लेख इस अध्याय के एक पूर्व अनुभाग में पहले ही किया जा चुका है।

ब्रह्म के कारणत्व के विषय में उनका कथन है कि कारणत्व को ब्रह्म से संयुक्त करना ठीक-ठीक सही नहीं माना जा सकता, क्योंकि कारणत्व में कारण और कार्य के द्वैत सम्बन्ध की अपेक्षा होती है; ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ न होने के कारण इन अवस्थाओं में उसको कारण नहीं माना जा सकता। पुनः, अविद्या को भी जगत् का कारण नहीं माना जा सकता; क्योंकि कारणत्व द्वैत के मिथ्याभाव पर आधारित है और यह भाव स्वयं अविद्या का फल है। अतः कार्य-कारण का सिद्धान्त वेदान्त के क्षेत्र के बाहर है (कार्यकारण-वादस्य वेदान्तबहिर्भूतत्वात्)। 'जगत् का कारण क्या है?' जब इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जाता है कि अविद्या (शाब्दिक अर्थ विज्ञान का अभाव) कारण है तो प्रतिवादी अरुचि-कर मौन को केवल दूर करना चाहता है तथापि अविद्या का स्वरूप किसी भी प्रमाण द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह अन्धकार के समान है और प्रमाण प्रकाश के समान, तथा प्रकाश द्वारा अन्धकार का प्रत्यक्ष करना असंभव है। अविद्या वह है जिसका ज्ञान किसी अन्य वस्तु के माध्यम से ही किसी अन्य वस्तु के साथ अपने सम्बन्ध के द्वारा संभव हो, तथा यह स्वयं में अगम्य होने पर भी अनादि एवं भावात्मक है। इसके स्वय के यथातथ रूप में इसको समझने का प्रयत्न निष्फल ही होगा। किसी व्यक्ति के स्वयं के चैतन्य द्वारा ही अविद्या प्रमाणित होती है; अतः यह प्रश्न करना व्यर्थ है कि अविद्या कैसे प्रमाणित होती है? तो भी अपरोक्ष रूप से प्रस्तुत ब्रह्म के साथ आत्मा के ऐक्य की प्राप्ति होते ही उसका नाश हो जाता है। अविद्या के नाश का अर्थ उसका तथा उसकी सृष्टि का विराम नहीं है, जैसा कि प्रकाशात्मा ने 'विवरण' में मत व्यक्त किया है, क्योंकि ऐसी परिभाषा अकेले रूप में अथवा संयुक्त रूप में किसी प्रकार से प्रयोजनीय नहीं है। अतः प्रकाशानन्द इसकी परिभाषा एक ऐसे विश्वास के रूप में करते हैं तो मूलस्थित आधार की उपलब्धि के परिणामस्वरूप इस विश्वास के रूप में करते हैं कि अनुमानगत प्रतीति कहीं अन्यत्र होती है न कि उस आधार पर जिस पर उसका अध्यास होता है; क्योंकि इस अवस्था में जब मूलस्थित आधार का मनस्कार होता है उस समय मिथ्या प्रतीति पूर्णतः अदृश्य हो जाती है और यह अनुभव होता है कि यह कहीं पर भी नहीं थी, न अन्यत्र कहीं है और कहीं भी नहीं होगी। इसी विश्वास को पारिभाषिक शब्दों में 'बाध' कहते हैं।

अविद्या की अपरिभाष्यता उसके प्रकट होने के आधार पर उसका निषेध है (प्रतिपन्नोपाधौ निषेधप्रतियोगित्वम्)। अतः ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी का यह निषेध दो रूप का होता है; एक रूप में यह निषेध है, और दूसरे रूप में 'ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सब' में सम्मिलित होने के कारण यह निषेध स्वयं एक भ्रान्तिमय अध्यास है, तथा इस प्रकार स्वयं इस दूसरे निषेध के रूप का प्रथम के द्वारा निषेध तथा व्याघात होता है। अतः यह तर्क देना ग़लत है कि ब्रह्म की उपलब्धि के पश्चात् निषेध के शेष रहने के कारण इसका स्वयं का निषेध नहीं होगा, तथा इसी हेतु ब्रह्म के साथ-साथ विद्यमान यह द्वैत तत्त्व होगा।[1]

यह ज्ञान मिथ्या ज्ञान से इस प्रकार से विपरीत है कि ब्रह्मज्ञान के उदय होते ही मिथ्या ज्ञान का लोप हो जाता है। कभी-कभी यह आपत्ति की जाती है कि यदि ऐसा है तो ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने वाले व्यक्ति का शारीरिक अस्तित्व नहीं रहेगा, क्योंकि शरीर अस्तित्व के भ्रम पर आधारित है तथा यथार्थ ज्ञान के उदय होने पर समस्त भ्रान्तियों का लोप हो जाना चाहिए, तथा यदि ऐसा ही है तो कोई भी वेदान्त आचार्य समर्थ आचार्य नहीं होगा। इसके प्रत्युत्तर में प्रकाशानन्द का कथन है कि स्वयं आचार्य के भ्रम की सृष्टि होने के उपरान्त भी, वह किसी को भी ठीक उसी प्रकार सत्य मार्ग पर ला सकता है, जिस प्रकार वेद स्वयं भ्रम की सृष्टिमात्र होते हुए भी सत्य मार्ग पर प्रेरित करते हैं।[2]

आत्मा के आनन्दस्वरूप होने के विषय में उनका सर्वज्ञात्म मुनि के इस मत से मतभेद है कि आत्मा के आनन्द स्वरूप होने के कथन का अर्थ यह है कि समस्त दुःखों का

---

1. ब्रह्मण्यध्यस्यमानं सर्वं कालत्रये नास्तीतिनिश्चयस्य अस्ति रूपद्वयमेकं बाधात्मकमपर-मध्यस्यमानत्वम्, तत्र अध्यस्यमानत्वेन रूपेण स्वविषयत्वम्, बाधत्वेन विषयत्वमिति नात्माश्रय इत्यर्थः तथा च नाद्वैतक्षतिः (अध्यास भाष्य पर भामती टीका से भी तुलना कीजिए) ऐसा प्रतीत होता है कि नाना दीक्षित ने अपना सम्पूर्ण तर्क भामती से ही लिया है। देखिए सिद्धान्तमुक्तावली पर उनकी टीका।

–दी पंडित, 1890, पृ० 108।

तथापि यह विचार किसी भी प्रकार से प्रकाशानंद का नवीन योगदान नहीं है। इस प्रकार चित्सुख तत्त्वदीपिका (जिसे प्रत्यक्ततत्त्वदीपिका भी कहा जाता है। पृ० नं० 19 में इसी बात को निम्न शब्दों में लिखते हैं: सर्वेषामपि भावनामाश्रयत्वेन सम्मते प्रतियोगित्वमत्यन्ताभावं प्रति मृषात्मता' जो कि प्रतिपन्नोपाधौ निषेध प्रतियोगित्वं' के समान नहीं है। वेदान्त परिभाषा, पृ०.219 एवं 220 के निम्न अंश से तुलना कीजिए, 'मिथ्यात्वं च स्वाश्रयेनाभिमतयावन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्।' परवर्ती काल में मधुसूदन ने अपने 'अद्वैतसिद्धि' में इस परिभाषा का मुक्त रूप से प्रयोग किया है।

2. कल्पितोऽप्युपदेष्टा स्याद्यथा शास्त्रं समादिशेत्,
न चाविनिगमोदोषोऽविद्यावत्वेन निर्णयात्॥

–दी पंडित, 1890, पृ० 160।

अत्यन्ताभाव है अथवा आनन्द के अभाव का अभाव है। अतः सर्वज्ञात्म मुनि के अनुसार आनन्द का अर्थ अनानन्द का अभाव है (अनानन्दव्यावृत्तिमात्र-मानन्दत्वम्)।[1] उनका प्रकाशात्मा के उस मत से भी भेद है कि जिसके अनुसार आनन्द वह द्रव्य है जो आनंदमय प्रतीत हो क्योंकि वस्तुतः हम विषय की आकांक्षा रखते हैं। प्रकाशात्मा का मत है कि आत्मा पर ही आनन्दमयता के धर्म का अध्यास होता है। आत्मा को आनंदमय इसलिए कहा जाता है कि वह आनन्दमयता की प्रतीति का अधिष्ठान है। जिसे लोग मूल्यवान् एवं इष्ट मानते हैं वह आनन्दमयता नहीं, अपितु आनन्दमय वस्तु है। प्रकाशानन्द का मत है कि यह मत उचित नहीं है क्योंकि आत्मा न केवल आनन्दमय है अपितु दुःखमय भी प्रतीत होता है तथा इसी हेतु आत्मा को आनन्दमय कहना उतना ही उचित है जितना उसे दुःखमय कहना। अपितु, आनन्दमयता से पृथक् हुआ आनंदमयता के विषय को आनंदमय नहीं कहा जाता है अपितु आनंदयुक्त पदार्थ को आनंदमय कहा जाता है (विशिष्टस्यैव आनंदपदार्थत्वात्)।[2] यदि आनंदमयता आत्मा का सहज धर्म नहीं होता तो उसको आनंदमय नहीं कहा जा सकता क्योंकि आत्मा ही वह आधार है जिस पर आनन्दमयता का भ्रान्तिमय रूप से अध्यास होता है। अतः प्रकाशानन्द का मत है कि आत्मा स्वभावतः आनन्दमय धर्म वाला है।

अनुभवगत द्वैत के द्रष्टा के विषय में प्रश्न उठा कर प्रकाशानन्द कहते हैं कि ब्रह्म को ही इस द्वैत का अनुभव होता है, परन्तु केवल ब्रह्म का ही अस्तित्व होने पर भी ब्रह्म का उसके समस्त अनुभवों में विकार अथवा परिणाम नहीं होता क्योंकि इस प्रकार के मत के विरुद्ध वे ही आपत्तियाँ की जाएँगी जो ब्रह्म के पूर्ण अथवा उसके एक अंश की वैकल्पिक कल्पनाओं के विरुद्ध की जाती हैं और उन दोनों से हमें असंभव फलों की प्राप्ति होगी। विवर्तवाद का कथन है कि मूलस्थित आधार अथवा द्रव्य के अतिरिक्त कार्य की यथार्थता नहीं है। अतः विवर्त का वास्तविक अर्थ द्रव्य से एकत्व है; तथा वस्तुतः वह इस एक द्रव्य से उत्पन्न होते प्रतीत होने वाले अन्य किसी भी पदार्थ को अस्वीकार करता है। अतः जगत्प्रतीति का मिथ्या प्रत्यक्ष पूर्ण रूप से धर्महीन ब्रह्म में समस्त प्रकार के धर्मों की प्रतीति के कारण होता है (निष्प्रकारिकायाः सप्रकारकत्वेन भावः); आत्मा एवं उसके बोध के ऐक्य होने के कारण तथा आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी न होने के कारण, इस कथन का कोई अर्थ नहीं कि वेदान्त उत्पत्ति के विवर्तमत को स्वीकार करता है, क्योंकि यदि ठीक-ठीक कहा जाय तो, उत्पत्ति तो है ही नहीं (विवर्तस्य बालव्युत्पत्ति प्रयोजनतया)।[3] यदि आत्मा के अतिरिक्त किसी अन्य की सत्ता हो तो वेदान्त अद्वैत में व्याघात हो जाएगा। यदि वैदिक वचनानुसार माया को देखा जाए तो माया शशविषाण के समान बिल्कुल तुच्छ प्रतीत होगी; यदि इसकी तर्कसंगत व्याख्या करने का प्रयास

---

1 संक्षेप शारीरक, 1. 1. 174।

2 सिद्धान्त मुक्तावली, दी पंडित, 1890, पृ० 215।

3 बालान्प्रति विवर्तोऽयं ब्रह्मणः सकलं जगत्।
अविवर्त्तितमानन्दमास्थिताः कृतिनः सदा। —दी पंडित, 1890, पृ० 326।

किया जाय तो जन-साधारण द्वारा उसको वास्तवी माने जाने पर भी वह अनिर्वचनीय ही है।[1] अतः प्रकाशानन्द वेदान्त के इस अलिपरक मत का उपदेश करते हैं कि जगत् में किसी प्रकार की विषयपरकता नहीं है; कि माया का पूर्णतः अभाव है, कि हमारे विज्ञान का उससे सम्बद्ध कोई विषयपरक आश्रय नहीं है, कि आत्मा एक है तथा एकमात्र सत्य परम तत्त्व है, तथा जगत् की सृष्टि अथवा उत्पत्ति नहीं होती। इस मत के लिए उन्हें प्रायः सर्वज्ञात्म मुनि, प्रकाशात्मा तथा अन्यों का विरोध करना पड़ता है, जिन्होंने 'माया परिणाम' के एक अधिक अच्छे प्रत्यय का विकास किया; परन्तु संभवतः मंडन के पथ पर अग्रसर होते हुए सर्वाधिक सर्वांग रूप में विज्ञानवादी दृष्टिकोण से वेदान्त को युक्तिसंगत रूप से प्रस्तुत करने का उन्होंने ही प्रथम बार प्रयत्न किया। अपने ग्रन्थ की पुष्पिका में उनका कथन है कि उनके द्वारा उपदिष्ट वेदान्त का सार उनके समकालीनों को अज्ञात था तथा उन्होने ही सर्व प्रथम दर्शन के इस सिद्धान्त का संपूर्ण रूप से प्रतिपादन किया।[2] अपनी 'सिद्धान्त-मुक्तावली के अतिरिक्त प्रकाशानंद ने कई अन्य ग्रन्थों की रचना की, यथा, ताराभक्ति तरंगिणी, मनोरमातन्त्रराजटीका, महालक्ष्मी पद्धति, तथा श्रीविद्या पद्धति, तथा यह प्रदर्शित करते हैं कि संपूर्णतः वेदान्ती होने पर भी उनकी आस्था तंत्र धर्म में थी, जब भारत के विभिन्न प्रदेशों में प्रकाशानंद के शिष्यों के शिष्य व्याप्त हो गए थे। उस समय नाना दीक्षित ने मुक्तावली पर 'सिद्धान्त प्रदीपिका' नामक टीका की रचना की।[3]

मधुसूदन सरस्वती (ई. प. 1500)[4]

यह संभावना अधिक है विश्वेश्वर सरस्वती के शिष्य तथा पुरुषोत्तम सरस्वती के गुरु मधुसूदन सरस्वती का काल षोडश शताब्दी का पूर्वार्ध है। उनके मुख्य ग्रंथ हैं, वेदांत-

---

1 तुच्छानिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा,
ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौतयौक्तिकलौकिकैः। —वही, पृ॰ 420।

2 वेदान्तसारसर्वस्वमज्ञेयमधुनातनैः। अशेषेण मयोक्तं तत्पुरुषोत्तमयत्नतः॥
—दी पंडित, 1890, पृ॰ 428।

3 यच्छिष्यशिष्यसंदोहव्याप्ता भारतभूमयः।
वन्देतं यतिभिर्वन्द्यं प्रकाशानंदमीश्वरम्॥ —वही, पृ॰ 488।

4 अपने मधुसूदन कृत वेदांत कल्पलतिका के संस्करण में रामाज्ञा पांडेय संकेत देते हैं कि मधुसूदन जन्मना बंगदेशीय थे। उनके शिष्य पुरुषोत्तम सरस्वती 'सिद्धान्त बिन्दु टीका' पर अपनी टीका में उल्लेख करते हैं कि बलभद्र भट्टाचार्य उनके प्रिय शिष्य थे, तथा पांडेय का यह तर्क है कि भट्टाचार्य बंगीय गौत्र होने के कारण तथा उनके प्रिय शिष्य के भी बंगीय होने के क रण, मधुसूदन भी अवश्य ही बंगीय ही होंगे। यह भी ज्ञातव्य है कि कोटलीपारा, फरीदपुर, बंगाल की कुलपंजिका में मधुसूदन के पिताजी का नाम प्रमोदपुरंदर आचार्य दिया है, जिनके चार पुत्र—श्रीनाथ चूडामणि, यादवानंद, न्यायाचार्य, कमलजनयन एवं वागीश गोस्वामी थे। मधुसूदन के दार्शनिक तत्त्व-विवेचन का कुछ महत्त्वपूर्ण विवरण इस ग्रंथ के तृतीय खंड में मध्व एवं उनके अनुयायियों के दर्शन के विवेचन के समय मधुसूदन एवं व्यासतीर्थ के वादविवाद के प्रसंग में दिया जाएगा।

कल्पलतिका, अद्वैतसिद्धि, अद्वैतमंजरी, अद्वैतरत्नरक्षण, आत्मबोध-टीका, आनंदमंदाकिनी, कृष्णकुतूहल नाटक, प्रस्थानभेद, भक्तिसामान्य निरूपण, भगवद्गीता गूढार्थदीपिका, भगवद् भक्ति रसायन, भागवत पुराण प्रथम श्लोका व्याख्या, वेदस्तुति टीका, शांडिल्यसूत्र टीका, शास्त्र-सिद्धांतलेश टीका, संक्षेपशारीरक सारसंग्रह, सिद्धांत-तत्त्वबिन्दु; हरिलीलाव्याख्या। तथापि उनका सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ अद्वैतसिद्धि है, जिसमें उन्होंने शंकर एवं उनके अनुयायियों के अद्वैत वेदान्त के विरुद्ध व्यासतीर्थ कृत न्यायामृत[1] में उठाई गई आपत्तियों का खंडन करने का प्रयत्न किया है। इस ग्रंथ की सामग्री का प्रयोग इस ग्रंथ के दशम अध्याय के अनुभाग 6, 7, 8, 9 एवं 10 में पहले ही किया जा चुका है। इससे अधिक सामग्री का प्रयोग तृतीय खंड में व्यासतीर्थ एवं मधुसूदन के विवाद के प्रसंग में किया जाएगा। यह विवाद ही अद्वैत का विषय वस्तु है। मधुसूदन के सिद्धान्त-बिन्दु' में कुछ भी महत्त्वपूर्ण नहीं है; इसमें वह केवल प्रत्यक्षीकरण का शृंखलाबद्ध वर्णन देते हैं, जिसका वर्णन पहले ही दशम अध्याय में तथा इस खंड के 'वेदान्ती सृष्टि-विज्ञान' अनुभाग में हो चुका है। उनके अद्वैतरत्नरक्षण में ऐसे विषयों का वर्णन है, यथा उपनिषदों की प्रामाणिकता उपनिषदों में द्वैत का अभाव; प्रत्यक्ष से द्वैत तत्त्व की अप्रामाणिकता; अन्योन्याभावजन्य द्वैत का मिथ्यात्व; अनिश्चयात्मक ज्ञान में द्वैत का अभाव; प्रमाण के किन्हीं प्रामाणिक साधनों द्वारा द्वैत सिद्धि की असंभवता; इत्यादि। प्रायः इसमें कुछ भी नवीन नहीं है क्योंकि इसमें बड़े ग्रन्थ 'अद्वैतसिद्धि' में कुछ महत्त्वपूर्ण तर्कों की ही पुनरावृत्ति की गई है तथा मध्व के अनुयायियों, जैसे द्वैतवादियों, के मत के खंडन का प्रयत्न किया गया है, मधुसूदन का इन द्वैतवादियों से सदा विवाद रहा है। अतः हमारे वर्तमान उद्देश्य के लिए इस ग्रन्थ के विस्तार में जाना आवश्यक नहीं है तथापि यह जानना रुचिकर होगा कि अपने दर्शन में इतना दृढ़ अद्वैतवादी होने पर भी वह धर्म में आस्तिक थे तथा उन्होंने भक्ति मार्ग का अनुसरण किया जैसाकि उनके भक्तिसंप्रदाय का उपदेश करने वाले उनके अनेक ग्रन्थों से स्पष्ट होता है। तथापि इन ग्रन्थों का वेदान्त दर्शन से कोई सम्बन्ध नहीं है. जोकि हमारा इस अध्याय में वर्ण्य विषय है। मधुसूदन कृत वेदान्तकल्पलतिका उनकी अद्वैतसिद्धि एवं 'महिम्नःस्तोत्र' पर उनकी टीका से पूर्व लिखी गई थी।[2] अपने वेदान्तकल्पलतिका की भूमिका में रामाज्ञा पांडेय यह प्रदर्शित करते हैं कि अद्वैतसिद्धि में उनके 'गीता निबन्धन' का उल्लेख है; 'गीता निबंधन' तथा 'श्रीमद्भागवत टीका' में उनके 'भक्तिरसायन' का उल्लेख है; तथा 'भक्तिरसायन' में वेदान्तकल्पलतिका' का उल्लेख है; अतः इससे यह प्रकट होता है कि वेदान्तकल्पलतिका की रचना इन सब ग्रन्थों से पूर्व हुई थी। 'अद्वैत-रत्नरक्षण' में 'अद्वैतसिद्धि' का उल्लेख होने से उसको काफी बाद की कृति माना जा सकता है। 'वेदान्त-कल्पलतिका' में ऐसी कोई विशेष नवीन बात नहीं है जो वेदान्ती विचारधारा में योगदान के रूप में विशेषतः वर्णन किए जाने योग्य हो। ग्रन्थ की बिशेषता इसी में है कि उसमें भारतीय दर्शन की अन्य शाखाओं के सिद्धान्तों का सार संक्षेप में दिया

---

1 अद्वैत सिद्धि पर अद्वैत सिद्ध्युपन्यास, बृहट्टीका, तथा ब्रह्मानन्द सरस्वती कृत लघु-चन्द्रिका नामक तीन टीकाएँ हैं।

2 वह अपने अद्वैत सिद्धि, पृ० 537 (निर्णयसागर संस्करण) में वेदान्तकल्पलतिका तथा सिद्धान्तबिन्दु का उल्लेख करते हैं। महिम्नः स्तोत्र टीका, पृ० 5 भी द्रष्टव्य है।

हुआ है तथा महत्त्वपूर्ण वेदान्ती सिद्धान्तों से उनकी तुलना भी की हुई है। चर्चा का प्रथम विषय मुक्ति का स्वभाव और उसकी प्राप्ति के साधन हैं; मधुसूदन यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि मुक्ति का केवल वेदान्ती प्रत्यय ही मनुष्यों को आकृष्ट कर सकता है; अन्य सब मत असंतोषप्रद तथा अप्रामाणिक हैं। परन्तु यह प्रतीत नहीं होता कि वह अन्य मतों के साथ उचित न्याय करते हैं। उदाहरणार्थ, मोक्ष के सांख्य दृष्टिकोण का खंडन करते हुए उनका कथन कि क्योंकि सांख्यों के मन में भाव का नाश नहीं हो सकता, अतः दुःख का एक भावमय तत्त्व होने के कारण नाश नहीं हो सकता, अतः दुःख से कभी मोक्ष नहीं मिल सकता। यह स्पष्टतः सांख्य दृष्टिकोण को अयथार्थ रूप में प्रस्तुत करना है; इसका कारण यह है कि सांख्य के अनुसार प्रकृति समस्त दुःखों का मूल है; बुद्धि उसका फल है, अतः दुःख से मोक्ष का अर्थ यह है कि मोक्ष में बुद्धि का पुरुष से संयोग नहीं रहता है; इसलिए दुःख का नाश नहीं होने पर भी दुःख से मोक्ष प्राप्त करने में कुछ भी असंगति नहीं है। तथापि एक ही समस्या के विषय में अन्य शाखाओं के विचारों को मधुसूदन द्वारा अयथार्थ रूप में प्रस्तुत करने के उदाहरणों की संख्या बढ़ाना हमारे वर्तमान उद्देश्य के लिए अनावश्यक है। चर्चा के मध्य वह यह वर्णन करते हैं कि अभाव भी अविद्या उपदान से निर्मित है; अविद्या अन्य वस्तुओं के सदृश शुद्ध चित् के संयोग में अपने को प्रकट करती है। तत्पश्चात् वह आत्मज्ञान के स्वरूप की चर्चा करते हैं तथा उसकेबाद, ऐक्य के उपनिषद् वाक्यों द्वारा ही ब्रह्मज्ञान गम्य होने के कारण वह वाक्यों के अर्थ तथा अभिहितान्वयवाद, अन्विताभिधानवाद आदि सिद्धांतों के विवेचन की ओर अग्रसर होते हैं। तत्पश्चात् वह अविद्या के विनाश का विवेचन करते हैं। अपने ग्रन्थ का समापन वह इन्द्रियों के द्रव्यमय स्वभाव के विवेचन से करते हैं। इस प्रकार मनस् इंद्रिय को पंच-तत्त्वों से निर्मित्त माना है जबकि अन्य इंद्रियों को केवल एक तत्त्व से निर्मित ही माना है। मन को सम्पूर्ण देह में व्याप्त माना है न कि उसे पारमाणविक माना है, जैसाकि नैयायिकों का मत है। अन्त में मधुसूदन पुनः मोक्ष की समस्या पर आते हैं और कहते हैं कि अविद्या से मुक्त आत्मा को ही मोक्ष का वास्तविक स्वरूप मानना चाहिए।

[]

अध्याय 2

योगवाशिष्ठ-दर्शन

विभिन्न पुराणों के दार्शनिक तत्त्वों का बाद के किसी खण्ड में समावेश किया जायगा। योग-वाशिष्ठ-रामायण को पुराणों में सम्मिलित किया जा सकता है, परन्तु इसमें पुराणों की सामान्य विशेषताओं का अभाव है और सर्वत्र शंकर द्वारा प्रतिपादित वेदान्त-सिद्धान्तों से मिलती-जुलती मूलतः अद्वैत सिद्धान्तों की वेदान्त-संबंधी-समस्याओं की चर्चाएँ भरी हुई हैं। यह विशालकाय काव्य ग्रंथ एक अद्वितीय कृति है, इसमें तेइस हजार सात सौ चौतीस (विभिन्न हस्तलिपियों और संस्करणों के संभाव्य मतभेदों को छोड़कर) श्लोक हैं, और इस प्रकार यह श्रीमद्भगवद्गीता से कहीं अधिक बड़ा है। जिस दार्शनिक दृष्टिकोण के प्रतिपादन की इसमें चेष्टा की गई है और जिस पर बार-बार इसमें बल दिया गया है, वह शंकर और बौद्ध-बिज्ञानवाद के दृष्टिकोण के इतना सदृश्य है कि शंकर के विवेचन के एकदम बाद में इसका विवेचन करना मुझे विशेष रूप में अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है और फिर बाद में आने वाले वेदान्त सूत्रों की विभिन्न व्याख्याएँ शंकर के मत से इतनी प्रतिकूल हैं कि योग-वाशिष्ठ जैसे ग्रन्थ का शंकर से सम्बन्धित अध्याय के एकदम बाद विवेचन न करके अन्यत्र विवेचन करने के लिए उपयुक्त स्थान निर्धारित करना अत्यन्त कठिन होगा।

इस ग्रंथ का आरंभ एक आख्यान से होता है। कोई ब्राह्मण महर्षि अगस्त्य के आश्रम में पहुँचा और उसने प्रश्न किया कि ज्ञान अथवा कर्म में से मोक्ष साधन का प्रत्यक्ष कारण क्या है? अगस्त्य ने उत्तर दिया कि जिस प्रकार पक्षी अपने दो पंखों के सहारे उड़ता है उसी प्रकार मनुष्य केवल ज्ञान और कर्म के द्वारा ही 'परमपद' को प्राप्त कर सकता है। इसे समझाने के लिए वे एक कथा का वर्णन करते हैं जिसमें अग्निवेश्य के पुत्र कारुण्य विद्याभ्यास की समाप्ति पर गुरुकुल से लौटकर शान्त और निष्क्रिय बैठा रहा। उसकी इस मनस्थिति का कारण पूछने पर उसने कहा कि मैं इस प्रश्न से दुविधा में पड़ गया हूँ कि क्या मनुष्य के शास्त्रोपदेशानुकूल कर्म 'त्यागमात्र' का अनुसरण करने की अपेक्षा 'परमपद' की प्राप्ति के लिए अधिक उपयुक्त हैं? कारुण्य के इस प्रश्न को सुनकर अग्निवेश्य ने कहा कि तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर केवल एक कथा के द्वारा ही दे सकता हूँ जिसको सुनकर तुम अपनी इच्छानुसार निश्चय कर सकते हो। एक समय हिमाद्रि-शृंग पर बैठी हुई सुरुचि नामक अप्सरा ने इन्द्र के एक संदेशवाहक को आकाश में उड़ते देखा। उससे उसने प्रश्न किया कि तुम कहाँ जा रहे हो? उसने उत्तर दिया कि अरिष्टनेमि नामक एक राजा अपना राज्य अपने पुत्र को सौंपकर निष्काम भाव से तपश्चर्या कर रहे

हैं, मुझे उसके पास अपने नियोगवश जाना पड़ा था और मैं वहां से लौट रहा हूँ। अप्सरा ने संदेश-वाहक और राजा के बीच जो बातचीत हुई उसे विस्तार से जानने की इच्छा प्रकट की। संदेशवाहक ने कहा कि इन्द्र ने उस राजा को स्वलंकृत रथ में स्वर्ग में लाने का आदेश दिया था, परन्तु इस कार्य के हेतु राजा ने स्वर्ग के गुण और दोषों का वर्णन करने के लिए प्रार्थना की, जिन्हें सुनकर वह यह निश्चय कर सकें कि स्वर्ग में जाएँ या नहीं। उन्हें उत्तर मिला कि मनुष्य अपने गुणों के उत्तम, मध्यम या अधम होने के अनुरूप ही स्वर्ग में उत्तम, मध्यम अथवा अधम सुखों का भोग करते हैं, उपभोगों द्वारा अपने गुणों के क्षीण हो जाने पर वे पृथ्वी पर पुनर्जन्म ग्रहण करते हैं, और पृथ्वी पर अपने निवास-काल में वे अपने सुखों की विषमता के कारण परस्पर ईर्ष्यालु हो जाते हैं। यह सुनकर राजा ने स्वर्ग में जाने से इन्कार कर दिया और इन्द्र से निवेदन करने पर उन्होंने अत्यन्त विस्मित होकर संदेशवाहक को आदेश दिया कि राजा को वाल्मीकि-आश्रम में ले जाकर वाल्मीकि को राजा की स्वर्ग-फल को भोगने की अस्वीकृति से अवगत करावे और राजा को समुचित उपदेश देने की प्रार्थना करे ताकि मोक्ष प्राप्ति हो। ऐसा करने पर राजा ने वाल्मीकि से प्रश्न किया कि मोक्ष किस प्रकार से प्राप्त कर सकता हूँ, वाल्मीकि ने प्रत्युत्तर में इस विषय पर राम-वशिष्ठ-संवाद को वर्णन करने की इच्छा प्रकट की।

वाल्मीकि का कथन है कि रामायण की कथा समाप्त करके भारद्वाज को उसका उपदेश करने के बाद भारद्वाज ने एक बार उसे ब्रह्माजी को सुनाया और ब्रह्माजी ने प्रसन्न होकर भारद्वाज को वर देने की इच्छा प्रकट की। भारद्वाज ने उत्तर में यह कहा कि मुझे ऐसा उपदेश दीजिए कि जिससे मनुष्य दुःखों से मुक्त हो सके। ब्रह्मा ने उन्हें वाल्मीकि के पास जाने का आदेश दिया और भारद्वाज सहित स्वयं जाकर ब्रह्मा ने वाल्मीकि से प्रार्थना की कि जब तक राम के सम्पूर्णचरित्र का वर्णन न कर लें तब तक वे अपने कार्य से निरत न हों ताकि उसे सुनकर लोग सांसारिक भयों से मुक्ति पा सकें। भारद्वाज को उपदेश देने के पश्चात् आश्रम से ब्रह्मा के अन्तर्धान हो जाने पर भारद्वाज ने भी राम और उनकी पत्नी उनके भाई और अनुयायियों के इस शोक एवं भयग्रस्त संसार में आचरण का और उनके संतापहीन शान्त जीवन का वर्णन करने की वाल्मीकि से प्रार्थना की।

उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में वाल्मीकि ने कहा कि अपना विद्याभ्यास समाप्त करके राम ने विभिन्न तीर्थों की और आश्रमों की यात्रा की। लौटकर वे प्रतिदिन अत्यंत खिन्न दिखाई देने लगे, परन्तु अपने दुःख का कारण किसी को भी नहीं बताते थे। राम की खिन्नता से राम के पिता दशरथ अत्यंत चिन्तित हुए और वशिष्ठ से इसका कारण पूछा। इसी समय विश्वामित्र भी राक्षसों के वध के उद्देश्य से राम को बुलाने के लिए अयोध्या में उपस्थित हुए। इस समय राम की खिन्न मनःस्थिति से अत्यंत चिन्तित होकर विश्वामित्र ने उनकी खिन्नता का कारण पूछा।

राम ने कहा कि मेरे मन में एक नई उत्कंठा उत्पन्न हो गई है जिसने मुझ में सब भोगों के प्रति वितृष्णा पैदा कर दी है। इस संसार में सुख नहीं है, मनुष्यों का जन्म मरण के लिए और मरण जन्म के लिए होता है। संसार में सब कुछ अस्थिर है। सब विद्यमान वस्तुएँ असंगत हैं (भावाः.....परस्परमसंगिनः)। केवल हमारी मानसिक कल्पनाओं (मनः कल्पनया) के कारण ही उनका संग्रह और संयोग होता है। भोगों के संसार की सृष्टि मन

(मनः) द्वारा ही होती है और यह मन स्वयं अस्तित्वहीन प्रतीत होता है। प्रत्येक वस्तु मृगतृष्णा के समान है।

तब वशिष्ठ ने जगत्प्रतीति के स्वरूप की व्याख्या की और यही उत्तर इस ग्रन्थ का विषय है। राम-वशिष्ठ के इस संवाद को वाल्मीकि से सुनकर राजा अरिष्टनेमि छिन्नसंशय हो गए और अप्सरा ने भी प्रसन्न होकर देवदूत को जाने की अनुमति दे दी। अपने पिता अग्निवेश्य से यह सब सुनकर कारुण्य ने ऐसा अनुभव किया मानो उसने परम तत्त्व प्राप्त कर लिया और उसने सोचा कि अपनी तत्त्वानुभूति के कारण एवं कर्म तथा निष्क्रियता एक ही होने के कारण, उसका यह स्पष्ट कर्त्तव्य है कि वह जीवन के नित्यनैमित्तिक कर्त्तव्यों का पालन करे। जब अगस्त्य ने इस आख्यान को समाप्त किया तो ब्राह्मण सुतीक्ष्ण ने अपने को छिन्नसंशय अनुभव किया।

इसमें एक बात ऐसी है जिसे परवर्ती काल का स्पष्ट संकेत माना जा सकता है, यहाँ तक कि इस ग्रन्थ के रामायण के रचयिता द्वारा लिखे गए होने के दावे के आशय से भी बहुत बाद के काल की ओर संकेत करती है। इसमें एक श्लोक कालिदास के कुमारसंभव के एक श्लोक के प्रायः समान ही है।[1] मेरे विचार में यह अनुमान निस्संदेह लगाया जा सकता है कि लेखक ने इस श्लोक को कालिदास से ग्रहण किया है, और सामान्य धारणा भी यही है कि कालिदास का काल पंचम शती ई० प० है। योग-वाशिष्ठ के लेखक चाहे कोई भी क्यों न रहे हों, वे कालिदास से कम से कम कुछ समय बाद रहे। यह भी माना जा सकता है कि कवि के रूप में कालिदास के सम्मान को स्थापित करने के लिए कालिदास का काल एवं योग-वाशिष्ठ के लेखक का काल पर्याप्त मात्रा में लम्बा रहा होगा। इस सम्बन्ध में विचारणीय एक अन्य तथ्य है। शांकर-वेदान्त की व्याख्या एवं योग-बाशिष्ठ के दृष्टिकोणों में महत्त्वपूर्ण साम्य होते हुए भी कोई भी एक दूसरे के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहते। पुनः योगवाशिष्ठ के विचार बोद्ध विज्ञानवादियों से इतने मिलते जुलते हैं कि सम्पूर्ण ग्रन्थ बौद्ध विज्ञानवाद का ब्राह्मण-रूपांतर प्रतीत होता है। बौद्ध विज्ञानवाद को आत्मसात करने का एवं उसे ब्राह्मण-विचारधारा पर रूपान्तरित करने का एक अन्य महत्त्वपूर्ण उदाहरण दिया जा सकता है: यथा गौड़पाद एवं शंकर के लेख। अतः मेरी यह मान्यता है कि योगवाशिष्ठ के लेखक संभवतः गौड़पाद अथवा शंकर के समकालीन संभवतः 800 ई० प० अथवा उनके एक शतक पूर्व थे।

इस ग्रंथ में छः प्रकरण हैं यथा वैराग्य, मुमुक्षू-व्यवहार, उत्पत्ति, स्थिति, उपशम, एवं निर्वाण। वह आर्ष-रामायण, ज्ञान-वशिष्ठ, महारामायण, वशिष्ठ रामायण अथवा वाशिष्ठ के नाम से जाने जा सकते हैं। इस पर कई भाष्य लिखे गए हैं। इन भाष्यों में से मैं विशेषतया आनंदबोधेन्द्रकृत तात्पर्यप्रकाश का ऋणी हूँ।

---

1 योगवासिष्ठ 3. 16. 50।

अथ तामतिमात्रविह्वलाम्
सकृपाकाशभवा सरस्वती
शफरीं ह्वदशोषविह्वलां
प्रथमावृष्टिरिवान्वकम्पत।

योग-वाशिष्ठ आद्योपांत जनसुलभ भाषणों के रूप में एक दार्शनिक ग्रंथ है एवं एक ही विचारधारा को प्राय: पुन:-पुन: विभिन्न प्रकार के वर्णनों तथा काव्यात्मक कल्पना में दोहराया गया है। परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक अलौकिक काव्यात्मक प्रतिभा से युक्त है। प्राय: प्रत्येक श्लोक सर्वोत्कृष्ट काव्यात्मक कल्पना से परिपूर्ण है; शब्दों का चुनाव अत्यंत कर्ण-प्रिय है और वे प्राय: हमें अपने अभिप्राय आत्यंतिक-आदर्शात्मक विचार की अपेक्षा अपने काव्यात्मक मूल्य द्वारा हम पर रुचिकर प्रभाव उत्पन्न करते हैं।

योग-वाशिष्ठ पर कई भाष्य लिखे गए, और कुछ लेखकों ने इसे श्लोक में संक्षेपण किया जिनके ग्रंथों पर पुन: टीकाएँ लिखी गईं। इस प्रकार नरहरि-पुत्र अद्वमारण्य ने उस पर वशिष्ठ-रामायण-चन्द्रिका नामक भाष्य लिखा। उन्नीसवें शतक के गंगाधरेन्द्र सरस्वती के शिष्य आनंदबोधेंद्र सरस्वती ने तात्पर्य-प्रकाश लिखा। गंगाधरेन्द्र ने भी उसी नाम से एक भाष्य लिखा। रामदेव एवं सदानंद ने भी इस ग्रंथ पर दो भाष्य लिखे और इसके अतिरिक्त योग-वाशिष्ठ-तात्पर्य-संग्रह नामक एक अन्य भाष्य और माधव-सरस्वती ने पद-चन्द्रिका नामक अन्य भाष्य लिखा। इसके संक्षेपण निम्नलिखित हैं—बृहद्-योग-वाशिष्ठ, लघु-ज्ञान-वाशिष्ठ, योग-वाशिष्ठ-श्लोक, नवम शतक के गौड़ अभिनंदन-कृत योग-वाशिष्ठ-संक्षेप, योग-वाशिष्ठ-सार अथवा ज्ञानसार योग-वाशिष्ठ-सार-संग्रह तथा अद्वैतानंद के शिष्य रामानंद तीर्थ कृत वाशिष्ठ-सार अथवा वाशिष्ठ-सार-गूढ़ार्थ। गौड़ अभिनंद कृत योग-वाशिष्ठ-संक्षेप पर आत्मसुख ने चन्द्रिका नामक भाष्य एवं मम्मडिदेव ने संसारतरणि नामक एक अन्य भाष्य लिखा। पूर्णानंद और महेश्वर ने भी योग-वाशिष्ठ-सार पर दो भाष्य लिखे। सन् 1924 की मद्रास ओरिएंटल कान्फ्रेंस की कार्यवाही में योग-वाशिष्ठ-रामायण पर एक लेख में शिवप्रसाद भट्टाचार्य कहते हैं कि योग-वाशिष्ठ-सार का दूसरा नाम मोक्षोपाय-सार अभिनंद ने लिखा जिसे गौड़ अभिनंद से सम्मिश्रित नहीं करना चाहिए। परंतु वे यह तथ्य भूल जाते हैं कि गौड़ अभिनंद ने भी योग-वाशिष्ठ-संक्षेप नामक उसका अन्य भाष्य लिखा। प्रासगिक रूप से यह उनके इस मत का खंडन करता है कि योग-वाशिष्ठ दस एवं बारहवें शतकों के बीच रखा जाना चाहिए क्योंकि यदि नवम शतक के गौड़ अभिनंद ने इसका संक्षेपण लिखा तो योग-वाशिष्ठ कम से कम अष्टम शतक में लिखा जाना चाहिए। इस प्रकार योग-वाशिष्ठ को सातवें अथवा आठवें शतक में मानना चाहिए।

परम तत्त्व

योग-वाशिष्ठ का तृतीय प्रकरण उत्पत्ति के संबंध में है। बंधन का मूल कारण दृश्य जगत् का भाव है एवं इस प्रकरण का मुख्य विषय यह है कि दृश्य जगत् का कोई अस्तित्व नहीं है। प्रलय के समय सम्पूर्ण दृश्य जगत् की प्रतीति का नाश हो जाता है यथा सुषुप्ति में स्वप्न का। शेष जो बच जाता है वह गम्भीर एवं सीमित है, न तो प्रकाश है न अंधकार बल्कि केवल अव्यक्त और अनिर्वचनीय है परन्तु फिर भी वह एक सत् पदार्थ है। यह तत्त्व स्वयं अपने आपको अन्य के रूप में प्रकट करता है (स्वयं अन्य इवोल्लसन्): और प्रवाहहीन समुद्र की तरंगों के समान प्रकृतिशील तत्व के द्वारा मनस् के रूप में व्यक्त होता है। परन्तु वास्तव में जो कुछ भिन्न 2 रूप में दृश्य जगत् दिखाई देता है उसका

वस्तुतः अभाव ही है; क्योंकि यदि उसका प्रभाव होता तो किसी भी स्थिति में अभाव नहीं हो सकता था।[1] दृश्य जगत् का लेशमात्र भी अस्तित्व नहीं है। परम अनिर्वचनीय अनिश्चित तत्त्व जो केवल निर्वाण मात्र है अथवा पराबुद्धि है, वह सदा विद्यमान रहता है और उसमें कोई विकार अथवा परिवर्तन नहीं होता। इस तत्त्व के प्रथम स्पन्दन में अहंकार उत्पन्न होता है जो भासित होने पर भी वस्तुतः परम तत्त्व के अतिरिक्त कुछ नहीं है। धीरे 2 वायु में लहरों की तरह कई एक स्पन्दनों के द्वारा सृष्टि के (दृश्य जगत्) विसर्ग की उत्पत्ति होती है। परम तत्त्व केवल संकल्प पुरुष ही है।[2] मुनि के मतानुसार जिसका हमें अवभास होता है वह संकल्प नगर अथवा गन्धर्व-पट्टन के समान मनस् के संकल्प के कारण ही है (यथा संकल्प-नगरं यथा गन्धर्व पत्तनम्)। सार वस्तु परम तत्त्व के अतिरिक्त कुछ नहीं है और जो कुछ उसके अतिरिक्त दिखाई देता है उसका कुछ भी अस्तित्व नहीं है वह केवल मानसिक जगत् है जो परम तत्त्व के द्रव्य रहित अव्यक्त मानसिक जगत् से उत्पन्न होता है। ज्ञाता होने का हमारा भ्रम उस स्थिति में ही मिट सकता है जबकि हम यह निश्चित रूप से अनुभव कर लें कि इस दृश्य जगत् के भाव की सम्भावना ही नहीं है, और उस स्थिति में मोक्ष हो जाता है यद्यपि दृश्य जगत् भासित होता रहे। इस मनस् की मानसिक रचनाओं द्वारा ही सर्ग-विसर्ग की उत्पत्ति दृश्य जगत् में हुई है। उसका कोई विशिष्ट रूप नहीं है अपितु वह तो केवल नाममात्र एवं शून्यमात्र है।[3] यह मनस् न तो हमारे अंतर में है और न बाह्य, यह तो हमारे चारों ओर शून्य की तरह व्याप्त है। इस सम्पूर्ण प्रपंच को मनस् से प्रकट हुआ समझना मृगजल के समान है। सब रूपों एवं भावों के लक्षण केवल क्षणिक कल्पनाओं के समान हैं। जो कुछ व्यक्त है और जिसका भाव प्रतीत होता है वह मनस् के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है यद्यपि यह मनस् स्वयं काल्पनिक उत्पत्ति बिंदु है जिसकी कोई वास्तविक स्थिति नहीं है। जैसे जल से रस और वायु से स्पन्दन पृथक् नहीं किया जा सकता ठीक उसी प्रकार मनस् दृश्यावभासों से भिन्न नहीं हैं और न उनसे भिन्न किया जा सकता है। इस तरह, मनस् काल्पनिक तत्त्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं जिसके द्वारा यह सम्पूर्ण दृश्य जगत् उत्पन्न हुआ यद्यपि यह दृश्य प्रपंच एवं मनस् एक ही है और उनमें वैभिन्य बताना असम्भव है।[4] अविद्या, संसृति

---

1 योग-वाशिष्ठ 3.3।

2 सर्वेषां भूतजातानां, संसारव्यवहारिणाम्, प्रथमोऽसौ प्रतिस्पन्दश्चित्तदेहः स्वतोदयः अस्मात् पूर्वात् प्रतिस्पन्दादनन्यैतत्स्वरूपिणी, इयं प्रविसृता सृष्टिः स्पन्दसृष्टिरिवानिलात्। 3.3.14.15।

3 रामास्य मनसो रूपं न किंचिदपि दृश्यते। नाममात्रादृते व्योम्नो, यथा शून्यजड़ाकृतेः। 3.4.38।

4 पूर्णे पूर्णं प्रसरति शांतें शान्तं व्यवस्थितम्
व्योमन्येवोदितं व्योम ब्रह्मणि ब्रह्म तिष्ठति
न दृश्यं अस्ति मद्रूपं न द्रष्टा न च दर्शनम्
न शून्यं न जडं नो चिच्छांतमेवेदमाततम्॥ 3.4.69,70

चित्त, मनस्, बंध, मल, तमस्, उसी प्रत्यय (दृश्य जगत्) के पर्यायवाची शब्द हैं ।[1] द्रष्टा ही दृश्य के रूप में प्रकट होता है। और वह दर्शनमात्र ही है जो दृष्टा और दृश्य के रूप में प्रकट होता है। दृश्य-प्रपंच का अभाव ही मोक्ष स्थिति है। वास्तव में न तो द्रष्टा है, न दृश्य, न दर्शन, न शून्य, न प्रकृति, और न पुरुष, न चित्त अपितु शुद्ध शांत अथवा शुद्ध अभाव है और इसी को हम ब्रह्म कहते हैं ।[2] यह शुद्ध शांत स्वरूप है जिसे सांख्य पुरुष, वेदांती ब्रह्म, लौह विज्ञानवादी विज्ञान-मात्र और शून्यवादी पूर्ण शून्य कहते हैं ।[3] और यही शून्य अंतर और बाह्य जगत् में व्याप्त है ।[4] उस शून्य की परिभाषा इस तरह से की गई है जो इस प्रकार नहीं दिखाई देता है और जो सबका आधार है अर्थात् जिसमें जगत् स्थित है (यस्मिन् शून्यं जगत् स्थितम्) और जो सृष्टि का कारण होते हुए भी शून्य रहता है ।[5] मृगजल अथवा वंध्या-पुत्र के समान मायिक दृश्य प्रपंच को पूर्णरूप से असत् ही समझना चाहिए। इस प्रकार परम तत्त्व न तो सत् है न असत् अपितु वह स्पंदात्मक और अस्पंदात्मक दोनों है (स्पंदास्पंदात्मक) ।[6] वह आत्मा अनिर्वचनीय एवं अव्यपदेश है (किमप्यव्यपदेशात्मा), न भाव है न अभाव है, और न भावाभाव है तथा न स्पंदात्मक और न अस्पंदात्मक है (न भावो भवनं न च)। योग-वाशिष्ठ दर्शन की लंकावतार-सूत्रों से इतनी निश्चित और गहन समानता है कि इस विषय का विस्तृत विवेचन करना आवश्यक नहीं है और पाठकों का ध्यान वर्तमान कृति की प्रथम पुस्तक में वर्णित लंकावतार-दर्शन की ओर आकृष्ट किया जाता है। वेदांत के विषय में योग-वाशिष्ठ प्रकाशानंद-कृत दृष्टि-सृष्टिवाद के समान हैं जो बाद में लिखी गई है और जिसका रचना-काल गौड़पाद और मंडन के समय समझा जाता है। प्रकाशात्मन् योग-वाशिष्ठ को अपने मुख्य आधार ग्रंथों में से एक मानता है।

उत्पत्ति

(प्रपंचात्मक-जगत्) न तो पूर्व में था और न वर्तमान में है और न भविष्य में होगा। इस कारण वास्तविक रूप से न तो जगत् की उत्पत्ति है और न विनाश ।[7] परंतु फिर भी दृश्य अवश्य है और इसके मूल में हमें जाना चाहिए। परम तत्त्व पूर्ण निवृत्ति

---

1 3. 4. 46. ।

2 3. 5. 6–7 ।

3 नाशरूपी विनाशात्मा 3.5.16 ।

4 3.7.22 ।

5 3.9.59 ।

6 3.9.59 ।

7 वंध्यापुत्रव्योमवने यथा न स्तः कदाचन ।
जगदाद्यखिलं दृश्यं तथा नास्ति कदाचन ।
न चोत्पन्नं न च ध्वंसि यत् किलादौ न विद्यते ।
उत्पत्तिः कीदृशी तस्य नाश शब्दस्य का कथा ।। —3.2.4.5 ।

मात्र है जैसाकि ऊपर वर्णन किया जा चुका है। इस दृश्य जगत् के व्यक्त होने का क्रम इस प्रकार है कि प्रथम परम तत्त्व में स्व संकल्प होता है जिससे अनिर्वचनीय तत्त्व प्रकट होता है और उससे अहंकार की उत्पत्ति है। उसके स्पंदन से एक ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है जिसको बुद्धि तत्त्व कह सकते हैं, जो शुद्ध बुद्ध और निरंजन है, और जिसमें प्रत्येक वस्तु प्रतिबिंबित होती है और इसी तत्त्व को हम चित् कहते हैं। ज्यों-ज्यों स्पंदन अधिक मूर्त होता है त्यों-त्यों जीव के दूसरे विकार उत्पन्न होते हैं। इस सोपान पर वह अपनी परम स्थिति को भूल-सा जाता है और भावना मात्र-सार के रूप में अपने आप में से प्रवाहित होने लगता है। प्रथम विषय आकाश है जो शुद्ध शून्य है। उसी क्षण अहंता और काल उत्पन्न होता है। यह सृष्टि किसी अर्थ में भी वास्तविक नहीं है। परम तत्त्व के और स्व-समवेदन-मात्र के दृश्य की प्रतीति के अतिरिक्त कुछ नहीं है। सत् का यह जाल असत् है और सत् की प्रतीति मात्र है। सम्वित् जो आकाश एवं अहंकार सदृश है और जो भावना के गर्भ का बीज है उसी का विकार वायु स्पंदन है।[1]

पुनः आकाश में स्पन्दन के फलस्वरूप घनीभूत होकर उससे 'ख' तन्मात्रा (शब्द-तन्मात्रा) उत्पन्न होती है। यही शब्द तन्मात्रा सब वेदों की जननी है जिसमें शब्द वाक्य और प्रमाण सम्मिलित है। क्रमशः स्पर्श, तेज, रस, गंध उत्पन्न होते हैं और उन्हीं से यह सम्पूर्ण दृश्य-प्रपंच, जो वस्तुतः इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है कि वे बुद्धि तत्त्व के गर्भ से उत्पन्न हुए। पुनः जीव उत्पन्न होता है जिसमें चैत्य संयोग चेतन के केवल सम्पर्क अथवा स्पर्श से ही बाह्य चित्-शक्ति आई ताकि चेत्यत्व से इसके पश्चात् मायिक अविद्या उत्पन्न होती है जिसके फलस्वरूप जीव समझने लगता है कि वही चैतन्य है। कर्त्ता है और इसी कारण चेत्यत्व से पृथक् है जिसका परिणाम यह होता है कि जीव में अहंकार आ जाता है जो बुद्धित्वाकलन के कारण पृथक्-पृथक् तन्मात्राओं का दृश्य प्रपंच और जगत् की उत्पत्ति होती है। परन्तु वे सब सर्ग हैं और इस कारण उनकी वस्तु-स्थिति केवल दृश्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। क्योंकि उनका गुण केवल विकल्प मात्र है अतः वे कभी भी वास्तविक नहीं हो सकते। जो कुछ प्रतीति का भाव दिखाई दे रहा है वह विकल्प के स्पन्दन का परिणाम है। यह इच्छा उत्पन्न होते ही कि 'मुझे देखना है' दो आँखें प्रकट हो गई और ऐसे ही स्पर्श, गंध, रस, और श्रवण, की इन्द्रियां बन गईं। न तो जीव एक है और न उन्हें अनंत कह सकते हैं। केवल ब्रह्म के विकल्प की सर्व शक्तिमत्ता से इतने जीवों का दृश्य जगत्

---

1 मनः संपद्यते लोलं कलनाकलनोन्मुखम्,
कलयंती मनः शक्तिः आदौ भावयति क्षणात्।
आकाशभावनामच्छां, शब्दबीजरसोन्मुखीम्,
ततस्तां घनतां जातम् घनस्पंदक्रमान्मनः। —4.44.16, 17।

ऐसे बहुत से अंशों की तुलना से यह ज्ञात होता है कि प्रत्येक मानसिक सृष्टि भावना-मात्र का परिणाम है और विकासशील भावनाओं की क्रम-शृंखला की प्रत्येक यथाक्रम भावना घन कहलाता है। तात्पर्य प्रकाश में घन का भावानुवाद उपचय के रूप में किया गया है। भावना और स्पन्द एक ही है, प्रत्येक भावना का परिणाम घन था और प्रत्येक घन के अनुरूप एक अर्द्ध-निश्चित सृष्टि थी, और प्रत्येक घन के क्रम में स्पन्द था।

प्रकट होता है। वास्तव में जीवों का कोई अस्तित्व विकल्प कुछ नहीं है जिससे कि उनकी प्रतीति होती है। कोई रूप अथवा पदार्थ है ही नहीं वे केवल चित्त-चमत्कार हैं।

इस सिद्धांत के अनुसार मनस् शुद्ध चित् के कार्य के अतिरिक्त कुछ नहीं है जिसके द्वारा वह अपने-आपको दृश्य के रूप में बाहर निकालती है। यहां पर शुद्ध चित् को हम अध्यात्म कह सकते हैं और उसकी दृश्यता को हम आधिभौतिक कह सकते हैं।[1] दृश्यता में भी चित्त अपने से अतिरिक्त किसी दूसरे को नहीं देखता यद्यपि वह अन्य को देखता हुआ सा प्रकट प्रतीत होता है (स्वमेवान्यतयादृष्ट्वा) और इस दृश्य प्रपंच का प्रारम्भ अहंता से होता है।

यहां पर महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि समता में यह विकार कैसे उत्पन्न हुआ और यह वर्तमान संकल्प-विकल्पात्मक जगत् किस तरह से प्रकट हो गया। योग-वाशिष्ठ में इसका उत्तर यही दिया गया है कि काकतालीय योग के द्वारा यह सब कुछ हो गया। वास्तव में यह बड़ी दुःखद बात है कि इतनी विचित्र अर्थकारी सृष्टि का उत्पन्न होना केवल आकस्मिक समझा गया है।[2] परब्रह्म के कोई अन्य कारण की सम्भावना की खोज करना अप्रासंगिक समझा जाता है।[3]

कर्म, मनस् एवं पदार्थ

इसके अनुसार कर्म मनस् क्रिया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मनस् की क्रियाशील अवस्थाएं उनकी पूर्व क्रियाओं पर निर्भर रहती हैं और आगे की क्रियाओं द्वारा निर्धारित की जाती हैं। जब कोई विशेष स्थिति आगे आने वाली स्थिति को निश्चित करती है तो वह समझी जाती है, परन्तु क्योंकि यह स्थिति पहिले की स्थिति से अर्थात् कर्म से, पैदा होती है तो यह कहा जा सकता है कि कर्म कर्त्ता का जनक है और कर्त्ता फिर अपनी क्रिया से कर्म उत्पन्न करता है। ऐसी अवस्था में कर्म और कर्त्ता परस्पर जनक है, जैसाकि वृक्ष से बीज और बीज से वृक्ष इसी तरह से कर्त्ता से कर्म और कर्म से कर्त्ता का चक्कर चलता रहता है तथा यह निश्चित तौर पर नहीं कहा जा सकता कि प्रथमतः कर्म हुआ या कर्त्ता।[4] परन्तु यदि ऐसा ही है, तो कर्म का उत्तरदायित्व समाप्त हो जाता है और मनुष्य सुख और दुःख अपनी वासना के अनुसार भोगता है जिससे वह पैदा होता है। परन्तु यदि कर्त्ता और कर्म की उत्पत्ति एक साथ ही हो तो पूर्व जन्म के कर्म से वर्तमान जन्म निश्चित नहीं होना चाहिए और इसका अर्थ यह होगा

---

1 चितो यच्चेत्य कलनं तन्मनस्त्वमुदाहृतम्। चिद् भागोऽत्राजडोभागो, जाड्यमत्र हि चेतता।–3.91.37।

2 –3.96.15.4.54.7।

3 ब्रह्मणः कारणं किं स्याद् इति वक्तु न युज्यते। स्वभावो निर्विशेषत्वाद् परो वक्तुं न युज्यते।–4.18.22।

4 यथा कर्म च कर्त्ता च पर्यायेणेह संगतौ

कि मनुष्य के सुख और दुःख उसके कर्मों पर आधारित हैं। श्री रामचन्द्र के यह प्रश्न प्रस्तुत करने पर वशिष्ठजी कहते हैं कि कर्म आत्मा के कारण नहीं होता अपितु मनस् के कारण होता है। मानसिक संकल्प-विकल्प से ही कर्म होता है। प्रथमतः जब मनस् तत्त्व सत् के रूप में ब्रह्म से उत्पन्न होता है तो कर्म भी उसी क्षण आरम्भ हो जाता है और उसके परिणामस्वरूप आत्मा और शरीर का संबंध होते ही वे व्यक्त हो जाते हैं। कर्म और मनस् एक अर्थ में एक ही वस्तु हैं। इस जगत् में क्रिया-स्पंदित कर्म कहलाता है और चूँकि मनस् के स्पंदन से क्रियाएँ होती हैं और सुख और दुःख के भोगों के साथ समस्त शरीर उत्पन्न होते हैं, इसी तरह से जो शरीर, भौतिक स्थूल कर्म से संबंधित है वास्तव में वह मनस् और उसके स्पंदन के अतिरिक्त कुछ नहीं है। मनस् सार रूप से कर्म अथवा स्पंदन ही है और स्पंदन का बंद होना ही मनस् का नाश होना है (कर्मनाशे मनोनाशः)[1] जैसे उष्णता अग्नि से अथवा कृष्णता अंजन से पृथक् नहीं की जा सकती, इसी तरह से स्पंदन और क्रिया मनस् से पृथक् नहीं की जा सकतीं। यदि एक समाप्त होता हैं तो दूसरा भी आवश्यक रूप से समाप्त हो जाता है। मनस् का अर्थ वह क्रिया है जो भाव और अभाव के बीच स्थित रहती हैं और अभाव से भाव उत्पन्न करती है; वह स्वाभाविक तौर पर गत्यात्मक है और मनस् के नाम से प्रसिद्ध है। मनस् की इसी क्रिया के द्वारा ज्ञाता-ज्ञेय रहित शुद्ध चैतन्य अहंता का रूप धारण करता है। इस तरह मनस् सतत क्रियाशीलता का द्योतक है। कर्म का बीज मनस् स्पंदन है और जो क्रियाएँ उसके द्वारा सम्पादित होती हैं वे वास्तव में अनन्त हैं। संश्लेषणात्मक मनस् ही कर्मेन्द्रियों का कार्य कहा जा सकता है—जिससे समस्त क्रियाएँ होती हैं; और इसी कारण से कर्म को मन के अतिरिक्त और कुछ नहीं माना गया है। मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, कर्म, कल्पना, संसृति, वासना, विद्या, प्रयत्न, स्मृति, केवल नाममात्र सं भिन्न है और इन भिन्न-भिन्न नामों से ही भ्रम उत्पन्न होता है, वास्तव में वे केवल मनस् अथवा चित्त की क्रिया के अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं हैं अर्थात् एक ही तत्त्व है। ये भिन्न-भिन्न नाम केवल इसीलिए प्रचलित हुए हैं कि वे एक ही तत्त्व के भिन्न-भिन्न स्वरूप पर बल देते हैं। वे पृथक् पदार्थ अथवा वस्तुएँ नहीं हैं, केवल भिन्न-भिन्न सोपान, स्वरूप अथवा क्षण हैं। इस तरह चित्त की क्रिया का प्रथम क्षण भिन्न-भिन्न दिशाओं में भटकने वाली चित्त की क्रियाओं का क्षण मनस् कहलाता है। जब भटकने के पश्चात् दो विकल्पों के बीच में यह निर्णय होता है कि 'यह ऐसा ही है' तो वह बुद्धि कहलाती है। जब शरीर और आत्मा के संबंध का भ्रम हो जाता है तो यह व्यक्तित्व का भ्रम अहंकार कहलाता है। जब भूत की स्मृति और भविष्य की आशाओं के साथ विचार-विमर्श का सम्बन्ध हो जाता है तो वह चित्त कहलाता है। जब किसी दिशा की ओर स्पन्दन अथवा क्रियाशीलता के अर्थ में क्रिया का वास्तविक रूप समझा जाता है तो वह कर्म कहलाता है। जब, अपनी स्वयं पूर्ण स्थिति छोड़कर वह किसी वस्तु की इच्छा करता है ता हम उसे कल्पना कहते हैं। जब चित्त का पूर्व दृष्ट अथवा अदृष्ट किसी वस्तु की ओर झुकाव

कर्मणा क्रियते कर्त्ता कर्त्रा कर्म प्रणीयते
बीजांकुरादिवन्न्यायो लोकवेदोक्त एव सः। 3.95। 19.20।

1 3.95।

होता है और यह समझता है कि वह पूर्वानुभूत है तो हम उसको स्मृति का नाम देते हैं। जब अति सूक्ष्म नम्र रूप में भाव उत्पन्न होते हैं और वे अन्य सब भावनाओं को इस तरह से प्रभावित करते हैं जैसे कोई किसी वस्तु में राग अथवा द्वेष अनुभव किए गए हों तो वह वासना कहलाती है। जब यह अनुभूति होती है कि एक ओर आत्म-ज्ञान और दूसरी ओर मिथ्या एवं भ्रमात्मक दृश्य जगत् है तो हम इसे विद्या कहते हैं, अर्थात् आत्म और अनात्म का ज्ञान ही विद्या है। जब यथार्थ-ज्ञान की स्मृति नष्ट हो जाती है और झूठे जगत् प्रपंच का प्रभाव हमारे ऊपर यथार्थ-ज्ञान सवार हो जाता है तो हम उसको मल कहते हैं। पंच ज्ञानेन्द्रियों का कार्य हमें सुखप्रद लगता है और हम उन्हें इन्द्रियां कहते हैं चूँकि सम्पूर्ण जगत्-प्रपंच दृश्य की उत्पत्ति एवं आधार इस परम तत्त्व में है अतः वह प्रकृति कहलाती है। चूँकि यह यथार्थ स्थिति न तो भाव और न अभाव ही हो सकती है और चूँकि इससे अनन्त विसर्ग की उत्पत्ति होती है इसलिए उसे माया कहते हैं।[1] इस तरह वह एक ही दृश्य है जो जीव, मनस्, चित्त और बुद्धि के नामों से प्रचलित है।[2]

इस ग्रन्थ की एक विशेषता यह है कि यह साधारण प्रकार की दार्शनिक पुस्तक नहीं है, अपितु इसका मुख्य उद्देश्य पाठकों के हृदय में एक ही भाव को विविध प्रकार से उन आख्यानों एवं कविताओं को दोहराकर दृढ़ निश्चय उत्पन्न करने का प्रयत्न है जो महानतम संस्कृत कवि कालिदास की कविता से निम्न श्रेणी के नहीं हैं।

जगत्-प्रपंच

योग-वाशिष्ठ इस बात की पुनरावृत्ति करते नहीं थकता कि यह जगत् आकाश में वन अथवा कमल तथा शश-शृंग के सदृश है। परम ब्रह्म की स्थिति मनस् की स्थिति से उच्चतर है। मनस् होने से वही ब्रह्म अपने आपको चित्त में परिवर्तित कर देता है और इस तरह से यह परिवर्तनशील प्रतीतियों को उत्पन्न करता है। परंतु स्वयं ब्रह्म तत्त्व में कोई अन्य वस्तु नहीं हो सकती। (ब्रह्मतत्त्वेऽन्यता नास्ति)। यद्यपि मनस् में परिवर्तन होना और उसके द्वारा जगत्-प्रपंच की उत्पत्ति होना प्रतीत होता है, परन्तु यह परिवर्तन वास्तविक नहीं, अपितु भ्रमात्मक है; क्योंकि इस परिवर्तन की प्रतीति होते हुए तथा स्थित रहते समय भी ब्रह्म अविकारी और अपरिच्छिन्न एवं निर्लेप रहता है। इस तरह सम्पूर्ण दृश्य जगत् ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, एवं जो कुछ प्रतीत हो रहा है उसका अभाव ही है। द्रष्टा अपने आपको दृश्य में कभी परिवर्तित नहीं करता परन्तु अपने आप ही स्वयं समस्त दृश्यों में वही रहता है। परन्तु प्रश्न यह उठता है, कि यदि सृष्टि अथवा विसर्ग मन की भ्रमात्मक कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है तो इस जगत् की व्याख्या कैसे की जा सकती है? इस विचारधारा में ऐसे प्रश्न का स्वाभाविक उत्तर यही है कि यह व्यवस्था और समता कई लोकों में काल्पनिक उत्पत्तियों की समानता पर एवं आक-

---

1 3.96.17.31।

2 3.96.34।
जीव इति उच्यते लोके मन इत्यपि कथ्यते।
चित्तं इति उच्यते सैव बुद्धिरित्युच्यते तथा।

स्मिक बातों पर निर्भर है। यह आकस्मिक बात है कि कई स्वप्न-क्रम दूसरे स्वप्न-क्रमों से संगति रखते हैं।[1] परंतु वस्तुतः वे सब केवल एक मनस् की ही स्वप्न-रचनाएँ हैं। होता यह है कि वासना रूपी स्वप्न द्वारा भौतिक वस्तुएँ धीरे-धीरे अपने से पृथक् स्थायी रूप से रहती हुई समझी जाने लगती हैं। यद्यपि स्वप्न के रहते वे वास्तविक प्रतीत होती हैं फिर भी वे इस काल में सिवाय स्वप्न जगत् के और कुछ नहीं है। शुद्ध चैतन्य अपने आप स्वयं को बदलकर जो स्वप्न देखता है, वह ऐसा है कि स्वयं अपने में एक सा होता हुआ भी अन्य स्वयं देश, काल, क्रिया और द्रव्य के रूप में भिन्न-भिन्न सा प्रतीत प्रतिरूप यह जगद्रूप बड़ा भारी स्वप्न के सदृश प्रतीत होता है।

साधारण जाग्रत् स्थिति और स्वप्न स्थिति में अंतर यही है कि जाग्रदवस्था को हम स्थिर प्रत्यय समझते हैं और स्वप्नावस्था का हम सामान्यतः कोई स्थायी आधार नहीं समझते। स्थित रहने वाला कोई भी अनुभव स्वप्न हो अथवा नहीं स्थायी समझा जाता है चाहे यदि हमारे जाग्रत् प्रत्यय परिवर्तनशील समझे जाएं तो वे जबकि भी अपना स्थायित्व खो देते हैं और हमारा उनमें विश्वास ढिल-मिल हो जाता है। यदि स्वप्न के अनुभव कुछ समय तक रहें और जाग्रत अनुभव क्षणिक हों तो जाग्रदावस्था स्वप्नवत् समझी जाएगी और स्वप्न के दृश्य स्वप्नावस्था में साधारण अनुभव समझे जाएंगे। केवल जाग्रद-वस्था आने पर ही स्वप्न भंग होता है और तभी स्वप्नों का बाध होने के कारण मिथ्या समझे जाते हैं। परन्तु जब तक स्वप्नावस्था में स्वप्न दिखाई देता रहता है हम उसे झूठा नहीं समझते क्योंकि उस अवधि में स्वप्न के दृश्य स्थायी प्रतीत होते हैं और इसी कारण वास्तविक हैं। इस तरह से जाग्रत् अवस्थाओं और स्वप्न अवस्थाओं में केवल इतना ही अंतर है कि प्रथम अवस्था आपेक्षिक दृष्टि से स्थिर और चालू रहने वाली है और दूसरी अवस्था अस्थिर और परिवर्तनशील है।[2]

हमारे अंदर एक शुद्ध चैतन्यभाव है जो वस्तुतः जीव-धातु, वीर्य और तेजस् ही हैं। जाग्रदवस्था में जब शरीर का संबंध मन, वचन कर्म से होता है तो बुद्धि अपना कार्य करना प्रारंभ कर देती है जिसके परिणामस्वरूप सब तरह का सांसारिक ज्ञान उत्पन्न होता है और उसके कारण जगत् प्रपंच की माया व्यक्त हो जाती है जैसे इंद्रियों के गोलकों द्वारा बाह्य स्पर्श से कोई वस्तु अंदर आती है और यही स्थिर एवं निश्चित स्वभाववाली होने से जाग्रत् अवस्था कहलाती है। सुषुप्तावस्था वह है जिसमें शरीर मनस्, कर्म अथवा वचन की क्रिया से क्षुब्ध नहीं होता। बुद्धि शान्त रहती है और उसमें बिना किसी बाह्य अभि-व्यक्ति के तिल में तेल की तरह प्रसुप्तावस्था में रहती है।[3] जब जीव-धातु अतिक्षुब्ध हो

---

1 मेलनमयि स्वकीयपरकीयस्वप्नानां दैवात् क्वचित् संवादवत् स्वान्तःकल्पनात्मकमेव।
—योगवाशिष्ठ तात्पर्य प्रकाश, 4. 18. 46।

2 जाग्रत्स्वप्नदशाभेदो न स्थिरास्थिरते विना। समः सदैव सर्वत्र समस्तोऽनुभवोऽनयोः। स्वप्नोऽपि स्वप्नसमये स्थैर्याज्जाग्रत्त्व ऋच्छति अस्थैर्यात् जाग्रदेवास्ते स्वप्नस्ता-दृशबोधतः।
—4. 19. 11. 12।

3 4. 19. 23।

जाता है तो हमें स्वप्नावस्था के अनुभव होते हैं। जब कभी मनस् अपने-आप की कोई वृत्ति से पूर्णतया एकत्व स्थापित कर लेता है तो वह अपने-आपको ऐसी ही वृत्ति वाला बना हुआ प्रतीत होता है जैसेकि अग्नि में लोहे का गोला स्वयं अग्नि के समान हो जाता है। मनस् ही पुरुष और विश्वरूपता (दृश्य) है।[1] सांख्य दर्शन के अनुयायी मनस् को शुद्ध चित्त समझते हैं और उन्होंने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन विस्तारपूर्वक किया है और उनके मत में सांख्य शास्त्र में बताए गए साधनों के अतिरिक्त किसी अन्य साधन द्वारा मोक्ष-प्राप्ति नहीं होती। वेदान्त के अनुयायियों का भी यह विचार है कि यदि कोई सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्म समझे और आत्मसयमक इच्छाओं की निवृत्ति यदि इसी ज्ञान के साथ जोड़ दे तो मोक्ष सम्भव है। विज्ञानवादियों की यह धारणा है कि यदि पूर्ण इंद्रियदमन एवं विषयों की समाप्ति हो जाए और साथ ही उसको यह ज्ञान हो जाए कि जगत्-प्रपंच स्वयं उसके ही भ्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है अर्थात् मिथ्या है तो वह निर्वाण प्राप्त कर सकता है। इस तरह से प्रत्येक दर्शन मोक्ष के झूठे नियमों को बहुत कुछ बढ़ा-चढ़ा कर कहता है और उसका कारण परपरागत गलत विचारधाराएँ ही है। परन्तु इन सब विचारधाराओं के मूल में सत्य यह है कि मनस् ही अखिल सृष्टि का मूल हैं। वास्तव में सुख या दुःख, मधुर अथवा कटु, उष्ण अथवा शीत, स्वतः है ही नहीं; और ऐसी प्रतीतियाँ केवल मन के ऐसा स्वभाव बन जाने से ही होती है जब कोई मान लेता है और पूर्ण श्रद्धा के साथ किसी विशिष्ट विचार में फंस जाता हैं तो उस वस्तु को उसी विचार से देखना प्रारंभ कर देता है।[1]

कर्तृत्व एवं जगत्-प्रपंच की माया

जब कभी सुख अथवा दुःख के कार्य का अथवा पूर्ण इच्छा शक्ति के प्रयोग जैसे कि योग साधन के प्रयोग वाले कार्यों के संबंध में किसी व्यक्ति को जब हम कर्तृत्व प्रधान कहते हैं तो हम गलती करते हैं क्योंकि कर्तृत्व इच्छा एवं निश्चय का काम है। अतः वह मनस् का आंतरिक निश्चय या वासनाभिधान और इच्छाएँ हैं।[5] विषयों को भोग की ओर ले जाने वाली मनुष्य में आंतरिक क्रिया इन इच्छाओं अथवा वासनाभिधान के अनुसार ही होती है और इससे उसको विशेष रूपों के भोग प्राप्त होते हैं इस तरह से हमारे सार भोग हमारे स्वभाव एवं आचार-विचार के स्वाभाविक परिणाम हैं, और वे ही भोगों के कर्ता हैं क्योंकि सम्पूर्ण कर्तृत्व हमारे आंतरिक इच्छा प्रयत्न में है। इसके प्रयोग से जो भोग मिलते हैं वह मन के भाव विकारों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जो इच्छा के क्रियात्मक प्रयोग से उत्पन्न होते हैं। समस्त कर्म अथवा कतृत्व इस तरह से मूल वासना से संबंधित है और इस कारण ये दोनों उन लोगों के लिए संभव है जो सत्य को नहीं जानते और जिनके मनस्

---

1 4. 20. 4।

2 न ज्ञेनेह पदार्थेषु, रूपमेकमुदीयंते।
दृढ़भावनया चेतो यद्यथाभावयत्यलम्।
तद् तद् फलं तदाकारं कालं तावत् प्रपश्यति।
न तदस्ति न यत् सत्यं न तदस्ति न यन् मृषा। —4. 21. 56. 57।

3 योह्यन्तरस्थायाः मनोवृत्तेर्निश्चयः उपादेयताप्रत्ययो वासनाभिधानतत्कतृत्वशब्देनोच्यते।
—4. 38. 2।

मूल वासनाओं से परिपूर्ण रहते हैं। परन्तु जो वासना-रहित हैं उनका कोई कर्तृत्व अथवा भोक्तृत्व नहीं हो सकता। निस्संदेह उनका मनस् सदा कर्मशील रहता है और वे स्वयं प्रत्येक समय कुछ न कुछ करते ही रहते हैं। परन्तु वासना-रहित होने के कारण उनमें फलासक्ति नहीं है और उनके कर्म अनासक्तिपूर्वक चलते रहते हैं। जो कुछ मनस् करता है वही होता है, और जो वह नहीं करता वह नहीं किया जाता, अतः मनस् ही करता है न कि शरीर। जगत् चित्त अथवा मानस से व्यक्त हुआ है, उसी धातु का है, और उसी में स्थित है। प्रत्येक वस्तु केवल मानसिक है और इसका कोई दूसरा अस्तित्व नहीं है। अंततोगत्वा प्रत्येक वस्तु ब्रह्म से ही उत्पन्न हुई है क्योंकि समस्त शक्तियों का श्रोत वही है, इसलिए सब शक्तियाँ—भाव, अभाव, एकत्व, द्वैत एवं अनंत ब्रह्म में ही प्रतीत होती हैं और ब्रह्म से ही इनकी उत्पत्ति है। चित्त अथवा मनस् शुद्ध चित्त अथवा ब्रह्म का विकास है जैसा कि उपरोक्त वर्णन में कहा जा चुका है। ब्रह्म के द्वारा ही कर्म, शक्ति, वासना और सम्पूर्ण मानसिक विकार प्रकट होते हैं। परन्तु यदि प्रत्येक वस्तु ब्रह्म से निकली है तो यह समझ में नहीं आता कि जगत्प्रपंच अपने स्रोत अर्थात् ब्रह्म से इतना भिन्न क्यों है? जब कोई कार्यकारण से उत्पन्न होता है तो यह आशा करना स्वाभाविक है कि यह दोनों वास्तव में समान होगे अतएव यदि जगत् या सृष्टि ब्रह्म से उत्पन्न हुई है तो वह ब्रह्म के समान ही होनी चाहिए; परन्तु ब्रह्म निरंजन है और सृष्टि शोकानुकूल है, इसका स्पष्टीकरण कैसे हो? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि जिस व्यक्ति को पूर्ण स्वानुभूति हो गई है कि सम्पूर्ण जगत्-प्रपंच ब्रह्म के गर्भ से निकला है और उसका कोई अस्तित्व नहीं है, तो, न तो इस सृष्टि में कोई शोक रहेगा और न कोई ऐसा गुण रहेगा जो ब्रह्म से भिन्न हो। केवल उसी व्यक्ति की दृष्टि में जगत् और ब्रह्म के बीच में महान् अंतर प्रतीत होता है जिसने परम तत्त्व का अनुभव नहीं किया हो। बिना पूर्ण अनुभूति के ब्रह्म एवं सृष्टि के एकत्व का केवल शुष्क ज्ञान सब प्रकार के पापों का कारण है। इस हेतु उस व्यक्ति को सृष्टि और ब्रह्म के एकत्व का उपदेश नहीं देना चाहिए। जिसने अपने मन को इन्द्रिय-निग्रह और भोगों के प्रति वैराग्य के आवश्यक गुणों द्वारा शुद्ध नहीं कर लिया हो।[1] यथा इन्द्र-जाल में घट-पट के रूप में और पट-घट के रूप में असत् वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण होता है और सत् का निरास हो जाता है. सब तरह के आश्चर्यपूर्ण दृश्य दिखाए जाते हैं और इन प्रतीतियों की स्वयं की वस्तु-स्थिति कुछ भी नहीं होते हुए भी यही उपमा जगत् की उत्पत्ति मनस् से की है। न तो कोई कर्त्ता है और न सम्पूर्ण कोई जगत् के सुख-दुःखों का भोक्ता है और न किसी का कोई विनाश है।[2]

यद्यपि परम-स्थिति अवाच्य ब्रह्म अथवा चित् है फिर भी सृष्टि एवं प्रलय का चक्र मनस् से ही प्रारम्भ होता है। तथाकथित सृष्टि की रचना के प्रारम्भ में मनस् की क्रिया शक्ति जाग्रत होती है। प्रारम्भ से ही इस शक्ति का प्रवाह गर्भस्थ स्थिति तक पहुँचने का अर्थ मनस् में शक्ति-संग्रह है जिससे 'घन' कहते हैं और जो स्पंदनात्मक मन की अस्पंदन स्थिति है। आगे चलकर शक्ति की यह अस्पंदनस्थिति शक्ति के आगे के प्रवाह से मिश्रित होती

---

1 आदौ शमदमप्रायैर्गुणैः शिष्यं विशोधयेत्
पश्चात् सर्वं इदं ब्रह्म शुद्धस्त्वम् इति बोधयेत्। —4. 39. 23।

2. नात्र कश्चित् कर्त्ता न भोक्ता न विनाशमेति। —4. 39. 41।

है और परिणामतः वह द्वितीय श्रेणी का स्थिर शक्ति-संग्रह हो जाता है फिर शक्ति का दूसरा प्रवाह आता है और उससे तीसरी श्रेणी की स्थिर शक्ति बन जाती है। यह क्रम चलता ही रहता है। इस तरह से मनस् सर्ग का रास्ता विचारों की वास्तविक शक्ति एवं शक्ति के क्रियात्मक रूप की अंतःक्रिया के द्वारा है जो परम सत् की शक्ति के भंडार से प्रत्येक कर्मी बहाव से मिश्रित हो जाती है। अतः यह कहा जाता है कि मनस् का प्रथम स्पंदन आकाश के रूप में व्यक्त हुआ और इस शक्ति के बहाव के परिणामस्वरूप मनस् में शक्ति का 'घन' बन गया, और दूसरा स्पंदन मनस् में और हुआ जो पूर्वावस्था के घनशक्ति से विकृत होकर वायु हुआ। इस मनस् की शक्ति के द्वितीय विकार से वायु उत्पन्न होने के बाद क्रम चलता ही रहा और इस तरह के मनस् के बहाव प्रत्येक सोपान पर विकृत होकर घन का बनना घनस्पंद क्रम कहलाता है।[1] आकाश, वायु, तेज, अप एवं पृथ्वी सम्पूर्ण तथाकथित तन्मात्राएँ उपरोक्त क्रम से उत्पन्न होती हैं, और पश्चात् अहंकार एवं बुद्धि अर्थात् सूक्ष्म शरीर अर्थात् पुर्यष्टक उत्पन्न होते हैं, पत्पश्चात् ब्रह्म का विराट् स्वरूप मनस् में निहित वासना के अनुसार बनता है एवं विकसित होता है। इस प्रकार हमें पहले आकाश तन्मात्रा और आकाश तन्मात्रा शक्ति के बहाव से वायु तन्मात्रा, फिर आकाश तन्मात्रा वायु तन्मात्रा और तीसरी शक्ति के बहाव से तेजस् तन्मात्रा और इसी प्रकार के आगे की तन्मात्रा, तन्मात्राओं अहंकार और बुद्धि से हमें अष्ट प्रकार की अर्थात् पांच तन्मात्राएँ, अहंकार, बुद्धि एवं शुद्ध चित्त का सूक्ष्म शरीर बन जाता है, जो ब्रह्म का पुर्यष्टक कहलाता है। इससे ब्रह्म का शरीर विकसित होता है, ब्रह्म के मनस् द्वारा भौतिक तत्त्व और सम्पूर्ण जगत् प्रपंच की सृष्टि होती है। परन्तु है यह सम्पूर्ण मानसिक खेल, अतएव असत् है, और इसी तरह से समस्त शास्त्र, देवता और देवियें और सब कुछ जो वास्तविक दिखाई देता है, वह सब वस्तुतः असार है।

जीवन्मुक्त के सोपान

योगवाशिष्ठ के अनुसार मुक्ति मनुष्य के जीवनकाल में अथवा उसकी मृत्यु के पश्चात् प्राप्त हो सकती है; प्रथम मुक्ति सदेह-मुक्तता अथवा जीवन्मुक्ति कहलाती है। जीवन्मुक्त अवस्था वह है जिसमें संत के कोई वासना (अपगतैषणः) नहीं रहती और वह सुषुप्तवत्-सा रहता है। वह आत्मरत रहता है और उसके विचार में किसी वस्तु का भाव नहीं है। उसकी दृष्टि सदा अंतर्मुखी ही रहती है, यद्यपि वह अपने बहिश्चक्षु से वस्तुओं को देखता है और अपने सम्पूर्ण कर्मेन्द्रियों की समस्त क्रियाएँ करता रहता है। वह भविष्य की प्रतीक्षा नहीं करता, न वर्तमान में रहता है और न भूत को याद करता है। वह सोता हुआ भी जाग्रत् है और जाग्रत् भी सुषुप्त है। वह सम्पूर्ण कर्म बाह्य रूप से करता हुआ भी आंतरिक रूप से उनसे पूर्णतया अप्रभावित रहता है। वह अंतर से समस्त कर्मों को संन्यस्त करता है और अपने लिए कोई इच्छा नहीं रखता। वह आनंद से परिपूर्ण रहता है और इसी कारण साधारण दृष्टि वाले लोगों में साधारण सुखी व्यक्ति दिखाई देता है, परन्तु वह वास्तव में सब तरह के काम करता हुआ भी अपने आप को कर्तृत्व से मोहित नहीं करता (त्यक्तकर्तृत्वविभ्रमः) अर्थात् उसको कर्ता होने का भ्रम नहीं होता। उसको

---

1 4.44.13,30।

द्वेष, शोक, संवेग अथवा सुख के उद्वेग नहीं होते। वह अपने साथ शुभ अथवा अशुभ करने वालों के प्रति तटस्थ रहता है; वह प्रत्येक व्यक्ति के साथ अपने स्वयं के ढंग से सहानुभूतिपूर्ण रुचि दिखाता है; बच्चों के साथ खेलता है और बूढ़ों के साथ गंभीर हो जाता है; और युवकों का प्रिय सखा बन जाता है; और दुःखियों के दुःख में सहानुभूति प्रकट करता है। वह जिस किसी के संपर्क में आता है उसके साथ बुद्धिमत्ता और प्रेमपूर्वक सुखद व्यवहार करता है। वह अपने शुभ कर्मों में, भोगों में, पापों में, बंधन में अथवा मुक्ति में कोई रुचि नहीं दिखाता। उसको सम्पूर्ण जगत् प्रपंच के सार एवं स्वभाव का सच्चा दार्शनिक ज्ञान होता है और वह शुभाशुभ अथवा तटस्थ भौतिकी घटनाओं में तटस्थ रहता है। परन्तु उपर्युक्त विवरण से यह प्रकट है कि संत में इस तरह का तटस्थ दृष्टिकोण उसको विरक्त एवं दृढ़ विचार-युक्त होने के कारण असंसारी नहीं बनाता, क्योंकि वह स्वयं अपने आत्मरत रहता हुआ एवं प्रत्येक तरह से अप्रभावित रहता हुआ दूसरों के आनंद में भागीदार हो सकता है; और दुखियों के दुःख में सहानुभूति रख सकता है तथा बच्चे के सदृश खेल सकता है।[1]

जीवन्मुक्ति शंकर भी सम्भव मानते हैं यद्यपि उन्होंने अपने ब्रह्मसूत्र में इस शब्द का प्रयोग नहीं किया है। इस तरह से छांदोग्य (6-14-2) के आधार पर वह लिखते हैं कि ज्ञान से केवल उन्हीं कर्मों का नाश होता है जिनका भोग प्रारंभ में नहीं हुआ है; जिन कर्मों का भोग प्रारंभ हो गया है उनका नाश सच्चे ज्ञान से भी नहीं हो सकता; और इस तरह से किसी के लिए शुभ अथवा अशुभ कर्मों के फल से छुटकारा पाना असंभव है; और यह मानना ही पड़ेगा कि सच्चे ज्ञान के उदय होने के पश्चात् भी उन प्रारब्ध भोग के हेतु शरीर रहता है जिनका कि फल प्रारंभ हो गया है और उनका क्षय भोग अथवा दुःख के द्वारा नहीं हुआ है। ऐसी स्थिति के स्पष्टीकरण में शंकर दो उपमाओं का उपयोग करते हैं (1) निर्मित होने वाले घड़े के पूर्ण हो जाने पर भी जैसे कुम्हार की चाक चलती ही रहती है, इसी तरह से शरीर जो कि शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति तक आवश्यक होता है, ऐसे ज्ञान के उदय होने के पश्चात् भी कुछ समय तक चालू रहता है। (2) जैसे कि आँख का रोगी यह निश्चय होने पर भी कि चंद्र दो नहीं है अपितु एक है, एक की अपेक्षा दो चंद्र देखता है इसी तरह से जीवनमुक्त को जगत्-प्रपंच की असत्यता की दृढ़ प्रतीति होने पर भी वह माया का दृश्य देखता रहता है यद्यपि वह अंतर में उससे अप्रभावित रहता है।[2] उपनिषदों में केवल उत्तरकालीन मुक्तिक-उपनिषद में जिसने योगवाशिष्ठ से प्रेरणा ली प्रतीत होती है, जीवनमुक्त शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ वह संत है जो प्रारब्ध कर्म के भोग क्षय होने तक जीवित रहते हैं।[3] परन्तु यद्यपि उपरोक्त शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है फिर भी इसके सम्बन्ध में मान्यता अत्यन्त पुरानी प्रतीत होती है।

श्रीमद्भगवद्-गीता में स्थितप्रज्ञ का विवरण हमें जीवन्मुक्त संत की अवस्था की याद दिलाता है। स्थितप्रज्ञ में कोई वासना नहीं होती, वह आत्मरत रहता है, न तो उसके

1 5.77।

2 शंकर का ब्रह्मसूत्र, 4. 1. 15. 19।

3 मुक्तिक उपनिषद्, 1. 42. 11. 33. 35. 76 भी।

आसक्ति है न भय है और न क्रोध, वह दुःखों से विचलित नहीं होता और न सुख की स्पृहा करता है, वह पूर्णतया राग-द्वेष से विवर्जित रहता है। जैसे कछुआ अपनी इन्द्रियों को अंदर खींच लेता है इसी प्रकार वह विषयों से अपने आपको अलग रखता है।[1] श्रीमद्‌भगवद्-गीता का उपरोक्त भाव योगवाशिष्ठ में भी अपने स्वयं के ढंग से उल्लिखित है।[2] परन्तु ऐसा प्रतीत होता है योगवाशिष्ठ का जीवन्मुक्त गीता के स्थितप्रज्ञ से ऊँचा इस अर्थ में रख दिया गया है कि यह जीवन्मुक्त पुण्य एवं पाप के परिणाम के फलस्वरूप सुख-दुःख से पूर्णतः अप्रभावित रहता हुआ भी हम से बिल्कुल विरक्त नहीं है क्योंकि अपने स्वयं के कल्याण में वह रुचि न रखता हुआ भी दूसरों के सुख में सुखी एवं दूसरों के दुःख में सहानुभूति रखता है; वह बच्चे के सदृश आनंद मना सकता है जबकि बच्चों के साथ हो, और जब दार्शनिक अथवा वृद्धों के साथ हो तो उतना ही गंभीर हो सकता है जितना कि अन्य दार्शनिक। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता का कहना यह नहीं है ऐसे गुण स्थितप्रज्ञ में नहीं है, फिर भी उनका उल्लेख वहाँ नहीं किया गया है और ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें जीवन्मुक्त के विरक्त और निवृत्ति प्रधान दृष्टि पर ही बल दिया गया है; जबकि योगवाशिष्ठ ने, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, जीवन्मुक्त संत के निवृत्ति और प्रवृत्ति, दोनों पक्षों पर बल दिया है। वह पूर्णतः अप्रभावित रहते हुए भी समाज से विरक्त नहीं है और अपने मानसिक संतुलन को किसी तरह से खोए बिना भी प्रत्येक प्रवृत्ति में भाग लेता हुआ प्रतीत होता है। गीता सदा निश्चित रूप से अनासक्त योगी के लिए भी शुभ कर्म करने का विधान करती है; परन्तु उसमें यह कमी दिखाई देती है कि जीवन में सबके साथ पूर्ण और उचित रुचि लेने का आदेश नहीं है यद्यपि योगी सब कुछ करता हुआ भी पूर्णतः अंतर में अप्रभावित रहता है।

योगवाशिष्ठ में जीवन्मुक्त स्वयं अपने कर्म ही अनासक्त होकर नहीं करता अपितु प्रत्यक्षत दूसरों के सुख-दुःख में भागीदार हो जाता है।

यह प्रश्न कि जीवन्मुक्त स्वयं अपने कर्मों के अशुभ फल से ऊपर रहता है या नहीं, बौद्ध दर्शन में भी उठाया गया था। इस प्रकार हमें कथावत्थु में यह विवरण मिलता है कि योगी की हत्या सही काल के पूर्व हो सकती है या नहीं और यह भी कहा गया है कि किसी को निर्वाण की प्राप्ति संचित इच्छित कर्म के फल-भोग के बिना नहीं हो सकती।[3] धम्म-पद भाष्य (बलिंगम्) के अनुसार लगभग 450 ई०पू०) में एक आख्यान है कि महासंत मोगल्लान के चोरों ने टुकड़े-टुकड़े कर दिए और उसकी हड्डियों को पीसकर चावल के दाने के समान छोटे बना दिए, ऐसे महान् संत की इतनी दुखद मृत्यु से उनके शिष्यों में स्वाभाविक रूप से संशय उत्पन्न हुआ और इसका स्पष्टीकरण बुद्ध भगवान ने इस तरह किया कि उसने पूर्व जन्म में जो हत्या का अपराध किया था वही ऐसी मृत्यु का कारण था; यद्यपि उसने अर्हत्त्व उसी जन्म में प्राप्त कर लिया था फिर भी वह परिपक्व होने वाले अपने पापों के फल से बच नहीं सका।[4] इसका अर्थ यह हुआ कि योगित्व का अर्थ शरीर

1 श्रीमद्‌भगवद्‌गीता, 2. 55. 58।
2 वही, 2. 55–58।
3 कथा-वत्थु, 17. 2।
4 ई० डब्ल्यू० बलिंगेम्स कृत बौद्ध-आख्यान, द्वितीय खंड, पृ० 304, वही आख्यान जातक की भूमिका में 522 दोहराया गया है।

का नाश नहीं है और योगित्व प्राप्त करने के पश्चात् भी प्रारब्ध-कर्मों के फल भोगने के हेतु स्थित रहता है।

भिन्न-भिन्न भारतीय दर्शन जीवन्मुक्त-अवस्था की सम्भावना के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं हैं। इस प्रकार न्याय दर्शन के अनुसार अपवर्ग केवल उसी अवस्था में सम्भव है जब जीवन सब प्रकार के नौ भावों (अर्थात् सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, ज्ञान, प्रयत्न, पुण्य, पाप और वासना) से पूर्णतः छुटकारा प्राप्त कर ले। जब तक वस्तुतः यह विलगता नहीं हो तबतक मुक्ति सम्भव नहीं हो सकती और यह मानना कठिन नहीं है कि यह मृत्यु के बाद भी सम्भव हो सकता है, अतः मोक्ष शरीर जीवित रहने तक सम्भव नहीं है।[1] इस विषय का विवेचन वात्स्यायन ने न्याय सूत्र IV-2-42-45 में निम्न प्रकार से किया है कि बाह्य वस्तुओं का इन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नहीं है क्योंकि अपवर्ग में जीव शरीर से और सब इन्द्रियों से पृथक् हो जाता हैं; अतः ज्ञान सम्भव नहीं है, और ज्ञान के नष्ट होने पर दुःख की भी आत्यन्तिक एवं पूर्ण निवृत्ति हो जाती है।[2] वैशेषिकों ने उसी मत को मान्यता दी है। श्रीहर्ष कहते हैं कि, जब परमार्थ दर्शन द्वारा सम्पूर्ण पुण्य समाप्त हो जाता हैं, तब जीव पुण्य और पाप के बीजों को दग्ध कर देता है जो शरीर एवं इन्द्रियाँ इत्यादि का कारण है और वर्तमान शरीर पुण्य और पाप के भोगों को भोग के द्वारा क्षय करने से समाप्त हो जाता है और कर्म के बीजों के दग्ध हो जाने से नया शरीर उत्पन्न होना सम्भव नहीं है; इसलिए शरीर का नाश हो जाता है, जैसेकि सम्पूर्ण समिधा जलने से अग्नि समाप्त हो जाती है. और ऐसी शरीर की नित्य अनुत्पत्ति को मोक्ष कहा जाता है।[3]

प्रभाकर का भी यही मत प्रतीत होता है। इस तरह शालिकनाथ अपने प्रकरण-पंचिका में प्रभाकर के मत का विवेचन करते हुए कहते हैं कि शरीर का पुण्य और पाप के भोग-क्षय से अन्ततःपूर्ण समाप्त हो जाना ही मोक्ष है।[4] यह कठिन प्रश्न प्रस्तुत किया

---

1 तदेव नवानां आत्मगुणानां निर्मूलोच्छेदोऽपवर्गः।
तदेवेदं उक्तं भवति तदत्यन्तवियोगोऽपवर्गः।

—न्यायमंजरी, पृ० 508।

2 यस्मात् सर्वदुःखबीजं सर्वदुःखायतनं चापवर्गः।
विच्छिद्यते तस्मात् सर्वेण दुःखेन विमुक्तिः,
अपवर्गो नो निर्बीजं निरायतनं च दुखं उत्पद्यते।

—न्यायसूत्र पर वात्स्यायन, 4.2.4.3।

3 यथा दग्धेन्धनस्यानलस्योपशमः पुनरनुत्पाद एवं पुनः शरीरनुत्पादो मोक्षः।

—न्याय-कंदली, पृ० 283।

4 आत्यन्तिकस्तु देहोच्छेदो निश्शेषधर्माधर्मपरीक्षयनिबंधनो मोक्ष इति।

—प्रकरण-पंचिका, पृ० 156।

प्रशस्तपाद ने भी लिखा हैं : तदा निरोधात् निर्बीजस्यात्मनः शरीरादिनिवृत्तिः पुनः शरीराद्यनुत्पत्तौ दग्धेन्धनानलवद् उपशमो मोक्ष इति।

—प्रशस्तपादभाष्य, पृ० 282।

गया है कि अनादिकाल से संचित कर्मों के सुख-दुःख रूपी भोगों का क्षय सम्भव नहीं है; जगत् के दुःख, दुःख से मिश्रित सुख से विरक्त होने के कारण वह मोक्ष के लिए यत्न करता है, और इसी हेतु वैदिक विधान से निषिद्ध उन कर्मों को करने से अपने-आपको रोकता है, जो पापयुक्त है, वह पूर्वजन्म के शुभाशुभ फलों कर्मों का भोग एवं दुःख के द्वारा क्षय कर देता है, वही यथार्थ ज्ञान प्राप्त करता है, और उन सात्त्विक शान्ति, इन्द्रिय निग्रह, और ब्रह्मचर्य के नैतिक गुणों से सम्पन्न होकर अंत में अपने कर्मों के निःशेष कर्माशय को समाप्त कर देता है और मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है।[1] निस्संदेह यह दृष्टिकोण इस जीवन में इतनी उच्च अवस्था का विवेचन है जबकि कोई नए कर्मों का संचय नहीं होता, परन्तु इस अवस्था को भी जीवन्मुक्त की अवस्था नहीं कहा गया है, क्योंकि इस मत के अनुसार मोक्ष निरपेक्ष एवं शरीर की अंततः अनुत्पत्ति ही है।

सांख्यकारिका का मत है कि जब सम्यक् ज्ञान का अधिगम हो जाता है और जब उसके परिणामस्वरूप अनादि-काल से संचित कोई भी कर्मों के नियत विपाक फल भोगने के हेतु परिपक्व हो गए हैं तो शरीर केवल अनादि अविद्या के अनुद्योग के कारण स्थित भले ही रहे, जैसेकि कुम्भकार का चक्र कार्य समाप्त करने के पश्चात् भी गतिमात्रा प्राप्त कर लेने के फलस्वरूप गतिमान रहता है।[2]

जीवन्मुक्त शब्द का न तो कारिका में न तत्त्व-कौमुदी में और न तत्त्व विभाकर में ही प्रयोग किया गया है। सांख्य-सूत्र इस शब्द का प्रयोग उसी आधार पर करता है जैसाकि वाचस्पति। सांख्य-सूत्र और विशेषकर प्रवचन-भाष्य, मंद विवेक, मध्य विवेक एवं विवेक-निष्पत्ति का त्रिविध सामान्य प्रत्यय प्रस्तुत करता है।[3] मंद विवेक का सोपान वह है जिसमें साधक ने प्रकृति एवं पुरुष में भेद का अभीष्ट ज्ञान प्राप्त नहीं किया परन्तु उसके लिए प्रयत्न कर रहा है; मध्य विवेक वह सोपान है जो जीवन्मुक्त की अवस्था है। परन्तु यह असंप्रज्ञात अवस्था है अर्थात् वह अवस्था जिसमें ज्ञाता-ज्ञेय का ज्ञान और पूर्ण विवेक है। अन्तिम सोपान विवेक निष्पत्ति असंप्रज्ञात अवस्था है जिसमें ज्ञाता-ज्ञेय का कोई ज्ञान नहीं है, अतः इस अवस्था में पुरुष पर (प्रारब्ध कर्मों के कारण) सुख अथवा दुःखों का कोई प्रभाव नहीं होता।

इस विषय में सांख्य के सामान्य सिद्धान्तों से योग का भी मतैक्य है। जो व्यक्ति मोक्ष की स्थिति के निकट पहुँच जाता है उसके अन्दर आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में कोई

---

1 वही, पृ॰ 157।

2 सांख्य-कारिका, 67, 68। यहाँ तत्त्व कौमुदी अपना मन्तव्य छांदोग्यउपनिषद् 6.14.2 पर आधारित करने का प्रयत्न करती है जैसाकि शंकर ने ब्रह्म सूत्र भाष्य पर किया। वंशीधर मिश्र कृत तत्त्व विभाकर वाचस्पति कृत तत्त्व कौमुदी पर टीका करते हुए मुण्डक उपनिषद्, 11.2.8 को और श्रीमद्भगवत्गीता 4,33 को भी अपनी पुष्टि में उद्धृत करते हैं। योगवाशिष्ठ से तुलना कीजिए; घना न वासना यस्य पुनर्जननवर्जिता।

3 सांख्य-सूत्र 3.77.83।

संशय नहीं रहता, और वह आत्मा स्वरूप में पुनः स्थित होना एवं अपने को अपने सत्त्व से बिल्कुल भिन्न समझना प्रारम्भ कर देता है, परन्तु पुराने संस्कारों एवं वासनाओं की सड़ी हुई जड़ों के स्थित रहने के फलस्वरूप शुद्ध विवेक के प्रवाह के साथ अन्य साधारण ज्ञानात्मक अवस्थाएँ उत्पन्न हो जाती हैं यथा 'मैं हूँ', 'मेरा', मैं ज्ञाता हूँ', 'मैं ज्ञाता नहीं हूँ' आदि; फिर भी पुराने संस्कारों के पहले ही दग्ध हो जाने से ये उपरोक्त आकस्मिक साधारण भाव नये संस्कार उत्पन्न नहीं कर सकते। जबतक कि चित्त का पूर्णतः नाश नहीं हो जाए ज्ञान संस्कार फिर भी रहते हैं। वस्तु-स्थिति यह है कि अवचेतन संस्कारों के जगत् में बीजों का नाश हो जाने के बाद भी जो साधारण ज्ञानात्मक अवस्थाओं की कभी-कभी प्रतीति हो जाती है परन्तु वह केवल उन कुछ पुराने संस्कारों का शेष रहने के कारण ही है उनकी जडें पहले से ही जल चुकी हैं, वे कोई नये संस्कार उत्पन्न नहीं कर सकते और इस प्रकार वे योगी के बन्ध के कारण नहीं हो सकते। इस अवस्था की प्रगति के साथ-साथ साधु का एकाग्रता के साधनों की ओर कोई झुकाव नहीं रहता, और केवल विवेक ज्ञान ही रह जाता है; समाधि की यह अवस्था धर्म-मेघ कहलाती है। इस सोपान पर अविद्या एवं अन्य दुःखों के बीज पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं और ऐसी स्थिति में योगी जीवित रहता हुआ भी विमुक्त रहता है। इसके आगे का सोपान कैवल्य की अवस्था है जबकि चित्त प्रकृति में लय हो जाता है और फिर पुरुष को प्राप्त नहीं होता।[1]

उत्तरकालीन लेखकों में विद्यारण्य ने इस विषय पर एक जीवन्मुक्ति-विवेक नामक ग्रन्थ लिखा।[2] इसके पाँच अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में उन ऋषियों का विवेचन है जो जीवन्मुक्ति की पुष्टि करते हैं; दूसरे में वासनाओं के नाश के सम्बन्ध का प्रसंग है; तीसरे में मनस् के नाश का विवरण है; चौथा जीवन्मुक्ति के उद्देश्य के सम्बन्ध में और पाँचवाँ उन संतों के स्वभाव एवं लक्षणों के सम्बन्ध में है जिन्होंने विद्वत्-सन्यास द्वारा जीवन्मुक्ति प्राप्त कर ली है, और जीवित रहते हुए भी संसार से उपरात हो गए हैं। यह पुस्तक कई भिन्न-भिन्न श्रोतों का संग्रह मात्र है, न कि विषय के गहन दार्शनिक विवेचन की पुस्तक। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक का मुख्य प्रेरक योगवाशिष्ठ है, यद्यपि वह दूसरे कई ग्रन्थों में उपयुक्त अंशों का उल्लेख करते हैं, यथा बृहदारण्यक उपनिषद्, मैत्रेयी ब्राह्मण, कहोल ब्राह्मण, शारीर ब्राह्मण, जाबाल ब्राह्मण, कथावल्ली, गीता, भागवत, बृहस्पति-स्मृति सूत-संहिता, गौड़-पाद-कारिका, शांकर-भाष्य, ब्रह्म-सूत्र, पंचपादिका, विष्णुपुराण, तैत्तिरीय-ब्राह्मण, योगसूत्र; नैष्कर्म्य-सिद्धि, कौशीताकी, पंचदशी, अंतर्यामीब्राह्मण, व्यास-भाष्य, ब्रह्म-उपनिषद्, यम के ग्रन्थ, पराशर, बोधायन, मेधातिथि, विश्वरूप आचार्य इत्यादि।

उसके विचार में विरक्ति दो प्रकार की है, तीव्र और तीव्रतर। तीव्र विरक्ति वह है जिसमें व्यक्ति इस जन्म में किसी वस्तु की इच्छा नहीं करता और तीव्रतर विरक्ति वह है

---

1 योग-सूत्र एवं व्यास-भाष्य, 4.29-32।

2 यह विद्यारण्य पंचदशी के लेखक विद्यारण्य से बाद के प्रतीत होते हैं-क्योंकि पंचदशी के ब्रह्मानन्द अध्याय के उद्धरण इसमें पाए जाते हैं (अ० पृ० 195, 196 चौखंबा आवृत्ति) अतः पंचदशी के विद्याज्ञेय और जीवन्मुक्ति के विद्यारण्य को इस वर्तमान कृति के प्रथम खंड में (पृ० 419) एक मान लेना त्रुटिपूर्ण प्रतीत होता है।

जिसमें मनुष्य पुनर्जन्मों की इच्छाएँ बिल्कुल नहीं करता।[1] विद्यारण्य ने बहुत से ग्रन्थों का उल्लेख करके यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि संन्यास दो भिन्न-भिन्न श्रेणियों का होता है, यद्यपि एक का विकास दूसरे में हो जाता है।[2]

जीवन्मुक्ति के सम्बन्ध में विद्यारण्य योगवाशिष्ठ के मत को मानते हैं, यद्यपि वे अन्य शास्त्र विदेह-मुक्ति के विषय में भी योगवाशिष्ठ के उद्धरणों द्वारा उसकी पुष्टि करते हैं। जीवन्मुक्ति, वासनाक्षय, तत्त्व-ज्ञान, एवं मनः नाश का सीधा परिणाम है। फिर भी विद्यारण्य के मत में स्थिर तत्त्व-ज्ञान के कारण भावों एवं आसक्ति से जीवन्मुक्त की कोई हानि नहीं हो सकती जैसेकि नाग की विषग्रन्थि को निकालने के पश्चात् काटने पर भी वह कोई हानि नहीं कर सकता। इस तरह से याज्ञवल्क्य का उदाहरण देते हैं जिसने शाप देकर शाकल्य को मार दिया परन्तु उससे उसे कोई पाप नहीं लगा क्योंकि वह जीवन्मुक्त था और जगत् की असत्यता के सम्बन्ध में उसको दृढ़ ज्ञान हो गया था। अतः उसका क्रोध यथार्थ एवं वासना से युक्त नहीं था अपितु आभास मात्र था।[3]

पौरुष शक्ति

योगवाशिष्ठ की विशेष देन यह है कि वह पुरुषार्थ एवं उसकी महान् संभावनाओं और उसके प्रारब्ध कर्म के बंधन इत्यादि को नाश करने की उसकी शक्ति पर विशेष बल देता है। योगवाशिष्ठ में पौरुष की परिभाषा साधु-उपदिष्ट-मार्ग के अनुसार मानसिक एवं भौतिक प्रयत्न के रूप में दी गई है क्योंकि केवल ऐसे कर्म ही सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं।[4] यदि व्यक्ति किसी वस्तु की इच्छा करे एवं ठीक ढंग से प्रयत्न करे तो वह वस्तु

---

1 यदि संन्यासी की साधारण इच्छाएँ हैं तो वह हंस कहलाता है, यदि वह मोक्ष की इच्छा करता है तो वह परमहंस कहलाता है। पराशर-स्मृति में उनका आचार विधान का वर्णन है। 'जीवन्मुक्ति-विवेक 1–11'। जब व्यक्ति परम ज्ञान के हेतु संसार त्याग करता है तो वह विविदिषा-संन्यास कहलाता है, जो विद्वत्-संन्यास से भिन्न है क्योंकि इसमें तत्त्व ज्ञान होता है। उत्तरकालीन संन्यास उनके सम्बन्ध में है जो जीवन्मुक्त हो गए हैं।

2 विद्यारण्य यह लिखते हैं कि आरुणिकोपनिषद में विविदिषा संन्यास के आचार का विवरण है जिसमें एक दण्ड तथा एक कौपीन साथ रखने और आरण्यकों और उपनिषदों को दुहराने का विधान है परन्तु परमहंसोपनिषद् विद्वत्संन्यास के आचरण का विवरण प्रदान करता है जिसमें उपनिषदों को दोहराना आवश्यक नहीं बताया गया है क्योंकि वह व्यक्ति अपने ब्रह्मज्ञान में स्थिर है। इस तरह से दो प्रकार के संन्यास के अन्तिम सोपानों का भेद ज्ञात होता है।

3 जीवन्मुक्ति-विवेक, पृ० 183-186।

4 साधूपदिष्टमार्गेण यन्मनोऽङ्गविचेष्टितम्।
तद् पौरुषं तद् सफलं अन्यद् उन्मत्तचेष्टितम्॥ —योगवाशिष्ठ, 4।

प्राप्त कर सकता है यदि वह आधे रास्ते से ही न मुड़ जाय।[1] पौरुष दो प्रकार का है—प्राक्तन अर्थात् पूर्व जन्म का एवं ऐहिक अर्थात् इस जन्म का है, और पूर्व पौरुष वर्तमान पौरुष से दबाया जा सकता है।[2] पूर्व जन्म के कर्म और इस वर्तमान जन्म के कर्म में सदा संघर्ष होता रहता है और प्रथम या द्वितीय अपनी शक्ति के अनुसार विजय प्राप्त करता है। केवल इतना ही नहीं है अपितु एक व्यक्ति के प्रयत्न दूसरे व्यक्ति के विरोधी प्रयत्नों से टकराते हैं और इन दोनों में से भी जीत अधिक शक्तिशाली की होती है।[3] दृढ़ निश्चय और पौरुष के शक्तिशाली साधन से इस जन्म के प्रयत्न प्रारब्ध के प्रभाव को समाप्त कर सकते हैं। इस विचारधारा को मन से निकालना पड़ेगा की प्रारब्ध का प्रभाव मनुष्य को चाहे जिस प्रकार से घुमा सकता है, क्योंकि दैनिक क्रियमाण कर्मों के प्रत्यक्ष प्रभाव से प्रारब्ध के प्रभाव किसी भी अवस्था में अधिक शक्तिशाली नहीं हो सकते।

सम्पूर्ण प्रयत्न शास्त्रों के आदेशानुसार होने चाहिएँ। निःसन्देह मानव-प्रयत्नों की एक सीमा है जिससे आगे जाना संभव नहीं है, अतः शास्त्रों के आदेशों को मानकर सन्मित्रों के संग द्वारा, और सदाचार का अनुसरण करके प्रयत्नों में उचित मितव्ययता का पालन करना आवश्यक है, क्योंकि शास्त्रविरुद्ध अनिश्चित अथवा गलत दिशा में किए गए प्रयत्नों का शुभ फल नहीं हो सकता।[4] यदि व्यक्ति अपना पौरुष करे और शास्त्रानुसार प्रयत्न करे तो सफलता निश्चित है। दैव को पृथक् शक्ति नहीं मानना चाहिए। इसका क्रियमाण कर्म की शक्ति से सम्बन्ध अवश्य है ताकि पूर्व जन्मों के कर्मों की शक्ति को श्रेष्ठ प्रयत्नों द्वारा क्षय करना संभव है क्योंकि क्रियमाण कर्मों के बिना अत्यन्त अशुभ परिणाम सम्भव है। जब कभी महान् प्रयत्न किया जाय एवं महान् शक्ति का प्रयोग हो तो विजय निश्चित है। पूर्व जन्म का दैव अथवा इस जन्म का पौरुष अधिक बलवान है, यह प्रश्न उन दोनों की आपेक्षिक शक्ति पर निर्भर करता है, और दैव का वह भाग जो क्रियमाण से निर्बल है वह स्वाभाविक रूप से समाप्त होता है। जो केवल प्रारब्ध की ही पराधीनता स्वीकार करने के परिणाम-स्वरूप अशुभ प्रारब्ध को मिटाने का उचित प्रयत्न नहीं करता वह व्यक्ति पशु के समान दैव अथवा ईश्वर की दया पर निर्भर रहता है जो उसे स्वर्ग अथवा नरक में ले जा सकती है। तथाकथित प्रारब्ध अथवा दैव की शक्ति को समाप्त करना एवं जीवन के परम पुरुषार्थ को प्राप्त करने के लिए अधिकतम प्रयत्न करना ही सम्पूर्ण प्रयत्नों एवं साधनों का उद्देश्य है।

योग-वाशिष्ठ केवल यही नहीं कहता कि पौरुष दैव को जीत कर समाप्त कर

---

1 यो यमर्थं प्रार्थयते तदर्थं चेहते क्रमात्।
अवश्यं स तमाप्नोति न चेत् अर्धान् निवर्तते ॥ —वही, 11.4.12।

2 वही, 11.4.17।

3 वही, 11.5.57।

4 स च सच्छास्त्रसत्संगसदाचारैर्निजं फलम्।
ददातीति स्वभावोऽयं अन्यथा नार्थसिद्धये ॥ —वही, 2.5.25।

सकता है अपितु वह दैव के अस्तित्व को ही नहीं मानता और इसको केवल कल्पना कहता है जिसका वस्तुतः भाव ही नहीं है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्रयत्न एवं साधन संवित् स्वयं मनः स्पन्द एवं इन्द्रिय स्पन्द के रूप में व्यक्त होते हैं। संवित्-स्पंद-के पश्चात् चेतस् स्पन्द होता है, और शारीरिक क्रिया उसी के अनुसार होती है और वैसे ही सुख और दुःख का भोग होता है। यदि यह मत सत्य है तो दैव कहीं नहीं दिखाई देता। वास्तव में कोई दैव है ही नहीं, और जब कोई कभी सफलता मिली है तो वह सदा पुरुषार्थ के सतत महान् प्रयत्न से मिली है, चाहे वह स्वयं ऐकान्तिक हो अथवा शास्त्र के अनुसार या गुरु के आदेशानुसार हो।[1] हम सब का यह कर्त्तव्य है कि शुभ के लिए प्रयत्नशील रहें और अशुभ से अपने मन को दूर हटालें। जितने भी प्रमाण हमें उपलब्ध है उनसे यही निष्कर्ष निकलता है कि पुरुषार्थ एवं प्रयत्न से ही लक्ष्य की प्राप्ति होती है और केवल दैव पंगु हैं; खाने के प्रयत्न से ही भूख की तृप्ति होती है, और वाणी के प्रयत्न से ही शब्द निकलता है, एवं पैरों के प्रयत्न और इसी के अनुसार मांस पेशियों के स्पंदन द्वारा मनुष्य चल सकता है। इस तरह जब प्रयत्न शास्त्र की सहायता से एवं गुरु के आदेश से किया जाए तो प्रत्येक वस्तु पर उसका प्रभाव पड़ता है। जो दैव कहलाता है वह केवल इन्द्रजाल है; न तो किसी ने इसका कभी अनुभव किया है, और न किसी इन्द्रियों के द्वारा इसका उपयोग हुआ है, और प्रयत्न के स्वरूपतः स्पंद होने के कारण निराकार निर्जीव तथाकथित दैव से ऐसा स्पंद हो नहीं सकता जो केवल मायिक है, और कभी प्रमाणित नहीं हो सकता। प्रयत्न साकार है और प्रत्यक्ष है; ऐसी स्थिति में यदि यह मान भी लिया जाय कि दैव है, तो भी यह कैसे माना जा सकता है कि यह तथाकथित अमूर्त तत्त्व उसके सम्पर्क में कैसे आया? केवल मूर्ख ही दैव के अस्तित्व को मानते हैं, और उस पर निर्भर रहते हैं और अपना विनाश करते हैं, परन्तु जो वीर है, विद्वान् एवं बुद्धिमान् है, वे अपनी परम गति को अपने पुरुषार्थ एवं प्रयत्न से प्राप्त कर लेते हैं।[2] श्रीराम वशिष्ठ से 2. 9 में कहते हैं कि सब लोगों में दैव की मान्यता है, और यह प्रश्न करते हैं कि यदि इसका अस्तित्व नहीं है तो लोगों ने इसको कैसे माना और यह कि आखिर इसका अर्थ क्या है? इसके उत्तर में श्री वशिष्ठ कहते हैं कि जब कभी पुरुषार्थ फलवान् होता है अथवा विफल हो जाता है एवं शुभ अथवा अशुभ परिणाम निकलता है तो लोग उसे दैव कह देते हैं। परन्तु कोई दैव नहीं है, वह केवल शून्य है और न तो वह किसी तरह से किसी का सहायक हो सकता है न बाधक। कोई कार्य प्रारम्भ करते वक्त लोगों के मनस् में एक विचार, एक निश्चय होता है और उसको कार्यरूप में परिणत करने के परिणामस्वरूप या तो सफलता होती है या विफलता, और साधारण लोग इस सम्पूर्ण कार्य को दैव से होना कह देते हैं जो केवल नाम एवं सान्त्वना-सूचक शब्द ही है। पूर्व की वासना कर्म में परिवर्तित होती है। प्रत्येक व्यक्ति वासना के अनुसार कार्य करता

---

1 शास्त्रतो गुरुतश्चैवस्वतश्चेति त्रिसिद्धयः।
सर्वत्र पुरुषार्थस्य न दैवस्य कदाचन। —योगवाशिष्ठ, 2.7.11।

2 मूढैः प्रकल्पितं दैवं तत्परास्ते क्षयं गताः।
प्राज्ञास्तु पुरुषार्थेन पदम् उत्तमतां गताः॥ —योगवाशिष्ठ, 2.8.16।

है और वासना के द्वारा ही इच्छित वस्तु प्राप्त करता है । वासना एवं कर्म एक ही तत्त्व की परोक्ष एवं प्रत्यक्ष अवस्थाएँ सी हैं । दैव कर्मों का दूसरा नाम ही है जो फल भोग की तीव्र इच्छा से किए गए हैं, इस तरह से कर्म वासना के समान, और वासना मनस् के समान, और मनस् पुरुष अथवा कर्त्ता के समान है, अतएव. दैव पुरुष से पृथक् कोई तत्त्व नहीं है; और वे सब एक ही दुर्निश्चय तत्त्व के पर्यायवाची हैं । जो कुछ मनस् करने का प्रयत्न करता है वह स्वयं ही करता है, जोकि दैव के द्वारा किया हुआ कहा जाता है । मनस् में शुभ अथवा अशुभ कर्म कराने वाली दो प्रकार की वासनाएं हैं, और अशुभ के विरुद्ध शुभ वासना को जागृत करना हमारा परम कर्त्तव्य है ताकि अशुभ शुभ के परे एवं आधीन हो जाए । क्योंकि मनुष्य स्वयं कर्त्ता है अतएव यह कहना निरर्थक है कि अपने से अतिरिक्त दूसरी शक्ति द्वारा यह कहना निरर्थक है कि अपने से अतिरिक्त दूसरी शक्ति द्वारा चलाया जा सकता है, यदि यह मान लिया जाय कि कोई अन्य शक्ति इसको बनाती है तो यह प्रश्न और उपस्थित होता है कि उस शक्ति की प्रेरक दूसरी शक्ति कौन है, फिर आगे और शक्ति इस तरह से इसका अन्त नहीं होगा अर्थात् अनवस्था प्रसंग का दोष होगा ।[1] इस तरह से मनस् स्वतन्त्रकर्त्ता है, और जो उसकी शक्ति को सीमित करती हुई प्रतीत होती है वह उसकी एक दिशा है, जिसे वह अपनी शुभ प्रवृत्ति को जागृत करके मिटा सकता है । भारतीय साहित्य में पुरुषक्कार एवं कर्म के विवेचन अद्वितीय है ।

प्राण एवं उसका यम

चित्त जो अपने-आपको अपनी वृत्तियों में परिवर्तित करता है वह दो कारणों से ऐसा करता है जो उसके दो बीजों के सदृश कहे गए हैं । उनमें से एक प्राण का परिस्पंद और दूसरी तीव्र इच्छाएं एवम् वासना हैं जो उसको दृढ़ भावना का रूप देती है ।[2]

जब प्राण स्पन्दन करता है और नाड़ीसंस्पर्शनोद्यत के द्वारा नाड़ी में जाता है तब पूर्ण सम्वेदनमय मनस् प्रकट होता है । परन्तु जब प्राण शिरा-सरणि कोटर में सुषुप्त रहता है तो मन का प्रादुर्भाव नहीं होता और सम्वेदना कार्यान्वित नहीं होती । प्राण स्पन्द ही अपने-आपको चित्त के द्वारा व्यक्त करता है और शून्य में से जगत्-प्रपंच प्रकट करता है । प्राण के स्पन्द का निरोध होना चित्त के सम्पूर्ण कार्यों का निरोध हो जाना है । प्राण के स्पन्द के परिणामस्वरूप चित्त की वृत्तिएं बीता (लट्टू) के सदृश घूमने लगती हैं । जैसे बीता आंगन में फेरने पर चारों तरफ घूमता रहता है, इसी तरह से प्राण के स्पन्द से चित्त व्यक्त होता है, और इस चित्त के भटकने को रोकने के हेतु यह आवश्यक है कि इसके कारण पर आक्रमण किया जाय । जब चित्त अन्तरिन्द्रिय में जागृत रहता है और बाह्यचित्तवृत्तियाँ बन्द हो जाती हैं तो हम परम गति प्राप्त कर लेते हैं । चित्त का भटकना बन्द करने हेतु अर्थात् चित्त-निरोध योगी उचित उपदेशों के अनुसार प्राणायाम एवं ध्यान के द्वारा प्राणों का नियंत्रण करते हैं ।

---

1 अन्यस्त्वां चेतयति चेद् तं चेतयति कोऽपरः । क इमं चेतयेद् तस्माद् अनवस्था न वास्तवी । —वही 2.9.29 ।

2 योगवाशिष्ठ, 5.91.14 ।

आगे चलकर हम देखते हैं कि वासना एवं प्राण-स्पन्द का घनिष्ठ सम्बन्ध इस प्रकार है कि वासना की उत्पत्ति एवं वृद्धि प्राण-स्पन्द से होती है, और प्राण-स्पन्द का कारण वासना है। जब शक्तिशाली विचारधारा के द्वारा और भूत एवं वर्तमान के उचित विचार के बिना ही वस्तुएँ शरीर, इन्द्रियाँ, अहंकार इत्यादि में ममत्व हो जाता है तो हम उसे वासना कहते हैं। जिनकी शुद्ध बुद्धि नहीं है वे वासना की वृत्तियों को बिना संकोच के मान लेते हैं और उन्हें सत्य समझते हैं, क्योंकि वासना एवं प्राण-स्पन्द चित्त के व्यक्त होने में हेतु एवं कारण है तो एक के समाप्त होने से दूसरा अपने-आप समाप्त हो जाता है। दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध बीज-अंकुरवत् है; प्राण-स्पन्द से वासना और वासना से प्राण-स्पन्द होता है। चित्त का दृश्य स्वयं चित्त में निहित है और इस तरह से दर्शन के मिट जाने से दृश्य समाप्त हो जाता है।[1]

योग-वाशिष्ठ में प्राण का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि वह स्पन्द शक्ति है जो शरीर के ऊर्ध्व भाग में स्थिर है और अपान स्पन्द शक्ति जो शरीर के अधो भाग में स्थित है। शरीर में जाग्रत् एवं सुषुप्ति अवस्थाओं में स्वाभाविक प्राणायाम चालू रहता है। हृदय की गुफा में से प्राण की बहिर्वर्ती क्रिया रेचक कहलाती है और द्वादश-अंगुलि प्राण का अपान क्रिया के द्वारा अन्दर भरना पूरक कहलाता है। प्राण के रेचक एवं पूरक के मध्य रुकने की स्थिति को कुम्भक कहते हैं। असाधारण दीर्घायु वाले भुशुण्ड ने वशिष्ट को प्राण विषय में 624 में उपदेश दिया है। वे शरीर की तुलना गृह से और अहंकार की तुलना गृहस्थ से करते हैं। इस गृह के तीन प्रकार के स्तम्भ हैं।[2] तीन प्रकार के स्तम्भों द्वारा बने हुए घर में नौ दरवाजे हैं (सात ऊपरी भाग में और दो नीचे के भाग में) जो स्नायु से ऐसे बंधे हुए हैं जैसे रक्त, माँस और मज्जा का प्लास्टर लगा हुआ हो। उसके दोनों तरफ दो नाड़ियाँ, इड़ा और पिंगला हैं जो निमीलित रहती हैं। एक अस्थि मांसमय यंत्र भी है जो तीन युग्म कमलों (पद्मयुग्मत्रय) के आकार का है और जिसके ऊपर और नीचे, दोनों ओर नालियां लगी हुई हैं तथा अन्योन्य मिलित् कमल शतदल है। जब उसको धीरे-धीरे वायु से भरते हैं, तो दल का स्पन्दन होता है, और उसके द्वारा वायु की वृद्धि होती है। एस तरह से वर्धित वायु ऊपर नीचे भिन्न-भिन्न स्थानों में जाती हुई प्राण समान इत्यादि कहलाती है। हृदय-कमल के त्रिविध यंत्र (हृत्पद्मयंत्रत्रितय) में प्राण की सम्पूर्ण शक्ति क्रियान्वित होती हुई चन्द्र-किरण के सदृश ऊपर-नीचे फैलती है। वह बाहर जाती है, पुनः लौटती है, दूर चली जाती है, निकट आकृष्ट होती है और इस प्रकार परि-वहन करती है। हृदय में स्थित वायु प्राण कहलाती है, और इसकी ही शक्ति के द्वारा नेत्रों

---

1 समूलं नश्यतः क्षिप्रं मूलच्छेदादिव द्रुमः। संविदं विधिसंवेद्यं बीजं धीरतया विना, न सम्भवति संवेद्यं तैलहीनस्तिलो यथा, न बहिर्नान्तिरे किंचित् संवेद्यं विद्यते पृथक्।
—योगवाशिष्ठ, 5,91.66 और 67।

2 त्रिप्रकार-महास्थूणम् 6.24.14।
भाष्यकार तीन स्तम्भों की आयुर्वेदिक तीन वात, पित्त, कफ के मूल तत्त्वों के रूप में व्याख्या करते हैं। वात-पित्त-कफ-लक्षणा-त्रि प्रकारा महान्तः स्थूणाविष्टम्भकाष्ठानि यस्य। मैं स्वयं तीन प्रकार के स्तम्भों को शरीर के तीन भागों सिर, धड़, पाद से बने हुए समझता हूँ जो अस्थि-समूह है।

की क्रिया त्वगिन्द्रिय की क्रिया, नासिका से श्वास लेने की क्रिया, आहार पचाने की क्रिया एवं वाणी की क्रिया सम्भव होती है।[1] प्राण रेचक का काम करता है, और अपान पूरक का और इन दोनों क्रियाओं के बीच का विश्राम क्षण कुम्भक कहलाता है। अतः यदि प्राण और अपान की गति बन्द हो जाय तो सतत कुम्भक चालू रहेगा। परन्तु प्राण की क्रियाएं एवं शरीर का स्थिर रहना अन्ततोगत्वा चित्त के स्पन्द पर निर्भर है।[2] यद्यपि शरीर में प्राण अपने स्पन्दन में वायु से सम्बन्धित होता है फिर भी वह चित्त शक्ति से निकली हुई स्पन्दन क्रिया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, और इन दोनों में क्रिया एवं प्रतिक्रिया परस्पर होती रहती है, ताकि यदि शरीर की प्राणशक्ति बन्द हो जाए तो चित् शक्ति का स्वयं निरोध हो जाता है और इसके विपरीत ढंग से भी। इस प्रकार स्पंद-निरोध के द्वारा प्राण-निरोध होता है और प्राण-निरोध के द्वारा स्पन्द-निरोध हो जाता है। योग वाशिष्ठ में (3.13.31) वायु को केवल स्पंद-मात्र माना गया है (स्पंदते यत् स तद् वायुः)

(5.78) में यह कहा गया है कि चित्त एवं स्पन्दन वास्तव में एक ही हैं, अतः यह पूर्णतः हिम एवं उसकी धवलता के सदृश अभिन्न है, इसी कारण एक का विनाश होते ही दूसरे का भी विनाश हो जाता है। चित्त का निरोध दो प्रकार से होता है, अर्थात् योग के द्वारा जिसमें मानसिक अवस्थाएं सुपुप्त हो जाती हैं और दूसरा तत्त्व ज्ञान के द्वारा। जैसे जल पृथ्वी के रन्ध्रों में प्रविष्ट होता है इसी तरह से वात शरीर में नाड़ियों के द्वारा स्पन्दित होता है और प्राण कहलाता है। और यही प्राणवायु अपने विभिन्न क्रियाओं और कारणों के कारण अपान इत्यादि कहलाता है। परन्तु यह चित्त से अभिन्न है। प्राण-क्रिया से चित्त-क्रिया होती है और उससे सम्विद् अर्थात् ज्ञान होता है। प्राण-निरोध के सम्बन्ध में योगवाशिष्ठ कई विकल्पों का परामर्श देता है। इस तरह से ध्यान के साथ दीर्घ पूरक की स्थिर आदतों द्वारा अथवा पूर्ण रेचक अथवा प्राण और अपान की गतिरुद्ध करने के द्वारा अथवा जिह्वा की अनी को तालुमूल में[3] लगाने से आन्तरिक श्वासनालिका को पुनः दो भौहों के बीच में चित्त अथवा मनस् को एकाग्र करने से शुद्ध ज्ञान का उदय स्वयं शीघ्र हो जाता है और परिणामतः प्राण-क्रियाएँ बन्द हो जाती हैं।[4]

---

1 योग-वाशिष्ठ 6.24 इस सम्बन्ध में यह जानकर आश्चर्य होगा कि आयुर्वेद के सम्पूर्ण साहित्य में किसी स्थान पर सम्भवतः प्राण-क्रिया का ऐसा स्पष्ट वर्णन नहीं किया गया है। नाम-मात्र को पुप्फुस अर्थात् फेफड़े का सुश्रुत-संहिता में है, परन्तु उनके कार्य एवं क्रिया-शैली का किंचिद्मात्र विवरण नहीं है। सम्भव है पुप्फुस के श्वास लेने की क्रियाओं का अनुसन्धान आयुर्वेदाचार्यों से भिन्न विचारकों ने किया है।

2 वही, 6.25.61-74।

3 तालुमूलगतां यत्नाज्जिह्वयाक्रम्य घंटिकाम्।
ऊर्ध्वरन्ध्रगते प्राणे प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥ —योगवाशिष्ठ, 5.78.25।

4 इस संबंध में यह ध्यान रखना महत्त्वपूर्ण है कि जिह्वा द्वारा आन्तरिक वायु मार्ग का अवरुद्ध करने की हठ-योग की क्रिया के अतिरिक्त प्राणायाम की विधि के जो प्रकार यहां वर्णित हैं उनमें से सर्वाधिक (सिवाय खेचरी मुद्रा के जो हठ-योग से ली गई है) वे ही हैं जिनका पतंजलि के सूत्रों में और व्यासभाष्य में वर्णन है, इस तथ्य पर आनन्द बोधेन्द्र भिक्षु ने उपर्युक्त पर लिखित अपने भाष्य में ध्यान आकर्षित किया है।

प्रो० मैक्डोनैल अपनी पुस्तक वैदिक इन्डैक्स के द्वितीय खंड में प्राण की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि प्राण शब्द अर्थात् श्वास का वैदिक साहित्य में विशाल एवं अस्पष्ट महत्त्व है। संकीर्ण अर्थ में प्राण वायुओं में से एक है। जिनमें से प्रायः पांच प्राण, अपान, व्यान, उदान एवं समान है। पांचों का उल्लेख करते समय प्रत्येक का अर्थ नहीं किया गया है। शब्द प्राण का स्पष्ट प्रयोग अपान के विपरीत भी श्वास के अर्थ में समझा जाता है परन्तु उसका उचित अर्थ निरसंदेह रेचक है। परन्तु उपनिषदों में शब्द का सामान्य अर्थ प्राण वायु नहीं है यद्यपि कई स्थान पर शब्द का प्रयोग श्वास के स्थान पर किया गया है। उपनिषदों में इस शब्द का प्रयोग श्वास को गति देने वाली शक्ति अथवा जीवन अथवा द्वीविधगति के अर्थ में किया गया है।[1] प्रत्येक का विवेचन करने के पश्चात् इसका यथार्थ अर्थ समझना अत्यन्त कठिन है। अतः सबसे सर्वोत्तम उत्तम बात यही है कि शब्द का परम्परागत अर्थ समझा दिया जाय जो कि उच्चतम हिन्दू शास्त्रकारों को स्वीकार है। मैं बादरायण कृत वेदान्त-सूत्र का उल्लेख करता हूँ जो उपनिषदों के सिद्धान्तों का प्राचीनतम शोध समझा जाता है। इस प्रकार वेदान्त-सूत्र (2.4.9) में (न वायुक्रिये पृथग् उपदेशात्) प्राण के स्वरूप का विवरण देते हुए लिखा गया है कि प्राण न तो वायु है और न क्रिया है क्योंकि उपनिषदों में प्राण, वायु एवं क्रिया से भिन्न माना गया है। शंकर इस पर टीका करते हुए कहते हैं कि ऐसे अवतरणों जैसे यः प्राणः स एष वायुः पञ्चविधः प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानः (जो प्राण है वह वायु है और वह प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, पंचविध हैं) से यह समझा जा सकता है कि वायु प्राण है परन्तु वह ऐसा नहीं, क्योंकि छांदोग्य से (3.12.4) (यह स्पष्ट है कि वह भिन्न है। पुनः वह इन्द्रियों की भी क्रिया नहीं जैसी सांख्य की मान्यता है, क्योंकि मुण्डक में उपरोक्त विवरण जो 1.3 में वह इन्द्रियों से भिन्न समझा गया है। वायु और प्राण को एक बताने वाले उपरोक्त विवरण का अभिप्राय यह प्रमाणित करता है कि वायु का स्वभाव प्राण में परिवर्तित हो जाने का है जैसाकि पृथ्वी के परिवर्तन अथवा विकार को ही शरीर का कारण समझा जा सकता है) वह वायु नहीं है परन्तु जैसाकि वाचस्पति कहते हैं वायु-भेद है, जो अमलानन्द अपने ग्रन्थ वेदान्त कल्पतरु में 'वायोः परिणाम-रूप-कार्य-विशेषः' बताते हैं अर्थात् वायु का वह विशिष्ट परिणाम-रूप कार्य है। स्वयं शंकर का अभिकथन इस विषय पर समानरूपेण स्पष्ट है। वे कहते हैं जो स्वयं को शरीर में परिवर्तित करके पांचों भिन्न-भिन्न समूहों में अपने को पृथक् करता है; प्राण नितान्त भिन्न वर्ग नहीं है और न ही वह केवल वायु है।

---

1. प्राण तथा वायु में अन्तर, ऐतरेय, 2, 4; नासिक्य प्राण, 1.4। प्राण का अन्य कार्य-व्यापारों के साथ सम्बन्ध, कौषीतकी 2.5; जीवन के रूप में प्राण, 2.8; वायु से सम्बन्धित प्राण, 2.12; जीवन के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य-व्यापार के रूप में प्राण, 2.14; चेतना के रूप में प्राण, 3.2। नासिक्य तथा मुख्य प्राण में अन्तर, छान्दोग्य, 2.1-9; पाँचों वायुओं का कार्य-व्यापार, 3.3-5; प्राण भोजन के परिणाम के रूप में, 1.8.4; जल के परिणाम के रूप में, 6.5.2, 6.6.5, 6.7.6; जैसे सभी अन्य वस्तुएं प्राण से सम्बद्ध होती हैं, वैसे ही प्राण आत्मन् के सम्बन्ध में, बृहदारण्यक, 2.5.15; प्राण शक्ति के रूप में, वही, 5.14.4; प्राण सुषुम्ना-नाड़ी में दौड़ती शक्ति के रूप में, मैत्री, 6.21 इत्यादि।

2.4.10-12 में भी शंकर प्राण के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि वह जीव जैसा स्वतन्त्र नहीं है परन्तु समस्त कार्य उसकी ओर से करता है जैसेकि प्रधानमंत्री (राजमन्त्रिवज्जीवस्य सर्वार्थकरणत्वेन उपकरणभूतो न स्वतन्त्रः) प्राण इन्द्रियों जैसा ही उपकरण नहीं है जो विशेष उद्देश्य विषयों के सम्बन्ध में कार्य करता है, क्योंकि यह छांदोग्य (5.1.6.7) बृहद् सांख्य 4.3.12 और बृहदारण्यक 1.3.19 में कहा गया है कि इन्द्रियों के शरीर को छोड़ने पर भी प्राण रहता है। यह वही प्राण है जिसके कार्य करने से शरीर में आत्मा का अस्तित्व अथवा जीव-स्थिति और जीव के शरीर में से निकलना अथवा जीवोत्क्रोन्ति सम्भव होती है। पंच वायु इस प्राण की पांच मुख्य अवस्थाएं हैं जैसेकि विद्या, अविद्या, विकल्प, सुषुप्ति एवं स्मृति मन की पाँच अवस्थाएं है। वाचस्पति वेदान्त सूत्र 2.4.11 पर भाष्य लिखते हुए कहते हैं कि इसी कारण द्वारा शरीर एवं इन्द्रियों की स्थिति है (देहेन्द्रियविधारणकारणं प्राणः), यद्यपि यह याद रखना चाहिए कि शरीर और इन्द्रियों को धारण करने के उपरान्त भी प्राण के अन्य बहुत से कार्य हैं (न केवलं शरीरेन्द्रियधारणं अस्य कार्यम् वाचस्पति, वही)। वेदान्त-सूत्र, 2.4.13 में लिखा हुआ है कि प्राण अणु है, जिसका अर्थ शंकर उसके पांच प्रकार के कार्यों द्वारा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होने के कारण 'सूक्ष्म' के अर्थ में करते हैं। वाचस्पति इसको केवल व्युत्पत्तिलभ्य कारण और उसकी दुरधिगमता के कारण ही अणु कहते हैं, यद्यपि वह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। गोविन्दानन्द वेदान्त-सूत्र 2.4.9 पर भाष्य करते हुए कहते हैं कि प्राण जीवन को धारण करने वाली स्पन्दन क्रिया है और उसके सिवाय उसका कोई दूसरा कार्य नहीं है (परिस्पन्दरूपप्रणनानुकूलत्वाद् अवान्तरव्यापाराभावात्)। यह जीवन शक्ति के जैसा प्रतीत होता है। कर्मेन्द्रियों एवं प्राण के सम्बन्ध के विषय में शंकर कहते हैं कि उनकी क्रिया-शक्ति प्राण से ही है (वागादिषु परिस्पन्दलाभस्य प्राणायत्तत्वम्, 11.4.19) वेदान्त सूत्र में कई जगह ऐसे विवरण हैं कि जिससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि पांच प्राण वायु स्पन्दन है परन्तु गुण पांच भूतों से बना हुआ है और प्राण के साथ सम्बन्धित होने से वह क्रियात्मक कहलाता है। वेदान्तसार के उपरोक्त अंश पर भाष्य करते हुए रामतीर्थ कहते हैं कि प्राण-वायु धातु एवं अन्य भूत का विकार अवश्य है परन्तु वह किसी अर्थ में बाह्य वायु नहीं है जो शरीर में कुछ शारीरिक कार्य करती है (तथा मुख्यप्राणोऽपि वायोर्बाह्यस्य सूत्रात्मकस्य विकारो न शरीरमध्ये नभोवद् वृत्तिलाभमात्रेण अवस्थितो बाह्यवायुरेव)।[1] यह प्रमाणित करने के पश्चात् कि वेदान्त में प्राण अथवा पांच प्रकार की वायु का अर्थ द्विकर्म शक्ति है न कि बाह्य वायु अब मैं सांख्य-योग का विवेचन करूँगा।

सांख्य-योग एवं वेदान्त में यह अन्तर है कि प्राण किसी अर्थ में वायु का विक्षिप्त विकार नहीं है। इस तरह से विज्ञानभिक्षु अपने विज्ञानामृत भाष्य वेदान्तसूत्र (11.4.10) में कहते हैं कि प्राण को वायु इसलिए कहते हैं कि वह वायु के सदृश स्वतः क्रियावत् है (स्वतः क्रियावत्वेन उभयोः प्राण वायोः साजात्यात्)। पुनः (11.4.9) में वह कहते हैं कि प्राण न तो वायु है और न ऊर्ध्वगति अथवा अधोगति लक्षण वायु-क्रिया (मुख्यप्राणो न वायुः नापि शारीरस्य ऊर्ध्वाधोगमनलक्षणा वायु-क्रिया)।

---

1 विद्वन्मनोरंजनी, पृ० 105 जैकब कृत संस्करण, मुम्बई, 1916।

अब प्रश्न यह है कि सांख्य-योग के अनुसार प्राण है क्या ? वह महत् तत्त्व है और ज्ञान शक्ति के सम्बन्ध में बुद्धि कहलाता है और क्रिया के सम्बन्ध में सूत्र आत्मा अथवा प्राण जिसका विकास प्रकृति से हुआ है। पांच प्राण अथवा तथाकथित वायु महत् तत्त्व के भिन्न-भिन्न कार्य हैं (11.4.11) आगे चलकर सांख्यकारिका 29 में हमें मिलता है कि पांच वायु बुद्धि, अहंकार एवं मन के सामान्य कार्य कहे गए हैं और वाचस्पति कहते हैं कि पांच प्राण उनका जीवन है। इसका अर्थ यह हुआ कि बुद्धि, अहंकार एवं प्राण, तीनों अपने ढंग से कार्य करते हैं और इन तीनों शक्तियों का संयुक्त कार्य ही पांच प्राण है जो शरीर को धारण करता है। इस तरह से इस मत के अनुसार भी प्राण द्विविध कर्म शक्ति हैं और न कि बाह्य वायु। इस मत की विशेषता यह है कि यह शक्ति वास्तव में मानसिक शक्ति है जो बुद्धि अहंकार एवं मनस् के विशेष कार्यों की संयुक्त उत्पत्ति हैं।[1] उसका कारण अन्तःकरण की विकासात्मक क्रिया है। इसकी पुष्टि में सांख्य प्रवचन-भाष्य 2.31, व्यास-भाष्य, 3.39 और वाचस्पति-कृत तत्त्व वैशारदी, भिक्षुकृत योगवार्त्तिक एवं नागेशकृत छाया-व्याख्या इन ग्रन्थों को देखा जा सकता है। निस्संदेह यह सत्य है कि कभी-कभी वाह्य वायु को अन्दर ले जाना और बाहर निकालना प्राण कहलाता है, परन्तु इसका कारण यह है कि श्वास-प्रश्वास में प्राण गत्यात्मक होता है अथवा स्पन्दन करता है। इस तरह से केवल गति ही प्राण नहीं है, अपितु वह तत्त्व प्राण है।[2] रामानुज शंकर के साथ इस मत से सहमत हैं कि प्राण वायु नहीं है अपितु वायु का विकार मात्र है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान देना अति आवश्यक है कि यह वायु का विकार ऐसा विकार है जो केवल योग-प्रक्रिया से ही जाना जा सकता है।[3]

वैशेषिक का मत है कि वाह्य वायु शरीर में अपने स्थान के अनुसार भिन्न-भिन्न कार्य करता है।[4] आयुर्वेद भी इस मत की पुष्टि करता है कि वायु ही एक प्रकार की क्रिया एवं धारण-शक्ति है। इस प्रकार भावप्रकाश में वायु का निम्नलिखित वर्णन है : वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर दोष, धातु, एवं मल को ले जाता है, सूक्ष्म है, रजोगुणात्मक है, शुष्क है, ठण्डा है, हल्का है और गतिशील है। अपनी गति से ही सम्पूर्ण शक्ति उत्पन्न करता है, श्वासोच्छ्वास का नियमन करता है और सम्पूर्ण कार्य एवं स्पन्दन का जनक है और इन्द्रिय एवं धातुओं को तीव्र रखता हुआ, पित्त, इन्द्रिय एवं मन को संघात रूप से धारण करता है।[5] वाहत भी स्व रचित अष्टांग-संग्रह में वायु को शरीर की समस्त क्रियाओं का कारण वताते हैं और यह कहने का कोई कारण नहीं है वायु से उनका

---

1 सांख्य-कारिका पर गौड़पाद के भाष्य 29 में प्राण-क्रिया की तुलना पिंजड़े में बन्द पक्षी से की गई है जो पिंजड़े को हिलाता है।
वेदान्त सूत्र पर शांकर भाष्य 11.4.9 के साथ इसकी तुलना करो

2 वेदान्त-सूत्र पर रामानुज-भाष्य, 2.4.9।

3 तत्त्व-मुक्ताकलाप 53.55 एवं रामानुज-भाष्य और श्रुतप्रकाशिका 2.4.1.15 भी देखिए।

4 श्रीधर कृत न्यायकन्दली 9.48

5 भावप्रकाश, सैनकृत संस्करण कलकत्ता, पृ० 47।

तात्पर्य वायु से है। जैसाकि आगे के अध्याय में देखेंगे, चरक का (1.12) दीर्घ विवरण भी यही बताता है कि उन्होंने भी वायु को विश्व की रचनात्मक एवं विनाशात्मक शक्ति समझा है, और ब्रह्मांड के सदृश पिण्ड में भी वही कार्य करता है। वह केवल शरीर में ही भौतिक क्रियाओं का कर्त्ता नहीं परन्तु ज्ञानात्मक, भावात्मक, और क्रियात्मक रूप मन की सम्पूर्ण क्रियाओं में उसका नियंता और चालक भी है। सुश्रुत भी वायु को अव्यक्त बताते हैं और यह कहते हैं कि शरीर में अपने कार्यों से ही वह व्यक्त होता है (अव्यक्तो व्यक्तकर्मा च)।

योगवाशिष्ठ में, जैसाकि हम ऊपर देख चुके हैं; प्राण अथवा वायु वही तत्त्व है जो स्पन्दन करता है और उसकी वस्तुस्थिति स्पन्दन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। पुनः प्राण अहंकार अर्थात् बुद्धि की क्रिया के अतिरिक्त स्वयं कुछ नहीं है।[1]

प्राण का स्वभाव आवश्यक रूप से स्पन्द है, और मनस् प्राण शक्ति का प्रारूप है अतएव मनस् के दमन से पाँचों प्राणों का निरोध होता है।[2] शैव भी इस मत से सहमत हैं कि प्राण ज्ञान-क्रिया ही है जो नाड़ियों में विचरण करके शरीर-क्रिया एवं इन्द्रिय-क्रिया को स्थिर रखता है। इस तरह से क्षेमराज कहते हैं कि प्राण के रूप में चित्त शक्ति ही नाड़ियों में विचरण करती है, और वह भट्ट कल्लट को भी यही मत ग्रहण करते हुए बताते हैं, तथा प्राण को उन्होंने निश्चितरूपेण एक शक्ति कहा है (कुटिलवाहिनी प्राणशक्तिः)।[3] शिवोपाध्याय ने अपने विज्ञानभैरव पर अपनी पुस्तक विवृति में प्राण को शक्ति बताया है, विज्ञानभैरव भी यही बात कहता है।[4] भट्टआनन्द ने अपनी पुस्तक विज्ञानकौमुदी में प्राण को चित्त-वृत्ति बताया है।

प्रगति के सोपान

हम यह कह चुके हैं कि दर्शन का अध्ययन एवं सत्संग ही मुख्य साधन है जिनसे युक्त होकर साधक मोक्ष की प्राप्ति के लिए साधना करता है। प्रथम भूमिका में साधक को स्वाध्याय एवं सत्संग के द्वारा अपनी प्रज्ञा को बढ़ाना पड़ता है और दूसरी भूमिका में विचारणा और तीसरी भूमिका में सम्पूर्ण असंग भावनाओं का मानसिक अभ्यास करना पड़ता; चौथी अवस्था (विलापनी) वह है जिसमें सत्य के स्वरूप के सम्यक् बोध द्वारा जगत्-प्रपंच स्वयं को मिथ्या प्रदर्शित करता है; पांचवी भूमिका वह है जिनमें संत शुद्ध-सम्भावित्-मायानन्द रूप हो जाता है। यह भूमिका जीवन-मुक्ति है जिसमें वह अर्ध सुप्त प्रवुद्ध कहलाता है। छठी भूमिका वह है जिसमें परमानन्द की अवस्था में संत रहता है और वह अवस्था सुषुप्त-सदृश स्थिति कही जाती है और सातवीं अन्तिम भूमिका तुर्यातीत है जो शरीर रहते हुए किसी भी सत्पुरुष द्वारा अनुभव नहीं की जा सकती। इनमें से प्रथम तीन

---

1 योगवाशिष्ठ 3.14।

2 वही, 5.13.78।

3 शिव-सूत्रविमर्षिणी, 3.43.44।

4 विज्ञानभैरव और विवृत्ति, श्लोक 67।

भूमिकाएं हैं जाग्रत, चौथी भूमिका स्वप्न, पांचवी भूमिका सुषुप्त स्थिति है, छठी तुर्य और सातवीं तुर्यातीत अवस्था कही गई है ।[1]

इच्छा समस्त दुःखों का मूल है । उसकी उपमा हमारे शरीर में दौड़ते हुए और उसका नाश करने का प्रयत्न करते हुए मदमस्त हाथी से की गई है । इन्द्रियाँ उसके शिशु कहे गए हैं और वासनाओं की तुलना उसके मद के प्रवाह से की गई है । धैर्यपालन द्वारा ही इन्हें जीता जा सकता है । इच्छा का अर्थ मन की कल्पनाएँ हैं जैसेकि 'यह मुझे प्राप्त हो जाए' और इसे संकल्प भी कहते हैं । इस प्रकार के संकल्प के रोकने का उचित ढंग आशा एवं इच्छा को बाहर निकाल कर नाश करना है, और इसके लिए मनुष्य को सांसारिक स्मृति खोनी पड़ेगी, क्योंकि जबतक स्मृति है तब तक आशाएं और इच्छाएं बन्द नहीं हो सकतीं । अन्तिम भूमिका जहाँ सम्पूर्ण स्पन्द एवं विचार तथा चित्त-वृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं वह अवेदनम् अवस्था कहलाती है ।[2] योग, अवेदनमूकी वह परम अन्तिम शाश्वत, स्थिति है जहाँ अन्य सबका नाश हो जाता है ।[3] इस अवस्था में चित्त का नाश हो जाता है और वह चैतन्य का परम तत्त्व बन जाता है अर्थात् शुद्ध ब्रह्म बन जाता है; और इस प्रकार सम्पूर्ण दृश्य और द्रष्टा के भेदों एवं सम्बन्धों से मुक्त होकर इस अवस्था में ज्ञान शून्य हो जाता है, यद्यपि वह बोधात्मक कहलाता है । यह अन्तिम अवस्था वास्तव में पूर्णतया अव्यपदेश्य कहलाती है, और इसके दूसरे नाम भी ब्रह्म, शिव अथवा प्रकृति पुरुष के भेद का ज्ञान है ।[4] योगवाशिष्ठ इसे आनन्द की स्थिति नहीं मानता परन्तु अचिन्त्य एवं अनिर्देश्य जड़ता की स्थिति ही मानता है । वह पांचवीं भूमिका को ही आनन्द में व्यक्त मानता है; और छठी जड़ता है जिसकी अनुभूति किसी प्रकार सम्भव प्रतीत होती है; परन्तु सातवीं को तुर्यातीत एवं अनिर्देश्य ही मानता है ।

पातंजल योगसूत्र एवं व्यास-भाष्य में प्रज्ञा की सात अवस्थाओं का सादृश्य स्वभाविक रूप से इन प्रगति की सात भूमिकाओं से होता है । प्रज्ञा की सात भूमिकाएं दो भागों में विभक्त है, प्रथम भाग में चार और द्वितीय में तीन । इनमें से चार मनोवैज्ञानिक है और तीन तात्त्विक हैं, जिनमें चित्त-विमुक्ति के पूर्व चित्त के लय की भूमिकाएं दिखाई गई हैं ।[5] प्रगति की सात भूमिकाओं में प्रथम चार भूमिकाएं विलापनी सहित मनोवैज्ञानिक हैं और अन्तिम तीन भूमिकाएं चित्त को प्रलय की ओर ले जाने वाली हैं । परन्तु योगवाशिष्ठ की पतंजलि की भूमिकाओं से समानता बताने वाली और कोई वस्तु नहीं है । योगवाशिष्ठ में योग की परिभाषा अवेदनम् की उच्चतम अवस्था (अवेदनम् विदुर्योगम् के) नाम से दी गई है अथवा उसका दूसरा नाम वासनाओं के विष के प्रभाव का निरोध कहा

---

1 योगवाशिष्ठ, 6.120 ।

2 योगवाशिष्ठ 6.12.6 ।

3 वही, 6.126.71-72 ।

4 वही, 6.126.99 ।

5 मेरी कृति भारतीय दर्शन का इतिहास' देखिए खण्ड 1; कैम्ब्रिज, 1922, पृ० 273 ।

गया है।[1] छठे प्रकरण के पूर्वार्द्ध सर्ग 125 में अन्तिम अवस्था सर्वापह्नव की अवस्था कही गई है। चित्त का भाव दुःख है, और उसका अभाव आनन्द है; ज्ञान को समाप्त करने से चित्त समाप्त हो जाता है—जिसके परिणामस्वरूप न तो दुःख रहता है और न सुख, न सुख-दुःख-पाषाण की तरह वेदना शून्य ही अन्तिम लक्षित स्थिति है जो सम है। इस तुर्यातीत भूमिका को सुषुप्ति की छठी अवस्था नहीं कहना चाहिए जो केवल शुद्धानन्द की स्थिति है।

योग-वाशिष्ठ के अनुसार कर्म दृष्टादृश्य के रूप में मनस् का व्यक्त होना ही है। अतः कर्म को त्यागना मनस् अथवा ज्ञान का त्यागना ही है।[2] अतः कर्म-निरोध का अर्थ ज्ञान-नाश ही है। कर्म का वेग अथवा मनस् का स्पन्दन बिना कोई कारण के होता है, परन्तु इस स्पन्दन के कारण अहंकार और सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच की उत्पत्ति हो जाती है, सम्पूर्ण प्रयत्नों का लक्ष्य चित्त का विनाश है अर्थात् पाषाण-सम ज्ञान-रहित अचेतन अवस्था है।

जैसाकि सात क्रमिक भूमिकाएं हैं, इसी तरह से वासनाओं के बल अथवा निर्बलता के अनुसार सात प्रकार के प्राणी हैं। वे इस प्रकार हैं (1) स्वप्न जागर (2) संकल्प जागर, (3) केवल जाग्रत् स्थित स्वप्न (4) चिराजाग्रत् स्थिति (5) घनजाग्रत्-स्थित (6) जाग्रत् स्वप्न (7) क्षीण जागरक। स्वप्न-जागर वे मनुष्य हैं जिन्होंने पूर्व जन्म में हमारे समस्त वर्तमान अवस्थाओं का अनुभव स्वप्न दृश्यों में किया और स्वप्न-नर के सदृश कार्य किया। भाष्यकार इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि यह असम्भव नहीं है; क्योंकि प्रत्येक वस्तु सर्वत्र जीव रूप में रहती है, अतः यह सम्भव है कि स्वप्नानुभव के स्वप्न-नरों के रूप में हम वासना के रूप में उनके अन्तःकरण में स्थित रहते हैं (तदन्तः करणे वासनात्मना स्थिताः)। क्योंकि भूत एवं वर्तमान का अस्तित्व केवल मनस् में ही है अतः काल को उलटने से यह भी शुद्ध हो जाता है कि हमारे भविष्य का अस्तित्व अपने स्वप्न में अनुभूत होने से रोक नहीं सकता। क्योंकि मनस् को देशकाल की सीमाएं नहीं कर सकती और मनस् तत्त्व के रूप सब कुछ सर्वत्र विद्यमान है (सर्वं सर्वत्र विद्यते)।[3] स्वप्नों के द्वारा ये पुरुष जीवन के परिवर्तनों का अनुभव कर सकते हैं एवं परम मुक्ति भी प्राप्त कर सकते हैं। दूसरी श्रेणी, संकल्प जागर की है, जो बिना सुषुप्ति के सत्र प्रकार की क्रियाओं एवं जीवन को केवल मनस् से ही धारण करते रहते हैं, और अन्त में मोक्ष की प्राप्ति कर लेते हैं। तीसरी श्रेणी, केवल जागर वे हैं जो प्रथम बार जन्म लेते हैं। जब ये प्राणी पुनः जन्म लेते हैं तो वे चिर-जागर कहलाते हैं। ऐसे प्राणी अपने पापों के कारण, वृक्ष इत्यादि होते हैं, इस स्थिति में वे घन-जागर कहलाते हैं। इनमें से पुनर्जन्म लेने के पश्चात् जो अध्ययन एवं सत्संग से तत्त्व-ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, वे जाग्रत-स्वप्न-

---

1 इच्छाविषविकारस्य वियोगं योगनामकम्।
–योगवाशिष्ठ 6,37.1 वही, 6.126.99।

2 सर्वेषां कर्मणामेवं वेदनं बीजमुत्तमम्।
स्वरूपं चेतयित्वान्तस्ततः स्पन्दः प्रवर्तते। –योगवाशिष्ठ, 6.11.2.26।

3 वही।

स्थित कहलाते हैं, और अन्त में जो मोक्ष की तुर्ययावस्था तक पहुँच चुके हैं, वे क्षीण जागरक कहलाते हैं।

योग-वाशिष्ठ के अनुसार जबतक हमारे ज्ञान का संबंध दृश्य जगत् से रहता है उस वक्त तक बन्धन रहता है, और जब दृश्य जगत् से हमारा ज्ञान पूर्णतः एवं अन्ततः असंग हो जाता है और शुद्ध तुर्यावस्था में रहता है, जहाँ पर न दृष्य है न द्रष्टा वहां मोक्ष की प्राप्ति होती है।[1]

सदाचार की विधियाँ

योगवाशिष्ठ परम सिद्धि प्राप्त करने के लिए तीव्र त्याग अथवा पुण्य, अथवा स्नान और इसी तरह के साधनों पर (परम सिद्धि प्राप्ति के लिए) बल नहीं देता। उसके मत में परम तत्त्व के शुद्ध विवेक द्वारा अनुवर्तित केवल राग द्वेष, तम, क्रोध, मद, मात्सर्य के नियन्त्रण से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।[2] जबतक सम्पूर्ण दुर्वासनाओं की समाप्ति न होकर मन शुद्ध नहीं हो जाए तवतक धार्मिक विधियों का अनुकरण करने से केवल अहंकार एवं आडम्बर हमारे अन्दर बढ़ते हैं और उसका कोई शुद्ध परिणाम नहीं निकलता। साधक का परम कर्त्तव्य परम सिद्धि की प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्न करना है जिसके हेतु उसको सत् शास्त्र का अध्ययन और सत् संग ही करना चाहिए।[3] उसको अपना जीवन-यापन करना चाहिए और भोग की न्यूनतम इच्छा का भी परित्याग करना चाहिए और विचार करते रहना चाहिए। अब प्रश्न यह उठता है कि परम सिद्धि के प्राप्ति के हेतु ज्ञान आवश्यक है अथवा कर्म। इस प्रश्न पर योग वाशिष्ठ शंकर से इस बात से सहमत नहीं है कि वे दोनों संयुक्त नहीं रह सकते अपितु उल्टा इस बात पर बल देता है कि जैसे पक्षी दो पंखों से उड़ सकता है वैसे ही साधक ज्ञान एवं कर्म के संयुक्त के रहने से ही परम सिद्धि को प्राप्त कर सकता है।[4]

साधक का मुख्य उद्देश्य चित्त को नाश करने का होने के कारण उसके सम्पूर्ण प्रयत्न वासनाओं को समूल नाश करने की ओर होना चाहिए क्योंकि वासनाएं ही चित्त की मूल एवं द्रव्य है। तत्त्व ज्ञान की वासनाओं और चित्त का विनाश, सबका अर्थ एक ही है, और वे परस्पर निर्भर है क्योंकि एक की प्राप्ति दूसरे के बिना हो नहीं सकती। अतः

---

1 ज्ञानस्य ज्ञेयतापत्तिर्बंध इत्यभिधीयते
तस्यैव ज्ञेयताशान्तिः मोक्ष इत्यभिधीयते। —योगवाशिष्ठ 6.2.1901।

2 स्वपौरुषप्रयत्नेन विवेकेन विकाशिना।
स देवो ज्ञायते राम न तपःस्नानकर्मभिः। —वही, 3.6.9।

3 सत् पुरुषों की परिभाषा योगवाशिष्ठ में निम्न प्रकार से दी गई है—देशे यं सुजनप्राया लोकाः साधुं प्रचक्षते। स विशिष्टः स साधुः स्यात् तं प्रयत्नेन संश्रयेत्। —वही, 3.6.20।

4 योगवाशिष्ठ, 1.1.7,8।

एक भोग की इच्छा त्याग कर साधक को तीनों ही के लिए प्रयत्नशील एक साथ होना पड़ेगा और इसके लिए साधक को एक ओर इच्छाओं का नियंत्रण और दूसरी ओर प्राण-निरोध करना पड़ेगा; और ये दोनों मिलकर सहयोग करके परम लक्ष्य की ओर अग्रसर होते हैं। यह प्रगति स्वाभाविक रूप से मंद होती है परन्तु यह सतत होने की स्थिति में किसी दूसरे हठयोग के साधन से श्रेष्ठतर है। आत्म आलोचना की आवश्यकता पर भी विशेष आग्रह किया गया है क्योंकि इससे वासनाओं के एवं जगत् प्रपंच की माया के बंध ढीले पड़ जाते हैं और असंग की प्राप्ति हो जाती है।

योगवाशिष्ठ शांकर-वेंदान्त एवं बौद्ध विज्ञानवाद

योगवाशिष्ठ का सतही पाठक इसके प्रत्ययवाद को शांकर-भाष्य के वेदान्त से अभिन्न समझ सकता है, और शांकर मत के उत्तरकालीन वेदान्त ग्रन्थों में यथा जीवन्मुक्ति-विवेक इत्यादि में इतने प्रश्न योग-वाशिष्ठ के समान प्रस्तुत किए गए हैं कि पाठक इस प्रत्ययवाद और शंकर के प्रत्ययवाद में किसी प्रकार के भेद की कल्पना नहीं कर सकता। अतः इस विषय का कुछ चर्चा आवश्यक है।

शंकर के प्रत्ययवाद का मुख्य लक्षण इन सिद्धान्तों में है कि स्वयं प्रकाशित द्रष्टा-दृश्य-हीन चैतन्य ही अन्तःकरण एवं बाह्य जगत् का तत्त्व है जो कुछ परिवर्तन दिखाई देता परम एवं अविकारी है वह इस तत्त्व के परे है जो तत्त्व परम तत्त्व है। फिर भी परिवर्तनों का परम तत्त्व अथवा ब्रह्म के साथ सम्बन्ध हो गया है और इसी कारण दृश्य के अनन्त रूप एवं भिन्न-भिन्न मानसिक अवस्थाओं की प्रतीति होती है। यह परिवर्तनशील है और इसी कारण इनका अनिर्देश्य अस्तित्व ब्रह्म से बिल्कुल भिन्न है, फिर भी आवश्यक रूप से वे भाव-रूप हैं।[1] शांकर प्रत्ययवाद बाह्य विषयों को द्रष्टामनस् से भिन्न नहीं मानता, और वह 'दृष्टि सृष्टि है' के सिद्धान्त को भी नहीं मानता। इस प्रकार वह बौद्ध विज्ञानवादियों की मत की कड़ी आलोचना करते हैं, जो दृश्य जगत् के भाव को मनस् से भिन्न मानने में विश्वास नहीं करते, क्योंकि वे मनस् के ही परिणाम प्रतीत होते हैं। इनमें से कुछ तर्क महान् दार्शनिक महत्त्व के हैं और एक समकालीन आंग्ल नव्यवस्तुवादी ने विज्ञानवाद का खण्डन करने में इसी तरह के तर्क प्रस्तुत किए थे।

बौद्ध का तर्क, यह बताया गया है कि जब दो तत्त्व अभिन्न तौर पर एकसाथ देखे जाएं तो वे एक से हैं, जैसे दर्शन और उसके दृश्य एकसाथ दिखाई देते हैं अतः दर्शन दृश्य एक हैं; हमारे मानसिक विचार का आधार बाह्य जगत् में कुछ नहीं है जिसके द्वारा वे प्राप्त होते हैं और स्वप्न में उसका अस्तित्व (जबकि ज्ञानेन्द्रियां अचेतन रहती हैं) यह प्रदर्शित करता है कि दृश्य की प्रतीति के हेतु ज्ञानेन्द्रियों की क्रिया आवश्यक नहीं है यद्यपि तथाकथित बाह्य दृश्य के साथ सम्बन्ध स्थापित करने हेतु वे अनिवार्य हैं। यदि यह प्रश्न

---

1 इसी पुस्तक के प्रथम खंड में शांकर वेदान्त को देखिए।

कैम्ब्रिज, 1922 पाठ दशम।

उपस्थित किया जाए कि दृश्य है ही नहीं तो दर्शन की भिन्नता का कारण क्या होगा ? तो उत्तर यही होता है कि भिन्नता का कारण वासना की शक्ति अथवा चित्त के साथ ज्ञान क्षण का विशेष योग्यता का सम्बन्ध है।[1] यदि तथाकथित बाह्य दृश्य की भिन्न-भिन्न विशेष योग्यताएं हों, और उन्हीं के कारण दर्शन की भिन्नता है, तो मानसिक व्यवस्था के क्रमिक क्षण को भी भिन्न-भिन्न योग्यताएं समझा जाना चाहिए जिनके द्वारा इन ज्ञानात्मक भावों से जनित दर्शन की भिन्नताएं होती हैं। स्वप्न में ये चित्त की भिन्न-भिन्न अवस्थाएं हैं जो दर्शन की भिन्नता उत्पन्न करती है।

शंकर बौद्ध विज्ञानवादियों के उपरोक्त तर्क का वर्णन करते हुए यह कहते हैं कि बाह्य दृश्य जब प्रत्यक्ष दिखाई देता है तो उसका निषेध कैसे किया जा सकता है ? इसके उत्तर में यदि यह मान लिया जाय कि संवेदनाओं के अतिरिक्त दर्शन का कोई विषय ही नहीं है अथवा यह कि दर्शन का होना ही दृश्य है तो इसका खंडन इस प्रकार किया जा सकता है कि दर्शन के न होने पर भी दृश्य के भाव, स्वयं दृश्य से ही स्वतन्त्र रूप से होता है; क्योंकि विषय का देखना ही विषय नहीं है; यह अनुभव सिद्ध है कि दृष्ट नील से नीलापन का दर्शन भिन्न है, नील दर्शन का विषय है और वे दोनों एक कदापि नहीं हो सकते। यह बात सर्वविदित एवं सर्वमान्य है इसका खंडन करने का प्रयत्न करते हुए भी बौद्ध विज्ञानवादी एक तरह से इसको मान लेता है, क्योंकि वह कहता है कि अन्तर-दृश्य ऐसा प्रतीत होता है मानों वह हम से बाह्य जगत् में स्थित है। यदि बाह्यत्व जैसे है ही नहीं तो कैसे कहा जा सकता है कि उसकी प्रतीति चित्त में होती है ? जब समस्त अनुभव दर्शन और उसके दृश्य एवं मनस् के आंतरिक जगत् एवं जगत्-प्रपंच में अन्तर की पुष्टि करते हैं तो इस अन्तर का निषेध कैसे किया जा सकता है ? उदाहरणार्थ आप एक घड़ा देख रहे हैं और उसकी स्मृति है : मानसिक क्रिया दोनों ही अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु घड़ा वही है।[2]

बौद्ध विज्ञानवाद के विरुद्ध शंकर का उपर्युक्त तर्क निश्चित रूप से यह प्रमाणित करता है कि उसने दृश्य का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार किया और उसका भाव किसी व्यक्ति के द्वारा उनको जानने पर आधारित नहीं किया। बाह्य दृश्य का अस्तित्व मनस् अथवा चित्त की भिन्नता के अस्तित्व से सर्वथा स्वतन्त्र एवं भिन्न है।

परन्तु योगवाशिष्ठ का प्रत्ययवाद शंकर के प्रत्ययवाद की अपेक्षा बौद्ध-विज्ञान-वादियों के सिद्धान्त से अधिक मिलता-जुलता है। क्योंकि योगवाशिष्ठ के अनुसार प्रत्ययों का ही एक प्रकार का अस्तित्व है। उनके अतिरिक्त कोई भौतिक अथवा बाह्य जगत् का पृथक् अथवा स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं। 'सृष्टि दृष्टि है' का सिद्धान्त योगवाशिष्ठ का सिद्धान्त है और शंकर ऐसे सिद्धान्त का दृढ़तापूर्वक खंडन करते हैं। 'वेदान्त सिद्धांत मुक्तावली' में प्रकाशानन्द योगवाशिष्ठ के प्रत्ययवाद के अनुसार वेदान्त का विवेचन करते समय यह प्रदर्शित करते हैं कि उसने वेदान्त के विवेचन में योग-वाशिष्ठ से प्रेरणा ली, और दृश्य के अस्तित्व का प्रत्यक्ष नहीं होने तक उसे मानने से इन्कार किया। प्रकाशानन्द

---

1 कस्यचिदेव ज्ञानक्षणस्य स तादृशः सामर्थ्यातिशयो वासनापरिणामः।
—भामती, 2.2.28।

2 ब्रह्मसूत्र पर शांकर-भाष्य 2.2.28।

साधारणतया मान्य इस मत का खंडन करता है कि इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्पर्क होने पर ही दृश्य का ज्ञान हो जाता है; क्योंकि उसके मत में दृश्य वही है जिसका प्रत्यक्षीकरण हो अर्थात् दर्शन से पृथक् दृश्य का बाह्य स्वतंत्र अस्तित्व है ही नहीं। योगवाशिष्ठ एवं प्रकाशानन्द दोनों अप्रत्यक्षीकृत दृश्य के अस्तित्व का निषेध करते हैं परन्तु शंकर केवल उनका अस्तित्व ही नहीं मानते अपितु यह भी मानते हैं कि हमारे किसी बाह्य वस्तु को जानने से उसमें किसी प्रकार की वृद्धि या विकार नहीं होता, सिवाय इसके कि वह हमारे चित्त में ज्ञान द्वारा आता है। वस्तुओं के अप्रत्यक्षीकृत होने पर भी उनका अस्तित्व जैसा है वैसा ही है। यह एक प्रकार से शांकर-वेदान्त का प्रत्ययवाद इसी में है कि उसने ब्रह्म को अन्तर्यामी माना जो अपरिच्छिन्न एवं सर्वव्यापी और परम तत्त्व बाह्य दृश्य जगत् के अधिष्ठान के रूप में स्थित हैं। जितने भी अन्तर एवं बाह्य नाम रूपों का हम अनुभव करते हैं अर्थात् जो सर्ग एवं विसर्ग हैं वे अनिर्देश्य एवं अनिर्वचनीय है और उसी का नाम माया कहा जाता है।[1] शांकर वेदान्त इसको मानकर चलता है कि वही सत्य है जो अविकारी; वही असत्य है जो परिवर्तनशील है यद्यपि वह विध्यात्मक है। जगत् विशिष्ट अर्थ में असत्य कहा गया है, माया सत् एवं असत् से परे की श्रेणी में आती है अर्थात् वह अनिर्देश्य कहलाती है।

इस माया के साथ शांकर-वेदान्त में सत् अर्थात् ब्रह्म का सम्बन्ध माया की ही तरह अनिर्देश्य हैं; सत् अपरिवर्तनशील हैं, परन्तु परिवर्तनशील रूपों एवं गुणों का सम्बन्ध उसके साथ कैसे हो गया, अथवा उनकी उत्पत्ति कैसे हुई अथवा उनका परम कारण क्या है; शंकर इस विषय में मौन है। फिर भी योगवाशिष्ठ यह मानता है कि निर्गुण एवं निराकार तत्त्व ही परम तत्त्व है; और वही ब्रह्म चित्त अथवा शून्य कहा जाता है; परन्तु उसका नाम कुछ भी है। वह निर्गुण तत्त्व ही परम तत्त्व है। इस परम तत्त्व का सम्बन्ध स्पंदन-शक्ति से होता है जिसके द्वारा वह भिन्न भिन्न रूपों में प्रतीत हो सकता है। प्रतीति एवं सत्य का सम्बन्ध बाह्य अनिश्चित एवं अनिर्वचनीय नहीं है जैसाकि शंकर का मत है, परन्तु निर्गुण आत्मा की इस आन्तरिक शक्ति के स्पन्दन के द्वारा उत्पन्न होती है जो स्वयं दृष्टा-दृश्य हीन शुद्ध चैतन्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। परन्तु इस आन्तरिक स्पन्दन का अपना स्वयं का कोई तर्क प्रतीत नहीं होता और न इसका कोई निश्चित सूत्र बताया जा सकता है। सर्ग और विसर्ग के कल्पित रूप की कोई निश्चित व्यवस्था भी नहीं है, परन्तु वह केवल काकतालीय है क्योंकि उनका अस्तित्व केवल दृश्यमात्र ही है। ऐसी विचारधारा शुष्क अथवा सारहीन है, और इसी कारण से योगवाशिष्ठ का सिद्धान्त सदोष है। दूसरी कमी इसमें यह है कि न तो यह चित्त की आलोचना करता है और न उसको स्वीकार करता है और उसका आधार निर्गुण तत्त्व अनुभव में कभी प्रकट नहीं होता। शंकर का मत भिन्न है, क्योंकि इनकी मान्यता है कि परम ब्रह्म अनुभव में आने वाली वस्तुओं का भी आत्मा है और वह स्वयं प्रकाश और सर्वव्यापी है। परन्तु योगवाशिष्ठ का परब्रह्म निर्गुण एवं अनुभवातीत है। सप्तम भूमिका परम मुक्ति की अवस्था वेदान्त के ब्रह्मत्व के सदृश परमानंद नहीं है परन्तु केवल शून्य एवं निर्गुण की

---

1 मेरा भारतीय दर्शन का इतिहास खंड 1, अध्याय 10 देखिए।

स्थिति है। ग्रन्थ में कई स्थान पर कहा गया है कि भिन्न-भिन्न दर्शनों में यह परम स्थिति (ब्रह्म) प्रकृति एवं पुरुष का भेद शुद्ध विज्ञान एवं शून्य के रूप में वर्णित है। परन्तु वास्तव में वह निर्गुणतत्त्व है। इसी कारण उसकी मुक्ति अवस्था का विवरण जैसाकि हम ऊपर देख चुके हैं, पाषाणवत् किया गया है, जो हमें वैशेषिक दर्शन की याद दिलाता है। व्यवहार में वह मान्य मुक्ति पौरुष अथवा स्वतंत्रता पर अधिक बल देता है और पुरुषार्थ को निर्बल करने अथवा उसके ऊपर प्रमुत्व रखने की शक्ति को किंचित् मात्र नहीं मानता; और कर्म को केवल मनस्-शक्ति बताकर हमें एक नया दर्शन देता है। शंकर के विरुद्ध वह यह मानता है कि ज्ञान एवं कर्म का मेल सम्भव है, और वे भिन्न-भिन्न श्रेणी के लोगों के लिए नहीं हैं, अपितु दोनों प्रत्येक बुद्धिमान् साधक के लिए अनिवार्य हैं। योगवाशिष्ठ की परम सिद्धि के मुख्य साधन दर्शनशास्त्रों का अध्ययन सत्संग और आत्म आलोचना ही है। वह बिना आंतरिक साधनों के बाह्य विधि-निषेधों को बताता है। उसकी 'सृष्टि-दृष्टि' है। सिद्धान्त और मनस् के अतिरिक्त बाह्य जगत् के अस्तित्व का कोई आधार नहीं और न उनके साथ कोई बाह्य दृश्यों की कोई अनुकूलता है, और वे सब केवल ज्ञान के आकार हैं, इन सब बातों से हमें ऐसा लगता है कि बौद्ध विज्ञानवाद ही इनके मूल में है। 'लङ्कावतार सूत्र' जैसे महत्त्वपूर्ण विज्ञानवाद ग्रंथ में अपने कई पदार्थों द्वारा यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि ज्ञान में भिन्न-भिन्न की प्रतीतियों का उत्पत्ति-स्थान कहां है परन्तु योगवाशिष्ठ में इस बात का कोई उल्लेख नहीं है। जहाँ केवल आकस्मिकता पर ही उत्पत्ति आधारित की गई है। हिन्दू लेखकों के विज्ञानवाद के संस्कृत ग्रंथों वाचस्पति एवं अन्य इनके महत्त्वपूर्ण योगदान का कोई उल्लेख नहीं है। विज्ञानवाद एवं गौड़पाद के प्रभाव योगवाशिष्ठ पर निश्चित रूप से पड़े हैं, फिर भी इसका विकास शैव दर्शन से सम्बन्ध रखकर हुआ है जैसाकि उसका स्पंद का सिद्धांत स्पष्ट करता है। शैव-दर्शन के विवेचन में इस विषय पर पूर्णतः विचार किया जाएगा।

अध्याय 3

चिकित्सा शाखाओं का विवेचन

ऐसा आग्रह किया जा सकता है कि भारतीय दर्शन के इतिहास में चिकित्सा शाखाओं के विचारकों के विवेचन का उल्लेख उपयुक्त नहीं है । परन्तु यदि यह याद रखा जाए कि चिकित्साशास्त्र प्राचीन भारत में प्रतिपादित समस्त भौतिक विज्ञानों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था, कि इसका सांख्य और वैशेषिक भौतिकशास्त्र से सीधा और घनिष्ठ संबंध था और संभवतः यह तर्कसंगत विवेचनों का उद्गम था जिनको बाद में न्यायसूत्रों में संहिताबद्ध किया गया है, तो इस प्रकार की आपत्ति बहुत कुछ सारहीन हो जायगी ।[1] इसके अतिरिक्त इस साहित्य में कई अन्य रोचक आचारशास्त्रसम्बन्धी निर्देश भी सम्मिलित हैं और इसमें जीवन के एक ऐसे दृष्टिकोण के दर्शन होते हैं जो दर्शन-ग्रन्थों में पाए जाने वाले दृष्टिकोण से पर्याप्तमात्रा में भिन्न हैं, अन्यच्च, इसमें भारतीय विचारकों की पांडित्य-पूर्ण विधियों पर प्रचुर मात्रा में प्रकाश डालने वाले कई रोचक विवरणों का समावेश भी है । पुनश्च, जो हठयोग सम्बन्धी अथवा तांत्रिक देह-प्रक्रियाओं अथवा उन शाखाओं की कुछ यौगिक प्रक्रियाओं से संबद्ध शरीर विज्ञानशास्त्र के अत्यधिक महत्त्व से अभिज्ञ हैं, वे निस्सन्देह तुलना के उद्देश्य से उन संबद्ध विषयों पर चिकित्सा शाखाओं के विवेचनों को जानना चाहेंगे । भ्रूणविज्ञान, वंशानुक्रम और अन्य ऐसे ही सामान्य जिज्ञासा के विषयों के बारे में उनके विवेचन शुद्ध दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी के लिए भी संभवतः रोचक सिद्ध होंगे ।

आयुर्वेद और अथर्ववेद

सुश्रुत का कथन है कि आयुर्वेद अथर्ववेद का उपांग है । मूलतः इसमें एक हजार अध्यायों में 1,00,000 श्लोक थे और समस्त प्राणियों की सृष्टि से पहले इसे ब्रह्मा ने रचा था (सुश्रुत संहिता 1. 1. 5) । इस संदर्भ में उपांग का सही-सही अर्थ आसानी से संतोष-प्रद रूप से समझाया नहीं जा सकता । निबन्ध-संग्रह में 'उपांग' शब्द की व्याख्या करते हुए डल्हण (1100 ई० प०) कहते हैं कि 'उपांग' अल्पतर 'अंग' (भाग) होता है—'अंगमेवाल्पत्वादुपांगम्' । अतः जहाँ हाथ और पैरों को 'अंग' माना गया है वहाँ 'अंगूठा' और 'हथेलियों' को 'उपांग' कहा गया है । अथर्ववेद में छः हजार मंत्र एवं लगभग एक हजार गद्य पंक्तियाँ हैं । यदि डल्हण के मतानुसार उपांग का अर्थ एक छोटा सा परिशिष्ट है और

---

1 चरक संहिता 4, में निर्दिष्ट सांख्य-दर्शन का वर्णन इस ग्रन्थ के प्रथम खंड के पृष्ठ 223-227 में पहले ही किया जा चुका है ।

यदि आयुर्वेद में मूलतः 1,00,000 श्लोक थे तो आयुर्वेद अथर्ववेद का उपांग नहीं कहा जा सकता। आयुर्वेद एक छोटा-सा परिशिष्ट होने की अपेक्षा अथर्ववेद से दस गुने से भी कहीं अधिक विस्तृत था। आयुर्वेद के स्वरूप का निरूपण करते हुए चरक कहते हैं कि ऐसा कोई भी समय नहीं हुआ जबकि जीवन का अस्तित्व न रहा हो अथवा जबकि बुद्धिमान् मनुष्यों की सत्ता न रही हो, और इसीलिए ऐसे लोग सदा प्रचुर मात्रा में विद्यमान थे जो जीवन के विषय में ज्ञान रखते थे और सदा ऐसी औषधियाँ विद्यमान थीं जो मानव शरीर पर आयुर्वेद में निरूपित सिद्धान्तों के अनुसार अपना कार्य करती थीं। किसी भी समय आयुर्वेद की सृष्टि शून्य से नहीं हुई, अपितु सदा ही आयुर्वेद का एक क्रम बना रहा, जब हम इसकी रचना किए जाने के बारे में सुनते हैं तो केवल किसी मौलिक विचारक के द्वारा आयुर्वेद सिद्धान्तों के बोध के प्रारम्भ के अथवा किसी प्रतिभावान् आचार्य के हाथों एक नए शिक्षा-क्रम के प्रचलन के सदर्भ में ही ऐसा सम्भव हो सकता है। आयुर्वेद का अस्तित्व सदा ही रहा है और ऐसे लोग सदा विद्यमान रहे हैं जिन्होंने इसे अपने निजी ढंग से ही इसे समझा है, इसके प्रथम व्यवस्थित बोध अथवा शिक्षण के अर्थ में ही केवल ऐसा कहा जा सकता है कि उसका 'आदि' है।[1] फिर, चरक ने आयुर्वेद को एक पृथक् वेद के रूप में प्रतिष्ठित किया है, जो अन्य वेदों से श्रेष्ठतर है क्योंकि यह हमें जीवन प्रदान करता है जो अन्य सारे भोगों और सुखों का आधार है, चाहे वे ऐहिक हों अथवा पारलौकिक।[2] वृद्ध वाग्भट के अनुसार आयुर्वेद अथर्ववेद का उपांग नहीं अपितु उपवेद है।[3] महाभारत (2. 11. 33) में उपवेद का उल्लेख है और इसकी व्याख्या करते हुए नीलकण्ठ का कथन है कि उपवेद चार हैं—आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्व और अर्थशास्त्र। एक परकालीन पुराण, ब्रह्म वैवर्त्तपुराण, का कथन है कि ऋक्, यजुस्, साम और अथर्ववेदों की रचना के पश्चात् ब्रह्मा ने पंचमवेद आयुवेद की रचना की।[4] रॉथ ने अपनी पुस्तक 'वोर्टरबुश' में इस आशय का एक उद्धरण दिया है कि वेदांग माने जाने वाले आयुर्वेद का अध्यापन ब्रह्मा सम्पूर्ण आठों भागों में करते हैं।[5]

---

1 चरक 1. 30. 24। यह अंश चरक 1. 1. 6 से असंगत प्रतीत होता है, क्योंकि इसके अनुसार रोगों का शाश्वत होना माना गया है जबकि चरक 1. 1. 6 के अनुसार रोग एक निश्चित काल से प्रारम्भ हुए। क्या यह संशोधन दृढ़बल का प्रक्षेपक तो नहीं ?

2 चरक 1. 1. 42 और इस पर चक्रपाणि रचित 'आयुर्वेद-दीपिका'।

3 अष्टांग-संग्रह 1. 1. 8। तथापि, गोपथ-ब्राह्मण 1. 10 में सर्पवेद, पिशाच वेद, असुरवेद, इतिहासवेद एवं पुराणवेद इन पांच वेदों का संभवतः उपवेद के अर्थ में उल्लेख है, परन्तु इस संदर्भ में आयुर्वेद का उल्लेख नहीं।

4 ब्रह्मवैवर्त्त पुराण 1. 16. 9. 10।

5 ब्रह्मा वेदांगमष्टांगमायुर्वेदमभाषत। 'आयुर्वेद' शब्द के सम्बन्ध में वोर्टरबुश में मिलने वाले उद्धरण के इस संदर्भ में कुछ चूक के कारण पुष्टि नहीं की जा सकी। यह ध्यान देने योग्य है कि साधारणतः वेदांग का प्रयोग शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष और निरुक्त इन छः अंगों के अर्थ में होता है।

इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि कुछ लोगों द्वारा आयुर्वेद अन्य वेदों से बढ़कर माना जाता था और उनके अनुयायियों द्वारा इसका पंचम वेद के रूप में, अथर्ववेद के उपवेद के रूप में, एक स्वतन्त्र उपवेद के रूप में, अथर्ववेद के एक उपांग के रूप में और अन्ततः वेदांग के रूप में सम्मान किया जाता था। इन सब परस्पर विरोधी संदर्भों से यह समझ में आता है कि ऐसी परम्परागत धारणा थी कि अन्य वेदों के साथ प्रायः सह-अस्तित्व रखने वाला, महान् आदर का पात्र और एक विशिष्ट प्रकार से अथर्ववेद से सम्बद्ध आयुर्वेद नामक एक वेद है। तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि इस सम्बन्ध का स्वरूप इस तथ्य में निहित है कि इन दोनों में रोगों के उपचार और दीर्घायु की प्राप्ति का वर्णन है, एक में मुख्यतः मंत्र-तंत्र द्वारा और दूसरे में औषधि द्वारा। सुश्रुत का आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपांग कहने में जो अर्थ है वह संभवतः इससे अधिक और कुछ नहीं है। अथर्ववेद और आयुर्वेद दोनों में रोगों के उपचार का उल्लेख है, और इसी ने जन-मानस में इन दोनों को सामान्यतः परस्पर सम्बद्ध कर दिया और अपने धार्मिक मूल्यों के कारण इन दोनों में अथर्ववेद के पवित्र तर होने से आयुर्वेद को इसके साहित्यिक परिशिष्ट के रूप में सम्बद्ध कर दिया। कौशिक सूत्र 25.2 की टीका करते हुए दारिल भट्ट हमें इसका संकेत देता है कि आयुर्वेद और अथर्ववेद में सम्पर्क एवं विभेद स्थापित करने वाली कौन-कौन-सी बातें हो सकती हैं। अतः वह कहता है कि दो प्रकार की व्याधियाँ होती हैं, एक तो वे जो कुपथ्य से होती हैं और दूसरी वे जो पाप एवं अशुभाचरण द्वारा होती हैं। आयुर्वेद की रचना प्रथम प्रकार की व्याधियों के उपचार के लिए हुई और आथर्वण क्रियाओं की रचना दूसरी प्रकार की व्याधियों के लिए।[1] स्वयं चरक प्रायश्चित्त की गणना भेषज के नामों में करते हैं और चक्रपाणि इस पर टीका करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार प्रायश्चित अशुभ द्वारा उत्पन्न व्याधियों का निराकरण करता है उसी प्रकार भेषज भी व्याधियों का निराकरण करता है और इस प्रकार प्रायश्चित भेषज का पर्यायवाची है।[2]

परन्तु यह आयुर्वेद है क्या? हमारे पास आजकल सुश्रुत और चरक की कृतियां ही परकालीन संशोधकों द्वारा संशोधित और परिवर्धित रूप में उपलब्ध हैं। परन्तु सुश्रुत का कथन है कि ब्रह्मा ने मूलतः आयुर्वेद की रचना की। इसमें 1,00,000 श्लोक थे जो एक हजार अध्यायों में विभक्त थे और फिर यह देखकर कि मनुष्य क्षीणमति एवं अल्पायु है, उन्होंने बाद में इसे इन आठ अंगों में विभक्त कर दिया—चीरफाड़ (शल्य), सिर के रोगों का उपचार (शालाक्य), साधारण रोगों का उपचार (काय-चिकित्सा) दुष्ट प्रेतात्माओं के प्रभाव की प्रशामक प्रक्रियाएं (भूत-विद्या), बाल-रोग चिकित्सा (कौमारभृत्य), विषों का उपशमन (अगदतन्त्र), शरीर को युवा बनाने का विज्ञान (रसायन) और काम-शक्ति को प्राप्त करने का विज्ञान (वाजीकरण)।[3] सुश्रुत का यह कथन बहुत कुछ विश्वसनीय प्रतीत

---

1 द्विप्रकाश व्याधयः। आहारनिमित्ता अशुभनिमित्ताश्चेति। तत्राहारसमुत्थानां वैषम्य आयुर्वेदं चकार, अधर्मसमुत्थानां तु शास्त्रमिदमुच्यते।

—कौशिक सूत्र 25.2 पर दारिल की टीका।

2 चरक, 4, 1, 3, और 'आयुर्वेद दीपिका' वही।

3 सुश्रुत-संहिता 1. 1. 5–9।

होता है कि आयुर्वेद मूलतः एक महान् ग्रन्थ था जिसमें परकालीन आठ भिन्न-भिन्न प्रकार के अध्ययनों को पृथक् नहीं किया गया था; कि आयुर्वेद को उपांग, उपवेद अथवा वेदांग से सम्बोधित किया जाना भी इस बात की ओर संकेत करता है कि जब वैदिक साहित्य रचा जा रहा था उस समय आयुर्वेद का भी किसी न किसी रूप में अस्तित्व था। औषधियों के संकलन का उल्लेख हमें 'प्रातिशाख्य' काल जितने प्राचीन समय में मिलता है।[1] यह विलक्षण बात है कि उपनिषदों अथवा वेदों में आयुर्वेद का नाम कहीं नहीं आता यद्यपि विद्या की विभिन्न शाखाओं का वर्णन उपनिषदों में मिलता है।[2] अष्टांग आयुर्वेद का उल्लेख महाभारत में अवश्य है और वायु, पित्त और श्लेष्मा इन तीन धातुओं (धारक) का भी वर्णन है। उसमें एक सिद्धान्त का उल्लेख है जिसके अनुसार शरीर इन तीन धातुओं द्वारा धारण किया जाता है और उनके क्षय से उसका भी क्षय हो जाता है (एतैः क्षीणैश्च क्षीयते) और कष्णात्रेथ के चिकित्सा-विज्ञान (चिकित्सितम्) के सस्थापक होने की ओर संकेत किया गया है।[3] मंत्र-तंत्र के मिश्रण से रहित औषधियों के प्राचीनतम सुव्यवस्थित वर्णनों में से एक का उल्लेख 'विनय पिटक' के 'महावग्ग' में मिलता है वहां बुद्ध अपने शिष्यों के लिए औषधियों का निर्देश करते हैं।[4] ये औषधियां साधारण प्रकार की हैं परन्तु उन पर विधि-सम्मत व्यवस्था की छाप स्पष्ट है। हमें उसमें 'आकाश गोत्तो' नामक शल्य चिकित्सक का भी ज्ञान होता है जिसने भगन्दर की शल्य-चिकित्सा (सत्थ-कम्म) की थी। रॉकहिल रचित 'लाइफ आफ बुद्ध' में हमें तक्षशिला विश्वविद्यालय में आत्रेय के अधीन जीवन के चिकित्साशास्त्र पढ़ने का उल्लेख मिलता है।[5] अथर्ववेद में एक मन्त्र आता है जिससे पता चलता है कि अथर्ववेदकाल में भी सैकड़ों चिकित्सक थे और औषधियों से व्याधियों का उपचार करने हेतु एक सुसम्पन्न भेषज-संहिता विद्यमान थी, इस मन्त्र में मणियों के गुणों का स्तवन किया गया है और कहा गया है कि उनकी शक्ति सहस्त्रों चिकित्सकों द्वारा प्रयुक्त सहस्त्रों औषधियों के बराबर होती है।[6] अत इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि अथर्ववेद काल में भी औषधियों का प्रचलन जोर शोर से था, और

---

1 ऋ. वे. प्रातिशाख्य 16. 54 (55) अथर्ववेद एवं गोपथ ब्राह्मण में पृ० 10 पर ब्लूमफील्ड द्वारा वर्णित चिकित्साशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ का नाम 'सुभेषज' बताया गया है।

2 ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणश्चतुर्थमितिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्याम्—छांदोग्य 7, 1.2। इनमें से भूत विद्या की गणना आयुर्वेद के आठ तन्त्रों में की गई है जैसाकि हमें सुश्रुत संहिता से तथा अन्यत्र ज्ञात होता है।

3 महाभारत 2, 11. 25; 12, 342, 86, 87; 12. 210. 2. 1, कृष्णात्रेय का 'चरक संहिता' 6. 15. 129 में उल्लेख है और इस पर टीका करते हुए चक्रपाणि कहते हैं कि कृष्णात्रेय और आत्रेय, चरक संहिता में वर्णित महान् आचार्य आत्रेय पुनर्वसु से भिन्न दो आचार्य हैं।

4 विनय पिटक, महावग्गु 6, 1-14।

5 रॉक्हिल कृत 'लाइफ ऑफ बुद्ध' पृ० 65।

6 अथर्ववेद 2, 9. 3 शतं ह्यस्य भिषजः सहस्रमुत वीरुधः।

यद्यपि हमारे पास इस मत के पक्ष में अन्य प्रमाण नहीं हैं कि रोगों के उपचार करने से सम्बद्ध साहित्य विद्यमान था जिसे आयुर्वेद के नाम से जाना जाता था, इसमें ऐसी विभिन्न शाखाएं, पृथक्-पृथक् अवस्था में विद्यमान नहीं थीं, जिनका विकास बाद में हुआ, फिर भी हमारे पास कोई ऐसा प्रमाण नहीं है जिससे हम इस प्रकार के साहित्य के अस्तित्व की ओर सुश्रुत के निश्चित संकेत को अमान्य कर दें। चरक-संहिता भी आयुर्वेद के अनादि सनातन क्रम के अस्तित्व की ओर संकेत करती है। 'आयुर्वेद' शब्द में उसने आयु, जड़ी बूटियां, पथ्य आदि के गुणों के स्थैर्य का और मानव शरीर पर उनके प्रभावों का तथा प्रज्ञाशील जिज्ञासु का समावेश किया है। आजकल उपलब्ध प्राचीन ग्रन्थ 'चरक-संहिता' और 'सुश्रुत संहिता' तन्त्र नाम से विख्यात है।[1] अग्निवेश कृत 'अग्निवेश संहता' भी जिसका चरक ने संशोधन किया था और जो चक्रपाणि के समय तक उपलब्ध थी, एक तन्त्र ही था। यदि आयुर्वेद आजकल हमें उपलब्ध तन्त्र से स्पष्टरूपेण पृथक् कोई साहित्य नहीं है तो फिर यह आयुर्वेद क्या था जिसे भिन्न-भिन्न प्रकार से पंचम वेद अथवा उपवेद की संज्ञा दी गई है।[2] अतः सम्भवतः ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार का साहित्य विद्यमान था, अग्निवेश एवं अन्य लेखकों की व्यवस्थित कृतियों ने उसे निरस्त कर दिया और परिणामस्वरूप यह साहित्य अन्ततोगत्वा लुप्त हो गया। तथापि चरक 'आयुर्वेद' शब्द का प्रयोग आयुर्विज्ञान के सामान्य अर्थ में करते हैं। चरक ने आयु को चार प्रकारों में विभक्त किया है—सुख, दुःख, हित और अहित। 'सुखम् आयुः' वह आयु है जो शारीरिक एवम् मानसिक व्याधियों से पीड़ित नहीं होती है, जो बल, वीर्य शक्ति, पौरुष एवम् पराक्रम से युक्त होती है और जो सब प्रकार के भोगों एवं समृद्धियों से परिपूर्ण होती है। इसका विपर्यय 'असुखम् आयुः' है। 'हितम् आयुः' वह है जिसमें कोई व्यक्ति समस्त प्राणियों का हित करने में रत रहता है, पर-धन का अपहरण नहीं करता है, सत्यनिष्ठ, शमपरायण होता है; अच्छी तरह सोच-विचार कर काम करता है, नैतिक आदेशों का उल्लंघन नहीं करता है, सदाचार और भोग समभाव से ग्रहण करता है, पूजनीय पुरुषों का आदर करता है, दानशील होता है और जो इह लोक और परलोक के लिए हितकारी कार्यों को करता है इसका विपर्यय 'अहित' कहलाता है। आयु के इन चारों प्रकारों के साधक ज्ञान को प्रदान करना और साथ ही आयु का मान निश्चित करना ही आयुर्वेद का उद्देश्य है।[3]

---

1 गुर्वाज्ञालाभानन्तरमेतत्तन्त्रकरणम्—चक्रपाणिकृत आयुर्वेददीपिका 1. 1. 1. और चरक संहिता, 1. 1. 52।

2 आयुर्वेद दीपिका 6.3, 177-185 में चक्रपाणि ने 'अग्निवेश संहिता' का उद्धरण दिया है।

3 चरक, प्रथम 1. 40 और प्रथम 30. 20–23।

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते॥

प्रथम 30.20 में आयुर्वेद की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गई है—'आयुर्वेदमयतीति आयुर्वेदः' अर्थात् जो आयु का बोध करावे वह आयुर्वेद है। सुश्रुत दो वैकल्पिक व्युत्पत्तियों

परन्तु, यदि आयुर्वेद का अर्थ 'आयु का विज्ञान' है, तो इसका अथर्ववेद से क्या सम्बन्ध है ? चरक संहिता में हम देखते हैं कि एक चिकित्सक की अथर्ववेद में विशेष रूप से भक्ति होनी चाहिए। अथर्ववेद में स्वस्त्ययन, बलि, मंगल, होम, नियम, प्रायश्चित, उपवास और मन्त्रों द्वारा चिकित्सा का निरूपण किया गया है।[1] इस पर टीका करते हुए चक्रपाणि कहते हैं कि चूँकि चिकित्सकों को अथर्ववेद का भक्त होना चाहिए, अतः इसका तात्पर्य यह हुआ कि अथर्ववेद आयुर्वेद का भाव ग्रहण कर लेता है (अथर्ववेदस्यायुर्वेदमुक्तं भवति)। निःसन्देह अथर्ववेद में विभिन्न प्रकार के विषयों का निरूपण किया गया है, और इसीलिए आयुर्वेद को अथर्ववेद का केवल एक अंग ही माननना चाहिए (अथर्ववेदैकदेश एवायुर्वेदः)। यदि चक्रपाणि की व्याख्या के प्रकाश में देखा जाए तो यह प्रतीत होता है कि चिकित्साशास्त्र की जिस शाखा से चरक सम्बद्ध थे उसका अथर्ववेद से घनिष्टतम सम्बन्ध था। चरक संहिता में पाई जाने वाली अस्थिप्रणाली की अथर्ववेदीय प्रणाली से तुलना करने पर भी इसकी ही पुष्टि होती है। स्वयं सुश्रुत का कथन है कि जहाँ उसके मतानुसार मानव शरीर की अस्थि संख्या तीन सौ है, वहाँ वेदों के अनुयायियों के अनुसार उनकी संख्या तीन सौ साठ है, और चरक द्वारा दी गई संख्या भी ठीक यही है।[2] अथर्ववेद अस्थियों की गणना नहीं करता है, परन्तु अस्थियों के वर्णन से सम्बन्धित कुछ ऐसी महत्त्वपूर्ण बातें हैं जिनमें इस शाखा का जिसके चरक अनुयायी थे, अथर्ववेद से, न कि सुश्रुत से, मतैक्य है। डा० हर्नले ने इस प्रश्न की सावधानीपूर्वक विवेचना की है। उनका कथन इस प्रकार है, 'एक वास्तव में महत्त्वपूर्ण अवस्था यह है कि आथर्वण पद्धति का चरक पद्धति से एक मार्के की बात में साम्य है। वह है शिरोरचना में मुख की केन्द्रीय अस्थि की परिकल्पना जिस विषय में सुश्रुत और चरक का मत वैभिन्य है। यह और कहा जा सकता है कि दीर्घ अस्थियों के आधार के लिए प्रयुक्त आथर्वण शब्द 'प्रतिष्ठा' प्रत्यक्षतः चरकीय शब्द 'अधिष्ठान' से साम्य रखता है और सौश्रुत 'कूर्च' से पर्याप्त मात्रा में भिन्न है।[3] डा० हर्नले के अनुसार शतपथ ब्राह्मण को उन दोनों शाखाओं का ज्ञान था जिनके चरक और सुश्रुत क्रमश अनुयायी थे। तो भी इसमें 360 अस्थियों की गणना ठीक से ही की गई है, जैसेकि चरक ने की थी।[4] सुश्रुत संहिता 3. 5. 18 में प्रयुक्त शब्द 'वेदवादिनो' का

को प्रस्तुत करते हैं—'आयुरस्मिन् विद्यतेऽनेनवाऽऽयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः' अर्थात् जिससे आयु का ज्ञान या जिससे आयु का लाभ हो वह आयुर्वेद।

—सुश्रुत संहिता 1.1.14।

1 चरक-1.30.20।

2 त्रीणि सषष्ठान्यस्थिशतानि वेदवादिनो भाषन्ते, शल्यतन्त्रे तु त्रीण्येव शतानि-सुश्रुत संहिता 3. 5. 18। त्रीणि षष्ठानि शतान्यस्थ्नां सह दन्तनखेन।

चरक-संहिता 4. 7.।

3 ए० एफ० रूडोल्फ हर्नले रचित स्टडीज इन दि मैडीसिन आफ एन्शियंट इण्डिया —पृ० 113

4 वही. पृ० 1056। शतपथ ब्राह्मण 10. 5. 4. 12; 12. 3. 2. 3 और, 12, 2. 4. 9–14; 8. 6. 2. 7 और 10 भी देखिए। याज्ञवल्क्य धर्मशा बिष्णु

अर्थ वेद से भिन्न आयुर्वेद के अनुयायी नहीं है, जैसाकि डल्हण ने व्याख्या की है, परन्तु यह इस अर्थ में अक्षरशः सत्य है कि यह हमें उस दृष्टिकोण को प्रदान करता है जिस दृष्टिकोण में चरक का अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण, धर्मशास्त्र और पुराणों से साम्य है, जो सब कट्टर अनुमानों के अनुसार वेदों से अपनी प्रामाणिकता उपपादित करते हैं। यदि चरक द्वारा प्रस्तुत चिकित्सा की आत्रेय शाखा के विचारों और वैदिक विचारों के इस साम्य को आत्रेय द्वारा स्थापित अथर्ववेद और आयुर्वेद की एकात्मकता के साथ-साथ देखा जाय तो यह मानना अनुचित नहीं होगा कि चरक द्वारा प्रस्तुत आत्रेय शाखा का विकास अथर्ववेद से हुआ। यह आयुर्वेद की उस अन्य शाखा के विद्यमान होने की सम्भावना का निराकरण नहीं करता जिसका सुश्रुत ने उल्लेख किया हैं और जिससे गुरु परम्परा के शिक्षण माध्यम से सुश्रुत संहिता का विकास हुआ। इस साहित्य ने अपने आपको अथर्ववेद से सम्बद्ध करके और अपने को अथर्ववेद का एक उपांग घोषित करके जनता का आदर प्राप्त करने का प्रयत्न किया हो।[1]

जयन्त का तर्क है कि वेदों की प्रामाणिकता इस तथ्य पर आश्रित है कि उनकी रचना पूर्णतः विश्वसनीय (आप्त) पुरुषों द्वारा हुई। उपमा के रूप में वह आयुर्वेद का उल्लेख करते हैं, जिसकी प्रामाणिकता का कारण इसकी रचना विश्वसनीय (आप्त) पुरुषों द्वारा होती है। आयुर्वेद के चिकित्सासम्बन्धी निर्देश इस तथ्य के कारण प्रामाणिक माने जाते हैं कि वे आप्त पुरुषों के निर्देश हैं (यतो यत्राप्तवादत्वं तत्र प्रामाण्यमिति व्याप्तिर्गृह्यते)। परन्तु यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि आयुर्वेद की प्रामाणिकता इसके आप्त पुरुषों की कृति होने के कारण नहीं अपितु इसके निर्देश के अनुभव सिद्ध होने के कारण (नन्वायुर्वेदादौ प्रामाण्यं प्रत्यक्षादिसम्वादात् प्रतिपन्नं, नाप्तप्रामाण्यात्)। इसके उत्तर में जयन्त का कथन है कि आयुर्वेद की प्रामाणिकता इस तथ्य के कारण है कि यह आप्त पुरुषों की कृति है, और अनुभव-सिद्ध भी है। उसका यह भी तर्क है कि औषधियों की अत्यधिक संख्या, उनके योग और उनके प्रयोग इतने अनन्त प्रकार के हैं कि किसी भी व्यक्ति के लिए अन्वयव्यतिरेक की प्रायोगिक विधियों द्वारा उनको जानना पूर्णतः असंभव है। क्योंकि चिकित्सकगण वस्तुओं के अपने ज्ञान में लगभग सर्वज्ञ होते हैं, अतः केवल इसी हेतु उनमें व्याधियों और उनके उपचार से संबद्ध अलौकिक ज्ञान के प्रदर्शन की क्षमता है, जिसको उनके प्रमाण पर विश्वास करके ही ग्रहण किया जा सकता है। चिकित्सा

स्मृति विष्णु धर्मोत्तर और अग्निपुराण में भी चरक के अनुरूप मानव शरीर की अस्थियों की संख्या 360 दी गई है। अन्तिम तीन का स्रोत सम्भवतः प्रथम (याज्ञवल्क्य धर्मशास्त्र) था, जैसाकि डा० हर्नले द्वारा अपनी पुस्तक स्टेडीज इन दि मैडीसिन ऑफ एन्शियेन्ट इण्डिया (पृ० 40–46) में संकेत किया गया है। परंतु इन चिकित्सेतर ग्रन्थों में से कोई भी अधिक प्राचीनकाल का नहीं है, सम्भवतः वे तृतीय या चतुर्थ शताब्दी ई० पू० से पहले के नहीं हैं।

1 यद्यपि 'उपांग' शब्द का प्रयोग इस अर्थ में हुआ हो कि यह एक परिशिष्ट ग्रंथ था उसका क्षेत्र वैसा ही था जैसाकि अथर्ववेद का।

सम्बन्धी आविष्कार अन्वय व्यतिरेक की प्रायोगिक विधियों के प्रयोग के द्वारा किए गए और बाद में दीर्घकाल में वे पुंजीभूत हो गए, इस मत का खंडन करने के उसके प्रयत्न बहुत क्षीण हैं और उनकी समीक्षा करना यहाँ आवश्यक नहीं।

अथर्ववेद या ब्रह्म के नाम से विख्यात चतुर्थ वेद, मुख्यतः औषधियों और जादू-टोनों का ही निरूपण करता है।[1] ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है कि इस वेद की रचना प्राचीनतम अऋग्वैदिक ऋचाओं के भी बाद हुई, क्योंकि संभवतः भारत के इतिहास में कभी भी ऐसा समय नहीं आया जब लोगों ने व्याधियों का उपचार करने या विपत्तियों को दूर करने और शत्रुओं को क्लेश पहुँचाने के लिए जादू टोने का आश्रय नहीं लिया हो। स्वयं ऋग्वेद को भी अधिकांश में ऐसी आभिचारिक प्रक्रियाओं का एक विशिष्ट विकसित रूप माना जा सकता है। मनुष्यों के मस्तिष्क पर आथर्वण जादुओं का आधिपत्य संभवतः अत्यन्त शक्तिशाली था क्योंकि वे उन्हें अपने सारे दैनिक कृत्यों में प्रयोग करते थे। आज भी जब ऋग्वेदीय यज्ञ अत्यन्त विरल हो गए हैं, आथर्वण जादू टोनों और उनसे प्रादुर्भूत अपेक्षाकृत परवर्तीकाल के तांत्रिक जादू-टोनों का प्रयोग हिन्दुओं के समस्त वर्गों में बहुत सामान्य है। पुजारी वर्ग की आय का एक बहुत बड़ा भाग पुरानी एवं गम्भीर बीमारियों के इलाज करने, मुकदमें जीतने, कष्ट निवारण करने, परिवार में पुत्र प्राप्त करने, शत्रु की हानि करने इत्यादि के लिए किए गए स्वस्त्ययनों; प्रायश्चित्तों, और होम से प्राप्त होता है। रक्षा-कवच का प्रयोग भी लगभग उतने ही मुक्त रूप से हो रहा है जितना कि तीन या चार हजार वर्ष पहले होता था, और सांप के मंत्र तथा कुत्ते आदि काटने के मंत्र आज भी ऐसी बातें हैं जिनका विरोध करना चिकित्सकों को कठिन जान पड़ता है। जादू-टोने की अदृश्य शक्तियों में विश्वास सामान्य हिन्दू गृहस्थ में प्रायः धर्म का स्थान ले

---

1 कुछ पवित्र ग्रन्थों में चार वेदों का उल्लेख है और कुछ में तीन का, जैसे—'अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदश्च।' बृहदारण्यक, द्वितीय 4, 10 में चार वेदों का उल्लेख है। पुनश्च, तैत्तिरीय ब्राह्मण 1, 11, 1, 26 में तीन वेदों का उल्लेख है—'यमृषयस्त्रयीविदो विदः ऋचः सामानि यजूंषि। सायण मीमांसा सूत्र 2, 1, 37—'शेषे यजुः शब्दः' का हवाला देते हैं और कहते हैं कि अन्य सारे वेद, जो न तो ऋक हैं और न साम ही है वे यजुस् ही हैं (सायण कृत अथर्ववेद का उपोदघात, पृ० 4, सन् 1895 का बम्बई संस्करण)। इस व्याख्या के अनुसार अथर्ववेद का समावेश यजुर्वेद में होना चाहिए और यह व्याख्या तीन वेदों के उल्लेख को स्पष्ट कर देती है। गोपथ ब्राह्मण द्वितीय 16 में अथर्ववेद का 'ब्रह्म-वेद' के रूप में उल्लेख है और दो भिन्न कारण प्रस्तुत किए गए हैं। प्रथमतः ऐसा कहा जाता है कि अथर्ववेद की रचना ब्रह्मा की तपस्या के द्वारा हुई, दूसरा कि गोपथ ब्राह्मण में यह बतलाया गया है कि सारे आथर्वण मंत्र उपचार करने वाले (भेषज) हैं और जो कुछ भी भेषज है वह सब अमृत है और जो कुछ अमृत है वह 'ब्रह्म'। येऽथर्वाणस्तद् भेषजं, यद् भेषजं तदमृतम् यदमृतं तद्ब्रह्म' (गोपथ ब्राह्मण 3, 4)।

न्याय मंजरी, 250-261 भी देखिए।

लेता है। अतः यह मान लिया जा सकता है कि जब अधिकांश ऋग्वेदीय ऋचाओं की रचना भी नहीं हुई थी, उस समय आथर्वण मंत्रों की अच्छी खासी संख्या प्रचलित थी। तथापि जब अथर्ववेद का आज के उपलब्ध रूप में संकलन किया गया तो उसमें कुछ नए मन्त्र और सम्मिलित कर लिए गए, जिनका दार्शनिक स्वरूप अधिकांश मन्त्रों के दृष्टि-कोण से मेल नहीं खाता। जैसाकि सायण ने अपने भाष्य की भूमिका में दर्शाया है अपने शत्रुओं को दूर रखने के लिए और अन्य कई लाभों को प्राप्त करने के लिए अथर्ववेद राजाओं के लिए अपरिहार्य था और राजपुरोहितों का आथर्वण प्रक्रियाओं में निष्णात होना आवश्यक था। ये प्रक्रियाएं अधिकांशतः साधारण गृहस्थ के क्लेशों का निवारण करने के लिए थीं और इसी हेतु 'गृह्यसूत्रों' ने पर्याप्त मात्रा में इनका प्रयोग किया गया है। अथर्ववेद का प्राचीनतम नाम है 'अथर्वांगिरसः' और यह नाम प्रायः दो प्रकार के विभाजन को सूचित करता है, एक तो वे मन्त्र जो अथर्वा रचित बताए जाते हैं और दूसरे वे जो अंगिरा रचित बताए जाते हैं, प्रथम में शान्त (पवित्र), पौष्टिक (कल्याणप्रद) और भेषजों (उपचारकों) का विवेचन है और द्वितीय में शत्रुओं का क्लेशदायी क्रूर 'घोर' संज्ञक क्रियाओं (आभिचारिक) का विवेचन है। आथर्वण जादू टोनों से जिन उद्देश्यों की पूर्ति की अपेक्षा की जाती थी वे अनेक थे। इन उद्देश्यों को सक्षिप्त रूप में कौशिक सूत्र के अनुसार निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है। बुद्धि तीव्र करना, ब्रह्मचारी के गुणों की प्राप्ति, ग्राम, नगर, दुर्ग और राज्य का ग्रहण तथा पशु, धन, धान्य, संतान, स्त्री, हाथी, घोड़े और रथ आदि की प्राप्ति, प्रजा में ऐकमत्य एवं सन्तोष स्थापित करना, शत्रु के हाथियों को भयभीत करना, रण जीतना, सब प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का निवारण शत्रु दल को स्तब्ध, भयभीत और नष्ट कर देना, अपनी सेना का उत्साह बढ़ाना और संरक्षण करना, युद्ध के भावी परिणामों को जानना, सेनापतियों और मुख्य-मुख्य व्यक्तियों को अपने मत में करना, उन क्षेत्रों में मन्त्र सिद्ध पाश, तलवार अथवा डोरे डालना जहाँ शत्रु-सेना गतिशील है। युद्ध-विजय के लिए रथारोहण, सारे रण-वाद्यों पर जादू करना, शत्रु-घात, शत्रु द्वारा नष्ट नगरों का पुनर्ग्रहण, अभिषेक समारोह, पापों के प्राय-श्चित, शाप, गो-संवर्धन समृद्धि-लाभ, कल्याण और कृषि की वृद्धि एवं वृषभों की दशा में सुधार के लिए रक्षा-कवच. गृहस्थ की विभिन्न सामग्रियों को जुटाना, नवनिर्मित भवन को शुभ बनाना, सांड को खुला छोड़ना (सामान्य क्रियाओं के एक अंग के रूप में—श्राद्ध) फसल काटने के मास आग्रहायण (मध्य नवम्बर से मध्य दिसम्बर तक) के कृत्यों को सम्पन्न करना, पूर्वजन्मकृत पापों के फलस्वरूप प्राप्त अन्यथा असाध्य विभिन्न व्याधियों का उपचार प्राप्त करना, सारे रोगों और सामान्यतः, ज्वर, हैजा, और प्रमेह का इलाज करना, शस्त्राघातजनित घावों से रुधिर-प्रवाह रोकना, अपस्मारजन्य मूर्छा को और भूत, पिशाच, ब्रह्म राक्षस, इत्यादि दुष्टात्माओं के वशीभूत होने से रोकना, वात, पित्त, श्लेष्मा, हृद्रोग, पांडुरोग, श्वेत कुष्ठ, विभिन्न प्रकार के ज्वर, जलोदर, राजयक्ष्मा का इलाज करना, गायों और घोड़ों के कीड़ों का इलाज करना, सब प्रकार के विषों को शान्त करना, मस्तक, नेत्र, कर्ण, जिह्वा, ग्रीवा के रोगों की और ग्रीवा-प्रदाह की औषधों की कल्पना करना, ब्राह्मण के शाप के दुष्प्रभावों का निवारण करना, पुत्र-प्राप्ति, सुखी प्रसव और भ्रूण के कल्याण के लिए स्त्री-संस्कारों की व्यवस्था करना; समृद्धि प्राप्त करना, राज-कोप की शान्ति, भावी सफलता अथवा असफलता का ज्ञान, अतिवृष्टि और वज्रपात

की रोक, शास्त्रार्थ जीतना और विवाद रोकना, स्वेच्छानुसार नदी-प्रवाह करना, वर्षा-प्राप्ति, जूए में जीतना, पशु और अश्वों का कल्याण, व्यापार में अधिक लाभ-प्राप्ति, स्त्रियों में अशुभ लक्षणों की रोक, नए घर के लिए शुभ कृत्यों का सम्पादन, निषिद्ध दान को स्वीकार करने और निषिद्ध पौरोहित्य संपादित करने से उत्पन्न पापों का परिमार्जन, दुःस्वप्नों का रोकना, जिन अशुभ नक्षत्रों की दृष्टि में कोई जातक उत्पन्न हुआ हो उन नक्षत्रों के प्रकोप को दूर करना, ऋण-शोधन, अपशकुनों की बुराइयों को दूर करना, शत्रु को क्लेश पहुँचाना, शत्रु के मंत्र-तंत्रों के क्लेशकारी प्रभाव का प्रतीकार करना, शुभ संस्कारों का सम्पादन, दीर्घायुष्य की प्राप्ति, जातकर्म, नामकरण, चूड़ाकर्म, यज्ञोपवीत, विवाहादि संस्कारों का सम्पादन, अन्त्येष्टि संस्कार करना, प्राकृतिक प्रकोपों यथा धूलवृष्टि, रक्तवृष्टि आदि, यक्ष, राक्षसादि के आविर्भाव, भूकंप, धूमकेतु के उदय और सूर्य तथा चन्द्र-ग्रहणों के कारण उत्पन्न विपदाओं से रक्षा करना।

आथर्वण क्रियाओं के सम्पादन से उपलब्ध होने वाले लाभों की उपर्युक्त लम्बी सूची हमारे सामने उस समय का चित्र अंकित कर देती है जब आथर्वण जादू टोनों का प्रचलन था। यह निश्चित रूप से स्थिर नहीं किया जा सकता कि इन सारी क्रियाओं का आथर्वण मन्त्रों की सर्वप्रथम रचना के समय तक आविष्कार हो चुका था। वर्तमान काल में हमारे पास जो प्रमाण उपलब्ध हैं वे कौशिक सूत्रों द्वारा उपलब्ध कराए गए प्रमाणों तक ही सीमित हैं। सायण द्वारा स्वीकृत भारतीय परम्परा के अनुसार अथर्ववेद का संकलन नौ पृथक्-पृथक् संग्रहों में चालू था, जिनके पाठ न्यूनाधिक रूप में एक दूसरे से भिन्न थे। ये भिन्न-भिन्न पाठ अथवा शाखाएँ पैप्पलाद, तांड, मंड शौनकीय, जाजल, जलद, ब्रह्मवाद, देवादर्श और चारणवैद्य थीं। इनमें से केवल पैप्पलाद और शौनकीय पाठ ही प्राप्य हैं। पैप्पलाद शाखा ट्यूबिन्जेन स्थित केवल एक अप्रकाशित पांडुलिपि में ही विद्यमान है, जिसको सर्वप्रथम रौथ ने खोजा था।[1] इसका प्रतिकृति रूप में और आंशिक रूप से मुद्रित रूप में भी सम्पादन किया जा चुका है। शौनकीयशाखा ही आजकल मुद्रित रूप में उपलब्ध है। शौनकीय शाखा का ब्राह्मण गोपथ ब्राह्मण है और इसके कौशिक, वैतान, नक्षत्र, कल्प, आँगिरस कल्प और शान्ति कल्प ये पाँच सूत्र ग्रन्थ है,[2] इन्हें 'पंचकल्प' की संज्ञा भी दी जाती है। इनमें कौशिक सूत्र सम्भवतः प्राचीनतम और सबसे महत्त्वपूर्ण है क्योंकि अन्य चारों सब इस पर आश्रित हैं।[3] नक्षत्रकल्प और शान्तिकल्प का स्वरूप न्यूनाधिक फलित ज्योतिष का है। आंगिरिस कल्प की कोई भी पांडुलिपि उपलब्ध नहीं है,

1 रौथ कृत 'डेर अथर्ववेद इन काश्मीर'।

2 कौशिक-सूत्र 'संहिताविधि' और 'संहिताकल्प' नाम से भी विख्यात है। नक्षत्र, आंगिरस और शान्ति ये तीन कल्प वस्तुतः परिशिष्ट हैं।

3 'तत्र शाकल्येन संहितामंत्राणां शान्तिक-पौष्टिकादिषु कर्मसु विनियोग-विधानात् संहिताविधिर्नाम कौशिकं सूत्रम्, तदेव इतरैरुपजीव्यत्वात्-सायणकृत अथर्ववेद का उपोद्घात, पृ० 25।

परन्तु सायरण की संक्षिप्त टिप्पणी से ऐसा ज्ञात होता है कि यह शत्रुओं को क्लेश पहुँचाने (अभिचार कर्म) से सम्बद्ध एक पुस्तिका होगी। वैतान-सूत्र में कुछ यागिक और संस्कार सम्बन्धी विवरणों का विवेचन किया गया है। कौशिक सूत्र पर दारिल, केशव, भद्र और रुद्र ने भाष्य लिखे थे। चारणवैद्य (घूमते फिरते वैद्य) शाखा की विद्यमानता हमें उस विशिष्ट शाखा को प्रदर्शित करती है, जिससे उस आत्रेय-चरक शाखा का प्राचीन 'आयुर्वेद' निर्मित था, जिसने अथर्ववेद की आयुर्वेद से एकात्मकता स्थापित की थी। 'चारण-वैद्य शब्द' से यह रोचक संकेत मिलता है कि उस समय के चिकित्सक (वैद्य) एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाया करते थे और उनके आगमन को सुनकर रोगी उनके पास जाया करते थे, तथा उनकी सहायता लेते थे।[1]

अथर्ववेद और आयुर्वेद में अस्थियाँ

इस अध्याय का मुख्य आकर्षण अथर्ववेद का वह भाग है जिसमें चिकित्सा संबंधी निर्देशों का विवेचन है और इसके लिए 'कौशिक सूत्र' को ही मुख्य पथ-प्रदर्शक रूप में ग्रहण करना पड़ेगा। हम प्रथम अथर्ववेद की शरीर रचना संबन्धी विशेषताओं से प्रारम्भ करते हैं।[2] जिन अस्थियों की गणना की गई है, वे इस प्रकार हैं: पार्ष्णी (द्विवचनांत)[3] दोनों पैरों की एडियाँ, (2) गुल्फौ[4] (द्विवचनान्त)—टखने की दो अस्थियां,

---

1 क्या यह सम्भव है कि 'चरक' (शाब्दिक अर्थ घमने वाला) का वैद्य के रूप में चरक के व्यवसाय की पर्यटक प्रकृति से कोई सम्बन्ध है?

2 इस सन्दर्भ में मन्त्र सं० 2.23 और 10.2 विशेष महत्त्व के हैं।

3 चरक ने भी प्रत्येक पैर की एक-एक 'पार्ष्णि' की गणना की है। हर्नले (स्टैडीज इन दि मैडीसिन ऑफ एन्शियन्ट इण्डिया पृ० 128) ने इस तथ्य पर यह टिप्पणी की है कि चरक का आशय पादमूल की अस्थि के पीछे की ओर और नीचे की ओर के प्रवर्धों से है, अर्थात् इसके उस भाग से आशय है जिसको बाह्य ओर से देखा और जाना जा सकता है और जो सामान्यतः एडी के नाम से जाना जाता है। अथर्ववेद की भी यही धारणा हो सकती है। सुश्रुत गुच्छ (कूर्च) के रूप में इसकी वास्तविक प्रकृति को सम्भवतः जानते थे, क्योंकि शारीर स्थान 6 में वे गुल्फ का कूर्च-शिरस् अथवा गुच्छ के शिर के रूप में वर्णन करते हैं, परन्तु उन्होंने 'पार्ष्णि' की पृथक् रूप गणना की है। हर्नले का विचार है कि 'पार्ष्णि' से सुश्रुत का आशय पादमूल-अस्थि से है, और इसे प्रपदोपास्थि समूह (कूर्च) का एक अंग नहीं मानते थे। यह अजीब बात है कि वाग्भट प्रथम ने प्रत्येक हाथ से एक-एक पार्ष्णि सम्बद्ध करके एक अनोखा भ्रम उत्पन्न कर दिया (अष्टांग संग्रह 2.5 और हर्नले पृष्ठ 91-96)।

4 'गुल्फ' का आशय टांगों की दो अस्थियों के प्रवर्धों से है, जो गुल्फिका (Malleoli) नाम से ज्ञात है। चरक और सुश्रुत द्वारा गुल्फों की संख्या चार गिनाई गई है। देखिए सुश्रुत के विभाजन पर हर्नले की टिप्पणी, हर्नले, पृ० 81, 82, 102 से 104। सुश्रुत 3. 5. 19 में 'तलकूर्चगुल्फसंश्रितानि दश' आया है जिसकी व्याख्या

(3) अंगुल्यः (बहुवचन में)–अंगुलियां,[1] (4) उच्छलंखौ (द्विवचनान्त अर्थात् हाथ और पैर की)–करभास्थियाँ और प्रपदास्थियां,[2] (5) प्रतिष्ठा-आधार,[3] (6) अष्ठीवन्तौ (द्विवचनान्त)–घुटनों की ढकनियां,[4] (7) जानुनः संधि–घुटनों के

डल्हण ने इस प्रकार की है। तल (5 शलाकाएं और उनकी प्रबंधक एक अस्थि)–6 अस्थियाँ, कूर्च–2 अस्थियाँ, गुल्फ–2 अस्थियां। हर्नले ने इसका गलत अर्थ लगाया, और यह समझकर कि डल्हण ने एकही पैर के दो 'कूर्च' और दो 'गुल्फों' का वर्णन किया है, उन्होंने कई अनियमितताओं को प्रदर्शित किया है और सुश्रुत के पाठ का भिन्न अर्थ ही बताया है। इस सन्दर्भ में उसका 'वलय' का आभूषण अर्थ भी सही नहीं है, 'वलय' का अर्थ सम्भवतः 'गोलाकार' है। यदि डल्हण का अनुसरण किया जाए, तो उसका आशय यह हो सकता है कि प्रत्येक टांग के 'कूर्च' में दो अस्थियाँ हैं, और वे प्रत्येक टांग में एक 'गुल्फ' की एक वर्तुलाकार (वलयास्थि) अस्थि का निर्माण करती हैं। यदि ऐसा मान लिया जाय तो हर्नले ने इस विषय पर जो कुछ कहा है वह आलोचना की अति हो जाती है और उसका अधिकांश भाग सारहीन हो जाता है। विधायक अंगों अथवा सम्पूर्ण वलयास्थि के प्रसंगानुसार 'गुल्फ' दो होते हैं अर्थात् प्रत्येक टांग में एक-एक। मेरे अर्थ के अनुसार सुश्रुत को यही ज्ञान था कि केवल दो अस्थियों से ही 'कूर्च' निर्मित है, और सुश्रुत में ऐसा कोई स्थल नहीं है जो यह प्रदर्शित करे कि उसे अधिक का ज्ञान था। पदतल की अस्थि में पार्ष्णि, कूर्च शिरस् और दोनों गुल्फों का समावेश होगा।

1 चरक और सुश्रुत दोनों पोखों (पाणिपादांगुलि) की संख्या साठ बताते हैं जब वास्तविक संख्या केवल छप्पन ही है।

2 चरक ने इन करभास्थियों और प्रपदास्थियों (पाणिपादांगुलि) की संख्या बीस दी है, जो वास्तविक संख्या है। सुश्रुत ने उनका उल्लेख 'तल' संज्ञा के अन्तर्गत किया है; उनके द्वारा प्रयुक्त यह एक विशेष संज्ञा है। उनके समस्त-पद 'तल-कूर्च-गुल्फ' के अन्तर्गत अंगुलियों की अस्थियों के अतिरिक्त हाथ और पैर की सारी अस्थियों का समावेश होता है।

3 चरक ने 'पाणिपादशलाकाधिष्ठान' पद का, याज्ञवल्क्य ने 'स्थान' का, और सुश्रुत ने 'कूर्च' का प्रयोग किया है। प्रतीत होता है कि चरक ने इसको एक अस्थि ही माना है। 'कूर्च' का तात्पर्य (1) मांस (2) शिरा (3) स्नायु और (4) अस्थि के जाल (मांस-शिरास्नाय्वस्थिजालानि) से है। इन चारों प्रकार के ये सारे जाल हाथ और पैरों की संधियों में विद्यमान हैं।

4 हर्नले का कथन है कि अथर्ववेद में 'अष्ठीवत्' और 'जानु' पर्यायवाची है, परन्तु 10. 2. 2 का पाठ उनकी गणना स्पष्टतः पृथक् रूप से करता हुआ प्रतीत होता है। 'अष्ठीवत्' सम्भवतः जानुफलक की अस्थि है। चरक ने 'जानु' और 'कपालिका' शब्दों का प्रयोग सम्भवतः 'घुटने की ढकनी' (जानुफलक) और 'कुहनी पुटक'

जोड़,[1] (8) जंघे (द्विवचनान्त)–टांगें,[2] (9) श्रोणी (द्विवचनान्त)–वस्ति कुहर,[3] (10) ऊरू (द्विवचनान्त)—जांघों की अस्थियां,[4] (11) उरस्[5]—वक्षःस्थल की

(कपालिका) के अर्थ में प्रयोग किया है। 'कपालिका' का अर्थ एक 'छोटा छिछला पात्र' होता है; और यह साम्य कुहनी के पुटक की रचना के उपयुक्त है। सुश्रुत ने 'कूर्पर' (कुहनी की पुटक) शब्द का प्रयोग शारीर स्थान 5.19 में अस्थियों की सामान्य सूची में नहीं किया है अपितु 'शारीर' 6.25 में 'मर्मों' की गणना के समय किया है।

1 यह 'अष्ठीवत्' (घुटने की ढकनी) से भिन्न प्रतीत होती है।

2 टांग की प्रजंघिका और उपजंघिका अस्थि। चरक भेल, सुश्रुत और वाग्भट प्रथम ने इस अवयव को दो अस्थियों से निर्मित ठीक ही बताया है। अथर्ववेद ने उन अस्थियों से निर्मित ढांचे को ठीक ही एक चतुष्टय आकार बताया है जिसके सिरे एक-दूसरे से संहत हैं (चतुष्टयं युज्यते संहितान्तम्)। इससे मिलती-जुलती अग्र बाहु (अरत्न) की दो अस्थियों-बहिःप्रकोष्ठास्थि और अन्तःप्रकोष्ठास्थि–की गणना चरक द्वारा ठीक की गई है। यह पर्याप्त विलक्षण बात है कि सुश्रुत ने उनका उल्लेख अस्थि सूची में नहीं किया है। इस सन्दर्भ में 'बाहु' को नहीं गिना गया है।

3 चरक ने वस्ति-कुहर की दो अस्थियों अर्थात् दोनों ओर की अनामी अस्थियों का उल्लेख किया है। आधुनिक शारीरज्ञों का मत है कि प्रत्येक अनामी अस्थि तीन पृथक् अस्थियों से 'श्रोणि-फलक' अस्थि का ऊपरी भाग, 'आसनास्थि' है, निचला भाग, और जघनास्थि, अन्य अनामी अस्थि से जुड़ा हुआ भाग निर्मित है। यद्यपि शिशु देह में श्रोणि-फलक और आसनास्थि ये दो अस्थियाँ होती हैं फिर भी युवावस्था में एक हड्डी के रूप में आपस में मिल जाती हैं, और इस दृष्टिकोण से, श्रोणि-फलक और आसनास्थि इन दोनों को एक ही मानना न्यायसंगत है। चरक ने इनके अतिरिक्त एक पृथक् भगास्थि की भी गणना की है। उन्होंने सम्भवतः (जैसा हर्नले ने दर्शाया है) त्रिकास्थि को और अनुत्रिक अस्थि को एक अस्थि ही माना है, जो पृष्ठवंश का एक अंग है, 'भगास्थि' से उनका आशय जघन अस्थि से है; क्योंकि चक्रपाणि ने 'भगास्थि' की व्याख्या करते हुए इसको अभिमुखकटिसंधानकारकं तिर्यगस्थि (कूल्हे की सामने की अस्थियों की परस्पर मिलाने वाली तिर्यक् अस्थि) बताया है। फिर भी सुश्रुत ने पाँच अस्थियों की गणना की। चार गुद भग, नितंब में और एक त्रिक में। नितम्ब चरक के दो 'श्रोणि फलकों' के तुल्य हैं, 'भग' भगास्थि अथवा जघन अस्थि के, 'गुद' त्रिक आस्थि के ओर 'त्रिक' त्रिकोणमयी पृष्ठवंश की उपान्त्य अस्थि के तुल्य है। सुश्रुत का चरक से मुख्य भेद यह है कि जहाँ चरक पृष्ठ त्रिक और अनुत्रिक अस्थियों को पृष्ठवंश के भाग के रूप में एक अस्थि मानते हैं वहाँ सुश्रुत उनको दो अलग अस्थियां मानते हैं और उनको पृष्ठवंश से पृथक् रूप में मानते हैं। वाग्भट ने 'त्रिक' और 'गुद' को एक अस्थि माना है, परन्तु इसे वह मेरुदंड से पृथक् रखते हैं।

4 चरक, सुश्रुत और वाग्भट प्रथम इसको ठीक ही प्रत्येक टांग में एक अस्थि ही मानते हैं। चरक ने इसे 'ऊरुनलक' की संज्ञा दी है।

5 चरक ने वक्ष में चौदह अस्थियां गिनाई हैं। भारतीय 'शारीरज्ञ' कोमलास्थि को नई

अस्थियां, (12) ग्रीवा[1] (बहुवचनांत;—वायु नलिका, (13) स्तनौ (द्विवचनांत)[2]–स्तन

अस्थियां (तरुणास्थि) मानते थे। वक्षोस्थि के प्रत्येक और कुल दस पसलियों के किनारे की कोमलास्थियाँ हैं। परन्तु आठवीं, नवीं और दसवीं कोमलास्थियां सातवीं से संयुक्त हैं। अतः यदि सातवीं, आठवीं नवीं और दसवीं कोमलास्थियों को एक अस्थि माना जाय तो वक्षोस्थि के प्रत्येक ओर कुल सात अस्थियां होती हैं। इस प्रकार हमें कुल संख्या चौदह प्राप्त होती है, जिनकी गणना चरक ने की है। चरक ने वक्षोस्थि को पृथक् से नहीं गिना है। उनके मत में यह एक-दूसरे से अटूट रूप से सम्बद्ध पसली के सिरे को कोमलास्थि की शृंखला का परिणाम है। सुश्रुत और वाग्भट प्रथम ने 'उरः' की आठ-अस्थियों की गणना की है और इसका कारण नहीं बताया जा सकता है। सुश्रुत की दस अस्थियों का हर्नले का काल्पनिक पुनः स्थापन सही नहीं प्रतीत होता है। तथापि याज्ञवल्क्य की गणना के अनुसार ये सत्रह हैं अर्थात् उन्होंने वक्षोस्थि को और प्रत्येक पार्श्व की किनारे की आठवीं कोमलास्थि को चरक की चौदह अस्थियों में और जोड़ दिया है; ये तीनों अस्थियां चरक की संख्या में सम्मिलित हीं हैं हर्नले का विचार है कि याज्ञवल्क्य की संख्या ही चरक संहिता में वास्तविक पाठ था, परन्तु उसका तर्क मुश्किल से ग्राह्य है।

1 वायु नलिका स्वरयंत्र, टेंटुआ और दो श्वसनियां इन चार भागों से निर्मित है। भी एक अस्थि नहीं है अपितु कोमलास्थि है, परन्तु फिर भी भारतीय शरीर रचना विज्ञानियों ने इसकी गणना अस्थिरूप में ही की है, यथा चरक ने इसे 'जत्रु' की और सुश्रुत ने इसे 'कण्ठनाडी' की संज्ञा दी है। हर्नले ने सफलतापूर्वक यह प्रदर्शित कर दिया है कि चिकित्सासम्बन्धी पुस्तकों में 'जत्रु' शब्द 'वायु नलिका' या सामान्यतः गर्दन के पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त होता था। हर्नले का कथन है कि मूलतः इस शब्द से ग्रीवा और वक्षःस्थल के कोमलास्थिसम्बन्धी भागों (वायु-नलिका और तटीय नवास्थियाँ) का बोध होता था, जैसाकि शतपथ ब्राह्मण के 'तस्माद् इमा उभयत्र पर्शवो बद्धाः कीकसासु च जत्रुषु' (पसलियाँ बाह्य किनारे पर वक्षः प्रदेशीय रीढ़ की हड्डी से और आभ्यन्तर किनाने पर किनारे की नवस्थियां–जत्रु से जुड़ी हैं) में देखने को मिलता है। चिकित्सा ग्रन्थों में इस शब्द का अर्थ गले के नवास्थि सम्बन्धी भाग अर्थात् ग्रीवा से है (चरक), और इसलिए इसका प्रयोग या तो सामान्यतः गर्दन के लिए या फिर गले के मूल में वक्षोग्रैवेय अस्थियों के लिए किया गया है (सुश्रुत)। केवल छठी अथवा सातवीं शताब्दी ई० पू० से ही शरीर सम्बन्धी 'संधि' और 'अंस' शब्दों के अशुद्ध अर्थ लगाने के कारण ही इसका अर्थ हंसली लगाया जाने लगा। देखिए हर्नले कृत स्टडीज इन द मेडिसिन ऑफ ऐन्श्येन्ट इण्डिया, पृ० 168।

2 पार्श्वयोश्चतुर्विंशतिः पार्श्वयोस्तावन्ति चैव स्थालकानि तावन्ति चैव स्थालकार्बुदानि, अर्थात् पार्श्व (पसलियों) में चौबीस अस्थियाँ होती हैं। चौबीस स्थालक (संपुट) होते हैं और चौबीस स्थालकार्बुद (गुलिकायें) होते हैं। सुश्रुत के कथनानुसार प्रत्येक ओर छत्तीस पसलियाँ होती हैं। पसली में एक छड़ और एक शिर होता है, 'इन दो भागों के संधि स्थल पर एक गुलिका होती है जो सम्बद्ध रीढ़ की हड्डियां के अनुप्रस्थ प्रवर्धों से सम्बन्ध जोड़ती है, और संभवतः यह गुलिका ही अर्बुद है।' निस्सन्देह पसलियाँ

(.4) कफोडौ[1] (द्विवचनान्त कन्धे का पंखा, (15) स्कन्धान् (बहुवचनान्त)[2] कन्धे की अस्थियां, (16) पृष्टी: (बहुवचनान्त)[3]—रीढ़ की हड्डी, (17) असी

चौबीस हैं। 'स्थालकों' और 'अर्बुदों' को वस्तुतः पृथक् अस्थियों के रूप में नहीं गिना जा सकता, परन्तु यदि उन्हें अस्थियों में गिन भी लिया जाय तो जैसाकि हर्नले ने प्रदर्शित किया है, अस्थियों की कुल संख्या 68 होनी चाहिए, न कि 72, क्योंकि सबसे नीचे की दो पसलियों में गुलिकायें नहीं है।

1 'कफोड' का अर्थ संभवतः अंस-फलक है। चरक ने 'अंसफलक' का प्रयोग किया है। चरक ने दो अन्य शब्दों 'अक्षक' (हंसुली) और 'अंस' का प्रयोग किया है। जैसाकि हर्नले ने प्रदर्शित किया है, 'अंस' शब्द अशुद्ध पाठ प्रतीत होता है, क्योंकि वास्तव में केवल दो ही अस्थियां है, कफोड और हसुली। परन्तु क्या उसका अर्थ अंसफलक का अंसकूट नहीं हो सकता ? यद्यपि सुश्रुत ने शारीर 5 में अस्थियों की गणना करते हुए कंधे के पंखे को छोड़ दिया है (इसके लिए पद है 'अक्षकसंज्ञे), तो भी वह शारीर 6. 27 में 'अंसफलक' का नाम लेते हैं, और उसको त्रिकोणात्मक (त्रिकसंबंद्धे) बताते हैं और इस शब्द की डल्हण ने 'ग्रीवाया असंद्वयस्य च यः संयोग: स त्रिक:' ऐसी अशुद्ध व्याख्या की है। हंसुली और ग्रीवा का संधिस्थल 'त्रिक' नहीं कहा जा सकता है।

2 चरक ने गर्दन में पन्द्रह अस्थियां गिनी हैं। आधुनिक शरीर रचना विज्ञानियों के अनुसार उनकी संख्या केवल सात ही है। संभवतः उन्होंने अस्थियों के तिर्यक् प्रवर्धों को गिन लिया था और इस प्रकार चौदह की संख्या प्राप्त की, जिसमें उन्होंने पृष्ठवंश को एक अस्थि मानकर और जोड़ दिया।

सुश्रुत ने नौ अस्थियों की गिनती की । सातवीं अस्थि में कशेरुका कंटक और तिर्यक् प्रवर्ध सम्मिलित हैं और इसलिए उन्होंने उन्हें संमवतः तीन अस्थियां मानकर गणना की; इन तीनों को अन्य छः के साथ लेने से कुल संख्या नौ हो जाती है।

3 चरक ने रीढ़ की हड्डी (पृष्ठगतास्थि) में हड्डियों की संख्या तेतालीस बताई है जबकि वास्तविक संख्या केवल छब्बीस ही है। प्रत्येक अस्थि के चार भाग–मुख्य अस्थि, कशेरुकाकंटक और दो अनुप्रस्थ प्रवर्धन होते हैं, चरक ने उन सबको चार अस्थियाँ ही गिना है। सुश्रुत ने मुख्य अस्थि और कशेरुकाकंटक को एक ही अस्थि और दो तिर्यक् प्रवर्धों को दो अस्थियां माना है, इस प्रकार चरक की चार अस्थियों के स्थान पर सुश्रुत ने तीन अस्थियां मानी हैं। चरक के अनुसार बारह वक्षीय कशेरुकाओं के मुख्य प्रवर्धनों और कशेरुकाकण्टकों की गणना से चौबीस की संख्या आती है, पांच कटि-कशेरुकाओं (मुख्य अस्थि कशेरुकाकंटक दो प्रवर्ध) से बीस की संख्या आती है। इस संख्या में उसने त्रिक और अनुत्रिक को एक अस्थि मानकर जोड़ दिया है, और इस प्रकार कुल संख्या पैंतालीस कर दी है, सुश्रुत में हमें बारह वक्षप्रदेशीय कशेरुकाएँ, छः कटि-कशेरुकाएँ और बारह अनुप्रस्थ प्रवर्ध अर्थात् कुल तीस अस्थियाँ मिलती हैं।

(द्विवचनान्त)[1] हंसलियां, (18) ललाट-मस्तक, (19) कपाटिका[2]—मुख की मध्य अस्थि, (20) हनु-चित्य[3]—जबड़े, (21) कपालम्[4]–कनपटी सहित खोपड़ी ।

'कीकस' (ऋ० वे० 2, 33, 2) शब्द का अर्थ सम्पूर्ण 'मेरुदण्ड' है, 'अनूक्य' (ऋ० वे० 2, 33, 2) का अर्थ मेरुदड का वक्षप्रदेश है और 'उदर' का अर्थ 'धड़ का निचला भाग' है ।

1 चरक और सुश्रुत दोनों ने इसे 'अक्षक' की संज्ञा दी है और इनको दो अस्थियां ठीक ही गिना है । चक्रपाणि ने इसका वर्णन 'अक्षविवक्षकौ जत्रुसंघेः कीलकौ' किया है (उन्हें अक्षक इसलिए कहा गया है कि वे दो शलाकाओं (ग्रीवा अस्थियों के संधि स्थलों को बांधने वाली कीलों) के समान है ।

आगे सुश्रुत ने 'असपीठ' (अंस उलूखल, जिसमें प्रगण्डास्थि का ऊपरी सिरा फंसा रहता हैं) को समुद्ग (पिटक) अस्थि की संज्ञा दी है । गुदास्थियां, भगास्थि एवं नितम्बास्थि, में से प्रत्येक के जोड़ का 'समुद्ग' संज्ञा से वर्णन किया है । यही श्रोणि-उलूखल या कुहर है जिसमें जंघास्थि का शीर्षभाग स्थित है । (अंसपीठ-गुदभगनितम्बेषु समुद्गाः सुश्रुत, शारीर 5, 2) ।

2 ललाट संभवत: भौहों के ऊपर की उभरी हुई दो हड्डियां है और 'ककाषिका' निचला भाग जिसमें चबाने के दांत की और नाक की अस्थियों सहित ऊपरी जबड़े की अस्थि का मुख्य भाग भी सम्मिलित है । चरक ने चबाने के दांतों की दो अस्थियों (गण्डकूट), नाक की दो अस्थियों, और भौहों के ऊपर की दो उभरी हुई हड्डियों को एक ही अटूट (अभिन्न) अस्थि (एकास्थि नासिकागण्डकूटललाटम्) माना है ।

3 चरक के अनुसार केवल निचले जबड़े की ही एक पृथक् अस्थि के रूप में गणना की गई है (एकं हन्वस्थि), और दो बन्धनों को दो अस्थियां गिना गया है (द्वे हनुमूल-बन्धने । तथापि सुश्रुत ने ऊपरी और निचले जबड़ों को दो अस्थियां माना है (हन्वोर्द्वे) । यद्यपि वास्तव में इनमें से प्रत्येक अस्थि में दो अस्थियां हैं, वे एक दूसरे में ऐसी मिली हुई हैं कि उनको जैसाकि सुश्रुत ने माना है, एक माना जा सकता है । चरक ने ऊपरी जबड़े को नहीं गिना है अतः उसने दंत-सम्फुट (दन्तोलूखल और कठोर तालु (तालुषक) की गणना की है । सुश्रुत की ऊपरी 'हनु' की गणना में 'तालव्य प्रवर्ध' सम्मिलित नहीं है, अतः वह तालु को भी गिनते हैं (एकं तालुम्) ।

4 'शंख' से कनपटियों का बोध होता है; चरक और सुश्रुत दोनों ने इसकी संख्या दो बताई है । चरक ने खोपड़ी की अस्थियों की गणना चार की है (चत्वारि शिरः कपालानि) और सुश्रुत ने छः (शिरसिषट्) । मस्तिष्क-कोष में आठ अस्थियां हैं । इनमें से दो आंतरिक भाग में हैं । अतः केवल छः अस्थियां ही बाहर से दृष्टिगोचर होती है । इनमें से कनपटी की दो अस्थियों की 'शंख' नाम से ही गणना की जा चुकी है, इस प्रकार चार अस्थियां ही शेष रहती हैं । सुश्रुत ने ललाटिका, पार्श्विका और पश्च-कपालिका अस्थियों को दो-दो आधे भागों में विभक्त किया है और उनको पृथक्-पृथक् अस्थियां माना है, और इस प्रकार वह छः की ंख्या पर पहुंचते हैं । वस्तुतः

अथर्ववेद और आयुर्वेद में शरीर के अवयव

हमारे पास ऐसे कोई प्रमाण नहीं हैं, जिनसे हम यह बलपूर्वक कह सकें कि अथर्ववेद मन्त्र के लेखक को उन विभिन्न अस्थियों की संख्या का ज्ञान था जिनका वह उल्लेख करता है, परन्तु ऐसा संभव प्रतीत नहीं होता कि मानव कंकाल के ध्यानपूर्वक अध्ययन बिना अस्थियों के विषय में किया गया उल्लेख संभव हो पाता। यह निर्णय करना दुष्कर है कि यह अध्ययन शव-छेदन की किन्हीं प्राथमिक विधियों द्वारा किया गया या नश्यमान शवों के ककाल के अध्ययन द्वारा किया गया। कई अवयवों का भी वर्णन है यथा हृदय, फेफड़ा (क्लोम)[1], पित्ताशय

ललाटिका और पार्श्विका दोनों अस्थियों में से प्रत्येक दो-दो अस्थियों से निर्मित है, जो उत्तरावस्था मे सयुक्त हो जाती है।

यद्यपि लेखक का डा० हर्नले से प्राय: मतभेद रहा है. फिर भी वह इस अध्याय के इस विशिष्ट भाग को लिखने में उनकी पांडित्यपूर्ण व्याख्या एवं समालोचना के लिए अत्यन्त ऋणी है।

1 चरक ने क्लोम' की गणना हृदय के पार्श्ववर्ती अवयव के रूप में की है, परन्तु उन्होंने 'फुप्फुस' को नहीं गिना है। दूसरे स्थल (चिकित्सा 17.34) पर उन्होंने 'क्लोम' का वर्णन हिचकी (हिक्का) से संबद्ध अवयव के रूप में किया है (हृदयं क्लोम कण्ठं च तालुकं च समाश्रिता मृद्वी सा क्षुद्र हिक्केति नृणां साध्या प्रकीर्तिता)। चक्रपाणि ने इसका वर्णन 'पिपासा-स्थान' सज्ञा से किया है। परन्तु, वह चाहे जो हो. चूंकि चरक 'हिक्का' के सम्बन्ध में इसके महत्त्व को समझते थे और चूंकि उन्होंने फुप्फुस' (फेफड़ा-महाव्युत्पत्ति, 100) का उल्लेख नहीं किया है इसलिए उनके मत में 'क्लोम' का आशय 'फेफड़े' के दो अवयवों में से एक से अवश्य होगा। सुश्रुत ने 'फुप्फुस' का बांई ओर होना एवं क्लोम' का दांई ओर होना बताया है। क्योंकि दोनों फेफड़े आकार में भिन्न होते हैं, अत: यह संभव है कि सुश्रुत ने बांये फेफड़े को फुप्फुस' और दांये को 'क्लोम' की संज्ञा दी हो। वाग्भट प्रथम ने सुश्रुत का अनुसरण किया है। अथर्ववेद, चरक, सुश्रुत वाग्भट और अन्य आचार्यों ने इस शब्द का एकवचनान्त प्रयोग किया है. परन्तु वृहदारण्यक 1 में 'क्लोम' शब्द का बहुवचनान्त प्रयोग है, और इस पर भाष्य करते हुए, शंकर का कथन है कि यद्यपि 'क्लोम' एक ही अवयव है, फिर भी इसका प्रयोग सदा बहुवचनान्त होता है (नित्यबहुवचनान्त). तथापि यह कथन अशुद्ध है क्योंकि सारे आचार्य इस शब्द को एकवचनान्त प्रयोग करते हैं। हृदय के बांये पार्श्व में इसके स्थित होने का वर्णन (यकृच्च क्लोमानश्च हृदयस्याधस्ताद्दक्षिणोत्तरौ मांसखण्डौ–बृ० 1, 1–शांकर भाष्य) सुश्रुत के निर्णय के प्रतिकूल है जिन्होंने उसे हृदय के उसी ओर रखा है जिस ओर यकृत है। 'भाव-प्रकाश' में इसको नाड़ियों का उद्गम कहा गया है जहाँ पानी लाया जाता हैं या बाहर निकाला जाता है। 'क्लोम' का श्वसन-अवयवों की प्रणाली का एक अंग होना इस बात से भी सिद्ध होता है कि इसको अन्य पार्श्ववर्ती

(हलीक्षण),[1] गुर्दे (मत्स्नाभ्याम्),[2] यकृत् (यक्न),[3] प्लीहा, पेट और छोटी आंत (अन्त्रेभ्यः) गुदा और उसके ऊपर का भाग (गुदाभ्याः), बड़ी आँत (वनिष्ठु, सायण के द्वारा 'स्थविरान्त्र' नाम से व्याख्यात), उदर, बद्धनाली से उत्तर गुदा तक का भाग (प्लाशि), नाभि मज्जा (मज्जाभ्यः), शिराएँ (स्नावभ्यः) और धमनियाँ (धमनिभ्यः ।[4] इस प्रकार हम देखते हैं कि आथर्वण मन्त्रों के रचयिताओं को वे सारे महत्त्वपूर्ण अवयव ज्ञात थे जिनका परवर्ती आत्रेय-चरक शाखा या सुश्रुत शाखा ने उल्लेख किया है ।[5]

अवयवों यथा कण्ठ और तालुमूल, से प्रायः संबद्ध किया गया है । अत चरक ने कहा है 'उदकवहानां स्रोतसां तालुमूलं क्लोम च जिह्वातालोष्ठकण्ठक्लोमशोषं-दृष्ट्वा' (विमान 5. 10) । शार्ङ्गधर 1.5 45 में इसको यकृत के समीपस्थ एक जलवाही ग्रन्थि (शिरामूल) बतलाया है (जलवाहिशिरामूलं तृष्णाच्छादनकं तिलम्) ।

1 यह शब्द चिकित्सा-साहित्य में नहीं आया है । सायण ने इसका 'एतत्संज्ञकात् तत्सम्बन्धात् मांस-पिंडविशेषात्' ऐसा वर्णन किया है । पहचान करने के लिए यह तो बिल्कुल व्यर्थ ही है । वेबर का विचार है कि इसका अर्थ 'पित्त' हो सकता है (इण्डिश स्टडीन 13, 206) । मेक्डानेल इसे कोई विशिष्ट आँत मानते हैं (वेदिक इण्डेक्स खंड 2, पृ० 500) ।

2 सायण ने 'मत्स्नाभ्याम्' की व्याख्या 'वृक्याभ्याम्' से की है : चरक का पाठ 'वुक्क' है । सायण ने एक वैकल्पिक व्याख्या यह दी है : 'मत्स्नाभ्याम् उभयपार्श्वसंबंधाभ्यां वृक्याभ्यां तत्समीपस्थपित्त धारपात्राभ्याम् ।' यदि यह व्याख्या स्वीकार कर ली जाए तो 'मत्स्ना' का अर्थ होगा 'गुर्दों' के समीपस्थ पित्त की दो थैलियां । इस व्याख्या के अन्तर्गत दो 'मत्स्ना' संभवतः पित्ताशय और पाचक रस की थैली हो सकती हों, जिनमें दूसरी को अपने संस्राव के कारण शायद दूसरा 'पित्ताधार' मान लिया गया हो ।

3 सायण ने 'प्लाशि' की इस प्रकार व्याख्या की है 'बहुच्छिद्रान्मलपात्रात्' अनेकों छिद्रों वाला मलपात्र । ये छिद्र सम्भवतः मलाशय (मलपात्र) के अन्दर की ग्रन्थियों के मुख विवर हैं । शतपथ ब्राह्मण 12 9. 1, 3 में इन अवयवों की गणना विशेष देवताओं के लिए पवित्र रूप में और यज्ञ-उपकरणों के रूप में की गई है–हृदयमेवास्यैन्द्रः पुरोडाशः, यकृत् सावित्रः, क्लोमा वारुणः, मत्स्ने एवास्याश्वत्थं च पात्रमौदुम्बरं च पित्तं नैयग्रोधमन्त्राणि स्थाल्यः गुदा उपाशयानि श्येनपात्रे प्लीहासन्दी नाभिः कुम्भो वनिष्ठुः प्लाशिः शातातृष्णा तद्यत् सा बहुधा वितृष्णा भवति तस्मात् प्लाशिर्बहुधा विकृतः । 'वस्ति' को 'मूत्राशय' माना गया है (अ० वे० 1. 3. 7) ।

4 सायण का कथन है कि यहाँ 'स्नाव' का अर्थ 'सूक्ष्म शिराएँ', और 'धमनी' का अर्थ 'मोटी शिराएँ' है–सूक्ष्मः शिराः स्नावशब्देन उच्यन्ते धमनिशब्देनस्थूलाः (अ० वे० 2. 33) ।

5 अ० वे० 10, 9 से यह पता लगता है कि शायद पशुओं का शव-च्छेद भी प्रचलित

बोलिंग ने इस प्रश्न को उठाया है कि क्या अथर्ववेदकालीन पुरुषों को शिरा और धमनी का अन्तर ज्ञात था, और उसका कथन है कि 1. 17. 3 में वर्णित शिरा और धमनी के प्रतीयमान अन्तर का इन्हीं शब्दों के 7. 35. 2 में आंतों, योनि आदि के द्योतक आन्तरिक स्रोतों के अधिक सामान्य अर्थ में व्यवहार के कारण निराकरण हो जाता है—जो यह प्रदर्शित कराते हैं कि ऐसे विषयों पर उनके विचार कितने अस्पष्ट थे[1] परन्तु यह सही नहीं है, क्योंकि 1. 17. 3 में कोई ऐमी बात नहीं है जिससे 'शिरा' और 'धमनी' का आधुनिक अर्थों में उनके अन्तर के ज्ञान का ऐसा आभास हो जैसा (7. 35. 2) में नहीं मिलता है। सूक्त 1.17 आघातजन्य रक्त-स्राव या स्त्रियों के अत्यधिक रुधिरास्रव को रोकने के लिए मन्त्र है। क्षत अंग पर थोड़ी रास्ते की धूल को डाला जाता था और मंत्र का उच्चारण किया जाता था। 1.17.1 में यह कहा गया है 'स्त्री के लाल कपड़े (अथवा रक्त पात्र) धारण करने वाली वे 'हिराएँ' (शिराएँ) जो सदा बहती रहती हैं, भ्रातृहीन कन्याओं के समान हतोत्साह रहें।[2]' अगले मंत्र 1. 17. 2 की व्याख्या करते हुए सायण का कथन है कि यह 'धमनी' का स्तवन है। यह मंत्र इस प्रकार है: 'अंवराग की तू (सायण के कथनानुसार तू शिरा निवृत्त हो जा (अर्थात् जैसा सायण का कथन है 'रुधिर छोड़ना बन्द कर दे') इसी प्रकार ऊपरी अंग की तू निवृत्त हो जा इसी प्रकार तू मध्यमांग की तू निवृत्त हो जा, इसी प्रकार तू सूक्ष्म और तू स्थूल धमनी निवृत्त हो जा।[3]' तीसरे मंत्र में 'हिरा' और 'धमनी' दोनों का वर्णन है। मध्य में स्थित ये पहले सौ धमनियों और हजारों शिराओं के बीच (रक्त स्राव कर रही) थी, (और उसके बाद) अन्य सब नाड़ियां (जो नाड़ियां रक्त स्राव बन्द कर चुकी हैं, उन दूसरी नाड़ियों के साथ) खेल रही थीं।[4] सूक्त 7. 35 स्त्री की ऐसी सन्तान रोकने के लिए है जो शत्रु हो। तीसरे मंत्र में कहा है

था। गाय के अधिकांश अवयवों का वर्णन मिलता है। मानव-प्राणियों के उपर्युक्त अवयवों के साथ-साथ दो अन्य अवयवों, हृदयावरण (पुरीतत्) और श्वास-नलिकाएँ (सहकण्ठिका) का वर्णन भी मिलता है। —अ० 10. 9. 15।

1 एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड एथिक्स 'रोग और औषधि: वैदिक'।

2 सायण ने 'हिरा' की व्याख्या 'शिरा' की है और उसका वर्णन रजोवाहिनी नाड़ी (रजोवहननाड्यः) के रूप में तथा विशेषण लोहितवस्त्रा का वर्णन या तो 'लाल वस्त्रधारिणी' या लाल' या 'रक्त पात्र' के रूप में (रुधिरस्यनिवासभूताः) किया है।

3 पूर्व मन्त्र में शिरा' का 'रक्त छोड़ने वाली' के रूप में उल्लेख है, जबकि इस मन्त्र में धमनी द्वारा वही कार्य किए जाने का उल्लेख है। सायण ने भी धमनी की शिरा के रूप में निर्बाध रूपेण व्याख्या की है (मही महती स्थूलतरा धमनिः शिरा तिष्ठदितिष्ठत्येव, अनेन प्रयोगेण निवृत्तरुधिरस्रावावतिष्ठताम्)।

4 यहाँ 'धमनी' और हिरा' की गणना की गई है। सायण का कथन है कि 'धमनियां' हृदय में महत्त्वपूर्ण नाड़ियाँ हैं (हृदयगतानां प्रधाननाडीनाम्) और 'हिरा' या 'शिरा' शाखा नाड़ियां हैं (शिराणां शाखानाड़ीनाम्)। यहाँ दिए अनुसार, धमनियों की संख्या सौ है और यह सांख्य कठोपनिषत् 6.16 में दी हुई हृदय की नाड़ियों की सख्या से लगभग मेल खाती है (शतं चैका च हृदयस्य नाड्यः)। प्रश्नोपनिषत् 3.6 में भी नाड़ियों का उल्लेख है, जिनकी सहस्र शाखाएं हैं।

"मैं पत्थर से सौ हिराओं और सहस्त्र धमनियों का मुख-विवर बन्द करता हूँ"। इसकी व्याख्या करते हुए सायण का कथन है कि 'हिराएँ' गर्भाशय के अन्दर की सूक्ष्म नाड़ियां हैं (गर्भाशयधारणार्थमन्तरवस्थिताः सूक्ष्मा या नाड्यः) और 'धमनियां' गर्भाशय के चारों ओर की स्थूल नाड़ियां हैं जो उसे स्थिर रखती हैं (गर्भाशयस्यावष्टम्भिका बाह्या स्थूला या नाड्यः)। इस मन्त्र और सूक्त . 17 के मन्त्रों में केवल मात्र अन्तर यह है कि इस मन्त्र में शिराएँ सौ और 'धमनियां' सहस्र बताई गई है जबकि सूक्त 1.17 में 'धमनियां' सौ और 'शराएँ' सहस्र बताई गई हैं। परन्तु; यदि सायण की व्याख्या स्वीकार कर ली जाय, तो 'धमनियां' बड़े स्त्रोत मानी जाएगी और 'शिराएं' सूक्ष्म स्नोत। 'नाड़ी' स्त्रोत का सामान्य नाम प्रतीत होता है। परन्तु अथर्ववेद में कहीं कोई ऐसा स्थल नहीं है जिससे यह आभास हो कि उस समय शब्दों के आधुनिक अर्थ में 'शिरा' और 'धमनी' का अन्तर ज्ञात था। अ० वे० 1.3.6 में गुर्दों से 'मूत्राशय तक मूत्र को ले जाने वाली 'गवीन्यौ' नामक दो नाड़ियों का उल्लेख हमें मिलता है।[1] ऐसा कहा गया है कि आठों दिक्पालों और अन्य देवताओं ने गर्भ को रचा और प्रसव के देवता (सूषा) सहित उन्होंने गर्भाशय के बन्धनों को ढीला करके प्रसव सुखावह बना दिया।[2] 'जरायु' शब्द का प्रयोग नाल के अर्थ में किया गया है, जिसके बारे में यह कहा जाता है कि इसका मांस और मज्जा से कोई घनिष्ट संबंध नहीं है, ताकि जब यह गिर जाती है तो इसे कुत्ते खा जाते हैं और शरीर को किसी प्रकार का आघात नहीं पहुँचता है। योनि-पार्श्वों को फैलाने के द्वारा और दोनों 'गवीनिका' नाड़ियों को दबाने के द्वारा प्रसव के प्राथमिक उपचार का उल्लेख मिलता है।[3] स्नावों (स्नायुओं) का भी 'धमनियों' के साथ उल्लेख किया गया है, और सायण ने उनकी व्याख्या सूक्ष्म 'शिराओं' के रूप में की है (सूक्ष्माः शिराः स्नावशब्देन उच्यन्ते)। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि धमनियों, शिराओं और स्नावों का विभाजन उनकी अपेक्षाकृत सूक्ष्मता पर आधारित है: स्थूल नाड़ियां धमनियां' कहलाती थी, सूक्ष्म नाड़ियां शिराएँ' कहलाती थी और सूक्ष्मतर नाड़ियां 'स्नाव' कहलाती थी। उनके सामान्य कार्य न्यूनाधिक एक से ही माने जाते थे, यद्यपि इनका भेद सम्भवतः शरीर के उस स्थान एवं अवयव के अनुसार होता था जहाँ वे स्थित हैं तथा जिन अवयवों से वे सम्बद्ध हैं। यह स्वीकार कर लिया गया प्रतीत होता है कि शरीर के तरल तत्त्वों का एक सामान्य प्रवाह विद्यमान था। यह संभवतः चरक संहिता में वर्णित 'स्रोत' की धारणा के अनुरूप

---

1 अन्त्रेभ्यो विनिर्गतस्य मूत्रस्य मूत्राशयप्राप्तिसाधने पार्श्वद्वयस्थे नाड्यौ गवीन्यौ इत्युच्येते- सायण भाष्य। 1. 11. 5 में 'गवीनिका' नामक दो नाड़ियों का उल्लेख है और सायण ने उनका वर्णन योनि के दोनों तरफ स्थित प्रसव-नियंत्रणकारी दो नाड़ियों के रूप में किया है (गवीनिके योनेः पार्श्ववर्तिन्यौ निर्गमनप्रतिबधिके नाड्यौ–सायण)। एक स्थल (अ० वे० 2. 12. 7) में 'मन्य' नामक आठ धमनियों का वर्णन है और सायण का कथन है कि वे ग्रीवा के निकट हैं। 'सिकतावाही' नामक एक ऐसी नाड़ी का अ० वे० 1. 17. 4 में वर्णन है जिस पर मूत्रकृच्छ्र आश्रित है।

2 प्रसव की अन्य देवी, सूषाणि का भी आह्वाहन किया गया है।

3 वि ते भिनद्मि वि योनिं वि गवीनिके। –अ० वे० 1. 11. 5।

हो, और इसका विवेचन आगे चलकर किया जाएगा। इस प्रकार अ० वे० 10. 2. 11 में कहा गया है, 'विभिन्न दिशाओं में व्याप्त सब ओर और मनुष्य में ऊपर और नीचे सब ओर दौड़ने वाली तीव्र, अरुण, लोहित एवं ताम्रधूम्र नदियों के रूप में प्रवाहमान को उसमें किसने स्थापित किया। इसमें शरीरस्थ विभिन्न तरल तत्वों के नानारूप प्रवाहों का स्पष्ट उल्लेख है। पुनश्च शुक्र को जीवन तन्तु के रूप में ग्रहण किया गया है, जिसका निर्माण होता रहता है।[1] हृदय और मस्तिष्क का घनिष्ट सम्बन्ध अस्पष्ट रूप से समझा गया प्रतीत होता है। अतः यह कहा गया है, 'अथर्वा ने अपनी सूई से उसके हृदय और मूर्धा को सी दिया है।'[2] सम्पूर्ण परकालीन साहित्य में उपलब्ध 'वायु-सिद्धान्त' की ओर संकेत किया गया है और प्राण, अपान, व्यान और समान का वर्णन किया गया है।[3] तथापि यह अनुमान लगाना दुष्कर है कि इन प्राण, अपान आदि का वास्तविक अर्थ क्या था। अथर्ववेद के एक अन्य स्थल में हमें नौ प्राणों का उल्लेख मिलता है (नव प्राणान् नवभिः संमिमीते), और एक अन्य में सात प्राणों का वर्णन है।[4] एक अन्य स्थल पर हमें तीन गुणों से आवृत एक नौ द्वारों वाले कमल का उल्लेख मिलता है।[5] इन्द्रियों के नव द्वारों का द्योतक यह शब्द उत्तरकालीन संस्कृत

---

1 को अस्मिन्रेतो न्यदधात् तन्तुरायततामिति (उसमें शुक्र को किसने यह कहते हुए धारण कराया कि जीवन-तन्तु का निर्माण हो? अ० वे० 10. 2. 17)।

2 मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत् (अ० वे० 10. 2. 26)। ग्रिफिथ का अनुवाद भी देखिए।

3 को अस्मिन् प्राणमवयत् को अपानं व्यानमु समानमस्मिन् को देवेऽधिशिश्राय पुरुषे (किसने उसमें प्राण, अपान, व्यान और समान को बुना और कौन-सा देवता उनका नियन्त्रण करता है? अ० वे 10. 2 13)।

4 सप्त प्राणानष्टौ मन्यस् (अथवा मज्ज्ञास्) तांस्ते वृश्चामि ब्रह्मणा (अ० वे० 2. 12 7)। तैत्तिरीय ब्राह्मण 1. 2. 3 3 में सात प्राणों का उल्लेख है, सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः। अ० वे० 10. 2. 6 में भी सात इन्द्रियों का उल्लेख मिलता है: कः सप्त खानि विततर्द शीर्षाणि। अ० वे० 15. 15. 16. 17 में सात प्रकार के प्राण, अपान और व्यान का वर्णन है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये ब्रह्माण्डीय कार्यों का साधन करते हैं। सात प्राण हैं: अग्नि, आदित्य, चन्द्रमाः, पवमान, आपः, पशवः और प्रजाः। सात अपान हैं: पौर्णमासी, अष्टका, अमावास्या, दीक्षा, यज्ञ और दक्षिणा। सात प्रकार के व्यान हैं: भूमिः, अन्तरिक्षं, द्यौः, नक्षत्राणि, ऋतवः, आर्तवाः और संवत्सह्ाः।

5 पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः॥
(ब्रह्मज्ञानी पुरुष उस पुरुष को आत्मा स्वरूप जानते हैं, जो तीन गुणों से आवृत नौ द्वार वाले कमल पुष्प में निवास करता है। (अ० वे० 10. 8. 43) उत्तर-कालीन तंत्र-ग्रन्थों में अत्यधिक वर्णित इडा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियां अथर्ववेद में दृष्टि-गोचर नहीं होती हैं। अथर्ववेद में प्राणायाम का कोई उल्लेख नहीं है।

साहित्य में अत्यन्त परिचित है, और हृदय की कमल से तुलना भी अत्यन्त सामान्य है। परन्तु इस स्थल के बारे में एक अत्यन्त रोचक बात यह है कि यह स्थल गुण-सिद्धान्त का सीधा द्योतक प्रतीत होता है जिसकी विशद व्याख्या उत्तरकालीन सांख्य-लेखकों के हाथों हुई; इस सिद्धान्त का संभवतः यह प्राचीनतम उल्लेख है। जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, प्राण आदि के वास्तविक कार्य ठीक-ठीक ज्ञात नहीं थे, प्राण को एक महत्त्वपूर्ण शक्ति या जीवन माना जाता था और इसे कष्ट और भय से परे माना जाता था। यह उसी प्रकार अमर था जैसेकि पृथ्वी और आकाश, दिन और रात, सूर्य और चन्द्र, ब्रह्म-क्षत्रिय, सत्य और असत्य, भूत और भविष्यत्।[1] मृत्यु से रक्षा करने के लिए प्राण और आपान की प्रार्थना की गई है (प्राणापानौ मृत्योर्मा पातम् स्वाहा)।[2] अ० वे० 3. 7. 4 में 'मनः' और 'चित्त' का पृथक्-पृथक् वर्णन है और सायण ने मनः की व्याख्या अन्तःकरण अर्थात् आन्तरिक इन्द्रिय से की है और चित्त की व्याख्या 'मनस्' की एक विशेष वृत्ति (मनोवृत्ति-विशेषः). विचार, से की है।[3] यहाँ भी हृदय चेतना का आधार है। इस प्रकार 3.26.6 के एक मन्त्र में यह कहा गया है, हे मित्र और हे वरुण! इस स्त्री के हृदय (हृद्) से उसकी विचार-शक्ति (चित्त) दूर कर दो और उसे विनिश्चय-हीन करके, उसे मेरे आधीन कर दो।'[4] 'जिस ओज' शब्द से हम चरक एवं अन्य आचार्यों के उत्तरकालीन चिकित्सा ग्रन्थों में सुपरिचित हैं वह अ० वे० 2. 18 में वर्णित है, जहाँ अग्नि का 'ओज' के रूप में वर्णन किया गया है और उपासक को 'ओज' प्रदान करने की प्रार्थना की गई है।[5]

अथर्ववेद में औषध-प्रयोग

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, इस बात को प्रदर्शित करने वाले प्रमाण हैं कि अथर्ववेद काल में भी व्यावसायिक चिकित्सकों द्वारा शुद्ध चिकित्सा कर्म का पहले से

---

1 अ० वे० 2, 15।

2 वही 2, 16 1। एक अन्य स्थल में प्राण और अपान से आदमी में उसी प्रकार प्रवेश करने की प्रार्थना की गई है जैसे वृषभ गोष्ठ में प्रवेश करते हैं। सायण ने प्राण और अपान को 'शरीर-चारक' कहा है (अ० वे० 3, 11, 5)। उनसे शरीर न छोड़ने की अपितु वृद्धावस्थापर्यन्त अंगों को धारण करने की भी प्रार्थना की है।

3 'मनः' और 'चित्त' को अ० वे० 3, 6, 8 में पृथक्-पृथक् गिना गया है।

4 'चित्तिनः' शब्द का प्रयोग कभी-कभी समान प्रकार से विचार करने वाले मनुष्यों के अर्थ में किया गया है (चित्तिनः समानचित्तयुक्ताः–सायण। (अ० वे० 3, 13, 5)।

5 ओजोस्योजो मे दाः स्वाहा (अ० वे० 11, 18, 1)। सायण 'ओज' की व्याख्या करते कहते हैं 'ओजः शरीरस्थितिकारणम् अष्टमोधातुः।' उन्होंने एक उद्धरण दिया है जिसे वे आचार्यों द्वारा कथित बताते हैं; 'क्षेत्रज्ञस्य तदोजस्तु केवलाश्रय इष्यते यथा' स्नेहः प्रदीपस्य यथाभ्रमशनित्विषः (जैसेकि दीपक तेल पर और तड़ित् मेघ पर आश्रित है ठीक उसी प्रकार 'ओज' केवल क्षेत्रज्ञ (आत्मा) पर आश्रित है)।

ही प्रचलन था। इस प्रकार मन्त्र 2. 9. 3. का सायण की व्याख्यानुसार कथन है कि सैंकड़ों चिकित्सक (शत ह्यस्य भिषजः) और सहस्रों वनौषधियाँ (सहस्रमुत वीरुधः) विद्यमान थीं, परन्तु जो इनके द्वारा करना सम्भव वह इस मन्त्र विशेष के टोने सहित रक्षाकवच के बांधने से ही प्राप्त किया जा सकता है।[1] पुनश्च (2. 9. 5.) अथर्वा को, जो ताबीज का बांधने वाला है, सर्वोत्तम सुचिकित्सक (सुभिषक्तम) बताया गया है। मन्त्र 6. 68. 2 में प्रजापति से एक लड़के का दीर्घायुष्य प्राप्ति के लिए (औषधि द्वारा) उपचार करने की प्रार्थना की गई है; प्रजापति को, ऐसा प्रतीत होता है, आत्रेय-चरक शाखा में आयुर्वेद का आदि गुरु माना गया है और उसने इस विद्या को ब्रह्मा से ग्रहण किया।[2] कौशिक सूत्र में व्याधि को लिंगी, अर्थात् चिह्न (लिंग) वाला, कहा गया है और औषधि (भैषज्य) को इसका नाशक (उपताप) कहा है। दारिल का कथन है कि यह 'उपतापकर्म' न केवल व्याधि के सन्दर्भ में ही प्रयुक्त हुआ है अपितु उसके 'लिंगों' के सन्दर्भ में भी, अर्थात् 'भैषज्य' वह है जो व्याधि और लिंगों का नाशक हो।[3] स्वयं अथर्ववेद में केवल कुछ औषधियों का ही वर्णन है, यथा जंगिड़ (19. 34 और 35), गुल्गुलु (19.38) कुष्ठ (19. 39) और 'शतवार' (19.36) और ये सब न केवल कुछ निश्चित बीमारियों के रक्षाकवच हैं अपितु शत्रु के जादू (कृत्य) से भी रक्षा करने के लिए रक्षाकवच के रूप में प्रयोग करने के लिए हैं। इन वनौषधियों का प्रभाव वैसा ही आश्चर्यजनक था जैसाकि केवल मंत्र-तंत्रों का होता था। उनका प्रभाव साधारण चिकित्सा-साहित्य में निर्दिष्ट औषधियों के प्रभाव के समान नहीं था, अपितु एक अति-प्राकृतिक प्रकार का था। जो सूक्त जादू मात्र ही प्रतीत होते हैं उनमें से अधिकांश के बारे में कौशिक सूत्र में भिन्न-भिन्न औषधियों का आन्तरिक रूप में अथवा रक्षाकवच के रूप में प्रयोग करने का निर्देश है। अथर्वा की सर्वोत्कृष्ट चिकित्सक के रूप में और मन्त्रों की अन्य चिकित्सकों द्वारा निर्दिष्ट अन्य औषधियों से श्रेष्ठतर होने के रूप में प्रशंसा से एक ऐसे काल का संकेत मिलता है जब इन आथर्वण जादू टोनों में से अधिकांश का प्रयोग एक ऐसी चिकित्सा प्रणाली के रूप में हो रहा था जो वनौषधियों द्वारा चिकित्सा करने वाले सामान्य चिकित्सकों के व्यवसाय से स्पर्धा कर रही थी। 'कौशिक सूत्र' का काल एक ऐसा काल था जब वनौषधियों का महत्त्व अधिकाधिक अनुभव किया जाने लगा था और उनका प्रयोग परम्परागत आथर्वण टोनों के साथ-साथ किया जा रहा था। मन्त्र-प्रणाली एवं औषध-प्रणाली के बीच सामंजस्य स्थापित

---

1 शतं या भेषजानि ते सहस्रं संगतानि च।
श्रेष्ठमास्राव–भेषजं वनिष्ठं रोगनाशनम्॥

(हे रोगी! तुमने सैंकड़ों-हजारों औषधियों का प्रयोग किया हो, परन्तु यह मन्त्र तुम्हारे रक्तस्राव को रोकने के लिए सर्वोत्तम दवा है (अ० वे० 6. 45. 2)। सूक्त 2. 9. 3 के समान यहाँ पर भी मन्त्र के उच्चारण को अन्य औषधियों और भेषजों के प्रयोग की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली बताया है। घावों को धोने के लिए जल का प्रयोग किया जाता था (6. 57. 2)।

2 चिकित्सतु प्रजापतिर्दीर्घायुत्वाय चक्षसे (6. 68. 2)।

3 कौशिक सूत्र पर दारिल की टीका 25. 2।

करने की ओर यह सम्भवतः एक कदम था। कुछ वनौषधियों, यथा जंगिड़, कुष्ठ इत्यादि, की प्रशंसा में कहे गए विशेष सूक्त यह प्रदर्शित करते हैं कि वनस्पतियों के चिकित्सा-सम्बन्धी गुणों की उसी चमत्कारिक ढंग से व्याख्या की जाने लगी थी जिस प्रकार मन्त्र प्रभावशाली होते थे। दूसरे ओर भेषज-शाखा भी अथर्ववेद से प्रभावित हुई और उसे अपना आदिस्रोत मानने लगी। उत्तरकालीन चिकित्सा-साहित्य भी अपने आपको मन्त्रों की प्रभावशालिता एवं अतिप्राकृतिक तथा चिकित्सेतर प्रकार से प्रभावशाली औषधों की चमत्कारिणी शक्ति के प्रति अपनी आस्था से पूर्णतया मुक्त न कर सका। अतः चरक का 6. 1. 39 में आदेश है कि वनस्पतियों का चयन 'यथा विधि' होना चाहिए और चक्रपाणि ने इसकी व्याख्या यह कहते हुए की है कि देवतार्चन और अन्य मंगल-क्रियाएँ की जानी चाहिएं (मंगलदेवतार्चनादिपूर्वकम्); 6. 1. 77 में वनस्पतियों के एक योग का निर्देश है, जिसमें अन्य अनेकों गुणों के साथ साथ यह शक्ति भी है कि यह मनुष्य को अन्य सब प्राणियों के लिए अदृश्य बना देता है (अदृश्यो भूतानां भवति); आमलक (आमला) के फल में ऐसी चमत्कारिक शक्तियां बताई गई हैं कि यदि कोई मनुष्य एक साल तक गायों के बीच में पूर्ण संयतेन्द्रिय, और आत्मवान् होकर तथा पवित्र गायत्री मन्त्र का ध्यान करता हुआ निवास करे, यदि वर्ष के अन्त में तीन दिन उपवास के पश्चात् पौष (जनवरी), माघ (फरवरी) अथवा फाल्गुन (मार्च) के एक विशेष चान्द्र-दिन में आमलक-उद्यान में प्रवेश करे और बड़े-बड़े आमलों से युक्त एक पेड़ पर चढ़कर उनको ग्रहण करे और आमलक के अमरत्व गुण प्राप्त करने तक 'ब्रह्म' के नाम का जाप करे. तो उस क्षण तक, अमरत्व का वास 'आमलक' में होता है, और यदि वह उन 'आमलकों' का सेवन करे तो वेद वाक्य रूपिणी देवी 'श्री' स्वयं उसके सामने प्रकट होती है (स्वयं चास्योपतिष्ठन्ती श्रीर्वेदवाक्यरूपिणी 6. 3. 6)। 6. 1. 80 में यह कहा गया है कि 'रसायन' औषधियां न केवल दीर्घायुष्य प्राप्त कराती हैं अपितु, यदि उनका यथाविधि सेवन किया जाय तो मनुष्य अमर 'ब्रह्मन्' को प्राप्त करता है। पुनः 6. 1. 3 में 'प्रायश्चित' शब्द को 'औषध' अथवा 'भेषज' का समानार्थक माना गया है। अथर्ववेद में 'भेषज' का अर्थ जादू टोना' अथवा रक्षाकवच था जो रोगों और उनके चिह्नों को दूर करने में समर्थ था, और यद्यपि उत्तरकालीन चिकित्सा साहित्य में इस शब्द का शुद्ध अथवा यौगिक रूप में 'वनस्पति' और धातु के द्योतक अर्थों में अधिक सामान्य रूप से प्रयुक्त हुआ है, फिर भी पुरातन अर्थ का भी त्याग नहीं किया गया।[1] अथर्ववेद से पृथक् स्वतन्त्र रूप में विद्यमान साधारण वनस्पति एवं धातुओं की यह

---

1 अ० वेदीय संज्ञाएं 'भेषजम्' (उपचार), 'भेषजी' (वनस्पति) और 'भेषजिः' (जल) हैं। 'भैषज्य' पद केवल कौशिक एवं अन्य सूत्रों तथा ब्राह्मणों में दृष्टिगत होता है। ब्लूमफील्ड का कथन है कि कम से कम इन्डो-ईरानियन (आर्य) काल जितने पुराने काल में भी ऐसे जादू टोनों और कृत्यों की विद्यमानता बएषज और बएषज्य (मन्थ्र बएषज और बएषज्म, हूमा बएषज्य) प्रातिपादकों द्वारा और पानी एवं वनसपति की स्वास्थ्य एवं दीर्घायुथ की प्रार्थनाओं में महत्त्वपूर्ण स्थिति के द्वारा और भी अधिक निश्चित रूप से पुष्ट होती है। आडल्वर्ट कून ने ट्यूटन और वैदिक चिकित्सा-विषयक मंत्रों की, विशेषतः कृमियों और अस्थि-भंग के उपचार के सध्वन्ध में कुछ रोचक और ध्यानाकषक समानताओं को प्रदर्शित किया है। दोनों लोगों के समान मानसिक गुणों के

प्रणाली इस प्रकार अथर्ववेद की मन्त्र-विशेष प्रणाली से घनिष्ट रूप से सम्बद्ध हो गई; इन दो प्रणालियों में पहले जो कुछ भी विरोध था, वह लुप्त हो गया, और आयुर्वेद को अथर्ववेद का एक अंग माना जाने लगा।[2] अथर्ववेद के पौराणिक भिषक् प्रजापति और इन्द्र, आत्रेय-चरक शाखा में आयुर्वेद के प्राचीनतम आचार्य माने जाने लगे।[3]

ब्लूमफील्ड ने अथर्ववेद की सामग्री को चौदह वर्गों में व्यवस्थित किया है : (1) भैषज्यानि-व्याधियों और पिशाचों के अधिकार से बचने के मंत्र, (2) आयुष्यानि-दीर्घायुष्य और स्वास्थ्य के लिए प्रार्थना, (3) आभिचारिकाणि और कृत्या-प्रतिहरणानि-राक्षसों, ऐन्द्रजालिको एवं शत्रुओं के विरुद्ध शाप, (4) स्त्री-कर्माणि-स्त्री-सम्बन्धी मंत्र, (5) सौमनस्यानि-एकता, समिति में प्रभाव इत्यादि प्राप्त करने के लिए मन्त्र, (6) राजकर्माणि-राज सम्बन्धी मंत्र, (7) ब्राह्मण के हितार्थ प्रार्थनाएँ और शाप, (8) पौष्टिकानि-धन प्राप्ति एवं भय से मुक्ति प्राप्ति के मन्त्र, (9) प्रायश्चित्तानि-पाप और भ्रष्टता के निराकरण के लिए मंत्र, (10) विश्वोत्पत्ति एवं ईश्वर सम्बन्धी सूक्त, (11) यज्ञ-क्रियासम्बन्धी व सामान्य सूक्त, (2) विषय विशेष का वर्णन करने वाले अध्याय (अध्याय 13 से 18), (13) बीसवां अध्याय, (14) कुंटाप सूक्त[1] इनमें से 1 2, 3, 4 और 9 सूक्तों की संक्षिप्त विवेचना हमें न्यूनाधिक उसी क्रम में करनी है, जिस क्रम में वे अथर्ववेद में प्रकट होते हैं। अ० वे० 1, 2 ज्वर, अतिसार, अतिमूत्र, नाडीव्रण का निरोधक मंत्र है; मूंज से निर्मित रस्सी

कारण ही शायद ये मानवशास्त्रीय संयोगमात्र ही हों। परन्तु ऐसा भी कम सम्भव नहीं है कि इन लोक-धारणाओं में से कुछेक ने प्रागैतिहासिक काल में निश्चित रूप धारण कर लिया हो, और कि ये समानताएं अपरिष्कृत इन्डो-यूरोपीय लोक-कथाओं के उस क्रम को प्रतिबिम्बित करती हों जो आज ट्यूटनों और हिन्दुओं में अवशिष्ट हैं। देखिए ब्लूमफील्ड कृत अथर्ववेद एण्ड गोपथ ब्राह्मण पृ० 58 और कून कृत Zeitschrift fur Vergleischende Sprachfoschung 13 पृ० 49–74 और 113–157।

2 स्वयं अथर्ववेद (19. 34. 77) में प्राचीन समय में प्रचलित वनस्पतियों का और नवीन औषधियों का उल्लेख है, तथा 'जनिड' वनस्पति की प्रशंसा उन सबसे अच्छी होने के रूप में की गई है—न त्वा पूर्व ओषध्यो न त्वा तरन्ति या नवाः।

3 अ० वे० 6. 68. 2–चिकित्सतु प्रजापतिर्दीर्घायुष्याय चक्षसे, वही 19. 35। इन्द्रस्य नाम गृह्णन्तो ऋषयः जंगिडं ददन् (ऋषियों ने इन्द्र के नाम का उच्चारण करते हुए जंगिड दी)। सम्भवतः यही पंक्ति चरक संहिता की इस कथा का प्रेरणा स्रोत रही हो कि इन्द्र ने ही सर्वप्रथम ऋषियों को आयुर्वेद की शिक्षा दी। देखिए वही 11. 8. 23–यन्मातली रथक्रीतममृतं वेद भेषजं तदिन्द्रो अप्सु प्रावेशयत् तदापोदत्तभेषम्। जिस अमरत्वकारिणी औषधि को मातलि (इन्द्र के सारथी) रथ बेचकर खरीद कर लाया था, उसे रथ के स्वामी इन्द्र ने पानी में फेंक दिया। नदियों, हमें उस औषधि को वापस दे दो।

4 ब्लूमफील्ड कृत दी अथर्ववेद एण्ड गोपथ ब्राह्मण, पृ० 57।

को बांधना चाहिए, किसी खेत या बांबी की मिट्टी को पीना चाहिए, शोधित मक्खन का लेप करना चाहिए और वायु एवं उपस्थ के छिद्रों को तथा व्रण के मुख को चर्म थैली द्वारा आध्मात करना चाहिए तथा मंत्र का उच्चारण करना चाहिए। इस सूक्त में वर्णित 'आस्राव' रोग की व्याख्या सायण ने बहुमूत्र (मूत्रातिसार) के अर्थ में की है।[1] सूक्त 1. 3 मल मूत्र रोकने (मूत्र-पुरीष निरोध) का मंत्र है। इस सूक्त के उच्चारण के साथ-साथ रोगी को या तो चूहे के बिल की मिट्टी (मूषिक-मृत्तिका), पूतिका वनस्पति, दही अथवा पुरानी लकड़ी का बुरादा पिलाना चाहिए या उसे हाथी अथवा घोड़ों की सवारी करानी चाहिए या बाण फेंकना चाहिए; मूत्रनली में एक सूक्ष्म लोहे की शलाका डाली जाती थी। उत्तरकाल में जो 'वस्ति क्रिया' के रूप में विकसित हुई उसकी यह प्रारंभिक अवस्था थी।[2] सूक्त 1. 7 और 1.8 में मनुष्य के दुष्ट प्रेतात्माओं, यातुधानों और किमीदियों, के वश में होने पर उनको भगाने के लिए हैं। 1. 10 'जलोदर' के लिए मन्त्र है, रोगी की देह पर दूर्वा इत्यादि से युक्त पात्र-भर पानी का अभिषेचन करना चाहिए। 1 11 सुखपूर्वक प्रसव के लिए मंत्र है। 1.12 वात, पित्त और श्लेष्मा के विकारजन्य सब रोगों के लिए मन्त्र है– वसा, मधु और शोधित मक्खन या तेल का पान करना चाहिए। शिरोरोगी (शीर्षक्ति) और खांसी (कास) का विशेष वर्णन है। 1.17 शिरा अथवा धमनियों से निकलते हुए रक्त को अथवा स्त्रियों के अत्यधिक 'आर्तव' शोणित को रोकने के लिए है। घावों के लिए क्षत स्थान पर मुट्ठी पर मार्ग की मिट्टी डालनी चाहिए अथवा गूंथी हुई मिट्टी से युक्त पट्टी बांधनी चाहिए।[3] 1.22 हृद्रोगों और पांडुरोग के विरुद्ध मंत्र है–लाल गाय के रोमों को पानी के साथ पीना चाहिए और लाल गाय की खाल का टुकड़ा रक्षाकवच के रूप में बांधना चाहिए। यह प्रार्थना की गई है कि सूर्य और लाल गाय का लाल रंग रोगी के शरीर में आ जाय और पांडुजन्य पीतवर्ण पीले रंग के पक्षियों में चला जाय। 1.23 अस्थि, मांस और चर्म के 'किलास' अथवा 'कुष्ठ' (श्वेत कुष्ठ) और बालों को श्वेत (पलित) करने वाले रोगों को रोकने के लिए मंत्र है।[4] श्वेत भागों पर गोबर, भृंगराज, हरिद्रा, इन्द्रा-वरुणी और नीलिका से बने लेप को तब तक मलना चाहिए, जब तक कि वे लाल न हो

---

1 ब्लूमफील्ड का कथन है कि 'आस्राव' का अर्थ 'अतिसार' है (वही पृ० 59)। एक सी व्याधियों के लिए एक से भौतिक उपचार अ० वे० 2. 3 में निर्दिष्ट हैं। 'आस्राव' ऐसी किसी भी व्याधि का द्योतक है जो रोगजन्य किसी भी स्राव से युक्त है। अतः 2. 3. 2 में सायण का कथन है कि 'आस्राव' का अर्थ है 'अतिसारातिमूत्रनाडी व्रणादयः।'

2 प्र ते भिनद्मि मेहनं वर्त्रं वेशन्त्या इव एवा ते मूत्रं मुच्यताम् बहिर्बालिति सर्वकम् (मैं तुम्हारे मूत्र द्वार को एक कुल्या के समान खोलता हूँ जिसमें से पानी जोर से बह रहा हो, अतः मूत्र सनसनाती आवाज के साथ बाहर निकले–अ० वे० 1. 3. 7)। इस सूक्त के सारे मंत्रों में मूत्र से सनसनाती आवाज में बाहर निकलने की प्रार्थना की गई है।

3 4.12 भी इसी प्रयोजन के लिए एक मन्त्र है।

4 6.135-137 भी केशों की जड़ों को मजबूत करने के लिए मन्त्र है। भृंगराजयुक्त काकमाची का पान करना चाहिए।

जाएँ। प्रयोग में लाई गई काली औषधियों से श्वेत भागों को काला करने की प्रार्थना की गई है। 1.25 'तक्मन्' या ज्वर रोकने के लिए मन्त्र है–रोगी पर ऐसे जल को छिड़कना चाहिए जिसमें लोहे की लाल गर्म कुल्हाडी को डुबाया गया हो। विवरण यह प्रदर्शित करता है कि यह ज्वर मलेरिया के प्रकार का था, वह सर्दी (शीत) और दाहक संवेदन (शोचि) के साथ आता था। इस ज्वर के तीन प्रकारों का वर्णन है : अगले दिन आने वाला (अन्येद्युः), दूसरे दिन आने वाला (उभयेद्युः) और तीसरे दिन आने वाला (तृतीयक)।[1] इसको पांडुरोगों से भी सम्बन्धित किया जाता था, शायद इसलिए कि यह पांडुरोग को उत्पन्न करता था। 2. 9 और 10 वंशानुगत (क्षेत्रीय) रोगों, श्वेतकुष्ठ, अजीर्ण आदि के विरुद्ध मन्त्र हैं।[2] अर्जुन पेड़ की लकड़ी, जौ, तिल और उसके फूलों के रक्षा-कवचों को भी मंत्रोच्चारण के समय बांधना चाहिए।[3] 5. 2. 31 विभिन्न कृमिजन्य रोगों के विरुद्ध मंत्र है। इस मंत्र का उच्चारण करते समय, पुरोहित को मार्ग की मिट्टी अपने बाएं हाथ में लेनी चाहिए और इसे दाएं हाथ से दबानी चाहिए, तथा रोगी पर डालनी चाहिए। संसार में दृश्य और अदृश्य कृमि हैं. उनमें से कुछ को 'अलगण्डु' और अन्यों को 'शलुन' कहा गहा है, वे आंतों, शिर और एड़ियों में उत्पन्न होते हैं, वे शरीर में विभिन्न मार्गों से संचरण करते हैं और विभिन्न प्रकार की वनौषधियों द्वारा भी नष्ट नहीं किए जा सकते हैं। वे कभी पर्वतों और वनों और वनस्पतियों और जन्तु में निवास करते हैं, और वे हमारे शरीर में शारीरिक रंध्रों के मार्ग से एवं अन्नपान के द्वारा प्रवेश कर जाते हैं।[4] 2.33 शरीर के सब भागों से यक्ष्मा दूर करने का मंत्र है। 3. 7. 1 सारे क्षेत्रीय रोगों को दूर करने के लिए मंत्र है, हरिण का सींग रक्षाकवच के रूप में प्रयोग किया जाना चाहिए। 3.11 राजयक्ष्मा रोकने के लिए मंत्र है—विशेषतः जबकि यह अतिमैथुनजन्य हो; रोगी को सड़ी मछली खानी चाहिए।[5] 4 4 पुंस्त्व प्राप्ति के लिए मंत्र है; जब मंत्र का उच्चारण करते हैं तब कपित्थ वृक्ष की जड़ दूध में उबाल कर पीनी चाहिए। 4. 6 और 7 शाक के विषाक्त होने से रोकने के लिए हैं—क्रमुक वृक्ष का अर्क पीना चाहिए। 5. 4 ज्वर (तक्मा) और क्षय को रोकने के लिए मंत्र है; रोगी को मंत्र उच्चा-

---

1 नमः शीताय तक्मने नमो रूपाय शोचिषे कृणोमि
यो अन्येद्युरुभयेद्युः अभ्येति तृतीयकाय नमो अस्तु तक्मने
ऋ० वे० 7. 123. 10 भी देखिए जिसमें तीसरे दिन के ज्वर, चतुर्थ दिन के ज्वर और अनियमित ज्वरों का उल्लेख है।

2 पाणिनी सूत्र 5. 2. 92 में क्षेत्रीय शब्द की निपात-सिद्ध व्युत्पत्ति दी है (क्षेत्रिय च परक्षेत्रे चिकित्स्यः)। 'काशिका' और 'पदमंजरी' जैसी वृत्तियों में इसका अर्थ 'अपर-जन्म के शरीर में चिकित्सा' (जन्मान्तरशरीरे चिकित्स्यः) अर्थात् 'अचिकित्स्य' किया गया है। तथापि मुझे ऋ० वे० 2. 10. 1 पर अपने भाष्य में सायण द्वारा दिया गया अर्थ 'वंशानुगत' अधिक ग्राह्य है क्योंकि यह अधिक उपयुक्त और तर्कसंगत है।

3 'यक्ष्मा' को भी एक 'क्षेत्रीय' रोग माना गया है। (2. 10. 6)।

4 2. 31. 5। मैंने सायण की व्याख्या को ग्रहण किया है।

5 7.78 भी गण्डमाला और यक्ष्मा के लिए मंत्र है।

रण के समय 'कुष्ठ' वनस्पति मक्खन के साथ लेनी चाहिए ।[1] 5. 11 ज्वर रोकने के लिए मंत्र है ।[2] 5. 23 कृमियों को रोकने के लिए मंत्र है—रोगी को बीस प्रकार के मूलों का रस दिया जाता है ।[3] 6.15 नेत्र रोगों के लिए मंत्र है, रोगी को कई प्रकार के शाकों विशेषतः सरसों, के पत्तों को तेल में भूनकर लेना पड़ता है ।[4] 6. 0 पित्तज ज्वर (शुष्मिणो ज्वरस्य) को रोकने के लिए मन्त्र है, इसे अत्यन्त दाहक सवेदना, मूर्छा और पांडुरोग का जनक कहा जाता है । 6.21 केश वृद्धि के लिए मंत्र है—केशों पर विभिन्न वनस्पतियों के क्वाथ को छिड़कना चाहिए । 6.23 हृद्रोग, जलोदर और पांडुरोग को रोकने के लिए मन्त्र है । 6.25 गर्दन की ग्रन्थियों के दाह (गण्डमाला) के लिए मन्त्र है ।[5] 6.85 क्षय (राजयक्ष्मा) निरोधक मन्त्र है, 6.10 'शूल' के लिए,[6] 6.105 कास और अन्य ऐसे ही श्लेष्मज रोगों के लिए, 6.109 गठिया के प्रकार के रोगों (वातव्याधि)[7] के लिए । 6.127 व्रण (विद्रध), श्लैष्मिक रोगों (वलास) और मुहासाजन्य दाह (विसर्प) के लिए मन्त्र है । शरीर के विभिन्न भागों में विसर्प के भिन्न-भिन्न प्रकारों का उल्लेख किया गया है । हृद्रोगों और यक्ष्मा का भी वर्णन है ।[8] ऐसा कहा गया है कि सौ प्रकार की मृत्यु होती है (अ० वे० 8. 5. 7), जिनकी व्याख्या सायण ने ज्वर, शिरोरोग, आदि जैसी

---

1 कुष्ठ, शिर और नेत्रों के लिए हितकारी मानी जाती थी ।

2 गांधार, महावृष, मुंजवान् और बाह्लीक (बलख) को ज्वर का घर माना जाता था, और अंग और मगध देशों को भी । यह सरदी (शीत) और कंपन (रूरः) से युक्त होता था । खाँसी (कास) और क्षय (वलास) प्रायः इसका अनुसरण करते थे । कभी-कभी इसका आक्रमण तीसरे या चौथे दिन, ग्रीष्म या शरद् में होता था या यह सारे वर्ष भर चालू रहता था ।

3 यह उन विरल अवस्थाओं में से एक है जिनमें 'मूलों' की एक बड़ी संख्या का योग किया जाता था और मन्त्रों के साथ-साथ औषधि रूप में प्रयोग किया जाता था ।

4 कुछ अन्य वनस्पतियाँ ये हैं : अलसाला, सिलांजाला, नीलागलसाला ।

5 7. 78 में भी, जहाँ 'अपचित्' 'गलगण्ड' के नाम के रूप में दृष्टिगत होता है, तीन भिन्न-भिन्न प्रकार के रोगों का वर्णन है । 'अपचित्' प्रारम्भ में तो हानिकारक नहीं होता, परन्तु जब इसकी वृद्धि हो जाती है तो संधियों के फोड़ों के समान यह अपनी पीब अधिक छोड़ने लग जाता है । ये फोड़े गर्दन, पीठ, ऊरु-संधि और गुदा पर उत्पन्न होते हैं । आगे 6. 83 देखिए जहाँ शंख को घिस कर लगाना चाहिए । 8. 83 भी इसके लिए एक मन्त्र है । जोंक अथवा एक छिपकली (गृहगोधिका) द्वारा शोथयुक्त भाग का खून चुसाना पड़ता था ।

6 रक्षा कवच के रूप में लोहे का टुकड़ा बांधना पड़ता था ।

7 मंत्र के उच्चारण के साथ 'पिप्पली' को भी लेना चाहिए । वात रोगों से ग्रस्त समस्त रोगियों के लिए इसे औषधि माना गया है (वातीकृतस्य भेषजीम् । इसे पागलपन की औषधि (क्षिप्तस्य भेषजम्) भी कहा गया है ।

8 'चीपुद्रु' 'वलास' की औषधि है । चीपुद्रुरभिचक्षणम् (6. 127.2) ।

बीमारियों के अर्थ में की है । 9.18 में कई रोगों का वर्णन है—प्रथम शिर के रोग शीर्षक्ति, शीर्षमय, कर्णशूल और विसल्पक, जिनके कारण कान और मुख में से दुर्गन्ध युक्त स्राव आता है, तत्पश्चात् कंपन युक्त सिर दर्द और अंगों के चटखने की संवेदना से उत्पन्न ज्वर आता है । भयंकर शरद्कालीन ज्वर 'तक्मा' का ऐसा वर्णन किया गया है । तत्पश्चात् क्षय आता है, फिर 'वलास' उदर का 'काहाबाह' क्लोम, उदर, नाभि और हृदय के रोग, रीढ़ पसलियों, नेत्र और आंतों के रोग, विसल्प, विद्रध. वायुरोग (वातिकार), अलजी और टांग, घुटना श्रोणि, शिराओं और सिर के रोग आते हैं ।

रोगों की उत्पत्ति के सिद्धान्त के विषय में बौलिंग ने एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड एथिक्स में रोगों और औषधि (वैदिक) सम्बन्धित अपने लेख में निम्न टिप्पणी की है । यह तथ्य द्रष्टव्य है कि वात, कफ और पित्त इन तीन धातुओं से शरीर के निर्मित होने का हिन्दू सिद्धान्त प्राचीन आथर्वण ग्रन्थों में दृष्टिगत नहीं होता । 6. 44. 3 के 'वातिकृतनाशनी' को इसके विपक्ष में प्रमाणरूप नहीं प्रस्तुत किया जा सकता, क्योंकि इसका अर्थ शरीर में वातजनित (रोगों का) नाशक नहीं है, अपितु 'जो वायु में पहुँचा दिया गया है उसका नाशक' अर्थ है । स्पष्टतः अतीसार के साथ इसके साहचर्य के कारण, इसमें आंतों में स्थित 'वायु की ओर संकेत है ।' मुझे यह सही नहीं प्रतीत होता है । जिस पद का बौलिंग ने उद्धरण दिया है उसका अर्थ वस्तुतः संदेहास्पद है, सायण ने इसको 'वाति' (वायु पहुँचाने द्वारा चिकित्सा करने वाला) और कृतनाशनी (रोगकारी अशुभ कार्यों का नाशक) इन दो शब्दों से निर्मित माना है । परन्तु यह जैसा भी हो, इस विषय पर अन्य स्थल भी हैं जिनकी ओर बौलिंग ने ध्यान नहीं दिया प्रतीत होता है । इस प्रकार 1. 2. 3 में व्याधियों को इन तीन प्रकारों में विभक्त किया गया है । उदक-जनित, वायु-जनित और शुष्कयो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मः ।[1] उत्तरकालीन चिकित्सा विषयक लेखकों ने श्लेष्मा को भी जलमय माना था, और 'अभ्रज' शब्द सम्भवतः शरीर को धारण करने अथवा नष्ट करने वालों में से श्लेष्मा को भी एक मानने वाले सिद्धान्त की ओर संकेत करता है । सामान्यतः 'वातज' शब्द का अर्थ वायु से उत्पन्न रोग है, और उत्तरकालीन चिकित्सा साहित्य में अग्नि का एक रूप माने जाने वाले पित्त को यहाँ शुष्म' अर्थात् सूखा संज्ञा से बहुत भली प्रकार से वर्णन किया गया है । सन्दर्भ यह प्रदर्शित करता है कि जिन रोगों का पिप्पली द्वारा ठीक किए जाने का उल्लेख है, वे ऐसे रोग हैं जिन्हें उत्तर-कालीन साहित्य में वातज माना गया है, क्योंकि 'पागलपन' (क्षिप्त) को 'वातिकृत' रोग बतलाया गया है । 'शुष्म' शब्द 'शुष्' (सुखाना) धातु से व्युत्पन्न है, और किंचित् विकृत रूपों में 'शोषण', 'ज्वलन', 'शक्ति' और 'दीपन' के अर्थ में प्रयुक्त होता है । कम से कम एक स्थल में इसका प्रयोग अग्नि के समान दाहक बताए गए मूर्च्छाकारी पित्तज ज्वर की अत्यन्त दाहक संवेदना का वर्णन करने के लिए किया गया है ।[2] अतः मेरा अपना निष्कर्ष यह है कि कम से कम कुछ आथर्वण लोगों ने समस्त व्याधियों के इस त्रिविध वर्गीकरण

---

1 'वातिकारस्य' (9.13-20) से भी तुलना कीजिए ।

2 6. 20. 4. । जिन अन्य सन्दर्भों में न्यूनाधिक रूप से विकृत रूप में 'शुष्म' शब्द व्यवहृत है, उनके लिए देखिए 1. 12, 3, 3. 9. 3, 4. 4. 3, 4. 4. 4, 5. 2. 4, 20. 2, 6. 65. 1, 6.73. 2, 9.1, 10.20, 9.4. 22 इत्यादि ।

का विचार कर लिया था अर्थात् वायुज, जलज, अग्निज अथवा वे जो सूखी और दाहक हैं। यह वर्गीकरण समस्त व्याधियों के उस उत्तरकालीन वर्गीकरण के अनुरूप है जिसमें उन्हें वात, कफ अथवा श्लेष्मा, और पित्त जनित माना गया है। सामान्य व्याधियों के अतिरिक्त पर्याप्त बड़ी संख्या में हमें उपलब्ध राक्षसों और दुष्ट प्रेतात्माओं के वशीभूत होने के अनेक प्रसंग मिलते हैं। राक्षसों और दुष्ट प्रेतात्माओं में से मुख्य-मुख्य कुछ इस प्रकार हैं : यातुधान, किमीदिन्, पिशाची अमीवा, द्वयाविन्, रक्षः, मगुन्दी, अलिंश, वत्सप, पलाल, अनुपलाल, शर्कु, कोक, मलीम्लुच; पलीजक, वव्रिवासस्, आश्रेष, ऋक्षग्रीव, प्रमीलिन्, दुर्णामा, सुनामा, कुक्षिल, कुसूल, ककुम, श्रिम, अराय, करुम, खलज, शकधूमज, उरुण्ड, मट्मट, कुम्भमुष्क, सायक, नग्नक, तंगल्व, पवीनस, गन्धर्व, ब्रह्मग्रह इत्यादि।[1] अपने कष्टप्रद चिह्नों सहित कुछ व्याधियों को (काव्य रूप में) मूर्त रूप प्रदान कर दिया गया था और जो व्याधियां प्रायः साथ-साथ होती थीं उन्हें भाई-बहन रूप में संबद्ध वर्णित करके किया गया था। आदमी और जानवर दोनों के कृमिजन्य रोग सुविदित थे। मान्त्रिकों द्वारा उत्पन्न रोग भी थे, जिन्होंने वैदिक भारत में आक्रामक कदम के रूप में बहुत महत्त्वपूर्ण भाग लिया था। कई व्याधियों क्षेत्रीय होने के रूप में सुपरिचित थीं। उपर्युक्त व्याधियों के नामों से यह ज्ञात होगा कि चरक द्वारा उल्लिखित व्याधियों में से अधिकांश वैदिक काल में विद्यमान थीं।

वैदिक लोग जिस दृष्टिकोण से व्याधियों को देखते थे उससे प्रतीत होता है कि उन्होंने सदा विभिन्न व्याधियों को उनके लक्षणों से भिन्न माना था। इस प्रकार ज्वर वह था जो कम्पन, सरदी, दाहक संवेदना इत्यादि उत्पन्न करता था अर्थात् रोग-परीक्षा मुख्यतः लक्षणों पर आश्रित थी। मंत्रों और रक्षा कवचों तथा आन्तरिक रूपसे ली जाने वाली औषधियों के अतिरिक्त, जल को महान् चिकित्सा-कारक एवं जीवनप्रद गुणों से युक्त माना जाता था।[2] वनस्पतियों में चिकित्साकारक गुणों का होना प्रायः उनके सारभूत पानी के कारण, माना जाता था। सर्प-विषों के लिए मन्त्र और उनके विषों के लिए उपशामक मानी जाने वाली वनस्पतियों का प्रचलन था। व्याधियों और उनकी चिकित्सा के छुट-पुट प्रसंग अन्य ऋग्वेदीय ग्रन्थों और ब्राह्मणों में दूर-दूर

---

1 देखिए 1.28.35, 2.9, 2.14, 8.6। अन्तिम स्थल में इनमें से कुछ जीवों का अच्छा वर्णन है। कुछ शुभ प्रेतात्माएँ भी थी जो दुष्ट प्रेतात्मा से संघर्ष करतीं और मनुष्य का हित करतीं, जैसेकि 'पिंग', जिसने बच्चे की जन्म के समय रक्षा की और कामी गन्धर्वों का ऐसे पीछा किया जैसे वायु बादलों का पीछा करता है। 8.6.19. 25 में कहा गया है कि कभी-कभी उच्चतर देवता भी रोग फैलाते देखे गए हैं। इस प्रकार 'यक्ष्मा' वरुण पुत्र था (6.96.2) और जलोदर का कारण था (1.10.1-4, 2.10.1, 4.16.7 इत्यादि)। पर्जन्य (वर्षा का देवता) ने अतीसार फैलाया और वह अग्नि, ज्वर, सिर दर्द और खांसी का कारण था।

2 अप्सु अन्तरमृतमप्सु भेषजम् (पानी में अमृत और भेषज है–1.4.4)। देखिए 1.5.6 33, 2.3, 3.7.5, 4.33, 6.24, 92, 6.24.2 इत्यादि भी।

बिखरे हुए मिलते हैं। परन्तु अथर्ववेद[1] से अधिक उन्नत चिकित्सा संबंधी ज्ञान प्रदर्शित करने वाली कोई भी बात इन ग्रन्थों में नहीं दृष्टिगत होती है। इन भेषजों के अतिरिक्त, दीर्घायुष्य की प्राप्ति और पुंसत्व की वृद्धि के लिए पूर्व वर्णित मन्त्र, रक्षाकवच और औषधियां भी थीं जो चरक और अन्य चिकित्सासम्बन्धी ग्रन्थों के 'रसायन' और 'वाजीकरण' अध्यायों के अनुरूप हैं। इस तथ्य को प्रदर्शित किए बिना हम इस अध्याय को नहीं छोड़ सकते कि यद्यपि अधिकांश व्याधियां और उनके उपचार ज्ञात थे, तो भी निदान अर्थात् रोगों के कारण जैसी किसी भी चीज का विशेष वर्णन नहीं है। अभ्रज, वातज और शुष्म इन तीन प्रकार की व्याधियों के वर्गीकरण के विद्यमान होने से यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि जिस प्रकार ये तीनों तत्त्व उत्तरकालीन चिकित्सा-साहित्य में निदान समझे जाते थे उसी प्रकार निदान-भूत इन तीनों तत्त्वों के असंतुलन का ज्ञान वैदिक लोगों को था। रोगों के तीन महत्त्वपूर्ण कारण थे, अशुभ कर्म, शत्रुओं की मान्त्रिकता, और दुष्ट प्रेतात्माओं के वशीभूत होना अथवा कुछ देवताओं का प्रकोप।

गर्भ और सूक्ष्म शरीर

चरक ने मानव शरीर को आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी इन पांच तत्त्वों का विकार माना है और इसे चेतना का अधिष्ठान भी माना है।[2] स्वयं शुक्र चार तत्त्वों वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी से निर्मित है, आकाश इसका अंग नहीं है, परन्तु इसके स्खलित होते ही आकाश इससे युक्त हो जाता है क्योंकि 'आकाश' का 'अन्तरिक्ष' सर्वव्यापी है। जो शुक्र स्खलित होता है और गर्भाशय में प्रवेश करता है, वह वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी के सम भागों द्वारा निर्मित है, आकाश शुक्र से गर्भाशय में मिश्रित हो जाता है, क्योंकि स्वयं आकाश सर्वत्र विद्यमान है और इसकी अपनी कोई गति नहीं है।[3] शुक्र छः प्रकार के रसों का परिणाम है। परन्तु गर्भ की उत्पत्ति सामान्यतः पिता के 'शुक्र' एवं माता के शोणित के संयोग से ही नहीं हो सकती। ऐसा संयोग गर्भ की

---

1 इन ऋग्वेदीय और अन्य ग्रन्थों के संक्षिप्त सर्वेक्षण के लिए बौलिंग का डिजीज एण्ड मेडीसिन (वैदिक) शीर्षक लेख एन्साइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड एथिक्स में देखिए।

2 गर्भस्तु खल्वन्तरिक्षवाय्वग्नितोयभूमिविकारश्चेतनाधिष्ठानभूतः, चरक 4.4.6।

3 वाय्वग्नि भूम्यब्गुणपादवत् तत्षड्भ्यो रसेभ्यः प्रभावश्चतस्य। चरक 4.24। आकाशं तु यद्यपि शुक्रे पाञ्चभौतिकेऽस्ति तथापि न पुरुषशरीरान्निर्गत्य गर्भाशयं गच्छति, किंतु भूतचतुष्टयमेव क्रियावद्याति, आकाशं तु व्यापकमेव तत्रागतेन शुक्रेण संबद्धं भवति, चक्रपाणिकृते आयुर्वेद दीपिका 4.2.8। फिर भी उसका कथन है कि अन्यभूतों (डल्हण के अनुसार पृथिवी, वायु और आकाश) के अणु उनसे पृथक् रूप में संबद्ध होते हैं (सौम्यं शुक्रमार्तवमाग्नेयमितरेषामप्यत्र भूतानां सानिध्यमस्त्यणुना विशेषेण परस्परोपकारात् परानुग्रहात् परस्परानुप्रवेशाच्च- सुश्रुत 3.3.1) और गर्भोत्पत्ति के लिए आपस में एक-दूसरे से सहयोग करते हैं।

उत्पत्ति केवल तभी कर सकता है जबकि वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी तथा मनस् (मन सम्पूर्ण प्रत्यक्षों और विचारों में युक्त इन्द्रिय) से निर्मित अपने सूक्ष्म शरीर से युक्त आत्मा कर्मों द्वारा उससे सम्बद्ध होता है। यद्यपि आत्मा के सूक्ष्म-शरीर के निर्माता चार तत्त्वों को सर्गों का सामान्य हेतु बताया गया है फिर भी वे बच्चे के मुख्य-मुख्य शारीरिक आकार-प्रकारों में निर्माण में योगदान नहीं करते हैं।[1] जो तत्त्व सामान्य आकार-प्रकार में योगदान करते हैं, वे हैं (1) मातृअंश-शोणित; (2) पितृअंश–शुक्र, (3) प्रत्येक व्यक्ति के कर्म; माता द्वारा पचाए गए अन्नरस के योगदान को पृथक् रूप से गिनने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इसका निर्णय व्यक्ति के कर्मानुसार ही होता है। मानसिक लक्षण व्यक्ति के पूर्वजन्म की मानसिक स्थिति के द्वारा निर्धारित किए जाते हैं। इस प्रकार, यदि जीवन की पूर्व अवस्था देवता की थी, तो बच्चे का मन शुद्ध एवं उत्साहपूर्ण होगा, जबकि यदि यह पशु की हो तो मन अशुद्ध एवं जड़ होगा।[2] जब कोई आदमी मरता है तो उसका आत्मा वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी इन चार भूतों से निर्मित अपने सूक्ष्म शरीर के साथ तथा 'मनस्' की सूक्ष्मावस्था में अपने कर्मों के कारण अदृश्य रूप से एक विशिष्ट गर्भ में प्रवेश करता है और तत्पश्चात् जब माता-पिता के संयुक्त शोणित एवं शुक्र से सम्बद्ध हो जाता है तो गर्भवृद्धि प्रारम्भ होती है।[3] तथापि शुक्र और शोणित शरीरोत्पत्ति के कारण-रूप में केवल तभी कार्य कर सकते हैं, जब वे मृत प्राणी की पूर्व देह से स्थानान्तरित सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं।[4] सुश्रुत (3.1.16) का कहना है कि उस समय

---

1 यानि त्वात्मनि सूक्ष्माणि भूतानि आतिवाहिकरूपाणि तानि सर्वसाधारणत्वेन अविशेषसादृश्यकारणानीति नेह सुश्रुत के अनुसार शुक्र (वीर्य) में सोम का गुण और आर्तव (शोणित) में अग्नि का गुण होता है। बोद्धव्यानि। चक्रपाणिकृत 'आयुर्वेद दीपिका' 4.2.23–27।

2 तेषां विशेषात् बलवन्ति यानि
भवन्ति मातापितृकर्मजानि
तानि व्यवस्येत् सदृशत्वलिंगम्
सत्त्वं यथानूकमपि व्यवस्येत्॥ चरक 4.2.27।

अनूकं प्राक्तनाव्यवहिता देहजातिस्तेन यथानूकम् इति यो देवशरीरादव्यवधानेनागत्य भवति स देवसत्त्वो भवति, इत्यादि, चक्रपाणि 4.2.23–27।

3 भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मै
र्मनोजवोदेहमुपैति देहात्
कर्मात्मकत्वान्न तु तस्य दृश्यं
दिव्यं बिना दर्शनमस्ति रूपम्। –चरक 4.2.3।

4 यद्यपि शुक्ररजसी कारणे, तथापि यदैवातिवाहिकं सूक्ष्मभूतरूपशरीरं प्राप्नुतः, तदैव ते शरीरं जनयतः, नान्यथा। चक्रपाणि 4.2.36।

अत्यन्त सूक्ष्म शाश्वत चेतनावान् सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति होती है। (अभिव्यज्यते) जब शोणित और शुक्र का योग होता है (परमसूक्ष्माश्चेतनावन्तः शाश्वता लोहितरेतसः संन्निपातेष्वभिव्यज्यन्ते)। परन्तु बाद में (3.3.4) इस कथन को इस प्रकार से संशोधित कर दिया गया है कि यह चरक के वर्णन के अनुकूल हो गया, क्योंकि वहां यह कहा गया है कि आत्मा सूक्ष्म-भूतात्मा के साथ-साथ ही संयुक्त शुक्र और शोणित के सम्पर्क में आता है। एक अन्य स्थल में कुछ भिन्न वर्णन पाया जाता है (सुश्रुत 3.4.3)। इसमें यह कहा गया है कि वर्धमान गर्भ के उपकरण अग्नि, सोम, सत्त्व, रजस् तमस्, पंचेन्द्रियाँ और भूतात्मा हैं—ये सब गर्भ के जीवन में योगदान करते हैं और इनको 'प्राण' भी कहा गया है।[1] इसकी व्याख्या करते हुए, डल्हण का कथन है कि यहाँ पर वर्णित 'अग्नि' ऊष्मा शक्ति है, जिसका पाँच प्रकार के पाचक कार्यों में नामतः भ्राजक, (चर्म को कान्ति युक्त करना) आलोचक (देखने की सामर्थ्य)। रक्त को रंजित करने, बौद्धिक व्यापार, और विभिन्न धारक तत्त्वों (धातुओं) यथा रस, रुधिर इत्यादि की रचना और कार्य से सम्बद्ध ऊष्मा व्यापार, में अपने को प्रकट करता है, सोम सारे जलीय तत्त्वों यथा श्लेष्मा, रस, शुक्र इत्यादि की और रसनेन्द्रिय की मूल शक्ति है, वायु, प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान इन पंचविध जीवन कार्यों को क्रियान्वित करने वाले तत्त्व का प्रतिनिधित्व करता है। डल्हण आगे कहते हैं कि सत्त्व, रजस् और तमस् मनस् से सम्बन्धित हैं, जो उनके समुदित विकास का परिणाम है। पाँच इन्द्रियाँ अपनी बोधकारक क्रियाओं के कारण जीवन का हेतु हैं। प्रथम स्थल में जैसा प्रदर्शित किया गया प्रतीत होता था कि जीवन शुक्र और शोणित के संयोग के परिणामस्वरूप प्रकट हुआ, दूसरे स्थल में शुक्र-शोणित को जीवन-रूप में विकसित करने के लिए आवश्यक आत्मा के भूतात्मा के साथ सम्बन्ध पर विचार किया गया है। तीसरे स्थल में, इनके अतिरिक्त, पाँच इन्द्रियों, सत्त्व, रजस् और तमस् को समाविष्ट किया गया है, और शुक्र-शोणित का स्थान अग्नि की तीन मूल-शक्तियों एवं वायु ने ले लिया है। ये तीनों शक्तियां न्यूनाधिक काल्पनिक प्रकार की हैं जिन्होंने कई क्रियाओं और शरीर के उपादान कारणों को आत्मसात् कर लिया है। तीन उत्तरोत्तर अध्यायों में इन तीन दृष्टिकोणों का कारण सिवाय इस कल्पना के संतोष-प्रद रूप से समझाया नहीं जा सकता कि सुश्रुत के ग्रन्थ की तीन विभिन्न कालों में तीन विभिन्न आवृत्तियां हुई हैं; वाग्भट प्रथम का कथन है कि ज्योंही शुक्र और शोणित का योग होता है, राग आदि क्लेशों से विकृत मन से प्रेरित होकर 'जीव' इसके सम्पर्क में आता है।[2]

---

1 भूतात्मा अर्थात् सूक्ष्म शरीर को उसके अधिष्ठाता आत्मा सहित सुश्रुत द्वारा कर्म पुरुष की संज्ञा दी गई है। चिकित्सा सम्बन्धी विवेचन इसी कर्म-पुरुष और उसके शरीर का है (स कर्मपुरुषः चिकित्साधिकृतः–सुश्रुत 3. 1. 16)। पुनः सुश्रुत (1. 1. 21) में कहा है 'पंचमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते, तस्मिन् क्रिया सोऽधिष्ठानम्। (इस विज्ञान में 'पुरुष' शब्द का प्रयोग पंचमहाभूतों और शरीरिन् के समवाय के लिए हुआ है, और यही चिकित्सासम्बन्धी विवेचन का उद्देश्य है।)

2 गते पुराणे रजसि नवेऽवस्थिते शुद्धे गर्भस्याशये मार्गे च बीजात्मना शुक्लमविकृत-

चिकित्सा ग्रन्थों में वर्णित सूक्ष्म शरीर के सिद्धान्त की सांख्य मत से उपयुक्त ढंग से तुलना की जा सकती है। चरक संहिता 6.2.36 की व्याख्या करते हुए स्वयं चक्रपाणि का कथन है कि यह सूक्ष्म शरीर (आतिवाहिक शरीर) का सिद्धान्त 'आगम' में वर्णित है, और 'आगम' का अर्थ 'सांख्य आगम' समझना चाहिए (तेन आगमादेव सांख्यदर्शनरूपादातिवाहिकशरीरात्)। सांख्यकारिका 39 में सूक्ष्म-देह और माता-पिता से प्राप्त देह का वर्णन है। सूक्ष्म का अस्तित्व तबतक रहता है, जबतक कि मोक्ष प्राप्त नहीं हो जाता और प्रत्येक जन्म के समय यह नवदेह धारण करता है और प्रत्येक मृत्यु के समय उसे त्याग देता है। यह महत्, अहंकार, एकादश इन्द्रिय और पंच तन्मात्राओं द्वारा निर्मित है। गुण, दोष और अन्य बौद्धिक विकारों एवं उपलब्धियों को धारण करने वाली बुद्धि के साथ अपने संसर्ग के कारण यह स्वयं उनसे उसी प्रकार सम्बद्ध हो जाता है, जैसेकि एक कपड़ा मधुर गन्ध वाले चम्पक पुष्प के संसर्ग के द्वारा गन्ध ग्रहण कर लेता है, और इसलिए उसे तब तक पुनर्जन्मों की शृंखला का भोग करना पड़ता है जबतक कि बुद्धि विवेक-प्राप्ति द्वारा उससे पृथक् नहीं हो जाती। सूक्ष्म शरीर को स्वीकार करने की आवश्यकता इस तथ्य में निहित मानी जाती है कि अहंकार और इन्द्रियों से युक्त बुद्धि का शरीर रूपी अधिष्ठान के अभाव में अस्तित्व नहीं रह सकता। अतः एक मृत्यु से दूसरे जन्म के मध्य के अन्तराल में बुद्धि इत्यादि को एक धारक शरीर की आवश्यकता होती है, और यह आधार सूक्ष्म-शरीर है।[1] सांख्य प्रवचन भाष्य 5.103 में कहा गया है कि यह सूक्ष्म-शरीर तो शंकु आकार की एक वस्तु है जो अंगूठे से अधिक बड़ा नहीं है, फिर भी यह सारे शरीर में ठीक वैसे ही व्याप्त हैं जैसेकि एक छोटी ज्वाला अपनी किरणों के द्वारा सारे कमरे में व्याप्त होती है।[2] इस सांख्य मत का खंडन करते हुए व्यासभाष्य का कथन है कि इसके अनुसार किसी घट अथवा प्रासाद स्थित दीपक की किरणों के समान ही, चित्त अपने धारक शरीर की विशालता अथवा लघुता के अनुसार संकुचित अथवा विस्तृत होता है।[3] व्यास द्वारा

मविकृतेन वायुना प्रेरितमन्यैश्च महाभूतैरनुगतमार्तवेनाभिमूर्च्छितमन्वक्षमेव रागादिक्लेशवशानुवर्तिना स्वकर्मचोदितेन मनोजवेन जीवेनाभिसंसृष्ट गर्भाशयमुपयाति—अष्टांग-संग्रह 2.2। इसकी व्याख्या करते हुए इन्दु का कथन है 'बीजात्मना गर्भकारणमहाभूतस्वभावेन—सूक्ष्मस्वरूपैः मनस्सहचारिभिस्तन्मात्राख्यैर्महाभूतैरनुगत स्त्रीक्षेत्रप्राप्त्या कर्मवशादार्तवेन मिश्रीभूतमन्वक्षं मिश्रीभावहीनकालमेव—मनोजवेन जीवेनाभिसंसृष्टं प्राप्तसंयोगं गर्भाशयं शुक्लमुपयाति। 'जीव' के प्रयोग की प्रकृति के बारे में उसकी आगे की व्याख्या यह प्रदर्शित करती है कि अविद्या आदि तथा अन्य क्लेशों के विवरण के लिए उसने पातंजल 'योगसूत्र' का आश्रय लिया।

1 सांख्य तत्त्व कौमुदी 39, 40, 41।

2 यथा दीपस्य सर्वगृहव्याप्तित्वेऽपि कलिकाकारत्वम्—तथैव लिंगदेहस्य देहव्याप्तित्वेऽप्यंगुष्ठपरिमाणत्वम्। सांख्य प्रवचन भाष्य 5.103।

3 घटप्रासादप्रदीपकल्पं संकोचविकाशि चित्तम्, शरीरपरिमाणाकारमात्रमित्यपरे प्रतिपन्नाः—पातंजल योगसूत्र 4.10 पर व्यास भाष्य।

प्रतिपादित योग-दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए वाचस्पति का कथन है कि सांख्य मत में चित्त ऐसा है कि चित्त संकोच और विस्तार मात्र से ही किसी शरीर का मृत्यु समय पर त्याग नहीं कर सकता और सूक्ष्म (आतिवाहिक) शरीर के माध्यमिक सम्पर्क के बिना अन्य शरीर को धारण नहीं कर सकता। परन्तु, यदि चित्त स्वयं एक देह का त्याग और अन्य का धारण नहीं कर सकता, तो कैसे यह अपने-आपको मृत्यु के समय सूक्ष्म-शरीर से सम्बद्ध कर सकता है? यदि यह कार्य किसी अन्य देह के माध्यम से किया जाना है और वह कार्य फिर किसी अन्य के द्वारा तो हम अनवस्थादोष-प्रसंग को प्राप्त हो जाएंगे। यदि यह कहा जाय कि चित्त ऐसे सूक्ष्म शरीर से अनादि काल से सम्बद्ध है, तो इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि ऐसे सूक्ष्म शरीर का किसी ने भी प्रत्यक्ष नहीं किया है (न खल्वेतद् अध्यक्षगोचरम्) और न अनुमान के माध्यम से ही इसे अपरिहार्य रूप से आवश्यक माना जा सकता है, क्योंकि योग का दृष्टिकोण इस अवस्था की व्याख्या ऐसी किसी भी प्रकार के शरीर की कल्पना के बिना ही कर सकता है। चित्त सर्वव्यापि है और प्रत्येक आत्मा एक पृथक् चित्त से सम्बद्ध है। प्रत्येक चित्त अपने आपको एक विशिष्ट शरीर से इस तथ्य के कारण सम्बद्ध करता है कि इसकी वृत्तियाँ उस शरीर में देखी जाती है। इस प्रकार आत्मा के सर्वव्यापी चित्त की वृत्तियाँ म्रियमाण शरीर में लुप्त होने लगती हैं और नवजात शरीर में क्रियमाण हो जाती हैं। अतः सूक्ष्म शरीर को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है (आतिवाहिकं तस्य न मृष्यामहे)।[1]

वैशेषिक ने भी सूक्ष्म शरीर के अस्तित्व को मानने से इन्कार किया है और गर्भ-वृद्धि में इसका कोई स्थान निर्धारित नहीं किया है। न्यायकन्दली[2] में श्रीधर ने गर्भ-विकास का इस प्रकार वर्णन किया है: पिता के शुक्र और माता के शोणित के योग के पश्चात् शुक्र शोणित के विघायक अणुओं के कारण गर्भाशय की गर्मी से एक ऐसा परि-वर्त्तन होता है कि उनके पुराने वर्ण, आकार आदि नष्ट हो जाते हैं और नए सदृश गुण उत्पन्न हो जाते हैं, और इस प्रकार द्वयणुओं और त्रसरेणुओं के क्रमिक निर्माण के द्वारा भ्रूण का विकास होता है, और, जब ऐसे शरीर का निर्माण हो जाता है तो उसमें 'अन्तः करण' का प्रवेश होता है, जोकि शुक्र-शोणित अवस्था में प्रवेश नहीं कर सकता था क्योंकि मन को शरीर रूपी आश्रय की आवश्यकता होती है (न तु शुक्रशोणितावस्थायां शरीरा-

---

1 वाचस्पति कृत 'तत्त्ववैशारदी' 4.10। महाभारत 3.296.17 में उल्लेख है; 'अगुष्ठ-मात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्'। वाचस्पति का कथन है कि 'पुरुष' कोई भौतिक वस्तु नहीं है, अतः इसको शरीर से बाहर नहीं खींचा जा सकता। अतः इसकी व्याख्या 'म्रियमाण' शरीर में चित्त की वृत्तियों के अभाव के द्योतक औपचारिक अर्थ में करनी चाहिए (न चास्य निष्कर्षः संभवति, इत्यौपचारिको व्याख्येयस्तथा च चितेश्चित्तस्य च तत्र तत्र वृत्त्यभाव एक निष्कर्षार्थः)।

सांख्य प्रवचन भाष्य 5.103 का कथन है कि सत्यवान् के शरीर से यम द्वारा निकाले गए जिस अंगुष्ठ मात्र पुरुष का उल्लेख महाभारत 3.296.17 में किया गया है, वह लिंगदेह के प्रमाण का ही है।

2 'न्यायकन्दली' विजय नगरम् संस्कृत सीरिज 1895 पृ० 33।

श्रयत्वान्मनसः) । माता के अन्न-रस की अल्प मात्रा उसका पोषण करती है । तत्पश्चात् अदृष्ट (अदृश्य शक्ति) के द्वारा गर्भ का गर्भस्थ ऊष्मा के कारण अणु रूपों में विघटन होता है और अन्न-रस के अणुओं के साथ-साथ नवीन गुणों से युक्त अणु नव शरीर के निर्माण के लिए आपस में पिण्ड रूप धारण कर लेते हैं । इस सिद्धान्त के अनुसार सूक्ष्म शरीर और चित्त का गर्भ के निर्माण एवं विकास से कोई प्रयोजन नहीं । गर्भ के निर्माण की प्रक्रिया में होने वाले सारे विघटन और पुनः संयोगों के लिए ऊष्मा ही मुख्य कारण के रूप में उत्तरदायी है ।

ऐसा प्रतीत होता है कि न्याय ने इसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न नहीं माना है और यह भी सूक्ष्म शरीर के अस्तित्व को नहीं मानता है । न्यायदर्शन के अनुसार आत्मा सर्वव्यापी है । ऊपर दिए गए महाभूतों वाले उद्धरण में यम अंगुष्ठ मात्र पुरुष को बाहर निकाल लेता है, न्याय दर्शन के अनुसार उसकी व्याख्या करनी होगी ।[1] पुनर्जन्म में केवल सर्वव्यापी आत्मा ही शरीर विशेष से सम्बद्ध होता है (य एव देहान्तरसंगमोऽस्य, तमेव तज्ज्ञाः परलोकमाहुः) ।[2]

चन्द्रकीर्ति हमें शालिस्तम्ब सूत्र से बौद्ध दृष्टिकोण का विवरण देते हैं ।[3] गर्भ छः धातुओं के समवाय से उत्पन्न होता है (षण्णां धातूनां समवायात्) । शरीर को संश्लिष्ट करने वाला धातु पृथ्वी (पार्शिव-धातु) कहलाता है, शरीर के अन्न और पान को पचाने वाला धातु अग्नि (तेजो धातु) कहलाता है, श्वास-निःश्वास उत्पन्न करने वाला धातु वायु कहलाता है, शारीरिक छिद्रों (अंतः सौषिर्यम्) को उत्पन्न करने वाला धातु आकाश (आकाश-धातु) कहलाता है, जिससे ज्ञान उत्पन्न होता है वह धातु 'विज्ञान धातु' कहलाता है । इन सबके ही समवाय से शरीरकी उत्पत्ति होती है (सर्वेषां समवायात् कायस्योत्पत्तिर्भवति) । कई अन्य विभिन्न कारणों के साथ संसर्ग से 'विज्ञान' का बीज 'नाम' और 'रूप' का अंकुर उत्पन्न करता है । इस प्रकार गर्भ स्वतः उत्पन्न होता है, अन्य से नहीं, और न स्वतः और अन्य दोनों से, न परमात्मा के द्वारा, न काल द्वारा, न प्रकृति द्वारा, न एक कारण द्वारा, और न बिना कारण द्वारा, अपितु उपयुक्त ऋतु में माता और पिता के अंशों के संयोग से उत्पन्न होता है ।[4] माता और पिता के अंशों का योग हमें पांच धातुएँ प्रदान करता है, जब ये पांचों छठे धातु विज्ञान से युक्त हो जाते हैं तो वे एकसाथ क्रियाशील हो जाते हैं ।

गर्भ के षड्धातुओं के संयुक्त प्रभाव का परिणाम होने के मत से हमें चरक 4.3 के एक मिलते-जुलते कथन का स्मरण हो जाता है । चरक ने उसमें गर्भ के निर्माण एवं विकास के कारण के विषय पर विभिन्न ऋषियों के बीच हुए संवादों का सारांश दिया है :

---

1 तस्मान्न हृत्पुण्डरीके यावदवस्थानमात्मनः अतएव अंगुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष बलाद् यम इति व्यासवचनमेवम्परमवगन्तव्यम् ।
(जयन्त न्याय मंजरी, पृ० 469) ।

2 वही, पृ० 473 ।

3 'माध्यमिक वृत्ति' (Bibliotheca Buddhica) पृ० 560-61 ।

4 वही, पृ० 567 ।

जहाँ प्रभावकारी शुक्र से युक्त मनुष्य और विकार रहित अंग, गर्भाशय एवं शोणित से युक्त स्त्री का समागम होता है, वहाँ यदि शुक्र और शोणित के योग के समय मन के माध्यम द्वारा आत्मा इसके सम्पर्क में आए, तो गर्भ विकास करने लगता है।[1] जब इसकी उचित पोषण द्वारा देखभाल की जाती है, तब उचित समय पर बच्चा उत्पन्न होता है और उपयुंक्त समस्त भूतों के समुचित भावों के कारण सारा विकास होता है (समुदयादेषां भावानाम्)। गर्भ माता-पिता के तत्त्वों आत्मा, माता-पिता के शरीर की आरोग्य सम्बन्धी उचित देखभाल (सात्म्य) और अन्नरस से उत्पन्न होता है तथा इनके साथ-साथ सत्व अथवा मनस् प्रयोजक रूप में विद्यमान रहता है जो शरीर त्याग देने के पश्चात् आत्मा के लिए पूर्व देह के संयोजक का कार्य करने के लिए मध्यस्थित वाहन का कार्य करता है (औपपादुक)।[2] भारद्वाज का कथन है कि इनमें से कोई भी कारण सही नहीं माना जा सकता, क्योंकि माता-पिता के समागम के उपरान्त भी वे प्राय: नि:सन्तान रहते हैं, आत्मा-आत्मा को उत्पन्न नहीं कर सकता, क्योंकि यदि ऐसा होता, तो क्या यह उत्पन्न होने अथवा उत्पन्न न होने के पश्चात् अपने-आपको उत्पन्न कर सकता ? दोनों ही अवस्थाओं में, उसके लिए अपने-आपको उत्पन्न करना असंभव है। और भी, यदि आत्मा में स्वयं को उत्पन्न करने की क्षमता होती तो वह अवांछित स्थानों में और दोषयुक्त शक्तियों के साथ जन्म लेने का ध्यान ही नहीं करता, जैसांकि कभी-कभी होता है। पुनश्च उचित आरोग्य सम्बन्धी आदतें भी कारण नहीं मानी जा सकतीं, क्योंकि कई ऐसे व्यक्ति विद्यमान हैं जिनकी ऐसी आदतें हैं, परन्तु वे नि:सन्तान हैं; और कई ऐसे हैं जिनकी ऐसी आदतें नहीं हैं परन्तु वे सन्तानयुक्त हैं। यदि यह भोजन के रस के कारण होता तो सारे लोगों की सन्तानें होतीं। फिर यह भी सत्य नहीं कि एक देह से निकलने वाला सत्त्व स्वयं को अन्य से संबद्ध कर लेता है, क्योंकि यदि ऐसा होता, तो हम सब अपने पूर्वजन्म की घटनाएँ याद रखते। अतः उपर्युक्त कारणों में किसी को सही नहीं माना जा सकता। इसके उत्तर में आत्रेय का कथन है कि उपर्युक्त सारे तत्त्वों के समुदित प्रभावों से ही बच्चे की उत्पत्ति होती है, न कि उनमें से किसी एक द्वारा पृथक् रूप से।[3] इसी विचार की 4.3.20 में एक बार फिर पुनरावृत्ति की गई है जिसमें यह कहा गया है कि जैसे चिकित्सागृह (कूटागारं वर्तुलाकारं गृहं जैन्ताकस्वेदप्रतिपादितम्—चक्रपाणि) अनेक प्रकार की वस्तुओं से बना होता है, अथवा जैसे एक रथ अपने विभिन्न भागों के संग्रह से बना होता है, वैसे ही गर्भ उन विभिन्न इकाइयों के संयोग से बनता है जो गर्भ के निर्माण और उसके विकास का कारण होता है (नानाविधानां गर्भकाराणां भावानां समुदयाद-

---

1 वैशेषिक दर्शन के अनुसार भी सर्वव्यापी आत्मा मन के माध्यम से ही गर्भ के संपर्क में आता है, परन्तु अन्तर यह है कि इसके अनुसार मन गर्भ के विकास का हेतुभूत प्रयोजक कारण है, जबकि उसमें मन गर्भ के पास तब जाता है जब गर्भ शारीरिक ऊष्मा के द्वारा पहले से ही शरीर में विकसित हो जाता है।

2 चरक संहिता 4.3.3।

3 नेति भगवानात्रेयः सर्वेभ्य एभ्यो भावेभ्यः समुदितेभ्यो गर्भोऽभिनिवर्तते।

—वही, 4.3.11।

भिनिर्वतते)।[1] एक अविकल सम्पूर्ण की उत्पत्ति को प्राप्त कराने वाले कारणों के ऐसे समुदित भाव का विचार अपने चारों ओर एक विशिष्ट बौद्ध चक्र धारण किए हुए प्रतीत होता है।

आत्रेय के उपर्युक्त कथन का विरोध करते हुए, भारद्वाज पूछते हैं कि यदि गर्भ अनेकों समुदित कारणों का परिणाम हैं, तो वह निश्चित क्रम क्या है जिसमें वे विभिन्न भागों को उत्पन्न करने के लिए एक दूसरे से परस्पर सहयोग करते हैं (कथमयं संधायते) और फिर इसका क्या कारण है कि स्त्री से उत्पन्न सन्तान मानव सन्तान ही होती है किसी अन्य पशु की नहीं ? फिर, यदि मनुष्य को मनुष्य उत्पन्न होता है, तो जड़ पुरुष का पुत्र जड़, अन्धे का पुत्र अन्धा और पागल का पुत्र पागल क्यों नहीं होता ? इसके अतिरिक्त यदि यह तर्क दिया जाए कि आत्मा आँख द्वारा वर्णों का, श्रोत्र द्वारा ध्वनियों का, नासिका (घ्राण) द्वारा गंध का, रसना द्वारा विभिन्न रसों का प्रत्यक्षीकरण करता है और त्वचा द्वारा विभिन्न स्पर्शजन्य संवेदनाओं का अनुभव करता है, और इसी कारण से बच्चा पिता के गुणों को जन्म से ही ग्रहण नहीं करता है, तब यह स्वीकार करना पड़ेगा कि आत्मा को ज्ञान केवल तभी हो सकता है जब इन्द्रियां विद्यमान हों और तब उसको यह ज्ञान नहीं होगा जब इन्द्रियां नहीं हों; ऐसी दशा में आत्मा अविकारी न होकर सविकारी हो जायगा (यत्र चैतदुभयं संभवति ज्ञत्वमज्ञत्वं च सविकारश्चात्मा)।[2] यदि आत्मा को विषयों का बोध इन्द्रिय-व्यापारों, प्रत्यक्षीकरण इत्यादि, के द्वारा होता है, तो जब यह इन्द्रियहीन होता है तो कुछ भी नहीं जान सकता, और जब यह अचेतन होता है उस समय यह शारीरिक चेष्टाओं का अथवा अन्य अपने व्यापारों में से किसी का भी कारण नहीं हो सकता, और परिणामतः इसे 'आत्मा' नहीं कहा जा सकता। अतः यह कहना केवल मूर्खता है कि आत्मा अपनी इन्द्रियों द्वारा वर्णों इत्यादि का प्रत्यक्षीकरण करता है।

इसके उत्तर में आत्रेय का कथन है कि जरावुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज ये चार प्रकार के प्राणी होते हैं। प्रत्येक वर्ग में नानाविध रूपों के असंख्य प्राणी विद्यमान हैं। गर्भकारी भाव (गर्भकराभावाः) जिन रूपों को ग्रहण करते हैं वे रूप उस शरीर के रूप पर निर्भर करते हैं जहाँ वे एकत्र होते हैं। जिस प्रकार सोना, चाँदी, ताम्बा, सीसा इत्यादि जिस पात्र में डाले जाते हैं उसी का आकार ग्रहण कर लेते हैं, ठीक उसी प्रकार जब गर्भकारी भाव एक शरीर विशेष में एकत्र होते हैं तो गर्भ उस आकार विशेष को ग्रहण कर लेता है परन्तु कोई आदमी अपने पिता के दोष अथवा रोग से तब तक दूषित नहीं होता, जब तक कि यह दोष अथवा रोग इतना बुरा अथवा संक्रामक न हो कि उसके शुक्र को प्रभावित कर दे।[3] हमारे प्रत्येक अंग और अवयव का अंकुर पिता के शुक्र में है, और जब पिता के रोग अथवा दोष की जड़ें इतनी गहरी हों कि बीज किसी के अवयव विशेष के अंकुर भाग को प्रभावित (उपताप) कर दे तब उस शुक्र से उत्पन्न सन्तान उस

---

1 वही, 4.3.20।

2 चरक संहिता, 4.3.21।

3 वही, 4.3.22-23।

अंग से विकलांग उत्पन्न होती है; परन्तु यदि उसके पिता का दोष अथवा रोग इतना साधारण है कि उसका शुक्र अप्रभावित रहता है, तब रोग अथवा दोष पुत्र द्वारा जन्मना ग्रहण नहीं किया जा सकता। सन्तान इन्द्रियों के लिए माता-पिता का ऋणी नहीं है, केवल वह स्वयं ही अपनी इन्द्रियों के अच्छी या बुरी होने का उत्तरदायी है, क्योंकि वे उसके अपने आत्मा से उत्पन्न होती हैं (आत्मजानीन्द्रियाणि)। इन्द्रियों की विद्यमानता अथवा अविद्यमानता उसके अपने प्रारब्ध अथवा कर्मफल (दैव) के कारण इस कारण है। से ऐसा कोई निश्चित नियम नहीं है कि जड़ अथवा सदोष इन्द्रियों वाले पुरुष की सन्तान आवश्यक रूपेण जड़ अथवा अन्य प्रकार से सदोष ही उत्पन्न होवे।[1] आत्मा केवल तभी तक चेतन है जब तक इन्द्रियां विद्यमान हैं। आत्मा कभी भी सत्व अथवा मन इन्द्रियों से हीन नहीं रहता, और इसके माध्यम से आत्मा में सदा एक प्रकार की चेतना रहती है।[2] कर्त्ता के रूप में आत्मा व्यावहारिक कार्य में प्रतिफलित होने वाले बाह्य जगत् के ज्ञान को इन्द्रियों के बिना ग्रहण नहीं कर सकता; तब कई सहायक उपकरणों की अपेक्षा रखने वाली कोई भी व्यावहारिक क्रिया तब तक नहीं की जा सकती जब तक ये उपकरण विद्यमान न हों; घड़ा बनाना जानने वाला कुम्हार उस समय तक घड़ा बनाने में सफल नहीं हो सकता जब तक कि उसके पास वे अवयव नहीं हों जिनसे घड़ा बनाया जाय।[3] जब इन्द्रियाँ निष्क्रिय होती हैं उस समय हमारे स्वप्नज्ञान द्वारा यह तथ्य अच्छी तरह प्रदर्शित होता है कि इन्द्रियों के क्रियाशील नहीं होने पर भी आत्मा में चेतना होती है।[4] आत्रेय का आगे कहना है कि जब इन्द्रियों का पूर्ण रूप से निग्रह हो जाता है और मन भी निगृहीत तथा आत्मा में केन्द्रित हो जाता है, तब कोई भी मनुष्य इन्द्रिय-व्यापार के बिना ही सब वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर सकता है।[5] इस प्रकार आत्मा स्वयं ही ज्ञाता और कर्ता है।

---

1 चरक संहिता, 4.3.25।

2 वही, 4.3.26। न ह्य सत्त्वः कदाचिदात्मा सत्त्वविशेषाच्चोपलभ्यते ज्ञानविशेषः। इस पर टीका करते हुए चक्रपाणि का कथन है कि बाह्य जगत् का हमारा ज्ञान इन्द्रियों के मन के साहचर्य में कार्य करने के कारण होता है। यदि ये इन्द्रियाँ विद्यमान न हों तो हमें बाह्य जगत् का कुछ भी ज्ञान न हो, परन्तु मन की आन्तरिक इन्द्रिय सदा आत्मा के सम्पर्क में रहती है, इसलिए जो ज्ञान 'मन' इन्द्रिय के कारण होता है वह सदा आत्मा में उपस्थित रहता है। (यत्तुकेवलमनोजन्यमात्मज्ञानं, तद् भवत्येवसर्वदा)। ऐसा प्रतीत होता है कि सत्त्व और मन दोनों का प्रयोग 'मन' इन्द्रिय के द्योतक अर्थ में किया गया है।

3 चरक संहिता, 4.3.27 के शब्द 'कार्यज्ञानम्' की चक्रपाणि ने ऐसे व्याख्या की है, कार्यप्रवृत्तिजनकबाह्यविषयज्ञानम्। जब आत्मा के पास मन इन्द्रिय के साहचर्य में काम करने वाली कोई इन्द्रियाँ नहीं होतीं, तब उसके पास जो ज्ञान होता है वह निर्विषय होता; दूसरे शब्दों में, आत्मा का यह ज्ञान सदा निराकार होता है।

4 वही, 4. 3. 31।

5 विनापीन्द्रियैः समाधिबलादेव यस्मात् सर्वज्ञो भवति, तस्माज्ज्ञस्वभाव एव निरिन्द्रियोऽप्यात्मा (चक्रपाणि कृत 'चरक तात्पर्य टीका, 4. 3. 28–29)।

चक्रपाणि की व्याख्या के अनुसार, चरक का दृष्टिकोण कुछ-कुछ नवीन-सा प्रतीत होता है। क्योंकि आत्मा न तो सांख्य-योग के पुरुष के समान शुद्ध 'चित्' ही है और न वेदान्त के समान सत्, चित् और आनन्द का एकत्व ही है। यहाँ आत्मा मन के साथ अपने निरन्तर साहचर्य के कारण जाता है। हाँ, इस दृष्टि से हम न्यायवैशेषिक दृष्टिकोण के अधिक निकट हैं। परन्तु न्याय-वैशेषिक दृष्टिकोण में आत्मा सदा मन के सम्पर्क में नहीं रहता है और सदा चेतन नहीं है। उस दृष्टिकोण में मन अणुमय है। आत्मा के सदा निराकार चैतन्य रूप होने का दृष्टिकोण निस्सन्देह वेदान्तीय अथवा सांख्य रंग लिए हुए है; परन्तु अन्य विवरण स्पष्टतः इस दृष्टिकोण को इन सम्प्रदायों की मान्य व्याख्याओं से पृथक् कर देते हैं। फिर भी यहाँ पर प्रतिपादित आत्मा का सिद्धान्त असंगत प्रतीत होता है और अधिक विस्तार से उसकी चर्चा बाद में की जाएगी।

सूक्ष्म शरीरों के अस्तित्व के विषय में हमने भारतीय दर्शन की विभिन्न शाखाओं के दृष्टिकोण चरक के दृष्टिकोण मे साम्य अथवा वैषम्य दिखाने के उद्देश्य से पहले ही उद्धृत कर दिए हैं। इस खंड के समापन से पहले सूक्ष्म शरीर के स्वरूप के बारे में वेदान्त दृष्टिकोण का उल्लेख करना आवश्यक है।

जैसा शंकर ने भाष्य किया है वेदान्त के अनुसार सूक्ष्म शरीर पाँच भूतसूक्ष्मों से बना है जो पान, अपांनादि पाँच वायुओं से भी युक्त होता है।[1] जो पुण्य कर्म करते हैं वे चन्द्रलोक में जाते हैं और जो पाप करते हैं वे यमलोक में कष्ट भोगते हैं और इस जगत् में पुनर्जन्म प्राप्त करते हैं।[2] जो अपने पुण्य कर्मों के फलस्वरूप चन्द्रलोक में जाते हैं और तदनन्तर अपने पुण्यों का सम्पूर्ण संचय प्रायः क्षीण कर देते हैं, और परिणामतः वे वहाँ अधिक देर स्थिर नहीं रह सकते हैं, वे इस मृत्युलोक की ओर अपनी यात्रा प्रारम्भ कर देते हैं। वे आकाश, वायु, धूम और मेघ में से होकर गुजरते हैं और तत्पश्चात् वर्षा के साथ पृथ्वी पर बरसाए जाते हैं और वनस्पतियों द्वारा आत्मसात् कर लिए जाते हैं और फिर वे खाने वाले मनुष्यों के शरीर में पहुँचते हैं और पुनः उन पुरुषों की स्त्रियों के गर्भ में शुक्र रूप में छोड़े जाते हैं और फिर पुनर्जन्म को प्राप्त करते हैं। चन्द्रलोक में उपलब्ध भोगों के हेतु वहाँ उनका शरीर जलमय होता है (चन्द्रमण्डले यदम्मयं शरीरमुपभोगार्थमारब्धम्) और जब उनके पुण्य उपभोगों के द्वारा क्षीण हो जाते हैं और उस शरीर को अधिक समय धारण करने योग्य नहीं रहते हैं, तो वे आकाश के समान शरीर को प्राप्त करते हैं और इस प्रकार वायु से प्रेरित होकर धूम और मेघ के सम्पर्क में आते हैं। इस स्थिति में और जब वे वनस्पतियों के शरीर में विलीन हो जाते हैं, तब भी वे न तो सुख का और न दु.ख का ही उपभोग करते हैं। जो अपने पापकर्मों के दण्डस्वरूप वनस्पति-शरीर को प्राप्त होते हैं और जो अपने पुनर्जन्म के पथ पर केवल पड़ावमात्र रूप से वनस्पति शरीर को प्राप्त करते हैं उनकी अवस्थाओं में अन्तर रखना आवश्यक है। प्रथम अवस्था में वनस्पति जीवन भोगयोनि का जीवन है जबकि दूसरी अवस्था में न दु.ख है और न सुख। जब वनस्पति शरीरों को चबाया और चूर्ण किया जाता है तब भी

---

1 ब्रह्मसूत्र 3. 1. 1–7 पर शांकर भाष्य।

2 वही, 3. 1. 13।

पड़ाव रूप में उनके अन्दर रहने वाली आत्माओं को दुःख नहीं प्राप्त होता, क्योंकि वे इन वनस्पतियों से संश्लिष्ट मात्र ही हैं (चन्द्रमण्डलस्खलितानां व्रीह्यादिसंश्लेषमात्रं तद्भावः)।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि केवल सांख्य और वेदान्त ही सूक्ष्म शरीर की सत्ता को स्वीकार करते हैं और इस प्रकार उनका चरक के मत से साम्य है। चरक का इस अर्थ में वेदान्त से अधिक मतैक्य है कि जहाँ सांख्य के अनुसार तन्मत्राओं से सूक्ष्म शरीर निर्मित है, वहाँ चरक और वेदान्त दोनों के मत में सूक्ष्म शरीर तत्त्व के स्थूल भूतों के सूक्ष्म कणों द्वारा निर्मित होता है। आत्मा गर्भ में प्रवेश के समय क्रमशः आकाश, वायु, तेज, ऊष्मा, जल और पृथ्वी (न कि किसी अन्य क्रम में) से एक अणु बराबर क्षण में संश्लिष्ट हो जाता है।[2]

गर्भ वृद्धि[3]

जब तत्त्व के विभिन्न महाभूत सूक्ष्म शरीर से संयुक्त होकर आत्मा से संश्लिष्ट होते हैं तो वे एक छोटे श्लेष्म-पिण्ड (खेट-भूत) से प्रतीत होते हैं जिसके सारे अंग

---

1 3. 1.25 और 3. 1. 22–27 पर शांकर भाष्य।

2 चरक संहिता 4. 4. 8। इस पर टीका करते हुए चक्रपाणि कहते हैं कि इस बात का कोई विशेष कारण नहीं है कि स्थूल भूतों के ग्रहण करने का क्रम सूक्ष्म से स्थूल की ओर क्यों होना चाहिए ? इस क्रम को आगम सिद्ध प्रमाण के अनुसार ही स्वीकार करना होगा—अयं च भूतग्रहणक्रम आगमसिद्ध एव नात्र युक्तिस्तथाविधा हृदयंगमास्ति।

3 गर्भ उपनिषद् में गर्भवृद्धि का वर्णन है परन्तु इसका काल अज्ञात है इसकी महत्त्वपूर्ण आकर्षक बातें इस प्रकार संक्षेप में कही जा सकती हैं : शरीर का कठोर भाग पृथ्वी है, तरल भाग जल है, जो ऊष्ण है वह तेज है, जो सचरण करता है वह वायु है, जो शून्य रूप है वह आकाश है। आगे शरीर को मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त कटु और कषाय इन षड्रसों पर आश्रित (षडाश्रय) और उसे रस, शोणित और मांस की सात धातुओं द्वारा निर्मित बताया गया है। षड्रसों से शोणित उत्पन्न होता है, शोणित से मांस बनता है, मांस से मद उत्पन्न होता है, मद से स्नायु, स्नायु से अस्थि, अस्थियों से मज्जा, मज्जा से शुक्र उत्पन्न होता है। शुक्र और शोणित के सयोग के पश्चात् की दूसरी रात्रि तक गर्भ गोल पिण्ड के आकार का हो जाता है जिसे 'कलल' की संज्ञा दी जाती है, आठवीं रात्रि को यह छोटे फफोले के आकार का हो जाता है जिसे 'बुदबुद' की संज्ञा दी जाती है, एक पक्ष के पश्चात् पिण्ड का आकार ग्रहण कर लेता है, दो मास में शिर प्रकट होता है, तीन मास में पैर, चार मास में उदर, एड़ी और कटि भाग प्रकट होते हैं, पांचवें मास में मेरुदंड प्रकट होता है, छठे मास में मुख, नाक, आंखे और कान विकसित होते हैं, सातवें मास में गर्भ जीव से संयुक्त होता है (जीवेन संयुक्तो भवति), आठवें मास में यह पूर्ण विकास को प्राप्त हो जाता है। शोणित से शुक्र का आधिक्य होने पर पुरुष संन्तान उत्पन्न होती है, शुक से शोणित का आधिक्य

इतने अस्पष्ट और अविकसित होते हैं कि उन्हें विद्यमान होते हुए भी अविद्यमान कहा जा सकता है। सुश्रुत का कथन है कि शरीर के दो मुख्य विधायक शुक्र और शोणित, क्रमशः चन्द्रमा के आह्स्तत्व (सौम्य) और तेजस्तत्व (आग्नेय) से बने हैं; अन्य भूतों के भी अणुविशेष उनसे संयुक्त होते हैं, और यह सब शरीर के निर्माण के लिए आपस से एक दूसरे की सहायता एवं सहयोग करते हैं।[1] सुश्रुत आगे और कहते हैं कि पुरुष और स्त्री के संयोग के समय उत्पन्न गरमी (तेजः) वायु को कुपित करती है और वायु और तेजः के सम्पर्क से शुक्र स्खलित होता है।[2] परन्तु चरक का मत है कि शुक्र के स्खलन का कारण हर्ष है।[3] शुक्र शरीर से उत्पन्न नहीं होता परन्तु सारे शरीर के सब भागों में रहता है। यह केवल हर्ष ही है जो स्खलन का और शुक्र के गर्भाशय में प्रवेश का कारण है।[4] इस प्रकार उनका कथन है कि आत्मा के द्वारा हर्ष रूप में च्युत होकर (हर्षभूतेनात्मनोदीरितश्चाधिष्ठितश्च) शुक्र का विधायक या बीज, मनुष्य शरीर से बाहर आकर इसके गर्भाशय में उचित पथ द्वारा प्रवेश पाने के पश्चात्, गर्भाशय में आर्तव के साथ संयुक्त हो जाता है। सुश्रुत के अनुसार च्युत शुक्र स्त्री योनि में प्रविष्ट होता है (योनिमभिप्रपद्यते) और वहां आर्तव के संसर्ग में

होने पर स्त्री-सन्तान उत्पन्न होती है। जब दोनों समान होते हैं तो स्त्री-पुरुष दोनों के लक्षणों से युक्त संतान उत्पन्न होती है। जब किसी प्रकार से शुक्र में वायु का प्रवेश हो जाता है और दो भागों में विभक्त हो जाता है, तो यमल उत्पन्न होते हैं। यदि माता-पिता का मन व्याकुल (व्याकुलितमानसः) हो तो सन्तान या तो अंधी या पंगु या कुब्ज होगी। नवें मास में जब गर्भ अपने सर्वांगों में सुविकसित हो जाता है, तो यह अपने पूर्व जन्म को स्मरण करता है और अपने पुण्य और पाप कर्मों का ज्ञान प्राप्त करता है और अपने पूर्व जन्म के कर्मों के कारण यह पश्चात्ताप करता है कि यदि वह एक बार बाहर आ जाए तो वह सांख्य-योग के अनुशासन का पालन करेगा। परन्तु ज्योंही बच्चा उत्पन्न होता है त्योंही वह वैष्णव वायु के सम्पर्क में आता है और सारे पूर्व जन्मों और निश्चयों को भूल जाता है। देह को शरीर इसलिए कहा गया है कि कोष्ठाग्नि, दर्शनाग्नि और ज्ञानाग्नि ये तीन अग्नियां उसमें निवास करती हैं (श्रयन्ते)। कोष्ठाग्नि सब प्रकार के अन्न-पान को पचाती है, दर्शनाग्नि द्वारा रूप और वर्ण का प्रत्यक्षीकरण होता है, ज्ञानाग्नि द्वारा मनुष्य अच्छे और बुरे कर्म करता है। यह उपनिषद् खोपड़ी की अस्थियों की संख्या चार बताती है, मर्मों की संख्या 107, सन्धियों की 180, स्नायु 109, शिराएं 700, मज्जा स्थान 500 और अस्थियाँ 300 बताती है।

1 सुश्रुत संहिता 3. 3. 3।

2 वही 3. 3. 4 निर्णयसागरीय 1915 का संस्करण। इस पर टीका करते हुए, डल्हण का कथन है: 'सुखलक्षणव्यायामजोष्मविलीनं विद्रुतमनिलाच्च्युतम्'।

3 चरक संहिता 4. 4. 7।

4 चरक संहिता 4. 4. 7 पर टीका करते हुए चक्रपाणि का कथन है 'नांगेभ्यः शुक्र-मुत्पद्यते, किन्तु शुक्ररूपतयैव व्यज्यते' अर्थात् शुक्र शरीर के विभिन्न भागों से उत्पन्न नहीं होता, परन्तु इसकी सत्ता जैसा यह है वैसा ही है और यह दृश्य रूप में एक क्रियाविशेष के बाद ही केवल प्रकट होता है (सुश्रुत 3. 3. 4)।

आता है ।[1] उसी क्षण आत्मा अपने सूक्ष्म शरीर के साथ उससे संश्लिष्ट हो जाता है और इस प्रकार सत्व रजस् और तमस् के भौतिक गुणों से और दैव, आसुर और अन्य गुणों से संश्लिष्ट हो जाता है । आत्मा के भौतिक तत्त्वों के साथ सम्पर्क के प्रश्न का उल्लेख करते हुए चरक कहते हैं कि ऐसा मनरूप करण (सत्त्वकरण) से युक्त होकर आत्मा के प्रवृत्त होने के कारण होता है ।[2] उपर्युक्त अंश पर टीका करते हुए चक्रपाणि का कथन है कि आत्मा निष्क्रिय है, तथापि आत्मा का क्रियाशील होना उससे संयुक्त प्रयोजक मन के कारण बताया जाता है । आत्मा को पूर्णरूपेण निष्क्रिय मानने वाले परम्परागत सांख्य दर्शन के मत के साथ चक्रपाणि का मत मेल खाता सा प्रतीत होता है परन्तु चरक संहिता में आत्मा की निष्क्रियता के बारे में कुछ भी नहीं कहा गया है क्योंकि चरक आत्मा को प्रवृत्तिशील, कर्त्ता, और विश्वकर्मा मानते हैं और सत्त्व का यहाँ केवल आत्मा के अवयव (सत्त्वकरण)के रूप में वर्णन किया गया है ।

प्रथम मास में, गर्भ आकार लसदार (कलल) होता है ।[3] दूसरे मास में शीत, ऊष्मा और वायु के कार्य द्वारा रासायनिक परिवर्त्तन प्राप्त करके (अभिप्रपच्यमान) गर्भ घनत्व को प्राप्त करता है । यदि यह पुरुष संतान का गर्भ होता है, तो वह पिण्डाकार होता है; यदि यह स्त्री-संतान का गर्भ होता है तो यह पेशी के आकार का होता हैं, यदि यह स्त्री-पुरुष लक्षण-युक्त सन्तान का गर्भ होता है तो यह आधे गोल पिण्ड (अर्बुद) के आकार का होता है ।[4] तीसरे मास में पाँच पिण्डक और अंग विभाग भी सूक्ष्म रूप में दृष्टि-गोचर होते हैं । चतुर्थ मास में अंग-प्रत्यंग विभाग निश्चिततर और सुस्पष्ट होता है, और गर्भ-हृदय की प्रव्यक्ति के कारण चेतना धातु भी अभिव्यक्त हो जाती है, क्योंकि हृदय चेतना का विशेष स्थान है, अतः चतुर्थ मास से इन्द्रिय-विषयों के लिए इच्छा प्रकट करता है । पंचम मास में मन प्रतिबुद्धतर हो जाता है, छठे में बुद्धि का विकास होने लगता है,

---

1 डल्हण द्वारा की गई इसकी व्याख्या के अनुसार, स्त्री-योनि का अर्थ यहाँ 'गर्भाशय' है : इस प्रकार डल्हण कहते हैं 'योनेस्तृतीयावर्त्तावस्थितगर्भशय्यां प्रतिपद्यते' अर्थात् शुक्र योनि के तृतीय आवर्त गर्भाशय में प्रवेश करता है । सम्भवतः यहाँ गर्भाशय को तृतीय आवर्त माना गया है, प्रथम दो शायद योनि द्वार और योनि मार्ग है ।

2 सत्त्वकरणगुणग्रहणाय प्रवर्तते—चरक संहिता 4. 4. 8 । चक्रपाणि ने ठीक ही प्रदर्शित किया है कि यहाँ 'गुण' भूतों के द्योतक हैं जिनमें गुण होते हैं—गुणवन्ति भूतानि । इन सब स्थलों में 'गुण' 'भूत' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । यद्यपि 'गुण' का अर्थ विशेषता होता है और 'गुणी' का अर्थ द्रव्य फिर भी यहां ग्रहण किया गया दृष्टिकोण 'गुण' और 'गुणी' के अन्तर पर ध्यान नहीं देता, और विशेषता का द्योतक सामान्य शब्द 'गुण' 'गुणी' के लिए प्रयुक्त है (गुणगुणिनोरभेदोपचारात्चक्रपाणि, वही) ।

3 डल्हण ने 'कलल' की व्याख्या 'सिङ्घानप्रख्यम्' की है ।

4 'पेशी' और 'अर्बुद' शब्दों के अर्थ के बारे में डल्हण और गयी में मतभेद है । अतः गयी कहते हैं कि 'पेशी' का अर्थ चतुष्कोणीय (चतुरस्र) है और 'अर्बुद' का अर्थ सेमल पेड़ की कली का आकार (शाल्मलीमुकुलाकारम्) है ।

सातवें में अंग-प्रत्यंगों का विभाग पूर्ण हो जाता है, अष्टम मास में ओज (ओजस्) अस्थिर रहता है और इस हेतु, यदि कोई सन्तान इस समय उत्पन्न होती है तो अल्पायु होती है ।[1]

विभिन्न भूतों द्वारा शरीर-निर्माण में दिए गए योगदान का वर्णन करते हुए चरक का कथन है कि आकाश तत्त्व से शब्द, श्रवण, लाघव, सौक्ष्म्य और रंध्रयमता (विरेक) निर्मित होते हैं, वायु से स्पर्श, स्पर्शनेन्द्रिय, रूक्षता, प्रेरणा-शक्ति, धातुओं की रचना (धातुव्यूहनम्) और शारीरिक चेष्टा का निर्माण होता है; अग्नि से रूप चक्षु, पाचन, ऊष्णता इत्यादि; जल से रस, रसना, शीतता, मार्दव, चिकनापन और गीलापन; पृथ्वी से गंध, घ्राणेन्द्रिय, भारीपन, स्थिरता और कठोरता । इस प्रकार विभिन्न भूतों से निर्मित शरीर के भाग उन तत्त्वों की प्राप्ति से उत्पन्न और विकसित होते हैं, जिनसे वे तत्त्व उत्पन्न हुए हैं ।[2] जिस प्रकार सारा संसार पाँच भूतों से बना है उसी प्रकार मानव शरीर भी पाँच भूतों से बना हुआ है ।[3] चरक का मत है कि जन्म से पूर्व उत्पन्न इन्द्रियाँ और शरीर के अन्य सब अंग तीसरे मास में युगपत् रूप से प्रकट होते हैं ।[4] जब तीसरे मास में ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है, तब हृदय में भावों और इच्छाओं का प्रादुर्भाव होता है । चतुर्थ मास में गर्भ दृढ़ हो जाता है, पंचम में उसे अधिक मांस और रुधिर मिलता है, छठे में बल और वर्ण का अधिकतर विकास होता है, सप्तम मास में यह अपने सारे अंगों सहित सम्पूर्ण हो जाता है, अष्टम मास में माता और गर्भ के बीच ओज का निरन्तर आदान-प्रदान होता है । गर्भ के अभी तक पूर्ण विकसित न होने के कारण, ओज माता से गर्भ में जाता है, परन्तु क्योंकि गर्भ इसे रोक सकने में समर्थ नहीं होता है, इसलिए यह माता को लौट जाता है ।[5] इस पर टीका करते हुए चक्रपाणि का कहना है कि ऐसा आदान-प्रदान केवल इसलिए सम्भव है कि गर्भ इस समय तक अविकसित होता है, और माता के साहचर्य के

---

1 सुश्रुत संहिता 3. 3. 30 ।

2 चरक संहिता 4. 4. 12 ।

3 एवमयं लोकसम्मितः पुरुषः-यावन्तो हि लोके भावविशेषास्तावन्तः पुरुषे, यावन्तः पुरुषे तावन्तो लोके (चरक संहिता 4. 4. 13) । वही 4. 3. में यह कहा गया है कि गर्भ अपने त्वचा, रक्त, मांस, मेद, नाभि, हृदय, क्लोम, प्लीहा, यकृत, वृक्क, वस्ति, मलाशय, आमाशय, पक्वाराम और उत्तरगुदा और अधोगुदा माता से प्राप्त करता है और अपने केश, दाढ़ी, नख, दांत, अस्थियाँ, नाड़ियाँ और शुक्र पिता से, परन्तु जैसा भी यह हो, यह निश्चित है कि इन सब अवयवों का विकास वास्तव में पंचमहाभूतों के एकीकरण के कारण होता है । इसलिए मानव-गर्भ की वृद्धि संसार में अन्य वस्तुओं की वृद्धि के समान ही महाभूतों की वृद्धि के कारण होती है ।

4 वही 4. 4. 14 ।

5 मातुरोजो गर्भं गच्छतीति यदुच्यते तद् गर्भौज एवं मातृसम्बद्धं सत् मात्रोज इति व्युपदिश्यते, चक्रपाणि 4. 4. 24 ।
गर्भ के विभिन्न अंगों के प्रकट होने के क्रम के विषय में बहुत मत-वैभिन्य है ।

कारण गर्भ माता के ओज का कार्य भी सम्पादित करता है, क्योंकि यदि माता में से ओज पूर्ण रूप से निकल जाय तो वह जीवित नहीं रह सकती।

गर्भ के विभिन्न अंगों के प्रकट होने के क्रम के विषय में बहुत मत-वैभिन्य है। चरक और सुश्रुत ने विवादरत आचार्यों की दो भिन्न-भिन्न शाखाओं का वर्णन किया है। इस प्रकार कुमारशिरा और शौनक के अनुसार शिर प्रथम प्रकट होता है क्योंकि यह इन्द्रियों का स्थान है; बाल्ह्रीक वैद्य कांकायन और कृतवीर्य के अनुसार हृदय का आविर्भाव पहले होता है क्योंकि कृतवीर्य के अनुसार (जैसा सुश्रुत में वर्णित है) हृदय चेतना, बुद्धि और मन का अधिष्ठान है। भद्रकाप्य के अनुसार (जैसा चरक ने वर्णन किया है) नाभि प्रथम उत्पन्न होती है क्योंकि इसी स्थान पर भोजन संचित होता है और पाराशर के अनुसार (जैसा सुश्रुत में उल्लेख है) क्योंकि सम्पूर्ण शरीर यहाँ से उत्पन्न होता है। भद्रशौनक के अनुसार (जैसा चरक ने उल्लेख किया है) क्षुद्रान्त्र और पक्वाशय सर्वप्रथम आविर्भूत होते हैं क्योंकि यह वायु का अधिष्ठान (मरुताधिष्ठानत्वात्) है; बडिश के अनुसार (जैसा चरक द्वारा उल्लेख किया गया है) हाथ और पैर पहले निकलते हैं क्योंकि यही मुख्य अवयव हैं और मार्कंण्डेय के अनुसार (जैसा सुश्रुत ने वर्णन किया है) क्योंकि वे सब चेष्टाओं के मुख्य मूल हैं (तन्मूलत्वाच्चेष्टायाः); विदेह जनक के अनुसार (जैसाकि चरक द्वारा उल्लेख हैं) इन्द्रियां प्रथम प्रकट होती हैं क्योंकि वे बुद्धि का अधिष्ठान (बुद्ध्यधिष्ठान) हैं, मरीचि के अनुसार (जैसा चरक का उल्लेख है) यह कहना सम्भव नहीं कि शरीर का कौन-सा भाग पहले विकसित होता है क्योंकि यह किसी के द्वारा देखा नहीं जा सकता (परोक्षत्वाद-चिन्त्यम्); सुभूति गौतम के अनुसार (जैसा सुश्रुत ने वर्णन किया है) शरीर का मध्य भाग (मध्य शरीर) पहले प्रकट होता है, क्योंकि शरीर के अन्य भागों का विकास इस पर आश्रित है (तद्विबद्धत्वात्सर्वगात्रसम्भवस्य); धन्वन्तरि के अनुसार (जैसा चरक और सुश्रुत दोनों का वर्णन है) शरीर के सारे भाग एकसाथ विकसित होने लगते हैं (युगपत्सर्वांगभिनिर्वृत्तिः) यद्यपि उनकी सूक्ष्मता और अस्पष्टता के कारण ऐसा विकास बढ़ते हुए बाँस के अंकुर अथवा आम के फल के समान सम्यक् प्रकार से देखा नहीं जा सकता (गर्भस्य सूक्ष्मत्वान्नो-पलभ्यन्ते वंशांकुरवच्चूतफलवच्च)।[1] जिस प्रकार कच्चे आम की प्रारम्भिक अवस्थाओं में गूदा और गुठली अविभक्त होते हैं और वे जब आम पक जाता है तो स्पष्ट रूप से विकसित और विभक्त हो जाते हैं, ठीक वैसे ही, मानव गर्भ जब विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में ही होता है,तो इसके सारे अविभक्त भाग वहाँ एकसाथ बढ़ते रहते हैं,यद्यपि अपनी संरचना और वृद्धि की सूक्ष्मता के कारण उनको उस समय पहचाना नहीं जा सकता।

गर्भवृद्धि की प्रारम्भिक प्रक्रिया का उल्लेख करते हुए सुश्रुत का कथन है कि जब शुक्र और शोणित ऊष्मा के द्वारा रासायनिक परिवर्तन को प्राप्त होते हैं, तो दूध पर बनी मलाई की परतों के समान (सन्तानिका) त्वचा की सात भिन्न-भिन्न परतें (कला) क्रमशः उत्पन्न होती हैं। प्रथम परत जो धान्य के अठारहवें भाग के बराबर मोटी होती है 'अवभाषिणी' कहलाती है, धान्य के षोडशांश के बराबर मोटी दूसरी कला 'लोहिता'

---

1 सुश्रुत संहिता 3. 3. 32 और चरक संहिता 4. 6. 21।

धान्य के द्वादशांश के तुल्य मोटी तीसरी 'श्वेता', अष्टमांशतुल्य चौथी 'ताम्रा' पंचम, पंचमांश-तुल्य 'वेदिनी'; धान्य के आकार-तुल्य छठी 'रोहिणी' और सातवीं दो धान्यों के आकार के तुल्य, 'मांसधरा' कहलाती है। त्वचा की ये सातों कलाएँ लगभग छः धान्यों के बराबर या अनुमानतः एक इन्च होती है। यह कथन शरीर के उन्हीं स्थानों पर लागू होता है जहाँ मांस होता है। त्वचा की इन सात कलाओं के अतिरिक्त विभिन्न धातुओं के बीच में भी सात कलाएँ होती हैं। 'धातु' (धातु 'धा' 'धारण करना' से व्युत्पन्न) वह है जो शरीर को धारण करता है, यथा, रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र और अन्त में ओज। कफ, पित्त और पुरीष को भी धातु मानना होगा। परन्तु ये कलाएँ दृश्य नहीं हैं, उनके अस्तित्व का इस तथ्य से अनुमान लगाया जाता है कि विभिन्न धातुओं के अपने पृथक् स्थान अवश्य निर्धारित होंगे और कलाओं को एक धातु की परत को दूसरी से विभक्त करने वाला माना गया है और वे कफ और स्नायुओं से आवृत हैं।[1] 'मांसधरा' संज्ञक प्रथम कला में मांस की नाड़ियाँ, स्नायु इत्यादि पाई जाती हैं, द्वितीय, रक्तधरा, में मांस के अन्तर्भाग में रक्त पाया जाता है, मेदोधरा नामक तीसरी में मेद होता है जो उदर और अण्वस्थियों के बीच में पाया जाता है।[2] चतुर्थ कला श्लेष्मधरा है जो संधियों में विद्यमान है, पंचम 'पुरीषधरा' है जो पक्वाशय में विद्यमान है और मल पृथक् करती है, छठी और सातवीं 'पित्तधरा' और 'शुक्रधरा' हैं।

सुश्रुत का विचार है कि यकृत् और प्लीहा शोणित से उत्पन्न होते हैं फुप्फुस (फेफड़े) रक्तफेन से और 'उण्डुक' (मलाशय में एक ग्रन्थि) रक्त के मल (शोणित-किट्टप्रभव) से उत्पन्न होता है। रक्त के श्रेष्ठ भाग (प्रसाद) और कफ पर पित्त की क्रिया होती है और वायु उसका अनुधावन करता है; इस प्रक्रिया से आँतें, गुदा और वस्ति उत्पन्न होते हैं; और जब उदर में पाचन प्रक्रिया होती है तो कफ, रक्त और मांस के सार के रूप में जिह्वा की उत्पत्ति होती है। वायु ऊष्मा से युक्त होकर मांस में प्रविष्ट होता है और स्रोतों को बदल देता है, पेशियाँ विभक्त हो जाती हैं, और मेद के स्नेह भाग से वायु-शिराओं स्नायुओं को उत्पन्न करता है। रक्त और मेद के प्रसाद से गुर्दे (वृक्क) उत्पन्न होते हैं; मांस, रक्त, कफ और मेद के सारभूत अंश से अण्डकोष और रक्त एवं कफ के सार से हृदय बनता है जो प्राणवहा धमनियों का आश्रय है। हृदय के नीचे की ओर बाएँ तरफ प्लीहा और फुप्फुस हैं और दाएँ ओर यकृत और क्लोम (दक्षिणी फेफड़ा) और यह विशेष रूप से चेतना का स्थान है। निद्रा के समय जब हृदय तमोभूयिष्ठ श्लेष्मा से छन्न हो जाता है, तो वह संकुचित हो जाता है।

---

1 वृद्ध वाग्भट द्वारा 'कला' की परिभाषा इस प्रकार की गई है। 'यस्तु ध्वात्वाशया-न्तरेषु क्लेदोऽवतिष्ठते यथास्वमुष्मभिर्विपक्वः स्नायुश्लेष्मजरायुच्छन्नः काष्ठ इव सारो धातुसारशेषोऽल्पत्वात् कलासंज्ञः (अष्टांगसंग्रह, शारीर 5)।

2 क्षुद्र अस्थियों के अन्दर की चर्बी 'मद' कहलाती है, जब स्थूल अस्थियों के अन्दर की चर्बी 'मज्जा' कहलाती है और शुद्ध मांस की चर्बी 'वसा' कहलाती है।

गर्भ माता के रस के कारण और गर्भ-शरीर के वायुज फुलाव के कारण भी बढ़ता है।[1] शरीर की नाभि ज्योतिः स्थान है और वायु यहाँ से प्रारम्भ होकर शरीर को फुलाता रहता है।

यह ध्यान रखना चाहिए कि गर्भ संयुक्त रूप में कार्य करने वाले अनेक कारणों का फल है। जन्म के समय किसी अंग विशेष में विकार उन कार्यकारी कारणों में से एक या अधिक के उस अंग के विकार के कारण होता है जिनके प्रभाव के कारण वह अंग विशेष उत्पन्न हुआ था। जो अवयव या अंग पूर्णतः अस्तित्वहीन थे उनके गर्भवृद्धि का कारण होने का प्रश्न नहीं है; वे अवयव या अंग संभाव्य रूप में संयुक्त रूप से कार्य करने वाले कारणों में पहले से ही विद्यमान थे। संयुक्त कारणों ने कोई पूर्णतः नई वस्तु उत्पन्न नहीं की, परन्तु उनके संयुक्त कार्य में उस सब को वास्तविक रूप प्रदान करने में सहायता की जो उनमें पहले ही से अन्तर्निहित थी। सारे संयुक्त कारणों में से आत्मा शरीर के सारे विकारों में निर्विकार रहता है। सुःखःदुःख के अथवा आत्मा के कारण माने जाने वाले अन्य गुणों के विकार वास्तव में या तो सत्त्व अथवा मन के कारण है या शरीर के कारण।[2] इस पर टीका करते हुए चक्रपाणि का कथन है कि किसी आत्मा के इस या उस जन्तु के रूप में जन्म ग्रहण करने का यह अर्थ नहीं है कि आत्मा विकारी है (परमात्मविकारा न भवन्तिः) क्योंकि ऐसा विकार सत्त्व, रजस् अथवा तमस् की अत्यधिक प्रबलता के कारण होता है; वास्तव में तत्त्व, रजस्, और तमस् धर्म और अधर्म के कारण होते हैं और धर्म और अधर्म केवल मन के गुण हैं (सत्त्वरजस्तमः प्रबलतारूपविकारज-मनोजन्यधर्माधर्मजन्यान्येव)।[3]

शरीर के वात, पित्त और श्लेष्मा तीन दोष होते हैं और रजस् और तमस् मन (सत्त्व) को प्रभावित करने वाले दो दोष हैं। पहले तीन दोषों के वैषम्य से शरीर रुग्ण होता है, और दूसरे दो के विषम होने से मन प्रभावित होता है। इनका अधिक विस्तार से विवेचन बाद में किया जाएगा।

वृद्धि और व्याधियाँ

वायु, पित्त और कफ, इन तीन तत्त्वों को धातु और दोष दोनों ही माना गया है। 'धातु' वे तत्त्व हैं जो शरीर को धारण करते हैं। शरीर पाँच भूतों के विकारों का समुदाय है और यह उस समय तक उचित ढंग से काम करता रहता है जबतक कि ये पाँच भूत शरीर में उचित अनुपात (समयोग-वाहिन्) में हों।[4] शरीर को धारण करने में परस्पर सहयोग करने वाले पाँच भूतों के ये विकार धातु कहलाते हैं। जब

---

1 सुश्रुत संहिता 3.4.57।

2 निर्विकारः परस्त्वात्मा सर्वभूतानां निर्विशेषसत्त्वशरीरयोस्तु विशेषाद् विशेषोपलब्धिः —चरक संहिता 4.4.34।

3 चक्रपाणि की चरक 4.4 पर टीका।

4 चरक संहिता 4.6.4। चक्रपाणि 'समयोगवाहिन्' शब्द पर टीका करते हुए 'सम' की व्याख्या 'उचितप्रमाण' अर्थ में करते हैं।

एक या अधिक धातु उचित मात्रा से न्यून अथवा अधिक (धातु-वैषम्य) हो जाते हैं, तो एक अथवा अधिक धातुओं की आंशिक रूप से अथवा पूर्ण रूप से (अकात्स्न्येन प्रकृत्या वा) अधिकता अथवा न्यूनता हो सकती है। जैसी चक्रपाणि ने व्याख्या की है, यह द्रष्टव्य है कि धातुओं की प्रत्येक प्रकार की अधिकता अथवा न्यूनता धातु-वैषम्य अथवा धातु-संतुलन में गड़बड़ उत्पन्न नहीं करती; धातु-वैषम्य केवल तब ही कहलाता है, जब ऐसी न्यूनता अथवा अधिकता शारीरिक क्लेश उत्पन्न करती है। न्यूनता अथवा अधिकता की जो मात्रा शारीरिक क्लेश उत्पन्न नहीं करती है, उसे धातु का प्राकृत-मान कहते हैं।[1] अवश्य, यह स्पष्ट है कि 'प्राकृतमान' और 'धातु-वैषम्य' की इस परिभाषा में चक्रक दोष निहित है, क्योंकि धातुओं का प्राकृतमान उसे कहा गया है जो शारीरिक क्लेश न होने की अवस्था में विद्यमान हो और धातुवैषम्य वह है जो उस समय विद्यमान होता है जब शारीरिक क्लेश होता है, अतः शरीर के क्लेश का लक्षण धातुवैषम्य' के अर्थ में होना चाहिए। इस आरोप से मुक्ति का एकमात्र उपाय यह है कि 'धातुवैषम्य' और रोग पर्याय-वाची हैं, और धातुओं का प्राकृतमान आरोग्य का समानार्थक है। जब धातु प्राकृतमान में होते हैं तो स्थानीय प्रकार को छोड़कर कोई भी वैषम्य नहीं हो सकता; उदाहरण के रूप में, जबकि अपने सममान में अवस्थित पित्त किसी प्रकार से वायु द्वारा शरीर के एक भाग में लाया जाता है और परिणामतः स्थानीय अधिकता हो जाती है। जिस किसी चीज से किसी धातु-विशेष की प्रबलता होती है उसी से स्वतः उस धातु की विपरीत धातु का क्षय भी होता है। किसी शारीरिक धातुविशेष के सदृश गुण-स्वभाव वाले पदार्थ उस धातु की वृद्धि करते हैं और असदृश गुण-स्वभाव वाले पदार्थ उस धातु का क्षय करते हैं (सामान्यमेकत्वकरं विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्)।[2] मनुष्य का सामान्य आरोग्य धातुसाम्य का केवल दूसरा नाम है। कोई व्यक्ति अस्वस्थ अथवा धातु-वैषम्य की अवस्था में तब कहा जाता है जब रोगों (विकारों) के लक्षण दृष्टिगत होते हैं। धातु की उचित मात्रा के अल्प परिवर्तन को हम धातुवैषम्य का उदाहरण तबतक नहीं कह सकते जबतक कि उसके विकार अर्थात् लक्षण बाह्य रूप में व्यक्त न हों। स्वस्थ मनुष्य का दैनिक क्रम ऐसा हो कि धातुसाम्य उचित प्रक र से स्थिर रहे। आयुर्वेद का एकमात्र उद्देश्य ऐसे आहार, औषधि और व्यवहार-क्रम का उपदेश करना है कि यदि उनका उचित पालन किया जाए तो जो मनुष्य सामान्यतः स्वस्थ है वह धातुसाम्य स्थिर रख सके और जो मनुष्य धातुसाम्य खो चुका है वह उसे पुनः प्राप्त कर सके। इस प्रकार आयुर्वेद का उद्देश्य इस बात का उपदेश करना है कि 'धातुसाम्य' कैसे प्राप्त किया जाय (धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्र-स्यास्य प्रयोजनम्)।[3]

यदि कोई सामान्य रूप से स्वस्थ पुरुष अपने आरोग्य को सामान्य स्तर पर स्थिर रखना चाहता है तो उसे विभिन्न रस के पदार्थों का प्रयोग करना चाहिए ताकि उसके

---

1 एतदेव धातूनां प्राकृतमानं यदविकारकारि, चरक संहिता 4.6.4 पर चक्रपाणि की टीका।

2 चरक संहिता 1.1.44।

3 वही, 1.1.52।

शरीर में किसी धातुविशेष की अधिकता न हो। इन्द्रिय-विषय, शीत-ऊष्ण के देशकालीय गुण और बुद्धि, इनके अतियोग, अयोग अथवा मिथ्यायोग के कारण व्याधियाँ उत्पन्न होती है।[1] इस प्रकार तीक्ष्णप्रकाशयुक्त वस्तुओं का दर्शन, तडित् गर्जन जैसे जोरदार शब्दों का श्रवण, अधिक शक्तिशाली गंधों का सूंघना, अत्यधिक आहार करता, अत्यधिकशीत अथवा ऊष्मा का स्पर्श अथवा अत्यधिक स्नान या मालिश करना अतियोग अर्थात् विषयों के साथ अत्यधिक सम्बन्ध के उदाहरण हैं। दर्शन, श्रवण, घ्राण, आस्वादन अथवा स्पर्श का बिलकुल न करना 'अयोग' अर्थात् इन्द्रिय विषयों से अल्प सम्बन्ध रखना होगा। आँख के अत्यन्त निकट-वा अतिदूर पदार्थ का देखना, अथवा भयंकर, अद्‌भुत, अप्रिय और वीभत्स दृश्यों का देखना 'चक्षुः' इन्द्रिय के अनुचित प्रयोग (मिथ्यायोग) के उदाहरण हैं। घरघराहट और अप्रिय ध्वनियों का सुनना 'श्रवण' के मिथ्यायोग के उदाहरण हैं, बुरी और अरुचिकर गंधों को सूँघना नासिका के मिथ्यायोग के उदाहरण होंगे। विभिन्न प्रकार के ऐसे पदार्थों का साथ-साथ खाना, जो अपने संश्लिष्ट रूप में ऐसे परस्पर विरोधी है कि वे अस्वास्थ्यकर हों, जिह्वा के मिथ्यायोग के उदाहरण हैं; एकाएक सर्दी अथवा गर्मी के सामने आना त्वचा के मिथ्यायोग के उदाहरण हैं।[2] इसी प्रकार से वाक्, मन और शरीर के सब व्यापार जब अतिरूप में किए जाएँ, या बिल्कुल न किए जाएँ अथवा अवांछनीय या अहितकर ढंग से किए जाएं तो उनको वाक्, मन और शरीर की प्रवृत्तियों के (वाङ्मनः शरीरप्रवृत्ति) क्रमशः अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग के उदाहरण मानने चाहिएं।[3] परन्तु ये सब बुद्धि के गलत प्रयोग (प्रज्ञापराध) के कारण होते हैं। जब कोई ऋतु विशेष अपने शीत, ऊष्ण और वर्षा के लक्षणों की अतिमात्रा में, अत्यल्प मात्रा में अथवा अत्यन्त अनियमित अथवा अस्वाभाविक मात्रा में प्रकट करे जो हमें काल के अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग उपलब्ध होते हैं।[4] परन्तु बुद्धि का दुष्प्रयोग अथवा प्रज्ञापराध ही इन्द्रिय विषयों के सारे अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग के मूल में हैं,[5] क्योंकि जब उचित पदार्थ उचित काल में नहीं ग्रहण किए जाएँ या उचित बातें उचित समय में नहीं की जाती हैं तो यह सब बुद्धि का दुष्प्रयोग ही है और इसलिए इसे प्रज्ञापराध में सम्मिलित किया गया है। जब कोई

---

1 कालबुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च ॥
द्वयाश्रयाणां व्याधीनां त्रिविधो हेतुसंग्रहः ॥ वही 1.1.53।

2 चरक संहिता 1.11.37।

3 वही, 1 1।.39,40। चक्रपाणि का कथन है कि इसमें रोग और दुःखों के उत्पादक पाप कर्म भी सम्मिलित है 'शारीरमानसिकवाचनिककर्ममिथ्यायोगेनैवाधर्मोत्पादावान्तरव्यापारेणैवाधर्मजन्यानां विकाराणां क्रियमानत्वात्।

4 केवल तीन ऋतुओं का ही वर्णन है। शीतोष्णवर्षलक्षणाः पुनर्हेमन्तग्रीष्मवर्षाः। वही 1.11.42 :

5 इस प्रकार, इस पर टीका करते हुए चक्रपाणि का कथन है 'बुद्धध्यपराधस्यैव इन्द्रियार्थातियोगादिहेतुत्वात्'। वही, 1.1.53।

अधर्माचरण प्रज्ञापराध से किया जाता है और केवल एक निश्चित समय के व्यत्यय के पश्चात् प्रभावशाली होने वाले उन कर्मों से संसृष्ट अधर्म के द्वारा रोग उत्पन्न होता है तो रोग का वास्तविक कारण अधर्म' अथवा उसका मूल कारण 'प्रज्ञापराध' ही है, फिर भी 'काल' को भी कुछ अर्थों में कारण माना जा सकता है, जिसके कारण अधर्म परिपक्व होता है और फलकारी हो जाता है।

वृद्धि और क्षय का सिद्धान्त इस निदेश में अन्तर्निहित है कि शरीर के विभिन्न धातुओं की वृद्धि तब होती है जब समान धातु-गुणों वाले भोज्य पदार्थों का सेवन किया जाता है और जब उनसे असदृश गुणों वाले भोज्य पदार्थों का सेवन किया जाता है तो उनका ह्रास होता है (एवमेव सर्वधातुगुणानां सामान्ययोगाद् वृद्धिविपर्ययाद्ह्रासः)।[1] इस प्रकार, मांस खाने से मांस-वृद्धि होती है, इसी प्रकार रक्त से रक्त बढ़ता है, भेद से भेद, नवास्थियों से अस्थियाँ, मज्जा से मज्जा, शुक्र से शुक्र और अण्डों से गर्भ।[2] परन्तु यह सिद्धान्त न केवल उपर्युक्त उदाहरणों के सदृश पदार्थों पर ही लागू होता है अपितु अधिकांश में सदृश गुण वाले पदार्थों पर भी वैसे ही लागू होता है जैसेकि शुक्र की वृद्धि दूध और मक्खन के प्रयोग से होती है (समानगुणभूयिष्ठानामन्यप्रकृतीनामप्याहारविकाराणामुपयोगः)।[3] वृद्धि का उचित काल, प्रकृति, योग्य आहार और वृद्धि-अवरोधक परिस्थितियों का अभाव, वृद्धि की ये सामान्य अवस्थाएँ सदा ही लागू होती हैं। भोजन का पाचन जठराग्नि द्वारा, जठराग्नि के कार्य के लिए सब वस्तुओं को एकत्रित करने वाले वायु द्वारा, शिथिलताकारक जल द्वारा, मृदुताकारी भेद द्वारा और पाचन-प्रक्रिया में सहायक काल द्वारा किया जाता है।[4] ज्यों ही कोई अन्न पक्व और विकृत हो जाता है, तभी वह शरीर में विलीन हो जाता है। अन्न के घन भाग से शरीर के कठोर भागों का निर्माण होता है और तरल भाग तरल भागों का निर्माण करते हैं जैसे रक्त इत्यादि, और अहितकर आहार अर्थात् शरीर के प्रकृति-विरुद्ध गुणों वाले भोजन का शरीर पर विघटनकारी प्रभाव होता है।

जहाँ तक अन्न-रस के सार से शरीर की वृद्धि का प्रश्न है, चक्रपाणि (1.28.9) द्वारा विभिन्न मतों का सार रूप में वर्णन किया गया है। कुछ का कथन है कि रस रक्त का रूप ग्रहण करता है, और रक्त मांस का, इत्यादि। जहाँ तक इस रूप-परिवर्तन की विधि का प्रश्न है, कुछ का कथन है कि जैसे सारा दूध दही में रूपान्तरित हो जाता है वैसे ही सारा रस रक्त में रूपान्तरित हो जाता है, जबकि कुछ का कथन है कि यह रूपान्तर कुछ-कुछ सिंचाई के संचार (केदरी कुल्यान्याय) के समान होता है। पाचन-क्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न रस धातुरूप रस के संसर्ग में आकर, धातुरूप रस की कुछ मात्रा तक वृद्धि करता है; रस का अन्य भाग जिसके रंग और गंध रक्त के समान ही होते हैं, रक्त से

---

1 चरक संहिता 1.1.43 और 44 और 4.6.9 भी, और विशेषतः 4.6.10।

2 वही 4.6.10। चक्रपाणि ने 'आमगर्भ' की व्याख्या 'अण्ड' की है।

3 वही 4.6.11।

4 वही 4.6.14 और 15।

मिल जाता है और उसकी वृद्धि करता है, और वही प्रक्रिया भेद इत्यादि की वृद्धि के विषय में होती है। यहाँ सम्पूर्ण संचार-क्रम सारे रस के रस-धातु में प्रवेश करने से प्रारम्भ होता है; संचरण करते समय कुछ भाग रस में रह जाता है और उसकी वृद्धि करता है, अविलीन भाग रक्त में चला जाता है, और वहाँ जो भाग अविलीन रहता है वह मांस में चला जाता है, और इसी प्रकार वह अस्थि, मज्जा और शुक्र के उत्तरोत्तर धातुओं को जाता है।[1] परन्तु अन्यों का विचार है कि जिस प्रकार खलिहान में विभिन्न वर्णों के कपोत साथ-साथ बैठते हैं (खले कपोतन्याय), उसी प्रकार सारा पक्व अन्न-रस रसधातु के मार्गों से विचलित नहीं होता, अपितु प्रथमावस्था से ही इसके विभिन्न भाग विभिन्न मार्गों द्वारा विचरण करते हैं। इसका जो भाग रस को पुष्ट करता है वह उसके संचार मार्ग में चला जाता है, जो भाग रक्त को पुष्ट करता है वह सीधा रक्त में चला जाता है, इत्यादि। परन्तु प्रायः यह काल-सीमा भी है कि जो भाग रक्तपोषक है वह रक्त में तभी प्रविष्ट होता है जबकि जो भाग रसधातु का पोषक है वह उसमें विलीन हो गया हो, इसी प्रकार पुनः जो भाग मांस में प्रविष्ट होता है वह वैसा तभी कर सकता है जबकि रक्तपोषक भाग रक्त में विलीन हो गया हो। इस प्रकार प्रारम्भ से ही संचार-व्यवस्था भिन्न-भिन्न है, और फिर भी रक्त का पोषण रस के पोषण के कुछ देर बाद होता है, मांस का पोषण रक्त के पोषण के कुछ काल पश्चात् इत्यादि (रसाद् रक्तं ततो मांसमित्या-देरयमर्थः यद् रसपुष्टिकालादुत्तरकालं रक्तं जायते इत्यादि)। अन्तिम मत के मानने वालों का कथन है कि दूसरा सिद्धान्त सम्यक् रूप से यह स्पष्ट नहीं कर सकता कि दुग्ध आदि पोषक आहार (वृष्य) 'शुक्र' की वृद्धि एकदम कैसे कर सकते हैं और यदि उसे सारे संचार से होकर विचरण की लम्बी प्रक्रिया करनी पड़े तो यह अपना काम इतनी जल्दी पूरा नहीं कर सकता, परन्तु दूसरे सिद्धान्त के आधार पर, दूध अपने विशेष प्रभाव के कारण एकदम शुक्र के संसर्ग में आ सकता है और उसकी वृद्धि कर सकता है।[2] परन्तु चक्रपाणि का कथन है कि इससे पूर्व का सिद्धान्त (केदारीकुल्या) भी उतना ही ठीक है जितना कि दूसरा। क्योंकि उस मत के अनुसार भी, यह माना जा सकता है कि दुग्ध के द्वारा उसी

---

1 'धातुरस' और 'पोषक रस' संज्ञक दो रस हैं। देखिए चरक संहिता, 6, 15, 14 और 15 पर चक्रपाणि की टीका।

2 परिणामपक्षे वृष्यप्रयोगस्य रक्तादिरूपापत्तिक्रमेणातिचिरेण शुक्रं भवतीति, क्षीरादयश्च सद्य एववृष्या दृश्यन्ते, खलकपोतपक्षे तु वृष्योत्पन्नो रसः प्रभावाच्छीघ्रमेव शुक्रेण संबद्धः सन् तत्पुष्टिं करोतीति युक्तम् (चक्रपाणि की चरक संहिता 1.28.3 पर टीका)। अन्यत्र (वही 6.15.32) यह कहा गया है कि जो भोज्यपदार्थ शुक्र के वृष्य हैं, कुछ आचार्यों के मत में, वे छः दिन और छः रातों में शुक्र में परिणत हो जाते हैं जबकि सामान्य क्रम में, जैसाकि सुश्रुत ने कहा है, सामान्य भोज्य पदार्थों को शुक्र में रूपान्त-रित होने के लिए एक महीना लग जाता है। परन्तु चरक किसी समय परिसीमन के पक्ष में नहीं है, और उनका कथन है कि जिस प्रकार चक्र की गति उस पर लगाई शक्ति पर निर्भर करती है, उसी प्रकार किसी आहार विशेष का शुक्र अथवा अन्य किसी धातु में परिणत होना आहार की प्रकृति और पाचन शक्ति पर निर्भर करता है।

का विशेष प्रभाव विभिन्न अवस्थाओं में तेजी से विचरित हुआ और शुक्र के साथ मिल गया। न यह कहा जा सकता है कि प्रथम सिद्धान्त के अनुसार, रस के दूषित होने की प्रत्येक दशा (रस-दुष्टि) रक्त के दूषित होने (रक्त दुष्टि) की अवस्था भी है जैसाकि तर्क किया गया है. क्योंकि सम्पूर्ण रस की रक्त में परिणति नहीं होती है. अपितु इसके एक भाग की ही होती है। अतः रस-भाग दूषित हो सकता है, परन्तु तब भी जिस भाग से रक्त बनता है वह शुद्ध हो; इस प्रकार दोनों सिद्धान्त समान रूप से सशक्त हैं और किसी के पक्ष में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। चरक संहिता 6.15.14 और 15 में यह कहा गया है कि रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थियाँ, अस्थियों से मज्जा और मज्जा से शुक्र बनता है। जिन दो सिद्धान्तों का ऊपर उल्लेख किया गया वे उन काल्पनिक विधियों का वर्णन करते हैं जिनमें ऐसा रूपान्तर होता है।

उपर्युक्त सात धातुओं अर्थात् शरीर धारकों के अतिरिक्त, दस उपधातुएँ होती है जिनकी गणना भोज ने इस प्रकार की है – शिरा, स्नायु, गर्भाशय का शोणित और त्वचा के साथ परत।[1] चरक 6.15.15 में कहते हैं कि रस से दुग्ध भी उत्पन्न होता है, दुग्ध से गर्भाशय का शोणित; पुनश्च, महास्नायु अथवा अस्थिबंधन (कुण्डरा) और शिराएँ रक्त से उत्पन्न होती हैं. और मांस से वसा और त्वचा की छः कलाएँ उत्पन्न होती हैं; और मेद से पांच कलाएँ उत्पन्न होती हैं। पित्त की ऊष्मा से रस लाल रंग का हो जाता है। पुनः वायु और अग्नि की रक्त पर क्रिया होने के कारण रक्त स्थिर और श्वेत हो जाता है, और मेद कहलाता है। अस्थियाँ पृथ्वी, अग्नि और वायु का समुदाय है और इसीलिए, यद्यपि वे मांस और मेद से उत्पन्न हैं, फिर भी वे कठोर हैं। वे उनमें से चलने वाली वायु के कारण रन्ध्रमय बन जाती हैं और रन्ध्र 'वसा' संज्ञक भेद से भर जाते हैं। मज्जा के स्नेहमय भागों से फिर शुक्र उत्पन्न होता है। जिस प्रकार नवीन मृद्भाण्ड के रध्रों में से पानी टपकता है, उसी प्रकार शुक्र अस्थियों के रंध्रों से रिसता रहता है और शुक्र का अपने स्रोतों के मार्ग से शरीर में से भी प्रवाह होता है। इच्छाओं और कामज आनन्द उत्तेजित होने से और रति की ऊष्मा से शुक्र बाहर टपकता है और अण्डकोषों में जमा हो जाता है जिनसे वह अन्ततः उपयुक्त मार्ग से मुक्त हो जाता है।[2]

वायु, पित्त और कफ

संक्षेप में शरीर धातु दो प्रकार का होता है; एक वह जो शरीर को गंदा बनाता है—मल, और दूसरा वह जो शरीर को धारण करता है और शुद्ध करता है—प्रसाद। इस प्रकार शरीर के छिद्रों में कई अवांछनीय शरीरजन्य बहिर्मुख पदार्थ एकत्र हो जाते हैं; रक्त जैसे कुछ धातु पीब बन जाते हैं; वायु, पित्त और कफ अपनी प्राकृत मात्रा से न्यून व अधिक (प्रकुपित) हो जाते हैं;और अन्य ऐसे पदार्थ हैं जो शरीर में विद्यमान होकर शरीर को

---

1 चक्रपाणि की चरक संहिता, 6, 15, 14 और 15 पर टीका, भोज का एक उद्धरण ओज को एक उपधातु माना गया है।

2 चरक संहिता, 6, 15, 22-29।

क्षीण अथवा नष्ट करने वाले होते हैं; ये सब 'मल' कहलाते हैं अन्य जो शरीर के धारण करने और वृद्धि करने में सहायक होते हैं वे 'प्रसाद' कहलाते हैं ।[1]

परन्तु वायु पित्त और कफ शरीर के सब प्रकार के विकारों के लिए उत्तरदायी हैं; और इसलिए वे 'दोष' कहलाते हैं । फिर भी यह ध्यान रखना चाहिए कि वायु, पित्त और कफ और अन्य सारे मल जबतक अपना उचित अनुपात (सममान) में रहते हैं तबतक वे शरीर को दूषित अथवा क्षीण नहीं करते अर्थात् व्याधियाँ उत्पन्न नहीं करते । अतः वायु, पित्त और कफ अथवा स्वेद, मूत्र इत्यादि के समान मल भी तब तक 'धातु' कहलाते हैं जबतक कि वे सममान से अधिक नहीं होते और इस प्रकार वे शरीर को क्षीण करने की अपेक्षा धारण करने में सहायक होते हैं । अपने सममान में 'मलधातु' और 'प्रसादधातु' दोनों ही शरीर-धारण करने में परस्पर सहयोग करते हैं ।[2] जब विभिन्न प्रकार के आरोग्य-कारक भोज्य और पेय पदार्थ उदर में पाचक अग्नि के सामने आते हैं तो वे ऊष्मा से पच जाते हैं । पक्व अन्न का सार-भाग रस है, और जो अशुद्ध पदार्थ पीछे रह जाते हैं और शरीर में धातु रूप में विलीन नहीं हो सकते, वे 'किट्ट' अथवा 'मल' कहलाते हैं । इस किट्ट से स्वेद, मूत्र, विष्ठा, वायु, पित्त, श्लेष्मा, और कर्ण, आँख, नाक, मुख तथा शरीर के रोम-कूपों के मैल, केश, दाढ़ी रोम, नख इत्यादि उत्पन्न होते हैं ।[3] आहार के अशुद्ध पदार्थ विष्ठा और मूत्र हैं; रस का कफ, मांस का अवशिष्ट अशुद्ध पदार्थ पित्त, और मेद का अवशिष्ट अशुद्ध पदार्थ स्वेद है ।[4] वायु, पित्त और कफ का यह दृष्टिकोण यह प्रदर्शित करता प्रतीत होता है कि ये स्राव शरीर के अन्य बेकार पदार्थों के समान व्यर्थ पदार्थ (किट्ट) हैं । किट्ट का सिद्धान्त यह है कि जब वे अपने सममान में होते हैं तो शरीर के धारण करने में और उसके महत्त्वपूर्ण कामों को करने में सहायक होते हैं, परन्तु जब वे अपने सममान से अधिक अथवा न्यून हो जाते हैं तो वे शरीर में दोष उत्पन्न कर देते हैं और अन्ततः देहभेद कर देते हैं । परन्तु सब किट्टों में से वायु, पित्त और कफ को मूलरूप से सबसे महत्त्वपूर्ण इकाइयाँ माना गया है, और अपने सममान में परस्पर सहयोग द्वारा वे शरीर के कार्यों को चालू रखते हैं और उनमें से एक, दो या तीनों की वृद्धि या क्षय के कारण सन्तुलन बिगड़ने पर उसका क्षय कर देते हैं ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, शरीर रस और रक्त जैसी कुछ धातुओं से निर्मित है । हम जो अन्न-पान लेते हैं वे धातुओं का पोषण करते हैं । तथापि जो अन्न-पान हम लेते हैं वह सारा शरीर द्वारा आत्मसात् नहीं किया जा सकता, और परिणामस्वरूप कुछ व्यर्थ अवशेष रह जाते हैं ।[5] प्रश्न उठता है कि यह कौनसा पदार्थ हैं जो शरीर को धारण

---

1 वही, 4. 6. 17 ।

2 एवं रसमलौ स्वप्रमाणावस्थितावाश्रयस्य समधातोर्धातुसाम्यमनुवर्तयतः ।
—वही, 1. 28. 3 ।

3 वही 1. 28. 3 ।

4 वही, 6. 15. 30 ।

5 शार्ङ्गधर (4, 5) सात प्रत्यक्ष मलों की गणना करते हैं जो यहां वायु, पित्त, और कफ संज्ञा से उल्लिखित तीन मलों से भिन्न हैं । वे हैं (1) जिह्वा, आँख और कपोलों

करता है अथवा उसका क्षय करता है ? यह पहले ही देखा जा चुका है कि धातुओं का सममान ही शरीर के आरोग्य का निर्माण करता है । तथापि जैसाकि आसानी से देखा जा सकता है, यह सममान अन्नपान को इस प्रकार से आत्मसात् करने पर निर्भर है कि प्रत्येक धातु को उसका उचित, न अधिक न कम, अंश प्राप्त हो । यह भी आवश्यक है कि क्षय और वृद्धि के कारणों का उचित रूप में कार्य हो, जो इस प्रकार काम करे कि स्वयं धातुओं और सारे शरीर की दृष्टि से धातुओं को सममान में रखने के लिए सहायक हो । अतः मल की न्यूनता अथवा अधिकता धातुवैषम्य के आवश्यक सहयोगी हैं, इस हेतु मल की न्यूनता या अधिकता सारे धातुवैषम्य का कारण मानी जाती है । जबतक मलों की अधिकता अथवा न्यूनता नहीं होती तबतक वे शरीर के मुख्य व्यापारों के आधारभूतकारक हैं और इसलिए उन्हें 'धातु' माना जा सकता है । जब इनमें से एक या अधिक की अधिकता अथवा न्यूनता होती है तभी वे शरीर की उस व्यापार की सामान्य प्रक्रिया में विभिन्न प्रकारों से बाधक होते हैं और उन्हें दोष अथवा दूषित करने वाले कारण मानना चाहिए । शरीर के कई प्रकार के किट्ट हैं; परन्तु इन सब में वायु, पित्त और कफ शरीर की सारी वृद्धि अथवा क्षय, आरोग्य अथवा रोग का मूल होने के कारण सबसे महत्त्वपूर्ण तीन किट्ट माने जाते हैं । इस प्रकार पांच ऋषियों की सभा के पांडित्यपूर्ण संभाषण में काप्यवच की उक्ति के उत्तर में आत्रेय कहते हैं 'एक अर्थ में तुमने सब ठीक कहा है, परन्तु तुम्हारे निर्णयों में से कोई भी निरपेक्ष सत्य नहीं है । जैसे यह आवश्यक है कि धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पर समान रूप से ध्यान देना चाहिए अथवा जिस प्रकार शीत, ग्रीष्म और वर्षा ये तीनों ऋतुएँ एक निश्चित क्रम में आती हैं, उसी प्रकार जब वात, पित्त और कफ अथवा श्लेष्मा ये तीनों अपने प्राकृतसाम्य में होते हैं तो वे इन्द्रियों की क्षमता, बल, रंग और शरीर के आरोग्य में योगदान करते हैं और मनुष्य को दीर्घायुष्य से युक्त करते हैं । परन्तु जब वे वैषम्य को प्राप्त होते हैं, तो वे विपरीत परिणाम उत्पन्न करते हैं और अन्ततः सारे शरीर के सम्पूर्ण साम्य को तोड़ देते हैं और उसका क्षय कर देते हैं ।[1] एक महत्त्वपूर्ण बात की ओर पाठक का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करना आवश्यक है । मैंने 'मल' का अनुवाद कभी 'दोषकारी कारण' अथवा 'अशुद्धि' और कभी 'व्यर्थ के अवशिष्ट पदार्थ' किया है, और स्वभावतः इसके कारण भ्रम उत्पन्न हो सकता है । 'मल' शब्द का सम्बन्ध रोगों के उत्पन्न करने से है ।[2] 'किट्ट' का अर्थ 'व्यर्थ के अवशिष्ट पदार्थ' अथवा 'स्राव' है और ये जब ऐसे मान में हों कि उनके कारण रोग हों तो उन्हें 'मल' कहा जा सकता है । परन्तु जब मल ऐसे मान में हो कि उससे कोई रोग उत्पन्न न हो, तो यह वास्तव में मल नहीं होता है अपितु 'मल-

---

के जलमय स्राव, (2) रंजक पित्त, (3) कान, जिह्वा, दाँत, बगल और उपस्थ का मैल, (4) नख, (5) आँखों का मैल, (6) मुख का चिकना प्रतीत होना, (7) यौवन में निकलने वाले मुहासे और दाढ़ी । इस पर टीका करते हुए राधामल्ल शार्ङ्गधर के उपर्युक्त अंश के पक्ष में चरक संहिता, 6. 15. 29–30 का उल्लेख करते हैं । मलों में से अधिकांश छिद्र-मल अर्थात् रोगों के छिद्रों का मैल है ।

1 चरक संहिता, 1. 12. 13 ।

2 तत्र मलभूतास्ते ये शरीरस्य बाधकराःस्युः, —चरक संहिता, 4. 6. 17 ।

धातु' होता है (निर्बाधिकरान्मलादीन् प्रसादे संचक्ष्महे) ।[1] चरक के जिस अन्यस्थल (1.2.3) का उल्लेख किया जा चुका है, उसमें यह कहा जा चुका है कि पक्व अन्न और पान में से 'रस' और 'मल' संज्ञक 'किट्ट' (स्राव) उत्पन्न होते हैं (तत्राहारप्रसादाख्यरसः किट्टं च मलाख्यमभिनिर्वर्तते) और इस किट्ट से स्वेद, मूत्र, विष्ठा, 'वायु', 'पित्त' और श्लेष्मा उत्पन्न होते हैं। चूँकि अन्य धातुओं, रस, अथवा रक्त आदि, के समान मल भी जबतक अपने सममान में और संतुलन में रहते हैं तो शरीर धारण करते हैं, इसलिए वे भी धातु हैं (ते सर्व एव धातवो मलाख्याः प्रसादाख्याश्च) ।[2] तथापि इस विषय में वाग्भट्ट का दृष्टिकोण भिन्न है। वह दोष, धातु और मल को पृथक्-पृथक् मानते हैं और उन्हें शरीर का मूल बताते हैं। इस प्रकार वे कहते हैं कि वायु शरीर को धारण करता है जो उत्साह, उच्छ्वास, निःश्वास, शारीरिक एवं मानसिक चेष्टा, वेगप्रवर्तन का उत्पादक है। पित्त पाचन क्रिया, अग्नि, दृष्टि, मेधा, बुद्धि, शौर्य, शारीरिक मार्दव के द्वारा शरीर की सहायता करता है, और श्लेष्मा स्थैर्य और स्निग्धता के द्वारा, और संधियों का योगकारी इत्यादि होकर सहायता करता है। रस से प्रारम्भ होने वाली सात धातुओं के ये कार्य बताए गए हैं, 'प्रीणन' अथवा 'रस'—इन्द्रियों के समुचित कार्य द्वारा तुष्टि प्रदान करना, जीवन-प्राण शक्ति को प्रदान करना, स्नेह-चिकनाहट का उत्पादन, धारण-भार को वहन करना, अस्थि; पूरण अथवा 'मज्जा'—अस्थि कुहरों को भरना, और शुक्र का गर्भोत्पाद-उत्पादन; पुरुषों के विषय में यह कहा जाता है कि 'विष्टा' में शरीर धारण करने की शक्ति है, जबकि मूत्र अतिरिक्त जल को बाहर निकाल देता है और स्वेद उसे रोके रखता है।[3] वृद्ध वाग्भट्ट वायु, पित्त और कफ को 'दोष' बताकर (दूषयिता) और धातुओं को दूष्य (वे धातु जो दूषित होती हैं) बताकर, धातु को वात, पित्त और कफ से पृथक् मानते हैं। आगे वे निश्चित रूप से अस्वीकार करते हैं कि धातु-मल रोग का कारण हो सकते हैं। वे इस प्रकार इस मत को (ऊपर उल्लिखित चरक का मत) औपचारिक अर्थात् रूपकात्मक कथन बताकर उड़ा देते हैं।[4] उनके अनुसार शरीर दोष, धातु और मल का समुदाय है।[5] फिर भी 'अष्टांग-संग्रह' के टीकाकार इन्दु का कथन है कि जो गत्यात्मक शक्ति धातुओं को प्रवृत्ति प्रदान करती है (दोषेभ्य एव धातूमां प्रवृत्तिः) वह दोषों से उपलब्ध होती है और उनसे रस के वहन, पाक, स्नेह, काठिन्य इत्यादि उपलब्ध होते हैं।[6] प्रारम्भ से ही एक अथवा दूसरे दोष की प्रबलता

---

1 चरक संहिता पर चक्रपाणि की टीका। शार्ङ्गधर 4.8 से तुलना कीजिए : 'वायुः पित्तं कफो दोषा धातवश्च मला मताः' अर्थात् वायु, पित्त और कफ दोष, धातु और मल रूप में विख्यात हैं।

2 और भी 'एवं रसमलौ स्वप्रमाणावस्थितावाश्रयस्य समधातोर्धातुसाम्यमनुवर्तवतः ।
—चरक संहिता, 1. 28. 3 ।

3 अष्टांग हृदय, 1. 11. 1-5 ।

4 तज्जानित्युपचारेण तानाहुर्घृतदाहवत् ।
रसादिस्थेषु दोषेषु व्याधयः संभवन्ति ये । —अष्टांग संग्रह, 1.1 ।

5 अष्टांग संग्रह के टीकाकार इन्दु ने इसका ऐसे वर्णन किया है—'शरीरं च दोष-धातुमलसमुदायः (1.1) ।

6 तथा च धातुपोषाय रसस्य वहनपाकस्नेहकाठिन्यादिदोषप्रसादलभ्यमेव ।—वही ।

के कारण जब गर्भवृद्धि होने लगती है, तब ऐसा कहा जाता है कि बच्चे में एक या दूसरे दोष के विशेष लक्षण विद्यमान हैं और इसी हेतु वह वात प्रकृति, पित्त-प्रकृति अथवा श्लेष्म-प्रकृति कहलाता है। वाग्भट्ट आगे कहते हैं कि 'धातु-वैषम्य' नहीं अपितु दोष-वैषम्य' ही रोग है और दोषों का संतुलन अर्थात् 'दोष-साम्य' आरोग्य है। इस मत के अनुसार दोष-वैषम्य रोग है और क्योंकि दोष धातुओं से स्वतन्त्र इकाइयां हैं, इसलिए दोष-वैषम्य का अर्थ 'धातु-वैषम्य' होना आवश्यक नहीं।[1] एक अन्य स्थल पर वाग्भट्ट कहते हैं कि जिस प्रकार बहुविध जगत् गुणों के विकार के अतिरिक्त कुछ नहीं है उसी प्रकार सारी व्याधियां तीन दोषों का विकार मात्र ही हैं, अथवा जिस प्रकार महासमुद्र में तरंगे, उर्मियाँ और फेन दृष्टिगत होते हैं, जो वास्तव में महासागर ही के समान हैं, वैसे ही सारी व्याधियां तीन दोषों के अतिरिक्त कुछ नहीं है।[2] एक अन्य स्थल पर वृद्ध वाग्भट्ट त्रिदोषों के संदर्भ में त्रि-गुणों की उपमा का प्रयोग भी करते हैं। अतः वे कहते हैं, जिस प्रकार त्रिगुण अपने में विद्यमान परस्पर विरोध के उपरान्त भी संसार को अपनी विविधताओं से युक्त उत्पन्न करने के लिए परस्पर सहयोग करते हैं, उसी प्रकार दोषत्रय प्राकृत विरोध के होते हुए भी विविध व्याधियों के उत्पादन हेतु परस्पर सहयोग करते हैं।[3] अस्थियों के विवेचन में' लेखक डा० हर्नले से इस बात में सहमत हैं कि वाग्भट्ट ने चरक और सुश्रुत के परस्पर मेल न खाने वाले विचारों की व्याख्या करके उन दोनों में सामंजस्य स्थापित करने का सदा प्रयत्न किया है। यहां पर भी उसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। इस प्रकार उन्होंने एक

---

1 आयुर्वेद का सांख्य और न्याय-वैशेषिक से घनिष्ठ सम्बन्ध है, केवल ये ही भारतीय दर्शन में किसी प्रकार के भौतिकविज्ञान का विवेचन करते हैं। नरसिंह कविराज (एक दाक्षिणात्य लेखक) द्वारा अपने ग्रन्थ 'विवरणसिद्धान्तचिन्तामणि' (जिसकी एकमात्र पांडुलिपि लेखक के अधिकार में है) में यह प्रदर्शित किया गया है कि सांख्य के अनुसार स्वयं अपनी साम्यावस्था से किसी एक दोष की विषम प्रबलता में परिणत हो जाने वाला दोष ही रोग कहलाता है। (वैषम्य-साम्यावस्थाभिन्नावस्थाविशेषवद् दोषत्वं रोगत्वम्)। तथापि नैयायिकों का मत है कि रोग एक पृथक् इकाई अथवा द्रव्य है, जो दोष से उत्पन्न होता है परन्तु जो स्वयं दोष नहीं है (द्रव्यत्वे सति दोषभिन्न-दोषजन्यत्वं रोगत्वम्)। अतः रोग अपने लक्षणों अथवा कार्यों से भिन्न है। नरसिंह का यह भी मत है कि क्योंकि चरक ने व्याधियों को आग्नेय और वायव्य बताया है, अतः उन्होंने व्याधियों को पृथक् द्रव्यों के रूप में आशयगत भाव से ग्रहण कर लिया है। कभी-कभी किसी व्याधि के धातुवैषम्य द्वारा होने के चरक के कथन की व्याख्या इस प्रकार करनी चाहिए कि धातुवैषम्य व्याधियों के उत्पन्न करने का कारण है इसलिए औपचारिक अर्थ में उनको स्वयं को व्याधियां कहा गया है (यत्तु चरकेन धातुवैषम्यस्य रोगत्वमुक्तं तत्तेषां तथाविधदुःखकर्तृत्वादौपचारिकम्। विवरणसिद्धान्त चिन्तामणि—पांडुलिपि, पृ० 3)।

2 अष्टांग संग्रह 1. 22।

3 आरम्भकं विरोधेऽपि मिथो यद्यद् गुणत्रयम्।
विश्वस्य दृष्टं युगपद्व्याधेर्दोषत्रयं तथा॥ —वही, 1.21।

ओर चरक के द्वारा व्यक्त इन विचारों को रूपकात्मक (औपचारिक) बतलाया है कि धातु-मल दोष है। दूसरी ओर उन्होंने उत्तरतन्त्र के इन कथनों का अनुसरण किया है कि दोषत्रय, धातु, मल और मूल मानव शरीर को धारण करते हैं। वे उत्तर तन्त्र का और आगे अनुसरण करते हैं और कहते हैं कि त्रिदोष त्रिगुण हैं (भिन्ना दोषास्त्रयो गुणाः)। डल्हण ने वायु की रजस् से, पित्त की सत्त्व से और कफ की तमस् से एकरूपता बतायी है।[1]

सूत्र स्थान में सुश्रुत का वर्णन है कि शोणित का भी वही स्थान है जो वायु, पित्त और कफ का है, और वे कहते हैं कि शरीर अन्न और पान के साथ-साथ आरोग्य अथवा रोगों में होने वाले वायु, पित्त, कफ और शोणित के विभिन्न मिश्रणों पर भी आश्रित है। इस पर व्याख्या करते हुए डल्हण का कथन है कि सुश्रुत का ग्रन्थ मुख्यतः शल्य ग्रन्थ है, अतः इसके लेखक का मत है कि शोणित अपने अन्य दूष्यों सहित व्रण में दोष उत्पादन हेतु महत्त्वपूर्ण भाग लेता है।[2] आगे सुश्रुत वात, पित्त और श्लेष्मा को शरीरोत्पत्ति हेतु (देहसंभवहेतवः) मानते हैं। शरीर के अधः, मध्यम, और ऊर्ध्व भाग में स्थित वात, पित्त और कफ ऐसे तीन स्तम्भों के समान हैं जो शरीर को धारण किए हुए हैं और शोणित भी उस कार्य में सहायता करता है। डल्हण का कथन है कि वात, पित्त और कफ सामूहिक कारण हैं जो शुक्र और शोणित की सहकारिता से काम करते हैं।[3] आगे सुश्रुत ने वायु की 'वा' चलना, धातु से, पित्त की 'तप' तपाना, धातु से और 'श्लेष्मा' की 'श्लिष', आलिंगन करना, धातु से व्युत्पत्ति की है। सूत्र स्थान में कफ, पित्त और वायु की सोम, सूर्य और अनिल से तुलना की गई है, न कि तीन गुणों से जैसाकि परिशिष्ट ग्रन्थ 'उत्तर-ग्रन्थ' में देखा जाता है। पित्त की प्रकृति का विवेचन करते हुए उनका कथन है कि पित्त शरीरस्थ अग्नि है, और पित्त के अतिरिक्त शरीर में कोई अन्य अग्नि नहीं है। पित्त में अग्नि के सारे गुण हैं और इसलिए जब यह क्षीण होता है तो आहार के आग्नेय पदार्थ इसकी वृद्धि में योग देते हैं, और जब इसकी वृद्धि हो जाती है तो भोजन के उपशामक पदार्थ इसको कम कर देते हैं। सुश्रुत के अनुसार पित्त का स्थान आमाशय और पक्वाशय के मध्य है और यह सारे अन्न और पान का पाक करता है और एक ओर रस को तथा दूसरी ओर मल, मूत्र आदि को पृथक् करता है। आमाशय और पक्वाशय के मध्य उपर्युक्त

---

1 रजोभूयिष्ठो मारुतः रजो हि प्रवर्तकं सर्वभावानां, पित्तं सत्त्वोत्कटं, लघुप्रकाशकत्वात् रजोयुक्तं वा इत्येके कफस्तमोबहुलः, गुरुप्रावरणात्मकत्वादित्याहुर्भिषजः। यद्येवं तत्कथं कफप्रकृतिके पुंसि सत्त्वगुणोपपन्नता पठिता उच्यते, गुणद्वितयमपि कफे ज्ञातव्यं, सत्त्वतमोबहुला आपः (सुश्रुत उत्तरतन्त्र 66.9 पर डल्हण की व्याख्या)।

2 एतद्धि शल्यतन्त्रम्, शल्यतन्त्रेच व्रणः प्रधानभूतः व्रणे च दूष्येषु मध्ये रक्तस्य प्राधान्यमिति शोणितोपादानम् (वही)। सुश्रुत 'दोष' शब्द को पीव (पूय) के अर्थ में भी प्रयोग करते हैं। —1. 5. 12।

3 सुश्रुत 1. 21. 3 और 4। उस पर टीका करते डल्हण का कथन है 'शुक्रार्तवादि-सहकारितया देहजनका अभिप्रेताः।'

स्थान में स्थित होने के कारण (तत्रस्थमेव), पित्त अपनी शक्ति के द्वारा (आत्मशक्त्या) शरीर के अन्य पित्त स्थानों में कार्य करता है और अपने तपाने के कार्य (अग्निकर्म) के द्वारा उन स्थानों में समुचित कार्य का उपपादन करता है। भोजन पकाने का अपना कार्य करते समय इसको 'पावक' कहा जाता है, रक्त को रंगने वाले पदार्थ को प्रदान करने वाले यकृत और प्लीहा में कार्य करते समय इसे रंजक' कहा जाता है (साधक), आँखों में अपना कार्य करने पर इसे लोचक कहा जाता है, त्वचा को कान्तिमान् रूप प्रदान करने का अपना कार्य करते समय उसे 'भ्राजक' कहा जाता है। पित्त उष्ण, द्रव, नीला अथवा पीला, दुर्गन्धयुक्त और अहितकर पाचन कर्म में मे गुजरने के बाद खट्टा स्वाद देता है। श्लेष्मा के विषय में सुश्रुत का कथन है कि इसका प्राकृत स्थान आमाशय है; उदकमय होने के कारण नीचे की ओर बहता है और पित्ताग्नि को शान्त करता है जो अन्यथा अत्यधिक ऊष्मा के कारण सारे शरीर का क्षय कर देता है। आमाशय में होने के कारण यह अन्य श्लेष्मास्थानों, यथा हृदय, जिह्वा, कण्ठ, शिर और शरीर की सारी संधियों में कार्य करता है। वायु का स्थान श्रोणि और गुदा है (श्रोणिगुदसंश्रय); शोणित को सुश्रुत ने 'दोष' माना है और इसका मुख्य स्थान यकृत, और प्लीहा माने जाते हैं।[1] मैं ऊपर बता चुका हूँ कि अथर्ववेद में तीन प्रकार की व्याधियाँ पाई जाती हैं। वातज, शुष्म और अभ्रज।[2] चरक संहिता में वायु, पित्त और कफ को 'किट्ट' से उत्पन्न माना गया है। इस प्रकार उन्हें यहाँ आन्तरिक मल माना गया है, जो अन्न-रस के विलीनीकरण की विभिन्न अवस्थाओं, यथा, रस, मांस, आदि में विलीन नहीं होते और जब ये रस, मांसादि सममान में होते हैं तो उन्हें शरीर वृद्धि की प्रक्रिया के संरक्षण हेतु कार्यों का सम्पादन करना होता है और जब ये वैषम्य में होते हैं तो शरीर का क्षय करते हैं। किट्ट का ठीक अर्थ क्या है यह निर्धारित करना कठिन है। इसका अर्थ अन्न-रस का रसरूप में केवल अविलीन भाग अथवा रक्त-रूप में अविलीन भाग, इत्यादि हो सकता है; अथवा इसका अर्थ सम्बद्ध धातुओं के स्रावसहित ऐसे अविलीन पदार्थ से हो सकता है जो अन्न-रस को पर्याप्त मात्रा को शोषित कर लेते हैं और अपने कुछ दूष्य पदार्थों को अशोषित पदार्थ में छोड़ देते हैं; यदि इसकी व्याख्या 'धातुमल' अथवा धातु के दूष्य के अर्थ में की जाए तो किट्ट का कम से कम यही अर्थ होगा। शरीर की रचनात्मक और विनाशक शक्तियों में से अधिकांश का उद्गम इन्हीं मल और किट्टों से ही निर्मित है। कफ के जलमय गुण और पित्त के आग्नेय गुण की उपेक्षा नहीं की गई है; परन्तु उनका सार मलमय अथवा किट्टमय माना गया है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि सुश्रुत ने इस मलमय स्वरूप का उल्लेख नहीं किया है, अपितु ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने यह समझ लिया था कि शरीर का मुख्य दैहिक व्यापार पाचन कर्म की प्रकृति का तथा अग्नि और पाचनजन्य पदार्थों के विभाजन की प्रकृति का है और ऐसा प्रतीत होता है कि खाना पकाने का वह उदाहरण भलीभाँति उनके मस्तिष्क में होगा जिसमें आग, पानी और वायु की आवश्यकता पड़ती है और यह भी प्रतीत होता है कि सुश्रुत का इस मत की ओर अधिक झुकाव है कि

---

1 सुश्रुत संहिता, 1. 11. 8. 16।

2 ये अभ्रजा वातजा ये च शुष्मो (अथर्ववेद, 1. 12. 3) और अग्नेरिवास्य दहत एति शुष्मिणः। —वही, 6. 20. 4।

शरीर के दैहिक व्यापार पाँच भौतिक क्रियाओं के कारण होते हैं जिनमें अन्न-रस ने पृथ्वी का स्थान ग्रहण कर लिया है और अन्य तीन भूत, अग्नि (पित्त), जल (श्लेष्मा) और वायु (वात) हैं। किस कारण से शरीर के इन तत्त्वों को अग्नि, जल और वायु का अन्य रूप माना है, यह सुश्रुत ने स्पष्ट नहीं किया है। तथापि परिशिष्टात्मक 'उत्तरतन्त्र' में यह मत व्यक्त किया गया है कि वे तीन गुण हैं। इस विवेचन के अन्तर्गत सिद्धान्तों को समझने के विभिन्न प्रयासों में सामंजस्य स्थापित करने के प्रयत्न में सदा मध्यम मार्ग ग्रहण करने में तत्पर वाग्भट्ट का मत है कि उनकी गुणत्रय से तुलना इसलिए करनी चाहिए कि वे परस्पर विरोधी होने पर भी परस्पर सहयोग करते हैं, और, क्योंकि रोग दोषों के विकार-मात्र हैं इसलिए उनका आगे मत है कि दोष, धातु और दोष-मलों की बिलकुल पृथक्-पृथक् सत्ता है, परन्तु इन दोषों का स्वरूप क्या है इस पर कोई निश्चित मत व्यक्त करने में वह असमर्थ रहे हैं। जिस व्यक्ति को इन दोषों का अधिकतम निश्चित ज्ञान था वह चरक थे। उत्तरतन्त्र में वर्णित तथा वाग्भट्ट द्वारा प्रतिपादित गुणों की सांख्य तुलना का बहुत भ्रामक प्रभाव पड़ा प्रतीत होता है, और दोषों की वास्तविक देह-व्यापारसम्बन्धी स्थिति का पता लगाने के प्रयत्न करने की अपेक्षा इन लेखकों ने उस कठिनाई को सांख्य-गुणों के प्रति अस्पष्ट संकेतों द्वारा उड़ा दिया है।

हम पुनः चरक पर आते हैं। उन्होंने वायु को सूखा (रूक्ष), ठण्डा (शीत), हल्का (लघु), बारीक (सूक्ष्म), गतिशील (चल), अन्य सब पदार्थों को विभिन्न दिशाओं में बिखरने वाला (विशद) और खुरदरा (खर) माना है।[1] जिन वस्तुओं में इसके विरोधी गुण होते हैं उनसे इसका उपशमन होता है। आरोग्यकर रचनात्मक प्रक्रिया में वायु को निम्न दैहिक कार्य करने वाला बताया गया है: यह शरीर यंत्र को सम्भाले रखता है (तन्त्रयन्त्रधरः), यह प्राण, उदान समान और अपान रूपों में प्रकट होता है और विभिन्न प्रकार की चेष्टाओं का जनक है; यह वह शक्ति है, जो मन को सब अवांछनीय पदार्थों से रोकने वाला (नियन्ता) है और मन को वांछनीय पदार्थों में लगाने वाला (प्रणेता) है, इन्द्रियों को कार्य में लगाने का कारण है, सारे इन्द्रिय विषयों की उत्तेजना को वहन करने वाला है, शरीर के सारे धातुओं को एकत्रित करता है, एक पूर्ण इकाई के रूप में शरीर के कार्यों में सम-

---

1 चरक संहिता, 1.1.58। इस पर टीका करते, चक्रपाणि का कथन है कि यद्यपि वैशेषिक दर्शन में वायु को न तो ऊष्ण और न शीत माना गया है, फिर भी क्योंकि यह शीत से बढ़ती हुई और गर्मी से घटती हुई देखी जाती है, इसलिए इसको शीत माना गया है। यह अवश्य है कि जब यह पित्त से युक्त होता है तब उसे ऊष्ण देखा जाता है, परन्तु ऐसा पित्त की ऊष्णता के साथ उसके संसर्ग के कारण ही होता है (योगवाहित्वात्)। वातकलाकलीय अध्याय (1.124) में वायु के छः गुणों का वर्णन है, परन्तु उसमें सूक्ष्म का उल्लेख नहीं है, और चल के स्थान पर दारुण का वर्णन है। चक्रपाणि का कथन है कि दारुण का वही अर्थ है जो चल का है। उसी अध्याय (1.12.7) में वायु के लिए 'सुषिर कर' अर्थात् 'छिद्र करने वाला' विशेषण प्रयोग किया गया है।

रूपता रखता है, वाणी का प्रवर्तक है, स्पर्श और शब्द का तथा उनसे सम्बद्ध इन्द्रियों का भी कारण है. हर्ष और उत्साह का मूल है पाचक अग्नि के लिए समीकरण है, दोषों का शोषक, वहिर्मलों का क्षेप्ता, सब प्रकार के संचारों का प्रयोजक हेतु है, गर्भों की आवृत्तियों का निर्माता है और संक्षेप में, आयु की निरन्तरता का समानार्थक है (आयुषोऽनुवृत्ति-प्रत्ययभूतः) । जब यह कुपित हो जाता है तो शरीर में नाना प्रकार के विकार उत्पन्न कर देता है; बल, वर्ण, सुख और आयु को क्षीण कर देता है; मन को दुःखी करता है, इन्द्रियों के व्यापारों को दुर्बल करता है, गर्भ को विकृत कर देता है, रोगों और भय, शोक, मोह इत्यादि के भावों को उत्पन्न करता है तथा प्राणों के कार्य को रोकता है ।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि वायोर्विद ने किस प्रकार से वायु के बाह्य कर्म यथा पृथ्वी को धारण करना, अग्नि का ज्वालन, नक्षत्र और ग्रहों की एकसी गति, मेघ-सृष्टि, वृष्टि-वर्षण, नदियों का प्रवाहन, पुष्प और फलों को आकृति प्रदान करना, वन-स्पतियों को उत्पन्न करना, ऋतु प्रवर्तन, खनिजों का विभाग करना, बीजों की अंकुर उत्पादक शक्ति का उत्पादन करना. शस्यादि का अभिवर्धन आदि का वर्णन किया है ।[1] उसी चर्चा में मरीचि ने यह मत व्यक्त किया है कि अग्नि पित्त के अन्तर्गत है और सारे शुभ और अशुभ गुणों, पाचन और अपाचन, दर्शन-अदर्शन, शूरता और भव, क्रोध हर्ष, अज्ञता इत्यादि को पित्त अपने अकुपित या कुपित होने के अनुसार उत्पन्न करता है । काव्य का मत है कि श्लेष्मान्तर्गत सोम सारे अच्छे और बुरे गुणों यथा शरीर की दृढ़ता अथवा शिथिलता, मोटापा, पतलापन, उत्साह और आलस्य, पुंसत्व और क्लीवत्व, ज्ञान और अज्ञान आदि को उत्पन्न करता है ।[2]

ये विवेचन ऐसा प्रदर्शित करते प्रतीत होते हैं कि आत्रेय के ग्रन्थ के लिखे जाने से पहले स्वस्थ और अस्वस्थ शरीर के दैहिक व्यापारों को एक प्रयोजक हेतु के कार्य से सम्बद्ध बताकर उनको समझाने का प्रयत्न किया गया था । छान्दोग्य उपनिषद् में पृथ्वी, जल और अग्नि को रचना के जगद् हेतु बताया गया है; विभिन्न प्रकार के वायु अथर्ववेद जितने प्राचीनकाल में भी ज्ञात थे, और वायु को कई उपनिषदों में जीवन का मूल तत्त्व माना गया है। यह काफी मात्रा तक निश्चित प्रतीत होता है कि वात, पित्त और कफ का सिद्धान्त उस मत का उत्तरकालीन विकसित रूप है जिसके अनुसार वायु(प्राण), अग्नि(दहन) और जल (तोय) को शरीर का मूलभूत निर्माता तत्त्व माना गया है । इस प्रकार सुश्रुत इस मत का 3.4.40 में उल्लेख ऐसे करते हैं : 'कुछ का कहना है कि मानव शरीर की प्रकृति भौतिकी है, प्रकृतिभूत वे भूत वायु, अग्नि और जल है' ।[3] इन विवेचनों अथवा उन अन्य विवेचनों जिनके अनुसार शरीर एक भूत अथवा कई भूतों का परिणाम है, उनके आगे चिकित्सा

---

1 चरक संहिता, 1.12.8 ।

2 वही, 1.12.11 और 12

3 प्रकृतिमिह नराणां भौतिकीं केचिदाहुः ।
पवनदहनतोयैः कीर्तितास्तास्तु तिस्रः ।। —सुश्रुत 3.4.80 ।

सम्बन्धी विचार की शाखाओं की प्रगति का अन्वेषण इस तथ्य में करना चाहिए कि शरीर के भौतिक कारणों (उपादानों) को धातु मानने के अतिरिक्त उन्होंने शरीर के विकास और ह्रास के लिए एक या अधिक अन्तर्निहित गतिशील तत्त्वों को स्वीकार करने की आवश्यकता पर बल दिया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वात, पित्त और कफ को धातु और दोष तथा प्रकृति और विकृति, दोनों कैसे माना गया है? इस प्रकार, जैसाकि पहले ही कहा जा चुका है, चरक का कथन है कि गर्भ की रचना के काल से ही वात, पित्त और कफ कार्य करते रहते हैं, परन्तु यह कार्य न्यूनाधिक भिन्न-भिन्न प्रकार से और विभिन्न प्रणालियों में वात, पित्त, मल और कफ की साम्य अवस्था में (समपित्तानिलकफ) अथवा पृथक्-पृथक् अंशों में उनका प्राधान्य होने के कारण वातल, पित्तल और श्लेष्मल रूप में होता है।[1] श्लेष्मल प्रकृति के मनुष्य सामान्यतः स्वस्थ होते हैं, जबकि वातल और पित्तल प्रकृति के मनुष्य सदा क्षीण स्वास्थ्य होते हैं। बाद में, जिस दोष की मनुष्य के शरीर में उसके जन्म से ही प्रबलत्ताम है उस दोष-प्रधान व्याधि से जब वह पीड़ित होता है तो नव संचित दोष उसी ढंग से दोष को उत्पन्न करता है जिस ढंग में उसके शरीर का प्रधान दोष काम कर रहा होता है, परन्तु यह नव सचित दोष सम्बद्ध मूलदोष की वृद्धि नहीं करता है। मूलदोष की कभी वृद्धि नहीं होती, और किसी व्याधि के कारण दोष की कितनी ही प्रबलता क्यों न हो, दोष की शारीरिक स्थिति एक-सी रहती है। इस प्रकार कोई वात प्रकृति पुरुष श्लेष्म प्रकृति अथवा पित्त प्रकृति अथवा इसके विपरीत नहीं होता। जो दोष विधायक है वे सदा अपने दैहिक व्यापारों में लगे हुए अविच्छिन्न भाग के रूप में रहते हैं। बाद में होने वाले दोषों की वृद्धि अथवा उनकी न्यूनता रोग उत्पन्न करने में पृथक् रूप से कार्य करती है, और इन बाद के दोषों के संचय अथवा उनके ह्रास के और 'प्रकृति' संज्ञक दोषों के रचना सम्बन्धी शाश्वत भागों के बीच

---

1 चरक ने एक मत का उल्लेख किया है जिसके अनुसार कुछ लोग समवातपित्तश्लेष्म (वात, पित्त और श्लेष्मा की समान मात्रा से युक्त) माने जाते हैं। क्योंकि सारे मनुष्य विभिन्न प्रकार का भोजन खाते हैं (विषमाह रोपयोगित्वात्), इसलिए वे अवश्य वातप्रकृति, पित्तप्रकृति अथवा श्लेष्मप्रकृति होंगे। इसके विरुद्ध चरक का कथन है कि समवातपित्तश्लेष्म और स्वास्थ्य अथवा रोगों से मुक्ति (अरोग) एक ही बात है। सब भेषजों का प्रयोग इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किया जाता है और इस बारे में कोई सन्देह नहीं हो सकता कि ऐसी अवस्था विद्यमान है। पुनश्च वात-प्रकृति, पित्त प्रकृति और श्लेष्मप्रकृति ये शब्द गलत हैं, क्योंकि प्रकृति का अर्थ स्वास्थ्य से है। वात प्रकृति का अर्थ यह है कि वात की मात्रा की प्रधानता है (आधिक्यभावात्सा दोषः प्रकृतिरुच्यते), और परिणामगत आधिक्य और विकार एक ही है, इसलिए उपयुक्त संज्ञाएं वातल, पित्तल आदि हैं। जब कोई वातल मनुष्य वातवर्धक पदार्थों का उपयोग करता है तो वात एकदम बढ़ जाता है, परन्तु जब वह पित्त अथवा श्लेष्मावर्धक पदार्थों का प्रयोग करता है तो उसमें पित्त अथवा श्लेष्मा उतनी शीघ्रता से नहीं बढ़ते जितनी शीघ्रता से वात बढ़ता है। इसी प्रकार पित्तल मनुष्य में पित्तवर्धक पदार्थों का उपयोग करने से पित्त शीघ्रता से बढ़ता है और ऐसा ही श्लेष्मा के साथ होता है। (चरक संहिता 3.6.14–18)।

में कोई आदान-प्रदान नहीं होता ।[1] केवल इसी अर्थ में कोई दोष प्रकृति दोष से संबद्ध है (जैसाकि चक्रपाणि का कथन है) कि कोई दोष उस शरीर में बलशाली होता है जिसमें संबद्ध दोष की प्रकृति-रूप से प्रधानता होती है और इससे विपरीत अवस्था में वह क्षीणतर हो जाता है ।[2] इस संदर्भ में यह कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि यद्यपि दोष परस्पर रूप में एक दूसरे के विरोधी हैं, तो भी वे एक दूसरे को सदा प्रभावहीन नहीं करते और शरीर में उनका साथ-साथ उग्र हो जाना संभव है । वर्षा, शरद्, हेमन्त, शीत, वसन्त, ग्रीष्म उन छः ऋतुओं में पित्त, श्लेष्मा और वायु इन तीन दोषों का एकान्तर रूप से क्रमशः चय, प्रकोप और शमन होता है, इस प्रकार, उदाहरणतः वर्षा में पित्त का, चय होता है, शरद् में पित्त का प्रकोप होता है, हेमन्त में पित्त का शमन और श्लेष्मा का चय होता है, ग्रीष्म में वात का चय होता है, इत्यादि ।[3] दोषों की प्राकृत और विकृत अवस्थाओं की विषमता

---

1 वही, 1.7.38–41 । इस अंश 'प्रकृतिस्थं यदा पित्तं मारुतः श्लेष्मणः क्षये' (1.17. 45) का इस मत के पक्ष में प्रायः उल्लेख किया जाता है कि दोषों की नई वृद्धि प्रकृति दोषों पर प्रभाव डालती है । परन्तु चक्रपाणि इसकी अन्य प्रकार से व्याख्या करते हैं । उनका कथन है कि कोई रोग ऐसे दोष द्वारा उत्पन्न हो सकता है जो इस तथ्य के कारण अपने शाश्वत प्रकृतिमान से अधिक नहीं है कि वह शरीर के एक भाग से दूसरे भाग में वाहित हो जाए और उसके परिणामस्वरूप कोई स्थानीय वृद्धि अथवा अधिकता उत्पन्न हो जाए, हालांकि दोष की कुल मात्रा का आधिक्य न हो ।

2 समानां हि प्रकृतिं प्राप्य दोषः प्रवृद्धबलो भवति, असमानां तु प्राप्य तथा बलवान् न स्यात् (चरक संहिता 1.17.62 पर चक्रपाणि की टीका) ।

3 वही 1.17.112 । इन पर चक्रपाणि की टीका भी देखिए । सुश्रुत संहिता 1.21. 18 पर व्याख्या करते हुए डल्हण कहते हैं कि दोष-सचय का अर्थ सामान्य रूप से समूह रूप में होने अथवा एकत्रित होने से है (देहेऽतिरूपा वृद्धिश्चयः), दोषों के प्रकोप का अर्थ यह है कि एकत्रित हुए दोष शरीर में फैल गए हैं (विचयनरूपा वृद्धिः प्रकोपः) । वायु चय के बाह्य लक्षण स्तब्ध-कोष्ठता और पूर्ण-कोष्ठता है; पित्त का लक्षण पीला दीखना और मन्दोष्णता हैं; कफ का लक्षण अंगों का भारीपन और आलस्य-भाव है । चय की सभी अवस्थाओं में, जिन दोषविशेषों का चय हुआ हो उनको बढ़ाने वाले कारणों के प्रति विद्वेष का भाव होता है (चयकारणविद्वेषश्च) चय काल रोगों की उत्पत्ति और उनके रोकने के लिए प्रथम क्रियाकाल है । यदि दोषों को इस काल में ही दूर कर दिया जाय या शान्त कर दिया जाय तो फिर आगे रोग नहीं होता । वायु के प्रकोप के सामान्य लक्षण आमाशय के विकार हैं । पित्त के प्रकोप के लक्षण अम्लता, प्यास और कफ के प्रकोप के लक्षण भोजन के प्रति अरुचि, हृदय की धड़कन (हृदयोत्क्लेद) आदि हैं । शोणित का प्रकोप सदा वात, पित्त और कफ के प्रकोप के कारण होता है । रोगों के अग्रसर होने का यह दूसरा क्रिया-काल है । तीसरा क्रिया-काल 'प्रसार' कहलाता है । इस काल में दोषों के उफान सा कुछ-कुछ होता है (पर्युषितकिण्वोदकपिष्टसमवाय इव) । इसको वायु द्वारा गति-प्रदान की जाती है; जो वायु अचैतन्य होने पर भी समस्त कार्यों का हेतु है । जब पानी की बड़ी मात्रा किसी स्थान पर जमा हो जाती है तो वह किनारे तोड़कर बह निकलता

दिखाते हुए चरक का कथन है कि प्राकृत अवस्था में पित्ताग्नि पाचनकारक होती है। श्लेष्मा बल और ओज है, और वायु सारी क्रियाओं का तथा सारे जीवित प्राणियों के जीवन का स्रोत है, परन्तु विकृत अवस्था में पित्त अनेक व्याधियाँ उत्पन्न करता है; श्लेष्मा शरीर-यन्त्र का मैल है और अनेक क्लेशों का कारण है, और वात भी अनेक रोगों को उत्पन्न करता है और अन्ततः मृत्युकारक है। जिन स्थानों पर वात, पित्त और कफ के विकारों को अधिकांश में पाया जाता है उनका वर्णन चरक ने इस प्रकार किया है : वात के विकार के स्थान मूत्राशय, गुदा, कटि और पांवों की अस्थियां है, परन्तु पक्वाशय उसके विकार का विशेष स्थान है; पित्त के विकारों के स्थान स्वेद, रुधिर और आमाशय हैं जिनमें अन्तिम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं; श्लेष्मा-विकारों के स्थान वक्ष, शिर, ग्रीवा, संधियाँ, आमाशय और भेद हैं, जिनमें वक्ष सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। वात के अस्सी, पित्त के चालीस और श्लेष्मा के बीस विकार होते हैं।[1] परन्तु वात, पित्त और श्लेष्मा के इन विभिन्न विकारों में से प्रत्येक में सम्बद्ध दोषों के विशेष स्वरूप और लक्षण पाए जाते हैं। इस प्रकार 1.20.12-23 में चरक ने कुछ ऐसे लक्षणों का वर्णन किया है जिनका परिणाम उन व्याधियों का निदान है जो वात, पित्त अथवा कफ के वैषम्य के कारण होती हैं। परन्तु यह प्रश्न उठ सकता है कि इस मत के अनुरूप वायु, पित्त और कफ की प्रकृति को कैसा समझा जाए ? क्या वे केवल काल्पनिक इकाइयां मात्र है, जिनका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है और अनेक लक्षणों के चिह्नस्वरूप अवस्थित हैं ? ऐसी व्याख्या करने पर वास्तविकता लक्षणों की होगी और व्याधियों के कारण, अर्थात् दोष, एक नाम के आधीन कुछ लक्षणों के समूहों को इकट्ठा करने हेतु सुविधाजनक चिह्नमात्र बन जायेंगे। जहाँ कहीं भी लक्षणों का एक समुदाय विशेष हो, वहाँ यह मानना होगा कि वायु का प्रकोप है, जहाँ कहीं लक्षणों का दूसरा समुदाय हो, वहाँ पित्त का प्रकोप है,

---

है और अपने मार्ग की अन्य धाराओं से मिलकर सब दिशाओं में फैल जाता है; उसी प्रकार दोष भी कभी अकेले, कभी दो के जोड़ों में और कभी-सभी साथ-साथ फैल जाते हैं। सम्पूर्ण शरीर में, उसके आधे भाग में अथवा जिस किसी भाग में उत्तेजित दोष फैलें, वहाँ रोग के लक्षणों की बौछार मानों इस प्रकार होती है, जैसे मेघों से पानी बरसता हो (दोषो विकारं नभसि मेघवत् तत्र वर्षति)। जब एक दोष, उदाहरणार्थ वायु, दूसरे दोष, यथा पित्त, के प्रकृति-स्थान में अपना प्रसार कर देता है, तो दूसरे का प्रतीकार पहले को भी दूर कर देता है (वायोः पित्त स्थानगतस्य पित्तवत् प्रतीकारः)। 'प्रकोप' और 'प्रसार' के मध्य के अन्तर का डल्हण ने इस प्रकार वर्णन किया है : यथा जब घी को गरम किया जाता है तो वह थोड़ा चलायमान होता है; यह थोड़ा 'संचलन' प्रकोप है; परन्तु जब इसको निरन्तर और तेजी से इतना उबाला जाय कि फेन-मंडल से युक्त होकर बाहर निकलने लगे, तो उसे 'प्रसार' कहा जा सकता है (सुश्रुत संहिता 1.21.14-32)। जब पूर्व-रूप दिखाई देता है तो चौथा क्रियाकाल होता है और पाँचवा काल 'रूप' अथवा 'व्याधि' (रोग) काल का है।

(वही, 38, 39)।

1 चरक संहिता, 1.20.11।

इत्यादि । परन्तु ऐसी व्याख्या के विरुद्ध गम्भीर आपत्तियाँ हैं । क्योंकि, जैसाकि हम ऊपर दिखा चुके हैं, कई ऐसे स्थल आते हैं जहाँ इन दोषों का 'मल' और 'किट्ट' संज्ञा से वर्णन किया गया है, जो अपने प्राकृत मन में शरीर तंत्र को धारण करते हैं और उसका निर्माण करते हैं तथा विषमावस्था में व्याधियां उत्पन्न करते हैं और अन्त में देह-भंग कर देते हैं । उपर्युक्त अर्थ द्वारा इन स्थलों की संतोषप्रद रूप से व्याख्या नहीं की जा सकती और फिर कई ऐसे स्थल हैं जिनमें पित्त और कफ का ऐसी पृथक् इकाइयों के रूप में वर्णन है जिनका विशेष रंग और पदार्थगत घनत्व है, और यह भी कहा जाता है कि शरीर में कुछ विशेष स्थान हैं जहाँ वे संचित होते हैं और यह असम्भव होगा यदि इस अर्थ को ग्रहण किया जाय कि वे वास्तविक इकाइयां न होकर काल्पनिक इकाइयां ही हैं जिनका विभिन्न लक्षणों के सामूहिक बोध के लिए सुविधाजनक चिह्न होने के कारण केवल रीति-विधान सम्बन्धी महत्त्व ही है ।[1]

दोषों में कुछ गुणविशेषों को बताए जाने का कारण यह विश्वास है कि कार्य के गुण कारण के गुणों के कारण होते हैं । अत हमारे शरीर के विभिन्न गुणों को कार्य मान लेने पर, कारणों को भी उन गुणों से युक्त माना गया जिन से कार्यों को वे गुण प्राप्त हुए । इस प्रकार, वात के गुणों के वर्णन के संदर्भ में चरक का कथन है कि रौक्ष्य गुण के कारण वात प्रधान प्रकृति वाले (वातल) पुरुषों के शरीर रूखे, कृश और छोटे होते हैं और ऐसे लोगों की ध्वनियाँ कर्कश, क्षीण, घरघराती, धीमी और टूटी सी होती हैं और वे अच्छी तरह सो नहीं सकते (जागरूक); पुनश्च, वायु के लघुता के गुण के

---

1 दोषों की मलात्मकता ऐसे स्थलों द्वारा विशद रूप में प्रदर्शित की गई है जिनमें आहार सामग्री को पचाने के लिए वात, पित्त और श्लेष्मा के लिए आमाशय में कुछ स्थान की आवश्यकता मानी गई है; उदाहरणार्थ, 'एकं पुनर्वातपित्तश्लेष्मणाम् (वही 3.2. 3), श्लेष्म हि स्निग्धलक्ष्णमृदुमधुरसारसान्द्रमन्दमस्तिमितगुरुशीत विज्जलाच्छः (श्लेष्मा चिकनी, श्लक्ष्ण, मृदु, मधुर, सारमय, जड, सांद्र, भारी, शीत, पिच्छल और स्वच्छ होती है—वही 3.8.14.7.5); पित्तमुष्णं तीक्ष्णं द्रवं विस्रमम्लं कटुकं च (पित्त गर्म, तीखा, और द्रव, खट्टा और विस्र और कड़वा होता है—वही, 3.8.14. 7.6) वातस्तुरूक्षलघुचलबहुशीघ्रशीतपरुषविशदः (वात रूखा, हलका, चल, बहुल, शीघ्र, शीत, कड़ा और विशद होता है ।

—वही, 3.8.14.7.7 ।

कलकत्तावासी महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन ने दोषों को दो वर्गों में विभक्त करने का प्रयत्न किया है—अदृश्य (सूक्ष्म) और दृश्य (स्थूल)--सिद्धान्त निदान पृ० 9-11 । परन्तु यद्यपि ऐसा अन्तर निस्सन्देह किया जा सकता है, फिर भी चिकित्सा-साहित्य में ऐसा नहीं किया गया है क्योंकि चिकित्सा के दृष्टिकोण से ऐसा करना निरर्थक है, और यह हमें दोषों के वास्तविक स्वरूप को समझने में भी मदद नहीं देता । दोषों का स्वरूप और उनके कार्य उनकी सूक्ष्मता अथवा स्थूलता पर बिलकुल निर्भर नहीं करते, और न स्थूल दोषों को सदा सूक्ष्म दोषों का परिणाम ही माना जा सकता है ।

कारण वातल मनुष्यों की चाल भी फुर्तीली और तेज होगी, और ऐसे ही आहार, भाषण आदि की उसकी सारी चेष्टाएँ होंगी। यह आसानी से देखा जा सकता है कि वायु के गुणों का शरीर के गुणों से सादृश्य औपचारिक ही है, फिर भी, क्योंकि किसी व्यक्ति के शरीर के विशेष गुण और लक्षण का कारण एक या दूसरा धातु माना जाता था, इसलिए इन लक्षणों को उनके औपचारिक सादृश्य से सम्बद्ध कर दिया गया।

दोषों के गुणों की गणना करने के सम्बन्ध में एक दूसरी बात ध्यान देने योग्य है। किसी दोष के प्रकोप का यह अर्थ होना आवश्यक नहीं है कि इसके सारे गुण पूरी शक्ति से प्रदर्शित कर दिए गए हों; यह संभव है कि दोष के एक अथवा अनेक गुणों का आधिक्य हो जाए और अन्य यथापूर्व ही रहें। इस प्रकार वायु को निम्न गुणों वाला बताया जाता है: रुक्ष, लघु, चल, बहु, शीघ्र, शीत, इत्यादि, और यह संभव है कि किसी विशेष दशा में 'शीत' गुण का आधिक्य हो जाए और अन्य अकुपित ही रहें, अथवा इसी प्रकार शीत और रूक्ष अथवा शीत, रुक्ष और लघु, इत्यादि हो। अतः चिकित्सक का यह कर्त्तव्य है कि वह न केवल यह ज्ञात करे कि कौन-से दोष की प्रबलता हो गई है अपितु यह भी परीक्षा करे कि कौन-से दोष के कौन-से गुण प्रबल हो गए हैं। दोषों के गुण परिवर्तनीय हैं अर्थात् यह संभव है कि एक प्रकुपित दोष दोष ही रहे और इस पर भी उसके कुछ गुणों की वृद्धि हो जाए और अन्यों का ह्रास। किसी दोष के प्रकोप का स्वरूप उस दोष से संबद्ध गुणों के प्रकोप के स्वरूप (अशांश विकल्प) के द्वारा निर्धारित किया जाता है।[1] ऐसे सिद्धान्त से स्वभावतः यह अनुमान होता है कि क्योंकि इस या उस गुण से युक्त इकाइयां दोष की संघटक—भाग होती है, इसलिए दोष को उसके सारे अंगों में समरूप पूर्ण इकाई नहीं माना जा सकता। इस मत के अनुसार दोष एक विशेष प्रकार का मल प्रतीत होता है जो विभिन्न गुणों वाले कई भिन्न-भिन्न मलों का मिश्रण है, परन्तु जो एकसी व्यवस्थाओं के अनुसार काम करता है। जब कोई दोष अपनी स्वस्थ अवस्था में होता है तो इसकी अंग रूप इकाइयां अपने और सम्पूर्ण दोष के एक निश्चित अनुपात में होती हैं। परन्तु, जब यह कुपित हो जाता है तो उसके कुछ अंगभूत मल अनुचित मान में बढ़ सकते हैं जबकि अन्य प्राकृत अवस्था में ही रहें; यह अवश्य है कि सम्पूर्ण दोष का गुण प्रबल अथवा क्षीण हो जाए। अतः दोष, यथा कफ और पित्त, को समरूप प्रकृति के एक मल की अपेक्षा मलों का संग्रह मानना चाहिए। यह आसानी से देखा जायगा कि किसी दोष के विभिन्न अंगों की तुलनात्मक शक्तियों और अन्य दोषों के अन्य अंगों की सम्बद्ध शक्तियों और अनुपातों पर ध्यान दें तो समुदायों की संख्या अगणित हो जाती है और ऐसे समुदायों से उत्पन्न रोग भी

---

1 चरक संहिता 2. 1. 10. 4। इस पर टीका करते हुए चक्रपाणि का कथन है 'तत्र दोषाणामंशांशविकल्पो यथा वाते प्रकुपितेऽपि कदाचिद् वातस्य शीतांशो बलवान् भवति, कदाचिल्लध्वंशः कदाचिद्रूक्षांशः कदाचिल्लघुरुक्षांशः।' जो दोष प्रधान रूप से शरीर में कुपित होते हैं उन्हें 'अनुबन्ध्य' कहा जाता है, और जो दोष व्याधि के समय मुख्यतः कुपित नहीं होते हैं उन्हें 'अनुबन्ध' कहा जाता है। जब तीन दोष संयुक्त रूप से कुपित होते हैं तो उसे सन्निपात कहते हैं, और जब दो दोष कुपित होते हैं तो उसे 'संसर्ग' कहते हैं। (वही, 3. 6. 11)।

अगणित हैं। चरक के विवेचन की सम्पूर्ण प्रणाली इन विकारों के स्वरूपों को निश्चित करने पर निर्भर करती है, व्याधियों के नामों का उद्देश्य तो केवल एक विशेष प्रकार के अनेक विकारों का सामूहिक नामकरण मात्र से है।[1]

वायु, पित्त और कफ के सृजनात्मक और नाशक कार्यों के विषय में जिस एक बात पर और ध्यान देना आवश्यक है वह यह है कि वे स्वतन्त्र हेतु हैं जो मनुष्य के कर्म और मनुष्य के मन के साथ एक होकर कार्य करते हैं। वात पित्त और कफ द्वारा धातु, रस, रक्त आदि के द्रव्यों पर किए जाने वाले व्यापार के रूप में मानसिक व्यापार और शारीरिक व्यापार एक दूसरे के समानान्तर चलते हैं; क्योंकि दोनों मानव कर्म का अनुसरण करते हैं; परन्तु उनमें से किसी का भी दूसरे के द्वारा निर्धारण नहीं किया जाता है हालांकि उनकी परस्पर घनिष्ट अनुरूपता है। मनोभौतिक समरूपता का संकेत चरक की प्रणाली में सर्वत्र मिलता है। इसका नियमन करते हुए चरक कहते हैं: 'शरीरमपि सत्त्वमनुविधीयते सत्त्वं च शरीरम्' (मन शरीर के और शरीर मन के अनुरूप है)। इस सम्बन्ध में शायद यह याद हो कि 'धातुवैषम्य' अथवा 'अभिघात' (दुर्घटना, गिरना आदि से उत्पन्न शारीरिक घात) का मूल कारण मूर्खतापूर्ण कार्य (प्रज्ञापराध) है। पुनश्च, वात, पित्त और कफ न केवल भौतिक व्यापारों का सम्पादन करते हुए पाए जाते हैं अपितु विभिन्न प्रकार के बौद्धिक व्यापार भी करते हुए देखे जाते हैं। परन्तु सारे बौद्धिक व्यापार वस्तुत: मानसिक होते हैं। वात, पित्त और कफ को बौद्धिक व्यापारों का कारण बताने का जो अर्थ लिया गया है वह एक प्रकार की मनो-भौतिक समरूपता है, जिसमें मन शरीर के अनुरूप है और शरीर मनस् के तथा दोनों कर्म के अनुरूप हैं।

शीर्ष और हृदय[2]

शरीर के मुख्यतम स्थान शीर्ष, हृदय और वस्ति हैं। प्राणों और सारी ज्ञानेन्द्रियों को शीर्ष पर आश्रित (श्रिता) बताया है।[3] शीर्ष और मस्तिष्क का अन्तरअथर्ववेद काल प्राचीनकाल में भी ज्ञात था। इस प्रकार अ० वे० में शीर्ष शब्द का प्रयोग शिरा के अर्थ में

---

1 यद् वातारब्धत्वादिज्ञानमेव कारणं रोगाणां, चिकित्सायामुपकारि, नामज्ञानं तु व्यवहारमात्रप्रयोजनार्थम् (चरक संहिता 1. 18. 53 पर चक्रपाणि की टीका)।

2 चरक संहिता में 'हृदय' के विभिन्न नाम ये हैं, महत्, अर्थ, हृदय (1. 30 3)।

3 तथापि चक्रपाणि इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं 'श्रिता इव श्रिता:' अर्थात् वे मानों आश्रित हैं (1. 17. 12), क्योंकि जब शीर्ष आहत होता है तो सारी इन्द्रियां भी आहत होती हैं। चरक 6. 26. 1 में ऐसा कहा गया है कि एक सौ सात मर्म स्थान हैं, और इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण तीन स्थान शीर्ष, हृदय और वस्ति हैं। 8. 9. 16 में 'हृदि मूर्ध्नि च वस्तौ च नृणां प्राणाः प्रतिष्ठिता:' 8. 9. 4 में स्पष्ट रूप से कहा है कि सारी इन्द्रियां, इन्द्रियवह और प्राणवह स्रोत शीर्ष पर उसी प्रकार आश्रित हैं जिस प्रकार सूर्य की किरणें सूर्य पर आश्रित हैं—शिरसि इन्द्रियाणि इन्द्रियप्राण-वहानि च स्रोतांसिसूर्यमिवगभस्तय: संश्रितानि)।

हुआ है और उसी सूक्त के मंत्र 8 और 26 में 'मस्तिष्क' शब्द का प्रयोग दिमाग के अर्थ में किया है।[1] शिरोरोग का अ० वे० 1. 12. 3 में 'शीर्षक्ति' संज्ञा से वर्णन किया गया है। मस्तिष्क-द्रव्य को चरक संहिता 8. 9. 4 में 'मस्तुलुंग' कहा है, उसी अध्याय में 'मस्तिष्क' शब्द का प्रयोग मस्तिष्कद्रव्य के अर्थ में किया है (8. 9. 80) जैसी कि चक्रपाणि द्वारा व्याख्या की गई है।[2] चरक 8. 9. 4 में से ऊपर उद्धृत अंश यह प्रदर्शित करता है कि कम से कम दृढ़बल के मत में शीर्ष इन्द्रियों और सारे इन्द्रिय एवं प्राण स्रोतों का स्थान है। इस अंश पर टीका करते हुए चक्रपाणि का कथन है कि यद्यपि इन्द्रिय-वह और प्राण-वह स्रोत शरीर के अन्य भागों से भी जाते हैं फिर भी वे शीर्ष से विशेष रूप से सम्बद्ध हैं (शिरसि विशेषेण प्रबद्धानि), क्योंकि जब शिर पर कोई आघात होता है तो वे भी आहत होते हैं। चरक और दृढ़बल के अनुसार सारी इन्द्रियाँ और प्राण भी शिर से विशेष रूप से संबद्ध हैं, परन्तु हृदय को प्राणों का और मन का भी केन्द्र विन्दु माना गया है, जैसाकि मैं बाद में बताऊँगा। चरक के समान ही प्राचीन भेल का मत है कि मस्तिष्क मन का स्थान है; जहाँ तक मेरा ज्ञान है यह मन संस्कृत-साहित्य में अद्वितीय है। उनका कथन है कि सारी इन्द्रियों में उत्कृष्ट मन का (सर्वेन्द्रियपरम्) स्थान शिर और तालु के बीच में है (शिरस्तालव-न्तरगतम्)। वहां स्थित होने के कारण यह इन्द्रियों के सारे विषयों का (विषयान् इन्द्रियाणाम्) समीपस्थ रसों का (रसादिकान् समीपस्थान्) ज्ञान प्राप्त करता है। मन और सारी इन्द्रियों की शक्ति का मूल कारण तथा सारे भावों और बुद्धियों का कारण, चित्त हृदय में स्थित है। चित्त सारे गतिप्रद कार्यों और चेष्टाओं का भी कारण है, यहाँ तक कि जो शुभ चित्त से युक्त हैं वे सुपथ का अनुसरण करते हैं और जो अशुभ चित्त से युक्त हैं वे कुपथ का अनुसरण करते हैं। मन चित्त का ज्ञान प्राप्त करता है और उसके फलस्वरूप कार्य चुना जाता है; तत्पश्चात् बुद्धि आती है जो कार्याकार्य का निश्चय करती है। कुछ कार्यों को शुभ और अन्य कार्यों को अशुभ जानने का कार्य बुद्धि कहलाता है।[3] यह स्पष्ट है कि भेल मनस्, चित्त और बुद्धि को पृथक्-पृथक् मानते हैं। इनमें से मन चित्त से बिल्कुल भिन्न है और जहां तक भेल के अल्पवर्णन से कुछ पता लगाया जा सकता है, उसे सब प्रकार के

---

1 वह कौनसा देवता था जिसने उसके मस्तिष्क, मस्तक, शिर, पृष्ठ (ककाटिका) की (रचना) की, जिसने सबसे पहले कपाल रचा, किसने मनुष्य के जबड़ों में एकत्र करके स्वर्गारोहण किया (अ० वे० 10. 2. 8)। 'अथर्वा ने शुद्धिकारक मस्तिष्क से ऊपर अपने शिर (मूर्धानम्) को और हृदय को भी एकसाथ सीकर (उनको) शिर के बाहर आगे कर दिया' (वही 26) (व्हिटनी का अनुवाद, हार्वर्ड ओरियंटल सिरीज)।

2 मस्तिष्कं शिरोमज्जा। चक्रपाणि, चरक संहिता का 8. 9. 80। मस्तिष्क शब्द का कभी-कभी यद्यपि विरल रूप में ही, शिर के अर्थ में प्रयोग होता है, जैसे चक्रपाणि द्वारा उद्धृत अंश 8. 9. 80 में—मस्तकेऽष्टांगुलं पट्टम्।

3 शिरस्तालवन्तरगतं सर्वेन्द्रियपरं मनः। तत्रस्थं तद्धि विषयानिन्द्रियाणां रसादिकान् कारणं सर्वबुद्धीनां चित्तं हृदयसंश्रितं क्रियाणां चेतरासां च चित्तं सर्वस्थ कारणम्। भेल का 'उन्मादचिकित्सतम्' शीर्षक अध्याय।

—कलकत्ता विश्वविद्यालय संस्करण, पृ० 149।

ज्ञान का कारण और मस्तिष्क में अपना स्थान ग्रहण किए हुए माना जाता है। चित्त को सब क्रियाओं, भावों और निश्चयों का कारण और हृदय को चित्त का स्थान माना जाता था। संभवतः बुद्धि निर्धारक ज्ञान एवं निर्णय कहलाती थी जो केवल चित्त का कार्य था। भेल का कथन है कि मस्तिष्क के दोष मनस् को विकृत कर देते हैं, और इसके परिणाम-स्वरूप हृदय विकृत हो जाता है, और हृदय के विकार से बुद्धि विकृत होती है, और यह उन्मादकारी है।[1] एक अन्य स्थल में पित्त के विभिन्न कार्यों का वर्णन करते हुए भेल कहते हैं कि एक विशेष प्रकार का आलोचक पित्त होता है जिसे 'चक्षुवैशेषिक' कहते हैं, और जो मन का आत्मा से संपर्क स्थापित करके, बोध उत्पन्न करता है और उस बोध को चित्त तक पहुँचाकर उस निश्चयात्मक दृष्टि-ज्ञान को उत्पन्न करता है जिसके द्वारा आँख विभिन्न विषयों को ग्रहण करती है। तथापि निर्णायिका अवस्था भिन्न है और यह आलोचक पित्त के एक ऐसे विशेष प्रकार से उत्पन्न होती है जिस प्रकार को बुद्धि-वैशेषिक कहते हैं तथा जो भौहों के बीच में स्थित है और यहाँ स्थित होने वाले सूक्ष्म आकाशों को ग्रहण करते हैं (सूक्ष्मानर्थानात्मकृतान्), प्रस्तुत सामग्री को धारण करता है (धारयति); ऐसे ही अन्य ज्ञात तथ्यों का एकीकरण करता है (प्रत्यधारयति), भूत का स्मरण करता है, और बोधात्मक और निर्णयात्मक रूपों में हमारा ज्ञान उत्पन्न करके भविष्य में अनुभव करने के लिए इच्छा करता है; निदेशात्मक क्रियाओं को उत्पन्न करता है और वह शक्ति है जो ध्यान एवं धारणा में क्रियाशील होती है।[2]

सुश्रुत ने मस्तिष्क के बारे में कुछ भी महत्त्वपूर्ण बात नहीं कही है, परन्तु इसमें कुछ भी संदेह नहीं प्रतीत होता है कि उन्हें इस बात का ज्ञान था कि शिर की कौनसी शिरा किस इन्द्रिय-व्यापार से सम्बद्ध है। इस प्रकार 3. 6. 28 में उनका कथन है कि कर्णपृष्ठ के अधोभाग में दो शिराएँ हैं जिन्हें 'विधुरा' कहते हैं और जिन्हें यदि काट दिया जाय तो बधिरता उत्पन्न हो जायगी; नासिका-छिद्रों के दोनों ओर नासिका के अन्दर की ओर 'फण' संज्ञक दो शिराएँ हैं जो यदि कट जाएँ तो गंध का संवेदन नष्ट कर देंगी; भौंहों के पृष्ठ भाग में आँखों के नीचे 'अपांग' संज्ञक दो शिराएँ हैं जिन्हें यदि काट दिया जाय तो अन्धता उत्पन्न होगी। ये सब बोध कराने वाली शिराएँ अपने मार्ग में भौंह के केन्द्र भाग (शृंगाटक) में मिलती हैं।[3] उनका आगे कथन है कि शिराएँ मस्तक में उसके ऊपरी भाग में मस्तिष्क से संबद्ध है (मस्तकाभ्यन्तरोपरिष्ठात् शिरासंधिसन्निपात), और जिस स्थान को रोमावर्त कहते हैं वह सर्वोच्च अधिपति है। चरक का कथन है कि शिर इन्द्रियों का स्थान

---

1 ऊर्ध्वं प्रकुपिता दोषाः शिरस्ताल्वन्तरे स्थिताः
मानसं दूषयन्त्याशु ततश्चित्तं विपद्यते,
चित्ते व्यापदमापन्ने बुद्धिर्नाशं नियच्छति
ततस्तुबुद्धिव्यापत्तौ कार्याकार्यं न बुध्यते
एवं प्रवर्तते व्याधिरुन्मादो नाम दारुणः। —वही, पृ० 149।

2 भेल का 'पुरुष-निश्चय' अध्याय, पृ० 81।

3 घ्राणश्रोत्राक्षिजिह्वासंतर्पणीनां शिराणां मध्ये शिरासन्निपातः शृंगाटकानि।
—सुश्रुत संहिता, 3. 6. 28।

है। यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि इस कथन को उसने किसी गम्भीर अर्थ में लिया है अथवा उसका सीधा यही अर्थ है कि श्रवण, चक्षु, नासिका और रसना की इन्द्रियां शिर में स्थित हैं।

चरक का मत है कि हृदय ही चेतना का स्थान मात्र है।[1] शिर, ग्रीवा, हृदय, नाभि, गुदा, मूत्राशय, ओज, शुक्र, रक्त और मांस के प्राणों का स्थान बताया है।[2] तथापि 1. 19. 3 में चरक नाभि और मास को हटा देते हैं और उनके स्थान पर कनपटियों (शंख) को सम्मिलित करते हैं। इस स्थल में प्राण के वास्तविक अर्थ का निर्धारण कठिन है। परन्तु संभावना यही है कि इस शब्द का यहाँ पर प्रयोग सामान्य रूप में मर्म स्थानों को लक्षित करने के लिए किया गया है। 1. 30. 4 और 5 में चरक का कथन है कि सम्पूर्ण शरीर और उसके साथ-साथ 'सामूहिक रूप में षडंग नाम से विख्यात दो हाथ, दो पैर, धड़ और शिर, विज्ञान, इन्द्रियां, इन्द्रिय-विषय, आत्मा, मन और चिन्त्य-विषय, ये सब हृदय में उसी प्रकार संश्रित हैं जिस प्रकार एक मकान खंभों और शहतीरों पर टिका हुआ होता है।[3] जैसीकि चक्रपाणि ने व्याख्या की है, यह स्पष्ट है कि शरीर का हृदय में निर्वाह नहीं हो सकता। अभिप्रेत अर्थ यह है कि जब हृदय बिलकुल स्वस्थ होता है, तो शरीर भी स्वस्थ होता है। चरक का मत है कि मन और आत्मा हृदय में निवास करते हैं और इसी प्रकार बोध, हर्ष और दुःख भी हृदय में निवास करते हैं परन्तु इस अर्थ में नहीं कि हृदय ही वह स्थान है, जहां वे निवास करते हैं, अपितु इस अर्थ में कि वे अपने उचित ढंग से कार्य करने के लिए हृदय पर आश्रित हैं; अगर हृदय में कोई विकार आता है तो वे भी विकृत हो जाते हैं; यदि हृदय ठीक रहता है तो वे भी ठीक ढंग से काम करते हैं। जिस प्रकार शहतीरे खंभों पर आश्रित होती हैं; उसी प्रकार वे सब हृदय पर आश्रित हैं। परन्तु चक्रपाणि चरक के इस मत से सहमत प्रतीत नहीं होते, और उनका मत है कि क्योंकि हृदय प्रबल विचारों, हर्ष और दुःख द्वारा प्रभावित होता है इसलिए मन और आत्मा वस्तुतः हृदय में निवास करते हैं और इसी प्रकार हर्ष और दुःख भी हृदय में निवास करते हैं। विषयों के सारे ज्ञान का कारण और शरीर-तंत्र को धारण करने वाला आत्मा (धारिन्) हृदय में निवास करता है। इसी कारण से जब कोई मनुष्य हृदय में आहत होता है तो वह मूर्च्छित हो जाता है, और यदि हृदय फट जाता है तो वह मर जाता है। यह परम ओज का भी स्थान है।[4] हृदय को वह स्थान भी माना गया है जहां सारी चेतना केन्द्रित है (तत्र चैतन्यसंग्रहः) चरक का कथन है कि हृदय प्राण-वह स्रोतों का स्थान है प्राणवहानां स्रोतसां हृदयं मूलम् (3. 5. 9) और मानसिक क्रियाओं का भी स्थान है (2. 7. 3)। अपस्मार-निदान (2. 8. 4) में चरक का कथन है कि हृदय अन्तरात्मा का श्रेष्ठ स्थान है (अन्तरात्मनः श्रेष्ठमायतनम्)।

---

1 चरक संहिता 4. 7. 8, हृदयं चेतनाधिष्ठानमेकम्।

2 वही, 9।

3 चरक संहिता, 1. 30. 5।

4 चक्रपाणि का कथन है कि यहाँ परम ओजस् का उल्लेख यह सिद्ध करता है कि चरक अपरम् ओजस् नामक अन्य ओजस् को भी मानते थे। शरीर में अपरम् ओजस् की कुल मात्रा आधी अंजलि (अर्धांजलिपरिमाण) है, जबकि परम् ओजस् की कुल मात्रा

यहाँ यह प्रदर्शित करना अनुपयुक्त नहीं होगा कि तैत्तिरीय उपनिषद् में ऐसा वर्णन है कि हृदय वह स्थान है जहाँ मनोमय पुरुष अर्थात् मनरूपी पुरुष, निवास करता है। अन्य कई उपनिषदों में हृदय को नाड़ियों का स्थान बताया है।[1] शंकर बृ० 2. 1. 19 की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि नाड़ियों अथवा शिराओं को 'हिता' कहा है, उनकी वृद्धि अन्न-रस से होती है, उनकी संख्या 2,72,000 है और वे हृदय से उद्भूत होकर सम्पूर्ण शरीर में फैली हुई हैं (पुरीतत्)।[2] बुद्धि हृदय में निवास करती है और वहाँ से बाह्य इन्द्रियों को नियन्त्रित करती है। इस प्रकार, उदाहरणार्थ, जाग्रत अवस्था में सुनने के समय बुद्धि इन नाड़ियों में से होकर कान तक जाती है और वहाँ से श्रोत्रेन्द्रिय को विस्तृत करती है और उसका आधिपत्य करती है। जब बुद्धि का इस प्रकार विस्तार होता है तो हम जाग्रत अवस्था को प्राप्त करते हैं और जब इसका संकोच होता है तो गाढ़ निद्रा (सुषुप्ति) की अवस्था प्राप्त होती है।

रक्त संचरण और स्नायुतंत्र

ऐसा प्रतीत होता है कि शरीर की दो प्रकार की नाड़ियों के 'शिरा' (हिरा) और 'धमनी' नामों का अथर्ववेद काल में भलीभाँति ज्ञान हो गया था।[3] बृहदारण्यक

हृदय में श्वेत-रक्त और किंचित् पीत द्रव की केवल आठ बूँदें ही हैं। हृदय की धमनियों में अपरम् ओजस् की मात्रा अर्धांजलि होती है. और 'प्रमेह' (मूत्र रोग) संज्ञक रोग में इसी ओज की हानि होती है, परन्तु इस ओज की हानि होने पर भी मनुष्य जीवित रह सकता है, जबकि 'परम् ओजस्' की लेशमात्र हानि से मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। 'ओजस्' को आठवीं धातु नहीं मानना चाहिए, क्योंकि यह शरीर को केवल धारण करता है, परन्तु उसका पोषण नहीं करता। तथापि 'ओजस्' का प्रयोग कभी-कभी इसके अर्थ में भी होता है (चरक संहिता 1. 30. 6 पर चक्रपाणि की टीका) और भी देखिए वही, 1. 17. 74 और 75 तथा चक्रपाणि की उस पर टीका। तथापि अथर्ववेद 2.17 में 'ओजस्' को आठवीं धातु माना गया है।

1. देखिए बृ० 2 1.19, 4.2.2 और 3, 4.3.20, 4 4 8 और 9, छान्दो० 8.6.6 कठ 4.16, कौश 4.19, मुंड 2 2 6, मैत्री. बिब्लियोथेका इण्डिका 1870 6.21, 7.11 प्रश्न 3.6 और 7।
2. पुरीतत् शब्द का अर्थ मुख्यत: हृदय का परिच्छद है परन्तु शंकर ने इसका अर्थ यहाँ सम्पूर्ण शरीर लिया है।
3. शतं हिराः सहस्रं धमनीरुत। अथर्ववेद 7. 36 2। सायण ने 'हिरा' की व्याख्या 'गर्भधारणार्थमन्तरवस्थिताः सूक्ष्मा नाड्यः' की है। अथर्ववेद 1.17.1.2 में भी 'हीरा' और 'धमनी' में भेद किया प्रतीत होता है। 1.17.1 में हिराओं को रक्त वस्त्र धारण करने वाली (रक्तवाससः) बताया है, जिसकी सायण ने 'लोहितस्य रुधिरस्य निवासभूता हि' (रक्त का निवास) भाष्य किया है और उसकी व्याख्या 'रजोवहननाड्यः' की है। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि स्थूल वाहिनियों को धमनी कहा जाता था। 1. 17. 3 में अथर्ववेद सैंकड़ों धमनियों और सहस्रों हिराओं का वर्णन करता है।

उपनिषद् में वर्णन है कि हृदय की 'हिता नाड़ियाँ' केश के हजारवें भाग के समान सूक्ष्म हैं और उन्हें श्वेत, रक्त, नीले और हरे द्रवों की वाहिनी बताया गया है; शंकर इस पर भाष्य करते हुए कहते हैं कि ये विभिन्न वर्ण नाड़ियों द्वारा वहन किए गए वात, पित्त और श्लेष्मा के भिन्न-भिन्न संयोगों के कारण होते हैं।[1] उनका कथन है कि सूक्ष्म शरीर सारी नैसर्गिक इच्छाओं का आश्रय है और ये नाड़ियाँ इस सूक्ष्म शरीर के सत्रह तत्त्वों (पाँच भूत, दस इन्द्रियाँ, प्राण और अन्तःकरण) का अधिष्ठान हैं। बृहदारण्यक 4.2.3 में यह कहा गया है कि हृदय संपुट में अन्न-रस का सूक्ष्मतम सार होता है; यही सार सूक्ष्मतम नाड़ियों में प्रवेश करके शरीर को धारण करने में सहायक होता है। यह नाड़ियों के जाल से परिवृत होता है। हृदय से यह अत्यन्त सूक्ष्म 'हिरा' नाड़ियों से होकर ऊर्ध्व गति करता है; ये हिराएँ हृदय से उद्‌भूत हैं। छान्दोग्य 8.6.6 में हृदय से निकलने वाली 101 नाड़ियों का उल्लेख है। इनमें से एक शिर को जाती है।[2] मुण्ड 2.2.6 में यह कहा गया है कि पहिये के आरों के समान नाड़ियाँ हृदय से सम्बद्ध हैं। प्रश्न 3.6 और 7 में फिर भी यह कहा है कि हृदय में एक सौ नाड़ियाँ हैं; इनमें से प्रत्येक की बाईस सौ शाखाएँ हैं और व्यान वायु इनमें संचरण करता है। मैत्र्यु-पनिषद् में शिर की ओर ऊपर को जाने वाली सुषुम्णा नाड़ी का वर्णन है, जिसमें से होकर प्राण का प्रवाह होता है।[3] इनमें से कोई अंश भी हमें नाड़ियों के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं बताते हैं। इन अंशों से जो कुछ ज्ञात होता है वह यह है कि ये नाड़ियां किसी न किसी प्रकार की वाहिनियां हैं जिनसे होकर रुधिर और अन्य मल प्रवाहित होते हैं, और इनमें से कई अत्यन्त सूक्ष्म हैं; यहां तक कि वे चौड़ाई में केश के हजारवें भाग के बराबर हैं। ऋग्वेद 8.1.33 में नड, अर्थात् खोखली बेंत, को तालाबों में उत्पन्न होने वाला और अथर्ववेद 4.19.1 में 'वार्षिक' अर्थात् वर्षा में उत्पन्न होने वाला बताया

---

1 बृ० 4.3.20 शांकरभाष्य सहित। आनन्दगिरि इस पर टीका करते हुए सुश्रुत का एक अंश उद्धृत करते हैं जो सुश्रुत संहिता 3. 7. 18 से वस्तुतः समानार्थक है, और यह प्रदर्शित करते हैं कि वात-वहा शिराएँ गुलाबी (अरुण) होती हैं, पित्तवहा शिराएँ नीली, रक्तवहाशिराएँ लाल और श्लेष्मवहा शिराएँ गौरवर्ण होती हैं।

अरुणाः शिरा वातवहा नीलाः पित्तवहा शिराः।
असृग्वहास्तु रोहिण्यो गौर्यः श्लेष्मवहाः शिराः॥

2 इस अंश को उत्तरकालीन साहित्य में यह प्रदर्शित करने के लिए कभी-कभी उद्धृत किया जाता है कि ऊपर की ओर शिर को जाने वाली सुषुम्णा नाड़ी का ज्ञान छान्दोग्य उपनिषद् काल में भी था। कठ 6.16 भी देखिए।

3 ऊर्ध्वगा नाड़ी सुषुम्णाख्या प्राणसंचारिणी। मैत्री 6.21। सायण अ० वे० 1.17.3 पर अपने भाष्य में निम्न श्लोक को उद्धृत करते हैं:—

मध्यस्थायाः सुषुम्णायाः पूर्वपंचकसम्भवाः
शाखोपशाखतां प्राप्ताः शिरा लक्षत्रयात्परम्
अर्धलक्षमिति प्राहुः शरीरार्थविचारकाः।

गया है। इस शब्द का नाड़ी से कोई व्युत्पत्तिगत सम्बन्ध हो।[1] अन्य स्थल पर ऐसा कहा है कि स्त्रियाँ नड़ को पत्थर से तोड़कर उनकी चटाई बनाती हैं।[2] अथर्ववेद में 'नाड़ी' शब्द का प्रयोग 'स्रोत'[3] के अर्थ में भी किया गया है। अथर्ववेद 5.18.8 में नाड़िका का वागिन्द्रय द्योतक अर्थ में प्रयोग हुआ है। धमनी शब्द का प्रयोग ऋग्वेद 2.11.8 में किया गया है और सायण ने इसकी व्याख्या 'शब्द' तथा मैकडानेल ने नरकट' अथवा 'नलिका' की है।[4] यदि सायण की व्याख्या स्वीकार कर ली जाए, तो अ० वे० 2.33.6 में आए 'स्नाव' शब्द का अर्थ सूक्ष्म शिराएँ और धमनी का अर्थ स्थूल वाहिनियां (धमनी शब्देन स्थूला:) होगा। 6.10.5 में कहा गया है कि शूल से पीड़ित मनुष्य के शरीर को एक सौ धमनियां घेरे हुए हैं, और सायण यहाँ धमनी की व्याख्या 'नाड़ी' करते हैं। छान्दोग्य 3.19.2 में कहा है कि धमनियां नदियां हैं (या धमन्यस्ता नद्य:) और शंकर धमनी की व्याख्या शिरा से करते हैं। अथर्ववेद में हिरा शब्द के प्रयोग का मैं पहले ही उल्लेख कर चुका हूँ; यह शब्द ऋग्वेद में भी प्रयुक्त हुआ है।[5]

---

1 मैक्डॉल अपने Vedic Index; Vol 1 पृ० 433 में निम्न टिप्पणी करते हैं : 'नड ऋग्वेद के अनेक स्थलों में दृष्टिगत होता है (1 32.8; 179.4; 2.34.3; 8.69.2; 10.11.2; 105.4) परन्तु इसका अर्थ अभी तक अस्पष्ट है। पिशेल ने (Zeitschrift der Deutschen Morgentandinches Gesellschaft 35.717 इत्यादि; Vedische Studien I. 183 इत्यादि) एक स्थल (1.32 8) में व्याख्या करते हुए, इसको और नड को एक ही बताया है। यहां कलाँ और हेनरी L'Agni-stoma पृ० 313, नलम् पाठ करते हैं। और भी देखिए Wackernagel (वाकेर नागेल) Altindische Grammatik I. 173, इसमें नड का अर्थ नरकट की नाव है, जो चिरी हुई है और जिसके ऊपर पानी गमन करता है, इत्यादि।'

2 यथा नडं कशिपुने स्त्रियां भिन्दन्त्यश्मना (अथर्ववेद 6 138.5)।

3 अथर्ववेद 6.13.8.4 में नाड़ियों का अण्डकोष के ऊपर के स्रोतों के अर्थ में वर्णन किया गया है जिनमें शुक्र बहता है : ये ते नाड्यौ देवकृते यथोस्तिष्ठति वृष्ण्यं ते ते भिन्नद्मि (मैं पत्थर पर पत्थर से तुम्हारी वे दो देवनिर्मित अण्डकोष के ऊपर की नाड़ियां तोड़ता हूँ जिनमें से होकर तुम्हारा वीर्य बहता है)। 10.7.15 और 16 में समुद्रों के अवकाश को नाड़ी कहा गया है (समुद्रो यस्य नाड्य:) और इसी प्रकार आकाश के चतुर्दिक के मध्य के स्थान को भी नाड़ी कहा है (यस्य चतस्र: प्रदिशो नाड्य:)।

4 'ऋग्वेद के एक अंश 2.11.8 और निरुक्त 6.24 की एक उक्ति में 'धमनी' नरकट, नली के द्योतक अर्थ में दृष्टिगत होता है। Vedic Index Vol. I पृ० 390। 'शिरा' चरक में तालव्य 'श' से प्रयुक्त है और वेदों में दन्त्य 'स' से, अतः इस अध्याय में इसका प्रयोग अलग-अलग संदर्भ में अलग रूप में किया है।

5 त्वं वृत्तमाशयानं शिरासु महो वज्रेण सिष्वप:–ऋ० वे० 1.121.11। चरक में धमनी शब्द 'ई' कार युक्त है और अथर्ववेद में इकार युक्त।

उपर्युक्त सन्दर्भ यह प्रदर्शित करते हैं कि नाड़ियां, शिराएँ (अथवा हिराएँ) और धमनियां सब शरीर के अन्दर वाहिनियां थी. परन्तु कभी-कभी नाड़ियों अथवा शिराओं का विशेष अर्थ सूक्ष्मवाहिनियाँ भी होता था, जबकि धमनियां स्थूल वाहिनियां थी। अब में चरक पर आता हूँ; यह ज्ञात हो जाएगा कि इनके अन्तर और कार्यों के महत्त्व के सम्यक् बोध में कोई अधिक प्रगति नहीं हुई।

चरक धमनियों, शिराओं और वाहिनियों (स्त्रावक धाराएँ) को नाड़ियां मानते हैं और उनका मत है कि इनके भिन्न-भिन्न कार्यों के कारण इन्हें भिन्न-भिन्न नाम दिए गए हैं। उनका कथन है कि दस धमनियों का मूल हृदय में है। ये सारे शरीर में ओज को प्रवाहित करती हैं, जिसके द्वारा मनुष्य जीवित रहते हैं और जिसके अभाव में वे सब मर जाते हैं। यही वह सारतत्त्व है जिससे गर्भ का निर्माण होता है, और जो बाद में हृदय में चला जाता है, जब हृदय की रचना हो जाती है; जब इसका लोप हो जाता है, तो जीवन का भी अस्तित्व समाप्त हो जाता है; यह शरीर का सार है और प्राणों का स्थान है। इन वाहिनियों को धमनियां कहते हैं क्योंकि वे बाह्य रस से पूरित होती हैं; उन्हें स्रोत कहा जाता है, क्योंकि रस इत्यादि जो शरीर का पोषण करते हैं इनमें से बहते (स्रवणात्) हैं, और उन्हें शिरा कहते हैं क्योंकि वे शरीर के विभिन्न भागों को जाती हैं (सरणात् शिरा:)।[1] दस धमनियां सारे शरीर में नानाविध शाखाओं में फैली हुई हैं। चरक संहिता में स्रोत का वास्तविक अर्थ उस मार्ग से है जिससे धातुओं के क्रमिक रूप में विकासमान पदार्थ अथवा अन्य प्रकार के स्राव बहते हैं और अपने सदृश तत्त्वों से मिलकर जमा हो जाते हैं।[2] चक्रपाणि इसकी व्याख्या ऐसे करते हैं : अन्न की रस से सम्बद्ध होकर रक्त में परिणति होती है। शरीर के एक पृथक् भाग में रस का रक्त से मिलन स्रोत संज्ञक संवाहन मार्ग के बिना नहीं हो सकता। अतः धातुओं का रूपान्तरण इस संवाहन पथ के कार्य के माध्यम से होता है। इसलिए प्रत्येक प्रकार के परिणत पदार्थ के लिए एक पृथक् 'स्रोत' है। ऐसा कहा जा सकता है कि वायु, पित्त और कफ सब स्रोतों से संचरण करते हैं, यद्यपि निस्सन्देह तीनों में से प्रत्येक के लिए विशेष मार्ग हैं।[3] गंगाधर तो स्रोत का अर्थ उन द्वारों से लेते हैं जिनसे धातु और अन्य किट्ट प्रवाहित होते हैं।[4] किसी भी प्रकार से देखा जाए, स्रोत धमनियों की वाहिका के अतिरिक्त कुछ नहीं है। चरक उन

---

1 ध्मानाद् धमन्यः स्रवणात् स्रोतांसि, सरणात् शिराः। चरक संहिता 1.30.11।

2 वही, 3.5.3।

3 दोषाणां तु सर्वशरीरचरत्वेन यथास्थूलस्रोतोऽभिधानेऽपि सर्वस्रोतांस्येव गमनार्थं वक्ष्यन्ते.........वातादीनामपि प्रधानभूता धमन्यः सन्त्येव-चक्रपाणि की उसी पर टीका।

4 आहारपरिमाणरसो हि स्रोतसां छिद्ररूपं पन्थानं बिना गन्तुं न शक्नोति, न च स्रोतश्छिद्रपथेन गमनं बिना तदुरोत्तरधातुत्वेन परिणमति, इत्यादि। उपर्युक्त पर गंगाधर कृत जल्पकल्पतरु।

लोगों के मत का विरोध करते हैं जिनका यह विचार है कि शरीर वाहिनियों के समूह के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इसका सीधा सादा कारण यह है कि जो पदार्थ इन वाहिनियों में से संचरण करते हैं और शरीर के जिन भागों में वे पदार्थ जुड़े हुए हैं वे निश्चित रूप में स्वयं वाहिनियों से पृथक् हैं। प्राण, जल, अन्न-रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थिमय पदार्थ, मज्जा, शुक्र, मूत्र, पुरीष और स्वेद इनके स्राव के लिए पृथक्-पृथक् स्रोत हैं, तथापि वात, पित्त और श्लेष्मा सारे शरीर और सारी नाड़ियों में से होकर प्रवाहित होते हैं (सर्वं स्रोतांसि अयनभूतानि) शरीर के अतीन्द्रिय तत्त्वों, यथा मन इत्यादि, के लिए सामग्री जुटाने के लिए सम्पूर्ण जीवमान शरीर स्रोत का काम करता है।[1] हृदय समस्त प्राणवह स्रतों अर्थात् प्राण वायु के मार्गों का मूल है, क्योंकि सामान्यतः वायु शरीर के सारे भागों में विचरण करता है। जब ये दूषित होते हैं तो या तो अत्यधिक या अत्यल्प श्वसन होता है, श्वसन अति मन्द अथवा अतितीव्र हो सकता है और इसके साथ शब्द और पीड़ा होती है। इन लक्षणों से कोई भी अनुमान लगा सकता है कि प्राण-मार्गों में विकार आ गया है। जल मार्गों का मूल तालु है और पिपासा का स्थान हृदय (क्लोम) है।[2] जब ये दूषित होते हैं तो जिह्वा, तालु, ओष्ठ, कण्ठ और क्लोम सूख जाते हैं और बड़ी प्यास लगती है। सारे आहारवह स्रोतों का मूल आमाशय है और जब ये दूषित होते हैं तो भोजन के प्रति अरुचि, अजीर्ण, वमन आदि होते हैं। रसवह स्रोतों का हृदय मूल है और दश धमनियां मार्ग हैं। यकृत और प्लीहा रक्तस्रोतों के मूल हैं। स्नायु और त्वचा मांसवह स्रोतों के मूल हैं। वृक्क मदवह स्रोतों के मूल हैं, मेद और वस्ति अस्थिवह स्रोतों के; अस्थि और सन्धियां मज्जावह स्रोतों के; अण्डकोष और शिश्न शुक्र वहस्रोतों के, मूत्राशय और वक्षण मूत्रवह स्रोतों के, पक्वाशय और मलाशय पुरीषवाही स्रोतों के और मेद और रोमकूप स्वेदवह स्रोतों के मूल हैं।[3] तथापि यह एक विलक्षण बात देखने में आती है कि शिराओं और धमनियों को पर्याय-

---

1 इस अंश (चरक संहिता 3.5.7) तद्वदतीन्द्रियाणां पुनः सतवादीनां केवलं चेतनावच्चरितमयनभूतमधिष्ठानभूतं च पर टीका करते हुए गंगाधर का कथन है : मन आत्मा श्रोत्रस्पर्शननयनरसनप्राणबुद्ध्यहंकारादीनां केवलं चेतनावत् सजीवं शरीर-स्रोतोऽयनभूतमधिष्ठानभूतंच। चरक में ऐसे कई स्थल हैं जहाँ हमें मनोवह स्रोतों (मन को ले जाने वाले पथ) का ज्ञान होता है; यदि मन, बुद्धि, अहंकार आदि सब स्रोतों में वहन किए जा सकते हैं, तो यह मानना पड़ेगा कि उनका कोई भौतिक देशीय अस्तित्व है। ये मन, बुद्धि और अहंकार अतीन्द्रिय हो सकते हैं, परन्तु उस कारण से वे अभौतिक नहीं हो सकते।

2 चरक संहिता 3.5.10। चक्रपाणि ने इसकी (क्लोम की) व्याख्या इस प्रकार की है 'हृदयस्थ पिपासास्थानम्,' और गंगाधर ने इसे कण्ठ और हृदय का संधिस्थल (कण्ठोरसोः संधिः) बताया है।

3 चरक द्वारा दिए गए 'स्रोतस्' के पर्यायवाची हैं—शिरा, धमनी, रस वाहिनी; नाड़ी, पन्था, मार्ग, शरीर छिद्र, संवृतासंवृतानि (मूल में खुला हुआ परन्तु अन्त में बन्द स्थान) आशय और निकेत।

वाची मानने के उपरान्त भी, उनकी संख्या 4.7.13 में अलग-अलग दी गई हैं, जिसमें यह कहा गया है कि दो सौ धमनियाँ हैं और सात सौ शिराएँ हैं और इनके सूक्ष्मतर सिरों की संख्या 29956 है। अथर्ववेद में उपलब्ध संकेतों के अनुसार ऐसा सोचना युक्तिसंगत है कि यद्यपि चरक द्वारा धमनियों और शिराओं को सदृश कर्म वाला माना गया है, फिर भी धमनियां शिराओं की अपेक्षा स्थूलतर हैं।[1] गंगाधर इस अंश पर टीका करते हुए कहते हैं कि शिराएँ, धमनियां और स्रोत इस कारण भिन्न-भिन्न है कि उनकी संख्या भिन्न-भिन्न हैं, उनके कार्य भिन्न-भिन्न हैं और उनके रूप भिन्न हैं। सुविदित है कि सुश्रुत ने शिरा और धमनियों का भेद किया है, जिसका मैं यहाँ उल्लेख करूँगा परन्तु चरक ने ऐसे विभेद को स्पष्ट रूप से अस्वीकार किया है, और यह भेद चरक के टीकाकार चक्रपाणि ने भी स्वीकार किया है।[2] गंगाधर चरक का कोई भी ऐसा स्थल प्रदर्शित करने में असमर्थ है जिससे वह अपने मत को सिद्ध कर सके या अधिक रूप से यह बता सके कि धमनियों और शिराओं के कार्यों और रूपों में क्या अन्तर है। वास्तव में गंगाधर का कथन सुश्रुत 3.9.3 से लिया गया है परन्तु ऐसा उसने स्वीकार नहीं किया है, और यह अत्यन्त आश्चर्यजनक है कि उसको इस बात पर चरक और सुश्रुत के मतों के बीच का अन्तर ज्ञात न हो और चरक के पक्ष की सुश्रुत के उद्धरण से उसी बात पर पुष्टि करे जिस पर उन दोनों का यथार्थ रूप में मतभेद है। सुश्रुत चरक के इस मत का उल्लेख करते हैं कि शिरा, स्रोत और धमनियाँ एक ही हैं और यह कह कर इसका विरोध करते हैं कि वे रूप संख्या और कार्यों के अनुसार भिन्न-भिन्न हैं। इसकी व्याख्या करते हुए डल्हण का कथन है कि शिराएँ वात, पित्त, श्लेष्मा, रक्त इत्यादि का वहन करती हैं और गुलाबी, नीली, श्वेत और लाल होती है, जबकि धमनियां शब्द इत्यादि इन्द्रिय रूपों को वहन करती हैं और उनका भेदकारक वर्णन नहीं है, और स्रोतों का वही वर्ण होता है जिस वर्ण की धातु को वे अपने में वहन करते हैं। पुनः मुख्य शिराएँ संख्या में चालीस हैं, मुख्य धमनियां चौबीस हैं और मुख्य स्रोतों की संख्या बाईस है। शिराएँ हमें हमारे अंगों का संकोच अथवा विस्तार करने देती हैं अथवा अन्य गतिप्रद कार्य करने देती हैं, और वे मन और इन्द्रियों को अपने खुद के ढंग से कार्य करने देती हैं तथा जब वायु उनमें क्रियाशील होता है तो शीघ्रता से चलने के कार्य (प्रस्यन्दन) के सम्पादन में भी सहायक होती हैं। जब पित्त का शिराओं में वहन होता है तो वे दीप्तिमान प्रतीत होती हैं, आहार में रुचि उत्पन्न करती हैं, जठराग्नि और आरोग्य को बढ़ाती हैं। जब श्लेष्मा उनमें से प्रवाहित होती है. तो वे शरीर को स्निग्ध आभा, संधियों को दृढ़ता और शक्ति प्रदान करती हैं। जब उनमें से रक्त का संचार होता है तो

---

1 दृढ़बल का एक ऐसा स्थल (चरक संहिता 6.29.23) है जिससे प्रतीत होता है कि शिराओं और धमनियों में भेद किया गया है, क्योंकि वहाँ रोग के लक्षण के रूप में यह कहा गया है कि शिराएँ विस्तृत (आयाम) हो गई हैं और धमनियां सिकुड़ (संकोच) गई हैं।

2 न च चरके सुश्रुत इव धमनीशिरास्रोतसां भेदो विवक्षितः (चरक 3.5.3 चक्रपाणि कृत टीका)।

वे रंगीन हो जाती हैं और भिन्न-भिन्न धातुओं से पूरित भी हो जाती हैं और स्पर्श का इन्द्रिय-बोध भी उत्पन्न करती हैं। वायु, पित्त, श्लेष्मा और रक्त इनमें से कोई भी, किसी भी, और प्रत्येक शिरा में प्रवाहित हो सकता है।[1] धमनियां ज्ञानवहा नाड़ियों के अधिक समान हैं क्योंकि वे शब्द, रूप, रस और गन्ध की संवेदना का वहन करती हैं (शब्द-रूपरसगन्धवहत्वादिकं धमतीनाम्)। स्रोत प्राण, भोजन, उदक, रस, रक्त, मांस और भेद का वहन करते हैं।[2] यद्यपि उनके कार्य वास्तव में पृथक्-पृथक् हैं फिर भी कभी-कभी ऐसा माना गया है कि वे एक सा ही कार्य करते हैं, इसका कारण है उनकी परस्पर अत्यधिक निकटता, उनके सदृशकार्य, उनकी सूक्ष्मता, और यह तथ्य भी कि आप्त पुरुषों ने उनके लिए समान शब्दों का प्रयोग किया है।[3] इसकी व्याख्या करते हुए डल्हण का कथन है कि जिस प्रकार घास के गठ्ठर के जलने के समय घास के प्रत्येक पृथक् पत्ते का उनकी निकटता के कारण पृथक् रूप में जलना देखा नहीं जा सकता, उसी प्रकार शिरा, धमनियां और स्रोत एक दूसरे के इतने निकट स्थित हैं कि उनकी पृथक् क्रिया और कर्म को देखना अत्यन्त कठिन है। शिरा, धमनी और स्रोत शरीर की वाहिनियों अथवा नाड़ियों के द्योतक सामान्य नाम हैं।[4] इन सब नाड़ियों के सदृश कर्म के कारण ही कभी-कभी उनके कार्यों के विषय में भ्रम हो जाता है।

धमनियों का मूल नाभि है; दस शरीर के ऊर्ध्व भाग को जाती हैं, दस अधोभाग को और चार आड़ी (तिर्यग्गा)। जो दस शरीर के ऊर्ध्व भाग को जाती हैं, वे शाखाओं में विभक्त होकर तीन वर्गों में बँट जाती हैं और उनकी संख्या तीस है। इनमें से दस सर्वथा वात, पित्त, कफ, शोणित और रस का–प्रत्येक के लिए दो-दो–वहन करती है, आठ शब्द, रूप, रस और गन्ध का–प्रत्येक के लिए दो-दो–वहन करती है; दो वाक् इन्द्रिय के लिए, दो वाणी से भिन्न घोष उत्पन्न करने के लिए, दो निद्रा के लिए, दो जागृति के लिए, दो अश्रुओं को धारण करने के लिए, दो स्त्रियों में दुग्ध को प्रवाहित करने के लिए हैं और यही दो धमनियां मनुष्यों में शुक्र को प्रवाहित करने के लिए हैं। इन धमनियों के द्वारा ही नाभि के ऊपर का शरीर (यथा पार्श्व, पृष्ठ, वक्ष, कंधे, हाथ इत्यादि) अधोभाग से दृढ़ता से सम्बद्ध रहता है। वात आदि का वहन समस्त धमनियों का सामान्य गुण है।

जो धमनियां अधोभाग में शाखाओं में बँट जाती हैं उनकी संख्या तीस है। वे वात, मूत्र, मल, शुक्र, आर्तव, इत्यादि का नीचे की ओर उत्सर्ग करती हैं। वे पित्ताशय से सम्बद्ध हैं, आत्मसात् करने के अयोग्य पदार्थों को नीचे की ओर ले जाती हैं और पाचन से उत्पन्न विलेय पदार्थों से शरीर को पुष्ट करती है। ज्यों ही भोजन उष्णता से पच जाता

---

1 सुश्रुत संहिता 3.7.8-17।

2 डल्हण की सुश्रुत। 3.9.3 पर टीका।

3 वही।

4 इस प्रकार डल्हण का कथन है :

आकाशीयावकाशानां देहे नामानि देहिनाम्
शिराः स्रोतांसि मार्गाः खं धमन्यः।

है, पित्ताशय से जुड़ी हुई धमनियां अन्न रस को ऊपरी प्रवाहिका धमनियों में पहुँचा देती हैं, उनमें से उसे 'रसस्थान' संज्ञक हृदय में पहुँचाती हैं, और तब उस अन्न-रस को सम्पूर्ण शरीर में बाहित करती हैं।[1] दस धमनियां वात, पित्त, शोणित, कफ और रस का वहन करती हैं, पक्वाशय से सम्बद्ध दो धमनियाँ अन्नरस का वहन करती हैं, दो जल का वहन करती हैं, दो मूत्र के वहन के लिए मूत्राशय से सम्बद्ध हैं, दो शुक्र के प्रादुर्भाव के लिए, दो शुक्र के विसर्ग के लिए और यही दो स्त्रियों के आर्तव-शोणित का नियमन करती हैं, स्थूलान्त्र से सम्बद्ध दो पुरीष का निरसन करती है, अन्य आठ स्वेद का वहन करती हैं। इन्हीं धमनियों के कारण ही पक्वाशय, कटि, मूत्र, पुरीष, गुदा, मूत्राशय और शिश्न एक दूसरे से जुड़े रहते हैं।

आड़ी जाने वाली (तिर्यग्गा) चार धमनियों में से प्रत्येक की सैंकड़ों और हजारों शाखाएँ हैं, ये शाखाएँ असंख्य होने के कारण, सारे शरीर में अनेकों खिड़कियों के समान फैली हुई हैं, उनके द्वार रोमकूपों पर स्थित हैं जिनमें से स्वेद निकलता है और जो रस द्वारा शरीर का पोषण करती हैं, और इनमें से होकर शरीर पर 'भ्राजक' (त्वचा की ऊष्मा) का कार्य होने के पश्चात् तैल, जल के अभिषेचन, अभ्यंग आदि का वीर्य शरीर में प्रवेश करता है।[2] पुनः इन्हीं के द्वारा ही स्पर्श का सुखमय अथवा पीड़ामय इन्द्रियबोध होता है।[3] धमनियां इन्द्रिय-विषयों के बोध के लिए इन्द्रियों का निर्देशन करती हैं। वही बोधकर्त्ता (मन्तृ) है और मन इन्द्रियां हैं, एक ओर जो धमनी मन से संबद्ध है और दूसरी ओर जो धमनिएँ भिन्न-भिन्न इन्द्रिय बोधों को वहन करती हैं, वे दोनों इन्द्रिय सामग्री का आत्मा को बोध कराती हैं।[4] बोधकारी और चेष्टाकारी विभिन्न धमनियों के

---

1 सुश्रुत शारीर अध्याय 9, श्लोक 7 और 8। इस पर डल्हण की टीका भी देखिए। शरीर में अन्न-रस-वाहिनी कुछ धमनियों के छिद्र कमल तन्तुओं के समान सूक्ष्म होते हैं और उनसे स्थूलतर कुछ धमनियों के छिद्र बिस के छिद्र के बराबर होते हैं। इस प्रकार कुछ धमनियों के अति सूक्ष्म छिद्र होते हैं और अन्यों के उनसे स्थूलतर छिद्र होते हैं—

यथा स्वभावतः खानि मृणालेषु बिसेषु च
धमनीनां तथा खानि रसो यैरुपचीयते ॥ —वही अ० 9 श्लो० 10।

2 सुश्रुत, शारीर अध्याय 9 श्लोक० 7 और 8 देखिए इस पर डल्हण की टीका।

3 सुश्रुत 3.9.9 में इस स्थल पर टीका करते हुए डल्हण कहते हैं 'तैरेव मनोऽनुगतैः सुखासुखरूपं स्पर्शं कर्मात्मा गृह्णाति।' (मन से सम्बद्ध होने के फलस्वरूप, इन्हीं धमनियों के द्वारा सूक्ष्म शरीर से युक्त आत्मा स्पर्श के सुखासुख रूपों को ग्रहण करता है।

4 पंचाभिभूतास्त्वथ पंचकृत्वः
पंचेन्द्रियं पंचसु भावयन्ति
पंचेन्द्रियं पंचसु भावयित्वा
पंचत्वमायान्ति विनाशकाले। —सुश्रुत, 3.9.11।

और आगे नाम सुश्रुत 3.6.28 में दिए गए हैं। कर्ण-पृष्ठ के अधोभाग में विधुरा नामक दो धमनियां हैं जिनके आहत होने पर बाधिर्य उत्पन्न होता है, नासिका के अन्दर के भाग फण नामक दो धमनियाँ हैं, जिनके आहत होने पर घ्राण की संवेदना रुक जाती है। आंखों के दोनों पार्श्वों पर भोहों के नीचे 'अपांग' नामक दो धमनियां हैं जिनके उपघात होने पर अन्धता उत्पन्न होती है, भोहों के ऊपर और नीचे की ओर 'आवर्त्त' नामक दो धमनियां और भी हैं, जिनके आहत होने पर भी अन्धता उत्पन्न होती है। इस सम्बन्ध में, मस्तिष्क के ऊर्ध्व भाग पर कपाल में जिस स्थान पर सारी शिराएं आपस में मिलती हैं सुश्रुत ने उस स्थान का भी वर्णन किया है और उसे अधीक्षक रूप में 'अधिपति' की संज्ञा दी है।

शिराओं (संख्या 700) का वर्णन करते हुए सुश्रुत कहते हैं कि ये अनेक कुल्याओं के समान हैं जो शरीर को खींचती है और जिनके संकोच और आयाम के कारण शरीर की चेष्टाएँ सम्भव होती हैं। वे नाभि से प्रारम्भ होती हैं और पत्ते के अनेक तन्तुओं के समान विभक्त हो जाती हैं। मुख्य शिराएँ संख्या में चालीस हैं, इनमें से दस वात के. दस पित्त के, दस कफ के और दस रक्त के परिवहन के लिए हैं। वातवाहिनी शिराएँ फिर 175 शिराओं में विभक्त हो जाती हैं और ऐसा ही विभाजन पित्त, कफ और रक्त वाहिनी शिराओं का भी है। इस प्रकार कुल 700 शिराएँ हमें उपलब्ध होती हैं। जब वात सम्यक् रूप से शिराओं में प्रवाहित होता है तो बिना किसी अवरोध के हमारे अंगों की चेष्टाएँ और हमारे बौद्धिक कार्य सम्भव होते हैं। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि यद्यपि कुछ शिराओं का मुख्यतः वात, पित्त और कफ को वहन करने वाली ही माना गया है, फिर भी वे सब कम से कम कुछ अंशों तक इन तीनों का वहन भी करती है।[1]

स्नायु 900 हैं, और इनमें भी छिद्र होते हैं (सुषिराः), और ये स्नायु तथा कण्डराएँ भी जो केवल विशिष्ट प्रकार के स्नायु हैं, शरीर की संधियों को उसी प्रकार बांधने का कार्य करती हैं जिस प्रकार नाव में तख्तों के कई टुकड़े आपस में जुड़े रहते हैं। सुश्रुत ने पांच सौ पेशियों का भी वर्णन किया है। मर्म मांस, शिराओं, स्नायुओं और अस्थियों के प्राणभूत स्थान हैं जो विशिष्ट रूप से प्राणों के स्थान हैं। जब मनुष्य इन स्थानों पर आहत होते हैं तो या तो वे अपने प्राण गंवा देते हैं या उनमें अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न हो जाते हैं। सुश्रुत ने स्रोतों का भी वर्णन उन नाड़ियों के रूप में किया है जो शिराओं और धमनियों से पृथक् हैं और जो हृदय-विवर से प्रारम्भ होकर सम्पूर्ण

उपर्युक्त पर टीका करते हुए डल्हण कहते हैं: 'मन्ता हि शरीरे एक एव, मनो प्येकमेव, तेन मनसा यैव धमनी शब्दादिवहासु धमनीष्वभिप्रपन्ना सैव धमनी स्वधर्मं ग्राहयति मन्तारं नान्येति।'

1 न हि वातं शिराः काश्चिन्न पित्तं केवलं तथा।
श्लेष्माणं या वहन्त्येताः अतः सर्ववहाः स्मृताः॥ —सुश्रुत, 3.7.16।

शरीर में फैल गई है ।[1] ये स्रोत प्राण, अन्नरस, उदक, रक्त, मांस, मेद, मूत्र, पुरीष, शुक्र और आर्तव का वहन करते हैं ।

तान्त्रिक स्नायुतंत्र और स्नायु संस्थान

तथापि तान्त्रिक स्नायु संस्थान चरक और सुश्रुत के चिकित्सा सम्बन्धी स्नायु संस्थान से पूर्णतः भिन्न है । इसका प्रारम्भ मेरुदण्ड की धारणा से होता है, जिसको पृष्ठमूल से ग्रीवामूल तक की एक अस्थि माना गया है । मेरुदण्ड के अन्दर के मार्ग में सुषुम्णा नामक एक नाड़ी है, जो स्वयं वास्तव में सुषुम्णा, वज्रा और चित्रिणी इन तीन नाड़ियों से बनी है ।[2] सारी नाड़ियाँ मेरुदण्ड के अन्त में स्थित 'काण्ड' संज्ञक मूल से प्रारम्भ होती हैं और वे 'सहस्रार' नामक मस्तिष्क के ऊर्ध्वतम नाड़ी-तन्त्र की ओर ऊर्ध्वगमन करती हैं और उनकी संख्या बहत्तर हजार है । इन नाड़ियों (काण्ड) का मूल स्थान गुदा के एक इन्च ऊपर और शिश्न-मूल के एक इंच नीचे हैं । यदि सुषुम्णा मेरुदण्ड की मध्य नाड़ी है तो इसके धुर दक्षिण ओर 'इड़ा' है और तत्पश्चात् इसके समानान्तर सुषुम्णा की ओर ये नाड़ियां हैं : बांई आंख के कोने से बाएं पैर तक फैली हुई, 'गांधारी' बांई आंख से बांए पैर तक फैली हुई 'हस्तिजिह्वा' बांई ओर को शाखा रूप में निकली हुई 'शखिनी', 'कूहू' (बांई ओर की बस्तिप्रदेशीय नाड़ी)' और कटिप्रदेशीय नाड़ी 'विश्वोदरा' । सुषुम्णा के धुर बांए पार्श्व में 'पिंगला' है और पिंगला और सुषुम्ना के मध्य में ये नाड़ियां हैं : दक्षिणी आंख के कोने से उदर तक फैली हुई 'पूषा' कर्ण प्रदेशीय शाखा अथवा ग्रैवेय नाड़ीतंत्र 'पश्यन्ती,'

---

1 सुश्रुत, शारीर, अध्याय 9 श्लोक 13 ।

मूलात्खादन्तरं देहे प्रसृतं त्वभिवाहि यत्
स्रोतस्तदिति विज्ञेयं शिराधमनीवर्जितम् ॥

2 परन्तु तन्त्र चूड़ामणि के अनुसार सुषुम्णा मेरुदण्ड के अन्दर की ओर नहीं इसके बाहर की ओर है । इस प्रकार इसमें कहा है हृद्बाह्ये तु तयोर्मध्ये सुषुम्णा वह्निसंयुक्ता ।' परन्तु यह 'षट्चक्रनिरूपण' के मत त विरुद्ध है जिसके अनुसार सुषुम्णा रीढ़ के मार्ग के अन्दर है । 'निगमत्त्वसारतत्र के अनुसार 'इड़ा' और 'पिंगला' दोनों रीढ़ के अन्दर हैं, परन्तु यह स्वीकृत मत के बिल्कुल विरुद्ध है । डा० सर वी० एन० सील का मत हैं कि सुषुम्णा मेरुदंड का मध्य मार्ग या संचार मार्ग है, न कि पृथक् नाड़ी (The positive Science of the Ancient Hindus पृ० 219, 226, 227) । The Mysterious Kandaras नामक अपनी पुस्तक में श्री रेले ने विचार प्रकट किया है कि यह केन्द्र स्थित एक नाड़ी है और मेरुदण्ड में से होकर जाती है, परन्तु रेले का विचार है कि यह सुषुम्णा नाड़ी मेरुदण्ड के अतिरिक्त कुछ नहीं है । इनके इस निर्णय का आधार यह कथन है कि सुषुम्णा मेरुदण्ड के त्रिक से उद्भूत है । इस त्रिक से वह कपाल-मूल तक ऊपर की ओर जाती है, वहां यह 'ब्रह्मचक्र' (कपाल कुहर स्थित मस्तिष्क) नामक सहस्रों स्नायुओं के जाल में मिल जाती है और कण्ठ स्तर पर दोनों भोहों और मस्तिष्क छिद्र (ब्रह्मरंध्र) के बीच क्रमशः अग्र भाग और पश्च भाग में विभक्त हो जाती है ।

'सरस्वती' और 'वारणा' (त्रिकीय नाड़ी)। 'शंखिनी' (बांई ओर की कर्ण प्रदेशीय शाखा अथवा ग्रैवेय नाड़ी तंत्र) 'सुषुम्णा' के समानान्तर जाती है, परन्तु ग्रीवा प्रदेश में मुड़कर बांए कर्ण छिद्रों के मूल तक चली जाती है, इसकी एक दूसरी शाखा ललाट प्रदेश के आभ्यन्तर भाग में से जाती है जहां यह 'चित्रिणी' नाड़ी से जुड़ जाती है और मस्तिष्क प्रदेश में प्रवेश करती है। सुषुम्णा नाड़ी रीढ़ के अन्दर की ओर एक प्रकार की वाहिनी है जो अपने अन्दर 'वज्रा' नाड़ी को लपेटे हुए है, और वह वज्रा नाड़ी अपने अन्दर 'चित्रिणी' नाड़ी को घेरे हुए है जिसमें एक सूक्ष्म छिद्र इसके सम्पूर्ण भाग में विद्यमान है, यह सूक्ष्म छिद्र सम्पूर्ण मेरुदण्ड में से होकर बना हुआ है।[1] चित्रिणी नाड़ी का आभ्यन्तर मार्ग भी 'ब्रह्मनाड़ी' कहलाता है, क्योंकि 'चित्रिणी' में और आगे अन्य कोई मार्ग या नाड़ी नहीं हैं।[2] इस प्रकार यथासंभव सुषुम्णा हमारा पृष्ठवंश है। तथापि ऐसा कहा जाता है कि सुषुम्णा मुड़ कर ललाट प्रदेश में शंखिनी से सम्बद्ध हो जाती है, ललाट प्रदेश से शंखिनी के छिद्र से (शंखिनीनालमालम्ब्य) मिल जाती है और मस्तिष्क प्रदेश में पहुँच जाती है। समस्त नाड़ियां सुषुम्णा से जुड़ी हुई हैं। 'कुण्डलिनी' सर्वोच्च शारीरिक शक्ति का एक नाम है और क्योंकि सुषुम्णा के पथ 'ब्रह्मनाड़ी' से यह शक्ति धड़ के अधोभाग से मस्तिष्क के स्नायु जाल के प्रदेशों में प्रवाहित होती है इसलिए सुषुम्णा को कभी-कभी कुण्डलिनी कहा जाता है। परन्तु स्वयं कुण्डलिनी को नाड़ी नहीं कहा जा सकता, और जैसाकि श्री रेले ने कहा है, इसे कपाल की नाड़ी कहना, स्पष्टतः गलत है।[3] रीढ़ के बाहर की ओर सुषुम्णा के बांई ओर स्थित 'इड़ा' नाड़ी ऊपर की ओर नासिका प्रदेश में जाती है, और पिंगला भी दांई ओर ऐसा पथ ही ग्रहण करती है। इन नाड़ियों के अन्य वर्णनों में कहा गया है कि 'इड़ा' दक्षिण अण्डकोश से और 'पिंगला' बांए अण्डकोश से निकलकर धनुष की आकृति में (धनुराकारे) सुषुम्णा के बांए और दांए में चली जाती है। तो भी ये तीनों शिश्न मूल में मिल जाती हैं, इस प्रकार इस स्थान को मानों तीन नदियां सुषुम्णा (गंगा नदी से उपमित) इड़ा (यमुना में उपमित) और पिंगला (सरस्वती से उपमित) का संगम (त्रिवेणी) माना गया है। इडा और पिंगला इन दो नाड़ियों का क्रमशः सूर्य और चन्द्रमा के रूप में और सुषुम्ना का अग्नि के रूप में वर्णन किया गया है।[4] इन नाड़ियों के अतिरिक्त 'योगी-

---

1 पूर्णानन्द यति ने 'षटचक्रनिरूपण' पर अपनी टीका में 'नाड़ी' की व्युत्पत्ति 'नड़' 'चलना' धातु से 'मार्ग' अथवा 'रास्ता' की है (नडगतौ इति धातोर्नड्यते गम्यतेऽनया पदव्या इति नाड़ी)। महामहोपाध्याय गणनाथ सेन ने अपने ग्रन्थ 'प्रत्यक्षशारीरक' में नाड़ियों को छिद्रहीन (नीरंध्र) मान कर बहुत गम्भीर गलती की है। उनको आयुर्वेद में अथवा षट्चक्र निरूपण तथा इसकी टीकाओं में निश्चित रूप से ऐसा नहीं माना गया है। योग और तन्त्र साहित्य में नाड़ी शब्द का प्रयोग चिकित्सा साहित्य के शिरा शब्द के स्थान पर प्रायः किया गया है।

2 शब्दब्रह्मरूपायाः कुण्डलिन्याः परमशिवसंनिधिगमनपथरूपचित्रिणीनाड्यन्तर्गत-शून्यभाग इति। षट्चक्रनिरूपण, श्लोक 2, पर पूर्णानन्द की टीका।

3 सुषुम्णायै कुण्डलिन्यै। —हठयोगप्रदीपिका 4.64।

4 षट्चक्रनिरूपण, श्लो॰ 1 और योगी-याज्ञवल्क्य संहिता, पृ॰ 18।

याज्ञवल्क्य' में 'अलुम्बुषा' नामक एक अन्य नाड़ी का भी उल्लेख है, और इस प्रकार वे मुख्य नाड़ियों की संख्या चौदह कर देते हैं, इनमें सुषुम्णा सम्मिलित है और सुषुम्णा को एक नाड़ी माना गया है (अर्थात् 'वज्रा' और चित्रिणी इसमें सम्मिलित हैं), यद्यपि नाड़ियों की कुल संख्या बहत्तर हजार मानी जाती है। श्रीकणाद ने अपने 'नाड़ीविज्ञान' में नाड़ियों की संख्या तीन करोड़ पचास लाख दी है। परन्तु जहाँ षट्चक्रनिरूपण, ज्ञानसंकलिनी, योगी-याज्ञवल्क्य आदि ग्रन्थों में निरूपित तन्त्रसम्प्रदाय नाड़ियों को शिश्नमूल और गुदा के मध्य-स्थित तंत्रिका जालिका से समुद्भूत मानता है और जहाँ चरक उनको हृदय से समुद्भूत मानते हैं, वहाँ श्रीकणाद का मत है कि वे नाभि (नाभिकंद) से प्रादुर्भूत होकर वहाँ से ऊपर, नीचे और पार्श्वों में गई हैं। तो भी श्रीकणाद ऐसा स्वीकार करके तन्त्रसम्प्रदाय से सहमत हो जाते हैं कि इन तीन करोड़ पचास लाख नाड़ियों में से बहत्तर हजार नाड़ियां ऐसी हैं जिन्हें स्थूल माना जा सकता है और जिन्हें धमनी भी कहा जाता है, तथा जो रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द के इन्द्रिय गुणों का वहन करती हैं (पंचेन्द्रियगुणावहाः)। सूक्ष्म छिद्रों से युक्त सात सौ नाड़ियां ऐसी हैं जो शरीर-पोषक अन्नरस का वहन करती हैं। इनमें से भी चौबीस ऐसी हैं जो स्थूलतर हैं।

शरीर रचना विज्ञान की तन्त्रसंप्रदाय की महत्त्वपूर्ण विशेषता उसका नाड़ी जाल (चक्र) का सिद्धान्त है। इन चक्रों में से प्रथम 'आधार चक्र' है, जिसका अनुवाद प्रायः त्रिकानुत्रिकीय-जाल किया जाता है। यह चक्र शिश्न और गुदा के मध्य स्थित है और इसके आठ उन्नत प्रदेश हैं। यह सुषुम्णा के मुख के संस्पर्श में रहता है। चक्र के केन्द्र में 'स्वयं-भूलिंग' नामक एक उन्नत प्रदेश है जो एक सूक्ष्म कलिका के समान है जिसके मुख पर एक छिद्र है। डोरे के समान एक सूक्ष्मतंतु सर्पिल आकार का होता है और वह एक ओर स्वयंभूलिंग के छिद्र से और दूसरी ओर सुषुम्णा के मुख से सम्बद्ध होता है। यह सर्पिल आकार का और कुण्डलीयुक्त तन्तु 'कुलकुण्डलिनी' कहलाता है; इसका कारण यह है कि अपान वायु के नीचे की ओर के दबाव और प्राणवायु के अन्दर की ओर के दबाव की इसकी चेष्टा में प्रकट होने वाली प्रच्छन्न आद्याशक्ति के कारण ही उच्छ्वास व निःश्वास संभव होते हैं व प्राण क्रियाएँ की जाती हैं। इसके बाद 'स्वाधिष्ठान चक्र', रीढ़ का त्रिक सम्बन्धी चक्र आता है जो शिश्न मूल के पास है। उसके पश्चात् नाभिप्रदेश में स्थित कटिसबंधी चक्र (मणिपूरचक्र) आता है। उससे आगे का हृदय प्रदेश में स्थित बारह शाखाओं का हृदयचक्र (अनाहतचक्र अथवा विशुद्ध चक्र) है। फिर मेरुदण्ड और मेरुशीर्ष के संधिस्थल पर स्थित 'भारतीस्थान' नामक कण्ठनाली संबंधी और अन्ननाली संबंधी चक्र है। तत्पश्चात् 'अलिजिह्वा' के सामने का 'ललामचक्र' आता है। इससे आगे भौंहों के मध्य में 'आज्ञा चक्र' है, भौंहों के बीच में मनश्चक्र है, जो इन्द्रिय-ज्ञान और स्वप्नज्ञान का स्थान है और मन इन्द्रिय का स्थान है। विज्ञानभिक्षु का अपनी 'योगवार्तिक' में कथन है कि यहां से सुषुम्णा की एक शाखा ऊपर की ओर जाती है; यह शाखा मन के कार्यों को करने वाली नाड़ी है और मनोवहा नाड़ी कहलाती है; ज्ञानसंकलनतन्त्र में इसे ज्ञान नाड़ी कहा है। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि इसी नाड़ी के द्वारा मस्तिष्क-स्थित आत्मा और मनश्चक्र-स्थित मन के बीच संबंध स्थापित किया जाता है। वैशेषिक सूत्र 5. 2. 14 और 15 पर अपने भाष्य में शंकरमिश्र का तर्क है कि नाड़ियां स्वयं स्पर्श-रूप को उत्पन्न करने की क्षमता रखती हैं, क्योंकि यदि ऐसा नहीं

होता तो खाना और पीना अपने संबंद्ध भावों के अनुसार संभव नहीं होता, क्योंकि ये प्राणों के स्वचालित कार्यों के परिणामस्वरूप होते हैं।[1] आज्ञाचक्र के ऊपर मस्तिष्क के मध्य में सोमचक्र है, और अन्ततः ऊपरी मस्तिष्क में 'सहस्रार चक्र' है जो आत्मा का स्थान है। (योग की प्रक्रिया इस बात में निहित है कि आधारचक्र में स्थित प्रच्छन्न शक्ति को उद्दीप्त किया जाए, इसको चित्रिणी अथवा ब्रह्मनाड़ी के छिद्रों में से होकर ऊपर ले जाया जाए, और उसे ब्रह्मरंध्र अथवा सहस्रारचक्र में पहुँचाया जाए। इस कुण्डलिनी का वर्णन विद्युत् रेखा के समान सूक्ष्म तन्तु के रूप में किया गया है (तडिदिव विलसत् तन्तुरूप-स्वरूपा), जिससे यह प्रश्न उठता है कि क्या वास्तव में यह एक भौतिक नाड़ी है अथवा केवल प्रच्छन्न शक्ति ही, जिसे ऊपरी मस्तिष्क तक 'सहस्रारचक्र' में ऊपर की ओर ले जाया जाना चाहिए, और मेरे विचार में यह सन्तोषप्रद रूप से अभी भी स्पष्ट नहीं किया जा सकता। परन्तु, ग्रन्थों की विस्तृत तुलना के आधार पर निर्णय करने पर ऐसा लगभग निश्चित प्रतीत होता है कि यह कुण्डली-शक्ति ही है जो ऊपर की ओर ले जाई जाती है। यदि कुण्डली शक्ति अपने स्वभाव से ही अक्षय्य है, तो सर जोन कृत Serpent power पृ० 301–320 में उठाई गई यह सारी चर्चा सारहीन हो जाती है कि क्या आधारचक्र कभी रिक्त होता है या नहीं, अथवा क्या कुण्डलिनी स्वयं ऊपर उठती है या इसका स्राव? यह अत्यन्त संदेहास्पद है कि कहां तक चक्रों को नाड़ी-चक्र कहा जा सकता है क्योंकि सारे नाड़ीचक्र पृष्ठ-रंध्र से बाहर हैं, परन्तु यदि कुण्डलिनी का चित्रिणी नाड़ी के रंध्र मे से होकर जाना आवश्यक है और साथ ही चक्र में से होकर जाना भी आवश्यक है तो चक्रों या कमलों (पद्म) को अवश्य मेरुदण्ड के अन्तर्भाग में स्थित होना चाहिए। परन्तु यह मान-कर कि नाड़ी-चक्र उनसे संबद्ध मेरुदण्ड के आभ्यान्तर चक्रों के द्योतक हैं और इस कारण से भी चक्रों को नाड़ी-जालों के रूप में मानने की प्रथा बन गई है, मैंने चक्रों का इस रूप में वर्णन करने का साहस किया है। परन्तु यह याद रखना चाहिए कि जिस प्रकार कुण्डलिनी रहस्यमय शक्ति है उसी प्रकार चक्र भी कुण्डलिनी के ऊर्ध्व गमन के मार्ग के रहस्यमय स्थान हैं। नाड़ी चक्रों के रूप में उनकी नाड़ी-भौतिकी व्याख्या ग्रंथ-पाठकों के प्रति अत्यंत निष्ठाहीनता होगी। इन विषयों पर विस्तृत चर्चा इस कृति के बाद के एक खंड में तन्त्र-दर्शन के विवेचन में उपलब्ध होगी। इस विभाग की मुख्य रुचि केवल यही प्रदर्शित करना है कि तन्त्र-शरीर-रचना-शास्त्र अपनी धारणा में हमारे इस शोध के विषय, आयुर्वेद के शरीर-रचना-शास्त्र से पूर्णतया भिन्न है। इन विचारणाओं से एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य भी सामने आता है, वह यह कि, यद्यपि 'सिद्धिस्थान' के दृढबल रचित परिशिष्ट भाग में शिर को संवेदनात्मक चेतना के स्थान से संबद्ध किया गया है, फिर भी चरक के अपने भाग में हृदय का आत्मा के केन्द्रीय स्थान के रूप में उल्लेख किया गया है।

रस और उनके रसायन का सिद्धान्त

आयुर्वेद में औषधियों और आहार के चयन में तथा रोगों के निदान और उनके उपचार की व्यवस्था करने में रस-सिद्धान्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। चरक के 1.26 में

---

1 देखिए डा० बी० एन० सील कृत पाजिटिव सायंसेज आफ़ द ऐन्श्येन्ट हिन्दूज, पृ० 222–225।

हमें चैत्ररथ वन में महर्षियों के समागम का उल्लेख मिलता है. इसमें आहार और रस के प्रश्न पर चर्चा करने के उद्देश्य से आत्रेय, भद्रकाप्य, शाकुन्तेय, पूर्णाक्ष मौद्गल्य, हिरण्याक्ष, कौशिक, कुमारशिरा भारद्वाज, वार्योविद, विदेहराज निमि, बडिश और बाह्लीक के वैद्य कांकायन उपस्थित थे।

भद्रकाप्य का मत था कि रस वही है जिसका जिह्वा इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्षीकरण किया जा सके और यह एक है अर्थात् उदक। शाकुन्तेय का मत था कि रस दो हैं, पोषक (उपशमनीय) और क्षयकारक (छेदनीय)। पूर्णाक्ष का मत था कि रस तीन होते हैं: उपशमनीय, छेदनीय और साधारण। हिरण्याक्ष के मत में चार रस होते हैं; हितकर स्वादु, अहितकर स्वादु, अहितकर अस्वादु हितकर अस्वादु। कुमारशिरा का कथन था कि रस पाँच होते हैं: पार्थिव, जलीय, आग्नेय, वायव्य और आंतरिक्ष। वार्योविद का मत है कि रस छः होते हैं: गुरु, लघु शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष। निमि का कथन था कि रस सात हैं: मधुर, अम्ल लवण, कटु तिक्त, कषाय और क्षार। बडिश ने उपर्युक्त में एक रस अव्यक्त और जोड़ दिया और उनका मत है कि रस आठ होते हैं। कांकायन का मत था कि रस जिन पदार्थों में के आश्रित हैं उनकी विभिन्नता, लघुता और गुरुता जैसे उनके विशिष्ट गुणों, धातुओं को वृद्धि अथवा क्षय में उनके कर्मों और रसनेन्द्रिय को प्रतीत होने वाली उनकी विभिन्नता के कारण उनको गिना नहीं जा सकता। आत्रेय पुनर्वसु का मत था कि रस केवल छः ही हैं, मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय। उन सब रसों का मूल जल है। उपशमन और छेदन रस के दो कर्म हैं; जब उपर्युक्त विपरीत कर्म वाले रसों का परस्पर मिश्रण किया जाता है तो उसका साधारणत्व प्राप्त हो जाता है। रस की स्वादुता और अस्वादुता रुचि अथवा अरुचि पर निर्भर करती है। रसों के आश्रय-स्थान पचमहाभूतों के विकार हैं (पंचमहाभूतविकाराः); वे आश्रय-स्थान निम्न अवस्थाओं के वशीभूत हैं: (1) प्रकृति—द्रव्य का विशिष्ट गुण (2) विकृति—ऊष्मा अथवा अन्य कारकों द्वारा उन पर की गई क्रिया (3) विचार—अन्य पदार्थों से योग (4) देश—द्रव्य का उत्पत्ति स्थान (5) काल—द्रव्य का उत्पत्ति काल।[1] गुरुता, लघुता, शीतता, उष्णता, स्निग्धता तथा रूक्षता के गुण उन द्रव्यों पर आश्रित हैं जिन पर वे रस आश्रित होते हैं। क्षार को एक पृथक् रस नहीं मानना चाहिए क्योंकि यह एक से अधिक रसों से निर्मित हैं और एक से अधिक इन्द्रियों को प्रभावित करता है, क्योंकि इसमें कम से कम दो महत्त्वपूर्ण रस (कटु और लवण) हैं और यह न केवल रसनेन्द्रिय को प्रभावित करता है अपितु स्पर्शेन्द्रिय को भी प्रभावित करता है, और स्वभावतः किसी द्रव्य पर

---

1 इस प्रकार मुद्ग (मूंग) एक भूतविकार है, इसमें कषाय और मधुर रस हैं, और फिर भी प्रकृति से लघु है हालांकि इसके मधुर और कषाय रस के कारण इसके गुरु होने की आशा की जाती है। विकृति का उत्कृष्ट उदाहरण सिके हुए धान हैं, जो चावल से लघुतर होते हैं। यह सुविदित है कि यौगिकों के द्वारा उत्पन्न द्रव्य में पूर्णतः नए गुण उत्पन्न किए जा सकते हैं। वनोषधियां अपने चयन के काल के अनुसार भिन्न गुणों वाली होती हैं।

आश्रित नहीं है अपितु कृत्रिम उपायों से इसे उत्पन्न करना पड़ता है। कोई ऐसा पृथक् रस नहीं है जिसे 'अव्यक्त' रस कहा जा सके। जल सब रसों का मूल है, अतः सारे रसों को अव्यक्तावस्था में जल में विद्यमान माना जा सकता है। परन्तु इस कारण से हम यह नहीं कह सकते कि जल में 'अव्यक्त' नामक एक पृथक् रस है और फिर जब किसी पदार्थ में दो रस, एक प्रबल और दूसरा अत्यन्त दुर्बल, होते हैं तो दुर्बल रस को अव्यक्त रस माना जा सकता है; अथवा, जब विभिन्न रसों के किसी मिश्रण, यथा आसव, में किंचित कटु रस का मिश्रण किया जाता है, तो उसे 'अव्यक्त' माना जा सकता है; परन्तु यह निश्चित है कि ऐसा कोई रस नहीं है जिसे 'अव्यक्त' नाम दिया जा सके। यह मत अग्राह्य है कि रसों की संख्या अनन्त है, क्योंकि यद्यपि ऐसा आग्रह किया जा सकता है कि एक ही रस विभिन्न द्रव्यों में भिन्न-भिन्न रूप से प्रकट हो सकता है, तो भी उससे यही प्रदर्शित होगा कि प्रत्येक रस विशेष का स्वरूप का विभिन्न स्तर है और उससे यह सिद्ध नहीं होता कि एक रस-विशेष के प्रत्येक प्रकार के साथ-साथ रस स्वयं पूर्णतः भिन्न है। पुनः, यदि भिन्न रसों को परस्पर मिश्रित किया जाए तो, तो स्वयं रस-मिश्रण को पृथक् रस नहीं माना जाना चाहिए, क्योंकि इसके गुण इस मिश्रण के विभिन्न विधायक रसों के गुणों का कुल योग है, और मिश्र-रस का कोई स्वतन्त्र कार्य नहीं निर्दिष्ट किया जा सकता है (न संसृष्टानां रसानां कर्मोंपदिशन्ति बुद्धिमन्तः) जैसाकि उपर्युक्त दो या अधिक द्रव्यों के यौगिकों के विषय में होता है।

यद्यपि एक अथवा दूसरे तत्त्व की प्रबलता के कारण उन्हें पार्थिव, आप्य आग्नेय, वायव्य अथवा आकाशात्मक कहा जाता है, फिर भी सारे पदार्थ पंच भूतों के योग से बने हैं। सारे सजीव अथवा निर्जीव पदार्थों को ऐसी अवस्था में ही ओषधि मानना चाहिए जबकि उनका युक्ति और अर्थपूर्वक प्रयोग किया जाए। कोई पदार्थ तभी ओषधि बन सकता है जब उसका प्रयोग युक्ति से और अर्थविशेष के लिए किया जाए; कोई भी पदार्थ निर-पवाद रूप से ओषधि नहीं माना जा सकता। औषधीय प्रभाव औषधि के द्रव्य-प्रभाव और उसके गुण-प्रभाव दोनों के कारण तथा उन दोनों के संयुक्त प्रभाव के कारण होता है।[1]

---

1 पदार्थों के औषधीय प्रभाव का गुणों के औषधीय प्रभाव से अन्तर किया जा सकता है यथा जब किन्हीं मणियों के द्वारा विष का उपशमन किया जाए अथवा विशिष्ट ताबीजों के प्रयोग से रोगविशेषों का उपचार किया जाए। ऐसी अवस्थाएँ भी हो सकती हैं जहाँ तापधर्मा पदार्थ की अपेक्षा किए बिना ही केवल ताप प्रयोग के द्वारा किसी रोगविशेष का उपचार हो जाए। ऐसा प्रतीत होता है कि केवल इन्द्रिय-गुणों और यान्त्रिक गुणों की ही यहाँ 'गुण' के रूप में गणना की गई है; अन्य प्रकार के गुणों का स्वयं द्रव्य के कारण होना माना गया था। क्योंकि इन्द्रिय-गुणों के अतिरिक्त, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मन्द, तीक्ष्ण, स्थिर, सार, मृदु, कठिन, विशद, पिच्छिल, श्लक्ष्ण, खर, सूक्ष्म, स्थूल, सान्द्र और द्रव इन बीस गुणों को भी 'गुण' के रूप में गिना है :

(चरक संहिता 1, 1.48; 1.25.35; 1.26.11)।

ओषधि का कार्य 'कर्म', उसकी शक्ति 'वीर्य', उसके कार्य-स्थान 'अधिष्ठान', उसका कार्य-काल 'काल', कार्य करने की अवस्था 'उपाय', और उपलब्धि 'फल' कहलाते हैं।

रसों के मूल के विषय में यह बताया जाता है कि पानी वायु में और पृथ्वी पर गिरने के पश्चात् पंचभूतों से मिश्रित हो जाता है। ये रस समस्त वनस्पतियों और प्राणियों के देहों को पुष्ट करते हैं। सारे रसों में पाँचों तत्त्व विद्यमान हैं, परन्तु किसी रस में किसी तत्त्व की प्रबलता होती है, और इस प्रबलता के अनुसार ही विभिन्न रसों में भेद होता है। इस प्रकार से 'सोम' की प्रबलता होने पर 'मधुर' रस होता है, पृथ्वी और अग्नि की प्रधानता होने पर 'अम्ल' रस होता है, जल और अग्नि के प्रबल होने पर 'लवण' रस होता है, वायु और अग्नि की प्रबलता होने पर 'कटु' रस, वायु और आकाश की प्रबलता होने पर 'तिक्त' और पृथ्वी और वायु की प्रबलता होने पर 'कषाय' रस होते हैं; रसों के निर्माण-कर्त्ता विभिन्न भूतों को रसों का निमित्त कारण कहा गया है; इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि अग्नि में कोई रस नहीं है फिर भी वह किस प्रकार एक रस-विशेष के उत्पादन में योग दे सकता है।[1] दैव या अज्ञात कारण (अदृष्ट) तो पानी के साथ महाभूतों के समुदाय का सामान्य कारण है।

चरक संहिता के पहले ही अध्याय में द्रव्यों की गणना इस प्रकार की गई है: आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये पाँच महाभूत, तथा आत्मा, मन, काल और देश। इनमें से जिन द्रव्यों के इन्द्रियाँ हैं उनको 'चेतन' कहा गया है।[2] गुण ये हैं: शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के इन्द्रिय गुण, समस्त महाभूतों में सामान्य पाए जाने वाले कार्यशील और अन्य गुण यथा गुरु, लघु, शीत, ऊष्ण और स्निग्ध, रूक्ष, मन्द, तीक्ष्ण, स्थिर, सार, मृदु, कठिन, विशद, पिच्छिल, श्लक्ष्ण, खर, सूक्ष्म, स्थूल, सान्द्र, द्रव, आदि, और इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और प्रयत्न, बुद्धि (स्मृति सहित)। चेतना, धैर्य, अहंकार आदि, दूरी (पर), निकटता (अपर), समुदाय (युक्ति), संख्या, संयोग, विभाग, पृथक्त्व, परिमाण, संस्कार और अभ्यास। द्रव्य की परिभाषा यह है कि द्रव्य वह है जिसमें गुण और कर्म समवाय सम्बन्ध में स्थित है और जो सारे कार्यों का समवायीकारण हो। गुण वे हैं जो स्वयं निश्चेष्ट होते हैं और द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान हों। गुण अन्य गुणों के आश्रय नहीं हो सकते।[3]

---

1 इह च कारणत्वं भूतानां रसस्य मधुरत्वादिविशेष एवं निमित्तकारणत्वमुच्यते। —चरक 1.26.38 पर चक्रपाणि की टीका।

2 चरक संहिता 1.1.47। वृक्षों को भी सेन्द्रिय माना जाता था और इस हेतु वे चेतन माने जाते थे। चक्रपाणि का कथन है कि, क्योंकि सूर्यमुखी पुष्प सूर्य की ओर मुख किए रहता है, इसलिए इसे दर्शन-इन्द्रिय युक्त माना जा सकता है, फिर, चूँकि 'लवली' पौधा मेघगर्जन का शब्द सुनने से फलित होता है इसलिए वनस्पतियों के श्रवणेन्द्रिय भी होती है।

3 वही 1.1.47, 48 और 50, चक्रपाणि कृत टीकासहित।

जब द्रव्य और गुणों का सिद्धान्त ऊपर लिखे अनुसार है तो प्रश्न उठता है कि मानव शरीर में ओषधियाँ किस प्रकार से काम करती हैं। विभिन्न ओषधियों के वर्गीकरण की सर्वाधिक सामान्य और स्पष्ट रीति उनके विभिन्न रसों पर आधारित थी। जैसाकि बताया जा चुका है ये रस मुख्यतः छः माने जाते थे। इनमें से प्रत्येक रस को कुछ हितकारी अथवा अहितकारी दैहिक प्रभावों के उत्पादन में समर्थ माना जाता था। इस प्रकार मधुर रस को रक्त, मांस, मेद, मज्जा, शुक्र, प्राणवर्धक, छः इन्द्रियों का हितकारी, शरीर में शक्ति और वर्ण का उत्पादक, त्वचा और कण्ठ का हितकारी; पित्त, विष और मारुत (वात-व्याधि) का नाशक और स्निग्धता, शीत और गुरुत्व का उत्पादक आदि बताया गया हैं। 'अम्ल' को अग्निदीपक, शरीर-पोषक और वात अपनोदक कहा है; यह लघु, उष्ण, स्निग्ध आदि है। लवण-रस पाचक है, वात का नाशक है; कफ को श्रावित करता है, और यह क्लिन्न, उष्ण आदि होता है। इसी प्रकार अन्य रसों के विषय में भी समझें। परन्तु ये सब गुण रसों के नहीं हो सकते; जैसाकि पहले ही प्रदर्शित किया जा चुका है, गुणों में अन्य और गुण नहीं हो सकते, और रस स्वयं गुण हैं, अतः जब कोई कार्य और गुण रसों के आश्रित माने जाते हैं, तो उन्हें उन द्रव्यों पर आश्रित मानना होगा जो उन विशिष्ट रसों से युक्त है (रसा इति रसयुक्तानि द्रव्याणि)।[1]

सुश्रुत के कथनों से ऐसा प्रकट होता है कि द्रव्य की अपेक्षाकृत उत्कृष्टता और उसके गुणों के विषय में बहुत मतभेद हैं।[2] कुछ लोग ऐसे भी थे जिनके मत में द्रव्य सबसे महत्त्वपूर्ण है क्योंकि द्रव्य स्थायी रहता है, रस इत्यादि परिवर्तन करते रहते हैं, अतः द्रव्य अपेक्षाकृत उत्कृष्ट है। पुनः द्रव्य पाँच इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किया जाता है, न कि उसके गुण। द्रव्य रसादिकों का आश्रय भी है। सारे कार्य द्रव्य से ही करने पड़ते हैं और आगमों में भी द्रव्य से ही कार्य करने का वर्णन है और रस से नहीं; रस अधिकांशतः द्रव्यों की प्रकृति पर निर्भर करते हैं। दूसरे लोगों का मत है कि रस सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि उनके वीर्य के ही कारण ओषधियाँ कार्य करती हैं।[3] यह वीर्य दो प्रकार का होता है : उष्ण और शीत; कुछ का मत है कि वीर्य उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, विशद, पिच्छिल, मृदु और तीक्ष्ण इन आठ प्रकार का होता है। कभी-कभी वीर्य अपने बल के कारण रस को दबा देता है और अपने कर्मों का अनुभव कराता है, इस प्रकार यद्यपि अपनी मधुरता के कारण ईख को वात का नाश करना चाहिए, शीत वीर्य होने के कारण यह वात वर्धक है।[4] अन्यों का कथन है कि आमाशय द्वारा पाक को प्राप्त हुए रूप में रस सर्वप्रधान है

1 चरक संहिता 1.26.39, चक्रपाणि की टीका।

2 सुश्रुत सूत्र स्थान, अ० 40, श्लो० 3, सुश्रुत ने द्रव्य की परिभाषा ऐसे की है– क्रियागुणवत् समवायिकारणम्।

3 इहौषधकर्माणि ऊर्ध्वाधोभागोभयभागसंशोधनसंशमनसंग्राहकाग्निदीपनप्रपीडनलेखन-बृंहणरसायनवाजीकरणश्वयथूकरविलयनदहनदारणमादनप्राणघ्नविषप्रशमनानि वीर्य-प्राधान्याद्भवन्ति। सुश्रुत 1.40.5।

4 एतानि खलु वीर्याणि स्वबलगुणोत्कर्षात् रसमभिभूयात्मकर्म कुर्वन्ति, सुश्रुत वही।

क्योंकि वस्तुओं को जब पचाया जाता है तो वे हितकर या अहितकर प्रभाव उत्पन्न कर सकती हैं। कुछ का मत है कि प्रत्येक रस अपरिवर्तित रहता है, यद्यपि दूसरों का मत है कि पाक से मिलने वाले रस मधुर, अम्ल और कटु केवल इन तीन प्रकारों के ही हैं; जब कि सुश्रुत का मत है कि पाक से उत्पन्न होने वाले केवल दो प्रकार के रस मधुर और कटु ही हैं, क्योंकि उनके विचार से अम्ल पाक का परिणाम नहीं है (अम्लो विपाको नास्ति)। सुश्रुत के अनुसार पित्त ही अम्ल में परिणत हो जाता है। जिन पदार्थों में पृथ्वी और जल की अधिकता होती है, वे मधुररस में परिवर्तित हो जाते हैं, जबकि जिन पदार्थों में तेजस्, वायु और आकाश का अंश होता है कटु रस में परिणत हो जाते हैं।

द्रव्य, रस, वीर्य और विपाक के आपेक्षिक महत्त्व के विषय में भिन्न-भिन्न मतों का वर्णन करते हुए सुश्रुत का कथन है कि वे सब महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि कोई भी ओषधि अपनी प्रकृति के अनुसार इन चारों प्रकारों से अपने प्रभाव उत्पन्न करती है।[1] चक्रपाणि द्वारा भानुमती में व्याख्यात सुश्रुत का मत यह प्रतीत होता है कि अन्न, पान, और औषधि सब पंच महाभूतों की उपज हैं और रस, वीर्य तथा विपाक द्रव्य पर आश्रित हैं और जिस द्रव्य की शक्ति के माध्यम से यह द्रव्य कार्य करता है, इस द्रव्य की शक्ति के अनुरूप वे होते हैं।[2] भानुमती में इस पर टीका करते हुए चक्रपाणि का कथन है कि जिन अवस्थाओं में रसों को किन्हीं दोष विशेषों का नाशक अथवा वर्धक बताया गया है, उन दशाओं में भी केवल उनके महत्त्व के कारण ही इस प्रकार वर्णन किया गया है; सब दशाओं में वास्तविक कर्त्ता तो द्रव्य है क्योंकि रस आदि सदा द्रव्य पर निर्भर हैं। रसादिकों में दृष्टिगोचर होने वाली शक्ति के अतिरिक्त द्रव्य स्वयं भी अचिन्त्य प्रकारों से कार्य करता है, जिसे 'प्रभाव' कहते हैं और जिसकी तुलना लोहे पर पड़ने वाली चुम्बक की आकर्षण शक्ति से की जा सकती है। इस प्रकार द्रव्य को स्वयं ही उसकी शक्ति से भिन्न माना गया है और यह कहा जाता है कि इसके कार्य करने का इसका अपना विशिष्ट ढंग है, जो शक्ति के कार्य करने के उस ढंग से भिन्न है जिसका रस, वीर्य और विपाक में दर्शन होता है, और किस प्रकार से यह कार्य विधि काम करती है, उस विधि को बिल्कुल अचिन्त्य माना गया है।[3] इस प्रकार कुछ ओषधियाँ रस द्वारा कार्य करती हैं, कुछ विपाक अर्थात् पाचन

द्रव्य और रस दोनों में वीर्य का होना कहा गया है। इस प्रकार सुश्रुत 1.40.5-8 में कहा गया है कि यदि वातनाशक रसों में रौक्ष्य, लाघव और शैत्य हो तो वे वातनाशक नहीं होंगे, इसी तरह यदि पित्तनाशक रसों में तैक्ष्ण्य, औष्ण्य और लाघव हो तो वे पित्तनाशक नहीं होंगे, इत्यादि।

1 चतुर्णामपि सामग्रयमिच्छन्त्यत्र विपश्चितः–सुश्रुत 1.40.13।

2 द्रव्यशक्तिरूपका रसवीर्यविपाका यथायोगं निमित्तकारणतां समवायिकारणतां वा भजन्तो न कर्तृतया व्यपदिश्यन्ते द्रव्यपराधीनत्वात्–भानुमती 1.40.13।

3 द्रव्यमात्मनः शक्तया प्रभावाख्यया दोषं हन्ति—अत्र द्रव्यशक्तिकार्योदाहरणं यथा कर्षकमणिर्लोहशल्यमाकर्षति। —भानुमती 1.40.13।

कर्म द्वारा यथा शुण्ठी, जो रस में कटु और उष्णवीर्य होने पर भी पाचन कर्म के पश्चात् मधुर हो जाती हैं) से उत्पन्न रस के द्वारा, कुछ वीर्य के द्वारा (यथा कुलत्थ कटु होने पर भी उष्ण-वीर्य होने के कारण वायुनाशक है), कुछ रस और विपाक दोनों के द्वारा, कुछ द्रव्य प्रभाव, वीर्य और रस द्वारा कुछ द्रव्य प्रभाव, वीर्य, रस और विपाक द्वारा कार्य करती हैं।

द्रव्य एवं रस तथा वीर्य एवं विपाक के इस मत पर चरक सुश्रुत से असहमत हैं, क्योंकि उनके अनुसार रस, वीर्य और विपाक स्वयं गुण होने के कारण और आगे गुणों के आश्रय नहीं हो सकते; वे द्रव्येतर शक्ति को भी स्वीकार नहीं करते हैं। अतः प्रभाव के विषय में जहाँ सुश्रुत का मत है कि प्रभाव एक विशिष्ट शक्ति है अर्थात् अवर्णनीय प्रकारों से कार्य करने वाली वस्तु है, वहाँ चरक का विचार है कि शक्ति स्वयं वस्तु का स्वरूप है। इस प्रकार चक्रपाणि चरक संहिता 1.26.72 की टीका करते हुए कहते हैं 'शक्तिर्हि स्वरूपमेव भावानां, नातिरिक्तं किंचिद् धर्मान्तरं भावानाम्' (शक्ति पदार्थों का ही स्वरूप है और उनसे भिन्न कोई धर्म नहीं है)। सामान्य अर्थ में वीर्य का अर्थ शक्ति अर्थात् ओषधियों की प्रभावकारिणी शक्ति है, और इसी अवस्था में इसमें रस और विपाक दोनों का समावेश हो जाता है, परन्तु इन्हें विशेष नाम प्राप्त होने के कारण इनके लिए 'वीर्य' शब्द का प्रयोग नहीं होता।[1] इसके अतिरिक्त पारिभाषिक अर्थ में एक विशेष वीर्य भी है। जिस मत के अनुसार इस वीर्य को दो प्रकार का, स्निग्ध और सूक्ष्म, माना गया है उस मत के अनुसार इन प्रकारों को वीर्य के विशिष्ट धर्म के रूप में ग्रहण करना चाहिए, परन्तु जिस मत के अनुसार वीर्य आठ प्रकार का माना जाता है उसके अनुसार इनको द्रव्य के धर्मों के एक भिन्न समुदाय के रूप में ग्रहण करना चाहिए।[2] यह वीर्य रस से भी बलवत्तर माना जाता है, यहाँ तक कि, जब किसी पदार्थ के वीर्य और रस का विरोध होता है तो वीर्य ही का प्राधान्य होता है न कि रस का।

वाग्भट द्वितीय वीर्यनामधारी कर्मों के लिए प्रयुक्त 'वीर्य' संज्ञा के पक्ष में कुछ टिप्पणी करते हैं। उनका कथन है कि पदार्थों का वीर्य-धर्म पाचन के बाद भी अपरिवर्तित रहने और पदार्थों का प्रयोग मुख्यतः चिकित्सा के उद्देश्यों के लिए होने तथा उनमें से प्रत्येक में अनेक द्रव्य और रस होने के कारण इस धर्म को वीर्य अथवा चिकित्सा सम्बन्धी फल देने में मुख्य शक्ति कहना न्यायसंगत है।[3] उनका आगे कथन है कि रस का विपाक द्वारा, एक ही दिशा में कार्य करने पर वीर्य का रस और विपाक द्वारा और इन तीनों का प्रभाव द्वारा अवरोध हो सकता है। यह कथन केवल उन्हीं अवस्थाओं में सत्य है जहाँ

---

1 तस्य पाकस्य तद्रसस्य विपाकस्य च पृथग्निर्देशान्न वीर्यव्यवहारः शास्त्रे—चरकेतु सामान्य वीर्य शब्देन तेऽपि गृहीताः। वही 1.40.5।

2 यदा द्विविधं वीर्यं तदा स्निग्धरूक्षादीनां—रसादिधर्मतयैव कार्यग्रहणं वक्ष्यति हि मधुरो रसः स्निग्ध इत्यादि अष्टविधवीर्यपक्षे तु—बलवद् कार्यकर्तृत्वविवक्षया वीर्यत्वमिति स्थितिः। वही 1.40.4

3 अष्टांग हृदय 1.9.15।

रस, वीर्य और विपाक सम मात्रा में विद्यमान हों, और यह स्मरणीय है कि कुछ पदार्थों में रस की इतनी प्रबलता हो सकती है कि वह विपाक अथवा वीर्य को अभिभूत कर दे।[1] जहाँ तक वीर्य और विपाक की अपेक्षाकृत प्रधानता का प्रश्न है, शिवदास चक्रपाणि के द्रव्यगुण-संग्रह पर टीका करते हुए कहते हैं कि वीर्य की विपाक पर प्रधानता है, और इसका अर्थ होगा कि जिस प्रकार वीर्य रस को अभिभूत कर सकता है उसी प्रकार विपाक भी वीर्य को अभिभूत कर सकता है।

यदि हम अथर्ववेद में चिकित्सासम्बन्धी भारतीय विचारों के विकास के इतिहास की ओर मुड़ कर देखें, तो हम देखेंगे कि चिकित्सा के दो महत्त्वपूर्ण वर्ग थे : रक्षाकवच (मणियां) और जल। अथर्ववेद 1. 4. 4, 1. 5, 1. 6, 1. 33, 6. 24, 6. 92 आदि सब में जल की ओषधि के रूप में स्तुति की गई है और उनमें जल को सब रसों का स्रोत माना गया है। इनमें से मणियां न्यूनाधिक चमत्कारिक प्रभाव की होती थीं। यह निर्णय करना सम्भव नहीं था कि किस प्रकार की मणि किस प्रकार से कार्य करेगी, उनके कार्य करने का ढंग अचिन्त्य था। यह आसानी से देखा जा सकता है कि ओषधियों के कार्य करने का क्रम वही था जिसे चरक और सुश्रुत ने 'प्रभाव' माना है। उनके लिए प्रभाव का अर्थ था, एक अवर्णनीय प्रकार से काम करने वाली ओषधि का रहस्यमय ढंग से कार्य करना, ताकि दो औषधियों के रस, वीर्य और विपाक में बिलकुल सदृश होने पर भी अपने ओषधीय प्रभाव के लिहाज से उनका कार्य भिन्न-भिन्न हो।[2] इस प्रकार ऐसा प्रभाव स्वभावतः अचिन्त्य माना जाता था। परन्तु प्रभाव की धारणा करते समय इन चिकित्सा-सम्बन्धी विचारकों के मस्तिष्क में प्राचीन मणियों का उदाहरण ताजा था, और वास्तव में यह तो ओषधियों के अन्य अवर्णनीय प्रभावों तक उस विचार का प्रस्तार था।[3] मानव-अवयवों पर ओषधियों के किसी भी रासायनिक प्रभाव का (आधुनिक अर्थ में) ज्ञान नहीं था इसलिए रस का आधार ही ऐसा प्रत्यक्षतम साधन था जिससे जड़ी बूटियों, मूल आदि के चिकित्सासम्बन्धी प्रभाव का वर्गीकरण किया जा सकता था। चरक और सुश्रुत शरीर के विभिन्न दोषों, वायु पित्त और कफ, के विभिन्न रसों पर प्रभाव के बारे में हमें बतलाया है। क्योंकि सारी व्याधियों की मुख्य जड़ अनुचित मात्रा में वायु, पित्त और कफ का बढ़ना अथवा घटना था, इसलिए एक ऐसा वर्गीकरण विशेष उपयोगी था, जिसमें रसों का इस प्रकार से वर्णन हो कि कोई व्यक्ति यह जान सके कि कौन से रस से शरीर का कौनसा दोष बढ़ता है अथवा घटता है। परन्तु यह स्पष्ट है कि ऐसा वर्गीकरण, चाहे सरल

---

1 वही 1. 28।

2 रसवीर्यविपाकानां सामान्यं यत्र लक्ष्यते विशेषः कर्मणां चैव प्रभावस्तस्य च स्मृतः —चरकसंहिता 1. 26. 69। इस पर टीका करते हुए चक्रपाणि का कथन है : 'रसादिकार्यत्वेनं यन्नावधारयितुं शक्यते कार्यं तत्प्रभावकृतमिति सूचयति, 'अतएवोक्तं' प्रभावोऽचिन्त्यमुच्यते' रसवीर्यविपाकतया चिन्त्य इत्यर्थः।

3 मणीनां धारणीयानां कर्म यद् विविधात्मकं, तत्प्रभावकृतं तेषां प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते। मणियों के विभिन्न कर्म अचिन्त्य प्रभावों के कारण माने जाने चाहिएं। वही 1. 26. 72।

हीं हो, सर्वत्र सत्य नहीं हो सकता, क्योंकि यद्यपि रस किसी द्रव्य के भेषजीय गुण का कुछ सूचक है फिर भी यह अचूक नहीं है। परन्तु वर्गीकरण का अन्य कोई प्रकार ज्ञात नहीं था; यह माना जाता था कि पाक के पश्चात् किन्हीं द्रव्यों का रस पूर्णतः बदल जाता है और ऐसी अवस्थाओं में पाक के बाद में बदलने वाला रस ही क्रियाशील होता है। चक्रपाणि का कथन है कि जहाँ जिह्वा स्थित रस पाचन-क्रिया के बाद उत्पन्न रस के समान होता है वहाँ उस दिशा में उसका प्रभाव अति प्रबल हो जाता है, परन्तु जहाँ पाकजनित रस जिह्वा-रस से पृथक् होता है वहाँ रस की क्रिया स्वभावतः क्षीण हो जाती है, क्योंकि विपाक की अन्तिम क्रिया द्वारा उत्पन्न रस की शक्ति स्वभावतः बलशाली होती है।[1] चरक का विचार था कि पाचन के परिणामस्वरूप केवल तीन रस ही उपलब्ध होते हैं, अर्थात् कटु, मधुर और अम्ल; सुश्रुत ने अन्तिम रस को अस्वीकार किया है, जैसाकि पहले ही वर्णन किया जा चुका है। परन्तु यह भी पर्याप्त नहीं था; क्योंकि औषधियों के अन्य कई ऐसे प्रभाव हैं जिनको उपर्युक्त कल्पनाओं के आधार पर समझाया नहीं जा सकता। इसको समझाने के लिए वीर्य का सिद्धान्त प्रचलित किया गया। रसयुक्त होने के अतिरिक्त द्रव्य को अनुमानगम्य होने के कारण, शीत और उष्ण गुणयुक्त, पिच्छिल, विशद, स्निग्ध और रूक्ष आदि सदृश गुणों से युक्त तथा गंध से प्रकट होने वाले तीक्ष्ण आदि गुणों से युक्त भी माना जाता था और यह कल्पना की जाती थी कि ये गुण रस और विपाक को अभिभूत करके अपना प्रभाव उत्पन्न करते हैं। जहाँ किसी पदार्थ के भेषजीय गुणों की सूचक किसी प्रकार की बुद्धिगम्य सामग्री प्राप्त नहीं हो सकती थी केवल वहीं 'प्रभाव' की परिकल्पना का आश्रय लिया जाता था। द्रव्य और गुणों से सम्बद्ध आयुर्वेद के अध्यायों में प्रभाव का वर्णन है और जहाँ कहीं भी उनमें कोई विभिन्नता पाई जाती है वहाँ प्रयोग सिद्ध निरीक्षणों के आधार पर रस, वीर्य और विपाक का भी वर्णन किया गया है। यह न केवल रोगों के उपचार में औषध और पथ्य के चयन के लिए ही अत्यन्त आवश्यक है अपितु रोग-निरोध के लिए भी आवश्यक है। यह स्मरण रखना ठीक होगा कि कई रोगों के उत्पन्न होने का कारण परस्परविरोधी रस, विपाक अथवा वीर्य वाले पदार्थों का साथ-साथ खाना माना जाता था।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि और अन्य सत्तामीमांसीय प्रवर्ग

चरक ने सूत्रस्थान के आठवें अध्याय में इन्द्रियों की संख्या पांच बताई है। आयुर्वेद अपने दार्शनिक विचारों के लिए सांख्य और वैशेषिक दर्शन का पर्याप्त मात्रा में ऋणी है; यद्यपि इन दोनों दर्शनों में मन को एक पृथक् इन्द्रिय स्वीकार किया गया है, फिर भी आयुर्वेद उनसे इस बात में मतभेद रखता है और, जैसाकि चक्रपाणि का कथन है, मन को सामान्य इन्द्रियों से पृथक् करता है; इसका कारण यह तथ्य है कि मन के अन्य कई ऐसे

1 चरक 1. 26. 65 पर चक्रपाणि की टीका। चक्रपाणि का कथन है कि कटु रस प्रारम्भ में तो कण्ठ के कफ को साफ करने में उपयोगी है, परन्तु विपाक के बाद यह मधुर हो जाने के कारण पोषक (वृष्य) के रूप में कार्य करता है। परन्तु ऐसे क्षेत्रीय कार्यों के अतिरिक्त यह समझना कठिन है कि जो रस विपाक द्वारा बदल गया हो उसका ऐसा प्रभाव हो जैसा कि चक्रपाणि बताते हैं (विपर्यये तु दुर्बलमिति ज्ञेयम्)।

कार्य हैं जिनसे अन्य इन्द्रियाँ युक्त नहीं हैं (चक्षुरादिभ्योऽधिकधर्मयोगितया)।[1] मधुर रस के वर्णन के सन्दर्भ में तो एक अन्य स्थल पर स्वयं चरक भी प्रसंगतः छठी इन्द्रिय (षडिन्द्रिय) का उल्लेख करते हैं।[2] परन्तु मन को यहाँ इन्द्रियों से बढ़कर (अतीन्द्रिय) बताया गया है। मन के अतीन्द्रिय स्वरूप की व्याख्या करते हुए चक्रपाणि का कथन है कि मन को अतीन्द्रिय इसलिए कहा गया है कि यह अन्य इन्द्रियों की भाँति बाह्य-विषयों के ज्ञान का हेतु नहीं हैं। यह अवश्य है कि मन सुख और दुःख का प्रत्यक्ष कारण है परन्तु यह सब इन्द्रियों का अधिष्ठायक भी है। मन को सत्त्व और चेतः भी कहा गया है। आत्मा को तो सारे चेतनात्मक कार्यों का कर्त्ता (चेतनाप्रतिसंघाता) माना गया है। जब मन अपने विषयों, हर्ष अथवा विषाद् अथवा चिन्त्य विषयों के सम्पर्क में आता है और जब आत्मा इन विषयों को ग्रहण करने का प्रयत्न करता है, तब मन चेष्टा करता है, जिसके द्वारा यह हर्ष अथवा विषाद का अनुभव करता है अथवा चिन्त्य विषयों का विचार करता है अथवा इन्द्रियों को चेष्टावान् करता है। इस प्रकार जब आत्मा प्रयत्नशील होता है और जब हर्ष अथवा विषाद अथवा चिन्तन के विषय विद्यमान होते हैं तो इनको अपना विषय मानकर मन उनकी ओर प्रवृत्त होता है और इन्द्रियों को चेष्टावान् करता है और इन्द्रियाँ इससे निर्देशित होकर, अपने सम्बद्ध विषव्यों को ग्रहण करती है तथा उनका बोध कराती हैं।

एक मन अनेकरूपी प्रतीत होता है, इसका कारण है चिन्त्य विषयों की विविधता (यथा कभी मन जब धार्मिक भाव ग्रहण करता है तो धार्मिक प्रतीत होता है, और अन्य समय में जब वासनामय विचारों को ग्रहण करता है तो वासनामय प्रतीत होता है), जिन इन्द्रिय विषयों से मन संबद्ध होता है उनकी विविधता (उदाहरणार्थं मन रूप, गंध और शब्द आदि को ग्रहण कर ले) और कल्पना के विविध प्रकार (यथा यह मेरे हित में होगा, अथवा 'यह मेरा अहित करेगा' आदि) एक ही मनुष्य में मन कभी-कभी क्रुद्ध अज्ञानी अथवा गुणी प्रतीत हो सकता है। परन्तु वास्तव में मन एक है और प्रत्येक व्यक्ति के लिए भी एक ही है; ये सब भेद एक ही व्यक्ति में एक साथ प्रकट नहीं होते, जैसाकि यदि एक ही आदमी में अनेक मन होने पर होता। फिर मन आणविक भी है, अन्यथा एक ही मन द्वारा अनेकों भिन्न-भिन्न विषयों अथवा कार्यों का सम्पादन एक ही समय पर किया जाता।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि एक ही मन, सत्त्व, रजस् और तमस् इन भिन्न-भिन्न प्रकार के नैतिक गुणों का प्रदर्शन कर सकता है तो किसी पुरुष को सात्त्विक, राजसिक अथवा तामसिक कैसे माना जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि कोई मनुष्य इन गुणों में से उस एक या अन्य गुण की प्रधानता के अनुसार ही सात्त्विक, राजसिक अथवा तामसिक कहा जाता है जिस गुण की प्रधानता उस मनुष्य में परिलक्षित होती है।

मन को आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी से निर्मित इन्द्रियों का चालक माना गया है और इन्द्रियों के अधिष्ठान चक्षु, श्रोत्र, नासा, जिह्वा, और त्वचा के भौतिक संपुट हैं। पांच इन्द्रियबोध इन्द्रियों, इन्द्रिय विषयों, मन और आत्मा के सानिध्य से उत्पन्न होते हैं। वे अल्पजीवी (क्षणिक) हैं परन्तु ठीक एक क्षण भर तक रहने वाले नहीं हैं, जैसाकि

1 चरक संहिता 1. 8. 3 पर चक्रपाणि की टीका।

2 चरक संहिता 1. 26. 41। तत्र मधुरो रसः·········षडिन्द्रियप्रसादनः।

बौद्धों की मान्यता है।[1] वे निश्चयात्मक (निश्चयात्मकाः) भी हैं। जैसा चक्रपाणि का कथन है, क्षणिक इन्द्रिय-बोधों के लिए इन्द्रिय विषयों का निश्चित विवरण देना बिल्कुल संभव है। यद्यपि सारी इन्द्रियां पंच महाभूतों से निर्मित हैं, फिर भी जिन इन्द्रियों में जो भूत अधिकांश मात्रा में होता है, उनको उसी भूत से निर्मित माना गया है। जिस इन्द्रिय में जो भूत विशेष प्रबल मात्रा में होता है, उसके कारण उस इन्द्रिय को उस भूत विशेष को ग्रहण करने की विशेष क्षमता से युक्त माना जाता है।[2]

शरीर, इन्द्रियों, मन और आत्मा का संयोग आयु (जीवित) कहलाता है।[3] आत्मा को चेतनाशील कर्मों का संयोजक (ज्ञानप्रतिसंधाता) कहा जाता है। चक्रपाणि का कथन है कि शरीर क्षणिक है (शरीरस्य क्षणिकत्वेन), इसलिए यह तर्क किया जा सकता है कि शरीर के साथ आत्मा का संयोग भी क्षणिक ही है। इस प्रकार की आपत्ति का चक्रपाणि यह उत्तर देते हैं कि यद्यपि शरीर क्षणिक है फिर भी क्षणिक शरीरों की शृंखलाबद्ध आवृत्ति के कारण सम्पूर्ण शृंखला को एक ही माना जा सकता है, और, यद्यपि शृंखला के प्रत्येक काल के साथ आत्मा का सम्बन्ध क्षणिक है, फिर भी आत्मा के साथ शृंखला का सम्बन्ध भी एक माना जा सकता है क्योंकि शृंखला को एक माना जा सकता है (संतानव्यवस्थितोऽयमेकतया उच्यते)।[4] अन्य स्थल पर चरक कहते हैं कि मन, आत्मा और शरीर एक दूसरे से तिपाए के समान संयुक्त हैं, जिस पर आयु स्थित है; यदि कोई भी अंग लुप्त होगा तो ऐक्य भंग हो जाएगा।[5]

यह पहले ही बताया जा चुका है कि चरक के अनुसार, आत्मा चेष्टावान् है और उसकी चेष्टा से मन चेष्टा करता है, और मन के कार्य करने से ही इन्द्रियां चेष्टाशील होती हैं। आत्मा को चेतन भी माना जाता है। परन्तु यह चेतना आत्मा की अपनी नहीं है, यह तो केवल, मन के माध्यम से आत्मा के इन्द्रियों के साथ संयोग से प्राप्त की जाती है।[6] तो भी यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि आत्मा के अतिरिक्त, चरक के अनुसार, एक अन्य परः आत्मा और है जो शरीर और इन्द्रियों के संयोग में भाग लेने वाले आत्मा से भिन्न है (जिसे पारिभाषिक शब्दावली में 'संयोगी पुरुष' कहते हैं)।[7] सूक्ष्मतर, या परः

---

1 चरक संहिता 1. 8. 11 पर चक्रपाणि की टीका। क्षणिका इत्याशुतरविनाशिन्यः न तु बौद्धसिद्धान्तवदेकक्षणावस्थायिन्यः।

2 तत्र यद् यद् आत्मकमिन्द्रियम्विशेषात्तत्तदात्मकमेवार्थमनुगृह्णाति तत्स्वभावाद् विभुत्वाच्च (चरकः 1. 8. 14)।

3 चरक 1. 1. 41 'जीवित' के अन्य पर्यायवाची 'धारी' 'नित्यग' और 'अनुबन्ध' हैं।

4 वही. 1. 1. 41।

5 सत्त्वमात्मा शरीरंच त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगात् तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्॥ —वही, 1. 1. 45।

6 इदमेव चात्मनश्चेतनत्वं यदिन्द्रियसंयोगे सति ज्ञानशालित्वं, न निकृष्टस्यात्मनश्चेतनत्वम्। —चरक 1. 1. 47 पर चक्रपाणि कृत टीका।

7 निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्त्वभूतगुणेन्द्रियैः। चरक 1. 1. 55। तेन सत्त्वशरीरात्ममेलकरूपो य आत्मशब्देन उच्यते तं व्यावर्तयति। उपर्युक्त पर चक्रपाणि कृत टीका।

आत्मा निर्विकार है। ज्ञान में प्रक्रिया और विकार का भाव निहित है और यह आत्मा चेतनत्व को उन्हीं भागों में प्रदर्शित करता है जहाँ यह मन और इन्द्रियों से संबद्ध हो जाता है। इस प्रकार यद्यपि आत्मा नित्य है, फिर भी इसमें चेतनत्व का उत्थान सामयिक ही है। आत्मा की अविकारिता इस बात में है कि यह अपनी पूर्व और अपर अवस्थाओं को अपने से संयुक्त करने में समर्थ हैं।[1] यदि आत्मा स्थायी नहीं होता तो यह अपने सारे अतीत अनुभवों को संयुक्त नहीं कर पाता। क्लेश एवं राग के हमारे विकारों को आत्मा के कारण नहीं, अपितु मन के कारण मानना चाहिए (दृश्यमानरागादिविकारस्तु मनसि)।

आत्मा के बारे में इस दृष्टिकोण की विशेष बात यह है कि यह आत्मा सनातन और अविकारी है; यह आत्मा अपने में उन सब व्यक्तिगत अहम् को धारण किए प्रतीत होता है जो अपने सदृश इन्द्रियों, मन और शरीर के साहचर्य से कार्य करते हैं। इन्द्रियों के साहचर्य में ही यह चेतनत्व प्राप्त करता है। विचार-प्रक्रियाओं में होने वाले सुख, दुःख और चेष्टाएँ मन के धर्म हैं, यद्यपि मन की क्रियाओं का आत्मा से उद्भूत होना माना गया है। चेतनत्व की जो अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं, ये सब आत्मा में संयुक्त हो जाती हैं। इस प्रकार अपने सूक्ष्मतर स्वरूप में इन्द्रियों और मन से विमुख हुआ आत्मा शाश्वत और अविकारी है; मन और इन्द्रियों के सम्पर्कजनित अपने स्वरूप में वह विकार और चेतनत्व के क्षेत्र में होता है। अतः यह मत भारतीय दर्शन के आस्तिक मत से भिन्न है।

इस संदर्भ में यह ध्यान रखना उपयुक्त होगा कि चरक संहिता वैशेषिक यथार्थों की गणना से आरंभ होती है, और वैशेषिक दृष्टिकोण से इसके विभेद होने पर भी, इसका आरम्भ वैशेषिक से होता हुआ प्रतीत होता है। यह महाभूतों, मन, काल, देश और आत्मा की गणना द्रव्यों के रूप में करती है। इसमें गुणों की गणना की गई है; यथा इन्द्रिय गुण, गुरु (गुर्वादयः) बुद्धि से प्रारम्भ होने वाली सूची में दिए गए यांत्रिक या भौतिक गुण तथा 'पर' से प्रारंभ होकर 'प्रयत्न' में अन्त होने वाले गुण। परन्तु यह गुर्वादि सूची क्या है? वैशेषिक सूत्रों में ऐसी कोई सूची नहीं है। चक्रपाणि ने चरक द्वारा बाद के एक अध्याय (1. 25. 35) में दी गई गणना का उल्लेख किया है; इस अध्याय में इन गुणों को सब द्रव्यों के गुण होना नहीं बताया गया है, परन्तु केवल जिस अन्न और पान को हम ग्रहण करते हैं उसी के गुण को बताया है।[2] परन्तु परादि (परः से प्रारंभ होने वाला) और प्रयत्नान्त ('प्रयत्न' में अन्त होने वाली) सूची चरक संहिता में कहीं भी नहीं दृष्टिगोचर होती है। संभव है यहां वैशेषिक सूत्र 1. 1. 6. की ओर संकेत हो।[3] परन्तु यदि ऐसा ही है तो वैशेषिक सूत्र में गिनाए गए कई एसे गुणों को छोड़ दिया गया है जिनकी गणना परादि

---

1 नित्यत्वं चात्मनः पूर्वापरावस्थानुभूतार्थप्रतिसंधानात्। चरक 1. 1. 55 पर चक्रपाणि की टीका।

2 आहारत्वमाधारस्यैकविधम्अर्थभेदात् स 'पुनः····विंशतिगुणो' गुरुलघुशीतोष्णस्निग्ध-रूक्षमन्दतीक्ष्णस्थिरसरमृदुकठिनविशदपिच्छिलश्लक्ष्णखरसूक्ष्मस्थूलसान्द्रद्रवानुगमात्।
—चरक संहिता 1. 5. 35।

3 परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नश्च गुणाः वैशेषिक सूत्र 1. 1. 6।

सूची में की गई है।[1] चरक स्वयं परादि गुणों की सूची देते हैं जिसमें पूर्व उल्लिखित वैशेषिक सूत्र के तथा कुछ अन्य गुण भी सम्मिलित हैं। जिन गुणों की गणना की गई है वे ये हैं, पर, अपर, युक्ति, संख्या संयोग, विभाग, पृथक्त्व, संस्कार और अभ्यास।[2] 'पर' का अर्थ 'प्रधानता' है, 'अपर' का अर्थ 'अप्रधानता' है। प्रधानता अथवा अप्रधानता देश, काल, अवस्था, परिणाम, पाकजनित रस, वीर्य और रस पर निर्भर करती है। इस प्रकार सूखा देश 'पर' और अनूप देश 'अपर' होता है, शरत् और हेमन्त की वर्षा (विसर्ग) 'पर' कहलाती है, जबकि शिशिर, बसन्त और ग्रीष्म की ऋतुएँ 'अपर' कहलाती हैं; पाक, वीर्य और रस के संदर्भ में 'पर' और 'अपर' का अर्थ 'उपयोगिता' और 'अनुपयोगिता' है—जो वस्तु किसी के लिए उपयोगी है वह 'पर' है और जो इसके लिए अनुपयोगी है वह 'अपर' है। युक्ति का अर्थ है रोग विशेष के संदर्भ में उचित भेषज की कल्पना (दोषाद्यपेक्षया भेषजस्य समीचीनकल्पना), संख्या का अर्थ गिनती है, 'संयोग' का अर्थ दो अथवा अधिक द्रव्यों का मिश्रण अथवा योग; 'विभाग' का अर्थ अलग करना, 'पृथक्त्व' का अर्थ भेद करना है। हिमालय और मेरुपर्वत पृथक् हैं, क्योंकि वे भिन्न स्थानों में स्थित हैं और एक नहीं हो सकते; पुनः यद्यपि एक सूअर और भैंसा आपस में एकत्र हो जाएँ फिर भी वे सदा एक दूसरे से पृथक् रहते हैं; और फिर, एक ही जाति में, यथा मूंग के ढेर में, प्रत्येक मूंग अपने स्वरूप में अन्य से पृथक् है; अन्तिम उदाहरण में संख्या की पृथक्ता के कारण स्वरूप की पृथक्ता है; इस प्रकार जहाँ भी अनेकता हो वहाँ स्वरूप में पृथक्ता है। इस प्रकार पृथक्त्व का अर्थ तीन प्रकार की पृथक्ता है : देशज पृथक्ता, प्रकृतिज पृथक्ता और व्यक्तिगत स्वरूप की पृथक्ता। 'परिमाण' का अर्थ तौल द्वारा माप है, 'संस्कार' का अर्थ है नए गुणों का उत्पादन, और 'अभ्यास' का अर्थ है सतत क्रिया द्वारा प्राप्त स्वभाव। उपर्युक्त से यह स्पष्ट है कि यद्यपि यहाँ पर प्रयुक्त संज्ञाएँ वैशेषिक सूत्र में कणाद द्वारा प्रयुक्त संज्ञाओं के समान ही हैं, फिर भी उनका प्रयोग सम्भवतः चिकित्सा परम्परा के अनुसार भिन्न अर्थों में हुआ है, परन्तु इस सूची का अन्त 'प्रयत्न' में ही नहीं होता, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि 'परादि' और 'प्रयत्नान्त' का प्रयोग दो पृथक् सूचियों के लिए हुआ है और दोनों को एकसाथ मिलाना नहीं चाहिए। उपर्युक्त सूची परादि सूची है। 'प्रयत्नान्त' सूची गुणों की पृथक् सूची है। जैसाकि चक्रपाणि का कथन है, 'प्रयत्नान्त' सूची में इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और प्रयत्न सम्मिलित हैं। 'प्रयत्न' का अर्थ उस विशेष गुण से है जिसके आत्मा में उदय होने से मन सक्रिय हो जाता है।

कर्म का वर्णन 'प्रयत्नादिचेष्टितम्' अर्थात् चेतनायुक्त प्रयत्न के प्रकार की चेष्टा, किया गया है, 'प्रयत्नादि' के 'आदि' शब्द की व्याख्या चक्रपाणि ने 'के प्रकार का' इस अर्थ में की है।[3]

---

1 रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्यापरिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे —वही।

2 परापरत्वे युक्तिश्च संख्या संयोग एव च।
विभागश्च पृथक्त्वं च परिमाणमथापि च।
संस्काराभ्यास इत्येते गुणा ज्ञेयाः परादयः॥ —चरक संहिता 1. 26. 27–29।

3 आदि शब्दः प्रकारवाची। चरक संहिता 1.1.48 पर चन्द्रपाणि की टीका।

'समवाय' का अर्थ है अयुनसिद्ध संबंध, जैसा गुणों और द्रव्यों में होता है। 'समवाय' के स्वरूप की व्याख्या करते हुए चक्रपाणि का कथन है कि यह नित्य है, ताकि, यदि किसी अवस्था में इसका लोप हो जाए तो यह दूसरी अवस्थाओं में विद्यमान रहता है। इसका कभी नाश नहीं होता और न कभी नव-जन्म ही होता है। परन्तु अवस्था-विशेषों में ही इसकी प्रतीति व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप में होती है।[1] 'सामान्य' और 'विशेष' को भी चरक नया अर्थ प्रदान करते हैं। वैशेषिक दर्शन में 'सामान्य' का अर्थ 'जाति-प्रत्यय' है, परन्तु यहाँ इसका अर्थ स्थूल पदार्थों से है जिनके एक से विधायक अथवा धर्म होते हैं। 'सामान्य' और 'विशेष' का महत्त्व उससे विल्कुल भिन्न है जो इन शब्दों को वैशेषिक सूत्र में प्राप्त है। 'सामान्य' और विशेष का सिद्धान्त आयुर्वेद का मुख्य सहारा है, क्योंकि यही सिद्धान्त भेषजों के प्रयोग और पथ्यचर्या का आधार है। जिन द्रव्यों में सदृश विधायक अथवा धर्म होंगे वे ही एक दूसरे की अभिवृद्धि करेंगे, और जिन द्रव्यों के विधायक अंग अथवा धर्म असदृश होंगे वे परस्पर क्षयकारी होंगे। इस प्रकार वातप्रधान द्रव्य वात बढ़ाएगा और अवातसदृश श्लेष्मा घटाएगा, इत्यादि। इस प्रकार 'सामान्य' की परिभाषा 'तुल्यार्थता' अर्थात् सदृश उद्देश्यों का संपादन है। केवल धारणात्मक महत्त्व रखने के बजाय, यहाँ सामान्य और विशेष को आयुर्वेद के लिए सर्वोच्च महत्त्व का व्यावहारिक कार्य करते हुए देखा जाता है। द्रव्यों के सिद्धान्त के विषय में भी यद्यपि चरक ने पदार्थ की गणना का आहरण किया था, फिर भी चक्रपाणि का कहना है कि सरलतर भूत जटिलतर भूतों के अग थे (भूतान्तरानुप्रवेश) और इस कथन की पुष्टि के लिए यह न्याय सूत्र का एक सूत्र उद्धृत करते हैं, जो वहाँ पर एक विपक्षी के मत के रूप में प्रकट होता है, क्योंकि भूतानुप्रवेश के सिद्धान्त में न्याय-वैशेषिक शाखा द्वारा विश्वास नहीं किया जाता था; उस शाखा के अनुसार कोई भी भूत किसी अन्य भूत में प्रवेश नहीं करता है, और उनके गुण उनमें ही स्थिर रहते हैं। फिर भी इन विकारों के उपरान्त भी चरक का न्याय-वैशेषिक से निकटतर सम्बन्ध प्रतीत होता है। परन्तु, जैसाकि इस पुस्तक के प्रथम खंड में सांख्य-विषयक अध्याय में पहले ही वर्णन किया जा चुका है और समझाया जा चुका है, 4.1 में सांख्य-शाखा का विस्तृत वर्णन आयुर्वेद से कुछ अधिक संबंध रखता प्रतीत नहीं होता, और इस हेतु वह सारा अध्याय शेष पुस्तक से मेल खाता प्रतीत नहीं होता और इसका चरक संहिता के अन्य भागों में उल्लेख नहीं किया गया है। यह असंभव नहीं है कि यह अध्याय इस ग्रन्थ में किसी अन्य पुस्तक से जोड़ा गया हो।

चरक के समान सुश्रुत वैशेषिक पदार्थों की गणना नहीं करते हैं और सांख्य विषयक उनका वर्णन सांख्य सूत्र और ईश्वर कृष्ण की 'कारिका' में दिए गए परम्परागत वर्णन का यथातथ्य रूप हैं। सांख्य सिद्धान्त का वर्णन करने के बाद सुश्रुत कहते हैं कि चिकित्साशास्त्र के अनुसार पदार्थों के कारण छः प्रकार के होते हैं, अर्थात् (1) स्वभाव, (2) ईश्वर, (3) काल, (4) यदृच्छा, (5) नियति और (6) परिणाम।[2] जैसा

---

1 वही, 1.1.49।

2 सुश्रुत संहिता, 3.1.11।

डल्हण ने प्रदर्शित किया है, सुश्रुत ने इन सब कारणों के कार्य का कई स्थानों पर उल्लेख किया है। इस प्रकार गर्भावस्था में शरीर के अंगों की संरचना स्वभाव के कारण बताई गई है; अग्नि के रूप में ईश्वर को आमाशय में पाचक अग्नि के रूप में क्रियाशील और पाचन में सहायक बतलाया गया है; 'काल' को ऋतुओं के रूप में दोषों के वृद्धि और क्षय का कारण बताया गया है; 'नियति' का अर्थ पुण्य और पाप है और व्याधियां तथा उनसे आरोग्य लाभ का कारण कभी-कभी इन्हीं को बताया गया है। सुश्रुत पर टीका करते हुए जेज्जट कहते हैं (जैसाकि डल्हण का कथन है) कि ईश्वर के अतिरिक्त ये सब छहों 'कारण' 'प्रकृति' के भिन्न-भिन्न नाम हैं। तथापि गयी का विचार है कि उपर्युक्त छः कारण निमित्त कारण हैं, यद्यपि प्रकृति को भी उपादान कारण माना जा सकता है।

जैसाकि डल्हण और गयी का मत है कि यह मानने का कोई कारण नहीं है कि सुश्रुत ने सांख्य के मत का वर्णन किया है, क्योंकि छः प्रकार के कारणों का वर्णन करने के तत्काल पश्चात् वे महाभूतों का वर्णन त्रिगुण, सत्त्व, रजस् और तमस्, से निर्मित होने के रूप में करते हैं। इन्द्रियों का भी भौतिक होना माना गया है। आयुर्वेद के अनुसार आत्माएँ नित्य हैं, यद्यपि वे अपने देहों तक ही सीमित हैं और सर्वव्यापी नहीं है। जब शुक्र और शोणित का संयोग होता है तब उनकी वृत्ति होती है, और धर्म और अधर्म के कारण पुनर्जन्म को भोगने वाला यही दैहिक आत्मा (जिसे 'कर्म पुरुष' कहते हैं) चिकित्सा-विज्ञान का विषय है। जब आत्मा मन के संसर्ग में होता है, तो इसके निम्न गुण होते हैं : सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, प्राण और अपान (श्वास की ऊर्ध्वगत धारा और गुदा की दिशा में नीचे की ओर कार्य करने वाली शक्ति) उन्मेष और निमेष, बुद्धि (निश्चय), संकल्प, विचारणा, स्मृति, विज्ञान, अध्यवसाय और विषयोपलब्धि। मन के गुणों को सात्त्विक, राजस और तामस इन तीन वर्गों में विभक्त किया गया है; इनमें से सात्त्विक गुण हैं आनृशंस्य, संविभाग रुचिता, तितिक्षा, सत्य, धर्म, आस्तिक्य, ज्ञान, मेधा, बुद्धि, धृति और अनभिषंग; राजस गुण हैं : दुःख, अधृति, अहंकार, अनृतत्व, अकारुण्य, दम्भ, मान, हर्ष, काम और क्रोध; तामस गुण हैं : मूढता, अधर्मशीलता, दुर्मेधता, अकर्मशीलता और निद्राशीलता।

तर्कसंबंधी विवेचना और सैद्धान्तिक विवादसंबंधी संज्ञाएँ

पदार्थ या तो सत् होते हैं या असत् और उनका ज्ञान आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान और युक्ति के इन चार प्रमाणों द्वारा हो सकता है।[1]

जिनके मन अपने तपोबल द्वारा रजस् और तमस् के दोषों से युक्त हैं, जिनके पास भूत, वर्त्तमान और भविष्य तक व्याप्त होने वाला असीम ज्ञान है, उन्हें 'आप्त' मानना चाहिए। ऐसे व्यक्तियों में ज्ञान की कमी नहीं होती और न वे जानबूझ कर कोई असत्य

---

1. चरक संहिता, 1.11.17।

भाषण करते हैं। उन्हें पूर्णरूपेण आप्त मानना चाहिए और उनका प्रमाण सत्य माना जा सकता है।[1]

आत्मा, इन्द्रियां, मन और विषयों के संनिकर्ष से उत्पन्न सम्यक् और निश्चित ज्ञान को 'प्रत्यक्ष' कहा जाता है। चक्रपाणि ने विषयों के साथ इन्द्रियों के इस संपर्क को पंच-विध माना है : (1) द्रव्य का सन्निकर्ष जिसे 'संयोग' कहा जाता है, (2) समवाय सम्बन्ध से समवेत गुण वाले पदार्थों के (संयुक्त समवाय) माध्यम से, गुणों का सन्निकर्ष; (3) समवाय सम्बन्ध में गुणों में विद्यमान रूपत्व आदि उन गुणों के विश्वव्यापी रूप में गुणों के साथ जातिगत प्रकार का सन्निकर्ष (यथा रूप आदि), इसे 'संयुक्तसमवेतसमवाय' कहा जाता है क्योंकि आँख पदार्थ के सम्पर्क में होती है और रूप समवाय सम्बन्ध द्वारा पदार्थ में विद्यमान है और उस रूप विशेष में समवाय संबंध के द्वारा विश्वव्यापी रूप अथवा रूप का जातिगत स्वरूप विद्यमान है। (4) 'समवाय' संज्ञक सन्निकर्ष, जिसके कारण श्रोत्र द्वारा शब्दों का प्रत्यक्षीकरण होना बताया जाता है; श्रवणेन्द्रिय 'आकाश' है, और 'शब्द' आकाश में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान है, और इस प्रकार श्रवणेन्द्रिय शब्द का प्रत्यक्षी-करण एक विशिष्ट प्रकार के संपर्क द्वारा ही कर सकती है जिसे 'समवेतसमवाय' कहते हैं, (5) शब्द के जातिगत स्वरूप का विश्वव्यापी शब्द (शब्दत्व) के रूप में प्रत्यक्षीकरण 'समवेतसमवाय' संज्ञक सन्निकर्ष के प्रकार से होता है। इस प्रकार के सन्निकर्ष का सद्यः प्राप्य (तदात्व) बोध ही 'प्रत्यक्ष' कहलाता है, क्योंकि अनुमान, स्मृति आदि भी इस प्रकार के बोध के परिणामस्वरूप अन्य क्रमिक प्रक्रियाओं (पारम्पर्य) के द्वारा बाद में प्रवेश कर सकते हैं। चक्रपाणि का आगे कथन है कि उक्त चार प्रकार के सम्पर्क प्रत्यक्ष ज्ञान के वास्तविक कारण हैं; वास्तव में जो ज्ञान इन्द्रिय सम्पर्क के कार्य के परिणामस्वरूप प्राप्त होता है वही 'प्रत्यक्ष' की उचित परिभाषा होगी; अतः सुख के प्रत्यक्षीकरण में यद्यपि इनमें से किसी भी सन्निकर्ष का होना आवश्यक नहीं है, फिर भी इसे सीधे प्रत्यक्ष का एक सही उदाहरण माना जाता है। हाँ, सब प्रकार के बोध के लिए आत्मा के साथ सम्पर्क आवश्यक है।[2] यही आसानी से देखा जा सकता है कि प्रत्यक्षीकरण का उपर्युक्त सिद्धान्त उसी प्रकार का है जिस प्रकार का न्याय-दर्शन में उपलब्ध होता है। निर्विकल्प प्रत्यक्षी-करण पर विचार नहीं किया गया है, क्योंकि न्यायसूत्र में 'अव्यपदेश्य' के सदृश कुछ भी नहीं है।[3] अनुमान प्रत्यक्ष पर आधारित होना चाहिए, जिसके द्वारा हेतु की व्याप्ति का

---

1 वही, 1.11.18.19।

2 चरक संहिता 1.11.20 पर चक्रपाणि की टीका।

3 चरक संहिता 1.11.20 में प्रत्यक्ष की परिभाषा इस प्रकार दी गई है :

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते
व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षे सा निरुच्यते।

न्याय सूत्र में प्रत्यक्ष की परिभाषा निम्न है :

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारी व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।

इस पर विवेचन के लिए प्रथम खंड, पृ० 333–343 देखिए।

निरीक्षण पहले हो सके। अनुमान के तीन प्रकार हैं; कार्य से कारण की प्राप्ति, यथा गर्भ से मैथुन का अनुमान; कारण से कार्य, यथा अन्य सहकारी कारणों, जल सेचन आदि, से युक्त बीज से भावी फल का अनुमान, और कारण और कार्य के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धों द्वारा अनुमान यथा धूम से अग्नि का अनुमान।[1]

किसी भी अन्य भारतीय दर्शन में युक्ति की पृथक् प्रमाण के रूप में गणना नहीं की गई है। जिन अनेक हेतुओं, कारणों और विचारणाओं के माध्यम से कोई मनुष्य अपने जीवन में सब इष्ट पदार्थों को प्रायः प्राप्त कर लेता है उन्हीं अनेक हेतुओं, कारणों और विचारणाओं का मन में गंभीर रूप से परख कर जब हमारी बुद्धि किसी भाव का धर्म, धन अथवा फल के रूप में निर्णय करती है तब उसे युक्ति कहा जा सकता है।[2] जैसाकि चक्रपाणि ने प्रदर्शित किया है, युक्ति वास्तव में कोई पृथक् प्रमाण नहीं है, परन्तु यह प्रमाण की सहायक है, इसलिए इसकी प्रमाण रूप में गणना की गई है। युक्ति के उदाहरण के रूप में पृथ्वी की दशा, वर्षा की सम्भावित मात्रा, जलवायुसम्बन्धी दशाओं, आदि से अच्छी या बुरी खेती की सम्भावना का चरक उल्लेख करते हैं। चक्रपाणि ने ठीक ही कहा है कि इस प्रकार की अवस्था को, जहाँ अनेक तर्कों के संयुक्त प्रयोग से किसी परिणाम पर पहुँचा जाय, ऊहा कहना उचित है, और यह जन-समुदाय में इसी नाम से प्रचलित है। यहाँ इसकी पृथक् प्रमाण के रूप में गणना की गई है। वास्तव में यह कारणों से कार्य का अनुमान ही है, और इसका प्रयोग वर्तमान काल में नहीं किया जा सकता, और इसे त्रिकाल, भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में सत्य नहीं माना जा सकता, जैसाकि चरक ने कहा है।

शान्तरक्षित युक्ति को पृथक् प्रमाण मानने के चरक के सिद्धान्त का विवेचन करते हुए लिखते हैं, कि बौद्धों का मत है कि युक्ति इस बात के निरीक्षण में निहित है कि क्योंकि 'जब यह होता तब वह भी होता है' और चूँकि 'जब यह नहीं होता है तो वह भी नहीं होता है', इसलिए 'यह' 'उसका' कारण है। यह तर्क दिया जा सकता है कि यह अनुमान की अवस्था नहीं है क्योंकि न्याय के अनुमान में कमलशील की व्याख्या के अनुसार कोई ऐसी प्रतिज्ञा नहीं है जो दृष्टान्त-युक्त प्रतिज्ञा के तुल्य हो (यथा, जो कुछ भी धूममय है वह अग्निमय होगा, जैसे रसोई)। यह मत व्यक्त किया जाता है कि कारण-कार्य के विचार का मूल 'यह होने पर वह होगा' यह विचार है और कार्यकारण सम्बन्ध की धारणा का अन्य कोई अर्थ नहीं; यदि किसी अवस्था में कोई दृष्टान्त विशेष दिया जाता है, तो अन्य दृष्टान्त भी अपेक्षणीय हो सकता है, और उसके बाद दूसरा; और हमें इस प्रकार अनवस्था

---

1 प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकाल चानुमीयते
बह्निर्निगूढो धूमेन मैथुनं गर्भदर्शनात्
एवं व्यवस्यन्त्यतीतं बीजात्फलमनागतं
दृष्टा बीजात्फलं जातमिहैव सदृशं बुधाः। —चरक संहिता, 1.11.21.22।

2 बुद्धिः पश्यति या भावान्बहुकारणयोगजान्
युक्तिस्त्रिकाल सा ज्ञेया त्रिवर्गः साध्यते यया —वही, 1.11.25।

दोष प्राप्त होगा ।[1] 'यह होने पर वह होता है, इस सम्बन्ध से उत्पन्न कारण-कार्य सम्बन्ध के परिणाम को युक्ति मानने वाले मत के पक्ष में दिए गए तर्कों का शान्तरक्षित और कमलशील ने खण्डन किया है, जिन्होंने यह प्रदर्शित किया है कि 'यह होने पर वह होगा' के सम्बन्ध को कारण-कार्य के सम्बन्ध से जोड़ने वाली कोई बोध-प्रक्रियाएँ नहीं है, क्योंकि इन दोनों से एक ही धारणा का ग्रहण होता है । कारण-कार्य सम्बन्ध और 'यह होने पर वह होगा' यह सम्बन्ध, ये दोनों एक ही हैं । यह तर्क दिया जा सकता है कि जब कभी कोई चीज किसी अन्य चीज के घटित होने पर नित्य और अन्यथा रूप से घटित होती है, तब दोनों को कारण और कार्य रूप में उसी प्रकार सम्बद्ध माना जाता है, जिस प्रकार कि कुलाल और चक्र के उचित कार्यों के पश्चात् सदा घट आदि प्रकट होते हुए देखे जाते हैं । यदि यही 'युक्ति' है तो यह ज्ञान का कोई पृथक् स्रोत नहीं है ।

फिर भी चक्रपाणि का कथन है कि ये सब आलोचनाएँ वास्तविकता से दूर हैं, क्योंकि चरक के अनुसार, कार्यकारणता तद्भवभाविता का परिणाम नहीं है, यह तो तर्क-शृंखला के परिणामस्वरूप किसी निर्णय पर पहुँचना मात्र है । परन्तु इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि चरक 3.4.6 और 7 में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, इन तीन प्रकार के प्रमाणों का वर्णन करते हैं और अनुमान का वर्णन युक्ति पर आश्रित तर्क के रूप में करते हैं । चक्रपाणि ने 'तर्क' उसे बतलाया है जिसका प्रत्यक्षीकरण न हो सके (तर्कोऽ-प्रत्यक्षज्ञानम्) और यहाँ युक्ति का अर्थ 'अबिनाभाव' का संबंध बताया है । इस संबंध में

---

1 दृष्टान्तेऽप्यत एव तद्भावभावित्वात् कार्यताप्रतिपत्तिः, तत्रापि दृष्टान्तोऽन्योऽन्वेषणीयः, तत्राप्यपर इत्यनवस्था । चरक संहिता 1.11.25 की टीका में चक्रपाणि द्वारा कमल-शील का उद्धरण ।

शान्तरक्षित ने चरक के दृष्टिकोण को एक विलक्षण प्रकार से गलत रूप में प्रस्तुत किया है । उनका कथन है कि इस तथ्य से कि जिन सब दशाओं में जब 'क' विद्यमान है तो उनमें 'ख' भी विद्यमान है, और जिन सब दशाओं में 'क' अविद्यमान है तो उनमें 'ख' भी अविद्यमान है' जब कोई 'क' को 'ख' का कारण मानता है तो चरक के अनुसार इसे युक्ति का नया प्रमाण माना जाता है । शान्तरक्षित के असली शब्द ये हैं :

अस्मिन्सति भवत्येव न भवत्यसतीति च
तस्मादतो भवत्येव युक्तिरेषाऽभिधीयते
प्रमाणान्तरमेवेयम् इत्याह चरको मुनिः
नानुमानमियं यस्माद् दृष्टान्तोऽत्र न लभ्यते । —तत्त्व संग्रह, पृ० 482 ।

जैसाकि चक्रपाणि ने चरक संहिता पर अपनी टीका में प्रदर्शित किया है, जो चरक ने कहा है उससे यह बिलकुल भिन्न है । युक्ति के विषय में चरक का भाव सम्भाव्यता का तर्क है, अर्थात् जब कई घटनाओं, परिस्थितियों और निरीक्षणों के आधार पर कोई व्यक्ति किसी निर्णय विशेष को सम्भव मानने लगता है तो उसे 'युक्ति' कहते हैं, और यह अनुमान अथवा किसी भी अन्य स्वीकृत प्रमाण से भिन्न है । जहाँ तक मुझे ज्ञात है, भारतीय विचारधारा में सम्भाव्यता के तर्क का यही एकमात्र उदाहरण है ।

यह कहा गया है कि किसी व्याधि का निर्णय प्रत्यक्ष; आप्तोपदेश और अनुमान द्वारा करना चाहिए। परन्तु 3.8.6.33 और 34 में चरक ने 'ऐतिह्य' की गणना 'आप्तोपदेश' में की है, यद्यपि भारतीय दर्शन में ऐतिह्य को सामान्यत: आप्तोपदेश से भिन्न 'परम्परा' अथवा दीर्घकाल से प्रचलित लोक-विश्वास माना गया है; 'औपम्य' नाम से भी आप्तोपदेश का उल्लेख है।

यहाँ यह ध्यान में रखना असंगत नहीं होगा कि सांख्यकारिका में वर्णित सारी प्रत्यक्ष की बाधाओं का इसमें भी उल्लेख है। इस प्रकार यह कहा जाता है कि जिन पदार्थों में रूप होता है वे भी यदि आवरणयुक्त हों अथवा यदि इन्द्रियाँ दुर्बल हों या वे अपने से अभिन्न किसी एकरूप माध्यम से मिले हुए हों, अथवा जब अल्पप्रकाश वाले पदार्थ अधिकतर प्रकाशमान् पदार्थों से अभिभूत हों, अथवा जब वे अत्यन्त सूक्ष्म और बारीक हों तो उनका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।[1]

भारतीय चिकित्सकों के लिए तर्कशास्त्र न केवल व्याधि के निदान हेतु ही अपितु परस्पर होने वाली चर्चाओं में भी उपयोगी था। धनी रोगियों के रोगों का उपचार करने के अवसरों पर होने वाली चर्चाओं में विरोधी चिकित्सकों को अपने कौशल और ज्ञान का प्रदर्शन करना होता था। किसी विवाद को सफलता की ओर ले जाने की कला चिकित्सकों की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मानी जाती थी। इस प्रकार हमें विवादों से संबद्ध पारिभाषिक शब्दों का एक ऐसा पूर्ण समुदाय उपलब्ध होता है जैसाकि न्याय सूत्र के अतिरिक्त अन्य किसी भी साहित्य में कभी भी नहीं देखने को मिलता है। चरक संहिता में 'रोगभिषग्जितीय विमान' (3.8) शीर्षक वाला अध्याय लगभग पूरा का पूरा इसी प्रयोजन में प्रयुक्त हुआ है। यह याद रखना उचित होगा कि न्याय सूत्र में विभिन्न प्रकार के वादों और हेत्वाभासों का उल्लेख है, और चरक संहिता अथवा सुश्रुत संहिता के ऐसे ही विषयों की चर्चा करते समय उनका उल्लेख करना उपयुक्त होगा।

वादों के सन्दर्भ में तर्क, वाद, जल्प और वितण्डा इन चार शब्दों का प्रयोग हुआ है। तर्क और ऊहा को एक ही कहा गया है, और इसका अर्थ बताया गया है किसी यथार्थ परिणाम पर पहुँचने से पहले की मन में होने वाले तर्क की प्रक्रिया। किसी निर्णय पर पहुँचने के पहले, शंका होने के अवसर पर विभिन्न विकल्पों पर कर्त्ता की जाँच का एक नाम तर्क है। विवाद तीन प्रकार के बताए गए हैं; वाद, जल्प और वितण्डा। वाद का अर्थ है सत्य-निर्धारण के लिए वाद-विवाद; विरोधी को उचित या अनुचित प्रकार से परास्त कर देना जिसका मुख्य उद्देश्य हो वह विवाद जल्प है; वह विवाद 'वितण्डा' है जिसमें विरोधी के पक्ष की त्रुटियाँ प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया गया हो परन्तु जिसका कोई विकल्प प्रस्तुत नहीं किया गया हो। इस प्रकार जल्प और वितण्डा से वाद पृथक् है क्योंकि वाद शिष्यों, आचार्यों, सहपाठियों और निर्णयफलार्थी पुरुषों के साथ होने वाली शास्त्रसम्बन्धी न कि ख्याति और लाभ के लिए होने वाली चर्चा है।[2] दूसरी ओर जल्प

---

1 चरक संहिता 1. 11. 8।

2 वादं च निर्णयफलार्थिभिरेव शिष्यसब्रह्मचारिगुरुभिः सह वीतरागैः, न ख्यातिलाभरभसप्रतिवर्धमानस्पर्धानुबन्धविधुरात्मभिरारभेत। न्याय मंजरी, पृ० 594।

वह विवाद है जिसमें मनुष्य यह जानते हुए भी कि वह गलत है अथवा छल अथवा तर्क के अन्य अनुचित उपायों के अतिरिक्त अन्य उपायों द्वारा विरोधी से अपनी उचित प्रकार से रक्षा करने में असमर्थ है, फिर भी विवाद को जारी रखता है।

विमान स्थान, अध्याय 8 में चरक कहते हैं कि भिषक् को अन्य भिषकों से सम्भाष करना चाहिए। सम्भाष-ज्ञान के हेतु उत्साह (संहर्ष) की वृद्धि करता है, ज्ञान को निर्मल करता है, वाक्शक्ति की और यशः प्राप्ति की शक्ति की वृद्धि करता है, पूर्व प्राप्त ज्ञान के भ्रमों का उच्छेद करता है और अध्यवसाय को प्राप्त कराता है। इन सम्भाषणों के दौरान कई नई बातें सीखी जा सकती हैं और जोश में आकर कोई विरोधी अपने गुरु से प्राप्त गूढ़तम शिक्षाओं को भी प्रायः प्रकट कर देते हैं। सम्भाषण दो प्रकार के होते हैं : मैत्रीपूर्ण (संधायसंभाषा) और शत्रुतापूर्ण (विगृह्यसंभाषा)। जो मनुष्य परास्त होने अथवा अपने तर्कों के हेत्वाभासों के प्रकट हो जाने के भय से रहित होकर प्रश्नों की स्पष्ट रूप से और निष्टा से चर्चा करते हैं और उन पर अपना मत प्रकट करते हैं ऐसे बुद्धिमान् और ज्ञानी पुरुषों के बीच में 'सधाय संभाषण' होता है क्योंकि ऐसे सम्भाषणों में यद्यपि हेत्वा-भासों का वर्णन हो सकता है, फिर भी कोई भी दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न नहीं करता, कोई भी दूसरे की पराजय पर हर्षित नहीं होता और दूसरे के विचारों का गलत अर्थ लगाने अथवा उनको गलत समझने का कोई प्रयत्न नहीं करता है।

तत्पश्चात् चरक आगे यह उपदेश करते हैं कि जिस सभा में 'विगृह्य संभाषण' चल रहा हो वहाँ किसी को कैसा आचरण करना चाहिए। किसी विरोधी के 'विगृह्य सम्भाषण' में अपने को लीन करने से पहले मनुष्य के लिए यह आवश्यक है कि वह ध्यानपूर्वक यह देखें कि क्या उसका विरोधी उससे हीन (पर) है ? और जिस परिषद् में सम्भाषण हो रहा है उसका स्वरूप कैसा है ? परिषद् ज्ञानवान् अथवा मूढ हो सकती है, और ये परिषदें सुहृत, उदासीन अथवा प्रतिनिविष्ट हो सकती हैं। जब किसी विरोधी की जाँच करनी हो तो उसकी बौद्धिक और नैतिक दोनों दृष्टियों से जाँच करनी चाहिए। इस प्रकार, एक ओर तो यह देखना होगा कि क्या वह शिक्षित और बुद्धिमान् है ? क्या उसको शास्त्र याद हैं, उनको वह शीघ्रता, से प्रस्तुत कर सकता है और उसमें वचत-शक्ति है ? और दूसरी ओर यह भी देखना कि क्या उसका स्वभाव चिड़चिड़ा है अथवा वह भीरू-स्वभाव का है, आदि ? मनुष्य यह ध्यानपूर्वक विचार करे कि क्या उसका विरोधी उससे इन गुणों में हीन अथवा अधिक है ? प्रतिनिविष्ट परिशत् में सम्भाषण नहीं करना चाहिए, क्योंकि उत्कृष्टतम तर्कों का गलत अर्थ लगाया जा सकता है। मूढ़, सुहृत् अथवा उदासीन परिषत् में अपने उस विरोधी को बुद्धिमत्तापूर्ण व्यवहार से शास्त्रार्थ में पराजित करना सम्भव है, जो यशस्वी और अन्यथा महान् पुरुषों द्वारा तिरस्कृत हो। ऐसे व्यक्तियों के साथ संभाषण प्रारम्भ करते समय यह प्रयत्न करना चाहिए कि वे लम्बे सूत्रों के उच्चारण द्वारा उलझ जाँए, और वे हतोत्साह हों नाम, तथा उपहास, कटाक्ष अथवा इंगितों द्वारा तथा व्यंग्यभरी भाषा के प्रयोग द्वारा वह उनको स्तब्ध कर दे।

जब किसी मनुष्य को अपने समान विरोधी के साथ सम्भाषण करना हो तो उसका विरोध जिस बात में विशेष रूप से हीन है उसको ज्ञात करे और उसके उसी स्थान पर आक्रमण करने का प्रयत्न करे और उसको ऐसी अवस्थाओं में डालने का प्रयत्न करे जो

जनसाधारण को प्रायः अमान्य हों। तत्पश्चात् चरक इस प्रकार के संभाषों से संबद्ध कई पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करते हैं। न्याय के समान चरक भी इन वादों को जल्प और वितण्डा इन दो श्रेणियों में विभक्त करते हैं। साध्यवचन का कथन 'प्रतिज्ञा' कहलाता है यथा 'पुरुष नित्य है'। हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन सहित प्रतिज्ञाओं से युक्त न्यायसंगत हेतुओं द्वारा किसी प्रतिज्ञा को सिद्ध करना 'स्थापना' कहलाता है। इस प्रकार उपर्युक्त प्रतिज्ञा 'पुरुष नित्य है' की पुष्टि हेतु 'क्योंकि वह अकृत है' द्वारा दृष्टान्त 'आकाश अकृत है और वह नित्य है' द्वारा, दृष्टान्त के कर्त्ता और प्रतिज्ञा के कर्त्ता (उपनय) के बीच सादृश्य प्रदर्शित करने वाले वाक्य 'जैसे कि आकाश नित्य है उसी तरह पुरुष भी नित्य है' द्वारा और अन्त में प्रतिज्ञा की सिद्धि (निगमन) 'इसलिए पुरुष नित्य है' द्वारा की जाती है।[1]

विरोधी द्वारा प्रस्तुत किए गए वचन अथवा प्रतिज्ञा के विरुद्ध वचन सिद्ध करने के प्रयत्न को 'प्रतिष्ठापना' कहते हैं। इस प्रकार जब स्थापना की प्रतिज्ञा 'पुरुष नित्य है' हो, तो प्रतिष्ठापना वाक्य होगा 'पुरुष अनित्य है, क्योंकि यह इन्द्रियगोचर है' और 'घट जो इन्द्रियगोचर है वह अनित्य है' और 'पुरुष घट के सदृश है' इसलिए 'पुरुष अनित्य है'।

चरक 'हेतु' की परिभाषा 'ज्ञान के कारण' के रूप में करते हैं; (हेतुर्नाम उपलब्धि कारणम्), और ज्ञान का कारण है प्रत्यक्ष, अनुमान, ऐतिह्य एवं औपम्य के प्रमाण। न्याय-सूत्रान्तर्गत हेतु की परिभाषा में अनुमान द्वारा स्थापित संबंध से युक्त साधर्म्य और वैधर्म्य के माध्यम से केवल अनुमानविषयक प्रत्यक्ष हेतु का ही उल्लेख है।[2] यहां चरक यह बतलाते हैं कि हेतु प्रत्यक्ष अनुमान अथवा औपम्य अथवा ऐतिह्य कोई भी हो सकता है, परन्तु किसी भी साधन से इसकी प्राप्ति हो, जब इसका परिणाम ज्ञात होता है, तो इसे हेतु कहते हैं। इस प्रकार जब मैं कहता हूँ 'पर्वत वह्निमान् है, क्योंकि इससे धूम उठ रहा है' (पर्वतो वह्निमान् धूमवत्वात); धूम हेतु है और इसका आंख द्वारा सीधा प्रत्यक्षीकरण होता है। परन्तु जब मैं कहता हूँ 'वह बीमार है, क्योंकि उसके मन्दाग्नि है,' हेतु का सीधा प्रत्यक्ष नहीं होता है, केवल अनुमान ही होता है, क्योंकि किसी के मन्दाग्नि होने के तथ्य का सीधा प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। पुनः, जब यह कहा जाता है 'पुरुष नित्य है, क्योंकि वह अकृत है' (नित्यः पुरुषः, अकृतकत्वात्), अकृतकत्व हेतु है, परन्तु इसका न तो प्रत्यक्ष होता है और न अनुमान ही, अपितु शास्त्रों के प्रमाण से इसे अंगीकार किया जाता है। पुनः, 'उसका मुख कान्ततम है क्योंकि उसकी उपमा चन्द्रमा से दी गई है' (अस्य मुखं कान्ततमं चन्द्रोपमत्वात्) वाक्य में चन्द्रमा की उपमा देने का तथ्य हेतु है और उसे 'उपमा' की संज्ञा दी जाती है।[3] इस प्रकार चरक की हेतु की परिभाषा का गौतम की

---

1 यह सरलता से देखा जा सकता है कि चरक ने 'तर्कवाक्य' में उन पांचों वाक्यों को स्वीकार किया है जो न्यायसूत्र में स्वीकृत हैं।

2 उदारहणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः, तथा वैधर्म्यात्।

—न्यायसूत्र 1. 1. 34, 35।

3 देखिए गंगाधर कृत 'जल्पकल्पतरु' 3.8.122।

परिभाषा से वस्तुतः संघर्ष नहीं होता, उनका तो केवल यह कथन है कि उपलब्धि किसी भी प्रमाण से हो सकती है, और किसी भी प्रमाण से इसकी उपलब्धि हो, यह हेतु कहा जा सकता है, यदि यह सदा और अविनाभाव से साध्य से संबद्ध हो।[1]

तत्पश्चात् चरक उत्तर का वर्णन करने को अग्रसर होते हैं, अर्थतः जो न्यायसूत्र के जाति के समान ही है। जब कोई विरोधी हेतु के साथ प्रतिज्ञा के विषय के साधर्म्य के आधार पर प्रतिज्ञा को सिद्ध करना चाहता है तो उसकी प्रतिज्ञा के हेतु के साथ वैधर्म्य प्रदर्शित करके प्रतिज्ञा में विपर्यय लाने का प्रयत्न करना आवश्यक है। इस प्रकार कोई मनुष्य कहे कि मनुष्य में शीत का अनुभव अवश्य उसके हिम, ओस अथवा शीत वायु से पीड़ित होने के कारण हुआ होगा, क्योंकि सदृश कारणों से सदृश कार्य उत्पन्न होते हैं, तो उत्तर में यह कहा जा सकता है कि कार्य अपने कारणों के असदृश होते हैं, क्योंकि तापज्वर शीत के प्रकोप के कारण हो सकता है।[2] जातियों की जो लम्बी सूची न्यायसूत्र में दी गई है

---

1 हेतुश्चाविनाभावलिंगवचनं यद्यपि, तथापीह लिंगप्रग्राहकाणि प्रत्यक्षादिप्रमाणान्येव यथोक्तहेतुमूलत्वेन हेतुशब्देनाह। —चरक 3.8.6 25 पर चक्रपाणि की टीका।

2 साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः—न्यायसूत्र 1.2.18। इस जाति के चौबीस प्रकार हैं: यथा (1–2) साधर्म्यवैधर्म्यसम (3–8) उत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्य विकल्पसाध्यसम (9–10) प्राप्त्यप्राप्तिसम (11–12) प्रसंगप्रतिदृष्टान्तसम (13) अनुत्पत्तिसम, (14) संशयसम, (15) प्रकरणसम, (16) अहेतुसम, (17) अर्थापत्तिसम, (18) अविशेषसम, (19) उपपत्तिसम, (20) उपलब्धिसम, (21) अनुपलब्धिसम (22) नित्यसम, (23) अनित्यसम, (24) कार्यसम।

'साधर्म्यवैधर्म्यसम' वह है जिसमें किसी हेतु के सादृश्य अथवा असादृश्य के आधार पर किसी तर्क के प्रस्तुत करने पर यह प्रदर्शित किया जाय कि अन्य हेतुओं के सादृश्य अथवा असादृश्य की अन्य बातों से बिलकुल विपरीत निष्कर्ष निकाला जा सकता है। इस प्रकार जब यह कहा जा सकता है 'शब्द अनित्य है, क्योंकि यह प्रयत्न द्वारा उत्पन्न होता है और जो कुछ भी प्रयत्न द्वारा उत्पन्न होता है वह अनित्य है, यथा घट, 'तो यह उत्तर दिया जा सकता है 'शब्द नित्य है, क्योंकि वह अवयवहीन है, अवयवहीन इकाई, यथा आकाश, नित्य दिखाई देती हैं, कोई विशेषकारण नहीं है कि घट के साथ अपने सादृश्य के कारण शब्द को अनित्य क्यों माना जाय और आकाश के साथ इसके सादृश्य के कारण इसे नित्य क्यों नहीं माना जाय। इस दुविधापूर्ण तर्क से मुक्ति यह जानने से हो सकती है, कि अविनाभावयुक्त और अव्यभिचारी सादृश्य किस में निहित है।

'उत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यसम' वह है जिसमें सादृश्य पर अधिक बल दिया जाता है। इस प्रकार यह प्रस्तुत किया जाता है कि क्योंकि घट के समान शब्द अनित्य है, अतः शब्द घट के समान दृश्य भी होना चाहिये और यदि ऐसा नहीं है तो घट के समान अनित्य नहीं हो सकता। फिर यह भी कहा जा सकता है जिस कारण से शब्द के अनित्य होने की आशा की जाती है, वह कारण यह है कि शब्द प्रयत्न से उत्पन्न (प्रयत्नान्तरीयक) है। परन्तु प्रयत्न से उत्पन्न वस्तुएँ

और जिसकी व्याख्या भाष्य एवं टीकाओं में तथा न्याय मंजरी में की गई है, उसका चरक द्वारा उल्लेख नहीं किया गया है, और न 'जाति' के पारिभाषिक नाम को चरक के वर्णन

अपने कई गुणों से भिन्न होती हैं, इस प्रकार वस्त्र मृदु हैं और घट कठोर; यद्यपि दोनों प्रयत्न द्वारा उत्पन्न हैं; इसी प्रकार यह तर्क किया जा सकता है कि यद्यपि शब्द भी घट के समान ही प्रयत्न का फल है, फिर भी अनित्य होने में शब्द का घट से साम्य नहीं है। फिर शब्द भी घट के समान है, ऐसा तर्क देने के स्थान पर यह भी तर्क दिया जा सकता है कि घट शब्द के समान है; ताकि घट की स्थिति भी वैसी ही अनिश्चित हो जाती है जैसीकि स्वयं शब्द की (यदि यथा घटस्तथा शब्दः प्राप्तं तर्हि यथा शब्दः तथा घट इति शब्दश्चानित्यतया साध्य इति घटोऽपि साध्य एव स्यात् अन्यथाहि न तेन तुल्या भवेत्—न्याय मंजरी, पृ० 624। इस प्रकार के दोष-प्रदर्शनों के उत्तर में सम्यक् तर्क यह है कि किसी सादृश्य का उसकी सीमाओं से परे विस्तार नहीं होना चाहिए, और किसी भी दृष्टान्त को ऐसा नहीं मानना चाहिए कि उसकी स्थिति साध्य के समान ही है, क्योंकि दृष्टान्त वह है जिस पर विवादी पक्ष और सामान्य लोग पहले से ही सहमत हैं (लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः)।

'प्राप्त्यप्राप्तिसम' वह है जिसमें यह प्रस्तुत किया जाय कि यदि हेतु और साध्य साथ-साथ हों तो उनका एक दूसरे से भेद नहीं किया जा सकता, यदि वे पृथक् हों तो हेतु से हम साध्य पर नहीं पहुँच सकते। इसका उत्तर यह है कि हेतु या तो सीधे सम्पर्क द्वारा (यथा रस्सी और दण्ड मिट्टी के संपर्क से घट उत्पन्न करते हैं) या दूर से ही (यथा-श्येन यज्ञ से दूरस्थ शत्रु का नाश हो सकता है) कार्य की उत्पत्ति कर सकता है।

'प्रसंगसम' वह है जिसमें हेतु का कारण पूछा जाय। इस प्रकार, यदि किसी प्रयत्न के सद्यः अनुसरण का धर्म (प्रयत्नान्तरीयकत्व) अनित्यता का हेतु हो, तो घट का प्रयत्नान्तरीयकत्व किससे सिद्ध हो सकता है, आदि? इसका उत्तर यह है कि केवल उसी चीज के लिए हेतु आवश्यक है जो स्वतः प्रमाण रूप में सीधा अनुभव में न आए। इस बात का सीधा अनुभव होता है कि घट उनके उत्पादक प्रयत्नों का सद्यः अनुसरण करता है, और इसे सिद्ध करने के लिए किसी तर्क या हेतु की वैसे ही आवश्यकता नहीं है जैसे जलते हुए दीपक को देखने के लिए किसी प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती है।

'दृष्टान्तसम' वह है जिसमें एक ही हेतु से दो पृथक्-पृथक् निष्कर्ष निकलते हुए दीखते हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि घट और आकाश दोनों में प्रयत्नान्तरीयकत्व है (यथा खनन के प्रयत्न से पहले आकाशहीन ठोस मिट्टी के रूप में विद्यमान भूमिगत कूपों के खनन से नया आकाश उत्पन्न हो जाता है—कूपखनन-प्रयत्नानन्तरं तदुपलम्भात्, और इस धर्म को इसलिए प्रयत्नान्तरीयक माना जाना चाहिए); फिर भी जिस प्रकार घट अनित्य और आकाश नित्य, उसी प्रकार शब्द

में स्थान ही मिला है। यदि जाति के ये विशद-विवरण चरक को ज्ञात होते, तो यह असंभव प्रतीत होता है कि उनका उल्लेख किए बिना ही चरक उनको टाल जाते।

प्रयत्नान्तरीयक होने पर भी नित्य है। इसका उत्तर यह है कि, यदि ऐसा प्रतिकूल निष्कर्ष निकाला जाए तो, एक पृथक् हेतु देना पड़ेगा जो वर्त्तमान अवस्था में नहीं दिया गया है।

यदि शब्द अनित्य है, तो इसमें प्रयत्नान्तरीयकत्व होना आवश्यक है; परन्तु इसके उत्पन्न होने अथवा अस्तित्व में आने से पहले उसमें वह धर्म कैसे आ सकता है? यदि उसमें उस काल में वह धर्म नहीं आ सकता है, तो वह अवश्य ही नित्य होगा क्योंकि इसका अनित्यता के हेतु अविद्यमान हैं। इस आपत्ति को 'अनुत्पत्तिसम' कहते हैं। इसका उत्तर यह है कि जबतक शब्द का अस्तित्व नहीं है, तबतक उसकी नित्यता अथवा अनित्यता की चर्चा नहीं की जा सकती। यदि वह अस्तित्वहीन है; तो विपक्ष द्वारा किसकी नित्यता का प्रतिपादन किया जा सकता है।

पुनः यह तर्क दिया जा सकता है कि शब्द में प्रयत्नान्तरीयकत्व है और इसलिए इसके अनित्य होने की आशा की जा सकी है; इसके इन्द्रिय गोचर होने के कारण अन्य इन्द्रियगोचर विषयों की तरह इसके भी नित्य होने की आशा की जा सकती है। इस शंका को 'संशयसम' कहते हैं। जबतक किसी बात के शंकानिवारक विशेष गुणों का ज्ञान नहीं होता, केवल जबतक ही कोई शंका शंका बनी रहती है। मनुष्य के और स्तंभ के कई गुण समान होने पर भी, जब मनुष्य को विशेष लक्षणों (यथा उसका शिर हाथ और पैर से युक्त होना) का ज्ञान हो जाता है, तो शंका नहीं रह सकती।

'प्रकरणसम' वह है जिसमें कोई इकाई हेतुओं के समान रूप से संबद्ध होती है ताकि कोई एक निष्कर्ष सम्यक् रूप से नहीं निकाला जा सके। इस प्रकार शब्द में प्रयत्नान्तरीयकत्व और निरवयवत्व दोनों ही हैं। यद्यपि प्रथम के अनुसार उसे अनित्य कहा जा सकता है, फिर भी दूसरे के अनुसार उसे नित्य कह सकते हैं, इसलिए वह नित्य है। इसका उत्तर यह है कि प्रथम हेतु की भी सत्ता स्वीकार कर लेने के कारण, दूसरे हेतु को निष्कर्ष तक पहुँचाने वाला नहीं कहा जा सकता।

किसी हेतु से किसी तर्क की उत्पत्ति नहीं हो सकती ऐसी आपत्ति को 'अहेतुसम' कहते हैं; क्योंकि यदि साध्य ही विद्यमान नहीं है, तो हेतु से किस चीज की उत्पत्ति होती है और फिर साध्य से पहले कोई हेतु विद्यमान नहीं है, तो साध्य की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? अतः हेतु साध्य का केवल व्याप्तिकारक मात्र होने के कारण उससे कोई अनुमान सम्भव नहीं है। उत्तर यह है कि ऐसा पूर्णतः संभव है कि पहले से ही विद्यमान हेतु से अविद्यमान साध्य की उत्पत्ति हो जाए। जहाँ, उदाहरण के तौर पर, शब्द के निरवयव होने के तथ्य के कारण शब्द आकाश के सदृश प्रतीत हो और इस हेतु से वह नित्य प्रतीत हो वहाँ 'अर्थापत्तिसम' होता है। यह इस पूर्व प्रतिज्ञा के विरुद्ध है कि शब्द प्रयत्नान्तरीयक होने के कारण अनित्य है। 'अविशेषसम'

'दृष्टान्त' वह है जिस पर जनसाधारण और पंडितों का मतैक्य हो, क्योंकि दृष्टान्तों में वे तथ्य होते हैं जो सबको प्रत्यक्ष हैं और सबको ज्ञात हैं, यथा अग्नि उष्ण है, जल द्रव है, पृथ्वी कठोर है। 'सिद्धान्त' वह है जिसको कोई पुरुष सम्यक् परीक्षा और उचित हेतुओं के निदर्शन के पश्चात् प्राप्त करे। इस सिद्धान्त के चार प्रकार हैं : (1) 'सर्व-तन्त्र सिद्धान्त' अर्थात् सब मनुष्यों द्वारा स्वीकृत सिद्धान्त, यथा व्याधियों के कारण होते हैं;, साध्य व्याधियों का उपचार किया जा सकता है; (2) 'प्रतितन्त्रसिद्धान्त' अर्थात् वे सिद्धान्त जो सर्वमान्य तो नहीं हैं, परन्तु विशिष्ट पुस्तकों और व्यक्तियों तक ही सीमित हैं; यथा कुछ लोगों का कथन है कि रस आठ होते हैं, अन्यों का मत है कि रस छः हैं; कुछ का कथन है कि इन्द्रिया पांच हैं, अन्यों का मत है कि इन्द्रियां छः हैं; (3) 'अधिकरणसिद्धान्त' अर्थात् वे सिद्धान्त जिनके सिद्ध अथवा स्वीकृत होने पर अन्य सिद्धान्त भी सिद्ध और स्वीकृत हो जाते हैं, यथा यदि यह सिद्ध हो जाय कि निष्काम होने के कारण

वह आपत्ति है कि यदि प्रयत्नान्तरीयकत्व के समान धर्म से युक्त होने के कारण शब्द और घट दोनों को समान रूप से अनित्य मान लें, तो सब पदार्थों के सत्तायुक्त होने के समान गुण के कारण, वे सब पदार्थ एक से ही होंगे। इसका उत्तर यह है कि एक प्रकार की समानता का अर्थ सब प्रकार की समानता नहीं है।

जहाँ घट के प्रयत्नान्तरीयकत्व के कारण उसके अनित्य होने और आकाश के समान उसके निरवयव होने के कारण उसके नित्य होने की आशा की जाए वहाँ 'उपपत्तिसम' होता है। 'उपलब्धिसम' वहाँ होता है, जहाँ यह प्रस्तुत किया जाए कि शक्तिशाली तूफान से वृक्ष के टूटने पर होने वाला शब्द प्रयत्नान्तरीयकत्व का परिणाम नहीं होने पर भी अनित्य है; पुनः विद्युत मानव प्रयत्न का परिणाम न होने पर भी अनित्य है। इसका उत्तर यह है कि व्याप्ति प्रयत्नान्तरीयकत्व और अनित्यता के बीच है, न कि अनित्यता और प्रयत्नान्तरीयकत्व के बीच; ताकि मानव प्रयत्न से उत्पन्न सब कुछ अनित्य है, परन्तु इसके विपरीत अवस्था में नहीं। यह और ध्यान रखना चाहिए कि प्रयत्नान्तरीयकत्व के द्वारा इस बात पर बल दिया गया है कि इस धर्म से युक्त सब पदार्थ उत्पन्न किए जाते हैं। 'अनित्यसम' वह आपत्ति है जिसमें, उदाहरण के तौर पर, यह कहा जाय कि यदि शब्द और घट की समानता के कारण शब्द अनित्य है, तो जगत् के सारे पदार्थों का घट से कुछ न कुछ सादृश्य होने के कारण, सारे पदार्थ अनित्य होंगे। 'नित्य सम' आपत्ति निम्न है : शब्द की अनित्यता क्या अनित्य है या नित्य ? यदि नित्य है, तो घट में नित्यता का गुण स्थिर रहने के लिए स्वयं घट का भी नित्य होना आवश्यक है।

'कार्यसम' आपत्ति में यह बताया गया है कि प्रयत्नान्तरीयकत्व दो प्रकार से उत्पत्ति का कारण है, या तो सत्ताहीन को सत्ता में लाने के द्वारा, या आवरण से युक्त किसी पदार्थ से आवरण हटाने के द्वारा; और यह अनिश्चित रहता है कि शब्द के लिए किस प्रकार का प्रयत्नान्तरीयकत्व प्रयोजनीय है।

—उपर्युक्त सारी व्याख्या जयन्त कृत 'न्याय मंजरी' पर आधारित है।

मुक्त आत्माओं को कर्मफल नहीं भोगने पड़ते हैं, तो कर्मफल-भोग, मुक्ति, आत्मा की सत्ता और मृत्यु के पश्चात् अस्तित्व के सिद्धान्तों को भी खंडित मानना होगा, (4) 'अभ्युपगम-सिद्धान्त' अर्थात् वे सिद्धान्त जिन्हें तर्क के लिए ही स्वीकार किया जाए और जिनकी न तो आलोचनात्मक रूप से परीक्षा की जाए और न जिन्हें सिद्ध ही माना जाय।[1]

वर्णसमाम्नाय का नाम 'शब्द' है, वह चार प्रकार का होता है अर्थात् (1) दृष्टार्थ-प्रत्यक्ष अर्थ का बोधक (यथा, तीन हेतुओं से दोष कुपित हो जाते हैं), (2) अदृष्टार्थ–अप्रत्यक्ष अर्थ का बोधक (यथा पुनर्जन्म होता, मोक्ष प्राप्ति), (3) 'सत्य' अर्थात् जो तथ्यों से मेल खाता है, यथा 'आयुर्वेद का अस्तित्व, उपचार साध्य रोगों का उपचार,' (4) 'अनृत', सत्य का उलटा।[2] संदिग्ध अर्थों के संदर्भ में 'संशय' का प्रयोग होता है। इस प्रकार अस्वस्थ और निष्क्रिय मनुष्य अकाल मृत्यु को प्राप्त होते हैं, जबकि स्वस्थ और चेष्टावान् मनुष्य दीर्घायुष्य को प्राप्त करते हैं। अतः इसमें संशय है कि क्या मृत्यु काल आने पर होती है अथवा अकाल ही। 'प्रयोजन' वह है जिसके लिए किसी काम का आरम्भ किया जाए। इस प्रकार कोई यह सोच ले कि, यदि अकाल-मृत्यु होती है तो मैं स्वास्थ्यकर आदतों को ग्रहण करूँगा और अस्वास्थ्यकर का त्याग करूँगा, ताकि अकाल मृत्यु मुझे स्पर्श न कर सके।[3] 'सव्यभिचार' का अर्थ है अस्थिरता, यथा इस व्याधि के लिए यह औषधि हो सकती है या नहीं हो सकती।[4] 'जिज्ञासा' का अर्थ है परीक्षण, किसी औषधि की उसकी सम्यक् जिज्ञासा के पश्चात् ही सलाह देनी चाहिए। 'व्यवसाय' का अर्थ है निश्चय, यथा 'यह व्याधि वात की प्रधानता के कारण है, इस व्याधि के लिए यह औषधि है'। 'अर्थप्राप्ति' सुविदित 'अर्थापत्ति' ही है। जब कुछ कहने पर कोई अन्य अनुक्त अर्थ भी कथित हो जाता है, उस समय 'अर्थप्राप्ति' होती है; यह 'अर्थप्राप्ति' की अवस्था है, जैसे इस कथन में 'रोगी को सामान्य अन्नपान का प्रयोग करने देने से इस रोग का उपचार नहीं हो सकता–' अन्तर्निहित अर्थ यह है कि इस रोग का उपवास के द्वारा उपचार किया जा सकता है, अथवा यदि यह कहा जाय 'वह दिन से न खाये' तो उसका अर्थ होगा कि

---

1 ये सब सिद्धान्त न्यायसूत्र, 1.1.28.29.30.31 में इन्हीं नामों से मिलते हैं।

2 'दृष्टार्थ' और 'अदृष्टार्थ' ये पृथक् दो भाग 'न्यायसूत्र' 1.1.8 में उपलब्ध होते हैं। स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात्।

3 सुख और दुःख के अर्थ के द्योतक 'प्रयोजन' का न्यायसूत्र 1.1.1 में उल्लेख है, यद्यपि इसकी आलोचनात्मक परीक्षा कहीं भी नहीं की गई है। वात्स्यायन ने इसकी व्याख्या 'कर्म में मनुष्यों की प्रवृत्ति करने वाले' के रूप में (येन प्रयुक्तः प्रवर्तते) की है। उद्योतकर ने इसकी व्याख्या 'सुखप्राप्ति' और 'दुःखहानि' के अर्थ में की है। (सुख-प्राप्ति दुःखहानि)।

4 अनैकान्तिकः सव्यभिचारः न्यायसूत्र 1.2.5। उदाहरणार्थ, 'शब्द नित्य है' क्योंकि यह अस्पृश्य है, परन्तु अस्पृश्यता से नित्यता की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि स्पृश्य अणु नित्य है जबकि अस्पृश्य विचार अल्पायु है।

'वह रात्रि में न खाये' ।[1] जिस स्रोत से किसी चीज का उद्भव हो उसे 'संभव' कहते हैं, उदाहरणस्वरूप षड्धातुओं को गर्भ को 'संभव माना जा सकता है, अयुक्त आहार को रोग का और सम्यक् चिकित्सा को स्वास्थ्य का ।

'अनुयोज्य' का अर्थ दोषयुक्त उत्तर है, जिसमें उन विवरणों को छोड़ दिया हो जिनका समावेश उत्तर में होना चाहिए; यथा 'यह रोग संशोधक उपायों द्वारा साध्य है.' ऐसा कथन सदोष है क्योंकि इसमें यह नहीं कहा गया है कि संशोधन वमन द्वारा करना अथवा रेचन द्वारा । 'अनुयोज्य' से जो भिन्न है वह 'अननुयोज्य' होता है । किसी संभाषण में एक पंडित द्वारा अपने अन्य सहयोगी पंडित की प्रतिज्ञा के हेतु के विषय में जानकारी के लिए पूछा गया प्रश्न 'अनुयोग' होता है, यथा कोई पंडित कहे, 'पुरुष नित्य है' और अन्य पंडित पूछे 'इसका हेतु क्या है ? इस प्रकार का प्रश्न 'अनुयोग' कहलाता है । इस प्रश्न के जवाब में अन्य प्रश्न यथा 'तुम्हारे इस प्रकार के प्रश्न पूछने का क्या हेतु है' ? 'प्रत्यनुयोग' कहलाता है ।

'वाक्यदोष' अर्थात् दोषपूर्ण कथन पांच प्रकार का होता है : न्यून, अधिक, अनर्थक, अपार्थक और विरुद्ध । न्यून अर्थात् अभाव का दोष वह होता है जिसमें तर्कवाक्य के लिए आवश्यक पांच वचनों में से किसी का अभाव हो । इसका प्रयोग उन अवस्थाओं में भी हो सकता है जिनमें किसी कथन की पुष्टि के लिए अनेक हेतुओं की अपेक्षा होने पर केवल एक हेतु ही प्रस्तुत किया जाए और अन्यों को छोड़ दिया जाए और इस प्रकार मूल कथन के पक्ष का बल वास्तविक रूप से प्रभावित हो । इस प्रकार पुरुष की नित्यता के पक्ष में उसका अनादित्व, अप्रयत्नान्तरीयकत्व, निर्विकारत्व, आदि कई हेतु दिए जाते हैं । इन सब हेतुओं को देने का प्रस्ताव करना और केवल एक ही हेतु देना 'न्यून' का उदाहरण है । 'अधिक' वहाँ होता है जहाँ आयुर्वेद सम्बन्धी संभाषण के समय विपक्षी राजनीति अथवा दण्डनीति के पाँडित्यपूर्ण ग्रन्थों के असंगत संदर्भों का उल्लेख करता है । इसका अर्थ वे कथन भी हैं, संकेत हैं, जिनमें शब्दों अथवा वाक्यों को अनावश्यक रूप से बार-बार कहा जाए । इस प्रकार की पुनरुक्ति दो प्रकार की होती है; शब्द पुनरुक्ति और अर्थपुनरुक्ति । किसी एक ही शब्द का बार-बार कथन, शब्द पुनरुक्ति होता है; जबकि अर्थपुनरुक्ति वह है जहाँ भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग करके भी केवल एक ही अर्थ को बार-बार कहा जाय 'अनर्थक' और 'अपार्थक' का अर्थ है अर्थहीन और असम्बद्ध शब्दों अथवा वाक्यों का प्रयोग । 'विरुद्ध' का अर्थ है 'दृष्टान्त-विरुद्ध' अथवा सिद्धान्त-विरुद्ध कथन की उक्ति; यथा शीत जल उष्ण है, क्योंकि ज्वर भी उष्ण है, अथवा जब कोई वैद्य यह कहे कि औषधि रोगों का उपचार नहीं करती है ।

'समयविरुद्ध' वह है जिसमें किसी शास्त्रविशेष के सिद्धान्तों के विरुद्ध कोई कथन किया जाए । इस प्रकार, उदाहरणार्थ, यदि कोई मीमांसक कहे कि पशुओं की बलि न दी

---

1 चक्रपाणि का कथन है कि अर्थप्राप्ति को चरक पृथक् प्रमाण नहीं मानते हैं, उनके अनुसार यह अनुमान का ही एक रूप है, और इसलिए इसे प्रमाणों की सूची में सम्मिलित किया गया है ।

जाए, तो यह कथन इस सिद्धान्त के विरुद्ध होगा कि पशु-बली दी जाए। अथवा, यदि किसी मोक्ष-शास्त्र संबंधी किसी दर्शन में कहा जाए कि प्राणि-हिंसा उचित है, तो यह उस शास्त्र के सिद्धान्त के विरुद्ध होगा। 'वाक्यप्रशंसा' ऐसे कथन को कहते हैं, जिसमें वाक्य-दोष के अन्तर्गत वर्णित उपर्युक्त दोष न हों।

'छल' का अर्थ उस प्रत्युत्तर से है जिसमें विपक्षी के कथन का जानबूझकर गलत अर्थ लगाया जाए। इसके दो प्रकार हैं, वाक्छल और सामान्य-छल। 'नव' शब्द का अर्थ है 'नौ' और 'नया,' और यदि कोई अपने विपक्षी के बारे में कहे 'वह वैद्य नवतन्त्र है' (अपने शास्त्र का उसका अध्ययन नया-नया ही है) और विपक्षी उत्तर दे 'मैंने नौ तन्त्रों का अध्ययन नहीं किया, मैंने तो एक तन्त्र का ही अध्ययन किया है;' पूर्वपक्ष वाला आपत्ति करे 'मैं यह नहीं कहता कि आपने नौ तन्त्रों का अध्ययन किया, मैं तो यह कहता हूँ कि आप नवाभ्यस्ततंत्र हैं (आपका शास्त्र का अध्ययन नया ही है),' तो नवाभ्यस्ततंत्र का अर्थ 'नौ बार पढ़ा हुआ' भी हो सकता है, और तब विपक्षी अच्छी तरह से कह सकता है 'मैंने तंत्र का अध्ययन कई बार किया, न कि नौ बार, जैसा आप कहते हैं। यह 'वाक्छल' का उदाहरण है।

पुनः, किसी वैद्य के यह कहने पर कि 'औषधि रोगों का उपशमन करती है' विपक्षी वाक्य के सामान्यतम धर्मों को ग्रहण करके यह कहे कि इसका तो अर्थ यह निकलता है कि सत् अन्य सत् का ही उपचार करता है, और यदि यह ऐसा है, तो कास के सत् होने (सत् कासः) और क्षय के सत् (सत् क्षयः) होने के कारण, सत् कास को अन्य सत् क्षय का उपशमन अवश्य करना चाहिए। इसे सामान्य छल कहते हैं।[1]

---

1 न्यायसूत्र में 'छल' का ठीक उसी प्रकार से वर्णन किया गया है जिस प्रकार यहाँ वर्णन किया गया है। न्यायसूत्र (1. 2. 10) में 'छल' की परिभाषा की गई है 'वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्याछलम्' (किसी के वचन पर जानबूझकर गलत अर्थ लगाने के द्वारा किया गया विघात 'छल' होता है)। यह तीन वर्गों में विभक्त है वाक्छल, सामान्यछल और उपचार-छल, इनमें से वाक्छल ठीक चरक संहिता के वाक्छल के समान है, और सामान्य छल भी उसी प्रकार चरक संहिता के सामान्य छल के समान है (व्रात्य भी किसी न किसी अर्थ में ब्राह्मण ही है, अब क्योंकि ब्राह्मणशास्त्रों का सुविज्ञ है, इसलिए व्रात्य भी शास्त्रों का सुवित है)। वाक्छल से ही सादृश्य रखने वाले उपचारछल का चरक संहिता में उल्लेख नहीं है। न्यायसूत्र 1. 2. 14 में इसकी परिभाषा की गई है 'धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारछलम् (किसी कथन के एक ही अर्थ द्वारा, यथा गौण अर्थ ग्राह्य होने पर, मुख्य अर्थ ग्रहण करना, उस कथन का प्रतिषेध करना)। इस प्रकार यदि यह कहा जाय 'यह कुली गधा है' तो इसमें आपत्ति उठाई जा सकती है कि कुली मनुष्य होने के साथ-साथ गधा नहीं हो सकता। फिर भी गौतम प्रायोगिक रूप में यह आपत्ति उठाते हैं कि छल की संख्या तीन माननी चाहिए, न कि उपचारछल की सामान्य छल में गिनती करके दो ही माना जाए। इसका अर्थ है चरक द्वारा छल को दो वर्गों में विभक्त मानने के दृष्टिकोण की आलोचना। गौतम का तर्क है कि यदि कुछ सादृश्य के कारण उपचार छल को

'अहेतु' तीन प्रकार के होते हैं, प्रकरणसम, संशयसम और वर्ण्यसम ।[1] 'प्रकरण-सम' वहाँ होता है जहाँ हेतु रूप में प्रस्तुत किसी चीज का सिद्ध करना शेष रह जाए।

सामान्य छल में सम्मिलित किया जाए और छल को तीन की बजाए दो प्रकार का ही माना जा सकता है। अतः छलों में विद्यमान विशेष विभिन्नताओं को ध्यान में रखकर उनको तीन प्रकार का ही मानना चाहिए ।

1 न्यायसूत्र 1. 2. 4 में हेत्वाभास को पांच प्रकार का बताया गया है, सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम और कालातीत ।

'सव्यभिचार' हेतु वह है जिसकी साध्य के साथ कोई अव्यभिचारी व्याप्ति न हो, उदाहरणार्थ, शब्द नित्य है क्योंकि इसे छुआ नहीं जा सकता, और जिसे छुआ जा सकता वह घट के समान अनित्य है। परन्तु अस्पृश्यता की नित्यता के साथ कोई अव्यभिचारी व्याप्ति नहीं है, क्योंकि अणु स्पृश्य भी है और साथ-साथ नित्य भी और बुद्धि अस्पृश्य भी है और साथ-साथ अनित्य भी ।

'विरुद्ध हेतु' वहाँ होता है, जहाँ हेतु उस सिद्धान्त का ही खंडन कर दे जिस पर उसकी रक्षा आधारित है, यथा यह विकारी जगत् अव्यक्त हो जाता है (विकारो व्यक्तेरपैति), क्योंकि यह अनित्य है (नित्यत्वप्रतिषेधात्), परन्तु इसके अव्यक्त होने पर भी यह विद्यमान है (अपेतोऽप्यस्ति), क्योंकि इसका विनाश नहीं होता (विनाश-प्रतिषेधात्) । अब जो पदार्थ अनित्य है उसका विनाश हुए बिना रह नहीं सकता । नश्वरता और नित्यता साथ-साथ नहीं रह सकतीं ।

'प्रकरणसम' वहाँ होता है जहाँ एक ही पदार्थ में दो विरोधी हेतु विद्यमान हों, ताकि उनमें से किसी एक द्वारा कुछ भी निश्चित रूप से कहा नहीं जा सके। इस प्रकार यह उतने ही बलपूर्वक कहा जा सकता है कि 'शब्द नित्य है, क्योंकि उसमें नित्य पदार्थों के गुण हैं, 'जितने बल से यह कि 'शब्द अनित्य है, क्योंकि इसमें अनित्य पदार्थों के गुण हैं;' अतः इन हेतुओं में से किसी एक के द्वारा कोई भी निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता ।

साध्यसम वहाँ होता है जहाँ स्वयं हेतु को ही सिद्ध करना पड़े। इस प्रकार इस तर्क में कि 'छाया चलती है इसलिए पदार्थ है' छाया का चलत्व संशयग्रस्त विषय है और स्वयं इसको सिद्ध करने की आवश्यकता है। क्या छाया मनुष्य के समान चलती है अथवा ऐसा इस कारण होता है कि आवरण करने वाली इकाई के चलने से विभिन्न स्थानों पर प्रकाश आवृत्त हो जाता है और उसके कारण विभिन्न स्थानों पर छायाओं का निर्माण होता है ?

'कालातीत' वहाँ होता है जहाँ स्वीकृत दृष्टान्त और साध्य के हेतुओं में अन्तर हो, क्योंकि साध्य के हेतु के विषय में हेतु वस्तुतः हेतु नहीं है, क्योंकि हेतु और साध्य दो अनुक्रम क्षणों में विद्यमान होने के कारण अव्यापन्न हैं; स्वीकृत दृष्टान्त के हेतु के विषय में वे व्यापन्न और युगपत् हैं यथा वाक्य नित्य है, क्योंकि रूप के समान यह भी दण्ड और मृदंग के सम्पर्क से प्रकट होने वाले संबंध-विशेष, यथा प्रकाश, के कारण

इस प्रकार, जब यह कहा जाता है कि आत्मा अनित्य है क्योंकि वह शरीर से पृथक् है, और शरीर अनित्य है क्योंकि यह अचेतन है, तो यह आग्रह किया जा सकता है (दार्शनिकों की चार्वाक शाखा के अनुसार) कि हेतु रूप में प्रस्तुत स्वयं दोनों विषयों अर्थात् आत्मा का शरीर से पृथक्त्व और शरीर का अचेतनत्व, को सिद्ध किया जाए, क्योंकि चार्वाकों के अनुसार शरीर चेतन और अनित्य है। नीचे दी गई टिप्पणी का अवलोकन यह प्रदर्शित करेगा कि यह 'प्रकरणसम' न्यायसूत्र के 'प्रकरणसम' से पृथक् है। 'संशयसम' वह है जिसमें संशय के हेतु को किसी सिद्धान्त विशेष के हेतु के रूप में प्रस्तुत किया जाए, यथा यह मनुष्य आयुर्वेद के अंश का कथन करता है—क्या यह वैद्य है या नहीं? वैद्य न होकर भी किसी मनुष्य ने कहीं पर आयुर्वेद के अंश को सुनकर यहाँ उसका कथन कर दिया हो। अतः अब आयुर्वेद के अंश का कथन उस मनुष्य के वैद्य होने अथवा न होने के विषय में हमें संशय में डाल देता है। यदि इसी को ही सिद्धान्त विशेष के हेतु के रूप में प्रस्तुत किया जाए और यदि यह कहा जाए 'वह वैद्य है क्योंकि उसने आयुर्वेद के एक अंश का कथन किया है,' तो यह 'संशयसम' की अवस्था होगी। गौतम ने 'संशयसम' का कथन जाति के उदाहरण के रूप में किया है, परन्तु पूर्वपक्ष एक ऐसी दशा है जिसमें संशय का निवारण नहीं किया गया है क्योंकि साध्य विषय के दो विरोधी गुणों से युक्त होने के कारण, इन गुणों में से किसी एक के बल पर कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। तथापि 'संशयसम' का प्रयोग यहां इस अर्थ में किया गया है कि जो स्वयं संशयापन्न है उसी को ही किसी सिद्धान्तविशेष के हेतु के रूप में प्रस्तुत किया जाए।

'वर्ण्यसम' वहाँ होता है, जहाँ एक वस्तु के बारे में किसी वचन को ऐसे किसी अन्य वचन के बल पर कहा जाए जो स्वयं असिद्ध होने के कारण पूर्ववचन की समान अवस्था में हो; यथा 'अस्पर्शत्व के कारण शब्द के समान, बुद्धि भी अनित्य है'। परन्तु शब्द की अनित्यता को भी बुद्धि की अनित्यता के समान ही प्रमाण की अपेक्षा है, और पूर्ववचन का कथन उत्तरवचन के आधार पर नहीं किया जा सकता। यह अहेतु 'साध्यसम' नामक जाति और पृष्ठ 386 के पादटिप्पण में वर्णित गौतम के 'साध्यसम' हेत्वाभास के सदृश है।

'अतीत काल' वह है जिसमें पहले कही जाने वाली बात बाद में कही जाए, यथा प्रतिज्ञा पहले कही जानी चाहिए और निगमन बाद में, यदि इसके स्थान पर निगमन का कथन पहले हो और प्रतिज्ञा का बाद में तो यह कालातीत दोष होगा।

'उपालम्भ' (आलोचना) हेतुओं में दोष प्रदर्शित करने को कहते हैं; इसे ऊपर वर्णित 'अहेतु' अथवा 'हेत्वाभास' भी कहते हैं। विपक्षी द्वारा प्रस्तुत आपत्तियों के उत्तर को 'परिहार' कहते हैं। यथा आत्मा नित्य है, क्योंकि जबतक यह शरीर में

उसी प्रकार प्रकट होता है जिस प्रकार प्रकाश और किसी वस्तु के संपर्क के कारण रूप प्रकट होता है। परन्तु सादृश्य असफल हो जाता है, क्योंकि जहाँ रूप प्रकाश और वस्तुओं के सम्पर्क के साथ युगपत् भाव से प्रकट होता है, वहाँ शब्द दण्ड और मृदंग के सम्पर्क के वास्तविक समय से पृथक् समय पर सुनाई देता है।

निवास करता है, तवतक यह जीवन के चिह्न प्रदर्शित करता है, और शरीर के विद्यमान होते हुए भी जब यह अलग हो जाता है तो जीवन का कोई चिह्न शेष नहीं रहता, अतः आत्मा शरीर से भिन्न है और नित्य है। 'प्रतिज्ञा-हानि' (अपनी प्रतिज्ञा का त्याग करना) वहाँ होता है जहाँ कोई मनुष्य विपक्षी द्वारा अभिभूत होकर अपनी मूल प्रतिज्ञा का त्याग करने के लिए बाध्य हो। इस प्रकार कोई इस प्रतिज्ञा से आरम्भ करे कि 'पुरुष नित्य है,' परन्तु अभिनव को प्राप्त होकर वह इस प्रतिज्ञा को त्याग दे और कहे कि पुरुष अनित्य है। 'प्रत्य-भिज्ञा' (प्रत्यारोपण करना) वह होती है जिसमें कोई विवादी विरोधी द्वारा अपने पर लगाए गए आरोपों का खंडन करने के स्थान पर विरोधी पर ही उन्हीं दोषों का आरोपण करे।[1] 'हेत्वन्तर' (गलत हेतु द्वारा टालना) उसे कहते हैं जहाँ प्रकृति-हेतु के पूछे जाने पर प्रकृति के विकार-हेतु का वर्णन किया जाए।[2] 'अर्थान्तर' (गलत उत्तर) वह होता है जहाँ एक वस्तु (ज्वर) के लक्षण पूछने पर दूसरी वस्तु (प्रमेह) के लक्षण कहे जाएँ।[3] 'निग्रहस्थान' उसे कहते हैं जहां पंडित सभा में किसी वाक्य का तीन बार कथन करने पर भी विरोधी उसका अर्थ न समझ पाए। चरक ने निग्रहस्थान में ऐसी कई बातों का समावेश किया है जिनको पहले ही गिनाया एवं वर्णित किया जा चुका है। इस प्रकार उन्होंने प्रतिज्ञा-हानि, अभ्यनुज्ञा, कालातीत, अहेतु, न्यून, अतिरिक्त, व्यर्थ, अपार्थक, पुनरुक्त, विरुद्ध, हेत्वन्तर, अर्थान्तर का निर्देश किया है।[4]

इसके पश्चात् चरक आगे उन दस प्रकरणों का वर्णन करते हैं जिनका ज्ञान आयुर्वेद के प्रतिपाद्य विषय में पारंगत होने के लिए उनके विचार में आवश्यक है। वे हैं, कारण (कर्त्ता अथवा प्रयोजक), करण (किसी प्रयत्न को कार्यरूप देने के लिए कर्त्ता के लिए आवश्यक साधन), कार्य-योनि (उपादान कारण, जिसके विकार से कार्य उत्पन्न होता है),

---

1 यह न्यायसूत्र 5. 1. 42 की 'मतानुज्ञा' के अनुरूप है।

2 न्यायसूत्र 5. 2. 6 में हमें 'हेत्वन्तर' का उल्लेख मिलता है, परन्तु वह इस 'हेत्वन्तर' से पृथक् प्रतीत होता है। न्यायसूत्र में वर्णित 'हेत्वन्तर' का अर्थ निम्न प्रकार से प्रदर्शित किया जा सकता है। कोई सांख्यानुयायी यह कहे कि यह सम्पूर्ण पदार्थमय जगत् एक मूल कारण (प्रकृति) से उद्भूत है क्योंकि ये सब पदार्थ अवच्छिन्न हैं और जो अवच्छिन्न है वह एक ही मूल कारण (प्रकृति) से उद्भूत होता है। इसका खंडन यह प्रदर्शित करके किया जा सकता है कि एकाधिक मूल कारण से उद्भूत कई अवच्छिन्न पदार्थ हैं। इसके उत्तर में सांख्यानुयायी यह कहता है कि केवल सुख-दुःख और अज्ञान से युक्त पदार्थ ही एक मूल कारण से प्रादुर्भूत माने जाने चाहिए, परन्तु यह बाद में जोड़ा गया है, यह मूल प्रतिज्ञा में सम्मिलित नहीं था।

3 न्यायसूत्र 5. 2. 7 में इसका भी वर्णन है।

4 न्यायसूत्र 5. 2. 1 में वर्णित निग्रह स्थान निम्न हैः प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञा-विरोध, प्रतिज्ञासंन्यास, हेत्वन्तर, अर्थान्तर, निरर्थक, अविज्ञातार्थ, अपार्थक, अप्राप्तकाल, न्यून, अधिक, पुनरुक्त, अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षण, निरनुयोज्यानुयोग, अपसिद्धान्त, हेत्वाभास। इनमें से कई का चरक ने भी उल्लेख नहीं किया है।

कार्य (जिसके उत्पादन के लिए कर्त्ता प्रयत्न करे), कार्यफल (जिसके प्रयोजन के लिए कर्त्ता किसी कार्यविशेष के संपादन की इच्छा करे), अनुबन्ध (कार्य सम्पादन के पश्चात् कर्त्ता को अपने से बांधने वाला शुभ अथवा अशुभ फल), देश (स्थान), काल (ऋतु, दिन, आदि), प्रवृत्ति (कार्य की उत्पत्ति के लिए आवश्यक प्रयत्न और कर्म), और उपाय (कार्य के संपादन में समर्थ कर्त्ता की सहनशीलता और विशेष प्रवृत्ति, करण और उपादान कारण)। चिकित्सक 'कारण' है, औषधियां 'करण' हैं, धातुसाम्य का अभाव 'कार्य-योनि' है, धातु-साम्य का पुनःस्थापन 'कार्य' है, शरीर और मन की प्रसन्नावस्था 'कार्यफल' है, आयु की दीर्घता 'अनुबन्ध' है, स्थान और रोगयुक्त मनुष्य 'देश' है, वर्ष और रोगी की अवस्था 'काल' है; चिकित्सक के प्रयत्न 'प्रवृत्ति' हैं, चिकित्सक की योग्यता, औषधियों के गुण आदि 'उपाय' हैं।

इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि विरोधी आलोचकों के खंडन करने और अपने मत को स्थापित करने में भिषजों के सहायक 'तन्त्रयुक्ति' नामक बत्तीस पारिभाषिक शब्दों का सुश्रुत के 'उत्तरतन्त्र' में भी उल्लेख है।[1] वे इस प्रकार हैं: अधिकरण, योग, पदार्थ, हेत्वर्थ, उद्देश, निर्देश, उपदेश, अपदेश, प्रदेश, अतिदेश, अपवर्ग, वाक्यशेष, अर्थापत्ति, विपर्यय, प्रसंग, एकान्त, अनेकान्त, पूर्वपक्ष, निर्णय, अनुमत, विधान, अनागतावेक्षण, अविक्रान्तावेक्षण, संशय, व्याख्यान, स्वसंज्ञा, निर्वचन, निदर्शन, नियोग, समुच्चय, विकल्प और ऊह्य। परन्तु ये पारिभाषिक शब्द शास्त्रीय विषयों की व्याख्या के लिए मीमांसा-युक्तियों के समान युक्तियां हैं, न कि विवादग्रस्त अथवा तर्क प्रकरणों के विषय। ऐसा कहा गया है कि ये युक्तियां कमल के लिए सूर्य के समान अथवा घर में दीपक के समान ही, इस तन्त्र के विषय को प्रकाशित अथवा व्यक्त करने के लिए हैं।[2] यह कथन वात्स्यायन के इस कथन के सदृश है कि आन्वीक्षिकी सब विद्याओं की प्रकाशक है (प्रदीपः सर्वविद्यानाम्)। परन्तु तन्त्रयुक्ति और आन्वीक्षिकी के बीच में यह अन्तर है कि जहाँ आन्वीक्षिकी सम्यक् विचार के नियमों से सम्बद्ध है, वहाँ तन्त्रयुक्ति चिकित्साविज्ञान की सामान्य रूप से और सुश्रुत संहिता की विशेष रूप से पारिभाषिक वर्णन-शैली से सम्बद्ध हैं। इसलिए उनका सम्बन्ध उनके अभिव्यक्ति के संक्षिप्त रूपों से, चिकित्साशास्त्र के गूढ़ अर्थों अथवा आशयों को जानने के तरीकों से है। इस प्रकार जब कोई शास्त्र में यह पढ़ता है 'रस अथवा दोष के विषय में, और अन्य कुछ भी न कहा गया हो, तो कोई भी यह समझ लेता है कि इस वर्णन-शैली का अर्थ यह है कि यह 'अधिकरण' (व्याख्यान का विषय) है; और रस अथवा दोष के विषय में कुछ वर्णन किया जाने वाला है, चाहे ऐसा स्पष्टतः वर्णन न किया गया हो। 'योग' की तन्त्रयुक्ति का अर्थ है कि वाक्य के किसी भाग में स्थित क्रिया को वाक्य के अन्य भाग में स्थित उसके उपयुक्त पद से

---

1 असद्वादिप्रयुक्तानां वाक्यानां प्रतिषेधानां स्ववाक्यसिद्धिरपि च क्रियते तन्त्रयुक्तितः।
—सुश्रुत संहिता, उत्तरतन्त्र, 65.5।

2 यथाम्बुजवनस्यार्कः प्रदीपो वेश्मनो यथा।
प्रबोध्यस्य प्रकाशार्थस्तथा तन्त्रस्य युक्तयः।
—सुश्रुत संहिता उत्तर तंत्र, अ० 65, श्लो० 7।

जोड़ा जायं ।[1] 'पदार्थ' की तन्त्रयुक्ति का अर्थ है कि अनेकार्थ शब्द के प्रयुक्त होने पर केवल उसी अर्थ को ग्रहण करना चाहिए जो पूर्व और पर संदर्भों के अनुरूप हो । इस प्रकार जब चिकित्साशास्त्र में यह कहा जाए कि अब हम वेदोत्पत्ति का व्याख्यान करेंगे तो वहाँ केवल आयुर्वेद अर्थ का ही ग्रहण होना चाहिए, न कि ऋक्, यजु अथवा अथर्व का । 'हेत्वर्थ' की तन्त्रयुक्ति अदृश्य वस्तुओं की अवस्था को दृश्य और ज्ञात दृष्टान्तों द्वारा प्रदर्शित करती है । यथा, यह कहा जाए कि जिस प्रकार मिट्टी का ढेला पानी के द्वारा घुल जाता है और चिपचिपा हो जाता है, उसी प्रकार दूध और अन्य औषधियां अपने प्रयोग के द्वारा व्रण को घुला देती हैं । किसी विषय के विस्तार में न जाकर संक्षेप में उसका कथन करने की विधि 'उद्देश' तंत्र-युक्ति होती है । यथा, जब कोई कहे 'शल्य,' तो उसका अर्थ होगा निर्विशेष रूप से आभ्यन्तर और बाह्य व्याधियां । किसी वस्तु के विस्तार से वर्णन करने की विधि 'निर्देश' तन्त्र युक्ति होती है । सामान्य उपदेश देने की विधि को 'उपदेश' तन्त्र-युक्ति कहते हैं । यथा यह कहा जाए कि कोई मनुष्य रात को न जाए और दिन में न सोए । यह तो केवल सामान्य अपदेश है, इसके भी अपवाद हैं । वस्तुओं के कारण को प्रदर्शित करने की विधि को 'अपदेश' तन्त्र-युक्ति कहते हैं । जैसे यह कहा जाय कि मधुर वस्तुओं के सेवन से श्लेष्मा बढ़ती है (मधुरेण श्लेष्माभिवर्धते) । 'प्रदेश' तन्त्रयुक्ति उस उदाहरण को कहते हैं जिसके द्वारा भूतकाल की कठिनाई को हल करने के क्रम के अनुसार ही वर्त्तमान की कठिनाई को हल किया जाए (प्रकृतस्यातिक्रान्तेन साधनं प्रदेशः) । यथा यह कहा जाए कि क्योंकि भूतकाल में इसने इस प्रकार से देवदत्त का उपचार किया था, तो अब यह उसी प्रकार यज्ञदत्त का भी उपचार करेगी । वर्त्तमान संकेत अथवा लक्षण से किसी भावी घटना का पूर्वाभास 'अतिदेश' तन्त्रयुक्ति होती है । जैसे किसी मनुष्य के शरीर में ऊर्ध्ववायु की वृद्धि से यह भविष्यवाणी की जाए कि उसे एक विशिष्ट प्रकार का आन्त्ररोग (उदावर्त्त) होगा । सामान्य निर्देशों में अपवादों को स्वीकार करने पर 'अपवर्ज' तन्त्रयुक्ति होती है (जैसे, कीटों के दंश से विषाक्त होने के अतिरिक्त, अन्य विषोपसृष्टि की दशाओं में स्वेदन नहीं करना चाहिए) । संदर्भ द्वारा संकेतित परन्तु व्यक्त रूप में अवर्णित भाव को ग्रहण करने में 'वाक्यशेष' तन्त्रयुक्ति होती है । जैसे, जब यह कहा जाए 'शिर, हाथ, पैर, पार्श्व, पृष्ठ, उदर, हृदय का,' तो संदर्भ में स्पष्टतः अनुक्त होने पर भी सम्पूर्ण मानव को ग्रहण किया जाए । सीधे रूप में वर्णित न होने पर भी, जिसे तात्पर्य से ग्रहण किया जाए उसे 'अर्थापत्ति' तन्त्र-युक्ति कहते हैं । यथा, कोई मनुष्य कहे 'मैं चावल

---

1 तैलपिबेच्चामृतवल्लिनिम्ब
हिंस्राभयावृक्षकपिप्पलीभिः
सिद्धं बलाभ्यां च सदेवदारु
हितायं नित्यं गलगण्डरोगे। —वही श्लोक, 9, 10 ।

उपर्युक्त श्लोक में यह कहा गया है कि कई औषधियों को उबाल कर (सिद्धम्) एक विशेष प्रकार का काढ़ा बनाया जाए और फिर उसे पीया जाए । परन्तु 'पिबेत्' शब्द प्रथम पंक्ति में और 'सिद्धम्' शब्द तृतीय पंक्ति में है, और इन दोनों दूरस्थ पदों को युक्त करने (योग) की अनुमति है ।

खाऊँगा,' तो उससे यह समझा जाता है कि वह भूखा है न कि प्यासा। 'विपर्यय' तन्त्र-युक्ति वह है जिसके कारण किसी कथन के स्वीकार या निषेध करने से उसके विपरीत अर्थ का कथन हो जाता है। यथा, जब यह कहा जाए कि कृश, दुर्बल और भीरु स्वभाव के मनुष्य दुःसाध्य होते हैं। 'प्रसंग' तन्त्रयुक्ति वह है जिसके कारण अन्य अध्यायों में बारंबार वर्णित वस्तुओं की ओर संकेत हो। 'एकान्त' तन्त्रयुक्ति में किसी वस्तु के एक विशिष्ट कर्म को अनपवाद रूप से मान लिया जाय (यथा मदन-फल वमनकारी है अर्थात् सभी अवस्थाओं में)। 'अनेकान्त' तन्त्रयुक्ति वह है जिसके कारण कोई यह जान सके कि अमुक विषय के बारे में मतवैभिन्य विद्यमान है। यथा कुछ आचार्यों का विचार है कि द्रव्य सबसे अधिक महत्त्वशाली है, जबकि अन्यों के विचार में रस, अन्य और आचार्यों के विचार में विपाक अधिक महत्त्वशाली है। 'पूर्वपक्ष' और 'उत्तरपक्ष' की तन्त्रयुक्तियों में किसी विषय की प्रश्नोत्तर रूप में चर्चा करने की अनुमति होती है। 'अनुमत' तन्त्रयुक्ति वह है जिसके कारण यह समझा जाय कि अन्य आचार्यों के मत का उल्लेख करने पर उसका विरोध न होना उसकी स्वीकृति का सूचक है। 'विधान' तन्त्रयुक्ति वह है जिसके कारण कोई यह जान पाता है कि किन्हीं विषयों की गणना का वर्णनों द्वारा अनुसरण करने पर वर्णनों को उसी क्रम में ग्रहण करना चाहिए, जिस क्रम में विषयों की गणना की गई है। 'अनागतावेक्षण' तन्त्रयुक्ति में किन्हीं वस्तुओं को भविष्य में वर्णन एवं व्याख्या करने के लिए छोड़ने की अनुमति होती है, और 'अतिक्रान्तावेक्षण' में पूर्ववर्णित वस्तुओं की ओर संकेत करने की छूट होती है (यथा, श्लोक स्थान में कहा गया है कि इस विषय का वर्णन 'चिकित्सा अध्याय' में होगा, और अन्य चिकित्सा-अध्याय में यह कहा जाए कि इसका वर्णन 'श्लोक स्थान' में हो चुका है)। 'संशय' तन्त्रयुक्ति में इस प्रकार का कथन किया जा सकता है जिससे पाठक के मन में शंका और संभ्रम उत्पन्न हो जाए। विशद विवरण की विधि को 'व्याख्यान' कहते हैं। अन्य साहित्यों में ग्राह्य अर्थ से भिन्न अर्थ में शब्दों के प्रयोग की विधि को 'स्वसंज्ञा' अर्थात् पारिभाषिक प्रयोग कहते हैं (यथा, आयुर्वेद में 'मिथुन' का अर्थ 'मधु और घृत' है)। निश्चित वचन को 'निर्वचन' कहते हैं। 'निदर्शन' तन्त्रयुक्ति के अनुसार किसी वस्तु का अन्य वस्तुओं के दृष्टान्त के आधार पर वर्णन किया जा सकता है। जैसे, यह कहा जाए कि जिस प्रकार किसी कमरे में लगी आग हवा के कारण उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है, उसी प्रकार किसी व्रण की वृद्धि भी वात, पित्त और कफ के कारण होती है। 'नियोग' का अर्थ है आदेश (यथा 'पथ्य का ही सेवन करना चाहिए')। 'समुच्चय' का अर्थ है दो या अधिक वस्तुओं को समान-महत्त्वशाली रूप में ग्रहण करना एकान्तर अथवा वैकल्पिक निर्देशों को देने की विधि को ही 'विकल्प' कहते हैं। 'ऊह्य' वह तन्त्रयुक्ति है जिसके द्वारा सन्दर्भ से प्रत्यक्ष दीखने वाली वस्तुओं को समझा जाए।

यह सरलता से देखा जा सकता है कि इन बत्तीस तन्त्रयुक्तियों में कुछ तो भावों की व्याख्या करने के साधन हैं, अन्य शास्त्रीय शब्दों और उनके सम्बन्धों की व्याख्याओं और विधियों को व्याख्या करने के साधन हैं, जबकि अन्य और ऐसे भी हैं, जो शैली की विशेष विलक्षणताओं के वर्णन मात्र हैं। संकलनकर्त्ता (नागार्जुन) का कथन है कि मैंने इन सब तन्त्रयुक्तियों का संग्रह शास्त्रबोध के सामान्य सिद्धान्तों के रूप में किया है और उन्होंने इनको 'शब्दन्यायार्थ' अर्थात् शाब्दिक व्याख्या के न्यायों का अर्थ कहा है।

क्या तर्कशास्त्र आयुर्वेदीय चिकित्सकों के संभाषण से उद्भूत है ?

अपने ग्रन्थ History of Indian Logic में डा० महामहोपाध्याय विद्याभूषण ने बिना किसी कारण को प्रस्तुत किए यह मान लिया है कि चरक संहिता में आन्वीक्षिकी के मुख्य सिद्धान्तों को संभवतः मेधातिथि गौतम द्वारा प्रतिपादित रूप में संक्षेप में दे दिया गया है। उनका आगे कथन है कि आन्वीक्षिकी के सिद्धान्त प्रत्यक्षतः पुनर्वसुआत्रेयरचित मूल आयुर्वेद के अंग नहीं थे, और चरककाल में पर्याप्त रूप में प्रचलित और अधीत इन सिद्धान्तों का चरक संहिता में समावेश संग्रहकर्त्ता चरक द्वारा किया गया प्रतीत होता है। डा० विद्याभूषण का मत है कि चरक और अक्षपाद दोनों ने न्याय-सिद्धान्तों को मेधातिथि गौतम से ग्रहण किया, परन्तु जहाँ चरक ने उनको अपने प्राकृत रूपों में अंगीकार किया, वहां अक्षपाद ने उनको न्यायसूत्र में आत्मसात् करने से पूर्व पूरी तरह से परिष्कृत कर लिया था।[1]

परन्तु डा० विद्याभूषण का मेधातिथि गौतम न्यूनाधिक एक पौराणिक व्यक्ति ही है, और ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि उन्होंने कभी कुछ लिखा हो अथवा चरक किसी बात के लिए मेधातिथि गौतम के ऋणी हैं अथवा चरक संहिता में उपलब्ध न्याय-सिद्धान्त इस समय अप्राप्य अग्निवेशकृत मूल संहिता में नहीं थे। आन्वीक्षिकी के स्थापक के रूप में गौतम का उल्लेख करने वाले कुसुमांजलि, नैषधचरित और न्यायसूत्रवृत्ति जैसे कई ग्रन्थों के साक्ष्य का उल्लेख किया है। परन्तु इन ग्रन्थों में से कोई भी दसवीं शती ई० प० से पहले का नहीं है। उन्होंने पद्मपुराण, स्कन्दपुराण और गन्धर्वतन्त्र के वचनों का भी उल्लेख किया है, परन्तु इनमें से किसी को भी पर्याप्त प्राचीन ग्रन्थ नहीं माना जा सकता। स्वयं वात्स्यायन ने अक्षपाद का उस व्यक्ति के रूप में वर्णन किया है जिसको स्वयं न्याय ने दर्शन दिए।[2] उद्योतकर और वाचस्पति भी अक्षपाद को न्यायसूत्र का प्रवक्ता बताते हैं।[3] अतः अक्षपाद के विरुद्ध गौतम को न्याय का मूल-कर्तृत्व ऐसे प्रमाण पर प्रदान करने का

---

1 महामहोपाध्याय सतीशचन्द्र विद्याभूषण द्वारा रचित History of Indian Logic पृ० 25–26, कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1921।

2 योऽक्षपादऋषिं न्यायः प्रत्यभाद् वदतां वरं।
तस्य वात्स्यायंन इदं भाष्यजातमवर्तयत्।

—वात्स्यायन भाष्य, 2.24 ई० 400।

उपर्युक्त का डा० विद्याभूषण द्वारा लगाया यह अर्थ 'न्याय दर्शन ने अपने आपको अक्षपाद से पहले प्रदर्शित किया' अशुद्ध है।

3 यदक्षपादः प्रवरो मुनीनां
शमाय शास्त्रं जगतो जगाद
उद्योतकर (ई० 600) कृत न्यायवार्तिक की प्रारंभिक पंक्तियां।
'अथ भगवताक्षपादेन निःश्रेयसहेतौ शास्त्रे प्रणीते। वाचस्पतिकृत न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका। न्यायवार्तिक के शब्द 'शास्त्र' का डा० विद्याभूषण द्वारा किया गया अनुवाद 'व्यवस्थित रूप में न्यायशास्त्र' भी अशुद्ध है।

पूर्णतः कोई कारण विद्यमान नहीं है जिस प्रमाण का चिह्न दशम शती के किसी पूर्ववर्ती काल में नहीं मिलता और जो प्राचीनतम न्याय ग्रंथकारों द्वारा नियमित पौराणिक स्रोतों से सीधा संगृहीत है। अतः प्राचीनतम न्याय आचार्यों के साक्ष्य के आधार पर न्यायशास्त्र के चिह्न किसी प्राचीनतर गौतम में खोजे नहीं जा सकते, क्योंकि यदि ऐसा होता तो वात्स्यायन, उद्योतकर अथवा वाचस्पति में से किसी एक द्वारा निश्चय ही इसका वर्णन होता। जयन्त ने तो विशद न्यायशास्त्र को भी अक्षपाद कृत बताया है और ऐसा प्रतीत होता है कि इस विशद ग्रन्थ, न्यायसूत्र, के किसी प्राचीनतर आचार्य के प्रवचन पर आधारित होने का उन्हें ज्ञान न था।[1] यदि उन्हें ऐसे किन्हीं आचार्यों का ज्ञान होता तो वे शास्त्र की प्रतिष्ठा और सम्मान के लिए उनका निश्चय ही वर्णन करते। गौतम एक प्राचीन नाम है; और हम इसे ऋग्वेदीय ऋषियों में से एक के साथ (ऋक् 1.62.78.85, 4.4) सम्बद्ध पाते हैं, उनका वर्णन शतपथ ब्राह्मण (1.4.1.10, 33.4.19 आदि) तैत्तिरीय प्रातिशाख्य (1.5) आश्वलायन श्रौतसूत्र (1.3.2.6 आदि) और अन्य ऐसे ही ग्रन्थों में मिलता है; परन्तु कहीं भी उनका वर्णन न्यायसूत्र के कर्त्ता के रूप में नहीं किया गया है। महाभारत के जिस अंश के आधार पर डा० विद्याभूषण 'मे ।तिथि गौतम' का अपना सिद्धान्त स्थापित करते हैं, उसमें यह नहीं कहा गया है कि मेधातिथि आन्वीक्षिकी अथवा न्याय के कर्त्ता थे और न उसमें यह कहा गया है कि मेधातिथि और गौतम एक ही व्यक्ति थे।[2] गौतम नाम गोत्रवाची नाम है, और डा० विद्याभूषण द्वारा उल्लिखित महाभारतीय अंश का स्पष्ट अर्थ यह है कि गौतमगोत्रीय महाप्राज्ञ मेधातिथि तपश्चर्या के व्रत में लीन थे। इस कथन की इस तथ्य से भी पुष्टि होती है कि डा० विद्याभूषण द्वारा उद्धृत भास के अंश में मेधातिथि का न्यायशास्त्र के आचार्य के रूप में वर्णन है, और ,उसमें उन्हें गौतम नहीं कहा गया है, और न उन्हें न्यायशास्त्र का स्रष्टा ही कहा है।[3] अतः मेधातिथि के न्यायशास्त्र का प्रवर्तक होने का डा० विद्याभुषण का सिद्धान्त ताश के महल के समान धराशायी हो जाता है। डा० विद्याभूषण का मिथिला को मेधातिथि गौतम का जन्मस्थान बताना, मेधातिथि का कालनिर्णय, मेधातिथि गौतम संबंधी फारसी उल्लेखों की अंगुत्तर-निकाय तथा ब्रह्मजालसुत्त के तथाकथित मेधातिथि गौतम संबंधी उल्लेखों से एकात्मकता स्थापित करना भी कम कपोलकल्पना नहीं है।[4] न्याय की गौतम परम्परा का अनुसरण करना आवश्यक नहीं है, परन्तु प्रसंगतः यह वर्णन किया जा सकता है कि व्याधियों के

---

1 अक्षपादप्रणीतो हि विततो न्यायपादप :
जयन्त-भट्ट (ई० प 880) कृत न्याय मंजरी की प्रारंभिक पंक्तियाँ।

2 मेधातिथिर्महाप्राज्ञो गौतमस्तपसि स्थितः।
विमृश्य तेन कालेन पत्न्याः संस्थ्याव्यतिक्रमम् ॥
—महाभारत, शान्तिपर्व, अ 265 श्लोक 45—वंगवासी संस्करण।

3 मेधातिथेर्न्यायशास्त्रम् (मेधातिथि से न्यायशास्त्र का अध्ययन करके) —भास कृत 'प्रतिमानाटक' अंक 5, पृ० 79, म० म० गणपति शास्त्री का संस्करण।

4 डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण कृत History of Indian Logic पृ० 17–21।

कारण और उपशमन का विचार करने के लिए एकत्रित ऋषि-मंडली में, सांख्य (संभवतः बुद्धिमान, दार्शनिक अथवा पंडित के अर्थ में) के रूप में आत्रेय गौतम की भी गणना की गई है; इन आत्रेय के साथ-साथ ही, एक अन्य आत्रेय का भी भिक्षु आत्रेय[1] के नाम से वर्णन किया गया है। व्याधियाँ उत्पन्न होने और उनके उपशमन से संबद्ध समस्याओं की चर्चा करने वाले अनेक ऋषियों का चरक संहिता में उल्लेख है। इनमें से भारद्वाज ने आयुर्वेद सीखने के हेतु इन्द्र के पास जाने के लिए अपने आपको प्रस्तुत किया था। व्याधियों के हेतु, लिंग और भेषज इन तीनों विषयों के ज्ञाता होने के कारण इन्द्र ने भारद्वाज को उक्त विषय का उपदेश दिया। भारद्वाज ने तीनों विभागों में इस विशद शास्त्र का अध्ययन करके, इसे ऋषियों के सामने ठीक उसी रूप में दुहराया है जिस रूप में उन्होंने इसे सीखा था। ऐसा कहा जाता है कि इसके पश्चात् पुनर्वसु ने अग्निवेश, भेल आदि अपने छः शिष्यों को आयुर्वेद की शिक्षा दी। चक्रपाणि का कथन है कि पुनर्वसु भारद्वाज के शिष्य थे और प्रमाण के रूप में हारीत के एक वचन को उद्धृत करते हैं। परन्तु इस विषय पर स्वयं चरक चुप हैं।

परन्तु आयुर्वेद के उद्गम के इस अर्धपौराणिक वर्णन के विषय में एक बात उभर कर सामने आती है, वह यह कि आयुर्वेद व्याधियों के कारण की जाँच पड़ताल और उनके लक्षण तथा चिह्नों को समझने से सम्बद्ध न्यायसंगत अनुमानों के लिए हेतु और लिंग के स्वरूप के अन्वेषण में प्रारम्भ से ही व्यस्त था। चरक के निदानस्थान में हेतु के आठ पर्यायवाची दिए गए हैं, अर्थात् हेतु, निमित्त, आयतन, कर्तृ, कारण, प्रत्यय, समुत्थान और निदान। यह पर्याप्त रूप से विस्मयकारक है कि 'प्रत्यय' और 'आयतन' शब्दों का प्रयोग किया गया है. जोकि शायद बौद्ध शब्द हैं। बौद्धमत के अतिरिक्त, भारतीय दर्शन में 'प्रत्यय' शब्द का प्रयोग शायद ही कहीं पाया जाए। 'हेतु' के द्योतक इतने पदों का प्रयोग प्रत्यक्षतः यह बताता है कि चरक के संकलन से पहले 'हेतु' के द्योतक इन शब्दों का प्रयोग करने वाले एक विस्तृत साहित्य का अस्तित्व अवश्य था। वास्तव में, चरक-सहिता में 'प्रत्यय' शब्द की हेतु के पर्यायवाची के रूप में गणना होने पर भी, इस शब्द का उसमें हेतु के अर्थ में शायद ही कहीं प्रयोग हुआ हो। इसका स्वाभाविक आशय यही है कि 'प्रत्यय' शब्द का प्रयोग किसी ऐसे पूर्ववर्ती साहित्य में हुआ होगा जहाँ से चरक ने उसका संग्रह किया. ऐसे ही समुत्थान, आयतन आदि उन अन्य शब्दों के विषय में भी कहा जा सकता है जिनकी हेतु के पर्यायवाचियों में गणना तो की गई है परन्तु संहिता के कलेवर में वस्तुतः प्रयोग नहीं किया गया है। इससे हम यह सोच सकते हैं कि विभिन्न नामों के अधीन हेतु की चर्चा चरक से पूर्व विद्यमान उस आयुर्वेद साहित्य का पुराना विषय था, जिसमें चरक ने उनका संग्रह किया है।

हमें ज्ञात है कि आयुर्वेद का सम्बन्ध मुख्यतः तीन प्रश्नों से था, अर्थात् व्याधियों की उत्पत्ति कैसे होती है, उनको कैसे जाना जाए और उन्हें कैसे शान्त किया जाए ? इस सम्बन्ध में ही व्यावहारिक आवश्यकता के कारण कारणता के सिद्धान्त का सर्वप्रथम आयु-

---

1 आत्रेय गौतमः सांख्यः। इस अंश में आत्रेय को प्राज्ञ गौतम से पृथक् मनुष्य के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

वेद में प्रयोग किया गया। इस प्रकार यदि यह ज्ञात हो जाए कि किसी व्यक्ति को अकस्मात् ठंड लग गई है अथवा उसने किसी भोज का आनन्द लिया है, तो शीत से ज्वर का और अतिभोजन से अजीर्ण का होना ज्ञात होने के कारण कोई भी मनुष्य प्रथम चिह्नों से ही एकदम यह अनुमान लगा सकता है कि रोगी को संभवतः ज्वर हो जाए अथवा अतीसार हो जाए अथवा गंभीर मन्दाग्नि हो जाए। अथवा यदि यह ज्ञात हो कि कोई रोगी कठिन अतीसार से पीड़ित हो तो यह अनुमान किया जा सकता है कि उसने अपाच्य पदार्थों का सेवन किया है। इस प्रकार आयुर्वेद चिकित्सकों के लिए व्यावहारिक महत्त्व के दो मुख्य प्रकार के अनुमान थे, व्याधि के हेतुओं की विद्यमानता के ज्ञान से किसी रोग के होने का अनुमान, अर्थात् कारण से कार्य का अनुमान, और रोगी के विशिष्ट प्रकार के रोग से विशिष्ट प्रकार की अस्वास्थ्यकर अनियमितता का अनुमान अर्थात् कार्य से कारण का अनुमान। अन्य और तीसरे प्रकार का अनुमान रोग के पूर्व-रूप से ही रोग का अनुमान कर लेना है। रोगों के विशिष्ट पूर्वरूपों के आधार पर विशिष्ट रोगों के अनुमान की संभावना पर टीका करते हुए चक्रपाणि इस अनुमान की तुलना काले बादलों की घटाओं से वर्षा होने के अनुमान से अथवा कृत्तिका के पूर्वगामी रोहिणी नक्षत्र के उदय से कृत्तिका नक्षत्र के भविष्य में उदय होने के अनुमान से तुलना करते हैं। ये दोनों कारणत्व अथवा सह-अस्तित्व की भावी घटनाओं के अनुमान की अवस्थाएँ हैं। फिर भी पूर्वरूप रोग के प्रकट होने पर पूर्णरूप से समाप्त हो जाने वाले सद्यः तथा सदा संबद्ध रहने वाले पूर्वलक्षण के प्रकार का हो सकता है। जैसे, तीव्र ज्वर से पूर्व रोगी के रोम खड़े हो जाएँ; यह रोमों का विशिष्ट प्रकार से खड़ा हो जाना न तो ज्वर का कारण है और न इसका उससे सह-अस्तित्व ही है, क्योंकि ज्वर के यथार्थ में आ जाने पर यह लुप्त हो जाए। तो भी इसका एक विशिष्ट प्रकार के ज्वर से ऐसा सम्बन्ध है कि इससे उस ज्वर का अनुमान लगाया जा सकता है।[1] फिर, रोग के अनेक कारणों में से वास्तविक कारण के बारे में संशय होने पर चिकित्सक को कारण के सम्यक् निर्धारण के लिए विभेद की विधि, उपनय की विधि का प्रयोग करना पड़ता है। सदृश वस्तुएँ एक ही प्रकार के कार्यों का कारण होती हैं और विपरीत वस्तुएँ विपरीत परिणाम को उत्पन्न करती हैं, ये चरक संहिता में 'सामान्य' और 'विशेष' के नियम के दो सर्वमान्य स्वयंसिद्ध प्रमाण हैं।[2] अब इन सिद्धान्तों का प्रयोग करते हुए यह कहा गया है कि किसी विशिष्ट प्रकार की अनियमितता के किसी विशिष्ट रोग का कारण होने के विषय में शंका होने पर परीक्षा द्वारा यह ज्ञात करना चाहिए कि आशंकित कारण (यथा शीत) से रोग (यथा, ज्वर) बढ़ता है या नहीं; यदि इससे बढ़ता हो, और यदि इसके विपर्यय (यथा, ऊष्मा) के प्रयोग से रोग घटता हो, तो शीत को रोग का कारण मानना चाहिए। यदि किसी तत्त्वविशेष के प्रयोग से कार्य (रोगविशेष) की वृद्धि हो और उसका विपर्यय उसका ह्रास करे, तो उस तत्त्व विशेष को उस कार्य विशेष का कारण मान सकते हैं। चरक का मत है कि पूर्व घटित अथवा निकट भविष्य में घटित

---

1 चरक संहिता 2. 1. 7 पर अपनी टीका में चक्रपाणि ने इन दो प्रकार के पूर्व-रूपों का इस प्रकार वर्णन किया है 'तच्च पूर्वरूपं द्विविधमेकं भाविव्याध्यव्यक्तलिंगम्⋯द्वितीयं तु दोषदूष्यसम्मूर्च्छनाजन्यमव्यक्तलिंगादन्यदेव यथा ज्वरे बालप्रद्वेषरोमहर्षादि।

2 चरक संहिता 1. 1. 44।

होने वाली व्याधियों के स्वरूप निर्धारण में निदान, पूर्वरूप और अनुपशय सहित उपशय इन तीन प्रकारों का पृथक् रूप से अथवा सम्मिलित रूप से प्रयोग करना चाहिए।[1] इस प्रकार चरक का निदेश है कि चिकित्सक को इन तीनों प्रकारों के प्रयोग द्वारा व्याधियों के कारणों की ध्यानपूर्वक परीक्षा करनी चाहिए, ताकि उनके प्रत्यक्ष कार्यों के आधार पर उनका निर्धारण हो सके। तत्पश्चात् चरक ने अनेक व्याधियों के और उनके स्वरूप-निर्धारण में सहायक कारणों अथवा पूर्वरूपों के दृष्टान्त दिए हैं। उसके बाद उनका कथन है कि प्रारम्भ में किसी कारण की केवल कार्य रूप में प्रकट होने वाली कोई व्याधि अन्य व्याधियों का कारण बन सकती है और इस प्रकार उसे कार्य और कारण दोनों माना जा सकता है। अत: कारण और कार्य में कोई परम अन्तर नहीं है, और कोई भी कारण कार्य हो सकता है तथा कोई कार्य भी कारण रूप में बदल सकता है। कभी-कभी कोई व्याधि अन्य व्याधियों का कारण बन जाती है और तत्पश्चात् स्वयं समाप्त हो जाती है, जबकि पुनः एक व्याधि अपने द्वारा उत्पादित अन्य व्याधि के साथ विद्यमान रह सकती है और अपने कार्य को गंभीर बना देती है। पुनः, यथा एक व्याधि (कारण) अन्य व्याधि (कार्य) को उत्पन्न कर दे और यह कार्यभूत व्याधि अन्य व्याधि को उत्पन्न कर दे। इस प्रकार एक कारण एक तथा उसी प्रकार के अनेक कार्यों को उत्पन्न कर सकता है, और एक कार्य एक अथवा अनेक कारणों का कारण हो सकता है, और फिर अनेक कारण सम्मिलित रूप से अनेक कार्यों को उत्पन्न कर सकते हैं। यथा, ज्वर, अपस्मार आदि सब रूक्षता से उत्पन्न होने पर भी विशेष परिस्थितियों में इससे केवल ज्वर ही उत्पन्न हो सकता है। पुन: ज्वर ऐसे अनेक कारणों के समुदाय से भी उत्पन्न हो सकता है जिनके सम्मिलित रूप से अन्य परिस्थितियों में अनेक व्याधिया उत्पन्न हो सकती हैं। अत: एक इकाई एक अथवा अनेक घटनाओं का लिंग हो सकती है, और एक घटना के अनेक लिंग भी हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, स्वास्थ्यसम्बन्धी अनियमितताओं का ज्वर सामान्यतः लिंग है, और सब प्रकार के ज्वरों का लिंग 'ताप' है। कुछ निश्चित प्रकार के विकारों से ज्वर का अनुमान हो सकता है, परन्तु वे अन्य अनेक व्याधियों से सम्बद्ध हो सकते हैं।[2]

अतः यह स्पष्ट है कि, रोगों के निदान और उनके कारण तथा उपशमन के संदर्भ में कारण और कार्य के स्वरूप का विनिश्चय तथा अव्यभिचारी व्याप्ति के तथ्यों अथवा घटनाओं का अनुमान आयुर्वेद-चिकित्सकों के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक थे। इसी हेतु से चरक ने अनुमान को तीन वर्गों में विभक्त किया; कारण से कार्य, कार्य से कारण, और अन्य प्रकार के लिंगों के संबध से। अक्षपाद के न्यायसूत्र में ऐसे पद हैं जो नागार्जुन की 'माध्यमिक कारिका' से और लंकावतार-सूत्र तथा बौद्ध विज्ञानवाद के सिद्धान्तों से लिए गए प्रतीत होते हैं, और इस हेतु यह सामान्य धारणा है कि न्यायसूत्र की रचना द्वितीय या

---

1 अन्य दो प्रकारों, संप्राप्ति और रूप की इस सम्बन्ध में चर्चा करना आवश्यक नहीं है।

2 देखिए चरक संहिता 2.8.22-27।

तृतीय शती ई० प० में हुई ।[1] न्यायदर्शन के इस मौलिक तथा प्राचीनतम ग्रन्थ में अनुमान को तीन प्रकार का बताया गया है, पूर्ववत्–कारण से कार्य, शेषवत्–कार्य से कारण और सामान्यतोदृष्ट–कार्यकारण संबंध के अन्तर्गत ग्रहण न होने पर सादृश्य पर आधारित अनुमान । अब अनुमान के ठीक इन्हीं तीन प्रकारों का चरक संहिता में वर्णन है, और, जहाँ तक इस लेखक को ज्ञात है, अनुमान का ऐसे व्यवस्थित ढंग से वर्णन करने वाला प्राचीनतम ग्रन्थ यही है, अतः इसको स्वभावतः वह स्रोत माना जा सकता है, जहाँ से अक्षपाद ने अपने विचारों को ग्रहण किया । अब चरक की कृति को अग्निवेश की कृति का संशोधित रूप माना जा सकता है; अग्निवेश का ग्रन्थ अत्रि की शिक्षाओं पर आधारित था, और अत्रि की शिक्षाएँ भारद्वाज के उपदेशों पर आधारित थीं । इस समय अग्निवेश का ग्रन्थ अप्राप्य है और यह ज्ञात नहीं कि अग्निवेश की कृति के संशोधन में चरक का अपना अंशदान ठीक कितना था, परन्तु चूँकि चरक संहिता में उपलब्ध न्याय-विषयों का वर्णन करने वाला इससे प्राचीनतर समय का कोई हिन्दू बौद्ध अथवा जैन ग्रन्थ हमें प्राप्त नहीं है तथा चूँकि रोगों के निदान और उनके कारणों के निर्धारण हेतु होने वाले भिषक्संभाषणों का इन नैयायिक संभाषणों के साथ अच्छेद्य सम्बन्ध है, इसलिए यह मानना अत्यन्त स्वाभाविक प्रतीत होता है कि चरक ने अपनी सामग्री अग्निवेश से प्राप्त की, और अग्निवेश ने उसे संभवतः अपने पूर्ववर्ती स्रोतों से प्राप्त किया । प्रसंगवश यह कहा जा सकता है कि अक्षपाद ने जिन स्रोतों से संभवतः अपनी सामग्री प्राप्त की उनके प्रश्न की चर्चा करते हुए जयन्त ने न्याय मंजरी में संकेत किया है कि अक्षपाद ने संभवतः कुछ अन्य स्रोतों से एकत्रित सामग्री से (शास्त्रान्तराभ्यासात्) अपने ग्रन्थ का विशदीकरण किया है, परन्तु यह कहना कठिन है कि 'शास्त्रान्तर' से जयन्त का अर्थ आयुर्वेद से है । तथापि न्यायसूत्रों में वेदांग आयुर्वेद की प्रामाणिकता की उपमा से वेदों की प्रामाणिकता सिद्ध की है ।[2]

---

1 एच० यू० कृत Vaisesika Philosophy पृ० 16 । L. Suali कृत Philosophia Indiana पृ० 14 । J. A. O. Society खंड 31 पृ० 29, 1911 में याकोदी का लेख ।

नागार्जुन कृत 'प्रमाण विध्वंसन' पर 'प्रमाण विध्वंसन संभाषित वृत्ति' नामक टीका में नागार्जुन की पदार्थ की परिभाषा को ज्यों-का-त्यों उद्धृत किया गया है; नागार्जुन का पदार्थ अक्षपादकृत न्यायसूत्र के प्रथम सूत्र में दी गई परिभाषा के समान ही है । परन्तु जैसा कि वालेसम ने अपनी पुस्तक Lile oi Nagarjun from Tibetan and Chines Sousces में प्रदर्शित किया है, नागार्जुन के काल को निश्चित रूप से निर्धारित करना असंभव है । नागार्जुन दूसरी और चौथी शती ई०प० के मध्य किसी काल में रहे होंगे । अतः इस प्रकार के विमर्श से कोई फलप्रद परिणाम प्राप्त नहीं किया जा सकता ।

2 मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् । —न्यायसूत्र 2.1.68 ।

यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हुए कि चरक अपनी सर्वज्ञता के ही कारण अपना ग्रंथ लिख सके और कि उन्होंने शास्त्र को न तो अनुमान पद्धति से जाना और न उन्होंने उसे पूर्ववर्ती परम्परागत स्रोतों से ही प्राप्त किया जयन्त अपनी न्याय मंजरी में एक लम्बी चर्चा में उलझ गए हैं ।

न्यायसूत्र की द्रव्य की परिभाषा और चरक की परिभाषा का सादृश्य अत्यन्त स्पष्ट है, क्योंकि जहाँ न्यायसूत्र की परिभाषा 'तत्पूर्वक त्रिविधं' (जहाँ 'तत्पूर्वकं' का अर्थ 'प्रत्यक्षपूर्वकम्' है) से प्रारम्भ होती है वहाँ चरक संहिता की परिभाषा 'प्रत्यक्षपूर्वकं त्रिविधं त्रिकालं' से प्रारम्भ होती है। परन्तु जहाँ चरक को अनुमान के केवल तीन प्रकार ही ज्ञात थे, वहाँ उन्हें इन तीन प्रकारों के नाम नहीं ज्ञात थे, जैसेकि अक्षपाद ने उनको प्रदान किए हैं, यथा पूर्ववत् (पूर्व अर्थात् कारण से संबद्ध), शेषवत् (शेष अर्थात् कार्य से संबद्ध) और सामान्यतोदृष्ट (भूत, वर्तमान और भविष्य के दृष्ट सादृश्य से, जिस पर चरक ने भी उसी प्रकार बल दिया है)।[1] पूर्व पादटिप्पण में वर्णित विमर्शों से यह अच्छी तरह मान लिया जा सकता हैं कि अनुमान की परिभाषा में अक्षपाद का अंशदान यह है कि उन्होंने चरक

---

1 एवं व्यवस्यन्त्यतीतं बीजात्फलमनागतम्।
दृष्ट्वाबीजात्फलं जातमिहैव सदृशं बुधाः ।। —चरक संहिता 1.11.22।

न्यायसूत्र पर अपनी टीका में वात्स्यायन ने पूर्ववत् (कारण से कार्य) का उदाहरण घटा के उदय से वर्षा के अनुमान के रूप में दिया है, शेषवत् (कार्य से कारण) का उदाहरण निम्न प्रदेश में आई बाढ़ से ऊँचे स्थानों में वर्षा के अनुमान के रूप में दिया है, और सामान्यतोदृष्ट (व्यापार सादृश्य से) का उदाहरण. भिन्न-भिन्न कालों में आकाशीय पिण्डों के आकाश में अपने स्थान परिवर्तन से उनकी गति के अनुमान के रूप में दिया है। परन्तु उन्होंने पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट इन तीनों संज्ञाओं का एक अन्य अर्थ भी दिया है। यहां वे पूर्ववत् का अर्थ लगाते हैं सह अस्तित्व के भूतकालीन व्यापार की उपमा के आधार पर धूम से वह्नि का अनुमान; शेषवत् का अर्थ इस तथ्य का अनुमान कि शेष की विधि द्वारा शब्द न तो द्रव्य और न कर्म ही होने के कारण शब्द गुण है, और सामान्यतोदृष्ट का अर्थ गुणत्व के हेतु से आधार रूप में किसी द्रव्य की अपेक्षा होने के कारण इच्छा के अस्तित्व से आत्मा के अस्तित्व का अनुमान। यह व्यापार सादृश्यजनित अनुमान नहीं है, अपितु एक वस्तु का दूसरी वस्तु के सादृश्य का (यथा, इच्छा का अन्य गुणों से सादृश्य), दूसरी वस्तु (द्रव्य-समवाय) के संबध को पहली वस्तु (इच्छा) तक बढ़ाने का अनुमान है अर्थात् यह अनुमान की इच्छा का भी द्रव्य में समवायी होना आवश्यक है।

पूर्ववत् और शेषवत् संज्ञाओं की व्याकरणानुसार द्विविध व्याख्या सम्भव होने के कारण (मतुप् प्रत्ययान्त होने से 'उसका यह है' अर्थ में और 'वति' प्रत्ययान्त होने से व्यापार सादृश्य के अर्थ में) और 'पूर्व' और 'शेष' शब्दों का भी दो अर्थों में प्रयोग संभव होने के कारण पूर्ववत् और शेषवत् संज्ञाओं की व्याख्या वात्स्यायन ने दो भिन्न-भिन्न प्रकार से की है और यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि इन दोनों अर्थों में उनको अनुमान का प्रकार प्रमाणित किया जा सकता है। यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि चरक द्वारा वर्णित त्रिविध अनुमानों का पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट ऐसा पहली बार नामकरण होना इन संज्ञाओं को निश्चित अर्थ प्रदान करने में वात्स्यायन द्वारा अनुभव की गई कठिनाई को स्पष्ट कर देता है, क्योंकि उनका प्रचलन न तो परम्परागत और न ही वात्स्यायन के समकालीन साहित्य में था। वात्स्यायन पर

संहिता में वर्णित ऊपरी स्तर पर स्थित अनुमान के प्रकारों का नामकरण किया। यह असंभव नहीं कि पाँच वचनों का सिद्धान्त और वस्तुतः अधिकांश अपने अन्य न्यायसम्बन्धी सिद्धान्तों को न्यायसूत्र ने चरक से लिया हो, क्योंकि उससे पूर्ववर्ती कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं है जिसमें उसके अवशेष ढूँढ जा सकें।[1] आत्मा, इन्द्रियों, मन और विषयों के सम्पर्क से उत्पन्न ज्ञान के रूप में चरक द्वारा दी गई 'प्रत्यक्ष' की परिभाषा अक्षपाद द्वारा दी गई प्रत्यक्ष की उस परिभाषा के लिए पूर्ववर्ती आदर्श के अत्यधिक सदृश प्रतीत होती है, जिसमें अर्थ को अधिक जटिल और निश्चित करने के लिए तीन अन्य विशेषताओं को और जोड़

अपनी वृत्ति में, उद्योतकर इस विषय में बिलकुल मौलिक विचारों को ही प्रस्तुत करते हैं। वे अक्षपाद के इस सूत्र, 'अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं च' को लेते हैं और इसके अथ तत्पूर्वकम्, त्रिविधमनुमानम् और पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टं च ये तीन खंड कर देते हैं, प्रथम त्रिविध' से उसका अर्थ विद्यमान उदाहरणों (अन्वयी), अभावयुक्त उदाहरणों (व्यतिरेकी) और दोनों के संयुक्त रूप (अन्वयव्यतिरेकी) से उत्पन्न अनुमान से है। उन्होंने पूर्ववद्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट को दो सम्भव अर्थ दिए हैं, जिनमें से एक के अनुसार पूर्ववत् का अर्थ कारण से कार्य का तर्क, शेषवत् का अर्थ कार्य से कारण का तर्क, और सामान्यतोदृष्ट का अर्थ कारणता से भिन्न अन्य सम्बन्धों पर आधारित अनुमान है। सांख्यकारिका में इन अनुमानों का वर्णन है। माठर वृत्ति में भी अनुमान के त्रिविध रूपों का दो प्रकार से अर्थ किया गया है, उसमें कहा है, प्रथमतः, 'त्रिविध' का अर्थ यह है कि एक अनुमान में तीन वचन होते हैं और द्वितीयतः इसके तीन प्रकार होते हैं यथा पूर्ववत् (कार्य जैसे नदी की बाढ़ से कारण, यथा ऊपरी प्रदेश में वर्षा का अनुमान), शेषवत् (अंश से सम्पूर्ण का अनुमान यथा कोई समुद्र-जल की बूंद को लवणयुक्त देखकर, सारे समुद्र के लवणयुक्त होने का अनुमान कर लेता है) और सामान्यतोदृष्ट (सामान्य सम्बन्ध) साहचर्य से अनुमान (यथा, एक स्थान में आमों की मंजरी देखकर कोई यह अनुमान करे कि अन्य स्थानों पर भी आम मंजरीयुक्त होंगे)। यह पर्याप्त विस्मय की बात है कि माठर वृत्ति में सामान्यतोदृष्ट का एक ऐसा अन्य उदाहरण दिया गया है जो सामान्यतोदृष्ट के अब तक विचार किए गए उदाहरणों से बहुत भिन्न है। इस प्रकार इसमें कहा है कि जब कोई यह कहे 'बाहर प्रकाश है,' तो दूसरा उत्तर देता है 'चाँद अवश्य निकल आया होगा।'

1 न्यूनाधिक कपोलकल्पित कारणों से श्री ध्रुव का विचार है कि पूर्ववत् और शेषवत् पद मीमांसासूत्रों से न्यायसूत्रों में लिए गए हैं और यह सूत्र इसलिए अवश्य ही अतिप्राचीन होगा (Proceedings and Transactions of the First Oriental Conference Poona 1922) यह तर्क एकाधिक कारणों से अग्राह्य है। प्रथम, यदि यह मान भी लिया जाए कि मीमांसासूत्र अतिप्राचीन है (जिसमें संदेह है) तो भी इन दो न्यायसम्बन्धी पदों का उससे गृहीत होना यह प्रदर्शित नहीं करता है कि यह अति प्राचीन ग्रन्थ होगा; क्योंकि आधुनिक ग्रंथ भी अपनी पदावली को प्राचीन ग्रन्थ से ग्रहण कर सकता है। दूसरा, कि इन तीन पदों के प्राचीन स्रोतों से गृहीत

दिया है।[1] प्रारम्भ में प्रत्यक्ष के अनिश्चयात्मक (निर्विकल्प अथवा अव्यपदेश्य) होने का भाव परकालीन विकास है और न्यायसूत्रों से पूर्ववर्ती हिन्दू-दर्शन में इसका पता नहीं चल सकता।[2] चरक में गिनाए गए वाद, जल्प, वितण्डा, छल, जाति, निग्रहस्थान आदि का न्यायसूत्र के पदार्थ के साथ सादृश्य इससे पहले विभाग में सम्यक् रूप से प्रदर्शित किया जा चुका है। दोनों समुदायों की गणनाओं और उनके विस्तार में एकमात्र अन्तर यह है कि चरक का वर्णन पूर्ववर्ती होने के कारण अक्षपाद के वर्णन की अपेक्षा अपूर्ण और कम जटिल है।

चरक संहिता के अत्यन्त साधारण अध्ययन से भी यह तथ्य अत्यधिक मात्रा में स्पष्ट हो जाता है कि व्याधियों के सैद्धान्तिक कारणों और उनके उपशमन तथा व्यक्तिगत रोगों में उनके वस्तुतः व्यावहारिक ज्ञान दोनों के विषय में सही निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए चिकित्सक लोग मंत्रणा के समय गम्भीरतापूर्वक आपस में संभाषण करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ अत्रि की अध्यक्षता में विद्वान वैद्यों के सभाषण का संग्रह है। जहाँ अधिक मत-वैभिन्य है वहाँ उन सब मतों को लिख दिया गया है और उन पर स्वयं अत्रि के मत को भी दे दिया गया है, और, जहाँ न्यूनाधिक मात्रा में मतैक्य था अथवा जहाँ अत्रि ने विशिष्ट समस्याओं पर प्रवचन किया, वहाँ केवल उन्हीं के मत को दिया गया हैं। यह भी वर्णन किया गया है कि विवाद में किस प्रकार एक अच्छा और कुशल वैद्य अपने प्रतिपक्षी को न केवल न्याययुक्त और शास्त्रीय तरीकों से अपितु पाडित्यपूर्ण प्रलाप एवं अनुचित तर्कसंबंधी छलों द्वारा भी हरा सकता है। तीव्र प्रतिस्पर्धा के सम्मुख होने के कारण वैद्यों के लिए आजीविका उपार्जन करना एक व्यावहारिक आवश्यकता थी, और यह सरलता से देखा जा सकता है कि किस प्रकार—छल, जाति, निग्रहस्थान आदि की नैयायिक चालों का न केवल सदा सत्यान्वेषण के लिए ही अपितु विपक्षी पर विजय प्राप्त करने के लिए भी शास्त्रार्थ की नियमित कला के रूप में विकास हुआ। हमें शास्त्रार्थों, संभाषणों अथवा नैयायिक विवादों का चरक से कहीं अधिक प्राचीन साहित्य में उल्लेख मिलता है, परन्तु कहीं भी इस कला की प्राप्ति जीविका-उपार्जन के लिए चिकित्सकों के समान व्यावहारिक रूप से इतनी आवश्यक नहीं समझी जाती थी और अन्य किसी पूर्ववर्ती साहित्य में इसके विकास का कोई उल्लेख न होने के कारण यह मानना तर्कसंगत प्रतीत होता है कि वादविवाद की कला और उसकी सहकारी कलाओं का विकास

होने का तथ्य यह प्रदर्शित नहीं करता कि न्यायसूत्र का त्रिविध अनुमान का सिद्धान्त स्वयं इसका अपना योगदान है अथवा अतिप्राचीन है। भाष्यवृत्ति के वात्स्यायन भाष्य से बाद की होने के श्री ध्रुव के तर्क भी अत्यन्त दुर्बल हैं और आलोचना की कसौटी पर टिक नहीं पाते हैं।

1 इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।
—न्यायसूत्र, 1.1.4।

2 चरक ने 2.1.10.4 में 'विकल्प' शब्द का प्रयोग 'उत्कर्ष' और 'अपकर्ष' (उत्कर्ष-प्रकर्षरूप) के भेद के अर्थ में किया है।

चिकित्सा की परम्परागत उन शाखाओं में प्राचीन काल से ही हुआ जिनमें से चरक ने उन्हें अपने ग्रन्थ में संकलित किया। आयुर्वेद की शाखाओं में वादविवाद की तर्कसंगत कला का उद्गम इतना स्वाभाविक है और शास्त्रार्थ की कला के वर्गों को चिकित्सा-क्षेत्र में इतना बार-बार लिया जाता है कि इस संदेह का कोई कारण नहीं है कि चरक संहिता के न्याय-शाखा सम्बन्धी अशों को चरक ने चिकित्सेतर साहित्य से ग्रहण करके अपने ग्रन्थ में जोड़ दिया होगा।

आयुर्वेदीय आचारशास्त्र

हमारे इस कलिकाल में मनुष्य का जीवन काल सामान्यतः सौ वर्ष निर्धारित किया गया है। परन्तु अधर्म से युक्त पाप कर्मों के कारण सामान्य काल किसी भी सीमा तक घट सकता है। सामान्य अधार्मिक कर्म तो आयु के मान को केवल तभी घटा सकते हैं जब मृत्यु के भौतिक कारण जैसे विषप्रयोग, व्याधियाँ आदि विद्यमान हों। यदि इन भौतिक कारणों का निवारण हो सके तो मनुष्य अपनी आयु के सामान्य मान, सौ वर्ष तक जीवित रह सकता है, जब शरीररूपी यंत्र का लम्बे समय तक कार्य करते रहने के कारण शनैः शनैः ह्रास होने लगता है। जो घोर अधर्म के पाप करने के कारण अभिशप्त नहीं हुए हैं उनके आयुष्य के सामान्य मान को तो औषधि बढ़ा सकती है। इसी स्थान पर चरक और उसके अनुयायियों का भारतभूमि पर पनपने वाले कर्मसम्बन्धी अन्य सब सिद्धान्तों से मतभेद है। चरक के अतिरिक्त अन्य किसी विचारधारा में इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया गया है। इन सिद्धान्तों में प्रचलित अनेक मतभेदों के उपरान्त भी उन्हें मोटे तौर पर चार वर्गों में बाँटा जा सकता है। इस प्रकार सर्वप्रथम 'पुरुषवादिन्' आते हैं, यथा वे लोग जो योगवाशिष्ठ-दर्शनशाखा के अनुयायी हैं और जो हमारे सारे अनुभवों को इच्छा के दृढ़ निश्चयात्मक प्रयत्नों द्वारा नियंत्रण में रखने योग्य मानने एवं पूर्व-कर्म दैव तथा भाग्य के किसी भी बन्धन को इसके द्वारा अनियन्त्रण के योग्य और अनतिक्रम्य न मानने के कारण परले सिरे के अध्यात्मवादी हैं। मानव इच्छा सर्वशक्तिमान् है और इसके द्वारा हम अपने भावी कल्याण के विकास में किसी प्रकार का कोई भी परिवर्तन उत्पन्न कर सकते हैं। पुनः यह मत भी है कि हमारे सम्पूर्ण कर्मों के लिए परमात्मा ही उत्तरदायी है, और वही उनका निर्माण करता है जिससे वह अच्छे कार्य करवाना चाहता है और जिनको वह पतित करना चाहता है उनसे पापकर्म करवाता है। एक यह मत भी है कि परमात्मा हमें अपने शुभ और अशुभ कर्मों का फल देता है अथवा उनके लिए यश-अपयश देता है, और केवल हम ही अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी हैं तथा अपनी इच्छानुसार कर्म करने में स्वतन्त्र हैं। पातंजल योगसूत्र में वर्णित एक मत और भी है कि हमारे जन्म की योनि-विशेष, हमारा आयुष्य और हमारे सुख-दुःख का स्वरूप सब हमारे कर्मों द्वारा निर्धारित होते हैं। साधारणतः पूर्वजन्म के कर्मों के फलों को इस जन्म में भोगना पड़ता है, और इस जन्म के कर्मों के परिपाक के अनुसार ही भावी जन्म का स्वरूप, आयुष्य और सुख-दुःख का निर्धारण होता है, जबकि अत्यन्त शुभ अथवा अशुभ कर्मों का फल इसी जन्म में मिल जाता है। इन मतों में से किसी एक मत में भी हमें चरक के समान इस प्रकार का व्यावहारिक बुद्धिगम्य चयन उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि इसके अनुसार केवल घोर अशुभ कर्मों के फल को ही सदाचार के सामान्य प्रयत्नों द्वारा नहीं रोका जा सकता। सम्यक्

संतुलित आचरण और उचित औषधियों के प्रयोग आदि के सामान्य भौतिक साधनों द्वारा सब साधारण कर्मों के फलों को रोका जा सकता है। इसका आशय यह कि अपने स्वास्थ्य की उचित देखभाल में बरते गए सामान्य आचारविहीन कर्म, उचित वाजीकरण, औषधि आदि का सेवन, हमारे कर्म के मार्ग को अवरुद्ध कर सकते हैं अथवा बदल सकते हैं। जैसे, अपने सामान्य कर्मों के फल से मुझे रोगी हो जाना चाहिए परन्तु यदि मैं उचित ध्यान रखूँ तो मैं ऐसे कर्म-फलों से बच सकता हूँ और स्वस्थ भी रह सकता हूँ। अन्य मतों के अनुसार कर्म के विद्यमान अपरिवर्तनीय हैं। केवल अपरिपक्व कर्म के फल ही यथार्थ ज्ञान द्वारा नष्ट किए जा सकते हैं। पक्व कर्म के फलों को तो हर अवस्था में भोगना ही होगा, चाहे यथार्थ ज्ञान ही क्यों न प्राप्त हो जाए। चरक के सिद्धान्त की विशेषता इस बात में है कि उन्होंने परिपक्व कर्मों की इस अपरिवर्तनीयता का समावेश नहीं किया। अत्यन्त शक्तिशाली कर्मों के अतिरिक्त अन्य सब कर्मों के फलों से युक्त आचरण को प्रत्यक्ष अनैतिक क्रम द्वारा सुधारा जा सकता है। साधारण तौर पर, कर्म के विधान का तात्पर्य प्राणी के स्वकर्मज शुभाशुभ फलों के अनुसार विश्व के नैतिक शासन का सिद्धान्त है। हम अपनी इच्छानुसार कर्म करने में स्वतन्त्र भले ही हों, परन्तु घोर अधर्मों के अतिरिक्त, इस जन्म के हमारे कर्मों से ही हमारे भावी जीवन के भोगों का निर्धारण होता है, और इसलिए इह जन्म के किसी कर्म से इस जन्म के ऐसे किन्हीं दुःखों के निवारण की सामान्यतः आशा नहीं की जा सकती, जिनका भोग किसी मनुष्य के लिए उसके पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार पहले से ही नियत हो चुका है। फिर कर्मों की नैतिकता अथवा अनैतिकता से ही उन कर्मों के भले या बुरे फलों का, उनकी सफलता और विफलता का निश्चय होता है। इसका आशय है हमारे अपने प्रयत्नों द्वारा अपने भाग्य के सीधे नियन्त्रण करने की हमारी शक्ति में अविश्वास। कर्म के सिद्धान्त में इस प्रकार यह विश्वास सन्निविष्ट है कि अपनी परिपक्वावस्था में फल देने में एक मात्र समर्थ हमारे कर्मों के अधार्मिक तत्त्वों का रहस्यमय अस्तित्व है और उन कर्मों का परिपाक होता है। यदि यह सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जाए कि अधर्म के अहितकारी और धर्म के हितकारी परिणाम स्वतः हो जाते हैं, तो इसके तर्कसंगत परिणाम इस संभावना को अस्वीकार करने के लिए हमें प्रेरित करते हैं कि केवल दैहिक कर्मों से ही कर्मों के फलों का संशोधन हो सकता है। इसलिए कर्मों के नैतिक गुणों की स्वीकृति हमें उनके सीधे भौतिक परिणामों को अस्वीकार करने के लिए प्रेरित करती है। यदि किन्हीं सत्प्रयत्नों द्वारा मैं प्रसादावस्था प्राप्त करने में सफल हो जाता हूँ, तो यह तर्क किया जाता है कि मेरी सफलता मेरे वर्तमान प्रयत्नों के कारण नहीं है, अपितु यह तो पूर्वनियत ही था कि मैं अपने पूर्वजन्म के शुभ कर्मों के परिणामस्वरूप प्रसन्न होऊँ। इसका कारण यह है कि यदि फल मेरे सामान्य प्रयत्नों का फल हो, तो यह सिद्धान्त धराशाही हो जाएगा कि सारे सुखों और दुःखों का अनुभव पूर्वजन्म के कर्मों के परिपाक के कारण होता है। दूसरी ओर यदि सारी सफलता या विफलता हमारे उचित अथवा अनुचित प्रयत्नों के कारण हो, तो दुःख और सुख-उत्पादन की अधर्म और धर्म की क्षमता स्वभावतः संदिग्ध हो जाती है, और जिन दशाओं में हमारे उत्कृष्टतम प्रयत्न भी विफल हो जाते हैं उनका समाधान नहीं होता। परन्तु यदि हमारे सामान्य प्रयत्न जरा भी फलीभूत नहीं होते हैं और यदि हमारे अनुभव के प्रकार, हर्ष और विषाद, और हमारा आयुष्य पूर्व निर्धारित ही है, तो हमारा कोई प्रयत्न भी जीवन के क्लेशों के निवारण में

समर्थ नहीं है, और इस प्रकार आयुर्वेद का प्रयोजन ही निरर्थक हो जाता है। सामान्य बुद्धि के विश्वास के अनुसार कोई मनुष्य 'भाग्य' अथवा 'नियति' का केवल तब ही उल्लेख करता है, जब उत्कृष्ट प्रयत्न भी विफल हो जाते हैं और जब वह यह सोचने लगता है कि यदि कोई परम नियति नहीं हो तो उचित दिशा में किए गए प्रयत्न अवश्य ही सफल होंगे। चरक के सिद्धान्त में व्यवहार-बुद्धि का ऐसा ही दृष्टिकोण समाविष्ट प्रतीत होता है। परन्तु प्रश्न उठता है कि यदि ऐसा है, तो कर्म के विधान की अपरिवर्तनीयता कैसे सुरक्षित रह सकती है ? चरक के विचार में केवल अत्यन्त शुभ अथवा अशुभ कर्म अपरिवर्तनीय स्वभाव के होते हैं। साधारण कर्मों के अन्य सब प्रभावों को हमारे प्रयत्नों द्वारा ठीक किया जा सकता है या रोका जा सकता है। चरक के मत में धर्म और अधर्म अस्पष्ट और रहस्यमय सिद्धान्त नहीं हैं, कर्म के भौतिक पक्ष उनके उपदेशों में उपलब्ध नहीं होते हैं।[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि चरक किसी कर्म के हितकारी होने को ही उसकी परीक्षा मानते हैं। मनुष्य को कर्म करने के पहले अपने कर्म के 'हित' का ध्यानपूर्वक निर्णय करना और अनुमान करना चाहिए अर्थात् यह ज्ञात करना कि यह उसके हित में होगा या नहीं, यदि फल उसके हित में हो, तो वह उसको करे, और यदि फल उसके अहित के हो तो वह उसे न करे।[2] शुभ कर्मों का हमारा अन्तिम मान हमारे अपने हित के साधन में निहित है, और इसी लक्ष्य की ओर हमारे मन और इन्द्रियों का सम्यक् निर्देशन और पथप्रदर्शन परमावश्यक है। यहाँ पर भी चरक अपने मध्य मार्ग के सिद्धान्त का प्रयोग करते हैं, और कहते हैं कि मन को अपने सही मार्ग पर रखने के उचित साधन अत्यधिक चिन्तन से बचना, घृणित विषयों का चिन्तन न करना और मन को कार्यरत रखना है। विचार और भाव मन के विषय हैं और जैसाकि अभी-अभी कहा गया है सब विचारों के अतियोग, मिथ्यायोग और अयोग को दूर रखना चाहिए। हमारे सारे कार्यों के लक्ष्य 'आत्महित' का वर्णन न केवल हमें हर्ष देने वाले तथा हमारी सुख-सुविधा की सामग्री, मन की प्राकृतिक अवस्था और दीर्घायुष्य को प्राप्त कराने वाले के रूप में अपितु हमारे भावी जीवन में हितकारी के भी रूप में किया गया है। सद्वृत्त शरीर और मन के लिए आरोग्यकारी और हितकारी हैं और इन्द्रिय विजय प्राप्त कराता है।

कर्म के तीन स्रोत हैं : (1) प्राणैषणा-आत्मरक्षा के लिए हमारी इच्छा, (2) धनैषणा-सुख-सामग्री के लिए हमारी इच्छा, और (3) परलोकैषणा-भावी जन्म में सुख-प्राप्ति की हमारी इच्छा। हम अपना हित न केवल जीवन में अपितु परलोक में भी चाहते हैं, और ये दोनों प्रकार के आत्महित हमारी त्रिविध एषणाओं-प्राणैषणा, धनैषणा और परलोकैषणा–में समाविष्ट हैं। सद्वृत्त न तो वेदविहित आदेशों के अनुसार वृत्त है और न वह वृत्त है जिसके कारण समस्त कामनाओं के निरोध के द्वारा अथवा सम्यक् ज्ञान की

---

1 चरक संहिता 3. 3. 28-38।

2 बुद्या सम्यगिदं मम हितमिदम् ममाहितमित्यवेक्ष्यावेक्ष्य कर्मणां प्रवृत्तीणां सम्यक् प्रतिपादनेन इत्यहितकर्मपरित्यागेन हितकर्माचरणेन च।

—चरक 1. 8. 17 पर चक्रपाणि की टीका।

प्राप्ति और मिथ्या ज्ञान की हानि के द्वारा अन्ततोगत्वा सारे शोक समाप्त हो जाएं, अपितु वह है जिसके कारण इन तीन एषणाओं की पूर्ति हो। पापों का कारण धर्मग्रन्थों के आदेशों का अतिक्रमण नहीं है अपितु सम्यक् निर्णय में अथवा सम्यक् विचार में त्रुटि होना (प्रज्ञापराध) है। सर्वप्रथम प्राणैषणा है अर्थात् आरोग्य और दीर्घायुष्य की कामना है, क्योंकि अन्य सब हितकारी पदार्थों के लिए प्राण पहली शर्त है। प्राणैषणा के बाद धनैषणा है। इसमें जीवन के ऐसे कार्यों का संपादन है जिनसे इसकी पूर्ति हो। तीसरी आनन्दमय परलोक की एषणा। इस संबंध में चरक ने परलोक के अस्तित्व के विषय में एक संभाषण का समावेश किया है। उनका कथन है कि बुद्धिमान मनुष्य को परलोक के अस्तित्व के बारे में शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि ऐसी शंकाएं सद्वृत्त के अनुष्ठान में बाधक हो सकती हैं। अपनी इन्द्रियों द्वारा उसके अस्तित्व को न अनुभव करने में हमारे असमर्थ होने का तथ्यमात्र पर्याप्त मात्रा में बाधक प्रमाण नहीं है। कारण यह है कि इन्द्रियों द्वारा कभी भी ग्राह्य न हुई वस्तुएँ अनेक हैं। जिन इन्द्रियों से हम अन्य वस्तुओं को ग्रहण करते हैं, वे स्वयं इन्द्रियग्राह्य विषय नहीं हो सकती।[1] यदि इन्द्रियग्राह्य वस्तुएँ अत्यधिक निकट अथवा दूर हों, अथवा ढकी हुई हों यदि इन्द्रियाँ दुर्बल अथवा रोगग्रस्त हों, यदि मन अन्यत्र लीन हो, यदि मन सदृश वस्तुओं से मिश्रित हो, यदि उनका प्रकाश उनसे तीव्रतर प्रकाश से तिरोहित हो अथवा यदि वे अत्यन्त सूक्ष्म हों तो भी उनको ग्रहण नहीं किया जा सकता।[2] अतः यह कहना गलत है कि जो इन्द्रियग्राह्य नहीं है उसकी सत्ता ही नहीं है। फिर यदि यह तर्क किया जाए कि गर्भ में आत्मा का माता-पिता से आना आवश्यक है, तो यह कहा जा सकता है कि यदि गर्भ का आत्मा माता-पिता में से किसी एक से प्रोषित हुआ तो आत्मा के निरवयव होने के कारण अवयवों में प्रोषित नहीं हो सकता, और ऐसे पूर्ण प्रवास का अर्थ यह होगा कि माता-पिता आत्मविहीन हो जाएँगे और मर जाएँगे। जैसेकि आत्मा माता-पिता से बच्चे में प्रोषित नहीं होता, उसी प्रकार न तो मन और न बुद्धि को ही प्रोषित हुआ कहा जा सकता है. और फिर यदि समस्त जीवों का अन्य आत्माओं के स्थानान्तरण से उत्पन्न होना आवश्यक हो; तो माता-पिता के बिना कीटों का प्रादुर्भाव किस प्रकार हो जाता है, जैसेकि अनेक कीड़े बिना माता-पिता के उत्पन्न होते हैं।[3] चेतना एक प्रथक् और अनादि इकाई के रूप में विद्यमान है, और यह किसी अन्य द्वारा उत्पन्न नहीं की जा सकती। यदि फिर भी पृथक् आत्मा को इसका कारण माना जाए, तो उस अर्थ में ही इसे आत्मा से उत्पन्न माना जा सकता है।[4] चरक के अनुसार परलोक का सिद्धान्त मुख्यतः इस

---

1 यैरेव तावदिन्द्रियैः प्रत्यक्षमुपलभ्यते तान्येव सन्ति चाप्रत्यक्षाणि।

—चरक, 1. 11. 7।

2 सतां च रूपाणामतिसंन्निकर्षादतिविप्रकर्षादावरणात् करणदौर्बल्यान्मनोऽनवस्थानात् समानाभिहारादभिभावादतिसौक्ष्म्याच्च प्रत्यक्षानुपलब्धिः। वही, 11. 8।

3 संस्वेदजानां मशकादीनां तथोद्भिज्जानां गण्डूपदादीनां चेतनानां मातापितरौ न विद्येते ततस्तेषामचैतन्यं स्यान्मातापित्रोश्चेतनकारणयोरभावात्।

—चरक 2. 11 पर चक्रपाणि कृत टीका।

4 इस विषय पर चक्रपाणि ने 1. 11. 13 में भिन्न व्याख्या की है।

मत में सन्निहित है कि आत्मा का अस्तित्व है और यह अकृत है, और गर्भाशय में गर्भवृद्धि के एक निश्चित काल में आत्मा गर्भ से संबद्ध हो जाता है। संतान की माता-पिता से भिन्नता में अन्य कारणों के न्यूनाधिक समान होने पर भी दो बच्चों के रंग, आवाज, रूप, बुद्धि और भाग्य में भिन्न होने में; कुछ के सेवक होने और अथवा आयुष्य में भिन्न होने अन्यों के उनके धनी स्वामी होने में; कुछ के सहज ही स्वस्थ होने और अन्यों के रोगी होने में; बिना किसी पूर्व-शिक्षण अथवा अनुभव के बच्चों के रोना, हँसना अथवा डरना जानने से, एक ही प्रकार के प्रयत्न से दो पृथक् मनुष्यों को दो पृथक् फल की प्राप्ति से,कुछ के किन्हीं विषय-विशेष में सहज निपुण और अन्यों में मन्द होने से, और अपने पूर्वजन्म को याद रखने वाले कम से कम कुछ व्यक्तियों के विद्यमान होने से हमें उपलब्ध पुनर्जन्म के साक्ष्यों का चरक ने भी उल्लेख किया है, क्योंकि इन तथ्यों के आधार पर जो एकमात्र परिकल्पना की जा सकती है वह यह है कि ये भिन्नताएँ मनुष्य के पूर्वजन्म के उन कर्मों के कारण हैं जिन्हें अन्यथा 'दैव' भी कहा जाता है और यह कि इस जन्म के शुभाशुभ कर्मों के फल दूसरे जन्म में भोगने होंगे। एक पूर्ववर्ती विभाग में यह भी बताया जा चुका है कि बच्चा अपने बौद्धिक अंगों के लिए माता या पिता का ऋणी नहीं होता है। ये तो बच्चे के आत्मा के वरदान हैं, अतः ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है कि बौद्धिक रूप से हीन किसी मनुष्य का पुत्र होने के कारण कोई बच्चा अवश्य ही मन्दबुद्धि होगा।

चरक का आगे और कथन है कि पुनर्जन्म के सत्य का सब सम्भव प्रमाणों द्वारा प्रदर्शन किया जा सकता है। वे प्रथम वेद-वाक्यों का और दार्शनिकों के उन मतों का उल्लेख करते हैं जो लोक-हित के लिए लिखे गए हैं और जो बुद्धिमान् और धार्मिक पुरुषों के मतों के अनुकूल हैं और वेदों के उपदेशों के प्रतिकूल नहीं हैं। ऐसे लेखों में सदा दान, तप, हवन, सत्यवादिता, समस्त प्राणियों के प्रति अहिंसा और संयम का स्वर्ग के सुख और मोक्ष के साधन के उपदेश किया गया है। ऋषियों का कथन है कि मोक्ष अथवा पुनर्जन्म से छुटकारा केवल उनके लिए है जिन्होंने अपने सारे मानसिक और शारीरिक दोषों का पूर्ण रूप से परिमार्जन कर दिया है। इसका आशय यह है कि इन ऋषियों ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त को सत्य मान लिया था; अन्य ऐसे भी ऋषि हुए हैं जिन्होंने पुनर्जन्म के सत्य की स्पष्ट रूप से घोषणा की थी। वेदों और ऋषियों के प्रमाण के अतिरिक्त प्रत्यक्ष भी पुनर्जन्म के सत्य को सिद्ध करता है। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि संतान प्रायः अपने माता-पिताओं से बहुत भिन्न होती हैं, और एक ही माता-पिता से उत्पन्न बच्चे भी रंग, आवाज, शारीरिक-आकार, मानसिक वृत्ति, बुद्धि और भाग्य में प्रायः बहुत भिन्न-भिन्न होते हैं, जैसाकि ऊपर वर्णन किया जा चुका है। प्रत्यक्षतः अनुभूत इस सामग्री पर आधारित स्वाभाविक अनुमान यह है कि कोई भी अपने किए कर्मों के फल से बच नहीं सकता, और इसलिए पूर्वजन्म में जो किया गया है वह अविनाशी है और वह सदा वर्तमान जन्म में मनुष्य का उसके दैव या कर्म के रूप में अनुसरण करता है. जिसके फल उसके इस जन्म में प्रकट होते हैं। इस जन्म के कर्म पुनः फलों का संचय करते हैं जिन्हें अगले जन्म में भोगना होगा। सुखमय अथवा दुःखमय अनुभवों के वर्तमान फलों से भूतकाल के कर्मों के रूप में भूतकाल के बीजों का अनुमान होता है, और वर्तमान बीज के रूप में वर्तमान के कर्मों से अन्य जन्म में सुखमय अथवा दुःखमय अनुभवों के रूप में उनके भावी फलों का

भी अनुमान किया जा सकता है। इस अनुमान के अतिरिक्त अन्य हेतुओं से भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। इस प्रकार जीवमान गर्भ छः तत्वों के समुदाय से उत्पन्न होता है, जिसके साथ पारलौकिक आत्मा का सम्बन्ध अपरिहार्य है, इसी प्रकार फल भी तभी भोगे जा सकते हैं जब कर्म किए गए हों और तब नहीं, जबकि कर्म न किए गए हों—बीज के अभाव में अंकुर नहीं हो सकते। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि भारतीय विचारधारा की अन्य किसी भी प्रणाली में पुनर्जन्म के सिद्धान्त को सिद्ध करने का ऐसा कोई प्रयत्न नहीं किया गया है, जैसा यहाँ किया गया है। न्याय दर्शन में इस सिद्धान्त को सिद्ध करने का किंचित् प्रयत्न इस आधार पर किया गया था कि बच्चों का रोना, दूध पीना और सहज भय में आशयगत रूप से पूर्व अनुभव विद्यमान है। परन्तु चरक एक व्यवस्थित ढंग से कई और बातों को लेते हैं और यथासंभव विभिन्न तर्कसंगत प्रमाणों का सहारा लेते हैं। पुनः पातंजल योगसूत्र पर व्यास-भाष्य में हमें कर्मफल के स्वरूप की चर्चा मिलती है। योगसूत्र 2.13 में यह कहा है कि पूर्वजन्म के कर्मों से किसी व्यक्ति के अच्छे अथवा बुरे, अथवा दीन अथवा धनी कुल में जन्म-विशेष, आयुष्य और सुख-दुःखों का निर्धारण होता है। परन्तु शरीर के भौतिक विभेद, वर्ण, शब्द, स्वभाव. मानसिक वृत्ति और विशिष्ट बौद्धिक गुणों का पूर्वजन्म के कर्मों के कारण होना एक पूर्णतः नवीन विचार प्रतीत होता है। फिर भी चित्ताकर्षक बात है कि बुद्धि में भिन्नता का कारण पूर्वजन्म के कर्मों को बताने पर भी चरक उन्हें नैतिक इच्छा के बल अथवा निर्बलत्व का कारण नहीं बताते हैं।

आगे चरक एक विशिष्ट जनपद में रहने वाले लोगों के दुष्कर्मों के सामूहिक कुफलों का उल्लेख करते हैं जिनके कारण प्रायः महामारियाँ फूट सकती हैं। महामारियों का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि वे वायु और जल के अनारोग्यकर हो जाने के कारण और देश और जलवायु की विगुणता के कारण होती हैं। वायु का ऋतु के अनुकूल न होना, मन्द और स्थिर होना. अत्यधिक तेज, अत्यधिक रूक्ष अत्यधिक शीत, अत्यधिक उष्ण, परुष; तूफानी चक्रवाती, अतिक्लिन्न. पांशुयुक्त, धूमयुक्त, अथवा दुर्गंधयुक्त होना वायु का अनारोग्य तत्त्व है। जल का अप्राकृतिक वर्णयुक्त, दुर्गंधयुक्त, अस्वादु, प्रायः जलचर पक्षियों द्वारा उपेक्षणीय. मलों से युक्त (जब इसके स्वाभाविक गुणों का अभाव हो), अप्रीतिकर और क्षीण जलाशय होना पानी का अनारोग्यत्व है। देश-अनारोग्यत्व तब होता है जब यह सरीसृप, वन्य पशु, मशक, शलभ, मक्षिका, कीट, मूषक, उलूक ,उपद्रवी पक्षी अथवा शृगालों से युक्त हो अथवा जब वन्यलताओं, तृण आदि से आच्छादित हो, अथवा जब खेती सूख जाए, वायु धूमयुक्त हो जाए आदि। काल का अनारोग्यत्व, जलवायु का अप्राकृतिक अवस्थाएँ उत्पन्न होने पर होता है। महामारी की इन अवस्थाओं का कारण पूर्वजन्म के उन दुष्कर्मजनित अधर्मों को बताया गया है, जो पुनः पूर्वजन्म के कुकर्मों के कारण किए जाते हैं। जब किसी देश, नगर अथवा जनपद के प्रधान पुरुष सद्वृत्त का उल्लंघन करते हैं और देश के लोगों को असद्वृत्त की ओर ले जाते हैं, तो प्रजाजन भी अपने आचरण में अधर्मयुक्त और पापी हो जाते हैं और जनपदों के जनसाधारण के कुकर्मों के परिणामस्वरूप, देवता उन स्थानों को त्याग देते हैं, यथासमय वर्षा नहीं होती, वायु, जल आदि सम्यक् अवस्था में नहीं रहते और सम्पूर्ण देश विकारयुक्त हो जाता है और महामारियाँ फूट पड़ती हैं। इस प्रकार चरक

के मत के अनुसार लोगों के कुकर्म सारे प्रदेश को विकारग्रस्त कर देते हैं और अन्ततोगत्वा उसका विनाश कर देते हैं। जब किसी देश का नाश अन्तःकलह के कारण होता है, तब वह कलह भी अत्यधिक लोभ, क्रोध, मान और अज्ञान से वृद्धि को प्राप्त हुए लोगों के अधर्म के कारण होता है। महामारियां किसी प्रदेश-विशेष के पौरजनों के संयुक्त अधर्मों के कारण होती हैं। परन्तु जिन्होंने ऐसे कुकर्म नहीं किए हैं कि उनको दण्ड भुगतना पड़े, वे मनुष्य महामारियों के फैलने पर भी सम्यक् औषधि सेवन द्वारा और धार्मिक जीवनयापन द्वारा अपने को उनसे बचा सकते हैं। अधर्म के कारण ही समस्त जलवायु संबंधी और अन्य प्राकृतिक विपदाओं के होने के अपने सिद्धान्त की स्थापना का प्रयत्न करते हुए चरक आगे कहते हैं कि प्राचीनकाल में मनुष्य धार्मिक वृत्ति के, हृष्ट-पुष्ट शरीर के और अत्यन्त दीर्घायु होते थे और उनके जीवन की धार्मिक वृत्तियों के कारण ही जलवायु सम्बन्धी विकार नहीं होते थे और न अकाल, शुष्कधान्यता, अनावृष्टि तथा महामारी अथवा रोगों को उत्पन्न करने वाले अनारोग्यत्व ही होते थे। परन्तु सत्ययुग के अन्त में कुछ धनी मनुष्य अति भोजन के कारण अति मोटे हो गए, अतः वे जल्दी से श्रान्त हो जाते थे, और इसी हेतु वे आलसी हो गए और आलस्य के कारण उनमें सचय की वृत्ति आ गई, उससे उनमें परिग्रहशीलता आई, और उससे लोभ आया। अगले युग त्रेता में लोभ से अभिद्रोह का उदय हुआ, अभिद्रोह से अनृतवचन अनृतवचन से काम, क्रोध, मान, द्वेष, पारुष्य, अभि-घात, भय, शोक और चित्तोद्वेग प्रवृत्त हुए। इस प्रकार त्रेतायुग में धर्म एक पाद से हीन हो गया और इसी हेतु कृषि आदि के पार्थिक उत्पादनों में भी एक पाद की न्यूनता आ गई और सजीव प्राणियों के शरीर उसी अनुपात में अपनी प्राण शक्ति से हीन हो गए; उनका आयुष्य क्षीण हो गया और व्याधियों को वृद्धि होने लगी। इसी प्रकार द्वापर युग में पार्थिव पदार्थों की मात्रा में और आगे ह्रास हुआ और मानव शरीर क्षीण तथा अल्पायु हो गया।

यह स्मरण होगा कि सुश्रुत 3. 1 में ऐसा कहा गया है कि चिन्तन की चिकित्सा शाखा के कई व्यक्तियों की यह धारणा है कि यह जगत् या तो नियति के प्राकृतिक क्रम में 'काल' के कारण या स्वभाव, यदृच्छा अथवा ईश्वर की इच्छा के 'परिणाम' के कारण अस्तित्व में आया, और उन सबने इसे प्रकृति' अर्थात् जगत् का मूल कहा है।[1] परन्तु

---

1 प्रकृति के मूल प्रयोजन का कारण जगत् के मूल और उद्गम के विषय में जिज्ञासा का भाव हो सकता है। 'प्रकृति' का शाब्दिक अर्थ है 'उद्गम' अथवा मूल'। इसलिए, सांख्य संज्ञा के रूप में 'प्रकृति' का पारिभाषिक प्रयोग होने से पहले, इस संज्ञा का प्रयोग संभवतः जगदुत्पत्तिविषयक अन्य विवेचनों के संदर्भ में होता था। ऐसा प्रतीत होता है कि सांख्य प्रकृति की धारणा को ग्रहण कराने के लिए स्वभाव, काल आदि के भावों मिला दिया गया है और सांख्य की दो शाखाओं, कापिल शाखा और पातंजल शाखा, का इस विवाद से जन्म हुआ कि प्रकृति 'यदृच्छा' का परिणाम है अथवा ईश्वरेच्छा का परिणाम। पूर्वकाल में विद्यमान जगदुत्पत्ति के सब वैकल्पिक स्रोतों के समुदाय द्वारा 'प्रकृति' के भाव को प्राप्त किया गया और इस प्रकार वे सब प्रकृति के भाव में समाहित है।

सांख्य 'प्रकृति' के भाव में इन सब धारणाओं का अपने में समावेश हो जाता है, और इसलिए एक प्रकृति को जगत् के संभव हेतु के रूप में स्वीकार करना अधिक उचित है। इसकी व्याख्या करते हुए 'गयी' का कथन है कि प्रकृति को परिणामशाली उपादान कारण मानना चाहिए, जबकि काल, स्वाभाविक प्रक्रिया आदि को जगदुत्पत्ति का नैमित्तिक कारण मानना चाहिए। सुश्रुत के अनुसार, चिकित्सा-दर्शन में आत्माओं (क्षेत्रज्ञ) को सांख्य दर्शन के समान सर्वव्यापी नहीं (असर्वगत) माना जाता है। ये क्षेत्रज्ञ अपने धर्म अथवा अधर्म के कारण मनुष्य अथवा अन्य भिन्न पशु के रूप में एक शरीर से अन्य शरीर में जन्मान्तर प्राप्त करते हैं क्योंकि सर्वव्यापी न होने पर भी वे नित्य हैं और मृत्यु द्वारा नष्ट नहीं होते। सांख्य अथवा वेदान्त के समान, आत्माओं को स्वतः प्रकाश्य नहीं मानना चाहिए, परन्तु उनका सुख-दुःख के लिंगों से युक्त द्रव्य अथवा इकाई के रूप में अनुमान किया जा सकता है और वे सदा चेतनायुक्त होते हैं, चाहे स्वयं उनको शुद्ध चेतन प्रकृति का न माना जाय। वे चेतनावन्तः (चेतनायुक्त) है न कि चित्स्वरूपः चेतना के स्वरूप) हैं, वे 'परम सूक्ष्म' हैं और डल्हण इस विशेषण की व्याख्या इस अर्थ में करते हैं कि क्षेत्रज्ञ अणु-जितने छोटे होते हैं। परन्तु नित्य चेतनायुक्त होने के कारण प्रत्यक्ष के द्वारा भी उनके अस्तित्व का ग्रहण हो सकता है। इन क्षेत्रज्ञों का जन्मान्तरण उनके कर्मों के धर्म अथवा अधर्म के आधार पर नियमित होता है। डल्हण का कथन है कि अति अधर्म के कारण उनका पशु योनी में जन्म होता है, धर्म और अधर्म के सम्मिश्रण से वे मनुष्य योनि को प्राप्त होते हैं और धर्म प्राधान्य से वे देवयोनि को प्राप्त होते हैं। परन्तु चरक के अनुसार मनुष्य के जन्मान्तरण का धार्मिक अथवा अधार्मिक कर्मों से न केवल नियन्त्रण होता है अपितु प्रकृति की उत्पादनशीलता और उसके आरोग्यत्व-अनारोग्यत्व भी नियन्त्रित होते हैं, और जिन सहस्रों बातों में प्रकृति मनुष्य के हित में या अहित में होती है, वे धर्म और अधर्म से ही निर्धारित होती हैं। इसलिए जीवन की मानवी दशाओं और वातावरण की सांसारिक दशाओं के अधिकांश के निर्धारण में धर्म और अधर्म को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है। इस प्रकार का दृष्टिकोण जगत्सृष्टि के सांख्य सिद्धान्त के प्रतिकूल नहीं है, क्योंकि इसमें भी यही कहा गया है कि प्रकृति का परिणाम मनुष्य के धर्म अथवा अधर्म से निर्धारित होता है; परन्तु ऐसा आशय होने पर भी, मानव प्राणियों के धर्माधर्म के आधार पर जगत्-दशाओं और जगत्-परिणति का इतना स्पष्ट और विशिष्ट निर्धारण किसी भी सांख्य-ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता है। मानव-इच्छा की स्वतन्त्रता चरक ने प्रायः पूर्ण रूप से स्वीकार की है, और जहाँ पूर्व कर्मों के फल किसी परिपक्व प्रकार के नहीं है, उनको हमारे प्रयत्नों द्वारा टाला या सुधारा जा सकता है। इस प्रकार हमारे प्रयत्नों का एक ओर तो भौतिक जगत् के विकास की अवस्थाओं के निर्धारक के रूप में ब्रह्माण्डीय अथवा विश्वजनीन प्रभाव होता है, और दूसरी ओर वे व्यक्ति के भाग्य को निर्धारित करते हैं। हमारे कर्मों के फल हमारे जन्म हमारे अनुभव और बौद्धिक विशेषताओं को निर्धारित कर सकते हैं, परन्तु वे हमारी इच्छा के स्वरूप को निर्धारित नहीं करते हैं अथवा दिशा-विशेष में प्रयोग करने के उसके बल को प्रभावित नहीं करते हैं।

चरक-संहिता में कर्म के स्रोत

चरक के कर्म-स्रोतों की मुख्य विशेषता यह है कि उन्होंने तीन मूल एषणाओं को हमारे समस्त कर्मों का प्रेरक कारण माना है। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, ये स्रोत

हैं : प्राणैषणा, धनैषणा और परलोकैषणा। इस बात में चरक का मत उन अधिकांश दर्शन-शास्त्रों से अद्वितीय रूप से भिन्न प्रतीत होता हैं जिनमें अनेकों संवेगों का हमें कर्मों में प्रेरित करने वाले मूल कारणों के रूप में उल्लेख है। इस प्रकार वैशेषिक में सुख के प्रति आकर्षण को और दुःख के प्रति विद्वेष को हमारे कर्मों का कारण माना गया है। सुख का लक्षण ऐसे प्रकार का भाव है जिसका अनुमोदन किया जाए और स्वागत किया जाए तथा जिसके प्रति स्वभावतः आकर्षण का अनुभव किया जाए। अतः जब सुखों का उदय होता है, तब सदा उनका अनुभव होना आवश्यक है और अननुभूत जैसी कोई वस्तु नहीं हो सकती। इन्द्रिय-सुखों के अतिरिक्त, न्यायकन्दली में श्रीधर अन्य प्रकार के सुखों की चर्चा करते हैं जो अतीत की बातों को स्मरण करने से अथवा मानसिक शान्ति और सन्तोष से अथवा आत्मज्ञान से मिलते हैं। फिर भी सुखों को पूर्वजन्म के धर्म का फल माना गया है। सुख-विपरीत दुःख का लक्षण ऐसा अनुभव है जिससे हमें ग्लानि होती है और जो पूर्वजन्म के अधर्म का परिणाम है। अप्राप्त के प्राप्ति की इच्छा (अप्राप्तप्रार्थना), काम, अपने लिए (स्वार्थ) अथवा दूसरे के लिए (परार्थ) हो सकता है। ऐसी इच्छाएँ इनमें से किसी के भी द्वारा प्रेरित हो सकती हैं : इहलोक अथवा परलोक सुख की इच्छा (काम), अभिलाषा, सुखदायी विषयों के उपभोग के चालू रहने अथवा बार-बार मिलने की इच्छा, करुणा, सांसारिक भोगों के प्रति अप्रवृत्ति (वैराग्य), दूसरों को छलने का इरादा (उपधा), अर्धचेतन प्रेरक (भाव)। तथापि प्रशस्तपाद भोगेच्छा और कर्मेच्छा में अन्तर करते हैं। परन्तु वे मैत्री और दूसरों के हर्ष में हर्षित होने का अनुभव (मुदिता) के विध्यात्मक बौद्ध गुणों को सम्मिलित नहीं करते हैं और वे करुणा के केवल निषेधात्मक गुण से ही संतुष्ट हो जाते हैं। वे क्रोध, द्रोह, दबी प्रतिशोध की भावना (मन्यु), अन्यों के सद्गुणों के प्रति ईर्ष्या (अक्षमा) और अपनी हीनता की भावना से उत्पन्न विद्वेष (अमर्ष) का भी वर्णन करते हैं। परन्तु इस विशद वर्गीकरण के उपरान्त भी, प्रशस्तपाद वस्तुतः दो बड़े विभाग करते हैं : अर्थात् सुखों के प्रति राग से उत्पन्न इच्छाएँ और दुःख के प्रति विद्वेष से उत्पन्न इच्छाएँ। जितना सुख विध्यात्मक अनुभव है उतना ही दुःख भी निषेधात्मक अनुभव है और इसको सुख का अभावमात्र नहीं माना जा सकता। यह जानते हुए भी कि कार्य करने की इच्छा जैसी कोई वस्तु है, प्रशस्तपाद ने इस पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया है, कर्मों के स्रोतों के उनके वर्गीकरण का शुद्ध परिणाम यह है कि वे उनके विचार में सारी इच्छाएँ सुख के प्रति राग और दुःख के प्रति विद्वेष से प्रेरित होती है। अतः अनुभवों को ही यहाँ सारी इच्छाओं और उनके माध्यम से सारे कर्मों का मूल रूप से निर्धारक मानना चाहिए।

नैयायिकों का विचार है कि राग और विद्वेष का एक अधिक मौलिक आधार है अर्थात् मोह। इस प्रकार राग और विद्वेष को मोह पर आधारित मानने के द्वारा वात्स्यायन प्रशस्तपाद के मनोवैज्ञानिक आधार को बौद्धिक रूप देते दृष्टिगोचर होते हैं। क्योंकि मोह का अर्थ होगा ज्ञान का अभाव, और यदि राग और द्वेष ज्ञान के अभाव के कारण हों, तो कोई यह नहीं कह सकता कि अनुभव ही अन्ततः हमारे कर्मों का निर्धारण करते हैं, क्योंकि सम्यक् ज्ञान का अभाव ही अन्ततः अनुभवों और भावनाओं के उदय का निर्धारक पाया जाता है। तथापि न्याय-मंजरी में जयन्त मोह, राग और द्वेष की गणना

हमारे प्रयत्नों के प्रेरक तीन समानान्तर दोषों के रूप में करते हैं।[1] राग के अन्तर्गत उन्होंने यौन वासनावृत्ति (काम), दूसरों के साथ हिस्सा बँटाने से जो न घटे उससे अलग न होने की वृत्ति (मत्सर), ईर्ष्या (स्पृहा), पुनः पुनः जन्म की प्रवृत्ति (तृष्णा) और निषिद्ध पदार्थों को ग्रहण करने की वृत्ति (लोभ) की गणना की है। द्वेष के अन्तर्गत उन्होंने शारीरिक दशाओं के संतापक क्रोध का भावावेश में फूट पड़ना, ईर्ष्या, दूसरों के सद्गुणों से जलन (असूया), दूसरों को क्लेश पहुँचाना (द्रोह) और छिपे हुए द्वेष (मन्यु) की गणना की है। मोह के अन्तर्गत उन्होंने मिथ्याज्ञान, अनिश्चयजनित दुविधा (विचिकित्सा), मिथ्या महत्ता के भाव (मद) और निर्णय की त्रुटियों (प्रमाद) की गणना की है। परन्तु उनका आगे कथन है कि राग, द्वेष और मोह इन तीन दोषों में से मोह सबसे बुरा है क्योंकि अन्य दो इससे ही उत्पन्न होते हैं। केवल मोहयुक्त पुरुष ही राग और द्वेष के वशीभूत होते हैं। उस दशा में मोह को स्वयं एक दोष न मानकर अन्य दो दोषों का स्रोत मानने की इस आपत्ति का जयन्त यह उत्तर देते हैं कि यद्यपि यह अन्य दो दोषों का स्रोत है, फिर भी यह स्वयं भी मनुष्यों को कर्म के लिए प्रेरित करता है और इस हेतु से स्वयं उनको एक दोष मानना चाहिए। निःसन्देह यह सत्य है कि सब दोषों का कारण मिथ्याज्ञान और यथार्थ ज्ञान से वे दोष नष्ट हो जाते हैं, फिर भी दोषों को मिथ्याज्ञान का केवल एक प्रकार मानना गलत होगा क्योंकि मनोवैज्ञानिक रूप में तीनों दोषों को तीन भिन्न-भिन्न लक्षणों से युक्त ग्रहण किया जाता है। राग अथवा द्वेष की अनुभूति को मोहजनित स्वीकार करते हुए भी जयन्त उन्हें मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इतना महत्त्वपूर्ण मानते हैं कि उनको कर्म का स्वतंत्र स्रोत माना जाता है। इस प्रकार जहाँ वे राग अथवा द्वेष को मोहजनित मानने में वात्स्यायन से नाममात्र को सहमत थे, वहाँ उन्होंने उनके स्वतंत्र मनोवैज्ञानिक महत्त्व को अनुभव किया और उन्हें हमारे कर्मों के प्रेरक समानान्तर दोषों के रूप में माना।

पतंजलि हमारे समस्त कर्मों को 'क्लिष्ट' और 'अक्लिष्ट' दो वर्गों में विभक्त करते हैं। 'अक्लिष्ट' कर्म हमारी मोक्षाभिमुख सहज प्रवृत्ति द्वारा प्रेरित होते हैं जबकि 'क्लिष्ट' कर्म अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश द्वारा प्रेरित होते हैं। अन्तिम चार के अनुभूति-स्वरूप भी उन्हें अविद्या के वृद्धि और विकास की वृत्तियाँ मात्र माना गया है। सांख्य दर्शन की यह विलक्षण विशेषता है कि उसमें विचारों और अनुभूतियों को अभ्यान्तर रूप में पृथक्-पृथक् नहीं माना गया है, क्योंकि गुण विचारों और अनुभूतियों के उपादान हैं। जो एक दृष्टि से विचार है वही दूसरी दृष्टि से अनुभूति है। इसी कारण से मिथ्याज्ञान को अस्मिता, राग और द्वेष की अनुभूतियों का रूप धारण किया हुआ माना गया और उसी पदार्थ से निर्मित माना जा सका जिससे मिथ्याज्ञान निर्मित है। न्याय-मनोविज्ञान में विचारों और अनुभूतियों को आभ्यन्तर रूप में पृथक् माना गया है, इसलिए इस तथ्य में सामंजस्य स्थापित करने में कठिनाई अनुभव की गई कि जहाँ मोह को राग और द्वेष की अनुभूति का कारण माना जा सकता है वहाँ राग-द्वेष की अनुभूति को और मोह को एक ही नहीं माना जा सकता। अतः जयन्त जहाँ राग और द्वेष को मोहमूलक मानते हैं वहाँ उनको सत्तामूलक दृष्टि से हमारे कर्मों को मनोवैज्ञानिक रूप में निर्धारण करने वाले

---

1 तेषां दोषाणां त्रयो राशयो भवन्ति रागो द्वेषो मोह इति।

—न्यायमंजरी, पृ॰ 500।

समानान्तर कारण मानते हैं। सांख्य-योग तत्त्वज्ञान में इस कठिनाई को दूर किया जा सका, क्योंकि उस शाखा में विचारों को अनुभूत-विषयों द्वारा ही निर्मित मानने के कारण, अनुभूतियों को विचारों से पृथक् नहीं माना गया है, इसलिए अविद्या को भी पूर्ण रूप से बौद्धिक तत्त्व मानना आवश्यक नहीं है क्योंकि यह स्वय भी अनुभूति-विषय गुणों का फल है।

भारतीय चिन्तन की अन्य धाराओं के कर्म-स्रोतों का यहाँ विस्तार से वर्णन करना आवश्यक नहीं है। जो कुछ पहले कहा जा चुका है उससे यह प्रकट होगा कि भारतीय दर्शन की अधिकांश शाखाएँ मिथ्याज्ञान को राग, द्वेष और आत्मरति की अनुभूतियों के माध्यम से हमारे समस्त सांसारिक कर्मों का मूल मानती हैं। अपने को सामान्यतः मिथ्या-ज्ञान के दुष्प्रभावों के वशीभूत और अधर्म और क्लेश की ओर पतनोन्मुख मानने वाली अधिकांश भारतीय विचारधारा में समवायी रूप में एक नैराश्यवाद विद्यमान है। उसका यह भी मत है कि समस्त राग हमें वासनाओं के बन्धन और दासता में डाल देते हैं, और इस कारण मोक्ष मार्ग से दूर हटा देते हैं। कर्मों का अच्छा और बुरा होना उनके मोक्ष-कारक अथवा बन्धनकारक होने के आधार पर निर्धारित किया जाता है। उनकी प्रभावो-त्पादकता परमार्थ की अलौकिक अनुभूति और पुनर्जन्म के निरोध अथवा सत्य के स्वरूप की निष्प्रभता और पुनर्जन्म के दुःखों के प्रकटीकरण की उपलब्धि में है।

परन्तु चरक हमें जीवन की एक ऐसी परियोजना प्रदान करते हैं जिसमें उन्होंने हमारे समस्त कर्मों के स्रोतों को प्राणैषणा, धनैषणा और परलोकैषणा के तीन मूल प्रयोजनों अथवा दैहिक मूल प्रवृत्तियों से उत्पन्न बताया है। उनके अनुसार सक्षेप में इन तीनों मूलभूत इच्छाओं में हमारे कर्मों के समस्त स्रोतों का समावेश हो जाता है। इस दृष्टिकोण में इच्छा-भाव अथवा ज्ञान की अपेक्षा अधिक मूलभूत प्रतीत होती है। चरक इस प्राचीन और पुराने ढर्रे के विचार से प्रारम्भ करते प्रतीत नहीं होते कि मिथ्याज्ञान जगद् का आदि स्रोत है। उनकी परियोजना एक ऐसे सुसंतुलित जीवन की परियोजना है जिसका इन तीन मूलभूत इच्छाओं के समरूप कार्यों के द्वारा मार्गदर्शन होता है और पूर्ण प्रज्ञा एवं निर्दोष अवधारणा द्वारा निर्देशन होता है। इन इच्छाओं की समरूपता भंग करने वाले 'प्रज्ञापराध' के कारण जीवन में दोषों और दुष्कर्मों का प्रवेश होता है। समस्त प्रकार के अधर्मों को राग-द्वेष से नहीं अपितु 'प्रज्ञापराध' अथवा मूढता से उत्पन्न बताया गया है। इस 'प्रज्ञापराध' की तुलना न्याय अथवा योग के 'मोह' अथवा 'अविद्या' से की जा सकती है। परन्तु जहाँ न्याय और योग में इस 'मोह' अथवा 'अविद्या' का उल्लेख हमारी मन:संरचना में अन्तर्निहित मौलिक दोष के और रचनाकारक तत्त्व के रूप में इसके व्यापारों के निर्धारक के रूप में किया गया है, वहाँ चरक के 'प्रज्ञापराध' का निर्माण किसी तात्त्विक स्थिति को ग्रहण करने के लिए किया गया है; परन्तु वह निर्णय की व्यक्तिगत त्रुटियों में ही केवल प्रकट होता है।

तथापि, चरक ने अपने काल में प्रचलित आचार-शास्त्रसम्बन्धी और दर्शनशास्त्र-सम्बन्धी मतों के साथ संघर्ष मोल लेने का साहस नहीं किया और हम देखते हैं कि शारीर-स्थान के अध्याय 1 में उन्होंने परम्परागत मतों को पर्याप्त मात्रा में स्वीकार किया है।

उनका कथन है कि 'भूतात्मा' अथवा 'संयोग-पुरुष' ही सुख-दुःखों का अनुभव करता है और व्याधियों से उत्पन्न समस्त भौतिक क्लेशों के निवारण के लिए वैद्य के कर्त्तव्य के सम्बन्ध में उनका कथन है कि उपादान (उपधा) के निवारण के द्वारा वेदना की स्थायी नैष्ठिकी (निवारण) में ही समस्त वेदना की परम-चिकित्सा निहित है।[1] उसमें उन्होंने कहा है कि उपादान (उपधा) स्वयं दुःखमय है और सारे दुःखों का आश्रय है। सारी उपधा वृत्तियों के हनन द्वारा सारे दुःखों का नाश किया जा सकता है। जिस प्रकार रेशम का कीड़ा अपने रेशम के धागे को अपने नाश के लिए बुनता है उसी प्रकार अज्ञ आतुर मनुष्य विषयों से इच्छा और तृष्णा का उपादान ग्रहण करता है। जब वह सब विषयों को अग्नि मानकर उनसे हट जाता है, तब ही वह बुद्धिमान् है। कर्मों से विरत (अनारंभ) होने और विषयों से असंयोग होने पर दुःखों से और अधिक पीड़ित होने का भय नहीं रहता। पुनः अनित्य वस्तुओं को नित्य मानने की गलत धारणा (बुद्धि-विभ्रंश), अवांछनीय मार्गों से मन को रोकने से शक्ति का अभाव (धृति-विभ्रंश), सम्यक्-ज्ञान के स्वरूप की विस्मृति (स्मृति-विभ्रंश) और अस्वास्थ्यकर मार्गों का ग्रहण (असात्म्य-अर्थागम), इन चार कारणों से दुःखों का होना कहा गया है। यहाँ 'प्रज्ञापराध' का लक्षण उस गलत कर्म को बताया गया है जो बुद्धि के संभ्रम, अधृति और असम्यक्ज्ञान (धीधृतिस्मृतिविभ्रंश) के कारण किया जाता है, और इसे सारे रोगों और दोषों को उद्दीप्त करने वाला (सर्वदोषप्रकोपण) माना गया है। 'प्रज्ञापराध' के अन्तर्गत गिनाए जाने योग्य कुछ अपराध ये हैं। उदीरण, गतिमान वस्तुओं का निग्रह, वस्तुओं के कार्य करने के काल का अतिपात, कर्मों का मिथ्या-रंभ लोकाचार के अनुसार आचरण न करना, विनयाचार का लोप, पूज्यों का अभिघर्षण, अकाल और अदेश में संचरण, ज्ञात अहित अर्थों का सेवन, चरक संहिता 1. 1. 6 में वर्णित सद्वृत्त का वर्जन, ईर्ष्या, मान, भय, क्रोध, लोभ, मोह, मद और भ्रम की वासनाएँ, इनके द्वारा प्रेरित समस्त कर्म, और अन्य सब कुछ जो मोह और रज द्वारा प्रेरित हो। 'प्रज्ञापराध' की आगे परिभाषा असम्यक् ज्ञान अथवा सदोष निर्णय से उत्पन्न निर्णय की त्रुटि (विषम-विज्ञान) और अशुद्ध प्रवृत्ति (विपम-प्रवर्तन) के रूप में की गई है। इस प्रकार यह प्रकट होगा कि प्रज्ञापराध को सब प्रकार के नैतिक पतन, अस्वस्थ और अनारोग्यकर स्वभावों और सब प्रकार के आकस्मिक आघातों का कारण मानकर निर्णय की त्रुटि अथवा असम्यक् बुद्धि प्रयोग के विस्तृत अर्थ में ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि चरक ने आत्मा की सत्ता और पुनर्जन्म को स्वीकार किया है और क्योंकि धर्म और अधर्म को सारे मानव सुखों और दुःखों का, भूमि की सारी उत्पादकता तथा अनुत्पादकता का और जल-वायु और ऋतुओं की आरोग्यकारी अथवा अनारोग्यकारी दशाओं का कारण माना है, इसलिए उन्हें अधर्मकारी और पापकारी कारणों को प्रज्ञापराध में सम्मिलित करना पड़ा। सब दुःखों के कारण हैं, प्रथम; बुद्धि-विभ्रंश, द्वितीय, धृति-विभ्रंश और तृतीय, स्मृतिभ्रंश,

---

1 चक्रपाणि ने 'उपधा' का अर्थ 'तृष्णा' किया है, परन्तु मुझे इसका बौद्ध 'उपादान' के अर्थ में अर्थ करना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

—चरक 4. 1. 93 पर चक्रपाणि की टीका।

जिनके कारण अतीत के ज्ञान और सम्यक् अनुभव प्रतिफलित नहीं हो सकते। इस प्रकार प्रज्ञापराध में दर्शनशास्त्र के 'मोह' अथवा असम्यक् ज्ञान को सम्मिलित करने के द्वारा दर्शन की परम्परागत शाखाओं के साथ चरक के मतैक्य स्थापित करने पर भी और दर्शन-शास्त्र के 'मोह' को उसके द्वारा पापों का कारण मान लेने पर भी वे 'प्रज्ञापराध' को अति विस्तृत अर्थ में ग्रहण करते हैं जो सब प्रकार के स्वास्थ्य के नियमों, सामाजिक नियमों और परिपाटियों के अतिक्रमण का, दुःसाहसपूर्ण कार्यों का और अन्य सब अविवेकी और अनुचित कर्मों का कारण है। अतः यद्यपि प्रज्ञापराध में पारम्परिक दर्शनशास्त्र का दार्शनिक 'मोह' सम्मिलित है, फिर भी प्रज्ञापराध उससे कुछ अधिक है और उसको 'निर्णय की त्रुटि' के अधिक विस्तृत अर्थ में ग्रहण करना चाहिए। निःसन्देह चरक ईर्ष्या, मान, क्रोध, लोभ, मोह आदि को अशुभ कर्म का उत्पादक मानते हैं, परन्तु वे इनके अतिरिक्त अन्य कई कारणों को भी स्वीकार करते हैं। परन्तु शब्द के विस्तृत अर्थ में ग्रहण करने पर इन सब सहायक कारणों का एक परम कारण 'प्रज्ञापराध' है। अतः यह मानना गलत नहीं होगा कि चरक के अनुसार सब सम्यक् कर्म प्राणैषणा, धनैषणा और परलोकैषणा, इन तीन एषणाओं की प्रेरणा से किए जाते हैं। परन्तु सारे अनुचित कार्य असम्यक् ज्ञान, बुद्धिभ्रंश और प्रज्ञापराध द्वारा होते हैं। इस प्रकार, प्रज्ञापराध से असंयुक्त तीन मूल एषणाओं को सारे सम्यक् कर्मों का मूल कारण माना जा सकता है। अतः जबतक मूल एषणाओं को असम्यक् मार्ग पर डालने के लिए 'प्रज्ञापराध' का अभाव है, तबतक उन मूल एषणाओं को कार्य के लिए खुला छोड़ देने में कोई हानि नहीं है। राग और द्वेष के भावों को कर्म के स्रोत मानने के अन्य दर्शनशास्त्रों के मत से चरक सहमत नहीं प्रतीत होते हैं। कर्म तीन मूल एषणाओं की सामान्य कर्मशील प्रवृत्तियों से प्रेरित होते हैं, और जब हमारी शक्तियाँ बुद्धिहीनता के कारण गलत मार्ग की ओर उन्मुख हो जाती है, तो वे कर्म अशुभ हो जाते हैं। यद्यपि चरक को भारतीय दर्शन के इस मान्य दृष्टिकोण से मेल बैठाना पड़ा कि समस्त दुःखों का अन्त समस्त कर्मों के अन्त से होता है, फिर भी ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि जिस प्रकार के आचरण को उन्होंने मान्यता दी है वह प्रज्ञापराधरहित मूलएषणाओं के सामान्य प्रयोग के आचरण में निहित है। इस प्रकार चरक न तो इच्छाओं, राग, भावों और सब प्रकार के कर्मों के त्याग का उपदेश करते हैं और न ही वे अनासक्त रूप में कर्म करने के गीता के आदर्श का ही पक्ष-प्रतिपादन करते हैं। उनका आदर्श एक ऐसे प्रकार से मनुष्य-जीवनयापन करने का आदर्श है जो आरोग्य, दीर्घायुष्य और सम्यक् उपभोगों को प्राप्त कराने वाला हो। हमारी एकमात्र चिन्ता यह होनी चाहिए कि हम खाने, पीने और जीवन के अन्य कर्मों में ऐसी कोई गलती न करें जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से (अधर्म के उत्पादन द्वारा) व्याधियों और दुःखों को जन्म दे अथवा हमारे जीवन और सुख को किसी प्रकार से संकटापन्न कर दे। चरक की आचारसंबंधी स्थिति का यह अद्वितीय स्वरूप चरक द्वारा विशद रूप में प्रतिपादित आचार संहिता, सद्गुणों और सद् जीवनयापन की विधियाँ है। निःसन्देह वे संन्यास के आदर्श के साथ ऊपरी सहानुभूति दिखलाते हैं, परन्तु उनकी वास्तविक सहानुभूति जीवन की उस सामान्य परियोजना के साथ प्रतीत होती है, जिसमें इच्छाओं के सामान्य उपभोग और उनके फल भी सम्मिलित हैं। सामान्य जीवन धार्मिक जीवन भी होना चाहिए, क्योंकि अधर्म और पाप इहलोक और परलोक में दुःख, क्लेश और व्याधियों के कारण हैं।

चरक में हितायु

प्रारम्भ में ही यह बता देना उचित है कि चरक के अनुसार हितायु का अर्थ न केवल नैतिक रूप से धार्मिक आयु है अपितु एक ऐसी आयु जो व्याधियों से मुक्त हो और जो इस प्रकार व्यतीत की जाए कि वह सामान्य मान को प्राप्त हो। इस प्रकार नैतिक आयु का अर्थ प्रज्ञापराध-दोष से मुक्त आयु है। इसका अर्थ बुद्धिमान् और विवेकशील आयु है, क्योंकि वुद्धि और विवेक का अभाव ही समस्त भौतिक, सामाजिक, दैहिक, नैतिक और आध्यात्मिक दोषों का कारण है। सज्जन होने के लिए किसी का नैतिक धर्मों का पालन करना ही पर्याप्त नहीं, उसको भौतिक, दैहिक और सामाजिक धर्मों का भी पालन करना चाहिए। उसे रोग और दु:खों से मुक्त तथा किसी भी प्रकार के अपयशों से हीन, स्वस्थ और दीर्घायु होने का प्रयत्न करना चाहिए। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि भौतिक जीवन के मानसिक और नैतिक जीवन से बलात् पृथक्करण में चरक का विश्वास नहीं है। आधिभौतिक व्याधियाँ औषधि-सेवन से शान्त होती हैं, जबकि आध्यात्मिक व्याधियाँ वस्तुओं के यथार्थ और सम्यक् ज्ञान, आत्मसंयम और ध्यान द्वारा शान्त होती हैं। शरीर और मन का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध प्राचीन काल से सुविदित था, और महाभारत (12. 16) का भी कथन है कि शरीर से आध्यात्मिक और मन से आधिभौतिक व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। चरक का मत है कि वैद्य को न केवल शारीरिक व्याधियों को अपितु मानसिक व्याधियों को भी शान्त करना चाहिए। उसी अध्याय में महाभारत का आगे कथन है कि शरीर में तीन प्रकार के तत्त्व ऊष्मा, शीत और वायु होते हैं, जब वे साम्यावस्था में होते हैं तो शरीर स्वस्थ रहता है और जब उनमें से कोई एक प्रबल हो जाता है तो रोग होता है। मन सत्त्व, रजस् और तमस् से बना है, जब वे साम्यावस्था में हों तो मन स्वस्थ रहता है और इनमें मे कोई जब प्रबल हो जाता है तो वह अस्वस्थ हो जाता है। तथापि चरक का विचार है कि केवल रजस् और तमस् के प्रबल होने पर ही मन अस्वस्थ हो जाता है। परन्तु ये मतभेद चाहे जैसे हों, यह स्पष्ट है कि, चरक जीवन के विषय में कथन करते समय मन और शरीर दोनों को सम्मिलित रूप से ग्रहण करते हैं, और दोनों का हित ही वैद्य की चिन्ता का मुख्य विषय है। चरक के ये विधि, आदेश और निषेध मन और शरीर के इस द्विविध हित पर ही आधारित हैं जिनको लक्ष्य में रखना चाहिए।

कुछ शारीरिक वेगों को धारण करने के प्रयत्न की हानियों का वर्णन करने के पश्चात् वे कुछ अन्य मानसिक और शारीरिक आवेगों को धारण करने का उपदेश देते हैं। इस प्रकार वे सब पुरुषों को मन, वाक् और कर्मों के अंधाधुन्ध साहसिक वेगों में प्रवृत्त होने का निषेध करते हैं। मनुष्य को लोभ, शोक. भय, क्रोध, मान, निर्लज्जता, ईर्ष्या, अतिराग अनुध्यान के अपने वेगों का निर्धारण करना चाहिए। उसको परुष वचन, अति-वचन, निन्दात्मक वचन, अनृतवचन, निरर्थक वचन और अप्रासंगिक वचन नहीं बोलना चाहिए। परपीड़न की उसकी देह-प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए, उसको अबाध स्त्री-भोग नहीं करना चाहिए और चोरी नहीं करनी चाहिए। जीवहिंसा को पाप माना गया है और उससे मनुष्य के दीर्घायुष्य पर प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार अहिंसा को आयुष्य-वृद्धि का सर्वोत्तम

साधन माना जाता है (अहिंसा प्राणवर्धनानाम्)। जो मनुष्य जीवन के उपर्युक्त सम्यक् मार्ग का अनुसरण करता है वही धार्मिक है, वह धन का उपभोग करता है, अपनी इच्छाओं की पूर्ति करता है, हितायु के धर्मों का पालन करता है और सुखी होता है। नैतिक कार्यों के उचित और सुनियन्त्रित अभ्यास के साथ-साथ चरक लोगों को सुनियंत्रित व्यायाम का भी उपदेश करते हैं। सामर्थ्यानुसार किया हुआ व्यायाम लाघव, कर्मसामर्थ्य, स्थैर्य और दुःख-सहिष्णुता प्रदान करता है। अविवेकपूर्ण कार्यों से बचना और प्रज्ञापराध का त्याग, इन्द्रियोपशय, स्मृति, देशकाल और आत्मा का उचित ज्ञान और सद्वृत्त आगन्तुक मानसिक एवं शारीरिक व्याधियों को रोकते हैं, क्योंकि ये ही हितायु के मुख्य तत्त्व हैं और प्रज्ञावान् मनुष्य सदा आत्महित की बात करता है। चरक आगे यह उपदेश करते हैं कि मनुष्य को पापपूर्ण वृत्त, वचन और मन वाले, अथवा कलहप्रिय, लोभी, परवृद्धि के द्वेषी, शठ, मर्मोपहासी अथवा परापवाद में लीन अथवा शत्रु से सम्बन्ध रखने वाले मनुष्यों का संग नहीं करना चाहिए। परन्तु मनुष्य को सदा बुद्धि, विद्या, हृदय, शील, धैर्य, समाधि से युक्त, वृद्धोपसेवी, स्वभावज्ञ और व्यथाहीन, सन्मार्ग के वक्ता, सर्वभूतों के हित करने वाले, शंसितव्रत, प्रशान्त और आत्मसंतोषी पुरुषों की संगति करनी चाहिए। मनुष्यों को एक ओर तो इन साधनों से अपने नैतिक जीवन को विश्रृंखल करने वाले आगन्तुक मानसिक क्लेशों से अपनी रक्षा करने का प्रयत्न करना चाहिए और दूसरी ओर यथाकाल योग्य आहार के ग्रहण द्वारा अपने शारीरिक हित-साधन का तथा भौतिक हितों के अन्य कार्यों के सम्पादन का प्रयत्न करना चाहिए।[1]

सद्वृत्त के नियमों का चरक ने इस प्रकार से विस्तार में वर्णन किया है।[2] मनुष्य, देवता, गौ, ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध, सिद्ध और आचार्यों की पूजा करे, प्रशस्त औषधियों को धारण करे, दोनों समय स्नान करे और शरीर के समस्त छिद्रों को और पैरों को विमल करे और केश, दाढ़ी तथा नखों को एक पक्ष में तीन बार काटे। वह साधुवेश हो, अपने सिर, कान, नाक और पैरों में सदा तेल लगाए, अपना केश प्रसाधन करे, सुगंधि धारण करे और धूम्रपान करे (धूमपा)। वह सुमुख हो, दूसरों के कष्ट में सहायता करे, हवन करे, दान करे प्रसन्नता से, सुन्दरता से और परहित के लिए बोले (पूर्वाभिभाषी हो), वश्यात्मा हो और धर्मात्मा हो। वह दूसरों की समृद्धि के प्रति अपने सत्स्वभाव रूप में तथा वैयक्तिक समृद्धि के अन्य हेतुओं के प्रति स्पर्धा करे (हेत्वीर्ष्यु), परन्तु किसी मनुष्य की समृद्धि अथवा सम्पत्ति के रूप में इनके फल के प्रति ईर्ष्यालु न हो (फले नेर्ष्यु)। वह निश्चित, निर्भीक, धीमान्, ह्रीमान्, महोत्साही, दक्ष, क्षमावान्, धार्मिक और आस्तिक हो। वह छत्र, दण्ड, उष्णीष और जूता धारण करे और चलते समय चार हाथ जमीन अपने आगे देखे, वह अपवित्र, अस्वच्छ और मलिन स्थानों से बचे, क्रुद्धों को शान्त करने का यत्न करे, भयत्रस्तों का भय दूर करे, दीनों की सहायता करे, सत्य-सन्ध हो, परुषवचनसहिष्णु हो, आत्मवान् होवे, राग और द्वेष के कारणों का निवारण करे और सब प्राणियों का मित्र

---

1 देखिए—चरक संहिता I. 7।

2 वही, I. 8।

हों। पुनः, मनुष्य अनृत भाषण नहीं करे अथवा परस्व का ग्रहण न करे। पराई स्त्री की अभिलाषा न करे अथवा दूसरे के धन से ईर्ष्या न करे, अन्यों के साथ वैर की इच्छा न करे, पाप न करे, अथवा पापी के प्रति भी पापी न होवे, अथवा दूसरों के दोषों का वर्णन न करे, अधार्मिकों अथवा राजद्वेषियों अथवा उन्मत्त, पतित, क्षुद्र, दुष्ट अथवा भ्रूणहन्ताओं की संगति न करे। कोई दुष्ट यान की सवारी न करे, कठिन अथवा आच्छादन तथा तकिए रहित बिस्तर का सेवन न करे, विषम पर्वतों पर अथवा वृक्षों का आरोहण न करे, अथवा अतिवेगवान् चढ़ी हुई नदी में स्नान न करे, ऐसे स्थानों में विचरण न करे जहाँ आग लग रही हो, जोर से न हँसे अथवा असंवृत मुख होकर न तो जम्हाई ले और न हँसे और न दांतों को कुरेदे। पुनः, बहुजन द्वारा प्रतिपादित धर्मों का और सामान्यतः अन्य धर्मों का अतिक्रमण न करे, असेव्य स्थानों में रात्रि में विचरण न करे, अथवा बाल, वृद्ध अथवा लोभी पुरुषों के साथ मित्रता न करे, अथवा द्यूत, वेश्या में रुचि न रखे, गुह्य विषयों को प्रकट न करे, किसी की अवज्ञा न करे, अहम्मन्य अथवा आत्मश्लाघी न हो; वृद्ध, गुरु, राजा और जन-समुदाय की निन्दा न करे, अथवा अति भाषण न करे; मनुष्य बान्धव, अनुरक्त और गुह्यज्ञ-जनों का बहिष्कार न करे। कार्यकाल का अतिपात न करे, किसी अपरीक्षित काम को हाथ में न ले अथवा दीर्घसूत्री भी न हो अथवा क्रोध और हर्ष का वशानुगामी न हो, मनुष्य कठिनाइयों में शोकग्रस्त न हो, सिद्धि में अतिप्रसन्न न हो अथवा असिद्धि में दैन्य को प्राप्त न हो, ब्रह्मचर्य का अभ्यास करे ज्ञानी होने का प्रयत्न करे, दान करे, सबके प्रति मैत्री और कारुण्य से युक्त रहे और सदा सन्तोषी हो। यहाँ पर उन समस्त गुणों की गणना चालू रखना आवश्यक है, जिनका सामान्यतः हितायु के आवश्यक तत्त्वों में समावेश होता है। इसमें चरक पूर्णतः एक नए मार्ग का प्रणयन करते प्रतीत होते हैं और भारतीय विचार की अन्य किसी शाखा में हम विभिन्न प्रकार के सब गुणों का ऐसा संग्रह कहीं नहीं देख पाते हैं जो न केवल धार्मिक जीवन के लिए ही आवश्यक है अपितु नागरिक के स्वस्थ और सफल जीवन के लिए भी आवश्यक है।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि किसी भी क्षेत्र में किया गया प्रज्ञापराध सारे अधर्मों और क्लेशों का मूल कारण है और चरक इसका प्रदर्शन जीवन के सारे विविध क्षेत्रों और विषयों में योग्य व्यवहारों की सद्वृत्त की सूची में गणना करके करते हैं। चरक के लिए आयु की धारणा नैतिक अथवा अनैतिक नहीं है अपितु हित अथवा अहित है। निस्सन्देह यह सत्य है कि चरक संहिता में इधर-उधर ऐसे छुटपुट वर्णन दृष्टिगोचर होते हैं, जिनमें सब दुःखों की शान्ति को आयु का परमार्थ माना गया है, परन्तु यह स्पष्ट है कि चरक का विषय के प्रति मुख्य दृष्टिकोण अतिस्पष्ट रूप से यह प्रदर्शित करता है कि यद्यपि नैतिक गुणों की सदा अत्यधिक प्रशंसा की गई है फिर भी अनैतिक गुणों, यथा अपने शरीर के हितसाधन के प्रति सावधान रहने अथवा सामाजिक आचरण संबंधी नियमों का पालन करने अथवा विवेकशील नैतिक व्यवहार, को भी हितायु के स्थिर रखने के लिए समान रूप से आवश्यक माना गया है। अतिक्रमण और अधर्म मानसिक चिन्ताओं, क्लेशों तथा अनेक मानसिक और शारीरिक व्याधियों के कारण हैं, अतः मनुष्य को जागरूक रहना चाहिए कि उनका उसके जीवन में प्रवेश न हो, और यह कहा गया है कि प्रबल अधार्मिक कर्मों से उत्पन्न व्याधियों को औषधि-प्रयोग आदि के सामान्य साधनों द्वारा तब

तक शान्त नहीं किया जा सकता जबतक कि वे अपने दुःख-भोग के उचित काल के साथ स्वयं ही शान्त नहीं हो जाएँ। परन्तु अधर्म और अतिक्रमण ही केवल हमारी इच्छाओं, आकस्मिक घटनाओं और अन्य घरेलू, सामाजिक और राजनैतिक विपत्तियों के कारण नहीं हैं। जिस प्रकार हमारे अन्य अधर्म और अनैतिक कर्म प्रज्ञापराधजनित हैं, उसी प्रकार प्रज्ञापराधजनित हमारे अविवेकपूर्ण व्यवहार और आचरण से ही हमारे समस्त शारीरिक और मानसिक क्लेश हमें प्राप्त होते हैं। प्रत्येक मनुष्य की आदर्श हितायु शान्ति, सन्तोष और सुख से युक्त तथा सब प्रकार की इच्छाओं और क्लेशों से मुक्त आयु है। यह विवेकपूर्ण और सुसंतुलित-निर्णय की आयु है जिसमें प्रत्येक कर्म उसके भावी परिणाम को ध्यान में रख कर किया जाता है और जिसमें दुःखकारी और क्लेशकारक सब चीजों को सावधानी से दूर रखा जाता है। केवल ऐसी आयु अच्छी कही जा सकती है और आदर्श माना जा सकता है। जो प्रत्येक दृष्टि से अच्छी हो ऐसी नैतिक अथवा धार्मिक आयुमात्र हमारा आदर्श नहीं है। कोई भी अतिक्रमण चाहे वह स्वास्थ्य के नियमों का हो, शिष्ट समाज का हो या अच्छी नागरिकता के नियमों का हो अथवा विवेक या प्रज्ञा द्वारा निर्दिष्ट बुद्धिमत्तायुक्त मार्ग से च्युत होना हो, आयु की शान्ति को भंग कर सकता है। इस प्रकार हितायु की परियोजना का अर्थ बुद्धिमत्तापूर्ण आयु है, और नैतिकता का पालन उन अनेक प्रकारों में से एक प्रकार मात्र है, जिनमें विवेक का प्रदर्शन किया जा सके।

आयुर्वेद का मुख्य विषय आयु को हित, अहित, सुखी अथवा दुःखी बनाने वाले साधन हैं। सुख-आयु उसे बताया है जो मानसिक और शारीरिक व्याधियों से अनाक्रान्त हो, यौवन तथा सम्यक् बल, वीर्य, पौरुष, पराक्रम से युक्त, ज्ञान विज्ञान और इन्द्रिय बल से युक्त हो—समस्त इन्द्रियार्थ-भोगों से युक्त हो और जिसमें सब समारम्भ सफल हो। इसका विपर्यय दुःखी-आयु है। इस प्रकार सुखी-आयु वह आयु है जो सुखयुक्त और भोगने योग्य हो तथा हमें संतोष प्रदान करे। सुखी-आयु हमारे सद्वृत्त द्वारा निर्मित और विकसित आयु है। एक प्रकार से हितायु ही सुखी आयु का निर्माण करती है। हितायु के चाहने वालों को परस्व-ग्रहण करने से बचना चाहिए और सत्यवादी तथा शमपरायण होना चाहिए। वे परीक्ष्यकारी हों, वे क्षिप्रकारी न हों अथवा प्रमादवश त्रुटियाँ न करें, धर्म, अर्थ और काम में से किसी एक को अनुचित महत्ता प्रदान न करके त्रिवर्ग का उपसेवन करें, पूजार्हों की पूजा करें, ज्ञानी, विज्ञानी और उपशमशील हों, और राग, क्रोध, ईर्ष्या और मान के वेगों को सुनियत करें, सदा दानशील हों, तपोयुक्त जीवन यापन करें, और ज्ञान, प्रशम और अध्यात्म ज्ञान (अध्यात्मविदः) को प्राप्त करें और अतीत के अनुभवों की शिक्षाओं को स्मरण रखते हुए इस प्रकार से जीवनयापन करें कि इहलोक के वर्तमान जीवन और परलोक के जीवन दोनों के हित का सावधानी से एवं निश्चयपूर्वक हित साधन हो।[1] अत्र यह स्पष्ट हो जाता है कि चरक के अनुसार हितायु का आदर्श उन विभिन्न दर्शनशास्त्रों के समान नहीं है जिन्हें पारिभाषिक रूप से मोक्ष-शास्त्र कहा जाता है। हितायु का मूलभूत भाव यह है कि आयु इस प्रकार नियमबद्ध हो कि शरीर और मन व्याधिमुक्त रहे, कि यह प्रमादवश भय के अनावश्यक संकटों में न पड़े, कि यह धार्मिक,

1 चरक संहिता 1. 30. 22।

शुद्ध और नैतिक हो, कि यह विवेकयुक्त और ज्ञानयुक्त आयु हो जो विचार और कर्म में अत्यधिक सावधानी को प्रदर्शित करते हुए और अपने ही हित–जीवन, शरीर और आत्मा के अर्थों का हित–में सतत प्रवृत्त होकर, शिष्ट समाज के और अच्छे तथा निष्ठावान् नागरिक के धर्मों का पालन करे।

आयुर्वेद-साहित्य

भारतीय चिकित्सा का व्यवस्थित विकास प्रधानतः मार्गों पर अग्रसर हुआ अर्थात् एक सुश्रुत के मार्ग पर और दूसरा चरक के मार्ग पर। सुश्रुत की महान् कृति 'सुश्रुत संहिता' में यह कहा गया है कि मानव प्राणियों के सर्जन से पहले ही एक सहस्त्र अध्यायों में विभक्त एक लाख श्लोक वाले आयुर्वेद की रचना ही मूलतः ब्रह्मा ने की, और बाद में मनुष्य के अल्पायुत्व और हीनबुद्धित्व का ध्यान करके उन्होंने इसको शल्य शालाक्य आदि उन आठ भागों में विभक्त कर दिया जिनका एक पूर्व विभाग में संकेत किया जा चुका है। परन्तु यह अधिकांशतः पौराणिक प्रतीत होता है। इसी प्रसंग में सुश्रुत संहिता 1.1 में यह और कहा गया है कि औपधेनव, वैतरण, औरभ्र, पौष्कलावत, करवीर्य, गोपरक्षित, सुश्रुत और अन्य ऋषि धन्वन्तरि अथवा काशी नरेश दियोदास के पास चिकित्सासम्बन्धी उपदेश के लिए उपस्थित हुए। अतः सुश्रुत संहिता धन्वन्तरि-शाखा की संहिता कहलाती है। यद्यपि बाद में नागार्जुन ने इसका संशोधन किया था, फिर भी सुश्रुत स्वयं एक प्राचीन लेखक हैं। जातकों के अध्ययन से प्रकट होता है कि जीवक के अध्यापक, महाभिषक् आत्रेय, बुद्ध से कुछ ही पहले तक्षशिला में निवास करते थे।[1] एक पूर्ववर्त्ती विभाग में यह कहा जा चुका है कि अस्थिगणना में सुश्रुत को अस्थिविज्ञान की आत्रेय प्रणाली का ज्ञान था। हर्नले ने अपने 'अस्थिविज्ञान' के अनुच्छेद 42, 56, 60 और 61 में यह और प्रदर्शित किया गया है कि कम से कम छठी शती ई० पू० जितने प्राचीन ब्राह्मण में अस्थि-गणना के सौश्रुत दृष्टिकोण के ज्ञान का परिचय मिलता है। हर्नले का अनुमान है कि सुश्रुत आत्रेय के शिष्य अग्निवेश के समकालीन अवश्य होंगे।[2] परन्तु हर्नले के मुख्य तर्क को मान लेने पर भी यह कहा जा सकता है कि सुश्रुत संहिता 3. 5. 18 के 'वेदवादिनः' पद से सुश्रुत ने आत्रेय से पूर्ववर्त्ती उन आचार्यों का संकेत किया हो, जिनसे आत्रेय ने भी अपनी सामग्री इकट्ठी की हो। तब इस दृष्टिकोण के आधार पर सुश्रुत की मृत्युकाल की निम्नतर सीमा छठी या सातवीं शती ई० पू० निश्चित होती है जो शतपथ ब्राह्मण का काल है, जबकि ऊपरी सीमा के विषय में लगभग कुछ कहीं कहा जा सकता।

परन्तु यह प्रायः निश्चित है कि आजकल जो ग्रन्थ सुश्रुत संहिता के नाम से प्रचलित है वह ठीक वही ग्रन्थ नहीं है जिसे वृद्ध सुश्रुत ने रचा था। डल्हण संभवतः ग्यारहवीं या बारहवीं शती ई० पू० में हुए; वे भी अपने 'निबन्ध-संग्रह' में कहते हैं कि

---

1 राकहिल कृत Life of the Buddha पृ० 65 और 96।

2 हर्नले कृत Medicine of Ancient India खंड 1, Osteology पृ० 7 और 8।

नागार्जुन सुश्रुत-संहिता के संशोधक थे,[1] और स्वयं सुश्रुत संहिता में भी कल्प स्थान के पश्चात् उत्तरतन्त्र (बाद की कृति) नामक एक परिशिष्ट है। फरुखनगर निवासी पं० मुरलीधर द्वारा संपादित संस्करण में प्रारम्भ में एक ऐसा श्लोक है, जिसमें कहा गया है कि लोकहित के लिए महर्षि धन्वन्तरि ने सुशिष्य सुश्रुत को जिसका उपदेश किया, वह समस्त संसार में 'सुश्रुत सहिता' नाम से प्रसिद्ध हुआ, और त्रिविध आयुर्वेद साहित्य में उसे श्रेष्ठ और उत्तम माना जाता है, और उसे नागार्जुन के अतिरिक्त किसी अन्य ने सूत्रबद्ध नहीं किया।[2] चक्रपाणि ने भी अपनी पुस्तक 'भानुमति' में एक संशोधक (प्रतिसंस्कर्तृ) का उल्लेख किया है, परन्तु उन्होंने उसके नाम का उल्लेख नहीं किया है। सुश्रुत पर गयदास कृत पंजिका, सुश्रुत-चन्द्रिका अथवा न्याय चन्द्रिका, में निदान-स्जान के तृतीय अध्याय के अष्टम श्लोक पर टिप्पणी मिलती है, जिसमें उन्होंने नागार्जुन द्वारा प्रस्तुत उस भिन्न पाठ को दिया है जो सम्बद्ध अंश में सुश्रुत के आधुनिक पाठ के समान ही है।[3] पुनः भट्ट नरहरि 'मूढगर्भ निदान' की चर्चा करते हुए 'अष्टागहृदय-संहिता' पर रचित अपनी ,वाग्भटखण्डन-मण्डन' नामक टिप्पणा में वाग्भट्ट द्वारा उद्धृत करते समय सुश्रुत के 'वस्तिमार-विपन्नायाः' (2. 8. 14) पाठ के परिवर्तितरूप 'वस्तिद्वारे विपन्नायाः' पाठ पर टिप्पणी करते हैं, और कहते हैं कि 'वस्तिद्वारे' पाठ नागार्जुन का है।[4] ग्रन्थों के अपने संशोधनों में परिशिष्ट जोड़ने के नागार्जुन के स्वभाव का प्रमाण इस तथ्य से भी मिलता है कि नागार्जुन रचित बताए जाने वाले 'योगशतक' नामक ग्रन्थ में भी इसके अन्य अध्याय काय-चिकित्सा, शालाक्यतन्त्र शल्यतन्त्र, विषतन्त्र, भूतविद्या, कौमार-तन्त्र, रसायनतन्त्र और वाजीकरण-तन्त्र के अतिरिक्त 'उत्तरतन्त्र' नामक एक परिशिष्ट और है। इससे यह अत्यधिक स्पष्ट हो जाता है कि 'सुश्रुत संहिता' नाम से जो ग्रन्थ प्रचलित है वह या तो सुश्रुत के परंपरागत उपदेशों से पूर्णतया ग्रथित किया गया था या नागार्जुन को उपलब्ध सुश्रुत के केन्द्रभूत ग्रन्थ के आधार पर नागार्जुन द्वारा पूर्णतया संशोधित एवं परिवर्धित किया गया था। परन्तु क्या नागार्जुन ही अकेला व्यक्ति था जिसने सुश्रुत-संहिता का संशोधन किया? नागार्जुन के ही इस ग्रंथ के संशोधक होने के (प्रतिसंस्कर्तापीह नागार्जुन एव) डल्हण के कथन की मुरलीधर-संस्करण के श्लोक (नागार्जुनेनैव ग्रथिता) द्वारा पुष्टि होती है, परन्तु दोनों में बल सूचक 'एव' शब्द का प्रयोग इस बात का द्योतक है कि अन्य

---

1 प्रतिसंस्कर्तापीह नागार्जुन एव। —डल्हण कृत निबंध संग्रह, 1.1.1

2 उपदिष्टा तु या सम्यग्धन्वन्तरिमहर्षिणा
सुश्रुताय सुशिष्याय लोकानां हितवांछया
सर्वत्र भुवि विख्याता नाम्ना सुश्रुतसंहिता
आयुर्वेदत्रयीमध्ये श्रेष्ठा मान्या तथोत्तमा
सा च नागार्जुनेनैव ग्रथिता ग्रंथरूपतः॥

3 नागार्जुनस्तु पठति, शर्करा सिकता मेहो भस्माख्योऽश्मरीवैकृतमिति। सन् 1915 के निर्णय सागर संस्करण में यह 2. 3. 13 है जबकि जीवानन्द के संस्करण में यह 2. 3. 8 है। और देखिए डॉ० कौर्दिये कृत Recentes Decouvertes des Mss Medicaux Sanscrits dans L'Inde पृ० 13।

4 अतएव नागार्जुनैर्वस्तिद्वार इति पठ्यते।

लेखकों द्वारा भी सुश्रुत के अन्य संस्करण अथवा संशोधन विद्यमान रहे होंगे। विभिन्न संस्करणों में पाठों, अध्याय-विभाजन और अध्यायों में पाठ-क्रमों की ऐसी अत्यधिक निराशाजनक दशा है कि इसमें कोई सन्देह नहीं रह सकता कि इस महान् कृति पर समय-समय पर कई हाथ पड़ते रहे हैं। यह सोचना भी उचित नहीं है कि सुश्रुत के परिष्करण का कार्य पूर्व-चक्रपाणि काल तक ही सीमित था। कम से कम एक ऐसा उदाहरण बताया जा सकता है जिसमें यह लगभग निश्चित रूप से प्रमाणित किया जा सकता है कि चक्र-पाणि के बाद भी सुश्रुत संहिता में नए अंश जोड़े गए थे अथवा डल्हण को ज्ञात सुश्रुत का पाठ चक्रपाणि को ज्ञात नहीं था। इस प्रकार 4.38 में मूत्र-मार्ग-शोधक मंत्र के प्रयोग का और गुदा मार्ग से औषधियों के प्रयोग (वस्तिक्रिया) का वर्णन करते समय, डल्हण द्वारा टीका कृत सुश्रुत संहिता के पाठ कई ऐसे रोचक विवरणों को प्रकट करते हैं जिनका चरक संहिता के वस्तिविषयक अध्याय (उत्तरवस्ति, सिद्धिस्थान 7) में स्पर्श तक नहीं किया गया है। चरक संहिता का यह अध्याय दृढ़बल द्वारा जोड़ा गया था जो सम्भवतः आठवीं या नवीं शती ई० प० में काश्मीर अथवा पंजाब में निवास करते थे। जब ग्यारहवीं शती में चक्रपाणि ने अपनी टीका लिखी, उस समय उन्होंने सुश्रुत संहिता में पाई जाने वाली सामग्री का कोई उल्लेख नहीं किया और न उन्होंने उसका अपने 'चक्रदत्त' नाम से विख्यात चिकित्सा-विषयक संग्रह में ही समावेश किया। चक्रपाणि अपने काल की सुश्रुत-संहिता से भलीभाँति परिचित थे क्योंकि उन्होंने स्वयं उस पर टीका की है और यह अत्यन्त असंभव सा प्रतीत होता है कि यदि वे इस पाठ में वस्तिक्रिया-विषयक किसी रोचक विवरण को पाते तो वे उसका अथर्व चिकित्सा विषयक टीका अथवा अपने निजी चिकित्सा विषयक ग्रन्थ में प्रयोग न करते। अतः यह अनुमान लगभग अपरिहार्य है कि सुश्रुत संहिता के नवीं और ग्यारहवीं शती के पाठ में अनुपलब्ध वस्तिक्रिया सबधी कई रोचक विवरणों का इसमें समावेश बारहवीं शती में किया गया था। फिर भी यह अनुमान लगाना कठिन है कि सुश्रुत संहिता के संपादक अथवा परिष्कर्त्ता कौन से नागार्जुन थे; यह अधिक संभव प्रतीत नहीं होता कि शून्यवाद के महान् आचार्य और माध्यमिककारिका के रचयिता विख्यात नागार्जुन ही वह संपादक या परिष्कर्त्ता थे, क्योंकि चीनी और तिब्बती सूत्रों से उपलब्ध इन नागार्जुन के जीवन-विवरणों में कहीं भी ऐसा संकेत नहीं मिलता कि उन्होंने सुश्रुत-संहिना का संशोधन अथवा संपादन किया था। अलबेरुनी सोमनाथ (गुजरात) के निकटवर्ती दीहक ग्राम में उत्पन्न नागार्जुन को अपने से लगभग सौ वर्ष पूर्ववर्त्ती अर्थात् नवीं शती का मध्यवर्ती बताते हैं और उनको अपने समय में अति विरल कीमियागिरी के सम्पूर्ण साहित्य के सार से युक्त, कीमियागिरी के एक उत्कृष्ट ग्रन्थ का लेखक बताते हैं। यह असंभव नहीं कि यही नागार्जुन उस 'कक्षपुटतंत्र' के रचयिता हों जिसे विभिन्न धार्मिक संप्रदायों के कीमियाई ग्रंथों से संगृहीत सामग्री से लिखा गया माना जाता है, और जिसमें अष्ट-सिद्धियों का वर्णन है। परन्तु वृन्द अपने 'सिद्धियोग' में नागार्जुनरचित एक ऐसे योग का उल्लेख करते हैं, जिसको पाटलीपुत्र के एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण बताया जाता है।[1] इस योग को चक्रपाणिदत्त, बंगसेन तथा नित्यनाथ सिद्ध ने अपने 'रसरत्नाकर' में ज्यों-का-त्यों दिया है। परन्तु क्योंकि इनमें से प्राचीनतम, वृन्द का काल आठवीं या नवीं शती माना

1 नागार्जुनेन लिखिता स्तम्भे पाटलिपुत्रके 5. 149।

जाता है और क्योंकि उनका योग एक शिलालेख से गृहीत है इसलिए यह असंभव नहीं कि इन नागार्जुन का काल उनके काल से कुछ शती पूर्व का हो।

सुश्रुत संहिता की आजकल प्रचलित टीकाओं में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण टीका डल्हण कृत 'निबन्धसंग्रह' है। डल्हण ने ई० प० 1060 कालीन चक्रपाणि का उद्धरण दिया है और स्वयं उनका उद्धरण हेमाद्रि, 1260 ई० प० ने दिया है। अतः उनका काल ग्यारहवीं और तेरहवीं शती ई० प० के मध्य का है। यह बताया जा चुका है कि चक्रपाणि और डल्हण के काल के मध्य में सुश्रुत संहिता के पाठों में पर्याप्त परिवर्तन हो चुके थे और इसमें कम-से-कम सौ वर्ष लगे होंगे। इसलिए मेरा मत है कि डल्हण बारहवीं शती के अन्त में अथवा तेरहवीं शती के प्रारम्भ में महाराज सहपालदेव की सत्ता में विद्यमान रहे होंगे। चक्रपाणि ने भी 'भानुमती' नामक 'सुश्रुत संहिता' पर टीका लिखी थी, जिसका प्रथम खण्ड कविराज गंगाप्रसाद सेन ने प्रकाशित कर दिया है। डा० कौर्दिये का कथन है कि इसकी एक सम्पूर्ण पांडुलिपि वाराणसी में विद्यमान है। निश्चलकर और श्रीकण्ठदत्त कभी-कभी चक्रपाणि कृत सुश्रुत-संहिता की टीका में से उद्धरण देते हैं। डल्हण कृत टीका 'निबन्धसंग्रह' कहलाती है जिसका अर्थ है कि ग्रन्थ अनेक टीकाओं का संग्रह है और वे स्वयं उत्तरतन्त्र के अन्त में पुष्पिका में कहते हैं कि भरतात्मज वैद्य डल्हण ने कई अन्य टीकाओं का वीक्षण करके इस ग्रन्थ की रचना की।[1] 'निबन्धसंग्रह' के प्रारम्भ में उन्होंने जैय्यट गयदास, भास्कर कृत 'पंजिका,' श्री माधव और ब्रह्मदेव का उल्लेख किया है। आगे अपने ग्रन्थ में उन्होंने चरक, हारीत, जतुकर्ण, काश्यय, कृष्णात्रेय भद्रशौनक, नागार्जुन, दोनों वाग्भट्ट, विदेह, हरिश्चन्द्र, भोज, कार्तिक-कुण्ड और अन्यों का भी वर्णन किया है। हरिश्चन्द्र चरक-संहिता के एक टीकाकार थे। फिर भी यह विलक्षण बात है कि अपनी टीका के प्रारम्भ में भास्कर और श्रीमाधव का उल्लेख करने पर भी, डल्हण ग्रन्थ के कलेवर में उनका उल्लेख नहीं करते हैं। फिर भी, हर्नले भास्कर और कार्तिक-कुण्ड को एक ही व्यक्ति मानने के लिए कटिबद्ध प्रतीत होते हैं। 'माधव निदान' के टीकाकार विजय-रक्षित और श्रीकण्ठदत्त सुश्रुत संहिता की ओर अपने संकेतों के संदर्भ में कार्तिक-कुण्ड का उल्लेख करते हैं परन्तु भास्कर का उल्लेख नहीं करते। पटना के एक शिलालेख (E. I. I. 340. 345) में कहा गया है कि महाराजा भोज ने भास्कर भट्ट को 'विद्यापति' की उपाधि प्रदान की थी। हर्नले का विचार है कि भास्कर और भास्कर भट्ट एक ही थे। हर्नले का यह भी संकेत है कि वृन्द-माधव और डल्हण द्वारा वर्णित श्रीमाधव एक ही थे। माधव ने अपने 'सिद्धयोग' में सुश्रुत के कथनों में प्रायः सुधार किया है। शायद ये सुधार ही माधव कृत 'टिप्पण' के नाम से प्रचलित हो गए हों। चूँकि गयदास और चक्रपाणि दोनों भोज का उल्लेख करते हैं और परस्पर एक दूसरे का उल्लेख नहीं करते हैं इसलिए संभव है कि गयदास चक्रपाणि के समकालीन हों। हर्नले का विचार है कि डल्हण द्वारा उल्लिखित ब्रह्मदेव ई० प० 1111 में 'साहसांकचरित' के रचयिता महेश्वर कि पता श्रीब्रह्म ही थे।

---

1 निबन्धान् बहुशो वीक्ष्य वैद्यः श्रीभारतात्मजः
उत्तरस्थानमकरोत् सुस्पष्टं डल्हणो भिषक्॥
—सुश्रुत के उत्तरतन्त्र, अध्याय 66 पर डल्हण कृत टीका का अन्तिम श्लोक।

महेश्वर हरिश्चन्द्र को अपना प्राचीन पूर्वज बताते हैं। यह असमव नहीं कि यह हरिश्चन्द्र चरक के एक टीकाकार थे। कवि महेश्वर स्वयं एक कविराज भी थे, और हेरम्बसेन कृत 'गूढ़बोधकसंग्रह' अधिकतर महेश्वर के ग्रन्थ पर आधारित था। जेज्झट कृत टीका बृहल्लघु-पंजिका' नाम से विख्यात थी, गयदास कृत टीका को 'सुश्रुत चंद्रिका' अथवा 'न्यायचन्द्रिका' कहा जाता था, और श्रीमाधव अथवा माधवकर कृत 'टिप्पणी' को 'श्लोकवार्तिक' कहा जाता था। गयदास, भोज, सुरनन्दी और स्वामिदास का उल्लेख करते हैं। गयदास कृत 'पंजिका' की केवल 'निदान स्थान' तक ही खोज हुई है, जिसमें 3000 'ग्रन्थ' हैं। सुश्रुत के अन्य टीकाकारों में हम गोमिन्, आषाढवर्मन्, जिनदास, नरदन्त, गदाधर, बाष्पचन्द्र सोम, गोवर्धन और प्रश्ननिधान के नाम सुनते हैं।

यहाँ इस तथ्य का उल्लेख करना अनुपयुक्त न होगा कि सुश्रुत के शारीर-स्थान में सारबद्ध सांख्यदर्शन निश्चय ही ईश्वर कृष्ण का सांख्य दर्शन है, जो, जंसाकि मैं अन्यत्र पहले ही बता चुका हूँ, चरक संहिता में इतने विशद रूप से प्रतिपादित सांख्य दर्शन से अपेक्षाकृत बाद के समय का है।[1] यह तथ्य इस बात का भी संकेत देता है कि सुश्रुत का संशोधन ईश्वर कृष्ण के उस ग्रन्थ की रचना (लगभग ई० प० 200) के पश्चात् समापन्न हुआ, जोकि ऊपर व्यक्त इस दृष्टिकोण से मेल खाता है कि सुश्रुत का संशोधन चतुर्थ अथवा पंचम शती ई० प० काल में विद्यमान नागार्जुन का कार्य था। परन्तु यह अत्यन्त असम्भव-सा प्रतीत होता है कि छठी शती ई० पू० जितने प्राचीन काल में विद्यमान एक लेखक के चिकित्सा-विषयक विशद सिद्धान्त सात, आठ या नौ वर्ष बाद तक बिखरी हुई दशा में विद्यमान रहें। अत: यह सम्भव है कि सुश्रुत के ग्रन्थ का मुख्य आधार अति-प्राचीन काल से संहिताबद्ध और सुव्यवस्थित रूप में विद्यमान था। सम्पादक अथवा संशोधक का कार्य 'उत्तरतन्त्र' जैसे तथा उपयुक्त अवसरों पर ऐसे ही अन्य परिशिष्टों के समावेश में निहित था। यह अशक्य प्रतीत नहीं होता कि सुश्रुत संहिता के कई प्रकाशित ग्रन्थों तथा अप्रकाशित पांडुलिपियों का गहन आलोचनात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन भावी विद्यार्थी को मूल अंगों को परिशिष्ट के अंगों से पृथक् करने में शायद क्षमता प्रदान कर सके। तथापि, यह कार्य इस तथ्य के कारण क्लिष्टर बना दिया गया है कि सुश्रुत-संहिता में परिवर्धन सम्भवत: एक ही काल तक सीमित न था, जैसाकि पहले ही ऊपर बताया जा चुका है।

यह सुविदित है कि अग्निवेश ने अत्रि के चिकित्सा सम्बन्धी उपदेशों का संकलन अपनी 'अग्निवेश संहिता' में किया है जो कम से कम चक्रपाणि के समय तक विद्यमान थी, ये अत्रि के उपदेश ही कनिष्क के समकालीन बताए जाने वाले चरक द्वारा रचित और 'चरक-संहिता' के नाम से विख्यात एक संशोधन ग्रन्थ के आधार थे।[2] अब यह भी सुविदित है कि चरक ने अपना कार्य पूरा नहीं किया था, अपितु इसे 'चिकित्सित-स्थान' के उस स्थल तक अपूर्ण अवस्था में छोड़ दिया था जिसमें नवीं शती ई० प० में 'पांचनद' नगरवासी

---

1 भारतीय दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृ० 313 से 322।

2 चरक के कनिष्क का राजवैद्य होने के लिए Journal Asia Tigue पृ० 444 पर एस० लेवी का लेख देखिए।

कपिल-बल के पुत्र दृढ़बल ने 'सिद्धि-स्थान' और 'कल्प-स्थान' सहित 'चिकित्सित-स्थान' के सत्रह अध्यायों को जोड़ा था। दृढ़बल द्वारा उपर्युक्त प्रकार से इस ग्रन्थ के परिवर्धित किए जाने का वर्णन आजकल प्रचलित 'चरक-संहिता' में मिलता है।[1] निश्चलकर अपनी 'रत्नप्रभा' में दृढ़बल को 'चरकपरिशिष्ट' का रचयिता बताते हैं और चक्रपाणि, विजय-रक्षित और अरुणदत्त (ई० प० 1240) जब कभी दृढ़बल के परिशिष्ट भाग से उद्धरण देने का अवसर प्राप्त करते हैं तो वे सब दृढ़बल को उस उद्धरण का रचयिता बताते हैं। डा० उ० च० दत्त ने अपने Meteria Medica में 'पंचनद' का तादात्म्य पंजाब से स्थापित किया है, इस तादात्म्य को डॉ० कौर्दिये ने स्वीकार किया था और उन्होंने पंजाब में अटक के उत्तर में एक कल्पित आधुनिक नगर 'पंजपुर' की ओर संकेत किया है। भारत के विभिन्न भागों में कई पंचनद हैं और उनमें से एक का उल्लेख 'काशी खड' के उनसठवें अध्याय में आता है; अपनी टीका में गंगाधर इसका तादात्म्य वाराणसी से करते हैं परन्तु इसके लिए कोई कारण नहीं देते हैं। फिर भी हर्नले का विचार है कि यह पंचनद आधुनिक ग्राम 'पन्तैनोर' (काश्मीर स्थित 'पांचधाराएँ') है और उनका मत है कि दृढ़बल इस स्थान के निवासी थे। चरक में कई ऐसे स्थल हैं जिनको टीकाकार काश्मीर पाठ के क्षेपक मानते हैं। माधव ने चिकित्सित-स्थान के तृतीय अध्याय के ज्वरविषयक ऐसे कई श्लोकों का उद्धरण दिया है, जिनमें लगभग चौबीस पंक्तियां छोड़ दी गई हैं। माधव के 'निदान' पर अपनी टीका में विजयरक्षित का कथन है कि ये पंक्तियां काश्मीर पाठ की हैं। इन पंक्तियों के बारे में वर्तमान पांडुलिपियों में अत्यधिक असमानता है, क्योंकि कुछ में ये पंक्तियां हैं तो अन्यों में नहीं। इसी अध्याय में ऐसे अन्य स्थल भी हैं, जिनको चक्रपाणि दत्त ने स्पष्ट रूप से काश्मीर पाठ बताया है और उन पर उन्होंने टीका नहीं की है। अन्य उदाहरण भी हैं हर्नले बताते हैं कि जीवानन्द का 877 का संस्करण काश्मीरी पाठ प्रस्तुत करता है। जबकि उनके अपने 1896 के संस्करण और गंगाधर, सेनद्वय और अविनाश के संस्करणों में चरक का मूलपाठ है। माधव कभी भी काश्मीरी पाठ से उद्धरण नहीं देते हैं। हर्नले इन चार बातों को एकत्रित करते हैं : अर्थात् चरक के ग्रन्थ को दृढ़बल ने संशोधित और पूर्ण किया था; चरक संहिता का एक काश्मीरी पाठ विद्यमान था, दृढ़बल अपने को पंचनद नगर निवासी बताते हैं और काश्मीर में इस नाम का एक तीर्थ विद्यमान था; और उनका तर्क है कि तथाकथित काश्मीर पाठ 'दृढ़बल रचित' 'चरक संहिता' के संस्करण को प्रस्तुत करता है। काश्मीर पाठ के पाठों की ओर माधव के ध्यान न दिए जाने के तथ्य से निर्णय करके वे यह तर्क देते हैं कि दृढ़बल माधव के समय विद्यमान नहीं थे और इसलिए माधव का काल दृढ़बल से पूर्व का होना चाहिए।

परन्तु दृढ़बल ने चरक संहिता में कौन से अंश जोड़े थे ? स्पष्ट कल्पना यह है कि उन्होंने चिकित्सित-स्थान के सत्रह अध्याय और सिद्धि-स्थान तथा कल्प-स्थानों को जोड़ा था।[2]

---

1 चरक संहिता 6. 30 और सिद्धि-स्थान 7.8।

2 अस्मिन् सप्तादशाध्या कल्पाः सिद्धय एव च
नासाद्यन्तेऽग्निवेशस्य तन्त्रे चरकसंस्कृते
तानेतान् कापिलबलः शेषं दृढ़बलोऽकरोत्
तन्त्रस्यास्य महार्थस्य पूरणार्थं यथायथम्। —6. 30. 274।

परन्तु ऐसी कल्पना ठिक नहीं सकनी क्योंकि भिन्न-भिन्न पांडुलिपियों में अध्यायों की संख्या की गणना में अत्यधिक अन्तर है। इस प्रकार जहाँ जीवानन्द के संस्करण में अर्शस्, अतिसार, विसर्प; मदात्यय और द्विव्रणीय को 'चिकित्सा' का नवम, दशम, एकादश, द्वादश और त्रयोदश अध्याय माना गया है और इसलिए उनको मूल चरक का ही माना गया है; वहाँ गंगाधर संस्करण में नवम, दशम, एकादश, द्वादश और त्रयोदश अध्यायों को उन्माद, अपस्मार, क्षतक्षीण, श्वयथु और उदर विषयक बताया गया है। इसके परिणामस्वरूप दृढ़बल रचित बताए जाने वाले सत्रह अध्यायों के गंगाधर और जीवानन्द संस्करणों में भिन्न-भिन्न शीर्षक हैं। हर्नले ने इन पाठ-विषयक समस्याओं की बडी आलोचनात्मक रूप से चर्चा की है और चरक अथवा दृढ़बल रचित अध्यायों के निरूपण में महत्त्वपूर्ण परिणाम उपलब्ध किए हैं।[1] परन्तु इन चर्चाओं में प्रवेश करना हमारे लिए अनावश्यक है।

'राजतरंगिणी' के इस विषय पर मौन होने के तथ्य[2] के बल पर केवल महामहोपाध्याय कविराज गंगानाथ सेन इस परम्परागत चीनी कथन का प्रतिवाद करते हैं कि चरक कनिष्क के राजवैद्य थे। पतंजलि के किसी चिकित्सा-ग्रन्थ का रचयिता होने के कारण पतंजलि और चरक को एक मानने की उस परम्परा को वेदवाक्य मानने का कोई आधार नहीं है जो भोज से पूर्व किसी अन्य आचार्य में उपलब्ध नहीं होती। चरक (4. 1) के कुछ स्थलों की पतंजलि के कुछ सूत्रों के साथ उनके द्वारा की गई तुलना मुश्किल से उपयुक्त प्रतीत होती है और अपने तादात्म्य के लिए अन्ततः उन्हें पतंजलि को एक चिकित्सा-ग्रन्थ का रचयिता मानने वाले रामभद्र दीक्षित के साक्ष्य का सहारा लेना पड़ा है। उनको यह ज्ञात होना चाहिए कि एक से अधिक पतंजलि हो चुके हैं और कीमियागर तथा चिकित्सक पतंजलि वैयाकरण पतंजलि से पूर्णतः भिन्न व्यक्ति थे।

आजकल समग्र रूप में हमें उपलब्ध सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण टीका चक्रपाणिदत्त रचित 'आयुर्वेददीपिका' अथवा 'चरकतात्पर्यटीका' है। दूसरी महत्त्वपूर्ण टीका स्वामिकुमार कृत 'चरक पंजिका' है। वे बौद्ध धर्मानुयायी थे और उन्होंने टीकाकार हरिश्चन्द्र का उल्लेख किया है। परवर्ती काल में 'चरकतत्त्वदीपिका' शिवदास सेन द्वारा लिखी गई थी, जिन्होंने 'चक्रदत्त' पर तत्त्वचन्द्रिका' नामक टीका भी लिखी थी। चरक पर बाष्पचन्द्र अथवा वाप्यचन्द्र, ईशानदेव, ईश्वरसेन, वकुलकर, जिनदास, मुनिदास; गोवर्धन, संध्याकर, जयनन्दी कृत अन्य टीकाओं और गयदास कृत चरक-चन्द्रिका' का भी हमें ज्ञान होता है।

अन्य प्राचीन संहिताओं में हम 'काश्यप संहिता' का उल्लेख कर सकते हैं, जो काठमाण्डू में मिली थी और जिसमें आचार्य काश्यप और शिष्य भार्गव के बीच चिकित्सा-विषयक संवाद का उल्लेख है। एक बड़ी रोचक बात दृष्टिगोचर होती है कि इसमें कुछ श्लोक (पांडु, पृ० 105 से 110) चरक के सूत्र स्थान के पंचम अध्याय के एक भाग से मिलते-

---

1 ज० रा० ए० सो० 1908 और 1909।

2 प्रत्यक्षशारीरम्—आमुख।

जुलते हैं। एक अन्य महत्त्वपूर्ण पांडुलिपि 'भारद्वाज संहिता' के नाम से विख्यात है, जिसमें 'भेषजकल्प' नामक वेंकटेश कृत टीका का एक लघुग्रन्थ भी सम्मिलित है।[1] चरक के संशोधन का आधार अग्निवेश कृत मूल ग्रन्थ 'अग्निवेश संहिता' कम-से-कम चक्रपाणि के समय तक विद्यमान था; विजयरक्षित और श्रीकण्ठ दत्त भी इसमें से उद्धरण देते हैं।[2] जतुकर्ण का ग्रन्थ भी इन्हीं लेखकों के समय तक विद्यमान था क्योंकि ये समय-समय पर 'जतुकर्ण संहिता' से उद्धरण देते हैं।[3] 'पराशर संहिता' और 'क्षीरपाणिसंहिता' भी श्रीकण्ठदत्त के समय तक अथवा शिवदास के समय तक भी प्राप्य थीं। 'हारीत संहिता' (मुद्रित और अपेक्षाकृत आधुनिक ग्रंथ से भिन्न) भी चक्रपाणि और विजयरक्षित के समय तक उपलब्ध थी, जैसाकि उनकी कृतियों में इसके उद्धरणों से प्रकट होता है। भेल की कृति 'भेल-संहिता' का कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशन हो चुका है। यह स्मरणीय है कि अग्निवेश, भेल, जतुकर्ण, पराशर, हारीत और क्षीरपाणि सब एक ही आचार्य आत्रेय पुनर्वसु के आधीन अध्ययन करने वाले चिकित्साशास्त्र के सहपाठी शिष्य थे; इनमें सर्वाधिक बुद्धिमान् होने के कारण अग्निवेश ने सर्वप्रथम अपने ग्रन्थ की रचना की, परन्तु भेल और उसके अन्य सहपाठियों ने भी स्वतंत्र संहिताओं की रचना की, जिनका वैद्यपरिषद् के सामने पाठ किया गया था और जिनको उनके द्वारा समर्थन मिला था। चक्रपाणि और अन्य टीकाकारों ने अपनी टीकाओं में इसी शाखा के खरणाद-संहिता' नामक अन्य ग्रन्थ तथा 'विश्वामित्र सहिता' इन दोनों का प्रयोग किया है ये दोनों ग्रन्थ आजकल अप्राप्य हैं। तो भी, 'संहिता' का नाम इन ग्रन्थों की प्राचीनता का कोई प्रमाण नहीं है क्योंकि वाग्भट्ट द्वितीय की रचना का भी नाम 'अष्टांग-हृदय-संहिता' है। हमारे पास वररुचि कृत 'वररुचि-संहिता' नामक पांडुलिपि है और दुर्गागुप्त के पुत्र रविगुप्त कृत 'सिद्धसार-संहिता' भी हैं, जो अपेक्षाकृत आधुनिक काल की है। ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में अनेक प्राचीन चिकित्सा ग्रन्थों का उल्लेख है, यथा—धन्वन्तरिकृत 'चिकित्सातत्त्व-विज्ञान,' दिवोदास कृत 'चिकित्सा-दर्शन,' काशिराज कृत 'चिकित्सा कौमुदी,' अश्विनी कृत चिकित्सा सारतन्त्र' और 'ब्रह्मघ्न,' नकुल कृत 'वैद्य सर्वस्व,' सहदेव कृत 'व्याधि-सिन्धु-विमर्दन,' यम कृत 'ज्ञानार्णव,' च्यवन कृत 'जीवादान,' जाबाल कृत 'तन्त्रसार', जनक कृत 'वैद्य-संदेह-भंजन' चन्द्रसूत कृत 'सर्वसार,' जाजलि कृत 'वेदांगसार,' पैल कृत 'निदान,' करठ कृत 'सर्वधर' और अगस्त्य

---

1 डॉ० कार्दिये कृत Recentes De'couvertes des Mss Medicaux Sanscrits dans L'Inde (1898–1902) देखिए।

2 देखिए चरक संहिता 2.2 पर चक्रपाणि कृत टीका और 'सिद्धयोगज्वराधिकार' पर श्रीकण्ठ की टीका।

3 2.2 और 2.5 पर चक्रपाणि की टीका और 'निदान' (क्षुद्ररोग) पर श्रीकण्ठ की टीका।

कृत 'द्वैध निर्णयतन्त्र' ।[1] परन्तु इन ग्रन्थों के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है और यह कहना कठिन है कि वास्तव में वे विद्यमान भी थे।

यह सुविदित है कि वाग्भट्ट (जिसे कभी-कभी 'वाहट' लिखा जाता है) दो थे। प्रथम वाग्भट्ट चरक और सुश्रुत को जानते थे। हर्नले और अन्यों का यह अनुमान है कि इत्सिंग (ई० प० 675–85) का यह कथन कि पहले आठ अंग आठ खण्डों में विद्यमान थे और एक आदमी ने उन्हें कुछ समय पूर्व संक्षिप्त करके संगृहीत कर दिया और भारत के पाँचों भागों के समस्त चिकित्सक इस ग्रन्थ के अनुसार चिकित्सा करते थे, वृद्ध वाग्भट्ट कृत 'अष्टांगसंग्रह' की ओर संकेत करता है। ऐसी अवस्था में वाग्भट्ट प्रथम अवश्य छठी शती ई० प० के अन्तिम काल में अथवा सातवीं शती ई० प० के प्रारम्भ में जीवित होंगे क्योंकि इत्सिंग का कथन है कि उन्होंने ग्रन्थ को 'कुछ समय पूर्व' संक्षिप्त किया था, परन्तु दूसरी ओर, ऐसे ग्रन्थ के भारत के पाँचों भागों में प्रचार के लिए समय भी दिया जाना चाहिए। सुश्रुत और वाग्भट्ट प्रथम की तुलना यह प्रकट करती है कि वाग्भट्ट के समय में शारीर-शास्त्र का अध्ययन प्रायः रुक चुका था। यह बहुत सम्भव है कि वाग्भट्ट बौद्ध थे। अष्टांगसंग्रह पर इन्दुकृत एक टीका है, परन्तु इन्दु से पहले अन्य टीकाएँ विद्यमान थीं, जिनकी दुर्व्याख्याओं का उन्होंने खण्डन किया था।[2]

माधव, दृढ़बल और वाग्भट्ट द्वितीय सब वाग्भट्ट प्रथम को जानते थे। माधव नाम लेकर उनका उल्लेख करते हैं और समय-समय पर 'सिद्धयोग' और 'निदान' दोनों में उनसे उद्धरण देते हैं, और दृढ़बल भी ऐसा ही करते हैं।[3] हर्नले ने यह प्रदर्शित किया है कि दृढ़बल के 96 नेत्र-रोग वाग्भट्ट के 94 नेत्र-रोगों पर आधारित हैं। अपने अष्टांग हृदय के 'उत्तर स्थान' के लगभग अन्त में वाग्भट्ट द्वितीय वाग्भट्ट प्रथम के प्रति अपने ऋण को निश्चित रूप से व्यक्त करते हैं। परन्तु वे सब चक्रपाणि से पहले विद्यमान होंगे, जो दृढ़बल और वाग्भट्ट द्वितीय का प्रायः उल्लेख करते हैं। माधव के दृढ़बल से पहले होने का हर्नले का तर्क इस तथ्य पर आश्रित है कि सुश्रुत 74 प्रकार के नेत्र-रोगों की गणना करते हैं जहाँ वाग्भट्ट प्रथम 94 रोगों की गणना करते हैं। दृढ़बल वाग्भट्ट प्रथम के 94 नेत्र-रोगों को माधव द्वारा जोड़े गए दो और नेत्र-रोगों के अतिरिक्त योग के साथ स्वीकार करते हैं और

---

1 यह अजीब बात देखने में आती है कि ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण में 'धन्वन्तरि,' काशिराज दिवोदास को पृथक्-पृथक् व्यक्ति माना गया है, यह कथन सुश्रुत के उपर्युक्त कथन के विपरीत है।

2 दुर्व्याख्याविषसुप्तस्य वाहटस्यास्मदुक्तयः सन्तु संवित्तिदायिन्यस्सदागमपरिष्कृता।

—इन्दु कृत टीका 1. 1।

3 सिद्धयोग 1. 27 अष्टांग संग्रह 2.1 निदान 2.22 और 23, संग्रह 1. 266, चरक संहिता (जीवानन्द, 1896), चिकित्सास्थान 16.31 संग्रह 2. 26। पुनश्च, चिकित्सास्थान 16. 53 आदि, संग्रह 2.27 आदि।

इस प्रकार अपनी सूची में नेत्र-रोगों की संख्या 96 कर देते हैं। माधव ने सुश्रुत के 76 नेत्र-रोग स्वीकार किए थे और उनमें अपने दो का और योग कर दिया।[1] हर्नले के तर्क की दूसरी बात यह है कि माधव चरक से उद्धृत अपने अंशों में विजयरक्षित द्वारा काश्मीरी पाठ बताए गए उन अंशों को सदा छोड़ देते हैं, जिनको हर्नले दृढ़बल का संशोधन-कार्य बताते हैं। हर्नले के ये तर्क अत्यन्त अनिर्णायक प्रतीत होते हैं, क्योंकि यदि तथाकथित काश्मीरी-पाठ की दृढ़बल के संशोधन के साथ एकरूपता स्थापित की जा सके तो दृढ़बल का काश्मीरी होना एवं उनका माधव का परकालीन होना दोनों सिद्ध हो सकते हैं, परन्तु यह मत सिद्ध नहीं हुआ है। दूसरी ओर चक्रपाणि काश्मीरी पाठ के साथ-साथ दृढ़बल संस्कार का भी वर्णन करते हैं, और इससे ज्ञात होता प्रतीत होता है कि दोनों एक नहीं हैं।[2] माधव द्वारा 78 नेत्र रोगों की गणना किए जाने के आधार पर उनके पहले होने का सुझाव कहीं अधिक दूर तक खींचा गया है। अतः माधव का काल निश्चित रूप से निर्धारित नहीं किया जा सकता है। संभवतः हर्नले का यह मत ठीक है कि दृढ़बल वाग्भट्ट से पूर्ववर्ती हैं।[3] फिर भी, इन तीन लेखकों की सापेक्ष पूर्ववर्तिता अथवा परवर्तिता का वास्तव में कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि वे एक दूसरे से थोड़े-थोड़े अन्तराल में विद्यमान थे और उनका काल मोटे तौर पर आठवीं और नवीं शती ई० प० मध्य का काल बताया जा सकता है।

वाग्भट्ट द्वितीय की 'अष्टांग-हृदय-संहिता' की कम से कम पांच टीकाएँ हैं, वे हैं अरुणदत्त (सर्वांगसुन्दरी), आशाधर, चन्द्रचन्दन (पदार्थचन्द्रिका), रामनाथ और हेमाद्रि (आयुर्वेद-रसायन) कृत टीकाएँ। इनमें से संभवतः अरुणदत्त ई० प० 1220 में जीवित थे। माधव कृत, रोग-निदानसम्बन्धी संग्रह, 'रुग्विनिश्चय' भारतीय चिकित्सा का अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ है। इस पर कम से कम सात टीकाएँ हैं; वे हैं विजयरक्षित (मधुकोश), वैद्यवाचस्पति (आतंकदीपिका), रामनाथ वैद्य, भवानीसहाय, नागनाथ (निदानप्रदीप), गणेशभिषज् की टीकाएँ और नरसिंह कविराज कृत 'सिद्धान्त चन्द्रिका' अथवा 'विवरण सिद्धान्त चन्द्रिका' नाम से विख्यात टीका।[4] परन्तु विजयरक्षित कृत टीका तेतीसवें अध्याय

---

1 हर्नले का विचार है कि माधवकृत 'निदान' के मुद्रित संस्करण में उपलब्ध नेत्र-रोगों की कुल संख्या 76 शुद्ध नहीं है क्योंकि माधव द्वारा दिए गए नेत्र-रोगों के वर्णन से उनका वास्तव में मेल नहीं बैठता है और उनमें 'पक्ष्मकोप' और 'पक्ष्मशाता' भेद सम्मिलित नहीं हैं। हर्नले कृत Osteology पृ० 13।

2 चक्रपाणि कृत टीका 1. 7. 46–50।

3 देखिए हर्नले कृत Osteology पृ० 14–16।

4 नरसिंह कविराज नीलकण्ठभट्ट के पुत्र और रामकृष्णभट्ट के शिष्य थे। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने 'मधुमती' नामक अन्य चिकित्सा-ग्रन्थ लिखा था। उनकी 'विवरण सिद्धान्त चन्द्रिका' विजय कृत 'मधुकोश' पर आधारित होने पर भी एक उत्कृष्ट टीका है और उसमें शिक्षात्मक और नवीन बातें पर्याप्त मात्रा में विद्यमान

के साथ समाप्त हो जाती है और शेष ग्रन्थ उनके शिष्य श्रीकण्ठदत्त ने सम्पूर्ण किया था। वृन्द (जो सम्भवतः माधव हो सकते हैं) ने चिकित्सासम्बन्धी योगों का ग्रन्थ 'सिद्धयोग' लिखा था जो चिकित्साविषयक लेखकों में सुविख्यात है।

भारतीय चिकित्सा ग्रन्थों के इस संक्षिप्त विवरण के संदर्भ में 'नवनीतक' और मध्य एशिया में खोज से प्राप्त हुए, 'बोवर पांडुलिपि' के नाम से विख्यात अन्य जीर्ण-शीर्ण चिकित्साविषयक ग्रन्थों की अवहेलना नहीं की जा सकती। यह पांडुलिपि भूर्जपत्र पर गुप्त लिपि में लिखी हुई है और सम्भवतः पाँचवीं शती जितनी पुरानी है। यह एक बौद्ध कृति है और इसमें चरक, सुश्रुत तथा अन्य अज्ञात लेखकों से लिए गए कई योग हैं। फिर भी यह ज्ञात हो जाएगा कि वर्तमान ग्रन्थ जैसे ग्रन्थ में भारतीय चिकित्साविषयक ग्रन्थों के कालक्रम का विशद विवेचन अथवा विस्तृत वर्णन अनुपयुक्त होगा। आयुर्वेद साहित्य और विशेषतः चिकित्सा सम्बन्धी योगों और कल्प, वैद्यकनिघण्टु आदि के वर्णन से युक्त भाग अपार है। आउफरेष्ट के सूचीपत्र में लगभग 1500 हस्तलिखित ग्रन्थों के नाम हैं, जिनमें से अधिकांश अभी तक प्रकाशित नहीं हुए हैं और कई ऐसी पांडलिपियाँ भी है जिनका उल्लेख आउफरेष्ट के सूचीपत्र में नहीं है। आजकल अधिक प्रयोग में आने वाली पुस्तकों में चौदहवीं शती के शार्ङ्गधर के ग्रन्थों का, पन्द्रहवीं शती के शिवदास द्वारा चक्रपाणि पर रचित टीका का, और सोलहवीं शती के भावमिश्र द्वारा रचित 'भावप्रकाश' का उल्लेख किया जा सकता है। वंगसेन का ग्रन्थ भी काफी प्रचलित है। शारीर-विषयक ग्रन्थों में भोज के ग्रन्थ और भास्कर भट्ट कृत 'शारीरपद्मिनी' उल्लेखनीय है। डल्हण ने औपधेनव-तन्त्र, पौष्कलावततन्त्र, वैतरणतन्त्र, और भोजतन्त्र की ओर संकेत किया है। चक्रपाणि ने अपनी भानुमती टीका में भालुकीतन्त्र और कपिलतन्त्र का उल्लेख किया है। शारीर ग्रन्थों के विषय में इतना ही पर्याप्त है। माधवीय 'निदान' पर श्रीकण्ठ कृत टीका में नेत्र-रोगों पर विदेहतंत्र, निमितन्त्र, कांकायनतन्त्र, सात्यकितन्त्र, करालतन्त्र और कृष्णात्रेयतंत्र का संकेत मिलता है। चक्रपाणि और डल्हण की टीकाओं में नेत्र-रोगों पर 'शौनकतन्त्र, का नाम लिया गया है। डल्हण ने 'जीवकतन्त्र', पर्वतकतन्त्र' और 'बन्धकतन्त्र' का सूतिकाकर्म विषयक ग्रन्थों के रूप में संकेत किया है। इसी विषय पर 'हिरण्याक्षतन्त्र' का नाम श्रीकण्ठ ने लिया है जबकि श्रीकण्ठ ने विष-विद्या पर 'काश्यप संहिता' और 'आलम्बायन संहिता' का उल्लेख किया है। 'उशनस् संहिता' 'सनक संहिता' और लाट्यायन संहिता का भी विषविद्या विषयक ग्रन्थों के रूप में उल्लेख किया गया है।

कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण तन्त्रों में भारतीय चिकित्सा पद्धति के नियमित आठों अंगों से युक्त नागार्जुन कृत 'योगशतक' का और 'जीवसूत्र' 'भेषजकल्प' का उल्लेख किया जा सकता है। उन सबका तिब्बती में अनुवाद हो चुका था। 'अष्टांग हृदय' पर 'अष्टांगहृदय-

---

हैं। इसकी एकमात्र उपलब्ध पांडुलिपि सम्भवतः इस पुस्तक के लेखक के पारिवारिक ग्रन्थालय में प्राप्य प्रति है, जो इसके प्रकाशन हेतु उसका संस्करण तैयार कर रहा है।

नामवैदूर्यकभाष्य,' 'पदार्थचन्द्रिकाप्रभासनाम' 'अष्टांग-हृदय-वृत्ति' नामक तीन ग्रन्थों का और 'वैद्यकाष्टांग हृदयवृत्तिर्भेषजनामसूची' का भी तिब्बती में अनुवाद हुआ था।

'आयुर्वेद सूत्र' योगानन्द नाथ कृत ग्रन्थ है, जो इसी लेखककृत टीका व डॉ० शामशास्त्री की भूमिका सहित मैसूर विश्वविद्यालय संस्कृत माला के अन्तर्गत 1922 में प्रकाशित हुआ था। भूमिका में यह ठीक ही प्रदर्शित किया गया है कि यह अति आधुनिक ग्रन्थ है, जो संभवतः सोलहवीं शती में 'भावप्रकाश' के आदर्श पर लिखा गया था। इसमें सोलह अध्याय हैं और इसमें आयुर्वेद को पतंजलि के योगदर्शन से संबद्ध करने का यत्न किया गया है। इसमें यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि किस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार के अन्न, सत्त्व, रजस् और तमस् के गुणों की वृद्धि करते हैं तथा किस प्रकार से उपवास आदि की यौगिक क्रियाएँ शारीरिक दशाओं को प्रभावित करती हैं। चाहे आयुर्वेदग्रन्थ के रूप में अथवा दर्शनग्रन्थ के रूप में इसका योगदान बहुत अल्प है। इसमें योग को आयुर्वेद से संबंधित करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है जबकि 'वीरसिंहावलोकित' ऐसा ग्रन्थ है जिसमें फलित ज्योतिष को आयुर्वेद से संबद्ध करने का प्रयत्न किया गया है।

अध्याय 4

भगवद्गीता-दर्शन

गीता साहित्य

हिन्दुओं के प्राय: समस्त वर्गों द्वारा गीता एक पवित्रतम धार्मिक ग्रन्थ माना जाता है एवं विभिन्न विचारधाराओं के अनुगामियों द्वारा इस पर कई भाष्य लिखे गये हैं जिनमें से प्रत्येक ने अपने-अपने पक्ष में गीता की व्याख्या की है। संभवत: शंकर-भाष्य प्राचीनतम भाष्य है जो अभी उपलब्ध है; परन्तु उसमें प्राप्त प्रसंगों एवं विवेचनों के आधार पर इस बात में किञ्चित सन्देह नहीं रह जाता कि इसके पूर्व भी भाष्य थे जिनका खण्डन उन्होंने करना चाहा।

गीता की व्याख्या करते हुए शंकर ने इस मत पर मुख्यतया जोर दिया है कि यथार्थ ज्ञान वैदिक कर्त्तव्यों अथवा धर्मशास्त्रोक्त कर्त्तव्यों के साथ सम्मिश्रित नहीं किया जा सकता। यदि अज्ञानवश अथवा आसक्तिवश एक व्यक्ति श्रुति में बताए गए कर्त्तव्यों का पालन करता रहता है और यदि यज्ञ; दान और तप (धार्मिक तपस्या) के परिणामस्वरूप उसका मन पवित्र हो जाता है और परम तत्त्व के स्वरूप के बारे में इस यथार्थ ज्ञान को प्राप्त कर लेता है कि निष्क्रिय ब्रह्मन् ही सबमें व्याप्त है तथा क्रिया-विधि के सब नियमों के समाप्त होने पर भी जो साधारण व्यक्तियों की तरह निर्धारित कर्त्तव्यों का पालन करता है तथा दूसरों को भी उसी दिशा में कार्य करने को प्रोत्साहित करता है तब ऐसे कर्म यथार्थ ज्ञान के विपरीत होते हैं। जब कोई व्यक्ति बिना किसी इच्छा एवं प्रयोजन के कर्म करता है तो उसे कर्म नहीं कहा जा सकता। कर्त्ता केवल वही है जिसे कर्म में कामना हो। परन्तु हृदय में कामनारहित बुद्धिमान् मनुष्य वस्तुत: कर्म नहीं करता यद्यपि बाह्य दृष्टि से वह केवल साधारण व्यक्ति की तरह कर्म करे। अत: शंकर के अनुसार गीता का मुख्य सिद्धान्त यह है कि मोक्ष प्राप्ति यथार्थ ज्ञान द्वारा ही सम्भव है ज्ञान तथा नित्यनैमित्तिक कर्मों का एकसाथ होना सम्भव नहीं। शंकर के अनुसार केवल अज्ञान की अवस्था में ही हमारे लिए कर्म करना आवश्यक हो सकता है, ज्ञान की अवस्था में नहीं। जिस समय ब्रह्म-तादात्म्य का यथार्थ ज्ञान उदित होता है तथा अज्ञान का नाश होता है। उस स्थिति में द्वैतभाव नष्ट हो जाते हैं क्योंकि कर्त्तव्य पालन के लिए अपने उत्तरदायित्व को अंगीकार करना ही द्वैतभाव का पूर्व प्रमाण है।[1]

---

1 शांकर गीता-भाष्य, 2.69 योगाश्रम आवृत्ति, बनारस 1919।

गीता के तीसरे अध्याय के पहले श्लोक की व्याख्या करते हुए शंकर ने उन कुछ पूर्व भाष्यकारों के मत की आलोचना की है जिनके मतानुसार यथार्थ ज्ञान होने के पश्चात् भी नित्य नैमित्तिक कर्म अनिवार्य है । अपने मत की पुष्टि में शंकर स्मृति शास्त्र की ओर संकेत करते हुए अधिकारपूर्वक यह कहते हैं कि चाहे कैसे ही अनिवार्य कर्त्तव्य क्यों न हों, उनके केवल न करने में ही कोई अशुभ परिणाम नहीं निकल सकता क्योंकि अकर्म अभावात्मक मात्र है और केवल अभाव का परिणाम भाव नहीं हो सकता । आवश्यक कर्त्तव्य न करने का अशुभ परिणाम केवल उन लोगों के लिए है जो पूर्णरूपेण संन्यासी न हो । परन्तु जिन्होंने तत्त्वज्ञानी होने के परिणामस्वरूप सब कर्मों का त्याग कर दिया है; वे वेदों के विधि-निषेधों के अतीत चले गए हैं और उन पर स्मृतिशास्त्र का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता है । केवल कर्त्तव्यपालन से हां मोक्ष प्राप्ति नहीं हो सकती । परन्तु शनैः शनैः उससे सत्त्वशुद्धि होती है जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान का उदय होता है तथा जिसके साथ ही सब कार्य समाप्त हो जाते हैं ।[1] गीता के भावार्थ पर अपना विशद विवेचन प्रस्तुत करते हुए (18.67) शंकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि कर्त्तव्य का अर्थ भासित जगत् के नानात्व की अनुमिति करना है जो माया अथवा अविद्या का कार्य है । अतएव एकमात्र परम तत्त्व ब्रह्मन् का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेने पर उसके लिए कोई कार्य शेष नहीं रहता । परम-मुक्ति की प्राप्ति केवल यथार्थ ज्ञान द्वारा ही होती है, न कि कर्म सहित ज्ञान द्वारा । ज्ञानी के लिए किसी भी प्रकार के कर्म की विधि नहीं है । शंकर ने गीता की व्याख्या इस आशय से की है कि उनका और गीता का दर्शनसम्बन्धी मतैक्य है । उनके भाष्य का ढंग गीता के श्लोकों के तुलनात्मक विवेचना पर इतना अधिक आधारित नहीं है जितना कि वेदान्त दर्शन के विवेचन के औचित्य पर है और उसी सिद्धान्त को वह गीता का तात्पर्य समझते हैं । गीता-दर्शन के बारे में ग्रन्थकार का मत शंकर के सिद्धान्त के पूर्णतया विरुद्ध है । इस ग्रन्थ के बारे में यह बार-बार बताया गया है कि गीता इस बात पर जोर देती है कि ज्ञानी को भी अपने निर्धारित कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए, चाहे उसे ऐसे कर्त्तव्यों के पालन से तनिक भी लाभ क्यों न हो । श्रीकृष्ण के रूप में स्वयं भगवान् आप्तकाम होते हुए भी अपने स्वतः आरोपित कर्त्तव्य लोकसंग्रह हेतु एवं इस बात का उदाहरण प्रस्तुत करने हेतु किए कि ज्ञानी को भी निर्धारित कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए ।[2]

श्री आनन्दज्ञान ने शंकर भगवद्गीता भाष्य पर भगवद्गीता भाष्य विवरण नाम की टीका लिखी एवं श्री रामानन्द ने भगवद्गीता-भाष्य-व्याख्या नाम का एक और ग्रन्थ लिखा । ऐसा भी कहा जाता है कि उन्होंने गीताशय नाम का एक और भी ग्रन्थ लिखा है । ऐसा प्रतीत होता है कि शंकर-युग के पश्चात् कुछ समय तक गीता पर कोई भाष्य नहीं लिखा गया । यामुनाचार्य नामक दो व्यक्तियों ने गीता पर पृथक्-पृथक् एक गद्य और दूसरा पद्य दो भाष्य लिखे हैं । गद्य भाष्यकार यामुनाचार्य यद्यपि विशिष्टाद्वैत-वादी थे परन्तु वह रामानुज के गुरु यामुन से भिन्न थे । कंजीवरम् के सुदर्शन प्रेस द्वारा

---

1 वही, 3. 4 ।
2 गीता, 3. 22 ।

प्रकाशित उसका भाष्य अत्यन्त सुबोध है जिसमें मुख्यतया गीता के श्लोकों का शब्दार्थ है। उसके विचार से गीता के प्रथम छः अध्यायों में भक्ति के साधन स्वरूप ईश्वर के यथार्थ ज्ञान का वर्णन है। मध्य के छः अध्यायों में भक्ति एवं पूजा से प्राप्य ईश्वर के स्वरूप का वर्णन है और अन्तिम छः अध्यायों में उन्हीं विषयों की पुनरावृत्ति उनमें निहित समस्याओं के स्पष्टीकरण हेतु की गई है।

रामानुज के महान् गुरु श्री यामुन का जन्म 906 ई० में बताया जाता है; उन्होंने गीतार्थ संग्रह नामक ग्रन्थ में गीता की विषयवस्तु का सार प्रस्तुत किया जिस पर निगमान्त महोदेशिक ने 'गीतार्थ संग्रह रक्षा' नाम का भाष्य लिखा। चौदहवीं शताब्दी के वरवर मुनि ने भी इस पर गीतार्थ संग्रह दीपिका नाम की एक टीका लिखी जिसका प्रकाशन कंजीवरम् के सुदर्शन प्रेस ने किया। ऑफ्रेक्ट (Aufrect) ने लिखा है कि भगवद्गीतार्थ-संग्रह-टीका नाम के एक दूसरे और ग्रन्थ की रचना 'प्रत्यक्ष-देव यथाचार्य' ने की। श्री यामुन का मत है कि गीता का उद्देश्य इस बात की पुष्टि करना है कि नारायण ब्रह्म है जो वैराग्य, यथार्थ ज्ञान एवं स्वधर्म रूपी साधन सहित भक्ति द्वारा प्राप्य है। यह कहा जा सकता है कि गीता के प्रथम छः अध्याय में आत्मज्ञान की प्राप्ति का विवरण दिया गया है जो अन्य विषयों से विरक्ति, सब कर्मों को ईश्वरार्पण करना, प्रपत्ति, ज्ञान एवं क्रिया योग द्वारा प्राप्य है। निगमान्त महादेशिक की राय में परोक्ष रूप में ज्ञानोत्पादन द्वारा अथवा अपरोक्ष रूप में स्वयं कर्म मुक्ति साधन बन सकता है। सात से बारहवें अध्याय में ज्ञान एवं कर्म द्वारा भक्तियोग की प्राप्ति का वर्णन है और उनके विचार से ईश्वर के यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि केवल इस प्रकार की भक्ति योग से ही सम्भव है। तेरह से अठारह अध्याय में भक्ति, ज्ञान एवं कर्म सहित पुरुषोत्तम; पुरुष तथा प्रधान के स्वरूप का अन्तर एवं विवरण है। श्री यामुनाचार्य तदनन्तर गीता के एक-एक अध्याय का वर्णन करते हैं। इस प्रकार दूसरे अध्याय में स्थितप्रज्ञ के स्वरूप का वर्णन है। ऐसी स्थिति (ब्राह्मी स्थिति) अनासक्त होकर कर्म करने की आदत एवं आत्मा को अविनाशी समझने से प्राप्त होती है। तीसरे अध्याय में यह कहा गया है कि मनुष्य को लोक रक्षा हेतु अनासक्त होकर कर्मफल को ईश्वरार्पण करके तथा यह समझकर कि गुणों के द्वारा ही कर्म होता है एवं अहंकारवश स्वयं को कर्त्ता समझने की मूढ़ता न करके कर्त्तव्य कर्म करना चाहिए। चौथे अध्याय में ईश्वरीय स्वरूप, कर्म में अकर्म देखने की विधि (अनासक्ति के कारण) तथा भिन्न-भिन्न कर्तव्य एवं ज्ञान के माहात्म्य का वर्णन है। पाँचवें अध्याय में कर्मयोग के लाभ एवं कर्त्तव्य मार्ग की पृथक् विधियों तथा ब्रह्मानुभूति की स्थिति के स्वरूप का वर्णन है। छठे अध्याय में योग-साधना का स्वरूप, चार प्रकार के योगी, योग की विधियाँ तथा योग की उपलब्धि और योग को जीवात्मा एवं परमात्मा का मिलन समझकर परम पुरुषार्थ मानने का वर्णन है। सातवें अध्याय में प्रकृति अथवा गुणों द्वारा ईश्वर के स्वरूप का आवृत्त होना, भगवत्-अनुग्रह प्राप्ति के साधन, विभिन्न भक्तों के प्रकार तथा ज्ञानी की महत्ता एवं ईश्वरीय सत्ता का वर्णन है। आठवें अध्याय में ईश्वरीय योग और उसके अविकृत एवं अविकारी स्वरूप का वर्णन है। यहाँ शरणागत जन के कर्त्तव्य एवं यथार्थ ज्ञान के स्वरूप का भी वर्णन है। नवम अध्याय में परमात्मा की महिमा का वर्णन तथा मनुष्य रूप में अवतीर्ण होने की अवस्था में भी परम ऐश्वर्य

तथा भक्तियोग का वर्णन है। दसवें अध्याय में ईश्वर की अनन्त विभूतियों, भक्ति की दीक्षा एवं वृद्धि हेतु सब वस्तुओं का ईश्वर पर निर्भर होने का विशद वर्णन है। ग्यारहवें अध्याय में ईश्वर के वास्तविक अर्थात् विश्वरूप का वर्णन है और उसमें प्रत्यक्ष रूप से प्रमाणित किया गया है कि केवल भक्ति द्वारा ही तत्त्वज्ञान एवं ईश्वर प्राप्ति सम्भव है। बारहवें अध्याय में भक्ति को परं बताया गया है तथा उसकी प्राप्ति के साधन एवं उसके भिन्न-भिन्न प्रकार बताए गए हैं। आगे चलकर यह भी व्यक्त किया गया है कि ईश्वर की उच्चतम प्रसन्नता केवल अपने भक्तों की भक्ति में ही है। तेरहवें अध्याय में शरीर का स्वरूप, साक्षात्कार के लिए आत्मशुद्धि, बंधन का कारण एवं विवेक का वर्णन है। चौदहवें अध्याय में बताया गया है कि किस प्रकार गुण (सत्व, रज एवं तम) कर्म बंधन के कारण हैं। हम गुणातीत कैसे बन सकते हैं और किस प्रकार ईश्वर ही दैव का प्रतिष्ठान है। पन्द्रहवें अध्याय में बताया गया है कि किस प्रकार पुरुषोत्तम, सर्व व्यापक महेश्वर, एवं सर्वाधार होने के कारण पुरुषों से एवं प्रकृतस्थ पुरुषों से भिन्न है। सोलहवें अध्याय में दैवी एवं आसुरी संपदा के विभाग तथा हमारे कर्त्तव्य कर्मों के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान की दृढ़ आधार-शिला की स्थापना करने वाले शास्त्रों का वर्णन है। सत्रहवां अध्याय शास्त्र एवं अशास्त्र में अन्तर बताता है। अठारहवें अध्याय में ईश्वर को सब कर्मों का परम कर्त्ता कहा गया है। इसके साथ-साथ आत्म-शुद्धि की आवश्यकता, व्यक्ति के कर्मों के फल का स्वरूप वर्णित है। यामुनाचार्य के मतानुसार कर्म-योग में यज्ञ, दान, तप, तीर्थयात्रा निहित है; ज्ञानयोग के अन्तर्गत आत्म-निग्रह एवं चित-शुद्धि आते हैं तथा भक्ति-योग में ईश्वरीय मिलन से उत्पन्न प्रेमानन्द से प्रेरित परमात्म चिन्तन निहित है। ये तीनों मार्ग परस्पर एक दूसरे की ओर उन्मुख करते हैं क्योंकि तीनों ही ईश्वरोपासना के ही स्वरूप हैं; चाहे इन्हें नित्य अथवा नैमित्तिक समझा जाय, ये आत्मा के यथार्थ स्वरूप की शोध में सहायक हैं। जब ब्रह्मानुभूति द्वारा अविद्या का पूर्ण रूप से नाश हो जाता है और जब मनुष्य ईश्वर का परम भक्त बन जाता है तब परम सत्ता में वह विलीन हो जाता है।

विख्यात वैष्णव आचार्य एवं ब्रह्मसूत्र के टीकाकार श्री रामानुज ने, जिनका जन्म 1017 ई० में हुआ था, विशिष्टाद्वैत दर्शन की दृष्टि से गीता पर भाष्य लिखा। वेदान्ताचार्य वेंकटनाथ ने उस पर एक तात्पर्य चन्द्रिका नामक उप-भाष्य लिखा। श्री रामानुजाचार्य ने अपने आचार्य श्री यामुन द्वारा लिखित संक्षिप्त भाष्य का ही अनुसरण किया। वर्णधर्मों की अनिवार्यता के प्रश्न पर श्री रामानुज कहते हैं कि गीता के अनुसार प्रत्येक वर्ण द्वारा निर्धारित कर्त्तव्य किए जाने चाहिएँ क्योंकि शास्त्र ईश्वर के वचन हैं तथा कोई भी उसकी आज्ञा का उल्लंघन करने में समर्थ नहीं है। अतः शास्त्रों द्वारा निर्धारित नित्य-नैमित्तिक सबके लिए अनिवार्य हैं। अतः कर्त्तव्यों का पालन बिना फल की कामना के केवल इसीलिए होना चाहिए कि वे शास्त्र के विधि-निषेध हैं। मनुष्य ज्ञान-मार्ग के योग्य उसी समय होता है जब वह केवल ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए ही कर्त्तव्य करता है, उसकी पूजा समझ कर करता है, मन की अशुद्धियों का त्याग करता है तथा इन्द्रियों को बिल्कुल अपने नियंत्रण में रखता है। अपनी उन्नति की किसी भी स्थिति में मनुष्य ईश्वरोपासना के कर्त्तव्य को नहीं मिटा सकता एवं ईश्वर की भक्ति के द्वारा अनादि काल से चले आ रहे पापों से उसे छुटकारा मिल सकता है तथा वह ज्ञानमार्ग के

लिए योग्य बन सकता है ।[1] तृतीय, 8 की व्याख्या करते हुए श्री रामानुज कहते हैं कि कर्मयोग ज्ञानयोग से बढ़कर है । कर्मयोग में आत्म-ज्ञान होता है अतः आत्म-ज्ञान भी इसी क्षेत्र के अन्तर्गत आता है । केवल ज्ञानयोग हमें कहीं भी ले जाने में समर्थ नहीं है क्योंकि कर्म के बिना शरीर भी जीवित नहीं रह सकता । ज्ञान-योगी के लिए भी नित्य नैमित्तिक कर्म करना आवश्यक हैं और इसी मार्ग (कर्म-योग) के विकास द्वारा आत्म-ज्ञान संभव है । आत्मावलोकन के समय तक कर्ममार्ग का अनुसरण करना चाहिए जिसके द्वारा मोक्ष प्राप्ति होती है । परन्तु मनुष्य का प्रधान कर्त्तव्य परम भक्ति के साथ ईश्वर में आसक्त रहना है ।

तेरहवीं शताब्दी के पहले तीन चतुर्थांशों में रहने वाले मध्वाचार्य अथवा आनन्द तीर्थ ने गीताभाष्य नामक भगवद्गीता पर एक भाष्य लिखा जिस पर जयतीर्थ ने प्रमेय-दीपिका में टीका की है । उन्होंने एक भगवद्-गीता तात्पर्यनिर्णय नामक एक अलग लेख भी लिखा जो गीता के मुख्य तात्पर्य को बताता है । इस ग्रन्थ पर टीका जयतीर्थ ने अपनी न्याय दीपिका में की है । उसने इस तथ्य पर मुख्य बल दिया है कि ईश्वर प्रत्येक वस्तु से भिन्न है और परम लक्ष्य की प्राप्ति का एक मात्र साधन प्रेमा-भक्ति ही है । व्याख्या करते हुए उन्होंने लम्बे वाद-विवाद द्वारा शंकराचार्य के अद्वैतवाद का खंडन किया है । मनुष्य को सांसारिक वस्तुओं में आसक्ति नहीं रखना चाहिए क्योंकि प्रत्येक वस्तु हरि-इच्छा से ही प्रभावित होती है । कर्म प्रत्येक व्यक्ति को करना ही है । चौदहवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में रहने वाले मध्व के छठे शिष्य कृष्णभट्ट विद्याधिराज ने गीता टीका नामक ग्रन्थ लिखा है । सत्रहवीं शताब्दी में रहने वाले सुधीन्द्र यती के शिष्य राघवेन्द्र स्वामी ने गीता पर गीताविवृति, गीतार्थ-संग्रह और गीतार्थ-विवरण नामक तीन ग्रंथ लिखे हैं । वल्लभाचार्य, विज्ञानभिक्षु एवं निम्बार्कमत के केशर्व भट्ट ने भी (गीता तत्त्व प्रकाशिका) नामक, आंजनेय ने हनुमद् भाष्य, कल्याणभट्ट ने रसिकरंजिनी, जगद्धर ने भगवद्गीता प्रदीप, जयराय ने गीतासारार्थ संग्रह, बलदेव विद्याभूषण ने गीताभूषण भाष्य, मधुसूदन ने गूढार्थ-दीपिका, ब्रह्मानन्दगिरि, मथुरानाथ ने भगवद्-गीता-प्रकाश, दत्तात्रेय ने प्रबोध-चन्द्रिका, रामकृष्ण, मुकुन्ददास, रामनारायण, विश्वेश्वर, शंकरानन्द, शिवदयालु श्रीधर स्वामी ने सुबोधिनी, सदानन्द व्यास ने भाव प्रकाश, सूर्य-पंडित ने परमार्थप्रपा, नीलकंठ ने भाव-दीपिका और शैव दृष्टिकोण से राजानक और रामकंठ ने सर्वतोभद्र नामक ग्रन्थ लिखे । गीता के सामान्य तात्पर्य पर कई ग्रन्थ लिखे गए जैसे अभिनव गुप्त और नृसिंह ठक्कुर द्वारा भगवद्गीतार्थ-संग्रह, गोकुलचंद्र द्वारा भगवद्गीतार्थसार, वादिराज द्वारा भगवद्गीता लक्षा-भरण, कैवल्यानन्द सरस्वती द्वारा भगवद्गीता–सार संग्रह, नरहरि द्वारा भगवद्गीता सार संग्रह, विठ्ठल दीक्षित द्वारा भगवद्गीता-हेतु-निर्णय । उपरोक्त ग्रंथों में अधिकतर भाष्य या तो शांकर भाष्य पर आधारित हैं जो एक ही विचार को दूसरी भाषा में दोहराते हैं और या वैष्णव ग्रंथों पर आधारित है जो मानव-जीवन की

---

1 अनभिसंहितफलेन केवलपरमपुरुषाराधनरूपेणानुष्ठितेन कर्मणा विध्वस्तमनोमलोऽव्याकुलेन्द्रियो ज्ञाननिष्ठायाम् अधिकरोति । गीता, 3.3पर रामानुज की टीका । अपरञ्च, वही, 3. 4 । गुजराती प्रेस, बम्बई 1908 ।

प्रत्येक अवस्था में नित्य-नैमित्तिक कर्मों का मंडन करते हैं और कभी-कभी वे ईश्वर के स्वरूप तथा जीव के साथ उसके सम्बन्ध के बारे में मतभेद रखते हैं। युक्ति अथवा मत की दृष्टि से इनमें मौलिकता नहीं है अतः हम अपने वर्तमान हेतु के लिए इन्हें छोड़ देते हैं।

गीता और योग

गीता चाहे किसी ने ही क्यों न लिखी हो, संभवतः यह प्रतीत होता है कि गीता के लेखक को पतंजलि द्वारा अपने योग सूत्र 1–1 में प्रयुक्त चित्तवृत्ति-निरोध के अर्थ में योग शब्द का पारिभाषिक अर्थ ज्ञात नहीं था—मैं यह बता चुका हूँ कि योग शब्द की व्युत्पत्ति तीन धातु शब्दों से हुई है—युजिर् योगे और युज् समाधौ अर्थात् युजिर् का अर्थ है मिलाना और युज् चित्तवृत्ति-निरोध के अथवा एक दिशा में उन्मुख युज् संयम ने अर्थात् युज् नियंत्रण के अर्थ में। गीता में योग शब्द का प्रयोग कई अर्थों में हुआ है जो एक दूसरे से असम्बद्धित-सा जान पड़ता है। फिर भी उनके पारस्परिक सम्बन्ध की खोज करना असम्भव नहीं है। गीता में योग के प्रारम्भिक अर्थ की व्युत्पत्ति धातु युजिर् योगे अथवा युज् है जिसका अर्थ है मिलाना—जो निषेधात्मक रूप में नियंत्रण अथवा निरोध के अर्थ में युज् धातु से सम्बन्धित हैं। मिलने का अर्थ किसी वस्तु से सम्पर्क स्थापित करना है तो किसी अन्य से विच्छेद करना भी है। जब कभी किसी विशिष्ट मानसिक दृष्टिकोण अथवा कर्म करने को कहा जाता है तो बुद्धियोग शब्द का प्रयोग होता है जिसका अर्थ यह है कि व्यक्ति को किसी विशिष्ट प्रकार की बुद्धि और मानसिक दृष्टिकोण को अपनाना है। इसी प्रकार कर्मयोग शब्द का अर्थ नित्य-नैमित्तिक कर्मों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना है। इसके अतिरिक्त योग शब्द का अर्थ आत्मा अथवा ईश्वर पर चित्त को स्थिर करना है। उपरोक्त सब विभिन्न अर्थों में मुख्य अर्थ 'मिलन' से है। इस मिलन में वियोग अर्थात् विच्छेद भी अन्तर्निहित है और मूलभूत तथा आवश्यक विच्छेद का अर्थ है भोगेच्छात्याग तथा फल-त्याग। इसी कारण से ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है जहाँ योग का अर्थ कर्मफल-त्याग हो। इस प्रकार गीता के 6, 2 में कहा गया है—'हे पांडव! सन्यास को योग कहा है। संकल्पत्याग के बिना कोई मनुष्य योगी नहीं बन सकता।[1] इच्छा त्याग के इस अभावात्मक सामान्य विचार को कहने का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के इच्छा-त्याग के बिना उच्च प्रकार का ऐक्य सम्भव नहीं है। परन्तु इस प्रकार के फलेच्छा-त्याग (संयम) के साथ-साथ प्रारम्भ में नित्यनैमित्तिक कर्म करना आवश्यक है और यह केवल उच्चतर स्तर में जब वह योगारूढ़ होता है तब ही शम सम्भव है। योगारूढ़ होने के लिए विषयों एवं कर्मों में आसक्ति को जीतना एवं कर्मफलेच्छा को छोड़ना आवश्यक है। नित्य-नैमित्तिक कर्म करते हुए तथा भोगासक्ति से मन को हटाने का प्रयास करते हुए धीरे-धीरे हम स्वाभाविक रूप से भोग, आनन्द तथा स्वार्थ के उद्देश्य से अलग होने में सफल होते हैं। इस स्तर पर ही मनुष्य योगारूढ़ कहलाता है। इस समय परमात्मा एवं आत्मा अथवा

---

1 असंन्यस्तोऽपरित्यक्तः फलविषयः संकल्पोऽभिसंधिर्येन सोऽसंन्यस्तसंकल्पः। शांकरभाष्य, 6. 2 न सन्यस्तः फल-संकल्पो येन। उपरोक्त पर श्रीधर भाष्य। योगाश्रम संस्करण, बनारस 1919।

यथार्थ एवं मिथ्या आत्मा के बीच संघर्ष होता है। क्योंकि आत्मा का झुकाव हमेशा स्वार्थ तथा सुख एवं रोगलक्षण निदान एवं कार्य-चिन्ता से सम्बन्धित प्रयोजनों की तरफ रहता है परन्तु इसके अन्दर ही उच्चतर आदर्श रहता है जो इसे ऊँचा उठा सकने में समर्थ है। मनुष्य अपना ही मित्र है और अपना ही शत्रु है। यदि वह अपने स्वाभाविक रुझानों तथा विषयानन्द के प्रलोभनों का अनुसरण करें तो वह बुराई का निम्न मार्ग अपनाता है तथा वह अपने उच्चतर मूल्यों का शत्रु है। जबकि उसका स्पष्ट कर्त्तव्य है कि वह अपने आपको ऊँचा उठाए, तथा ऐसा प्रयास करे कि वह नीचा नहीं गिरे तथा विषयों में अनासक्ति के स्तर तक पहुँच जाए। मित्र एवं शत्रु, विजेता एवं जित, ऊँचा उठाने वाली शक्ति एवं आकर्षित करने वाली शक्ति का द्वैत परमात्मा एवं आत्मा का अन्तर बताता है। जब परमात्मा आत्मा को जीत लेता है तब आत्मा अपना ही मित्र है। जब व्यक्ति अपनी वासनाओं तथा आसक्तियों को जीतने में असफल होता है तो व्यक्ति अपना ही शत्रु है। बुराई की तरफ आर्कषित होती हुई आत्मा में भी आत्मोद्धार की शक्ति निहित रहती है। यह आत्मोद्धार की शक्ति बाह्य नहीं है, यह तो आत्मा में ही निवास करती है और गीता इस आज्ञा में दृढ़ है–'तुम्हें अपना उन्नयन करना चाहिए, अपने-आपको पतनोन्मुख नहीं करना चाहिए क्योंकि आत्मा ही आत्मा का मित्र एवं शत्रु है।[1]

जब इस प्रकार आत्मा निम्न प्रवृत्तियों को जीत लेती है और उदात्त भूमि पर आ जाती है तब ही आत्मा और परमात्मा का मिलन होता है। परमात्मा में सदैव उत्थान का आदर्श रहता है। इस प्रकार योग के दो कार्य हैं–एक तो स्वाभाविक झुकाव वाली इन्द्रिय-आसक्ति से अलग करने का प्रयास एवं दूसरी ओर अपना उन्नयन करना तथा परमात्मा से संस्पर्श का प्रयास। प्रथम स्तर पर मनुष्य शास्त्र के विधिनिषेध के अनुसार कर्म करता है तदनन्तर स्वार्थोद्देश्य से तथा भोगासक्ति से अलग करने का प्रयत्न करता है एवं दूसरे स्तर पर वह निम्न प्रयोजनों को जीतने में एवं परमात्मा से संस्पर्श करने में सफल होता है। उस स्थिति में भी वह अपना कर्त्तव्य केवल कर्त्तव्य के लिए करता रहता है अथवा परमात्मा से संस्पर्श एवं ध्यानोपासना में उसका समय बीतता है। इस प्रकार गीता की मान्यता है कि जिस मनुष्य ने अपने आपको जीत लिया है तथा जो अपने आप में शान्त है वह परमात्मा से मिलता है। वही व्यक्ति सच्चा दार्शनिक है क्योंकि उसे केवल सत्य का ज्ञान ही नहीं वरन् आत्मानुभूति के कारण वह प्रसन्न भी है और उसने ऐसे सत्यों का प्रत्यक्ष साक्षात्कार कर लिया है। उसे कोई डिगा नहीं सकता। वह इन्द्रियजित् स्वर्ण और लोष्ठ में, शत्रु एवं मित्र में, पापी एवं सदाचारी में समानता देखता है। 6-8, 6-10। उसका परमात्मा के साथ मिलन होता है एवं वह योगी कहलाता है।[2] कई गद्यांशों से

---

1 6. 5।

2 युक्त इति उच्यते योगी समलोष्ठाश्मकांचनः 6. 8। शंकर इसे निम्न प्रकार से स्वतंत्र वाक्यों में विभाजित करते हैं :–य ईदृशो युक्तः समाहित इति स उच्यते कथ्यते; स योगी समलोष्ठाश्मकांचनः। श्रीधर का मत इससे बिल्कुल भिन्न है। उसकी राय में यह योगारूढ़ स्थिति की परिभाषा है एवं युक्त का अर्थ योगारूढ़ से है जो मेरी राय

(जहाँ इस प्रसंग में क्रिया 'युज्' का प्रयोग हुआ है) यह स्पष्ट है कि योगी शब्द की व्युत्पत्ति 'युज्' धातु से हुई है ।[1]

गीता के मत में ईश्वर अथवा परमात्मा से ऐक्य स्थापित करने के इच्छुक योगी को अपने मन एवं शरीर को नियंत्रण में रखकर निराश रहते हुए अपरिग्रही एवं एकाकी रहना चाहिए ।[2] योगी शुद्ध एवं समभूमि पर अपना स्थिर आसन लगाए, उस पर पहले दर्भ फिर मृगछाला और फिर कोमल वस्त्र बिछाए; वहाँ अपने विचारों, इन्द्रियों एवं क्रिया-व्यापारों को नियंत्रित करे तथा मन को भगवान के एकाकी बिन्दु पर केन्द्रित करे, आत्म-शुद्धि के लिए आसन पर बैठ कर योग का अभ्यास करे तथा इस प्रकार स्वयं को पवित्र करे ।[3] योगी को न तो अतिशय खाना चाहिए और न बिल्कुल कम ही खाना चाहिए तथा न खूब सोना चाहिए और न जागरण ही करना चाहिए । इस प्रकार उसे जीवन का मध्यम मार्ग अपनाना चाहिए एवं अतिशय से बचना चाहिए । पतंजलि द्वारा उपदिष्ट योग-क्रिया से यह अतिशयता से बचाव बिल्कुल भिन्न है । पातंजल-योग ने एक ऐसी विधि का वर्णन किया है जिसके द्वारा योगी शनैः शनैः अपने जीवन की ऐसी अवस्था में अभ्यस्त हो जाता है कि अन्ततोगत्वा वह खाना-पीना पूर्णरूप से छोड़ सकता है एवं शरीर और मन को निश्चल बना सकता है । मन को एकाग्र करने में योगी का अन्तिम लक्ष्य मन की चंचलता को समाप्त करना है । पतंजलि के अनुसार योगी के समक्ष चित्तवृत्ति-निरोध के रूप में उत्थान का एक उद्देश्य रहता है । पूर्ण निरोध शरीर की सम्पूर्ण गतियों को रोके बिना सम्भव नहीं है । एतदर्थं इच्छाओं एवं वासनाओं का मूलोच्छेदन केवल इसीलिए आवश्यक नहीं है कि वे मन को विभिन्न विषयों की ओर उड़ा ले जाती हैं बल्कि इसलिए भी है कि वे शरीर की गति को आवश्यक बना कर पुनः मन को क्षुब्ध बना देगी । अतः योगी को मन एवं शरीर की द्विविध गतियों के नियंत्रण का अभ्यास करना है । सब प्रकार के सुखों के अभाव में तथा जलवायु की शीतोष्णसम्बन्धी असुविधाओं में अभ्यस्त होकर अन्ततः

में अनुचित है । मेरी व्याख्या सरलतर एवं उपरोक्त दोनों परिभाषाओं से अधिक अपरोक्ष है तथा छठे अध्याय के सातवें और दसवें श्लोकों के प्रसंग में उचित ठहराए जा सकते हैं ।

1 योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः गीता–6–10 ।
उपविश्यासने युंज्याद् योगमात्मविशुद्धये–6–12 ।
युक्त आसीत मत्परः–6–14 ।
युंजन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः 6–15 ।

2 एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः 6.15 शंकर, श्रीधर एवं अन्य लेखकों के अनुसार–'यतचित्तात्मा' में 'आत्मा' शब्द देहार्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

3 शंकर एवं श्रीधर 'तंत्र' का प्रयोग 'आसने' के विशेषणार्थ में करते हैं । 'आसने' का यह विशेषण केवल व्यर्थ ही नहीं होगा अपितु 'एकाग्रम्' बिना किसी कर्म के रह जाएगा । 'युञ्ज्यात्' क्रिया की (जिसका शाब्दिक अर्थ जोड़ना चाहिए) पर श्रीधर ने 'अभ्यास करना चाहिए' कह कर टीका की है जो संगत प्रतीत नहीं होती (6.12) ।

सम्पूर्ण प्रकार की शारीरिक गतियों को रोकने की तैयारी में उसे खाने-पीने की आवश्यकता से मुक्त होने की आदत डालना है। परन्तु जबतक व्यक्ति का श्वासोच्छ्वास चालू है, तबतक यह सफलतापूर्वक नहीं किया जा सकता अतः उसे घंटों एवं दिनों तक ही नहीं बल्कि कई मास एवं वर्षों तक पूर्ण श्वास-नियंत्रण हेतु प्राणायाम में अभ्यस्त होना है। योग में नैतिक उत्थान को केवल इसीलिए आवश्यक माना गया है कि इच्छाओं एवं वासनाओं का पूर्ण निरोध किए बिना शरीर एवं मन की गतियों को पूर्णरूप से नहीं रोका जा सकता। योगी को शरीर एवं मन में गति पैदा करने वाली सब नई बाधाओं को ही दूर नहीं करना पड़ता अपितु सूक्ष्मतर विषयों पर मन की एकाग्रता का अभ्यास करना पड़ता है ताकि उसके परिणामस्वरूप मन की अर्द्धचेतन शक्तियों को भी नष्ट किया जा सके। इस प्रकार मन की शक्ति को क्षीण करने के लिए हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि नए इन्द्रिय-विषय, नए संकल्प, विचार, भाव इत्यादि उसे (मनको) आक्रान्त न कर सकें एवं दूसरी ओर मन को एकाग्र करने वाली क्रियाएँ करते रहना चाहिए जिनके द्वारा अर्द्धचेतन पूर्वानुभूतियों का महान् कोष विलीन हो जाए। दोनों ओर से बाहर निकाला हुआ मन पूर्णरूप से रिक्त एवं विलीन हो जाता है। पातंजल-योग का आदर्श शरीर एवं मन के समस्त व्यापारों का पूरा निरोध करने वाला पूर्ण अतिशयतावाद (Extremism) है।

गीता दूसरी ओर युक्ताहार, पान, निद्रा तथा शरीर की सामान्य गतियों का एक स्वर्णिम मध्यम मार्ग निर्धारित करती है। गीता के योगी का उद्देश्य मन का पूर्णरूप से निरोध नहीं है बल्कि मन अथवा आत्मा का ईश्वर के साथ एकत्व स्थापित करना है। ध्यानाभ्यास करने वाले योगी को आसन करने के लिए गीता का उपदेश है। इसका कहना है कि योगी शरीर, मस्तक और गर्दन को सम करके स्थिर होता हुआ इधर-उधर न देखे और अपनी नाक की नोक पर दृष्टि जमावे। गीता को प्राणायाम एवं श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया ज्ञात है। परन्तु आश्चर्य है कि ध्यान-योग के छठे अध्याय में इसका कुछ भी प्रसंग नहीं है जहाँ प्रायः सम्पूर्ण अध्याय योगाभ्यास एवं योगियों के आचरण से परिपूरित है। पाँचवें अध्याय के सत्ताईसवें श्लोक में कहा गया है कि कुछ लोग सम्पूर्ण इन्द्रियों तथा प्राणों के सब कर्मों का आत्म-संयम रूपी अग्नि में हवन किया करते हैं। उसी अध्याय के दो अस्पष्ट श्लोकों (5. 29 और 30) में कहा गया है कि कुछ लोग प्राणवायु का अपान में एवं अपानवायु का प्राण में हवन किया करते हैं और इस प्रकार प्राण और अपान की गति को रोककर प्राणायाम किया करते हैं और कुछ लोग अल्पाहारी होकर प्राणों में प्राणों का ही होम किया करते हैं। ऐसे कार्य विभिन्न प्रकार के यज्ञ कहे गए हैं तथा उन्हें संपादित करने वाले योगी नहीं बल्कि यज्ञ-विदः (अर्थात् यज्ञ के विज्ञान को जानने वाले) कहलाते हैं। प्राण को प्राण में अथवा प्राण को अपान में होमने का तथा उसे यज्ञ कहने का ठीक-ठीक अर्थ समझना कठिन है। शंकर, श्रीधर तथा अन्य लेखकों की व्याख्या इस सम्बन्ध में हमारी सहायता नहीं करती। वे हमें यह नहीं बताते कि इसे क्योंकर यज्ञ कहा जाए अथवा किस प्रकार प्राण का प्राण में हवन किया जा सकता है एवं इस सम्बन्ध में प्रयुक्त शब्द 'जुह्वति' का पर्यायवाची शब्द भी हमें वे नहीं बताते। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि संभवतः इस सम्बन्ध में रहस्यमयी प्रतीकोपासनाओं का प्रसंग है जो यज्ञों के स्थान पर प्रयुक्त हुए थे एवं जिनका प्रसंग उपनिषदों में पाया जाता है। इस प्रकार मैत्री

उपनिषद् 6.9 में ब्रह्म की ग्रहं के रूप में उपासना करने का उपदेश है तथा इस सम्बन्ध में पाँच प्रकार की वायु का 'प्राणाय स्वाहा' 'अपानाय स्वाहा' इत्यादि मंत्रों के साथ अग्नि में हवन करने का उपदेश है। हम सरलतापूर्वक यह कल्पना कर सकते हैं कि विकासोत्तर काल में आहुति का स्थान प्राणायाम ने ग्रहण कर लिया और रूपान्तर में भी उसकी संज्ञा यज्ञाहुति की ही प्रचलित रही। यदि यह कल्पना स्वीकार की जाए तो इससे प्रतीत होगा कि प्राणायाम-प्रक्रिया किस प्रकार वैदिक काल की प्रतीकोपासना के साथ जोड़ दी गई।[1] प्रतीकोपासना के प्रसंग में प्राणायाम का विकास अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः मैत्री उपनिषद् 6. 18 में प्रतीकोपासना के साथ-साथ प्राणायाम का निश्चित रूप से वर्णन है। शरीर की उष्णता, पूरक व रोक क्रियाओं से उत्पन्न होती है जिसमें जठराग्नि भी सम्मिलित है और कृष्ण का भी गीता में ऐसा ही आशय मिलता है (15.14) 'मैं वैश्वानर रूप अग्नि होकर प्राणियों की देह में रहता हूँ और प्राण एवं अपान से युक्त होकर चार प्रकार के अन्न को पचाता हूँ।' भगवान् कृष्ण इस बात को भली प्रकार जानते थे कि नासिका में विचरण करने वाले पान अपान सम किए जा सकते हैं अथवा प्राणवायु को भ्रुवों के मध्य में या मूर्धा में स्थिर किया जा सकता है।[2] प्राण को मूर्धनि अथवा भ्रुवों के मध्य में ले जाने का वास्तविक प्रयोजन बताना कठिन है। अथर्व-शिरा उपनिषद् एवं अथर्व-शिखा उपनिषद् में माना गया है कि प्राण की ऊर्ध्व गति सम्भव है अथवा यह प्राण मूर्धा में रहने के कारण उसकी रक्षा कर सकता है।[3] वयोवृद्धों के दर्शन होते ही युवकों के प्राण उठने की बात मनुस्मृति में भी कही गई है। परन्तु कुछ भी हो, एक बात स्पष्ट है कि पतंजलि के योग में प्राण और अपान को सम करने एव मूर्धा एवं भ्रुवों के मध्य में प्राणों को स्थिर करने की क्रिया का शाब्दिक वर्णन नहीं है।

गीता के छठे अध्याय में योगी की दिनचर्या के प्रसंग में गीताकार ने सलाह दी है कि योगी को निडर होकर शान्त अन्तःकरण से ब्रह्मचर्य का पालन करके तथा मन का संयम करके चित्त लगाकर ईश्वर-परायण होते हुए मुझ में ही युक्त हो जाना चाहिए। इससे उसकी आत्मा को शान्ति प्राप्त होती है तथा जिसके द्वारा उसका अहं परमात्मा में विलीन

---

1 एस० एन० दासगुप्ता द्वारा लिखित 'हिन्दू मिस्टिसिज्म' देखो।
शिकागो 1927, पृ० 18–20।

2 प्राणापानौ समौकृत्वा नासाभ्यान्तरचारिणौ–5–27। यहाँ शंकर ने 'समौकृत्वा' की व्याख्या नहीं की है। श्रीधर के अनुसार प्राण एवं अपान ही ऊर्ध्व एवं अधोगति के निरोध से सम करके 'प्राणापानौ ऊर्ध्वाधोगतिनिरोधेन समौ कृत्वा कुम्भकं कृत्वा– प्राणवायु को दोनों भ्रुवों के मध्य में सम्यक् प्रकार से रखने का सही तात्पर्य का पता नहीं। भ्रुवोर्ममध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्' (8–10)। हमें यहाँ शंकर तथा श्रीधर दोनों से कोई सहायता नहीं मिलती। 'मूर्ध्न्यात्मानः प्राणमास्थितो योगधारणाम् (8–12) में श्रीधर ने 'मूर्ध्नि' की व्याख्या 'भ्रुवोर्मध्ये' (दोनों भौहों के बीच में) की है।

3 अथर्वशिरा, 4 तथा 6, एवं अथर्वशिखा, 1।

हो जाता है और उसके संस्थान में निर्वाण का आनन्द प्राप्त करता है।[1] योगी मन को आत्मा में एकाग्र करके एवं वासना रहित होकर ही योगारूढ़ हो सकता है। योग की उपरोक्त साधना के द्वारा वह समस्त विषयों से अपना मन खींच लेना है एवं आत्मा के द्वारा आत्मा का दर्शन करके परम शांति और संतोष प्राप्त कर लेता है। इस उच्चतर स्थिति को प्राप्त कर लेने पर शुद्ध बुद्धि के द्वारा विषय-सुख के परे जाकर तथा ईश्वर में स्थित होकर आत्यंतिक सुख का अनुभव करता हुआ योगी कदापि उससे दूर नहीं हटता। ऐसा योगी अपनी सब वासनाओं को छोड़ देता है तथा मन के द्वारा इन्द्रियों को नियंत्रित करता है और जब कभी भी मन विभिन्न विषयों की ओर भ्रमित होता है, तब उसे नियंत्रण करने का तथा स्थिर करने का प्रयत्न करता है। मन को शनैः शनैः आत्मा में स्थिर करके एवं बाह्य विषयों को बाहर करके आंतरिक संकल्पों को त्यागने का प्रयत्न करता है एवं विषयों में राग को त्यागने का अभ्यास करता है। योग की इस सीढ़ी पर योगी को परम प्राप्ति का भाव हो जाता है और ऐसी स्थिति में उसे महानतम सांसारिक दुःख किञ्चित् मात्र भी विचलित नहीं कर सकता। योग की परिभाषा कभी-कभी यह दी जाती है कि उसमें दुःख के संस्पर्श की सम्भावना नहीं है।[2] यह स्थिति केवल निरन्तर आत्मविश्वास के साथ साधना करने से एवं प्रारम्भिक असफलताओं से खिन्न हुए बिना प्राप्त की जा सकती है। वासनाओं से अविचलित एवं राग से अविक्षुब्ध योगस्थ योगी की उपमा निर्वायु स्थान में रखे हुए दीपक की स्थिर ज्योति से की गई है।[3] इस परम स्थिति को प्राप्त हुए योगी को ब्रह्मभूत की संज्ञा दी गई है और यह अधिकार पूर्वक कहा गया है कि उसे परमानन्द की प्राप्ति हो गई है। योगयुक्त अपनी आत्मा में सब भूतों को देखता है और सब भूतों में अपनी आत्मा को देखता है। योग युक्त होने के कारण वह ब्रह्मभूत होकर

---

1 शांति निर्वाणपरमां मत्-संस्थामधिगच्छति 6–15 'शांति' एवं 'निर्वाण' शब्दों के प्रयोग ईश्वरसंस्थ व्यक्ति के आनन्द की ओर संकेत करते हैं। उपर्युक्त दोनों शब्दों का और विशेषतया 'निर्वाण' का बौद्ध दर्शन में निश्चित महत्त्व है। परन्तु गीता को यह बौद्ध दर्शन का मान्य अर्थ अज्ञात है। अतः मैं 'निर्वाण' शब्द का अनुवाद 'आत्म-विलीनीकरण का आनन्द' करता हूँ। यह शब्द मुख्यतया प्रकाश के बुझने' के अर्थ में किया गया है। गीता से परम्परागत रूप में सम्बन्धित महाभारत में भी इसी अर्थ को लिया गया है–3-10438।

स पीत्वा शीतलं तोयं पिपासार्त्तो महीपतिः।
निर्वाणमगमद्धीमान् सुसुखी चाभवत्तदा।'

पुन महाभारत 12.7150 एवं 13014 में 'निर्वाण' परम सुख के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है तथा इसका सम्बन्ध शान्ति से है (जैसाकि उपरोक्त श्लोक में वर्णित है—'शांति निर्वाणपरमाम्' महाभारत 6.1079 तथा अन्य स्थल पर यह शब्द 'परमं ब्रह्म' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। महाभारत 10.13239।

2 तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् 6. 23।

3 यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमास्मृता, 6. 19।

सब भूतों में ईश्वर को देखता है और ईश्वर में सब प्राणियों को देखता है। फिर भी यह केवल अव्यावहारिक सर्वेश्वरवाद नहीं है क्योंकि ऐसा दृष्टिकोण विविध प्रसंगों में दोहराए गए मुख्यादेशों के विरुद्ध है। एक ओर तो वह एक रहस्यमय अवस्था है जिसमें वह ब्रह्मभूत होकर ब्रह्म के साथ एकत्व स्थापित करता है और दूसरी ओर योगयुक्त संसार से विरक्त नहीं होता क्योंकि वह उसे अपना स्वयं का ही स्वरूप समझता है। वह अपने सुख को दूसरों के सुख से बढ़ावा नहीं देता एवं अपने दुःख को महत्त्व नहीं देता। अर्थात् अपने सुख में या दुःख में अथवा दूसरों के सुख अथवा दुःख में अपनी आत्मा से उपमा देता है। योगारूढ़ होने के कारण वह सर्वव्यापी तथा सबको धारण करने वाले ईश्वर को अपना स्वामी समझकर उसकी उपासना करता है। परमात्मा के साथ एकत्व स्थापित करके योगी अपनी आत्मा से परे चला जाता है तथा उस ईश्वर का जो केवल उच्चतम साधनों का परम आदर्श ही नहीं अपितु परम तत्त्व भी है,—अपनी आत्मा में साक्षात्कार करता है। ज्योंही योगी अपनी निकृष्टतर वासनाओं एवं इच्छाओं से वीतराग हो जाता है, वह अपना उत्थान उच्चतर स्थिति में कर लेता है जहाँ पर 'मेरा' और 'तेरा' का भेद नहीं रहता एवं व्यक्तिगत स्वार्थ की सीमा समाप्त होकर विस्तृत एवं सार्वभौमिक हो जाती है तथा स्वार्थ परमार्थ में परिवर्तित हो जाता है। इस दृष्टिकोण से योग को गीता ने कहीं-कहीं समत्व की संज्ञा दी है।[1]

गीता में पतंजलि योग-सूत्र जैसा योग का कोई निश्चित एवं विशेष अर्थ नहीं माना गया है जिसके फलस्वरूप योग की परिभाषा एक नहीं अनेक की गई है। इस प्रकार, योग को कर्म-योग कहा गया है (5–1) और इसे सांख्य-योग अर्थात् ज्ञान-योग से भिन्न समझा गया है (2, 39)। कर्मयोग को योगियों का मार्ग (3–3) (3, 7) (5, 2) (13, 24) में बताए जाने का प्रसंग है। बुद्धियोग का भी प्रयोग कम से कम तीन स्थानों पर (2–49, 10:10, 18:57) और भक्तियोग का प्रयोग एक स्थान पर (14:26) किया गया है। इन सभी प्रसंगों में योग का जो अर्थ अनुकूल प्रतीत होता है वह 'संयुक्त होना'। यह कहा ही जा चुका है कि योग का उपरोक्त व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ गीता का मुख्य विषय है। गीता का एक मुख्य उपदेश यह है कि मनुष्य को अपने नित्य कर्म करने चाहिएँ और इसी कर्त्तव्य परायणता को ही कर्मयोग कहा गया है। परन्तु स्वार्थलाभ अथवा सुख की भावना से प्रेरित होकर किए जाने की अवस्था में कर्म परम लाभ की प्राप्ति के हेतु नहीं हो सकते। अतः किसी लाभ अथवा सुख से प्रेरित हुए बिना कर्म करने की सलाह दी गई है। अतएव कर्म करते हुए शुभ एवं अशुभ फलों से, सुख एवं दुःख से तथा अपने ही कर्मों से उत्पन्न निन्दा और स्तुति से निष्कलंकित रहना फल में अनासक्ति रखने से सम्भव है और मनुष्य के लिए कर्म करने का यही उचित ढंग है। निष्काम कर्म करना ही कर्म में कुशलता है क्योंकि इसी मार्ग द्वारा मनुष्य योगयुक्त होने अथवा आत्म-लाभ में समर्थ हो सकता है। यहाँ योग को कर्म करने में कुशलता कहा गया है (योगः कर्मसु कौशलम् 2.50) केवल कर्म करने की अथवा अनासक्ति रहने की कला ही योग नहीं कही जा सकती। इसे योग इसलिए कहा गया है क्योंकि वह परम तत्त्व की प्राप्ति में एक आवश्यक साधन है। अतः यह स्पष्ट है कि योग शब्द का क्रमशः उच्चतर भावार्थों में रूपान्तर हुआ है जिसका आधार निस्संदेह 'युज्' धातु है।

---

1 समत्वं योग उच्यते, 2.48।

इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखना महत्त्वपूर्ण है कि पातंजल-योग में वर्णित प्राणायाम की प्रक्रिया गीता के कर्मयोग, बुद्धियोग अथवा परमयोग की आवश्यक अंग नहीं मानी गई है। यह कहा जा चुका है कि प्राणायाम का प्रयोग प्रतीकोपासना के प्रसंग में ही हुआ है जिसका गीता के योगसम्बन्धी सामान्य विचार से कोई सम्बन्ध नहीं है। गीता में समाधि शब्द का प्रयोग संज्ञारूप में तीन बार (2:44,53,54) और क्रियारूप में तीन बार (6:7, 12:9, 17:2) किया गया है परन्तु क्रिया रूप का प्रयोग पतंजलि के विशेष अर्थ में नहीं हुआ है, अपितु साधारण धात्वर्थ में अर्थात् स=म्-आ+धा=(अर्पण या स्थापन)। दो स्थानों पर (2.44 तथा 53) संज्ञा रूप में प्रयुक्त समाधि शब्द का अर्थ श्रीधर और शंकर ने मन का अधिष्ठान अथवा मन का परम धाम अर्थात् ईश्वर बतलाकर किया है।[1] गीताकार को मानव के आंतरिक नैतिक संघर्ष का भली-भाँति ज्ञान था। उसके मतानुसार हम अपने आत्म तत्त्व से संपर्क स्थापित करके ही अपनी वासनाओं की तुच्छता का, कर्म फलेच्छा का एवं निकृष्ट स्वार्थपरता को अपेक्षाकृत अधिक आदर देने का परित्याग कर सकते हैं। क्योंकि आत्मतत्त्व से सम्पर्क स्थापित करना ही ईश्वर से सामीप्य स्थापित करना है। इस अवस्था में जगत् में मानव के स्थान तथा उसके भविष्य के बारे में उसका विस्तृत तथा उच्चतर दृष्टिकोण बन जाता है इसलिए वह ब्रह्म के साथ एकत्व स्थापित करता है जिसके फलस्वरूप उसका व्यक्तिगत स्वार्थ समाप्त हो जाता है। वह नीच-ऊँच में एवं पापी और पुण्यवान् में समदर्शी हो जाता है। वह ईश्वर को सर्व भूतों में तथा सब प्राणियों को ईश्वर में देखता है और यही स्थिति गीता के अनुसार वास्तविक योग है। इस स्थिति में जाति धर्म, उच्च पद, पाप, पुण्य एवं ऊँच-नीच की सब विषमताएँ समाप्त हो जाती हैं, और इस सार्वलौकिक समानता की श्रेष्ठानुभूति को भी योग कहा गया है। केवल इस स्थिति को ही योग की संज्ञा नहीं दी गई है अपितु स्वयं ईश्वर को भी योगेश्वर कहा गया है। इस योग के फलस्वरूप योगी को परम शांति तथा परमानन्द की प्राप्ति होती है तथा उसे तनिक मात्र भी भौतिक दुःख-दर्द स्पर्श नहीं कर सकते। दुःख अथवा आनन्द की अवस्था से यह पूर्ण स्वतन्त्रता योग का फल होने के कारण स्वयं योग कही गई है। उपर्युक्त सर्वेक्षण से यह स्पष्ट है कि गीता का योग पतंजलि के योग से सर्वथा भिन्न है और गीता-कार पातंजल-योग अथवा उसके द्वारा प्रयुक्त विशिष्ट पदों से परिचित रहा होगा—ऐसी सम्भावना प्रतीत नहीं होती।[2]

गीता में योग का विश्लेषण भी उपनिषदों में वर्णित योग से सर्वथा भिन्न है। कठोपनिषद् में इन्द्रिय-दमन को योग कहा गया है परन्तु गीता में दम को योग न मानकर

---

1. 2.44 में शंकर ने अंतःकरण अथवा बुद्धि को मनस् का कर्म माना है। परन्तु श्रीधर इस कर्म को ईश्वर मानते हैं एवं 2.53 में शंकर और श्रीधर में मतैक्य है कि कर्म अथवा योगारूढता अथवा मिलन का आधार ईश्वर है।

2. 'पश्य में योगमैश्वरम्' 9.5, एतां विभूतिं योगंच 10.7, उपर्युक्त दोनों स्थलों पर 'योग' का विभिन्न अर्थ है क्योंकि वह अलौकिक शक्तियों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, परन्तु टीकाकार शंकर एवं श्रीधर वहाँ भी उसका अर्थ 'युक्ति' के अर्थ में तथा 'ऐश्वरं योगं' की व्याख्या 'अलौकिक शक्तियों से युक्त' के अर्थ में करते हैं।

उसको केवल प्रारम्भिक अवस्था ही माना गया है । अन्य उपनिषदों में वर्णित बहुत सी योगिक प्रक्रियाओं में पतंजलि के मत की तरह योग को षड़गयोग अथवा अष्टांगयोग की संज्ञा दी गई है । उनमें केवल प्राणायाम का ही नहीं अपितु षट्चक्र तन्त्र के अर्वाचीन ग्रन्थों में शरीर के नाड़ी-तंत्र, इड़ा-पिंगला, सुषुम्ना, नाड़ी तन्तुओं का जाल, मूलाधार एवं अन्य समान विषय का विस्तृत विवरण है । उदाहरणार्थ, अमृतनाद भी पतंजलि की तरह योग के षडग, प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क, समाधि का वर्णन करते हैं तथा कैवल्य स्थिति को ही योग का अन्तिम लक्ष्य मानते हैं । अमृत-बिन्दु का मत है कि सर्वव्यापी ब्रह्म (विभु) ही एकमात्र सत् है और उसके मतानुसार मनस् ही बंध एवं मोक्ष का कारण होने से योगी के लिए सर्वश्रेष्ठ उपाय यही है कि वह उसको विषय-विहीन तथा क्रियाहीन करे और इस प्रकार मन का विलीनीकरण करके ब्रह्मभूत हो जाय । ब्रह्म को यहाँ पूर्ण निर्गुण, अननुमेय, अनन्त और अनादि की संज्ञा दी गई है । क्षुरिक प्राणायाम, ध्यान, धारणा और समाधि का वर्णन सुषुम्ना, पिंगला नाड़ी तन्तुओं के जाल इत्यादि के साथ-साथ वर्णन करता है । तेजोबिंदु नामक एक वेदान्तिक उपनिषद् है जो अद्वैतवाद के भी आगे है । उसने योग को अद्वितीय एवं शुद्ध चैतन्य स्वरूप ब्रह्म के साक्षात्कार का साधन एवं जगत् को मिथ्या माना है । उसमें योग के निम्नलिखित पंचदशांग बताए गए हैं : यम, नियम, त्याग, मौन, एकान्त, आसन, ध्यान, शरीर को सीधा रखना, दृक् स्थिति, प्राण संयमन, प्रत्याहार, धारणा, आत्मोपासना और ब्रह्मानुभूति । योग की यह व्याख्या पातंजल-योग एवं गीता के योग से सर्वथा भिन्न है । त्रिशिक ब्राह्मण ग्रन्थ में वर्णित अष्टांगयोग और पातंजल-योग के आठ अंगों में नाम में समानता होते हुए भी अर्थ में भिन्नता है । जैसे कि यहाँ यम का अर्थ वैराग्य, नियम का अर्थ परम तत्त्व में अनुरक्ति, आसन का अर्थ सब वस्तुओं के प्रति उदासीनता, प्राण संयम का अर्थ जगत् के मिथ्यात्व की अनुभूति, प्रत्याहार का अर्थ मन का अन्तर्मुखी होना, धारणा का अर्थ मन की निश्चलता, ध्यान का अर्थ स्वयं को शुद्ध चैतन्य समझना, समाधि का अर्थ ध्यान-विहीन अर्थात् निर्विकल्पता है । फिर भी पतंजलि द्वारा वर्णित यम नियम के प्रायः सभी गुण इसमें वर्तमान है । इसमें हठयोग की तरह कई आसनों की, नाड़ी तन्तुओं के जाल में प्राण की गति, नाड़ी-शुद्धि के तरीके एवं प्राणायाम की प्रक्रियाओं का वर्णन है । यहाँ भी योग का लक्ष्य मन का विलीनीकरण एवं कैवल्य की प्राप्ति है । दर्शन ग्रन्थ में पतंजलि की तरह ही यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि इत्यादि अष्टांग योग के साथ ही साथ नाड़ियों का अध्ययन और उनमें प्राण एवं अन्य वायु के प्रकार की गति का वर्णन है । यहाँ योग का अन्तिम उद्देश्य ब्रह्मभूत की प्राप्ति एवं जगत् को माया और मिथ्या समझना है । ध्यानबिंदु ने आत्मा को सब वस्तुओं की कड़ी तथा आवश्यक सार बताया है जैसेकि पुष्पों में गन्ध, माला में सूत्र, एवं तिल में तेल । इसमें आसन, प्राण-संरोध, प्रत्याहार धारणा, ध्यान, समाधि षडग योग का वर्णन है । इसमें चतुश्चक्र, कुंडलिनी एवं मुद्राभ्यास की क्रिया का वर्णन है । इसमें प्राण और अपान के ऐक्य को योग की प्राप्ति का साधन बताया है ।[1] इस योग का लक्ष्य परमात्मा का साक्षात्कार अथवा

1 तदा प्राणापानयोः ऐक्यं कृत्वा; ध्यानबिंदु देखिए 93–5 (एड्यार लाइब्रेरी संस्करण, 1920) । यह गीता के 'प्राणापानौ समौ कृत्वा' के सदृश प्रतीत होता है ।

मोक्ष की परावस्था को प्राप्त करना है। अन्य उपनिषदों के प्रसंग की ओर जाना व्यर्थ है क्योंकि जो कुछ अबतक बताया गया है उससे स्पष्ट है कि गीता में वर्णित योग का सिद्धान्त उन योग उपनिषदों के सिद्धान्त से सर्वथा भिन्न है जिनमें अधिकतर आपेक्षिक रूप मे अतिकाल की तिथि के हैं तथा सम्भवतः जो गीता से भिन्न परम्पराओं के साथ सम्बद्ध हैं।

गीता में सांख्य और योग

गीता में कहीं-कहीं सांख्य और योग को भिन्न और कहीं-कहीं एक ही माना गया है। यद्यपि गीता का आधार गुण, प्रकृति और उसके विकार हैं फिर भी सांख्य शब्द का प्रयोग गीता में ज्ञान मार्ग के अर्थ में किया गया है। गीता के 2.39 श्लोक में ज्ञान-योग को कर्म-योग से पृथक् माना गया है वहाँ श्रीकृष्ण ने कहा है कि अभी मैंने सांख्य-योग का वर्णन किया है और अब मैं योग का वर्णन करता हूँ। इससे सांख्ययोग के अर्थ का पता चलता है। यह ज्ञान आत्मा के अमरत्व तथा उससे सम्बन्धित पूर्वजन्म के सिद्धान्त के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया गया है कि जन्म, वृद्धि एवं विनाश आदि परिवर्तन शरीर के धर्म होते हुए भी आत्मा पूर्ण रूप से अविकारी रहता है। आत्मा सनातन, विभु (सर्व व्यापी), अविकारी, अनिर्बचनीय एवं अचिन्त्य होने के कारण शस्त्र उसका छेदन नहीं कर सकते एवं अग्नि उसे जला नहीं सकती। गीता के 13-25 में यह कहा गया है कि कई लोग आत्मा को सांख्य-योग के अनुसार समझते हैं एवं शंकर इस श्लोक की विवेचना करते हुए कहते हैं कि सत्त्व, रज, और तम गुणों से पूर्णतया भिन्न आत्मानुभूति का नाम ही योग है। परन्तु यह अर्थ मान लेने पर सांख्य शब्द के साथ जुड़े हुए योग शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। शंकर ने योग शब्द के अर्थ की व्याख्या न करते हुए केवल सांख्य शब्द का अर्थ बताया है और दोनों का अर्थ एक ही किया है जो पलायन प्रतीत होता है। श्रीधर, शंकराचार्य द्वारा मान्य सांख्य की व्याख्या का अनुसरण तो करते हैं परन्तु उनके लिए सांख्य एवं योग को समानार्थ समझना कठिन है। उसने योग की व्याख्या पतंजलि के समान, आठ अंगों वाले योग के अर्थ में की है परन्तु उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया है कि अष्टांग योग को किस प्रकार सांख्य के अर्थ में लिया जा सकता है। निस्संदेह यह सत्य है कि ठीक पूर्वागत श्लोक में यह कहा गया है कि मनुष्य का व्यवहार चाहे जैसा हो यदि वह त्रिगुणमयी प्रकृति एवं पुरुष के भेद को जान लेता है तो उसका पुनर्जन्म नहीं होता। परन्तु यह मानना निराधार है कि पूर्वोक्त श्लोक में प्रयुक्त 'सांख्येन योगेन' को ज्ञानार्थ में प्रयुक्त किया गया है क्योंकि इस श्लोक में आत्मसाक्षात्कार के विभिन्न मार्गों का संक्षिप्त वर्णन करते हुए भगवान् कृष्ण ने कहा है कि कुछ लोग आत्मा का आत्मा में, आत्मा के द्वारा साक्षात्कार, ध्यान योग द्वारा, कुछ सांख्य योग द्वारा और कुछ कर्मयोग द्वारा करते हैं। दूसरे श्लोकार्ध (3.3) में कहा गया है कि दो प्रकार की निष्ठाएँ हैं—ज्ञानयोग से सांख्यों की और कर्मयोग से योगियों की। यदि योग शब्द का अर्थ जैसाकि कई प्रसंगों में प्रयुक्त हुआ है—जुड़ना लिया जाय तो सांख्य और सांख्य-योग का प्रायः एक ही अर्थ होगा। क्योंकि सांख्य-योग का अर्थ सांख्य के साथ जुड़ना होगा और 'सांख्येन योगेन' का अर्थ या तो सांख्य के साथ जुड़ना या सांख्य के साथ योग होगा। यह कहा जा चुका है कि गीता के मतानुसार 2,39 सांख्य का अर्थ

आत्मा की अमरता, सर्वव्यापकता, अविकार्यता और अनन्तता का यथार्थ ज्ञान है । यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि यह ज्ञान सम्बन्धित नैतिक उत्थान सहित आत्मा के परमात्मा के साथ मिलने का कारण बन सकता है । इस प्रकार एक ओर तो सांख्य के इस अर्थ का प्रयोजन सांख्य की कर्मयोग से भिन्नता और साथ ही सांख्य की योग से एकता प्रकट करना है । इस प्रकार गीता (5.4.5) के अनुसार मूर्ख ही सांख्य और योग को अलग-अलग मानते हैं, पंडित ऐसा नहीं मानते । क्योंकि दोनों में से किसी एक का ज्ञान होने पर दोनों का फल प्राप्त हो जाता है । ज्ञानयोगियों द्वारा जो परमधाम प्राप्त किया गया है, निष्काम कर्म-योगियों द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है । जो व्यक्ति ज्ञानयोग और निष्काम कर्मयोग को (फलरूप से) एक देखता है, वही उन्हें सही संदर्भों में समझता है । प्रसंग से ऐसा प्रतीत होता है कि श्लोकों में सांख्य और योग का क्रमशः कर्म-संन्यास और योग के अर्थ में प्रयोग किया गया है । यहाँ सांख्य का गौण अर्थ कर्म-फल-संन्यास है । अविकारी एवं अनन्त आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला ज्ञानी अपने कर्मफल में आसक्त नहीं हो सकता तथा सांसारिक तृष्णा एवं वासनाओं से प्रभावित नहीं हो सकता । जैसाकि योग शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, इसी तरह से सांख्य का अर्थ यहाँ भी मुख्यतया 'ज्ञानार्थ' के अतिरिक्त 'कर्म-सन्यास' किया गया है और चूँकि कर्मयोग का अर्थ निष्काम अर्थात् फलत्याग है अतः सांख्य और योग का व्यावहारिक अर्थ एक ही है और इसीलिए इनका तादात्म्य भी है, और दोनों का फल एक ही है । योग को 'योगयुक्त' के अर्थ में लेने पर भी फल एक ही होगा कर्त्तव्यपरायण होने की भावना में ईश्वरार्पणबुद्धि एक आवश्यक अंग है, क्योंकि बिना ईश्वरार्पणबुद्धि के निष्काम कर्त्तव्यपरायणता स्थिर नहीं रह सकती । उपर्युक्त बात की पुष्टि में सांख्य-योग का एकत्व स्थापित करने के लिए गीता के दो श्लोकों में (5:6,7) में कहा गया है कि निष्काम कर्मयोग के बिना संन्यास प्राप्त होना कठिन है (और) निष्काम कर्मयोगी परब्रह्म परमात्मा को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है । वश में किया हुआ है शरीर जिसके ऐसा जितेन्द्रिय (और) विशुद्ध अन्तःकरण वाला (एवं) संपूर्ण प्राणियों के आत्मरूप परमात्मा में एकीभाव को प्राप्त हुआ निष्काम कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता ।

उपर्युक्त विवेचना से यह सार निकलता है कि गीता में इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि शंकराचार्य के अनुसार सांख्य का अर्थ प्रकृति और गुणों का पुरुष से अन्तर बताना है (गीता 13:25) अथवा इसका सम्बन्ध कपिल के सांख्ययोग पुरुष, प्रकृति एवं उनके विकारों के सृष्टि-रचना सम्बन्धी सिद्धान्त एवं सत्तामूलक अथवा तत्त्वार्थ सिद्धान्त से है । निस्सदेह पुरुष एवं प्रकृति के दर्शन एवं सिद्धान्त से गीताकार भली-भांति विज्ञ था परन्तु इसे सांख्य की संज्ञा कहीं भी नहीं दी गई है । गीता में सांख्य का अर्थ तत्त्व-ज्ञान अथवा आत्म-बोध है । शंकर अपने गीता भाष्य (18:13) में सांख्य को वेदान्त वतलाते हैं, यद्यपि 13:25 में सांख्य की परिभाषा पुरुष और प्रकृति में भेद-ज्ञान कहकर की गई है जिससे गीता के सांख्य का कपिल के सांख्य के साथ अभेद प्रतीत होता है ।

महाभारत में भी सांख्य एवं योग का कई स्थानों पर वर्णन है । परन्तु प्रायः सभी स्थलों में उसका प्रयोग परम्परागत कपिल-सांख्य अथवा अन्य कोई वैसे ही मत के अर्थ में है । योग का भी प्रयोग या तो पतंजलि योग अथवा कोई पूर्व प्रचलित योग सूत्रों

के अर्थ में है। एक स्थान पर योग एवं सांख्य का एक अर्थ में प्रयोग हुआ है जो गीता के अंशों से अक्षरशः मिलता-जुलता है। परन्तु महाभारत एवं गीता के सांख्य अथवा योग के प्रयोग का कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। जैसाकि पहले कहा ही जा चुका है कि गीता में योग का प्रयोग तीन अलग-अलग अर्थों में किया गया है : ईश्वरार्पण, कर्मफल त्याग, और परम प्रभु एवं विभु ईश्वर से युक्त होना। महाभारत के उपर्युक्त अध्याय में इन्द्रियों को मन में, मन को अहंकार में, अहंकार को बुद्धि में और बुद्धि को अव्यक्त (प्रकृति) में लय करने का एवं प्रकृति को विकारों सहित समाप्त करके पुरुष का ध्यान करने का वर्णन है। इससे यह स्पष्ट है कि इस योग-दर्शन का कपिल के सांख्य-दर्शन से निश्चित रूप से सादृश्य है।[1] महाभारत में (12:306) योग का मुख्यतः प्रयोग 'ध्यानार्थ' में किया गया है जिसके अंग हैं मनस् एकाग्रता एवं प्राणायाम। यह कहा जाता है कि योगी को मनस द्वारा अपनी इन्द्रियों का एवं बुद्धि द्वारा अपने मनस् का निरोध करना चाहिए। ऐसी स्थिति में वह युक्त एवं शांतिपूर्ण स्थान में गतिहीन दीपशिखा की तरह है।[2] यह श्लोक स्वभावतः गीता के ध्यान-योग की याद दिलाता है (6:11–13, 16–19 और 25, 26) परन्तु कर्मफल में ईश्वरार्पण करना एवं उससे युक्त होने का योग का मूलभूत विचार इसमें नहीं है।

यहाँ पर यह बताना अनावश्यक है कि गीता के योग का बौद्ध धर्म के योग से कोई सम्बन्ध नहीं है। बौद्ध-धर्म में योगी प्रथमतः शील या इन्द्रिय-निग्रह एवं चित्त-निरोध (मनस् नियन्त्रण) में अभ्यस्त होकर मनस् का समाधान उपधारण एवं उसकी प्रतिष्ठा की तैयारी करता है। इस समाधि का अर्थ प्रयत्न एवं उसके एकारम्भन पर मन की एकाग्रता से है ताकि मन की अवस्थाएँ डाँवाडोल न हों और एक स्थान पर स्थायी रहें। मुनि को प्रथमतः खान-पान की तृष्णाओं से इन भावनाओं द्वारा घृणा होनी चाहिए कि अन्ततः वे मल, मूत्र, कफ इत्यादि दुर्गन्धित पदार्थों में परिवर्तित होंगी। जब कोई व्यक्ति उपरोक्त प्रतिषेध की भावनाओं मे अभ्यस्त होता है तो उनमें उसका वैराग्य उत्पन्न हो जाता है तथा उन्हें अपरिहार्य दोष समझता है और उस दिन की प्रतीक्षा करता है जब दुःखों का पूर्ण-रूपेण अन्त हो जाएगा। आगे जाकर मुनि को अपने मन को इन भावों से पूरित करते रहना चाहिए कि उसके सारे अवयव पृथ्वी, जल, वायु अग्नि इन चार तत्त्वों से बने हुए हैं जिसकी तुलना मांस विक्रेता की दुकान में रखे हुए गाय के शव से की जा सकती है। अन्ततोगत्वा उसे बुद्ध, संघ, देवता एवं बुद्ध के नियम की महानता अथवा गुणों पर शीलव्रत के सुप्रभाव एव दान; मरण के स्वरूप एवं दृश्य जगत् के अन्तिम विनाश, पर मनन करने की आदत डालनी चाहिए। उसे विभिन्न चित्त-शुद्धि की प्रक्रियाएँ करनी चाहिएँ। उसे श्मशान-भूमि में जाकर स्वयं आँखों से देखना चाहिए कि मानव-शव कितना भयानक, दुर्गन्धयुक्त, घृणित, अशुद्ध एवं अरुचिकर है। इस प्रकार तात्त्विक दृष्टि से वह मानव-शरीर को भी उपर्युक्त शव के समान समझकर घृणित समझेगा। उसे मानव शरीर-

---

1 यदेव योगाः पश्यन्ति तत् सांख्यैरपि दृश्यते
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स तत्त्ववित् ॥

2 गीता, 6:19, यथा दीपो निवातस्थः।

रचना सम्बन्धी अवयव तथा उनकी क्रियाओं के विषय में विचार करना चाहिए। जिससे उसको देह-भाव छोड़कर ध्यान-मग्न होने में सहायता मिलेगी। एकाग्रता के लिए एकान्त स्थान में आसन लगाकर मुनि को श्वास-निश्वास पर ध्यान लगाना चाहिए ताकि अचेतन रूप से श्वास लेने के बजाय उसे यह ज्ञान हो जाए कि उसका साँस धीरे चल रहा है अथवा तीव्र गति से। साँस की इस गति का गिनती द्वारा ध्यान रखना चाहिए ताकि संख्या पर ध्यान द्वारा श्वास-निश्वास की प्रक्रियाओं को पूर्णरूप से सम्पूर्ण परिस्थितियों में समझा जा सके। इसके उपरान्त मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा के चतुष्टय ध्यान-ब्रह्मविहार का प्रसंग आता है। विश्व-मैत्री-भाव के ध्यान में अभ्यस्त होने के हेतु मनुष्य को प्रारम्भ में यह विचार करना चाहिए कि वह किस प्रकार सब प्रकार के दुःखों से छूटकर सुखी रहे; किस प्रकार वह मृत्यु को जीतकर प्रसन्न चित्त रहे; फिर यही विचार आत्मौपम्य द्वारा दूसरों पर लागू करे। इस प्रकार उसे ऐसा विचार करने की आदत डालनी चाहिए कि उसके शत्रु, मित्र तथा अन्य लोग जिएँ, सुखी रहें। इस प्रकार की धारणा में उसे ऐसा दृढ़ होना चाहिए कि उसके लिए अपने तथा दूसरों के सुख एवं सुरक्षा में कोई भेद न रह जाए। ध्यान के विषय पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, रंग इत्यादि हो सकते हैं। विषय के ध्यान की प्रथम अवस्था में विषय के नामरूप का ज्ञान होता है; तदुपरान्त सम्बन्धित गति समाप्त होकर मन विषय के अन्तरतम में स्थिर हो जाता है। अगली दो अवस्थाओं में प्रसन्नवदनोन्नति एवं अखंड अन्तरानंद की प्राप्ति होती है तथा आगे की ओर ले जाने वाली इस ध्यानोत्पन्न एकाग्रता के फलस्वरूप चित्त-विमुक्ति अर्थात् निर्वाण प्राप्ति होती है।

यह स्पष्ट है कि इस बौद्ध योग का पातंजल योग पर बहुत ऋण है परन्तु गीता के योग का उससे कोई सरोकार नहीं। बौद्ध-योग के नैराश्यवाद का कुप्रभाव केवल पातंजल योग पर ही नहीं अपितु अर्वाचीन हिन्दू विचारधाराओं पर भी प्रतिपक्षी भावनाओं के चिन्तन को प्रोत्साहन देने के रूप में पड़ा; ये भावनाएँ साधारणतः आकर्षक प्रतीत होती हैं।[1] पतंजलि ने और तदनन्तर हिन्दू ग्रन्थों ने मैत्री इत्यादि की भावनाएँ भी बौद्ध दर्शन से अंगीकार कीं। विभिन्न साधारण विषयों पर ध्यान करने के ढंग भी गीता के ध्यान योग से असमान हैं। बौद्ध योग के नैराश्य का अंशमात्र भी गीता में नहीं है। यह कहीं भी सब वस्तुओं के जुगुप्सामय पक्ष पर ध्यान करने को नहीं कहती जिससे कि हमारे मन में सभी सांसारिक वस्तुओं के प्रति घृणा की भावना उत्पन्न हो जाए। यह प्राणिमात्र के प्रति मैत्री अथवा करुणा की भावना के आदर्श तक नहीं पहुँचती। इसका एक मात्र उद्देश्य मनुष्य को समत्व योग सिखाना है जिससे कि भक्त अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता के परे चला जाए तथा जिससे दुराचारी और सदाचारी तथा 'स्व एव पर' का भेद नष्ट हो जाए। प्रपत्ति योग एवं निष्काम कर्मयोग का दर्शन बौद्ध-धर्म में नहीं पाया जता। यह प्रपत्ति पातंजल योग में भी मिलता है परन्तु यहाँ इसका प्रयोग चित्तवृत्ति के निरोध के विशिष्ट अर्थ में नहीं किया गया है। पतंजलि के सूत्रों में यह विचार एक स्थान पर ही उपलब्ध है एवं बाद के काल के अध्यायों में वर्णित यौगिक क्रियाओं की सम्पूर्ण विधि में इसका ज्ञान नहीं है। सम्भवतः ऐसा प्रतीत होता है कि पतंजलि के सूत्र उपर्युक्त विचार के लिए गीता के

---

1 न्याय मंजरी, वैराग्य शतक, शांति शतक, देखो।

श्रेणी हैं जहाँ प्रपत्ति एवं ईश्वर-युक्त को योग कहा गया है तथा यही गीता का मुख्य विषय है जो पुनः पुनः गीता में दोहराया गया है।

इस प्रकार योग-उपनिषद्, पतंजलि-योग-सूत्र बौद्ध-योग अथवा महाभारत (जिनमें योग विषय का वर्णन है) को गीता का स्रोत निश्चित करने में हम असफल रहे हैं। केवल पंचरात्र ग्रन्थों में ही गीता के समान योग का अर्थ ब्रह्म-समर्पण माना गया है। उदाहरणार्थ अहिर्बुधन्य-संहिता में योग का प्रयोग हृदयाराधन, हवि, तथा 'भगवते-आत्म-समर्पणम् के अर्थों में किया गया है और योग की परिभाषा 'जीवात्मा का परमात्मा से संयोग' कहकर दी गई है।[1] अतः यह निष्कर्ष सही प्रतीत होता है कि पंचरात्र ग्रन्थों के एवं गीता के योग के परम्परागत स्रोत एक ही है।

गीता में सांख्य दर्शन

यह पहले ही कहा जा चुका है कि इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि गीता में सांख्य शब्द का अर्थ परम्परागत सांख्य दर्शन से है। फिर भी प्रकृति एवं पुरुष का प्राचीन दर्शन गीता के दर्शन का आधार है। इस दर्शन का संक्षिप्त निरूपण इस प्रकार है: गीता में प्रकृति को महद् ब्रह्म (अर्थात् योनि के रूप में महान् रचयिता) कहा गया है (गीता 14:3)।[2] गीता में कहा गया है कि प्रकृति को गीता में योनि बताया गया है जिसमें सृष्टि रचना के हेतु ईश्वर गर्भ धारण का हेतु है नाना प्रकार की सब योनियों में जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीर उत्पन्न होते हैं उन सबकी त्रिगुणमयी माया गर्भ को धारण करने वाली माता है (और) ब्रह्म बीज को स्थापन करने वाला पिता है। तीनों गुण-सत्व, रजस् एवं तमस्, प्रकृति से उत्पन्न कहे गए हैं[3]—जो मुक्त जीवात्मा को शरीर में बाँधते हैं। उन तीनों गुणों में प्रकाश करने वाला निर्विकार सत्त्व गुण तो निर्मल होने के कारण सुख एवं ज्ञान की आसक्ति से अर्थात् ज्ञान के अभिमान से बांधता है। यह कहा जाता है कि पृथ्वी में या स्वर्ग के देवताओं में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है, जो इन प्रकृति से उत्पन्न हुए तीनों गुणों से रहित हो।[4] (क्योंकि यावन्मात्र सर्व जगत् त्रिगुणमयी माया का ही विकार है) चूँकि प्रकृति के द्वारा ईश्वर से गर्भित होने से गुण उत्पन्न होते हैं अतः ईश्वर को गुणों का कर्त्ता कहा गया है यद्यपि ईश्वर सदा गुणातीत है। जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है—

---

1 अहिर्बुधन्यसंहिता में नाड़ी एवं वायु के सम्बन्ध में कई बातें लिखी गई हैं जिनका सम्बन्ध सम्भवतः उत्तरकाल में पंचरात्र-परम्परा से हो गया।

2 ममयोनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्—14. 3।
श्रीधर एवं अन्य टीकाकारों का अनुसरण करते हुए मैंने प्रकृति को महद्ब्रह्म कहा है। शंकर 'मम' एवं 'योनि' के मध्य 'माया' शब्द का रहस्यमय ढंग से कथन करते हैं जो सम्पूर्ण अर्थ को बदल देते हैं।

3 गीता 14. 5।

4 गीता 18.40।

सत्त्वगुण सुख एवं ज्ञान के साथ जीवात्मा को बांधता है। रजोगुण क्रिया का कारण है एवं कामना और आसक्ति से उत्पन्न हुआ वह (इस) जीवात्मा (देही) को कर्मों से और उनके फल की आसक्ति से बांधता है। तमोगुण ज्ञान के प्रकाश को आच्छादित कर देता है और उससे कई दोष उत्पन्न होते हैं। क्योंकि तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न होता है अतः वह जीवधारियों को अन्धा बना देता है और उन्हें प्रमाद, आलस्य और निद्रा में बांधता है। इन तीनों गुणों की वृद्धि भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न तरह से होती है। जिस समय इस देह में सब इन्द्रियों और अन्तःकरण में चेतनता और बोधशक्ति उत्पन्न होती है उस काल में ऐसा जानना चाहिए कि सत्त्वगुण बढ़ा है। रजो गुण के बढ़ाने पर लोभ (और) प्रवृत्ति अर्थात् सांसारिक चेष्टा (तथा) सब प्रकार के कर्मों का (स्वार्थ बुद्धि से) आरम्भ (एवं) अशान्ति अर्थात् मन की चंचलता (और) विषय-भोगों की लालसा उत्पन्न होती है। तमोगुण की वृद्धि होने पर (अंतःकरण और इन्द्रियों में) अप्रकाश (एवं) कर्त्तव्य कर्मों में अप्रवृत्ति और प्रमाद, व्यर्थ चेष्टा और मोह उत्पन्न होते हैं।

विभिन्न तत्त्व अव्यक्त प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मन और दस ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ है। मन इन्द्रियों से परे अर्थात् अधिक सूक्ष्म एवं बलवान् है। बुद्धि मन से परे है एवं बुद्धि से भी अत्यन्त परे वह (आत्मा) है। मन को विभिन्न इन्द्रियों का नियामक कहा गया है। यह उन पर अधिकार जमाकर विषय भोग करता है। बुद्धि और अहंकार के सम्बन्ध को निश्चित रूप से कहीं नहीं बताया गया है। इन विकारों के अतिरिक्त पाँच महाभूत हैं।[1] यह कहना कठिन है कि गीता में पंच महाभूतों को प्रकृति का विकार बताया गया है अथवा उनका अलग ही अस्तित्व है। यह आश्चर्यजनक है कि उपर्युक्त तत्त्व गीता में सांख्यदर्शन की भाँति कहीं भी प्रकृति के विकार नहीं बताए गए हैं अपितु पंचमहाभूत, मन, बुद्धि एवं अहंकार को आठ प्रकार की ईश्वरीय प्रकृति बताया गया है।[2] यह भी कहा गया है कि ईश्वर की अपरा एवं परा–दो प्रकार की प्रकृति है। उपर्युक्त आठ प्रकार की प्रकृति अपरा कही गई है तथा जीवभूत उसकी परा प्रकृति कही गई है।[3] तीसरे अध्याय के 5वें, 27वें तथा 29वें श्लोक में, तेरहवें अध्याय के 21वें श्लोक में, चौदहवें अध्याय के पाँचवे श्लोक में, अठारवें अध्याय के चालीसवें श्लोक में गुणों का प्रकृति से सम्बन्ध बताया गया है तथा उपर्युक्त सब स्थलों में प्रकृति को गुणों की जननी कहा गया है यद्यपि महाभूतों को प्रकृति से उत्पन्न नहीं बताया गया है। गीता के नवम अध्याय के दसवें श्लोक में कहा गया है कि ईश्वर के अधिष्ठान द्वारा माया (प्रकृति) चराचर सहित सर्वजगत् को रचती है। प्रकृति शब्द (परा एवं अपरा) ईश्वरीय परम भाव के स्वरूप के भिन्न-भिन्न दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। सम्भवतः गीता में प्रकृति का मूलअर्थ ईश्वरीय स्वभाव है; प्रकृति का दूसरा अर्थ है वह प्रधान सिद्धान्त जिससे गुण उत्पन्न होते हैं। यह अर्थ ईश्वरीय स्वभाव की केवल पुनरुक्ति ही है। पचमहाभूत, अहकार, बुद्धि, अव्यक्त, दस इन्द्रियाँ, एक मन, पाँच इन्द्रियों के विषय अर्थात् शब्द स्पर्श रूप रस, गन्ध, (तन्मात्र), इच्छा, द्वेष,

---

1 गीता 3.42, 13.6 एवं 7, 15. 9।
2 गीता 7.4।
3 गीता 7.5।

सुख, दुःख और स्थूलदेह का पिंड एवं चेतनता (और) धृति को विकार सहित क्षेत्र कहा गया है। अन्य स्थल पर केवल शरीर को ही क्षेत्र कहा गया है।[1] अतः ऐसा प्रतीत होता है कि क्षेत्र शब्द का विस्तृत अर्थ केवल (स्थूल) शरीर से ही नहीं, अपितु, पूर्ण सूक्ष्म शरीर से है जिसके अन्तर्गत चित्त की वृत्तियाँ, शक्तियाँ सामर्थ्य एवं अव्यक्त तथा उपचेतन तत्त्व है। इस प्रसंग में यह स्पष्ट कर दिया जाए कि क्षेत्र शब्द का प्रयोग विशेष रूप से शरीर एवं भावों के संघात सहित मन रूप से किया गया है परन्तु जिसमें चेतन आत्मा क्षेत्रज्ञ अथवा क्षेत्री को पृथक् रखा गया है। यह कहा गया है कि जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है। उसी प्रकार क्षेत्रिन् सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है।[2]

जैसाकि कहा जा चुका है कि गीता में ईश्वर की अपरा एवं परा दो प्रकार की भिन्न प्रकृति है; अपरा के अन्तर्गत पंचमहाभूत, अहंकार बुद्धि इत्यादि एवं दूसरी में जीवभूत आते हैं। यह भी कहा जा चुका है कि प्रकृति में ईश्वर के चेतन रूप बीज को स्थापित करने से उस जड़ चेतन के संयोग से गुण उत्पन्न होते हैं जो प्राणिमात्र में व्याप्त हैं। अतः त्रिगुण विभिन्न गतिशील प्रवृत्तियों के रूप में अहंकार बुद्धि इन्द्रियों चेतना इत्यादि के सम्पूर्ण लिंग शरीर को बनाते हैं, जो क्षेत्र का आध्यात्मिक रूप है। क्षेत्रज्ञ अथवा क्षेत्री संभवतः आकाश तुल्य सूक्ष्म सर्वव्यापी पुरुष ही हैं जो सब भूतों में स्थित होते हुए भी उनके गुणों से अलिप्त है। यह कहना कठिन है कि गीता के अनुसार ईश्वरीय संयोग से पूर्व प्रकृति स्वयं क्या है। प्रकृति को एवं ईश्वर को एक समझना युक्तिसंगत नहीं है। अनादि प्रकृति का ईश्वर के साथ सहअस्तित्व है एवं वह उससे अलग नहीं हो सकती। गीता में ऐसा कोई प्रसंग नहीं मिलता जिससे ईश्वर की अष्टधा अपरा प्रकृति एवं परा प्रकृति को एक ही माना जाए क्योंकि प्रकृति को सब स्थलों पर गुण एवं उसके विकार की योनि बताया गया है। गीता में प्रकृति अहकार इन्द्रिय आदि के गुणों द्वारा उत्पन्न होने का भी कोई प्रसंग उपलब्ध नहीं है। गुण शब्द का अर्थ भोगात्मक, भावात्मक नैतिक अथवा अनैतिक गुणों से है। ये गुण ही हमें प्रवृत्ति में लगाते हैं, संग एवं इच्छा उत्पन्न करते हैं, सुख-दुःख देने वाले हैं, तथा शुभ और अशुभ कर्म करवाते हैं। प्रकृति को उन ज्ञानात्मक, भोगात्मक एवं रागात्मक प्रवृत्तियों की जननी कहा गया है जो गुणों की यथाक्रम अधिकता से उत्पन्न होती हैं। चेतनमय जगत् का निर्माण करने वाले लिंग शरीर एवं पंचभूत के विकार गुण अथवा प्रकृति द्वारा उत्पन्न नहीं प्रतीत होते। ऐसा प्रतीत होता है कि इन आठों को ईश्वर की परा प्रकृति अर्थात् जीव भूतसहित इन अष्ठधा विकारों को समूह मानकर अपरा प्रकृति बताया गया है। क्षेत्र को शरीर मन एवं गुणों का संघात कहा गया है। अतः अपरा प्रकृति, परा प्रकृति अथवा पुरुष एवं प्रकृति—इस प्रकार तीन परम तत्त्व माने गए हैं। प्रकृति गुणों को उत्पन्न करती है जो अनुभूतिमय या संस्कारात्मक है। अपरा प्रकृति के अन्तर्गत पंच महाभूतमय जगत् आता है जिसके विकार शरीरेन्द्रिय तथा मन इत्यादि हैं।

---

1 गीता 13.2।

2 गीता, 13.34।

अतः संभवतया सांख्य के उत्तरार्द्ध विकास में इन दो प्रकृतियों को एक ही बताकर ऐसा माना गया है कि गुण केवल हमारी अनुभूतियों को ही नहीं पैदा करते अपितु सब मन की वृत्तियाँ, इन्द्रियाँ इत्यादि एव पंचमहाभूत एवं उनके विकार भी उनसे ही उत्पन्न हुए हैं। अतः गुण प्रकृति के द्वारा उत्पादित फल नहीं हैं अपितु साम्यावस्था में वे स्वयं प्रकृति ही हैं। गीता के अनुसार ईश्वरीय बीजरूपी संयोग द्वारा ही गुणों की उत्पत्ति होती है। साम्यावस्था में वे स्वयं प्रकृति नहीं हैं। अपरा प्रकृति, प्रकृति एवं गुणों का सम्बन्ध समझना कठिन है। इस सम्बन्ध की कल्पना के गर्भदाता एव दोनों को धारण करने वाले ईश्वर के माध्यम द्वारा ही की जा सकती है। केवल एक पुरुष ही मूल जीवभूत विभू के रूप में है जो उत्पत्तिकर्त्ता एवं संयोग के कारण सुख-दुःखभोक्ता होते हुए भी गुणों के परिणाम से लिप्त नहीं होता। इसका स्वाभाविक परिणाम यह निकलता है कि उत्तम और अनुत्तम पुरुष भी दो प्रकार के हैं जिनमें उत्तम पुरुष सदा गुणातीत एवं गुणों से अलिप्त रहता है जबकि विभिन्न भूतों में विभक्त अनुत्तम पुरुष अर्थात् जीवात्मा प्रकृति एवं गुणों से सदैव संयुक्त रहता है तथा उनके कार्यों से निरंतर प्रभावित होता रहता है। पुरुष प्रकृति में अधिष्ठित होकर प्रकृति के गुणों का उपभोग करता है, और प्रकृति के गुणों का यह संयोग पुरुष का भली-बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण होता है।[1] (प्रकृति के गुणों के) उपद्रष्टा अर्थात् समीप बैठकर देखने वाले, अनुमोदन करने वाले, भर्त्ता अर्थात् (प्रकृति के गुणों को) बढ़ाने वाले और उपभोग करने वाले को ही इस देह में पर-पुरुष महेश्वर और परमात्मा कहते हैं।[2] गीता में पुरुष शब्द का प्रयोग चार भिन्न अर्थों में किया गया है–(1) पुरुषोत्तम अथवा ईश्वरार्थ में,[3] (2) व्यक्ति के अर्थ में,[4] (3) क्षर पुरुष और (4) अक्षर पुरुष। सब भूत क्षर एवं जीवात्मा अक्षर कहलाते हैं। यह उत्तम पुरुष क्षर और अक्षर दोनों से भिन्न हैं, उसको परमात्मा कहते हैं। वही अव्यय ईश्वर त्रैलोक्य में प्रविष्ट होकर (त्रैलोक्य) का पोषण करता है।[5] परन्तु ईश्वर क्षर से परे और अक्षर से उत्तम (पुरुष) होने से लोक-व्यवहार में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध है।[6] दोनों प्रकृति और परमात्म-पुरुष अनादि हैं। परमात्म-पुरुष गुणातीत एवं अक्षर होने से शरीरस्थ होने पर भी न तो कर्त्ता है और न गुणों से लिप्तमान होता है। प्रकृति को कार्य (अर्थात् देह का) और, कारण (अर्थात् इन्द्रियों के कर्तृत्व) का हेतु कहा गया है। प्रकृति सर्वप्रवृत्तियों, प्रेरकों एवं क्रियाओं का मूलभूत तत्त्व है तथा (कर्त्ता न होने पर भी) सुख-दुःखों को भोगने के लिए

---

1 गीता, 13.21।

2 उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥ –वही, 13.23।

3 गीता, 11.18 : सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे।
वही, 11.38 : त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः।
'पुरुषोत्तम' के लिए, द्र० वही, 8.1; 10.15; 11.3; 15.18 तथा 15.19।

4 वही, 2.15; 2.21; 2.60; 3.4 इत्यादि।

5 वही, 15.16 तथा 17।

6 वही, 15.15 तथा 18।

पुरुष हेतु कहा गया है ।[1] परमात्म-पुरुष सर्वव्यापी होने पर भी परम पुरुष के रूप में शरीर के सुख-दुःख एवं रागादि अनुभवों से वियक्त होकर प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में स्थित है। जीवात्मा ही सदैव गुणों से प्रभावित होकर सुख-दुःखों को भोगता है। गुणातीत, इच्छा एवं रागरहित, सुख-दुःख से परे होने का किंचित् मात्र प्रयत्न भी जीवात्मा को शुद्ध एवं अमर परमात्मा के अधीन करना है। इस दिशा में प्रत्येक प्रयत्न का अर्थ परमात्मा के साथ अस्थायी योग है। यह कहा जा चुका है कि गीता परमात्मा एवं जीवात्मा में संघर्ष मानती है एवं परमात्मा द्वारा जीवात्मा के उद्धार की सम्मति देती हैं। हमारी सब साधनाओं में एक ओर उत्तम पुरुष हमें ऊपर खींचता है और गुण नीचे खींचते हैं फिर भी उत्तम पुरुष स्वयं अकर्त्ता है। हमारा पतन करने वाली शक्ति गुणों से उत्पन्न होती है एवं जीवात्मा उसका प्रयोग करता है। इन सब प्रयत्नों में उत्तम पुरुष सुख-दुःख एवं शुभाशुभ में स्थितप्रज्ञ निश्चल तथा अविकारी अनुद्विग्न आदर्श के रूप में स्थित रहता है। कई लोग सांख्य एवं कर्मयोग से अपने आप में ही ध्यान से आत्मा को देखते हैं। प्रत्येक निष्काम कर्म करने का अर्थ परमात्मा अथवा ईश्वर के साथ अस्थायी योग है। ज्ञानयोग का अर्थ ब्रह्मानुभूति है जिसके द्वारा त्रिगुणमयी प्रकृति ही सब कर्मों की कर्त्ता मानी जाती है तथा जिसके द्वारा आत्मा के अनासक्त स्वरूप का ज्ञान, कर्म एवं ईश्वर के साथ सम्बन्ध का दार्शनिक विश्लेषण, परमात्मा, जीवात्मा एवं प्रकृति के सम्वन्ध का ज्ञान, ईश्वर की सगुण उपासना का ज्ञान एवं सर्व कर्मों को उसके अर्पण करने एवं साक्षात्कार के परमानन्द की अनुभूति, होती है, अतः वे सब योग ही हैं।[2]

यह सरलतापूर्वक ध्यान में आता है कि अन्य दार्शनिकों द्वारा उपर्युक्त विषय परम्परागत सांख्य दर्शन में परिवर्द्धित कर दिया जा सकता था। यह पहले ही कहा जा चुका है कि प्रकृतियों का विवेचन ही सांख्य की एक प्रकृति के रूप में हो जाता। परमात्मा एवं जीवात्मा का वर्णन जिसमें जीवात्मा सुख एवं दुःख का अनुभव करता है जबकि परमात्मा जीवात्मा के सुख-दुःखों का उपद्रष्टा होते हुए भी अलिप्त रहता है–सहज ही एक ही वृक्ष पर बैठे हुए दो पक्षियों की औपनिषदिक उपमा की याद दिलाता है जिनमें से एक स्वादिष्ट फलों को खाता है जबकि दूसरा उनके बिना ही सन्तुष्ट रहता है।[3] परमात्मा एवं जीवात्मा के निश्चित सम्बन्ध के स्वरूप को गीता स्पष्ट नहीं करती। यह निश्चित रूप से नहीं बताती कि जीवात्मा एक है या अनेक, न इनकी सत्तामूलक अवस्थाओं को ही बताती है। यह सुगमतापूर्वक समझा जा सकता है कि कैसे इन दो अस्पष्ट रूप से सम्बन्धित दिखाई देने वाले पुरुषों को समन्वित करने का आत्मानुरूप एवं बुद्धिगम्य सामान्य विचार का प्रयत्न अनन्त, असीम, शुद्ध, सर्वव्यापी पुरुषों के सिद्धान्त में फलित होता है और जिसके परिणामस्वरूप क्षर पुरुष, पुरुष एवं प्रकृति के मिथ्या एवं भ्रमात्मक परस्पर प्रतिबिम्ब का फल हो जाता है। गीता ने तीन प्रसंगों में माया शब्द का प्रयोग किया है (7-14 और 15-18–

---

1 गीता, 13–20।

2 ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥

3 मुण्डक उपनिषद्, 3:1,1। श्वेताश्वतर, 4,6।

61) परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह शब्द दुर्बोध शक्ति अथवा अविद्या के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है न कि भ्रमात्मक अथवा चमत्कारी रचना के अर्थ में। गीता ने किसी भी स्थल पर जगत् को मानसिक अथवा आध्यात्म तत्त्वों को केवल प्रतीति मात्र नहीं माना है। अतः यह ध्यान में भी नहीं आ सकता कि हमारे प्रति-दिन के अनुभव के विवेचन के लिए क्षर पुरुष को केवल भ्रमात्मक माना जाए। परन्तु यह कहना कठिन है कि प्रकृति के गुणों का भोक्ता इस क्षेत्रज्ञ पुरुष का पर पुरुष (जो गुणातीत है) से पृथक् अस्तित्व किस प्रकार हो सकता है जबतक कि क्षेत्रज्ञ पुरुष को पर पुरुष की शक्ति का परिणाम न समझा जाए। ऐसे सिद्धान्त से स्वभावतः (केवल) इस बात की पुष्टि होती है कि क्षेत्रज्ञ पर पुरुष का त्रिगुणमयी प्रकृतिस्थ प्रतिबिम्ब है। स्वतंत्र पर पुरुष गुणों से परे शुद्धावस्था में है। परन्तु अपने शुद्ध सत्त्व एवं निर्लिप्त स्वभाव से शून्य हुए बिना ही गुणों में प्रतिबिम्बित जीव अथवा क्षर के रूप में अपने आपको प्रकृति के गुणों का भोक्ता समझने लगता है एव पुरुषोत्तम को अपना परम तत्त्व मानता है। यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि गीता का पुरुष-तत्त्व उत्तरकाल के सांख्य सिद्धान्त से अधिक अस्पष्ट है परन्तु उससे क्षर से अक्षर का सम्पर्क स्थापित करने में उपर्युक्त सिद्धान्त अधिक लचीला होने के कारण लाभप्रद है; क्योंकि इसके द्वारा क्षर पुरुष में परपुरुष तक पहुँचने की शक्ति आ जाती है।

सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुण सब प्रकार की मानसिक प्रवृत्तियों के सामान्य लक्षण समझे जाते थे एवं सब प्रकार के कर्मों के प्रेरक भी सत्त्व, रजस और तमस ही समझे जाते थे। तदनुसार मानसिक भावों को भी सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक कहा गया है। इस प्रकार श्रद्धा भी तीन प्रकार की बताई गई है। जो पुरुष सात्त्विक है अर्थात् जिनका स्वभाव सत्त्वगुण प्रधान है वे देवताओं का यजन करते हैं। राजस पुरुष यक्षों और राक्षसों का यजन करते हैं एवं इसके अतिरिक्त जो तामस पुरुष हैं, वे प्रेतों और भूतों का यजन करते हैं। परन्तु जो लोग दम्भ और अहंकार से युक्त होकर काम एवं आसक्ति के बल पर शास्त्र के विरुद्ध घोर तप किया करते हैं तथा जो न केवल शरीर के पंचभूतों के समूह को ही वरन् शरीर के अन्तर्गत रहने वाले अपने शरीर एवं आत्मा को कष्ट देते हैं, वे अविवेकी और आसुरी बुद्धि के माने जाते हैं। फलाशा की आकांक्षा छोड़कर अपना कर्त्तव्य समझ करके शास्त्र की विधि के अनुसार शान्तचित्त से जो यज्ञ किया जाता है वह सात्त्विक यज्ञ है। जो फल की इच्छा से अथवा दंभ के हेतु अर्थात् ऐश्वर्य दिखलाने के लिए किया जाता है वह राजस यज्ञ है। शास्त्र-विधिरहित, अन्नदान विहीन, बिना मन्त्रों का, बिना दक्षिणा का और श्रद्धा से शून्य यज्ञ तामस यज्ञ कहलाता है। तप भी शरीर अर्थात् कायिक, वांगमय एवं मानस् कहे गए हैं। देवता, ब्राह्मण, गुरु और विद्वानों की पूजा, शुद्धता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा को शरीर अर्थात् कायिक तप कहते हैं। (मन को) उद्वेग न करने वाले सत्य, प्रिय और हितकारक सम्भाषण को तथा स्वाध्याय अर्थात् अपने कर्म के अभ्यास को वाङ्मय (वाचिक) तप कहते हैं। मन को प्रसन्न रखना, सौम्यता. मौन अर्थात् मुनियों के समान वृत्ति रखना मनोनिग्रह और शुद्ध भावना—इनको मानस् तप कहते हैं। उपरोक्त त्रिविध तप यदि फल की आकांक्षा न रखकर किए जाएँ तो वे सात्त्विक तप कहलाते हैं। परन्तु जो तप (अपने) सत्कार, मान या पूजा के लिए अथवा दंभ से किया जाता है वह तप राजस कहा जाता है; ऐसे तप का फल चंचल एवं अस्थिर होता है। मूढ़ आग्रह से स्वयं कष्ट उठाकर अथवा (जो मारण उच्चाटन आदि कर्मों के

द्वारा) दूसरों को सताने के हेतु से किया हुआ तप तामस कहलाता है। वह दान सात्त्विक कहलाता है कि जो कर्त्तव्य बुद्धि से किया जाता है, जो (योग्य) स्थल, काल और पात्र का विचार करके किया जाता है एवं जो अपने ऊपर प्रत्युपकार न करने वाले को दिया जाता है। परन्तु (किए हुए) उपकार के बदले में, अथवा किसी फल की आशा रख, बड़ी कठिनाई से जो दान दिया जाता है वह राजस दान है। पुनः अयोग्य स्थान में, अयोग्य काल में, अपात्र मनुष्य को, बिना सत्कार के अथवा अवहेलनापूर्वक जो दान दिया जाता है वह तामस दान कहलाता है। सांसारिक अथवा स्वर्गिक फल की आशा न रखकर मोक्षार्थी लोग यज्ञ दान, तप आदि अनेक प्रकार की क्रियाएँ किया करते हैं। ज्ञान भी सात्त्विक, राजसिक एवं तामसिक है। जिस ज्ञान से यह मालूम होता है कि विभक्त अर्थात् भिन्न प्रतीत हो रहे अपने भाव प्रकृति और संख्या में सब प्राणियों में एक ही अविभक्त और अव्यय भाव अथवा तत्त्व है उसे सात्त्विक ज्ञान कहते हैं। जिस ज्ञान से पृथकत्व का बोध होता है कि समस्त प्राणिमात्र भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं उसे राजस ज्ञान कहते हैं। जो निष्कारण और तत्त्वार्थ को बिना जाने-बूझे संकीर्ण एवं असत्य में यह समझकर आसक्त रहता है कि यही सब कुछ है, वह ज्ञान तामस कहा गया है। फलप्राप्ति की इच्छा न करने वाला मनुष्य न तो प्रेम और न द्वेष रखकर, बिना आसक्ति के (स्वधर्मानुसार) कर्म करता है उस (कर्म) को सात्त्विक कहते हैं। परन्तु काम अर्थात् फलाशा की इच्छा रखने वाला अथवा अहंकार बुद्धि का (मनुष्य) बड़े परिश्रम से जो कर्म करता है उसे राजस कहते हैं। तामस कर्म वह है कि जो मोह से बिना इन बातों का विचार किए आरम्भ किया जाता है कि अनुबन्धक अर्थात् आगे क्या होगा, पौरुष यानी अपनी सामर्थ्य कितनी है और (परिणाम में) नाश अथवा हिंसा होगी या नहीं। जिसे आसक्ति नहीं रहती, जो 'मैं' और 'मेरा' नहीं कहता; कार्य की सिद्धि हो या न हो (दोनों परिणामों के समय) जो (मन से) विकार रहित होकर धृति और उत्साह के साथ कर्म करता है उसे सात्त्विक (कर्त्ता) कहते हैं। विषयासक्त, लोभी, (सिद्धि के समय) हर्ष और (असिद्धि के समय) शोक से युक्त, कर्मफल पाने की इच्छा रखने वाला, हिंसात्मक और अशुचि कर्त्ता राजस कहलाता है। अयुक्त अर्थात् चंचल बुद्धिवाला, असभ्य, गर्व से फूलने वाला, ठग, दूसरों की हानि करने वाला, आलसी, अप्रसन्न-चित्त और दीर्घसूत्री अर्थात् घड़ी भर के काम को महीने भर में करने वाला कर्त्ता तामस कहलाता है। जो बुद्धि प्रवृत्ति (अर्थात् किसी कर्म के करने) और निवृत्ति (अर्थात् न करने) को जानती है एवं यह जानती है कि कार्य अर्थात् करने के योग्य क्या है और अकार्य अर्थात् करने के अयोग्य क्या है, किससे डरना चाहिए और किससे नहीं, किससे बन्धन होता है और किससे मोक्ष प्राप्त होता है—यह बुद्धि सात्त्विक है। वह बुद्धि राजसी है, जिससे धर्म और अधर्म का अथवा कार्य और अकार्य का यथार्थ निर्णय नहीं होता। वह बुद्धि तामसी है जो तम से व्याप्त होकर अधर्म को धर्म समझती है और सब बातों में विपरीत यानी उलटी समझ कर देती है। जिस अव्यभिचारिणी अर्थात् इधर-उधर न डिगने वाली धृति से मन प्राण और इन्द्रियों के व्यापार, (कर्म फल त्याग रूपी) योग के द्वारा (पुरुष) करता है वह धृति सात्त्विक है। जो आरम्भ में (तो) विष के समान दुःखदायी परन्तु परिणाम में अमृततुल है; जो आत्मनिष्ठ बुद्धि की प्रसन्नता से प्राप्त होता है उस (आध्यात्मिक) सुख को सात्त्विक कहते हैं। इन्द्रियों और उनके विषयों के संयोग से होने वाला (अर्थात् आधिभौतिक) सुख राजस कहा जाता है, जो पहले तो अमृत के समान

आकर्षक होता है परन्तु अन्त में विष के समान दुःखदायी रहता है। जो आरम्भ एवं अन्त में मनुष्य को मोह में फँसाता है और जो निद्रा आलस्य तथा प्रमाद अर्थात् कर्त्तव्य की भूल से उपजता है उसे तामस सुख कहते हैं। आयु, सात्त्विक वृत्ति, बल, आरोग्य, सुख एवं प्रीति की वृद्धि करने वाले, रसीले, स्निग्ध, शरीर में भेदकर चिरकाल तक रहने वाले और मन के लिए आनन्ददायक आहार सात्त्विक मनुष्य को प्रिय होते हैं। कटु अर्थात् चरपरे, खट्टे, खारे, अत्युष्ण, तीखे, रूखे, दाहकारक तथा दुःख-शोक और रोग उपजाने वाले आहार राजस मनुष्य को प्रिय होते हैं। कुछ काल का रखा हुआ अर्थात् ठंडा, नीरस, दुर्गन्धित, बासी, झूठा तथा अपवित्र भोजन तामस पुरुष को अच्छा लगता है। उपर्युक्त विवेचन से यह विदित होता है कि तीनों गुण ही हमारे नैतिक, अनैतिक, सुखात्मक अथवा दुखात्मक भावों के निर्धारक हैं। सतोगुण नैतिक एवं परं नैतिक स्थिति के, रजोगुण, सामान्य, मिश्रित एवं साधारण अवस्था के, और तमोगुण निकृष्ट एवं अनैतिक स्थिति के लक्षण हैं।

अव्यक्त और ब्रह्म

अव्यक्त शब्द गीता में अगोचर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। व्युत्पत्ति दृष्टि से यह शब्द 'अ' और 'व्यक्त' से बना हुआ है, जिसमें 'अ' नकारात्मक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है एवं 'व्यक्त' शब्द का अर्थ गोचर अर्थात् नामरूपात्मकभेद युक्त है। यह शब्द विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। समान वर्ग के रूप में यह शब्द नपुंसकलिंग में प्रयुक्त हुआ है। उदाहरणार्थ प्रथम अर्थ में गीता के अध्याय दूसरे का पच्चीसवां श्लोक अथवा अध्याय आठवें का इक्कीसवां श्लोक है। इस प्रकार दूसरे अध्याय के पच्चीसवें श्लोक में आत्मा को अव्यक्त, अचिन्त्य एवं अविकार्य बताया गया है। उपनिषदों में आत्मा को अव्यक्तार्थ में लक्षित करना ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ आत्मा को शुद्ध चैतन्य एवं स्वयप्रकाश माना गया है। अर्वाचीन सम्पूर्ण वेदान्त ग्रन्थों में आत्मा को अनुभूतिस्वभाव के रूप में वर्णित किया गया है। परन्तु गीता में आत्मा का प्रधान लक्षण अमरत्व एवं अविकार्य समझा गया है; इसके बाद इसे अचिन्त्य एवं अव्यक्त समझा गया है। परन्तु ऐसा प्रतीत नहीं होता कि गीता में आत्मा का शुद्ध चैतन्य-सिद्धान्त के रूप में निरूपण है। गीता आत्मा को केवल अव्यक्त ही नहीं बताती, अपितु शुद्ध चैतन्य के रूप में भी कभी प्रयोग नहीं करती। चेतना शब्द क्षेत्रज्ञ का नहीं बल्कि विकारी क्षेत्र का एक भाग है।[1] इस प्रसंग में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि आत्मा को चेतन नहीं माना जाए तो वह क्षेत्रज्ञ कैसे हो सकता है? परन्तु इसका उत्तर यही होगा कि आत्मा को क्षेत्र के रूप में ही क्षेत्रज्ञ कहा गया है जिसका तात्पर्य यह है कि आत्मा स्वयं प्रकाश नहीं है परन्तु इसका प्रकाश क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का प्रतिबिंब मात्र है। क्षेत्र में चैतन्य अन्तर्निहित है एवं आत्मा के संयोग से ही वह क्षेत्रज्ञ प्रतीत होता है।

यहाँ पर यह कहना अप्रासङ्गिक नहीं होगा कि उपनिषदों में कहीं पर भी क्षेत्र शब्द का प्रयोग गीता के क्षेत्रार्थ में नहीं हुआ है। परन्तु क्षेत्रज्ञ शब्द श्वेताश्वतर एवं

---

1 गीता 13.7।

मैत्रायण के क्रमशः 6:16 तथा 2:5 में गीता के 'पुरुष' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। गीता ने जिस अर्थ में 'क्षेत्र' शब्द का प्रयोग किया है उसी अर्थ में चरक ने अपनी चरक संहिता 3:1,61-63 में सांख्य शब्द का प्रतिपादन करते हुए किया है। चरक ने 'अव्यक्त' को क्षेत्र का अंग नहीं माना है जैसाकि गीता ने माना है। आगे चलकर चरक अव्यक्त (जिसके अनुसार जिसका अर्थ सांख्य प्रकृति एवं पुरुप से है) को क्षेत्रज्ञ मानता है जबकि गीता केवल पुरुष को ही क्षेत्रज्ञ मानती है। गीता का 'पुरुष' से तात्पर्य जीवभूत (7.5 एवं 15.7) से है जिसके द्वारा सम्पूर्ण जगत् धारण किया हुआ है। परन्तु गीता यह नहीं बताती कि जीवभूत जगत् का आधार किस प्रकार से हैं। चरक ने भी आत्मा को जीवभूत माना है और उसमें यह भी बताया गया है कि यही बुद्धि-इन्द्रियाँ, मन एवं विषय का आधार है। शुभ-अशुभ, सुख-:दुख, बंध-मोक्ष, एवं वस्तुतः सम्पूर्ण विश्व के व्यापार इसी के हेतु है। चरक संहिता में पुरुष को चेतना-धातु माना गया है फिर भी पुरुष स्वयं शुद्ध चैतन्य नहीं है। उसमें चेतना केवल मन. इन्द्रियां, विषय इत्यादि के संयोग मात्र से आती है। गीता में पुरुष को चेतना-धातु नहीं माना गया है परन्तु चेतना क्षेत्र का अंग ही है जिसकी अध्यक्षता पुरुष करता है। इस प्रकार पुरुष को क्षेत्रज्ञ के रूप में ज्ञान केवल अपने क्षेत्र के साथ संयोग होने से होता है। यह धारणा की जा सकती है कि पुरुष क्षेत्रज्ञ अथवा जीवभूत के रूप में क्षेत्र को धारण करता है और यह भी सम्भव है कि पुरुष में ज्ञातृत्व क्षेत्र के संयोग से आता है।

पुरुष के ज्ञातृत्व स्वरूप का विचार करते समय एक अन्य सम्बन्ध की बात भी कही गई है कि पुरुष कर्त्ता भी है। अन्य प्रसंग में कर्मफल अधिष्ठान (स्थान)—कर्त्ता, भिन्न-भिन्न कारण अर्थात् साधन, (कर्त्ता की) अनेक प्रकार की पृथक्-पृथक् चेष्टाओं और दैव के समूह से सम्भव माना गया है, इस सिद्धान्त को सांख्य सिद्धांत माना गया है यद्यपि शंकर के अनुसार यह वेदान्त-मत है। परन्तु दोनों सांख्य एवं वेदान्त के सिद्धान्त सत्कार्य-वाद है। परम्परागत सांख्य दर्शन के सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार कर्मफल अव्यक्त सत् से व्यक्त विकृत विकास का स्वाभाविक परिणाम है। वेदान्त के सत्कार्यवाद मत के अनुसार कार्य केवल प्रतीतिमात्र है एवं कारण ही एक मात्र सत्य है। इन दोनों में से कोई उस कारण के सिद्धान्त को नहीं मानता जिसकी यह मान्यता थी कि कई एक तत्त्वों के संयुक्त होने से कोई भी कार्य सम्भव है। जिसका अभाव हो, वह केवल कारणों से सयुक्त प्रभाव अथवा समूह से नहीं उत्पन्न किया जा सकता। यह स्मरणीय है कि गीता सत्कार्यवाद के आधारभूत सिद्धान्त को स्पष्टतया प्रतिपादित करती है कि जो सत् है उसका अभाव नहीं है एवं असत् का अस्तित्व नहीं है। आत्मा के अमरत्व को सिद्ध करने के लिए इस सिद्धान्त को लागू किया गया। प्रत्येक व्यक्ति को यह बात आश्चर्यजनक लगेगी कि गीता आत्मा के अमरत्व को स्थापित करने के लिए सत्कार्यवाद को मानती है और साथ-ही-साथ कर्मसम्भव के बारे में असत्कार्यवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करती है। यह बात भी अनोखी है कि चरक भी अपने सांख्य निरूपण में मानता है कि सब कर्म अनेक कारणों के परिणाम हैं अर्थात् कर्म कर्त्ता[1] के साथ अन्य अनेक तत्त्वों के संयोग का परिणाम है।

---

1 चरक संहिता 4,1 54।

गीता में (2.28) अव्यक्त शब्द अज्ञेयता और अदृश्यता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सब भूत आरम्भ में अव्यक्त, मध्य में व्यक्त, और मरण समय में फिर अव्यक्त होते हैं। परन्तु अब नपुंसकलिंग अव्यक्त शब्द ईश्वर के अंश के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जिससे इस नामरूपात्मक जगत् की उत्पत्ति हुई है। अव्यक्त शब्द प्रकृति अथवा ईश्वर की प्रकृति भी है जो अध्यक्ष होकर प्रकृति से सब चराचर सृष्टि उत्पन्न करवाता है।[1] परन्तु कभी-कभी ईश्वर स्वयं अव्यक्त कहा गया है (सम्भवतः अगोचर होने के कारण), अव्यक्त से परे दूसरा सनातन पदार्थ जिसके द्वारा इस जगत् की उत्पत्ति हुई है।[2] यह अव्यक्त ईश्वर ही है जिसे अक्षर भी कहते हैं एवं वो सम्पूर्ण प्राणियों की चरम अर्थात् उत्कृष्ट या अन्त की गति कहा गया है। इस प्रकार एक सनातन अव्यक्त है जो ईश्वर का परं तत्त्व है एवं दूसरा (निम्न कोटि का) अव्यक्त है जिसे सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति हुई है। इन दो अव्यक्तों के अतिरिक्त एक प्रकृति भी है जिसे अनादि तत्त्व एवं माया अथवा अविद्या कहते हैं तथा जिससे गुण उत्पन्न होते हैं।

'ब्रह्मन्' दो अथवा तीन भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। जैसे एक प्रकृति के अर्थ में जिसके गुण उत्पन्न होते हैं—दूसरे, ईश्वर के आवश्यक स्वरूप के अर्थ में; तीसरे वेदों के अर्थ में। इस प्रकार गीता में (3.15 में) यज्ञ कर्म की उत्पत्ति ब्रह्म से अर्थात् प्रकृति से हुई है और यह ब्रह्म ही यज्ञ में अधिष्ठित रहता है।[3] उसका तात्पर्य यह है कि चूंकि सनातन ब्रह्म से वेदों की उत्पत्ति हुई है इसलिए कर्म भी सर्वगत एवं सनातन है। सर्वगत शब्द का कर्म के अर्थ में उपयोग इसलिए हुआ है कि कर्म करने वालों को विविध प्रकार से लाभ होता है। गीता के 4.32 में 'ब्राह्मणो मुखे' में व 'ब्रह्मन्' वेदार्थ में प्रयुक्त हुआ है। परन्तु अ० 4.24 एवं 25 में अर्पण अथवा हवन करने की क्रिया ब्रह्म है, हवि अर्थात् अर्पण करने का द्रव्य ब्रह्म है, ब्रह्माग्नि में ब्रह्म ने हवन किया है; इस प्रकार जिसकी बुद्धि में (सभी) कर्म ब्रह्ममय हैं, उसको ब्रह्म ही मिलता है। कोई-कोई योगी देवता आदि के उद्देश्य से यज्ञ किया करते हैं और कोई ब्रह्माग्नि में यज्ञ से ही यज्ञ का यजन करते हैं। इसमें 'ब्रह्मन्' ईश्वर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[4] पाँचवें अध्याय के 6,10,19 श्लोक में भी तथा और कई स्थलों में ब्रह्मन् 'ईश्वरार्थ' में प्रयुक्त हुआ है परन्तु गीता के अनुसार सगुण ईश्वर परम तत्त्व है एवं उपनिषदों में उपदिष्ट निर्गुण एवं निर्विशेष परम तत्त्व होते हुए भी सगुण ईश्वर द्वारा धारण किया जाता है। यद्यपि अ० 8.3 एवं 10,12 श्लोक में ब्रह्म भेद रहित परम तत्त्व कहा गया है फिर भी अ० 14.27 में ईश्वर को इस परम तत्त्व ब्रह्म का भी आधार कहा गया है। कई श्लोकों

---

1 गीता 9, 10, मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते मचराचरम्।

2 गीता 8.20,21; 9.4 जहाँ कहा गया है—'सम्पूर्ण जगत् मेरे अव्यक्त रूप से व्याप्त है। सब वस्तुएँ एवं प्राणी मेरे अन्दर हैं परन्तु मैं उनमें नहीं हूँ।'

3 वही, 3.15।

4 इस श्लोक (4·24) की व्याख्या करते हुए, श्रीधर ने इसे इस प्रकार व्याख्यायित किया है : तदेवम् परमेश्वराधनलक्षणं कर्म ज्ञानहेतुत्वेन बन्धकत्वाभावादकर्मैव।

में ब्रह्मभूत (अ० 5.24, अ० 6.27, अ० 18.54) अथवा ब्रह्मभूय (अ० 14.26) एवं ब्रह्म-निर्वाण प्राप्ति (अ० 2.72) अ० 5.24,25 और 26) का वर्णन है। गीता में ब्रह्मभूत का अर्थ शांकर वेदान्त की सायुज्य मुक्ति नहीं है यह कहना दोषयुक्त होगा कि 'ब्रह्मन्' का प्रयोग उसी अर्थ में किया गया है जिस अर्थ में शंकर ने किया है। उपनिषदों में 'ब्रह्मन्' परम भेद रहित तत्त्व के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है एवं उपनिषद् हिन्दू दर्शनों द्वारा सब शास्त्रों का भण्डार माना गया है। अधिकतम दर्शनों ने अविकारी परम धाम की प्राप्ति को ब्रह्मानुभूती का चरम लक्ष्य माना है। इस सम्बन्ध में चरक द्वारा प्रतिपादित सांख्यशास्त्र में कहा गया है कि जब मनुष्य आसक्ति एवं मानसिक और शारीरिक क्रियाओं को छोड़ देता है तब उसकी सब भावनाओं एवं ज्ञान की पूर्ण निवृत्ति हो जाती है। इस अवस्था में वह ब्रह्मभूत हो जाता है एवं आत्मा की स्थिति अव्यक्त हो जाती है। यही अवस्था अखिल जगत् से परे एवं सब प्रकार से अनुमान तथा चिह्न से रहित है।[1] यह स्थिति निर्वाण होते हुए भी ब्रह्मभूत कहलाती है। 'ब्रह्मन्' उपनिषदों में से लिया गया एवं परम स्वानुभूति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ तथा जिसके स्वरूप के संबंध में भिन्न-भिन्न दर्शनों के अनेक मत हैं। गीता में भी 'ब्रह्मन्' शब्द का प्रयोग हुआ है जिसे ब्रह्मानुभूति की उच्च अवस्था माना गया है जिसमें मनुष्य पूर्ण अनासक्ति द्वारा अपने आप में तुष्ट रहता है एवं जो स्थितप्रज्ञ है। गीता 5.19 में ब्रह्म को निर्दोष एवं सम माना गया है। इसी प्रसंग के अन्य श्लोकों में राग-द्वेष से वियुक्त स्थितप्रज्ञ मुनि को ब्रह्म में स्थित कहा गया है क्योंकि ब्रह्म का अर्थ ही समता की स्थिति है। गीता में (अ. 13.13) ब्रह्म को ज्ञेय, अनादि एवं न सत् तथा न असत् कहा गया है। उसके सब ओर हाथ पैर हैं, सब ओर आंखें, सिर और मुख है। सब ओर कान है और वही इस श्लोक में सबको व्याप रहा है। (उसमें) सब इन्द्रियों के गुणों का आभास है पर उसके कोई इन्द्रिय नहीं है, वह सबसे असक्त अर्थात् अलग होकर भी सबका पालन करता है और निर्गुण होने पर भी सब गुणों का उपभोग करता है। (वह) सब भूतों के भीतर भी है और बाहर भी है, अचर है और चर भी है, सूक्ष्म होने के कारण वह अविज्ञेय है और दूर होकर भी समीप है। (वह) तत्त्वतः अविभक्त अर्थात् अखंडित होकर भी सब भूतों में मानों (नानात्व से) विभक्त हो रहा है और (सब) भूतों का पालन करने वाला, ग्रसने वाला और उत्पन्न करने वाला भी उसे ही समझना चाहिए। उसे ही तेज का भी तेज, और अन्धकार से परे कहते हैं। ज्ञान जो जानने योग्य है वह (ज्ञेय) और ज्ञानगम्य अर्थात् ज्ञान से ही विदित होने वाला भी (वही) है. सबके हृदय में वही अधिष्ठित है। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि ब्रह्म का सामान्य प्रत्यय उपनिषदों में से अपरोक्ष रूप से लिया गया है। इस अध्याय के अन्त में कहा गया है कि जब सब भूतों का पृथक्त्व अर्थात् नानात्व एकता से (दीखने लगे) और इसे (एकता से ही सब) विस्तार दीखने लगे तब ब्रह्म प्राप्त होता है। परन्तु अगले अध्याय में कृष्ण भगवान् कहते हैं कि अमृत और अव्यय ब्रह्म का शाश्वत धर्म का एवं एकान्तिक अर्थात् परमावधि के अत्यंतिक सुख का अन्तिम स्थान मैं ही हूँ। गीता के 14.26 यह कहा गया है कि 'जो (मुझे ही सब

1 निःस्तृतः सर्वभावेभ्यश्चिन्हं यस्य न विद्यते।

—चरक संहिता, 4.1.153।

कर्म अर्पण करके) अव्यभिचार अर्थात् एकनिष्ठ भक्तियोग से मेरी सेवा करता है, वह इन तीन गुणों को पार करके ब्रह्मभूत अवस्था पा लेने में समर्थ हो जाता है।' यह कहा जा चुका है कि गीता के अनुसार दो विभिन्न प्रकार के अव्यक्त हैं। ईश्वर की अपरा प्रकृति ही जगत् के रूप में व्यक्त होती है, परन्तु एक उच्चतर अव्यक्त है जो नित्य एवं अविकारी तथा सबका आधार है। अतः यह सम्भव प्रतीत होता है कि ब्रह्मन् और परम अव्यक्त एक ही है परन्तु यद्यपि यह क्षर से भी परे का और अक्षर से भी उत्तम (पुरुष) है यह पुरुषोत्तम के नाम से प्रसिद्ध है।

गीता, वेदान्त या सांख्य का ग्रन्थ है अथवा प्रारम्भ में सांख्य ग्रन्थ था जो बाद में वेदान्तिक दृष्टिकोण से परिवर्तित, परिवर्धित अथवा संशोधित कर दिया गया—इस प्रश्न का विस्तारपूर्वक विवेचन यहाँ पर करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि गीता पर इस ग्रन्थ में किए गए भाष्य को यदि स्वीकार कर लिया जाए तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि गीता न तो सांख्य का और न वेदान्त का ही ग्रन्थ है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि गीता का सांख्य ईश्वरकृष्ण की कारिका में प्रतिपादित परम्परागत सांख्य दर्शन नहीं है। परन्तु निस्सन्देह कहीं-कहीं प्राचीन दर्शन के तत्त्व मिलते हैं जिनके विकसित रूप केवल ईश्वरकृष्ण का सांख्य अथवा षष्ठि-तन्त्र है (जिसका ईश्वरकृष्ण ग्रन्थ एक संक्षिप्त ग्रंथ ही नहीं है बल्कि चरक के ग्रन्थ में उपलब्ध पूर्वकथन भी इसके ही विकसित रूप हैं)। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गीता के सांख्य और षष्टितन्त्र अथवा ईश्वरकृष्ण के सांख्य में, चरक के सांख्य में, महाभारत में पंचशिख सांख्य में एवं व्यास भाष्य और पतंजलि के सांख्य में बड़ा महत्त्वपूर्ण भेद है। सामान्यतया पतंजलि के सांख्य को सेश्वर सांख्य कहा गया है। परन्तु पतंजलि योग दर्शन में प्रतिपादित सांख्य ईश्वर को स्पष्टतया नहीं मानता। ईश्वर उपरोक्त योग में केवल पुरुष विशेष है जो अपने नित्य संकल्प द्वारा कर्मविधान के अनुसार प्रकृति के विकास के पथ की बाधाओं को हटाता है। इस प्रकार वह (ईश्वर) अंधी प्रकृति के उद्देश्य की पूर्ति में सहायक होता है। परन्तु गीता के दोनों पुरुष और उनकी महद्ब्रह्म प्रकृति, पुरुषोत्तम ईश्वर के अंश हैं। आत्मगत लक्षण वाले गुणों को उत्पन्न करने वाली प्रकृति को ईश्वर की माया अथवा उसकी वधू कहा गया है जो उसके संकल्प से गर्भित होकर गुण उत्पन्न करती है। गीता के दर्शन एवं सांख्य की अनेक शाखाओं में अन्तर स्पष्ट है। सांख्य की एक प्रकृति के बजाय यहाँ पर ईश्वर की तीन प्रकृतियाँ हैं। यहां गुण जगत्सम्बन्धी न होकर आत्मगत अथवा मनोवैज्ञानिक है। इसका कारण यह है कि गीता की प्रकृति आत्मगत ईश्वरीय संकल्प से गुण उत्पन्न करती है, जो संस्कारों से युक्त होकर पुरुषों को बांधते हैं। उसी प्रकृति को गुणमयी माया कहा गया है। पुरुष अनेक होते हुए भी ईश्वरीय-प्रकृति से प्रकट होते हैं। सांख्य की तरह गीता में पुरुषों को शुद्ध चैतन्य स्वरूप नहीं कहा गया है। परन्तु चेतना की चित् शक्ति का स्रोत ईश्वर की अन्य प्रकृति से है जो पुरुष से संयुक्त है। यह भी बताया जा चुका है कि कर्मफल के अथवा चेतना के प्रसंग में नहीं अपितु आत्मा के अमरत्व के बारे में गीता सत्कार्यवाद के सिद्धान्त को मानती है। गीता में सांख्य की तरह तन्मात्र का विवरण नहीं है। सांख्य की प्रकृति का स्थान गीता में पुरुषोत्तम ने लिया है जो अपने संकल्प द्वारा अपने अन्दर धारण किए हुए विभिन्न तत्त्वों में एकत्व एवं हेतु स्थापित करता है। पतंजलि एवं कपिल के सांख्य का ज्ञान अथवा यौगिक

क्रियाओं द्वारा पुरुषों के परम पुरुषार्थ अर्थात् मुक्ति-प्राप्ति लक्ष्य है। गीता का उद्देश्य मन को राग-द्वेष से विमुक्त करके संतों की समता एवं मन की परम शांति प्राप्त करवाना है। जिस स्थिति में उपरोक्त समता एवं तुष्टि की उपलब्धि हो जाती है तब साधक गुणासक्ति के बन्धन से मुक्त अर्थात् गुणातीत अथवा ब्रह्मभूत हो जाता है। इस प्रकार गीता-दर्शन परम्परागत सांख्य दर्शन से प्रत्येक विषय में महत्त्वपूर्ण रूप से भिन्न है। कुछ गौण विषयों में (उदाहरणार्थ तन्मात्र की अनुपस्थिति, ज्ञान एवं कर्मोपलब्धि का स्वरूप इत्यादि) गीता-दर्शन की चरक संहिता 4.1 (इस ग्रन्थ के प्रथम खंड में जैसा वर्णित है)[1] में दिए गए सांख्य दर्शन के साथ समानता है।

गीता वेदान्त के प्रभाव में आकर लिखी गई या नहीं—इस प्रश्न का उत्तर उस समय तक नहीं दिया जा सकता जबतक वेदान्तिक प्रभाव का ठीक-ठीक अर्थ नहीं समझा जाए। यदि वेदान्तिक प्रभाव का अर्थ उपनिषदों के प्रभाव के अर्थ में लिया जाए तो यह मानना पड़ेगा कि गीता ने प्राचीन समय से अपने ज्ञान के लिए सम्मानित उपनिषदों से स्वतन्त्रता-पूर्वक सामग्री ली है और यदि वेदान्तिक प्रभाव का तात्पर्य शंकर एवं उनके अनुयायियों द्वारा उपदिष्ट वेदान्त दर्शन से हो तो यह निश्चित है कि गीता दर्शन उनसे अत्यधिक भिन्न है। यह भी कहा जा चुका है कि उपनिषदों में जो ब्रह्म ईश्वर का परम तत्त्व कहा गया है वह वस्तुतः पुरुषोत्तम है। गीता कहीं पर भी इस बात पर जोर नहीं देती कि ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है एवं इतर जगत् मिथ्या है अर्थात् 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' को नहीं मानती। 'निस्संदेह 'माया' शब्द तीन स्थलों में प्रयुक्त हुआ है। परन्तु उस अर्थ में नहीं जिस अर्थ में शंकर ने अपनी वेदान्तिक टीका में प्रयोग किया है। इस प्रकार गीता में (7.14) माया को गुणमयी बताया गया है और यह कहा गया है कि जो ईश्वर की शरण में जाते हैं वे इस माया को पार कर जाते हैं। गीता में (7.15) माया शब्द सम्भवतः उसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है क्योंकि यह कहा गया है कि माया ने जिनका ज्ञान नष्ट कर दिया है ऐसे मूढ़ और दुष्कर्मी नराधर्म आसुरी बुद्धि में पड़कर ईश्वर की शरण में नहीं आते। निश्चित तौर पर यहाँ पर भी माया का तात्पर्य रजस् एवं तमस् के प्रभाव से है। क्योंकि गीता में यह बार-बार कहा गया है कि रजस एवं तमस के अत्यधिक प्रभाव से (आधिक्य से) आसुरी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। गीता में (18.61) कहा गया है कि ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में रहकर (अपनी) माया से प्राणिमात्र को (ऐसे) घुमा रहा है मानों सभी (किसी) यंत्र पर चढ़ाए गए हों। यह कहा जा चुका है कि मानसिक कर्म में प्रवृत्त करने वाली वृत्तियाँ एवं नैतिक और अनैतिक प्रवृत्तियाँ गुणों के प्रभाव द्वारा उत्पन्न होती है एव ईश्वर प्रकृति के गुणों का सनातन बीज है। अतएव गीता में (7.14) माया का तात्पर्य गुणों से है। श्रीधर इसे ईश्वर की शक्ति मानते हैं। गुण दूरवर्ती अर्थ में निस्संदेह ईश्वर की शक्तियाँ हैं। परन्तु शंकर का माया को छल के रूप में कहना अयथार्थ है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गीता के मत में जगत् को माया स्वरूप अर्थात् मिथ्या नहीं माना गया है। यह भी कहा जा चुका है 'ब्रह्मन्' गीता में वेदों के अर्थ में, निर्दोष समता के अर्थ में, प्रकृति के परम तत्त्वार्थ में, प्रयुक्त हुआ है जिससे यह स्पष्ट है कि शंकर के दर्शन की

---

1 भारतीय दर्शन का इतिहास, खंड 1, 1922, पृ० 213–222।

तरह इसका प्रयोग स्पष्ट विशिष्टार्थ अथवा दार्शनिक अर्थ में नहीं हुआ है। गीता में व्यवहृत 'माया' शब्द औपनिषद् परम्परा का लचीलापन लिए हुए हैं। शंकर के वेदान्त-दर्शन में विख्यात 'अविद्या' शब्द गीता में कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ है। अज्ञान शब्द की पुनरावृत्ति हुई है (अ० 5.15,16; 10,11; 13,11; 14.8, 16.17; 16.4) परन्तु इनमें से किसी भी स्थल पर उपरोक्त शब्द कोई विशिष्टार्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। यहाँ इसका अर्थ है तमस् से उत्पन्न अज्ञान; (अज्ञानं तमसः फलम् 14–16) और जो स्वयं तमस् उत्पन्न करता है (तमस्त्वज्ञानजं विद्धि अ० 14.8)।

गीता में यज्ञों का निरूपण

शंकर द्वारा प्रतिपादित वेदान्त के सिवाय प्रायः सभी हिन्दूमत यज्ञ और याग उपासना आदि वैदिक नैमित्तिक कर्म द्वारा ओत-प्रोत है। मीमांसा दर्शन में विधि के विश्लेषण में कर्मों की नैमित्तिकता अत्युत्तम रीति से की गई है। विधि का अर्थ है वेदाज्ञा जैसे 'तुम्हें अमुक-अमुक यज्ञ करने चाहिए। कहीं-कहीं ये अर्थों की प्राप्ति के लिए होते हैं जैसे जो लोग स्वर्ग प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें अमुक-अमुक यज्ञादि करने चाहिएं। कहीं-कहीं ये अनिवार्य होते हैं जैसे, 'तुम्हें तीन प्रार्थनाएँ करनी चाहिएं।' मीमांसा के विभिन्न मतों में इस धर्म की बाध्यता का भिन्न रूप से प्रतिपादन किया गया है। प्रख्यात भाष्यकार कुमारिल ने जैमिनि द्वारा दी गई धर्म की परिभाषा (अभीष्ट अर्थ अथवा शुभ जो वैदिक कर्म हैं) (चोदनालक्षणोर्थो धर्मः मीमांसा सूत्र 1.1) पर टीका करते हुए कहते हैं–वैदिक यज्ञादि का पालन ही धर्म है। अतः धर्म की परिभाषा के अन्तर्गत वह अभीष्ट अर्थ दुःख से सम्बन्धित सुख की मात्रा के आधिक्य के कारण आता है जो वैदिक विधान द्वारा उपदिष्ट है। वैदिक यज्ञ भी धर्म कहलाते हैं क्योंकि इनसे भविष्य में सुखात्मक अनुभवों की उपलब्धि होती है। अतः वैदिक विधान द्वारा निषिद्ध कर्मों का त्याग भी धर्म कहलाता है, क्योंकि इसके द्वारा विधि के उल्लंघन के फलस्वरूप अनीच्छित प्रभाव एवं दंड-यातनाओं को टाला जा सकता है। ऐसे यज्ञों को अन्ततोगत्वा अर्थ कहते हैं क्योंकि इनसे सुखात्मक भोगों की प्राप्ति होती है। वैदिक विधि का प्रभाव दो प्रकार से पड़ता है–प्रथमतः शाब्दी भावना के पालन में ऐच्छिक प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव, द्वितीय, आर्थी भावना में क्रियात्मक संकल्प का प्रादुर्भाव। शाब्दी भावना का प्रवर्त्तक भौतिक अथवा शारीरिक नहीं है। ऐसी प्रवृत्ति की उत्पत्ति केवल इसी विचार के परिणामस्वरूप होती है कि कर्म करने से उसे श्रेयस्कर अर्थोपलब्धि होगी।[1] इसलिए वैदिक विधान में निहित दो प्रकार की भावनाओं में वैदिक आज्ञा द्वारा कार्य करने की प्रवृत्ति को शाब्दी भावना कहते हैं। इसके परिणाम-स्वरूप मनुष्य कार्य करने के लिए वास्तविक प्रयत्न करता है।[2] क्रिया के अर्थ को दृष्टि में

---

1 अदृष्टे तु विषये श्रेयः साधनाधिगमः शब्दैकनिबन्धन इति तद् अधिगमोपायः शब्द एव प्रवर्त्तकः; अतएव शब्दोऽपि न स्वरूपमात्रेण प्रवर्त्तको वा ग्वादे तुल्यत्व प्रसंगात्,.... अर्थप्रतीतिम् उपजनयतः शब्दस्य प्रवर्त्तकत्व।

—न्याय मंजरी, पृ० 342 विजियन ग्राम संस्कृत सिरीज बनारस, 1895।

2 लिङ आदेः शब्दस्य न प्रतीतिज्ञानमात्रे व्यापारः किन्तु पुरुषप्रवृत्तौ अपि; स चायं

जाने के पूर्व ही विधि का अपरोक्ष ज्ञान क्रिया के उपसर्ग लिङ् से हो जाता है। यदि ऐसी बात है तो प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या वैदिक विधि द्वारा उपदिष्ट लिङ् केवल आज्ञा ही है अर्थात् उसमें सामग्री नहीं है? उपरोक्त बात भट्ट-मत को मान्य है जिसके अनुसार यद्यपि प्रथम अवस्था में वैदिक विधि भले ही केवल आकृत मात्र हो परन्तु आनुक्रमिक अवस्थाओं में व्यक्त प्रसंग के अपरोक्ष सम्बन्ध से पूर्ति हो जाती है जैसाकि क्रिया के लिङ् के साथ संयोग से संकेत मिलता है।[1] अतः सामग्रीरहित कर्त्तव्य का कथन एवं उसके साकार क्रिया के अर्थ का सम्बन्ध दो भिन्न अर्थों में नहीं है अपितु कथन की एक ही क्रिया का विस्तार है जैसे, रसोई बनाने की क्रिया में आग जलाने एवं आग पर बर्तन रखने इत्यादि की प्रक्रियाएँ अन्तर्निहित है।[2] अतः उपरोक्त दो भावनाओं का अर्थ संकल्प का तर्क एवं उसका निश्चित प्रक्रिया में परिणत होना है जैसे, यज्ञ-यागादि की क्रिया इत्यादि। यहाँ विधि का अर्थ प्रेरणा रूप व्यापार है। वह ऐसी प्रेरणा है जो कर्त्ता में आगे चलकर क्रियात्मक रूप में परिणत होने वाले संकल्प को जन्म देती है।

एक अन्यमीमांसा मत इस द्वैत-भावना के सिद्धान्त की आलोचना करता हुआ कहता है कि 'लिङ्' प्रेरणार्थक है मानों वेदों का हमारे साथ सम्बन्ध स्वामी एवं भृत्य का हो एवं लिङ् प्रत्यय में वैदिक-विधि प्रभुत्व सूचक है। विधि हमें कर्म करने की प्रेरणा देती है एवं उसके द्वारा प्रेरित होकर हम कर्म-संपादन में प्रवृत्त होते हैं। शारीरिक दृष्टि से यह हमें कर्म करने को विवश नहीं करती परन्तु इससे हमारे अन्दर यह भावना रहती है कि हमें कोई कर्म करने की आज्ञा दे रहा है और यही वह प्रेरक शक्ति है। कर्मविधिज्ञान इस प्रकार हमें वैदिक कर्म करने की प्रेरणा देता है। जब मनुष्य कोई आज्ञा सुनता है तो वह अनुभव करता है कि उसे आज्ञा दी गई है, तब वह कर्म में प्रवृत्त होता है। यह कर्म-प्रवृत्ति नियोग एवं नियोजित के सम्बन्ध से बिल्कुल भिन्न होती है एवं उसके बाद ही आती है। वेद-वाक्य का तत्त्व नियोग है। एक मनुष्य जिसने पहले कुछ वस्तुओं के लाभ

लिङ् आदि व्यापारः शब्द भावनानामधेयो विधिः इति उच्यते स एव च प्रवर्त्तकः। यो भवनक्रिया-कर्तृविषयः प्रयोजकव्यापारः पुरुषस्थो यत्र भवनक्रियायाः कर्त्ता स्वर्गादिकर्मताम् आपद्यते सोऽअर्थः भावना शब्देन उच्यते।

1 यद्यप्यंशैरसंपृष्टां विधिः स्पृशति भावनाम्
तथाप्यशक्तितो नासौ तन्मात्रे पर्यवस्यति
अनुष्ठेये हि विषये विधिः पुंसां प्रवर्तकः
अंशत्रयेण चापूर्णां नानु तिष्ठति भावनाम्
तस्मात् प्रकान्तरूपोऽपि विधिस्तावद् प्रतीक्षते
यावद् योग्यत्वमापन्ना भावनाऽन्यानपेक्षिणी।

2 यथाहि स्थाल्यधिश्रयणात् प्रभृत्या निराकांक्षोदन–निष्पत्तेरेकैवेयं पाकक्रिया सलिलावसेकतडुलावपनदर्वीविघट्टनाश्रावणाद्यनेकक्षणसमुदायस्वभावा तथा प्रथमपदज्ञानाद् प्रभृति आ निराकांक्षवाक्यार्थपरिच्छेदाद् एकैवेय शाब्दी प्रमितिः।
—न्याय मंजरी, पृ० 345।

अथवा तज्जन्य आनन्द का रसास्वादन कर लिया है वह स्वभावतः उन्हें पुनः प्राप्त करना चाहता है। यहाँ भी उत्सुकता, इच्छा अथवा आकूट का विशिष्ट मानसिक अनुभव होता है जो उसे वैदिक नियोग के आज्ञापालन में प्रवृत्त करता है। यह आकूत पूर्ण रूप से स्वगत अनुभव है अतः अन्य लोग इसका अनुभव नहीं कर सकते। यद्यपि इसके अस्तित्व का इस बात से अनुमान किया जा सकता है कि जबतक इनका मानसिक अनुभव नहीं होगा तबतक कर्म-संपादन की प्रेरणा नहीं होगी।[1] सम्पूण विधियों का अर्थ नियोग अथवा प्रेरणा है एवं यही हमें नियोगानुसार कर्म करने की प्रेरणा देता है। कर्म-संपादन आकूत का अन्य रूप मात्र है जो स्वगत रूप में विधि की प्रेरक शक्ति अथवा नियोग द्वारा उत्पन्न हुआ सा अनुभूत होता है। यह मत कुमारिल के मत से इस बात में भिन्न है कि वैदिक नियोग के अनुसार कर्मविचार एवं सम्पादन की सम्पूर्ण प्रक्रिया द्वारा वैदिक नियोग दो प्रकार की भावना में परिणत होता है। हमें कर्म में प्रवृत्त करने में एवं हमारे अन्दर नियोग पालन का आकूत करने में नियोग की शक्ति समाप्त हो जाती है। वास्तविक कर्म-सम्पादन स्वाभाविक अर्थ के रूप में प्राप्त होता है। विधि की शक्ति केवल उस समय ही कार्य करती है जब हमारे सामान्य रुझान हमें कर्म करने में प्रवृत्त नहीं करते। अतः विधि केवल नियोग के नियम के रूप में कार्य करती है जिसका पालन केवल नियम के लिए ही होता है एवं यह नियम के पालन का मनोवैज्ञानिक तत्त्व आकूत ही है जिससे कम संपादित होता है।

मंडन अपने विधि-विवेक में विधि के महत्त्व पर विभिन्न मतों की परीक्षा करते हैं। वह विधि की व्याख्या करते हुए इसे विशिष्ट प्रकार की प्रवर्तना बताते हैं। वह लक्ष्य की प्राप्ति के अतिरिक्त ऐच्छिक प्रयोजन एवं शारीरिक मांसपेशियों की गतियों में परिणत होने वाले क्रियात्मक प्रयत्न में भेद करते हैं। यहाँ प्रवर्तना का तात्पर्य कर्म-सम्पादन के प्रति मन की आंतरिक ऐच्छिक प्रेरणा से तथा उससे सम्बन्धित वास्तविक नाड़ीमण्डल पर प्रभाव डालने वाले परिवर्तन से है।[2] वेदों के आदेश के साथ स्वभावतः कर्त्तव्यता का भाव आता है एवं यही कर्त्तव्यता का भाव लोगों को निष्काम कर्म करने को प्रेरित करता है। नैतिक औचित्य (Oughtners) से सम्बन्धित इस मनोवैज्ञानिक अवस्था का स्वरूप प्रतिभा (instines) जैसा है। नैतिक औचित्य (Oughtners) से उत्पन्न कार्य करने की प्रतिभात्मक उत्तेजना द्वारा कर्म संपादित होता है।

विधि से निरूपाधिक आज्ञा के उपर्युक्त मत से न्याय-दर्शन का मतभेद है। उसके मत में वैदिक नियोग-पालन का शक्ति-श्रोत हमारी वह लाभ-प्राप्ति की इच्छा है जो लाभ हमें

---

1 अयमपि भौतिकव्यापारहेतुरात्माकूतविशेषो न प्रमाणान्तरवेद्यो भवति न च न वेद्यते तत्संवेदने सति चेष्टा यद्वन्तं दृष्ट्ठा तस्यापि तादृक्प्रेरणावगमोऽनुमीयते।

—न्याय मंजरी, पृ० 348।

2 भावधर्म एव कश्चित् समीहितसाधनानुगुणो व्यापार पदार्थः; तद्यथा आत्मनो बुद्ध्यादिजननप्रवृत्तस्य मनःसंयोग एवाऽयं भावधर्मः तद्वद् अत्रापि स्पन्दस्तदितरो वा भावधर्मः प्रवृत्तिजननानुकूलतया व्यापारविशेषः प्रवर्तना।

—विधि विवेक पर वाचस्पति की न्यायकाणिका, पृ० 243–44।

वेदाज्ञा के अनुसार कर्म करने के फलस्वरूप प्राप्त होते हैं। अतः कर्म करने का चरम प्रेरक सुख-प्राप्ति एवं दुःख त्याग है एवं अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही मनुष्य वैदिक नियोग का पालन करने तथा यज्ञ सम्पादित करने को प्रेरित होता है। अतः इस मत के अनुसार प्रेरणा में शुद्ध आदेश का स्वतः सिद्ध प्रयोजन अथवा आदेश के प्रभाव द्वारा ऐच्छिक प्रवृत्ति का उत्पन्न करना निहित नहीं है। अनुभूत प्रेरणा का कारण लक्ष्य-प्राप्ति की इच्छा का उत्पन्न होना है।

विधि की उपर्युक्त व्याख्याओं में अधिकाश व्याख्याएँ गीता के उत्तरकाल की हैं। विधि के स्वरूप का कोई व्यवस्थित विषय अथवा वाद-विवाद अब उपलब्ध नहीं है जिसे गीताकाल का समकालीन अथवा पूर्वकालीन कहा जा सके। परन्तु 'बाद के' भाष्य भी गीता में आदेश-विचार की शक्ति के महत्त्व को समझने में उपयोगी हैं। उपर्युक्त तर्क से यह स्पष्ट है कि विधि-आदेश का विचार हमारे अर्थ के अनुसार नैतिक नहीं कहा जा सकता जैसाकि हिन्दू आचार-शास्त्र ग्रन्थ में किया गया है ?[1] क्योंकि विधि के आदेश वैदिक-निषेध तक ही सीमित हैं जो किसी प्रकार भी हमारे नैतिकतासम्बन्धी सामान्य विचार के साथ एक ही स्थान पर व्यापक नहीं है। उपर्युक्त वर्णित मीमांसा-मतों के अनुसार वैदिक विधि-निषेध का पालन ही धर्म है। धर्म वैदिक-विधि है एवं अधर्म वैदिक-निषेध है तथा जो न तो वैदिक-विधि है और न वैदिक-निषेध है वह तटस्थ है।[2] अतः धर्म पद का तात्पर्य वैदिक विधि तक ही सीमित है यद्यपि ऐसे कर्मों का परिणाम कुछ अवस्थाओं में बुरा हो सकता है जिसके फलस्वरूप कुछ अन्य वैदिक नियोग का उल्लंघन करने के कारण दण्ड भी मिल सकता है। यहाँ निरपेक्ष आदेश शास्त्रोक्त है अतः पूर्णतया बाह्यात्मक है। कर्म का धार्मिक स्वरूप उनके स्वतः स्वरूप पर नहीं बल्कि वैदिक-विधि की बाह्यात्मक नैतिक शक्ति पर अवलंबित है। जो वैदिक-विधि एवं निषेध नहीं है वह केवल तटस्थ है। अतः यह स्पष्ट है कि धर्म शब्द का अनुवाद सद्गुण (Virtue) के रूप में केवल विशिष्ट अर्थ में ही हो सकता है एवं धर्म और अधर्म के प्रत्यय का 'नैतिक' अथवा 'अनैतिक' से कोई सम्बन्ध नहीं है।

---

1 स० क० मित्रा द्वारा लिखित—हिन्दू आचारशास्त्र जो डॉ० सील के सान्निध्य में तथा व्यक्तिगत निरीक्षण में लिखा गया।

2 कुमारिल के विचार में अपने शत्रु की हत्या करने हेतु सम्पादित यज्ञ भी दोषरहित है क्योंकि वे भी वैदिक विधि के अन्तर्गत है। प्रभाकर के मतानुसार इस प्रकार के यज्ञ मनुष्यों की स्वाभाविक बुरी प्रवृत्तियों के कारण किए जाते हैं अतः उनका सम्पादन कर्त्तव्य की भावना से प्रेरित होकर वैदिक विधि के पालन से सम्बन्धित नहीं माना जा सकता। कुमारिल के अनुसार यद्यपि श्येन यज्ञ का परिणाम बुरा होता है फिर भी कर्त्ता का सम्बन्ध बुरे परिणाम से न होकर वेदाज्ञा पालनसम्बन्धी अपने कर्त्तव्य से होता है एवं उसके शुभ कहलाने का कारण वैदिक विधि-निषेध का पालन है यद्यपि जीव-हिंसा का दण्ड भी अवश्य मिलेगा। श्येन यज्ञ में हिंसा विहित होने के कारण कई सांख्य एवं न्याय लेखकों ने उसकी निन्दा की है।

गीता के अनुसार यज्ञ-सम्पादन के दो प्रकार के प्रेरकों में भेद है। प्रथम प्रेरक लोभ एवं स्वार्थ का है तथा द्वितीय कर्त्तव्य-भावना का है। वैदिक विधि के बारे में की गई न्याय-दर्शन की व्याख्या एवं विधि को कर्त्तव्य-भावना बताने वाली मीमांसा की व्याख्या के अनुरूप यज्ञ-सम्पादन में विशिष्ट प्रेरक गीता में वर्णित है। इस प्रकार गीता उन मूर्खों की निन्दा करती है जो वैदिक मत के अतिरिक्त किसी में भी विश्वास नहीं करते। वे लोग इच्छाओं से परिपूर्ण हैं एवं स्वर्ग प्राप्ति के उत्सुक हैं। वे उन कर्मों के सम्पादन में लगे रहते हैं जिनके द्वारा उनका पुनर्जन्म हो तथा सांसारिक भोगों का आनन्द प्राप्त हो। भौतिक विषयों की उपलब्धि हेतु यज्ञ करने वाले लोभासक्त एवं कामासक्त लोग निम्न स्तर पर घूमते रहते हैं। जो निश्चयात्मिका बुद्धि द्वारा ईश्वर भक्ति के उच्चतर स्तर के जीवन के उपयुक्त नहीं है।[1] वेदों को लौकिक अभिलाषाओं एवं कामनाओं के प्रभाव में माना गया है तथा वासनाओं एवं घृणा द्वारा तथा कामनाओं एवं अनिच्छा द्वारा युक्त होकर लोग वैदिक यज्ञादि किया करते हैं और इनसे बढ़कर किसी और को नहीं मानते। अतः मनुष्य को स्वार्थ से प्रेरित होकर किए गए वैदिक यज्ञों के क्षेत्र से परे जाना चाहिए। परन्तु यज्ञ-सम्पादन भी यदि केवल कर्त्तव्य भावना से प्रेरित होकर किया जाए तो गीता वैदिक यज्ञों के सम्पादन के विरुद्ध नहीं है। यज्ञ-सम्पादन में अपने व्यक्तिगत लाभ को देखने वाला एवं अपने सुखात्मक लक्ष्यों की प्राप्ति में उत्सुक निम्न स्तर का व्यक्ति है। अतः यज्ञों का सम्पादन पवित्र कर्तव्य समझकर बिना किसी व्यक्तिगत आसक्ति के करना चाहिए। प्रजापति ने मानव रचना के साथ-साथ यज्ञों की रचना की एवं कहा, 'यज्ञ तुम्हारे कल्याण के लिए होंगे। यज्ञों के द्वारा तुम देवताओं को प्रसन्न करो और देवता तुम्हारी उन्नति एवं वृद्धि में सहायता करेंगे।' जो व्यक्ति देवताओं को आहुति समर्पित किए बिना अपने स्वयं के लिए ही जीता है वह देवताओं के भाग का दुरुपयोग करता है।

गीता का यह मत उत्तर-मीमांसा से भिन्न है जिसकी परम्परा सम्भवतः पूर्वत्तर थी। कुमारिल के अनुसार धर्म अथवा वैदिक यज्ञों का अन्तिम आत्म-पक्ष समर्थन यह था कि उसके द्वारा अर्थ के रूप में हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति हुई और हमें सुख प्राप्त हुआ। निस्सदेह यज्ञ वैदिक नियोग के प्रति आदर के कारण संपादित किए जाते थे; परन्तु वह तो प्रश्न की केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टि ही हुई। होता के लिए सुखोत्पत्ति एवं अभीष्ट विषयों की उपलब्धि द्वारा कामनापूर्ति वैदिक यज्ञों के संपादन का बाह्यात्मक कारण था।

---

1 व्यवसायात्मिका बुद्धि, समाधौ न विधीयते, गीता 2.44। श्रीधर ने 'समाधौ' शब्द की निम्न प्रकार से व्याख्या की है–समाधिश्चितैकाग्र्य, परमेश्वराभिमुखत्वमितियावत, तस्मिन् निश्चयात्मिका बुद्धिस्तु न विधीयते। इस प्रकार यहाँ समाधि शब्द का तात्पर्य ईश्वर के प्रति चित्त की एकाग्रता से है। परन्तु शंकर ने समाधि की व्याख्या अन्तःकरण अथवा बुद्धि बताकर की है। जो न्यायसंगत नहीं है। इस प्रकार वह कहते हैं—समाधीयतेऽस्मिन् पुरुषोपभोगाय सर्वमिति समाधिरन्तःकरणं बुद्धिः। टीकाकारों ने 2.41 व 2.44 पर व्यवसायात्मिका शब्द की व्याख्या निश्चयात्मिका (उपयुक्त प्रमाणों द्वारा सही निर्णय लेना) कहकर की है। मैं इस शब्द का अर्थ सही निश्चय अधिक अच्छा समझता हूँ।

इसी मत के आधार पर न्याय ने समस्त वैदिक यज्ञों के प्रेरक को निश्चित करने का प्रयत्न किया। नैयायिकों का विश्वास था कि वैदिक-क्रियाओं द्वारा हमें केवल अपने अभीष्ट विषयों की ही प्राप्ति नहीं होती बल्कि यज्ञ-सम्पादन का यह भी प्रेरक था। गीता को उपर्युक्त मत ज्ञात था जिसका उसने खंडन किया है। गीता के मत में यज्ञ विश्व के कल्याणकारक हैं परन्तु इसका सम्पूर्ण दृष्टिकोण भिन्न है क्योंकि गीता के अनुसार यज्ञ देवताओं एवं मनुष्यों में एकता का बन्धन स्थापित करते हैं। यज्ञों द्वारा परस्पर सद्भावना में सुधार हुआ तथा यज्ञों द्वारा ही देवताओं की सहायता हुई एवं देवताओं ने फिर मनुष्यों की सहायता की। इस प्रकार देवता एवं मनुष्यों ने उन्नति की। यज्ञों द्वारा पर्जन्य हुआ एवं पर्जन्य द्वारा अन्न सम्भव हुआ तथा मानव जीवन भी अन्न पर ही आधारित था। अतः यज्ञों को व्यक्तिगत हित के साधन से अधिक सार्वजनिक हित का साधन समझा गया। जो व्यक्ति यज्ञों को अपनी स्वार्थ-पूर्ति का साधन मानता है वह आवश्यक रूप से निकृष्ट है। परन्तु जो यज्ञ नहीं करते, वे भी समान रूप से लम्पट हैं। वेदों की उत्पत्ति नित्य अविनश्वर से हुई है तथा यज्ञों की उत्पत्ति के कारण वेद हैं; एवं इस प्रकार अविनश्वर सर्वव्यापी ब्रह्म की स्थिति यज्ञों में निर्धारित की गई है।[1] गीता का उपलक्षित विश्वास है कि मनुष्यों के कल्याण का आधार उपजाऊ भूमि है जिसका आधार वर्षा है; वर्षा का आधार देवताओं का अनुग्रह है; एवं यज्ञों के सम्पादन में ही देवताओं का कल्याण निहित है; यज्ञों की उत्पत्ति वेदों से हुई, वेदों की उत्पत्ति सर्वव्यापी ब्रह्म से हुई, एवं ब्रह्म ही वेदों का प्रधान प्रतिपाद्य विषय है। इस प्रकार ब्रह्म से यज्ञ, यज्ञों से देवताओं का कल्याण तथा देवताओं के कल्याण से मनुष्यों के कल्याण एवं उन्नति का सम्पूर्ण चक्र हुआ। इस प्रकार चलाए हुए कर्म या यज्ञ के चक्र जो इस जगत् में आगे नहीं चलाता, उस पापरूप लम्पट का जीवन व्यर्थ है।[2] इस बात में मीमांसा का आदर्श गीता के आदर्श से भिन्न है कि मीमांसा का लक्ष्य व्यक्तिगत कल्याण है एवं गीता का लक्ष्य सार्वजनिक हित है। मीमांसा ने अपने कर्म का प्रेरक वैदिक नियोग माना जबकि गीता ने यज्ञ-चक्र की प्रक्रिया को चालू रखने के नियम के आज्ञापालन में यज्ञ-सम्पादन के आदर्श को मूल्यार्थक माना है, जिसके द्वारा देवताओं एवं मनुष्यों का संसार उन्नति की उचित अवस्था में रह सके। यज्ञ के लिए किए गए कर्मों के फल मनुष्य को नहीं बाँधते। जब कर्म आसक्तियुक्त प्रेरणा से प्रेरित होकर किए जाते हैं तब मनुष्यों को शुभाशुभ फलों से बाँधते हैं।[3]

गीता में धर्म शब्द का प्रयोग जैमिनि द्वारा प्रयुक्त धर्म शब्द से भिन्न है अर्थात् अभीष्ट लक्ष्य अथवा यज्ञों द्वारा निर्दिष्ट मंगल (चोदना लक्षणोर्थो धर्मः)। ऐसा प्रतीत होता है कि यह शब्द गीता में मुख्यतया अपरिवर्तनीय प्रचलित वर्ग-धर्म अथवा वर्ण-धर्म के अर्थ में एवं लोगों के लिए सामान्य अनुमोदित आचार-शास्त्र के अर्थ में तथा आचार-शास्त्र की व्यवस्थित योजना के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। धर्म शब्द का 'प्राचीन प्रचलित क्रम' के

---

1 गीता, 3.15।
2 गीता, 3.16।
3 गीता, 3.9।

रूप में सम्भवत: प्राचीनतम अर्थ है जैसाकि अथर्ववेद । 8.3.1 में भी पाया जाता है (धर्म पुराणं अनुपालयन्ति)[1] मैक्डोनल ने मैत्रायण 4.1.9 काठक 31.7 एवं तैत्तिरीय 3.2.8 उप्र. 2 के प्रसंग में बताता है कि शारीरिक दोष (बुरे नख एवं मलिन दांत) एवं ज्येष्ठ अविवाहिता भगिनी की उपस्थिति में कनिष्ठ पुत्री के साथ विवाह हत्या के सम नहीं होते हुए भी उससे संयुक्त अवश्य होता है तथा वास्तविक अपराध एवं काल्पनिक शारीरिक दोषों में अथवा केवल लौकिक रीतिजन्य कार्य में सैद्धान्तिक रूप से कोई अन्तर नहीं है । शतपथ ब्राह्मण में 14-4,2.26) भी क्षात्र-धर्म को क्षत्रिय[2] का मुख्य कर्म कहा गया है । अतः धर्म शब्द का गीता में मुख्य अर्थ प्राचीनतम वैदिक अर्थ है जो कि मीमांसा में उपलब्ध वाद के विशिष्ट अर्थ से पूर्वतर है । मीमांसा की तरह गीता में धर्म का अर्थ यज्ञ अथवा बाह्य लाभ से नहीं होकर विशिष्ट वर्ण-धर्म एवं वर्णों-विभाग युक्त परम्परागत किए जाने वाले कर्मों के क्रम से है । तदनुसार यज्ञ-सम्पादन उन लोगों के लिए धर्म का विषय है जिनके लिए यज्ञ नियत कर्म हैं । वेदों में व्यभिचार को धर्म-नाश मानकर पाप समझा गया है एवं इसी प्रकार का प्रसंग गीता में भी(धर्मे नष्टे 1 39) प्राप्त है । गीता में (2.7) अर्जुन अपने क्षात्र-धर्म एवं अपने सम्बन्धियों की हिंसा करने के पाप-युक्त पथ के बारे में किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया (धर्म-संमूढ़चेताः) । धर्म एवं अधर्म के बारे में व्याकुलता का प्रसंग गीता में मिलता है । गीता के 18.31,32 गीता में (4-7,8) धर्म शब्द का अर्थ चारों वर्णों की परम्परागत लौकिक रीतियों से है । (2-40 में) सुखः दुःख में अनासक्त होकर अपने कर्त्तव्य करने को सामान्य धर्म से भिन्न विशिष्ट प्रकार का धर्म कहा गया है (अस्य धर्मस्य) ।

यज्ञ कई प्रकार के कहे गए हैं जैसे, जिस यज्ञ में हवि देवताओं को अर्पित की जाती है वह देव-यज्ञ कहलाता है; यह ब्रह्म-यज्ञ से भिन्न है जिसके अन्तर्गत मनुष्य अपने आपको ब्रह्म को समर्पित करता है, जहाँ अर्पण अथवा हवन करने की क्रिया ब्रह्म है, हवि अर्थात् अर्पण करने का द्रव्य ब्रह्म है, ब्रह्माग्नि में ब्रह्म ने हवन किया है—(इस प्रकार) जिसकी बुद्धि में (सभी) कर्म ब्रह्ममय हैं, उसको ब्रह्म ही मिलता है ।[3] पुनः इन्द्रिय-निग्रह को भी एक प्रकार का यज्ञ कहा गया है एवं यह कहा गया है कि कई लोग इन्द्रियों का संयम रूप अग्नि में होम करते हैं और कुछ लोग इन्द्रिय रूप अग्नि में शब्द आदि विषयों का हवन करते हैं । और कुछ लोग इन्द्रियों के तथा प्राणों के सब कर्मों को अर्थात् व्यापारों को ज्ञान से प्रज्वलित आत्मसंयम रूपी योग की अग्नि में हवन किया करते हैं । पाँच प्रकार के निम्नलिखित यज्ञों में भेद किया गया है—हवन की वास्तविक सामग्री से किया गया यज्ञ द्रव्ययज्ञ, इन्द्रिय-निग्रह का यज्ञ तपोयज्ञ जीवात्मा का परमात्मा से मिलन योग-यज्ञ, शास्त्रों का पठन-पाठन का यज्ञ स्वाध्याययज्ञ एवं ज्ञान, ज्ञान-रूप यज्ञ कहलाता है ।[4] यह

---

1 धर्म, एवं धर्मन् शब्द । धर्मन् ऋग्वेद में एवं दोनों उत्तरकाल में 'नियम' अथवा 'रीति' के अर्थ में नियमानुसार प्राप्य है । मैक्डोनल की वैदिक सूची देखिए, —पृ० 390 ।

2 तदेतद् क्षत्रस्य क्षत्रं यद् धर्मः; तस्माद् धर्मात् परं नास्ति ।
—डॉ० ऐलब्रेक्ट वैबर का संस्करण—1924 ।

3 गीता, 4.24, 25 ।

4 गीता, 4.26–28, 29 और 30 ।

समझना सुलभ है कि वास्तविक भौतिक यज्ञ से अन्य आत्मोन्नति की पूर्णतया भिन्न विधियों तक यज्ञ शब्द की व्यापकता जो कुछ आत्मोन्नति में सहायक हो उसे यज्ञ समझने का स्वाभाविक परिणाम है। यज्ञ शब्द के साथ कई पवित्र एवं उच्च सम्बन्ध जुड़े हुये हैं एवं आत्मोन्नति के लिये खोजे गये कई नये धार्मिक प्रयत्नों को नए प्रकार का यज्ञ बताया गया है जैसे प्रतिकोपासना को भी एक नये प्रकार का यज्ञ माना गया है। यद्यपि यह सत्य है कि विचारों की उन्नति के साथ-साथ आत्म-बोध के नये-नये साधन विकसित होने लगे फिर भी प्राचीन समुदायों के प्रति उच्च सम्मान होने के कारण प्राचीनतर यज्ञ शब्द नये प्रकार के धार्मिक अनुशासन के सम्बन्ध से प्रयुक्त होने लगा।

परन्तु 'यज्ञ' चाहे कितने ही विभिन्न अर्थों में गीता में प्रयुक्त हुआ हो, यहाँ धर्म शब्द का प्रयोग मीमांसा के विशिष्ट अर्थ में नहीं हुआ है। गीता के अनुसार ब्राह्मणों के लिये यज्ञ करना एवं क्षत्रियों के लिये युद्ध करना आवश्यक है ताकि धर्म अर्थात् परम्परागत कर्म निरन्तर गतिशील रहे। परन्तु इसके साथ ही गीता आसक्ति, वासना अथवा किसी प्रकार के स्वार्थ से युक्त कर्म की निन्दा करती है। मनुष्य को अपने परम्परागत प्रचलित कर्त्तव्यों को धर्म मानकर बिना किसी आसक्ति के पालन करना चाहिये। मनुष्य जब फलाशा-रहित होकर अपना कर्त्तव्य करता है तब वह कर्म उसे बन्धन में नहीं डालता। गीता एक ओर न तो ऐहलौकिक एवं पारलौकिक सुखों की प्राप्ति के लिये प्राचीन कर्म-आदर्श का अनुसरण करती है और न दूसरी ओर वेदान्त दर्शन अथवा दर्शन के अन्य सिद्धान्तों को ही मानती है जिसके अनुसार मन को अशुद्धियों से पूर्णतया शुद्ध करने के लिये इच्छात्याग एव इन्द्रिय-निग्रह आवश्यक है ताकि आत्मा की एकरूपता के ज्ञान की अनुभूति हो जाये तथा कर्म के क्षेत्र से भी परे जाना सम्भव हो जाये। गीता के अनुसार मनुष्य को यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना चाहिये तथा मन से सम्पूर्ण इच्छाओं का त्याग कर देना चाहिये परन्तु इसके साथ-साथ स्वधर्म के प्रति श्रद्धा रखकर अपने वर्णाश्रम-धर्म का पालन करना आवश्यक है। परम्परागत वर्णाश्रम-धर्म अथवा शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट कर्म के प्रसंग में प्रवृत्त करने वाली शक्ति अपने स्वयं के कर्त्तव्य के आंतरिक नियम के अतिरिक्त और कोई नहीं होनी चाहिये।

गीता में इन्द्रिय-निग्रह

कठोपनिषद् में इन्द्रियों की तुलना घोड़ों से करके उन्हें (इन्द्रियों) दुर्निग्रह बताया गया है। गीता कहती है कि (विषयों में) संचार अर्थात् व्यवहार करने वाली इन्द्रियों के पीछे-पीछे मन जो जाने लगता है वही पुरुष की बुद्धि का ऐसे हरण किया करता है जैसे कि पानी में नौका को वायु खींचती है। (इन्द्रियों के दमन करने के लिए) प्रयत्न करने वाले विद्वान् के भी मन को ये प्रबल इन्द्रियाँ बलात् विषयों की ओर खींच लेती हैं। विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष का इन विषयों में संग बढ़ाया जाता है। फिर इस संग से यह वासना उत्पन्न होती है कि हमें काम (अर्थात् वह विषय) चाहिये और (इस काम की तृप्ति होने में विघ्न होने से) उस काम से ही क्रोध की उत्पत्ति होती है। क्रोध से सम्मोह अर्थात् अविवेक होता है, सम्मोह से स्मृति-भ्रम, स्मृति-भ्रंश से बुद्धिनाश और

बुद्धिनाश से (पुरुष का) सर्वनाश हो जाता है।[1] इन्द्रिय और उसके (शब्द स्पर्श आदि) विषयों में प्रीति एवं द्वेष व्यवस्थित है अर्थात् स्वभावतः निश्चित है। प्रीति और द्वेष के वश में न जाना चाहिये (क्योंकि) ये मनुष्य के शत्रु हैं। प्रत्येक विशिष्ट इन्द्रिय के अपने-अपने राग और द्वेष के रूप में दो शत्रु है। गीता बार-बार नरक के तीन दरवाजों के रूप में काम, क्रोध और लोभ के दुष्परिणाम को घोषित करती हैं। जिस प्रकार धुएँ से अग्नि, धूलि से दर्पण, और झिल्ली से गर्भ ढका रहता है उसी प्रकार उपर्युक्त तीनों से (काम, क्रोध और लोभ) यह सब ढका हुआ है।[2] इन्द्रिय-निग्रह की कठिनाई को अर्जुन ने श्रीकृष्ण के समक्ष इस प्रकार प्रस्तुत किया—'हे कृष्ण ! मेरा मन चंचल, हठीला, बलवान् और दृढ़ है। वायु के समान अर्थात् हवा की गठरी बांधने के समान इसका निग्रह करना मुझे अत्यन्त दुष्कर दिखाई देता है।[3] जबतक इन्द्रियाँ वश में नहीं कर ली जातीं, तबतक यथार्थ योगोपलब्धि नहीं हो सकती।

पाली भाषा के धम्मपद ग्रन्थ में भी काम एवं क्रोध को जीतने के बारे में इसी प्रकार के विचार पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ 'अमुक ने मुझे गाली दी है, मुझे पीटा है, मुझे परास्त किया है, मुझे लूट लिया है'—जो लोग ऐसे विचारों पर चिन्तन नहीं करते, वे द्वेष-मुक्त हैं। द्वेष की समाप्ति द्वेष द्वारा नहीं, अपितु प्रेम द्वारा होती है; यह प्राचीन विधि है। जिस प्रकार वायु निर्बल वृक्ष को गिरा देता है उसी प्रकार मार उस व्यक्ति को दबा लेता है जो सुखों के पीछे दौड़ता है; जिसकी इन्द्रियाँ उसके वश में नहीं हैं; जो अयुक्ताहारी हैं जो प्रमादी है, एवं स्त्रीसगी है। जैसे टूटे-फूटे छप्पर वाले मकान से वर्षा का जल टपकता रहता है उसी प्रकार अनियन्त्रित मस्तिष्क में कुभावों का प्रादुर्भाव होता है।[4] आगे चलकर मन के सम्बन्ध में यह लिखा है 'जिस प्रकार तीर बनाने वाला अपने तीर में समता स्थापित करता है उसी प्रकार बुद्धिमान् मनुष्य अस्थिर, चंचल मन का शमन करता है जिसे रोकना और नियन्त्रित करना कठिन है। बुद्धिमान् मनुष्य अपने अचिन्त्य, सूक्ष्म एवं इधर-उधर भटकने वाले मन को जीते। जित मन वरदानस्वरूप है।'[5] पुनश्च— न तो दिगम्बर रहने से, न जटा धारण करने से, न मैले अथवा गन्दे रहने से, न व्रत रखने से, न धरती पर सोने से, न भस्म रमाने से, और न हठयोग से, कामस अनिर्मुक्त मनुष्य की शुद्धि हो सकती है।'[6] पुनश्च—राग से शोक एवं शोक से भय उत्पन्न होता है। जो राग से विमुक्त है उसे न तो शोक एवं न भय ही लगता है। मोह (पियतो) से शोक एवं भय उत्पन्न होता है। जो निर्मोही हैं उसे न तो शोक है, न भय है। रति से शोक एवं भय उत्पन्न होते हैं। जो अरति है उसे शोक एवं भय नहीं है। काम से शोक और भय उत्पन्न

---

1 गीता, 2.60,62,63।

2 गीता, 3.34,37,38,39;16.21।

3 गीता, 6.34।

4 धम्मपद (पूना, 1923) 1,4,5,7,13।

5 धम्मपद, 2.3.36 38।

6 वही; 10.141।

होते हैं। जो कामजित है उसे शोक एवं भय नहीं है। तृष्णा (तण्हा) से शोक एवं भय उत्पन्न होते हैं। जो तृष्णा-रहित है, वह निडर एवं अशोक है।[1]

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि गीता एवं धम्मपद इन्द्रिय-निग्रह की प्रशंसा करते हैं तथा तृष्णा, राग, क्रोध एवं शोक को महाशत्रु मानते हैं। परन्तु गीता की शैली धम्मपद से इस अर्थ में भिन्न है कि धम्मपद में तो विभिन्न विषयों पर पृथक् नैतिक उपदेश हैं जबकि गीता मनोविग्रह को शान्ति, तुष्टि एवं निष्कामता का साधन मानती है जिससे मनुष्य अपने सर्वकर्मों को ईश्वरार्पण करने में एवं निष्काम कर्म करने में समर्थ होता है। गीताकार जानता है कि इन्द्रियों को, मन को और बुद्धि को (काम एव क्रोध का) अधिष्ठान अर्थात् घर या गढ़ कहते हैं। इनके आश्रय से ज्ञान को लपेट कर (ढककर) यह मनुष्य को भुलावे में देते हैं।[2] शीतोष्ण या सुख-दुःख देने वाली पंच तन्मात्राओं अर्थात् बाह्य सृष्टि के पदार्थों का (इन्द्रियों से) जो संयोग है, उनकी उत्पत्ति होती है और नाश होता है। (अतएव) वे अनित्य अर्थात् विनाशवान् है इसलिए उन्हें चुपचाप सहन करना चाहिये।[3] सामान्य एवं अध्यात्मज्ञान को विरूप करने वाले वासनारूपी दैत्य को मनोनिग्रह द्वारा ही नष्ट किया जा सकता है। परन्तु इस वासनारूपी दैत्य को मारना अत्यन्त दुष्कर है क्योंकि वह सदा नये-नये रूपों में प्रकट होता है। हमारी बुद्धि से परे आत्मा की अपने अन्दर अनुभूति करके ही मनुष्य श्रेष्ठतर आत्मा के द्वारा निम्नात्मा को नियन्त्रित कर सकता है एवं अपनी इच्छाओं को निर्मूल कर सकता है। आत्मा ही आत्मा का बन्धु है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है। मनुष्य को सदा अपने द्वारा अपना उत्थान करना चाहिये न कि पतन। सब प्रकार के मनोनिग्रह का परम लक्ष्य मनुष्य को स्थितप्रज्ञ बनाना है, ताकि वह ब्रह्मात्मैक्य प्राप्त कर सके।[4]

गीता में इन्द्रियाँ, मन को अपने साथ खींचने वाली कही गई हैं। इन्द्रियाँ निरन्तर अस्थिर एवं चंचल हैं एवं वे मन को भी वैसा ही बना देती हैं। जिसके परिणामस्वरूप तूफान के सामने समुद्र में नौका की तरह मन इधर-उधर भटक जाता है तथा चित्त एवं प्रज्ञा की स्थिरता नष्ट हो जाती है। गीता में प्रज्ञा का अर्थ चित्त, बुद्धि अथवा मानसिक वृत्तियों से है। प्रायः इसी अर्थ में बृहदारण्यक उपनिषद् में (4.4.21) तथा माण्डूक्योपनिषद् (7) में कुछ-कुछ भिन्नार्थों में 'प्रज्ञा' का अर्थ उपनिषद् एवं गीता से बिल्कुल भिन्न है। उदाहरणार्थ पतंजलि मन को किसी विषय पर स्थिर करने से उत्पन्न अपरोक्षानुभूति में चित्शक्ति के विशेषार्थ में 'प्रज्ञा' को प्रयुक्त करते हैं एवं योगारूढ़ के अनुरूप सात अवस्थाओं का वर्णन करते हैं। जैसाकि कहा जा चुका है, गीता में प्रज्ञा का अर्थ विचार अथवा मानसिक प्रवृत्ति है। इसका अर्थ ज्ञान अथवा विज्ञान नहीं है। इसका तात्पर्य ज्ञान के संकल्पात्मक पहलू से है। जयाख्य-संहिता के पंचरात्र ग्रन्थ में यम-नियम इत्यादि के

---

1 वही, 16,212–216।

2 गीता, 3–40।

3 वही, 2.14।

4 गीता, 2,61; 3.41,43; 6.5.6।

क्रियाख्यज्ञान के अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है। उसका अर्थ उस बौद्धिक दृष्टिकोण से है जो मानसिक प्रवृत्तियों अथवा झुकाव से समग्र रूप से सम्बन्धित है एवं निर्णायक है। जिन-जिन विषयों में इन्द्रियाँ उन्मत्त की भाँति विषयों में नृत्य करती हुई जाती है, मन उनका अनुसरण करता है। तब मन को दिशा बताने वाली प्रज्ञा का भी हरण हो जाता है। जबतक बुद्धि व्यवसायात्मिका नहीं होती तबतक मन निश्चल होकर अपने कर्त्तव्य कर्मों में प्रवृत्त नहीं होता। इन्द्रियों को वश में करने का मुख्य उद्देश्य प्रज्ञा को स्थिर करना है (वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता)। 'प्रज्ञा' एवं 'धी' दोनों ही गीता में समानार्थक माने गये हैं। दोनों का अर्थ मानसिक झुकाव है। इस मानसिक झुकाव में सम्भवतः बौद्धिक दृष्टिकोण एवं उसी के अनुरूप संकल्पात्मक प्रवृत्ति निहित है। मनोनिग्रह से प्रज्ञा स्थिर होती है। और गीता 'स्थितप्रज्ञ' एव स्थित धी' (अर्थात् जिनकी भावनाएँ एव चित्त स्थिर हो गये हैं)[1] की प्रशंसा से भरी पड़ी है। निरन्तर विषयों का चिन्तन करने से उनमें संग उत्पन्न होता है; संग से काम, एव काम से क्रोध उत्पन्न होता है इत्यादि इत्यादि। इस प्रकार सब दुर्गुण इन्द्रियों के सग से उत्पन्न होते हैं और जो व्यक्ति विषय-भोग में निरत रहता है वह वासनाओं द्वारा आगे (पतन की ओर) धकेला जाता है। अतः जिस प्रकार कछुआ अपने (हाथ पैर आदि) अवयव सब ओर से सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार जब कोई पुरुष इन्द्रियों के (शब्द, स्पर्श आदि) विषयों से (अपनी) इन्द्रियों को खींच लेता है, तब (कहना चाहिये कि) उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है। मनोनिग्रह का प्रत्यक्ष परिणाम संकल्प, मानसिक भावनाओं एवं प्रज्ञा की स्थिरता है। दुःख में जिसके मन को खेद नहीं होता, सुख में जिसकी आसक्ति नहीं और प्रीति भय एवं क्रोध जिसका छूट गया है, उसको स्थितप्रज्ञ मुनि कहते हैं।[2] सब बातों में जिसका मन निःसंग हो गया है और यथा—प्राप्त शुभ अशुभ का उसे आनन्द या विषाद भी नहीं है।[3] केवल उसे ही (सच्ची) शान्ति मिलती है; जिसकी चारों ओर से (पानी) भर जाने पर भी नहीं डिगती, ऐसे समुद्र में जिस प्रकार सब पानी चला जाता है, उसी प्रकार उस पुरुष में समस्त विषय प्रवेश करते हैं। विषयों की इच्छा करने वाले को (यह शान्ति) नहीं (मिलती)। जो पुरुष सब काम, अर्थात् आसक्ति छोड़कर और निस्पृह होकर (व्यवहार में) बर्तता है, एवं जिसे ममत्व एवं अहंकार नहीं होता उसे ही शान्ति मिलती है। जिसका आत्मा अर्थात् अन्तःकरण अपने अधीन है, वह (पुरुष) प्रीति और द्वेष से छूटी हुई अपनी स्वाधीन इन्द्रियों से विषय-भोग करते हुये भी प्रसन्न चित्त रहता है। चित्त प्रसन्न रहने से उसके सब दुःखों का नाश हो जाता है क्योंकि जिसका चित्त प्रसन्न है उसकी बुद्धि भी तत्काल ही स्थिर हो जाती है (बुद्धिपर्यवतिष्ठते)।[4] इस प्रकार मनोनिग्रह से एक ओर तो मन शान्त, स्थिर एवं सन्तुष्ट होता है और दूसरी ओर इसके परिणामस्वरूप योग को प्राप्त करना सम्भव हो जाता है। (साधक के लिए) योगारूढ़ के लिये इन्द्रियों का संयम

---

1 2.54–56।

2 गीता, 2.56।

3 वही, 2.57।

4 गीता, 2.65,58,64,68,70,71।

अनिवार्य है। उसकी प्राप्ति हो जाने पर निरन्तर अभ्यास से (इस योग का) प्राप्त होना सम्भव है।[1] इस प्रकार मनोनिग्रह से संकल्प और चित्त को स्थिर करके सन्तोष एवं शांति प्राप्त की जा सकती है तथा मन योग के लिए समर्थ बनता है।

गीता के अध्ययन में जिस तथ्यविशेष पर ध्यान आकर्षित होता है, वह यह है कि गीता में आत्म-नियन्त्रण का लक्ष्य विमुक्त एकात्मकता अथवा सभी मानसिक व्यापारों की समाप्ति नहीं है अपितु चित्त की स्थिरता अधिक बुद्धिगम्य तथा सामान्य ज्ञानविषयक आदर्श हैं। अतएव, आत्म-नियन्त्रण के लक्ष्य का यह विचार पतंजलि तथा अन्य दर्शनों में प्रशंसित विचार से सर्वथा भिन्न है। गीता हमसे यह चाहती है कि हम अपनी इन्द्रियों तथा मन पर नियन्त्रण करें तथा इन्द्रिय-विषयों के पास इस प्रकार के नियन्त्रित मन तथा इन्द्रियों के साथ जाएँ, क्योंकि इस साधन द्वारा ही हम अपने कार्यों को शान्त तथा सन्तुष्ट मन द्वारा सम्पादित कर सकते हैं तथा ईश्वर के प्रति शुद्ध तथा शान्त चित्त के साथ उन्मुख हो सकते हैं।[2] इस आत्म-नियन्त्रण का मुख्य बल केवल बाह्य इन्द्रियों के नियन्त्रण पर न होकर इन इन्द्रियों के पीछे स्थित मन के नियन्त्रण पर है। केवल शारीरिक इन्द्रियों को वश में करते हुये मन द्वारा इन पर विचार करने वाला मिथ्याचारी होता है। वास्तविक आत्म-नियन्त्रण केवल इन्द्रियों के बाह्य कार्य व्यापारों की समाप्ति न होकर मन का नियन्त्रण है। मनुष्य को केवल आत्म-सन्तुष्टि के लिये लोभ तथा इच्छा द्वारा प्रेरित कर्मों से निवृत्त ही नहीं होना चाहिये, अपितु उसके मन को पूर्णतया शुद्ध तथा इन्द्रिय-इच्छाओं की कलुषताओं से सर्वथा मुक्त होना चाहिये। मन के नियन्त्रण तथा इच्छाओं की समाप्ति के बिना केवल शारीरिक कर्म का निरोध कुत्सित मार्ग है।[3]

गीता का नीति शास्त्र एवं बौद्ध नीति शास्त्र

इन्द्रिय-निग्रह का विषय स्वभावतः बौद्ध दर्शन की याद दिलाता है। वैदिक धर्म में यज्ञ यागादि का पालन प्रधान कर्त्तव्य समझा जाता था। वैदिक विधि-निषेध के पालन तथा उल्लंघन में क्रमशः पुण्य एवं पाप समझा जाता था। यह बताया जा चुका है कि इन विधि-निषेधों में विधि का अर्थ विहित था जिसका पालन आवश्यक समझा जाता था। परन्तु यह नियम मानव के अन्दर रहने वाली आत्मा का आन्तरिक नियम नहीं है प्रत्युत एक बाह्य नियम मात्र है जिसका अर्थ नैतिकता के आधुनिक नियम से भिन्न है। इसका क्षेत्र प्रायः पूर्णतया कर्मकाण्डमय था और इसके अन्तर्गत कहीं-कहीं इस प्रकार के आदेश

---

1 वही, 6.36।

2 रागद्वेषविमुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ —गीता, 2.64

3 द्र०, धम्मपद, 1.2। सभी जागतिक प्रपंचों का स्रोत मन है, वे मन पर निर्भर होते हैं तथा मन द्वारा निर्मित होते हैं। शुद्ध मन के साथ बोलने तथा कर्म करने वाले व्यक्ति को सदैव प्रसन्नता की प्राप्ति होती है, ठीक वैसे ही जैसेकि छाया सदैव मनुष्य का अनुगमन करती है।

हैं 'कोई किसी की हिंसा नहीं करे।' यद्यपि मानव-हिंसा का दण्ड तो प्रत्येक को भुगतना ही पड़ता है फिर भी शत्रुओं के नाश के हेतु अनुष्ठानरूपी कुछ यज्ञ यागादि में हिंसा होते हुये भी उसमें वेदाज्ञा है। आगे चलकर यद्यपि पश्चाद्वर्ती सांख्य-टीकाओं और संग्रहीत ग्रन्थों में यह कहा गया है कि किसी भी प्रकार की जीव-हिंसा का दण्ड तो भुगतना ही पड़ता है। फिर भी यह सन्देहास्पद है कि 'हिंसा मत करो' की वेदाज्ञा सब प्राणीमात्र पर लागू होती है या नहीं क्योंकि बिना पशु-बलि के कोई यज्ञ सम्भव नहीं। उपनिषदों ने यज्ञ-यागादि के स्थान पर उपासना एवं आत्म-ज्ञान की एक पूर्णतया नई विधि प्रारम्भ की। औपनिषद विचारधाराओं की प्राथमिक अवस्था में इस सिद्धान्त का विकास होने लगा कि यज्ञ-यागादि के बजाय विचार द्वारा किसी विशिष्ट वस्तुओं की अन्य वस्तुओं से (जैसे अश्वमेघ में अश्व के बजाय उषा) अथवा प्रतीकात्मक वर्ण ओम् इत्यादि से ऐक्य स्थापित करके निश्चित उपासना की रीति अपनाई जा सकती थी। औपनिषद् संस्कृति की अधिक विकसित अवस्था में परमतत्त्व अथवा ब्रह्म की खोज के लिए नया सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया, और ब्रह्म ज्ञान को मानव एवं प्रकृति का परम सार समझकर उसकी खोज करना परम ज्ञान अथवा परम लक्ष्य समझा गया है तथा बाकी सब पुरुषार्थ उसके गौण समझे गये हैं। उपनिषदों में कोई नैतिक नियम नहीं है और नैतिक संघर्ष एवं नैतिक प्रयत्नों का सम्पूर्ण विषय ही या तो निकाल दिया गया है और या कहीं प्रसंग है भी तो उस पर अधिक जोर नहीं दिया गया है। तैत्तिरीयोपनिषद् 1.11 में वेद शिक्षा के पश्चात् शिष्य को नैतिक शिक्षा देना गुरु का कर्त्तव्य बताया गया है—सत्य बोलो, धर्म का पालन करो, स्वाध्याय को मत छोड़ो, (शिक्षा की समाप्ति पर) शिष्य गुरु को नियत दक्षिणा देने के पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे। उसे सत्य, धर्म अथवा शुभ से विचलित नहीं होना चाहिये। उसे परहित, स्वाध्याय एवं शिक्षा देना बन्द नहीं करना चाहिये। उसे गुरु एवं माता-पिता का आदर करना चाहिये और दोषरहित कर्म करना चाहिये। उसे केवल सुचरित का ही सेवन करना चाहिये दूसरों का नहीं। उसे श्रद्धायुक्त होकर दान देना चाहिये न कि अवज्ञा से, (गौरव से) लोक लाज से, भय से एवं ज्ञानाभिमान से। यदि कर्त्तव्य अथवा आचरण के विषय में कोई सन्देश हो तो जिस पथ से बुद्धिमान ब्राह्मण (महाजन) गये हों वही पथ स्वीकार करना चाहिये। परन्तु इस प्रकार की नैतिक शिक्षाएँ कोई एक उपनिषद् ही देते हैं एवं सदाचार के सम्बन्ध में अथवा परम तत्त्व की प्राप्ति के हेतु नैतिक प्रयत्न पर जोर देने के सम्बन्ध में उपनिषदों में बहुत कम सामग्री मिलती है। उपनिषद् रहस्यवादी उपासनाओं एवं आत्मज्ञान के दर्शन के प्रतिपादन-शास्त्र में प्रायः लीन हैं। फिर भी बृहदारण्यक उपनिषद् 4.4.27 में आत्म-साक्षात्कार के हेतु इन्द्रिय-निग्रह, कामनाओं का शमन एवं निरोध, तितिक्षा, एवं एकाग्रता आवश्यक साधन माने गये हैं।[1] कठोपनिषद् 6.11 में इन्द्रिय-धारणा को योग कहा गया है एवं मंडूकोपनिषद् में कहा गया है कि सकाम कामनाओं से मनुष्य का आवागमन होता रहता है परन्तु इह लोक में ही जिसने आत्म-साक्षात्कार कर लिया है और आत्मा में ही तुष्ट है वह सर्ववासनाशून्य

---

1 शान्तो दात उपरतस्तितिक्षुः, समाहितो भूत्वात्मन्येव आत्मानं पश्यति।
—बृहदारण्यक, 4.4.23।

हो गया है ।[1] ज्ञान-मार्ग कर्मकाण्ड से भिन्न होने की जानकारी उपनिषत्कारों को थी और यह निश्चित धारणा थी कि विद्यामीप्सित व्यक्ति वासनाओं से कभी आकृष्ट नहीं होता ।[2]

इस सम्बन्ध में मुख्य बात यह देखने की है कि गीता का प्रधान विषय मनोनिग्रह एवं विशेषकर आसक्ति और वासनाओं का नियन्त्रण उपनिषदों से लिया गया है अथवा बौद्ध-दर्शन से । यह कहा जा चुका है कि उपनिषद् जितना जोर परम तत्त्व ब्रह्मन् एवं नानारूपात्मक जगत् पर देते हैं उतना नैतिक संघर्ष एवं नैतिक प्रयत्नों पर नहीं देते । परन्तु वैदिक ज्ञान के लिये वासनाओं एवं इन्द्रियों के नियमन (दम) एवं मन की तुष्टि व शान्ति को आवश्यक माना गया है । उपनिषदों के प्रख्यात भाष्यकार शंकर ने ब्रह्मसूत्र 1.1.1 पर टीका करते हुये लिखा है नित्यानित्यवस्तुविवेक एवं इस जगत् तथा परलोक के फलभोग में विरक्ति होने के पश्चात् ही मनुष्य ब्रह्मजिज्ञासा के योग्य बनता है । इस प्रकार की जिज्ञासा के लिये मनुष्य को समर्थ बनाने के लिये शम, (सांसारिक भोगों में विरक्ति) दम, (मन को वश में करना ताकि वह दर्शन की ओर प्रवृत्त हो जाये) विषय, तितिक्षा, (सहन करने की शक्ति) उपरति, (कर्त्तव्य शून्यता) तत्त्व, श्रद्धा (परं तत्त्व के दर्शन में विश्वास) के लिये आवश्यक तत्त्व समझे गये हैं । अतः यह मान लेना युक्तिसंगत है कि उपनिषदों में दम एवं शम के रूप में नैतिक विकास उच्च स्थिति पर पहुँच चुका था । अनासक्ति गीता का प्रमुख-प्रतिपाद्य विषय है और मुण्डक 3.2.2 के उपयुक्त सिद्धान्त की प्रतिध्वनि गीता में 2.70 सुनाई देती है जहाँ यह बताया गया है कि जिस प्रकार शान्त सागर में जल समा जाता है (नदियों द्वारा लगातार डाले जाने पर भी) उसी प्रकार जिस मनुष्य में समस्त वासनाएँ शान्त हो जाती हैं, उसे शान्ति प्राप्त होती है कामकामी को नहीं । गीता बार-बार भोगासक्ति एवं दुःख-द्वेष को निर्मूल करने की आवश्यकता एवं काम-नियन्त्रण पर अधिक जोर देती है । परन्तु यद्यपि इस सिद्धान्त पर उपनिषदों ने बार-बार जोर नहीं दिया है फिर भी यह सिद्धान्त उनमें वर्तमान है तथा सम्भवतः गीता ने यह सिद्धान्त उपनिषदों से लिया । हिन्दू धर्म के अनुसार भी गीता का श्रोत उपनिषद् हैं । इस प्रकार गीता-माहात्म्य में उपनिषदों को गाय बताया गया है जिससे ग्वाले श्रीकृष्ण ने दुग्ध गीता अमृत निकाला ।[3]

परन्तु बौद्ध-नीति सिद्धान्तों का गीता के सिद्धान्तों से अत्यधिक सादृश्य है । यदि विशिष्ट बौद्ध उपदेश गीता में न होते तो यह धारणा केवल पुष्ट हो जाती कि वासनाओं को वश में करने एवं आसक्ति को निर्मूल करने के सिद्धान्त गीता ने बौद्ध ग्रन्थों के लिये । तचीबन ने बौद्ध दोषों की एक निम्नलिखित दीर्घ सूची संगृहीत की है[4]—

---

1 कामान्यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र-तत्र पर्याप्तकामस्य क्रियात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः (मुण्डक 3.2.2) ।

2 कठ, 2.4 ।

3 सर्वोपनिषदों गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।

4 एस० ताचीबन कृत, दी एथिक्स आफ बुद्धिज्म, पृ० 73 ।

अणंगनम्,	अपवित्रता, वासना सुना० 517
अहण्कारो,	स्वार्थ, अहङ्कार
ममण्कारो,	इच्छा
ममयितम्, (ममत्तम)	स्वार्थ
ममत्तम्,	स्वायत्त करना, अहंकार
अपेक्खा,	इच्छा, कामना, स्नेह
इक्खा,	इच्छा, लोभ
इजा (ईहा)	इच्छा, कामना, लोभ
आसा,	इच्छा
पिपासा,	प्यास
इसा, एषणा,	इच्छा, चाह, प्यास
आकांखा,	आकांक्षा
किञ्चनम्,	लगाव
गंथो,	बन्धन
आदान गंथो,	आसक्ति बन्धन
गिद्धि	लोभ, इच्छा
गेधो	लोभ, इच्छा
गहनम्	ग्रहण करना
गाहो	आसक्ति, मोह
जालिनी,	इच्छा, काम, अधिग्रहण, पाश
परिग्गाहो,	आसक्ति, महानिद 57
चन्दो,	इच्छा, कामना, इरादा सु० ना० 171, 203 आदि
जाता	कामना, वासना, सु० ना० 1.13
जिगिंषनता,	लोभ, इच्छा, विभंग, 353
निजिगिंषनाता	लोभ
तण्हा, तसिना,	अतृप्तवासना
उपादानम्,	आसक्तिपूर्ण ग्रहण
पणिधि,	इच्छा, अभीप्सा, सु० ना० 801
पिहा,	स्पृहा
पेमम्,	प्रेम
बन्धो,	बन्धन
बन्धनम्,	बन्धन, आसक्ति
निबन्धो	आग्रह
विनिबन्धनम्,	बन्धन, इच्छा

अघातो,	क्रोध,
पाटिघो,	क्रोध, घृणा
दोसो,	क्रोध, घृणा
विद्देसो,	विद्वेष, घृणा
धूमो,	क्रोध

अनुबन्धो,	अनुबन्ध	उपनाहो, शत्रुता
उपनिबन्धो,	उपोद्घाव्	व्यापादो, प्रहारेच्छ, घृणा, आवेश
परिबन्धो,	योजन	
रागो,	मानवीय वासना, बुराई, वासना, पैस्सिम	
सरागो,	सराज्जना, साराजितत्तम्, स्नेह, वासना महानिद 242	
रति,	वासना, भोगवृत्ति	अनामिरद्धि-क्रोध, क्रोधोन्माद
मनोरथो,	मनोरथ	
रुचि,	इच्छा, रुझान सुना 781	वेरम्, रोष, घृणा, पाप
अभिलासो,	इच्छा, कामना	विरोधो, विरोध, शत्रुता
लालसा,	लालसा	
आलयो,	कामना, वासना	रोसो, क्रोध
लोभो,	कामना	
लोभनम,	लोभ, लिप्सा	रोसनम्, क्रोध
लुभाना, लोभितत्तम्,	लोभित्व	व्यापारोषणम्, क्रोध
वनम्,	इच्छा, वासना	अन्नाषम्, अज्ञान
वनथो,	प्रेम, वासना	मोहो, मोह, मूर्च्छा
निवेसनम्,	अधीष्ठित करना	
सङ्गो,	बेड़ी, बन्ध, लगाव	मोहनम्, अज्ञान सुना 399, 772
आसत्ति	आसक्ति, सटकना, अधिष्ठित होना, लगाव ।	
विसट्टिका,	विषाक्तता, इच्छा	अभिज्जा, अज्ञान, भ्रम, वासना
संथवम्,	मित्रता, लगाव	
उस्सदो,	उत्सव	
स्नेह, सिनेहो,	नेहवासना	
आसयो,	आसन, अभिप्राय, रुझान	
अनुसयो,	झुकाव, इच्छा	
सिब्बनी,	कामना	
कोधो,	क्रोध	
कोपो,	क्रोध	

यह एक रोचक बात है कि लोभ, द्वेष, अविद्या—इन तीन दुर्गुणों को, विशेषतया लोभ को अनेक नाम दिये गये हैं एवं विभिन्न उपायों द्वारा उनको विनाश करने पर बल दिया गया है। उपरोक्त तीनों (लोभ, द्वेष और अविद्या) सम्पूर्ण पापों के मूल है। निस्सन्देह उन ग्रन्थों में कुछ सरलतर आदेश भी पाये जाते हैं, उदाहरणार्थ हिंसा, स्तेय, व्यभिचार, असत्य एवं नशा नहीं करना तथा इनमें से स्वर्ण की चोरी, नशा करना, गुरु-पत्नी के साथ संभोग एवं ब्रह्महत्या के निषेध का छान्दोग्य उपनिषद् 5.10 9–10 में उल्लेख है।[1] परन्तु छांदोग्य ने केवल ब्रह्महत्या को पाप माना है जबकि बौद्ध जीवमात्र की हिंसा का निषेध करते हैं। शेष इन दुर्गुणों का एवं अष्टांगशील तथा दशकुशल-कम्म के विरुद्ध दुर्गुणों का लोभ, द्वेष एवं अविद्या में समावेश है। गीता के नीतिशास्त्र का आधार मुख्यतया संग एवं कामना से छुटकारा पाना है जिनसे लोभ आशंका एवं तत्पश्चात् क्रोध उत्पन्न होते हैं। परन्तु बौद्ध दर्शन में अविद्या को सम्पूर्ण दोषों का स्रोत कहा है जबकि गीता में इस शब्द का उल्लेख भी नहीं है। बौद्ध दर्शन के द्वादश निदान चक्र में यह कहा गया है कि अविद्या से संस्कार उत्पन्न होते हैं तथा संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नाम रूप, नाम रूप से षड़ायतन, इन्द्रिय स्पर्श, स्पर्श से भाव, भाव से तृष्णा, तृष्णा से उपादान (वस्तुओं से चिपके रहना), उपादान से भव, भव से जाति (जन्म) एवं जाति से जरा व्याधि एवं मृत्यु उत्पन्न होती है। यदि अविद्या समाप्त कर दी जाये तो उसके साथ-ही-साथ पूरे भव-चक्र की समाप्ति हो जाती है। यद्यपि भव-चक्र में अविद्या एवं तृष्णा अत्यन्त दूरस्थ हैं तथापि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तृष्णा अविद्या से ही तुरन्त उत्पन्न होती है एवं तृष्णा की पूर्ति नहीं होने से क्रोध और द्वेष उत्पन्न होते हैं। गीता में आरम्भ ही राग एवं काम से होता है। बौद्ध शब्द तृष्णा (तन्हा) का उल्लेख गीता में नहीं के बराबर है। जबकि औपनिषद् शब्द 'काम' गीता में तृष्णा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। गीता कोई दार्शनिक ग्रन्थ नहीं है जो आसक्ति के कारणों का गम्भीरतापूर्वक शोध करने का प्रयत्न करे अथवा आसक्तिरहित होने का कोई व्यावहारिक पथ-प्रदर्शन ही करे। शंकर द्वारा प्रतिपादित वेदान्त दर्शन में सर्वदोषमय जगत् के मूल को अनिर्वचनीय अविद्या माना गया है। योग ने पांच क्लेशों को हमारे सब सांसारिक अनुभवों का स्रोत माना है। अज्ञान, अहंकार, वासना, राग-द्वेष एवं अभिनिवेश तथा पिछले चार का मूल स्रोत अज्ञान है। गीता में वासना आदि (आसक्ति, मोह) का स्रोत कोई उच्चतर तत्त्व नहीं बताया गया है। गीता में शब्द अज्ञान का प्रयोग छः सात स्थानों पर ज्ञानाभाव के अर्थ में किया गया है। परन्तु इस 'अज्ञान' का तात्पर्य कोई तात्त्विक सिद्धान्त अथवा कार्यकारण-शृंखला के

---

1 अष्टांगशील की एक अन्य सूची भी बौद्ध ग्रन्थ में है। हिंसा नहीं करना, चोरी नहीं करना, काम-स्त्री सम्बन्ध नहीं करना, असत्य नहीं बोलना, नशा नहीं करना, निषिद्ध समय पर खाना, नृत्य एवं संगीत से तथा इत्रादि तथा मालाओं से शरीर को विभूषित करना। एक और दूसरी सूची है जिसे दशकुशल-कम्म कहते हैं हिंसा नहीं करना, चोरी नहीं करना, स्त्री सम्बन्ध नहीं करना, झूठ नहीं बोलना, गाली नहीं निकालना, मिथ्या निन्दा न करना, मूर्खतावश नहीं बोलना, लोभ नहीं करना, कंशयात्मक और द्वेषात्मक न होना।

परम सिद्धान्त से नहीं है, बल्कि इसका प्रयोग तो वस्तु के यथार्थ ज्ञान के विरुद्ध मिथ्या ज्ञान अथवा अज्ञान के अर्थ में हुआ है। इस प्रकार एक स्थल पर यह कहा गया है कि ज्ञान पर अज्ञान का पर्दा पड़ा रहने के कारण (अर्थात् माया से) प्राणी मोहित हो जाते हैं।[1] आगे चलकर कहा गया है कि ज्ञान से जिनका अज्ञान नष्ट हो जाता है उनके लिये[2] उन्हीं का ज्ञान परमार्थ तत्त्व को सूर्य के समान, प्रकाशित कर देता है। एक अन्य स्थल पर ज्ञान और अज्ञान दोनों की परिभाषा दी गई है। अध्यात्म-ज्ञान को नित्य समझा गया है एवं तत्त्वज्ञान के सिद्धान्तों के परिशीलन को ही ज्ञान कहा गया है। इसके अतिरिक्त जो कुछ है वह सब अज्ञान है।[3] दूसरे स्थल पर अज्ञान को तमस् का परिणाम कहा गया है एवं दो अन्य स्थलों पर तमस् को अज्ञान की परिणति कहा गया है। दूसरी ओर कहा गया है कि लोग अज्ञान से मोहित हो जाते हैं तथा सोचते हैं 'मैं धनवान हूँ, मैं कुलीन हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है ? मैं यज्ञ-यागादि करूँगा दान दूँगा एवं आनन्द भोगूँगा।'[4] एक दूसरे स्थल पर अज्ञान को संशयोत्पादक कहा है तथा कृष्ण का गीता-प्रवचन अज्ञान से उत्पन्न अर्जुन के मोह को दूर करने वाला है।[5] इससे यह स्पष्ट है कि यद्यपि 'अज्ञान' विविध प्रसंगों में प्रयुक्त हुआ है—या तो साधारण अज्ञान और या यथार्थ पूर्ण अध्यात्म ज्ञान का अज्ञान। अज्ञान को कहीं भी आसक्ति अथवा वासनाओं का श्रोत नहीं कहा गया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि गीता का इस सिद्धान्त से विरोध है कि अज्ञान द्वारा संग एवं वासना उत्पन्न होते हैं। परन्तु इसका अर्थ यह प्रतीत होता है कि गीता को संग एवं वासना के मूल श्रोत को जानने में कोई रुचि नहीं है बल्कि उनके अस्तित्व में विश्वास व्यक्त किया गया है। शान्ति एवं समत्व-बुद्धि के लिये उनके (संग एवं वासना) नाश की आवश्यकता समझी गयी। बौद्ध हीनयान नीतिशास्त्र एवं व्यावहारिक अनुशासन के अन्तर्गत शील, समाधि, प्रज्ञा आते हैं। शील का अर्थ सुचरित्र का पालन एवं निषिद्ध कर्मों का त्याग है।[6] शील का तात्पर्य उन विशिष्ट मानसिक एवं संकल्पात्मक धारणाओं आदि से है जिनके द्वारा मनुष्य अधर्म के पथ से हटकर सदाचार में स्थित रहता है। इस प्रकार शील का अर्थ (1) चेतना (2) चेतसिक (3) संवर और (4) उपरोक्त तीन शीलों के अनुसार मन में पहले से उत्पन्न सदाचरण की भावना का (शरीर एवं वाणी द्वारा) क्रियात्मक अनुल्लंघन जिसे अवृत्तिकाम कहते हैं। संवर पाँच प्रकार का होता है उदाहरणार्थ—(1) पाटिमोक्ख संवर निग्रह जो पालनकर्त्ता की रक्षा करता है। (2) सत्ति संवर (सावधानी युक्त निग्रह) (3) ञान संवर (ज्ञान का संवर) (4) खान्ति संवर (धैर्य का संवर) (5) विरिय संवर (संयम का संवर) पातिमोक्ख संवर का अर्थ सामान्य रूप

---

1 अज्ञानेनावृत्तं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः 5.15।
2 ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः 5.16।
3 अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्व ज्ञानार्थ दर्शनम्।
एतज्ज्ञानम् इति प्रोक्तम्, अज्ञानं वदतोऽन्यथा। —13.12।
4 गीता, 14,16,17; 10.11; 14.8।
5 वही, 5.16।
6 गीता, 4.42; 18.72।

से मनोनिग्रह है । सति संवर का अर्थ अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा सावधानीपूर्वक सम्यक् एवं शुभ संस्कारों को प्राप्त करना है । प्रलोभन के सम्मुख होते हुये भी सावधानी के कारण मनुष्य उसके प्रलोभनात्मक स्वरूप की अवज्ञा करता हुआ एवं उससे परे सदाचार प्रवर्त्तक स्वरूप पर ध्यान देता हुआ सम्मोहित होने से रुकेगा । खान्ति संवर उसे कहते हैं जिससे मनुष्य शीत एव उष्ण में सम रह सकता है । शील के उचित पालन द्वारा हमारी सम्पूर्ण शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक क्रियाएँ व्यवस्थित, संगठित एवं स्थिर हो जाती हैं । शील का अभ्यास ध्यानाभ्यास के लिये है । प्रारम्भ में मनुष्य को खान-पान की खोज करने से उत्पन्न अनेक प्रकार के दुःख एवं उनके विविध प्रकार के दुर्गन्धयुक्त शारीरिक तत्त्वों के रूप में अन्तिम घृणात्मक विकार के रूप में (रक्त, मल, मूत्र, मज्जा इत्यादि के रूप में) खान-पान की तृष्णा को निरन्तर घृणा की दृष्टि से देखने की आदत डालनी चाहिये । उसे अपने मन को इस विचार से अभ्यस्त करना चाहिये कि हमारे शरीर के भाग चार तत्त्वों से बने हुये हैं जैसे क्षिति जल इत्यादि । उसे शील के दान, मृत्यु के स्वरूप, एवं निर्वाण के गुण एवं गहन स्वरूप के शुभ परिणामों पर विचार करना चाहिये तथा सर्व मैत्री, सर्वदया, सर्वसुख एवं उन्नति में सुख मानना चाहिये तथा स्वयं के, अपने मित्र के, अपने शत्रु के अथवा तीसरे दल के पक्षपात में उदासीन रहने की चतुर्विध उपासना के रूपों में ब्रह्म-विहार का अभ्यास करना चाहिये ।[1]

गीता इनमें से किसी यम-नियम का विवेचन नहीं करती । यह न तो सर्व हितवाद का ही उपदेश करती है और न महायान नीतिशास्त्र की तरह विश्वास करती है कि मनुष्य केवल परहित के लिये ही जिये । गीता, धैर्य के गुणों में, शुभ-शक्ति में एवं सर्व वस्तुओं के निस्सार होने के यथार्थ ज्ञान एवं उपासना में विश्वास नहीं करती । जो व्यक्ति साधु-जीवन व्यतीत करने का व्रत धारण करता है वह परहित जीवन का व्रत लेता है जिसके हेतु वह अपने निज सर्व सुख की बलि देने को तत्पर रहता है । उसका परहित व्रत केवल सहधर्मियों अथवा पंथविशेष तक ही सीमित नहीं रहता, अपितु जाति, धर्म, वर्ण इत्यादि की ओर ध्यान दिये बिना मनुष्यमात्र पर अथवा प्राणि मात्र तक फैला हुआ है । महायान नैतिक ग्रन्थ जैसे बोधचर्यावतार पंजिका अथवा शिक्षा समुच्चय केवल सिद्धान्तों का ही विवेचन नहीं करते प्रत्युत भिक्षुक के बनने के लिए क्रियात्मक उपदेश भी देते हैं । भिक्षुक की जीवन-यात्रा में आने वाली क्रियात्मक बाधाओं का वे विवेचन करते हैं तथा प्रलोभनों से बचने के लिए अपने कर्त्तव्य मार्ग में अडिग रहने के लिए एवं क्रमशः उत्तरोत्तर उच्चावस्था को प्राप्त करने के लिए व्यावहारिक सम्मति देते हैं ।

गीता न तो नैतिक प्रयत्नों का व्यावहारिक पथ-प्रदर्शक ग्रन्थ है एवं न अनैतिक प्रवृत्तियों के मूल का विवेचन करने वाला तथा विशिष्ट तात्त्विक सिद्धान्तों का उद्गम स्थान बताने वाला दार्शनिक ग्रन्थ है । आसक्ति एव वासना के साधारण दोषों से आरम्भ करके गीता यह बताने का प्रयास करती है कि नित्य-नैमित्तिक कर्त्तव्यों का पालन करता हुआ मनुष्य किस प्रकार शान्त, तुष्ट, स्थितप्रज्ञ एवं योगस्थ रह सकता है । महाभारत के

---

1 एस० एन० दासगुप्ता कृत भारतीय दर्शन का इतिहास, जि० 1, पृ० 103 ।

महान् संग्राम में गीता स्थित है। कृष्ण को ईश्वर का अवतार माना गया है एवं महान् पाण्डव वीर अपने सखा एवं सम्बन्धी, स्वजन अर्जुन का सारथि भी है। पाण्डव वीर जन्म से क्षत्रिय था एवं वह अपने चचेरे भाई एव शत्रु दुर्योधन राजा से लड़ने के लिये कुरुक्षेत्र के महान् युद्ध क्षेत्र में आया था जिसने अर्जुन के बन्धु वृहत् सेनाओं के प्रमुख महान् योद्धाओं को इकट्ठा किया था। गीता के प्रथम अध्याय में धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में आमने-सामने खड़ी हुई दोनों सेनाओं का वर्णन है। इसमें अपने स्वजनों से लड़ने एवं अन्त में उनकी हत्या करने के विचार से अर्जुन को विषाद होने का वर्णन है। वह कहता है कि अपने पूजनीय सम्बन्धियों को मारने से तो भीख मांगकर खाना अधिक श्रेयस्कर है। कृष्ण अर्जुन के इस मनोभाव पर गहरी आपत्ति उठाते हैं और उसे उपदेश करते हैं कि आत्मा अमर है एवं उसे कोई मार नहीं सकता। परन्तु इस तात्त्विक दृष्टिकोण के अतिरिक्त साधारण दृष्टि से भी एक क्षत्रिय को युद्ध करना चाहिये क्योंकि वह उसका धर्म है तथा क्षत्रिय के लिये युद्ध से श्रेयस्कर कोई अन्य कार्य नहीं है। गीता का मौलिक विचार यह है कि मनुष्य को अपने वर्णाश्रम धर्म अर्थात् स्वधर्म का पालन करना चाहिये। क्योंकि मनुष्य को स्वधर्म निकृष्ट होने पर भी उसे नहीं छोड़ना चाहिये क्योंकि अपना स्वधर्म विगुण होने पर भी दूसरों के गुणमय धर्म से श्रेष्ठ है। स्वधर्म का पालन करते हुये मर जाना भी अच्छा है क्योंकि दूसरों का वर्ण-धर्म भयावह है।[1] गुण कर्म के विभागानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य एवं शूद्र—इन चार वर्णों के स्वाभाविक कर्म निर्धारित किये गये हैं। इस प्रकार ब्राह्मण को स्वाभाविक कर्म शम, दम, तप, पवित्रता, शान्ति (क्षमा), सरलता (आर्जव), ज्ञान अर्थात् अध्यात्म ज्ञान, विज्ञान अर्थात् विविध ज्ञान और आस्तिक्य बुद्धि है। शूरता, तेजस्विता, धैर्य, दक्षता, युद्ध से न भागना, दान देना और प्रजा पर शासन करना क्षत्रियों का स्वाभाविक कर्म हैं। कृषि अर्थात् खेती, गोरक्ष यानी पशुओं को पालने का उद्यम और वाणिज्य अर्थात् व्यापार वैश्यों का स्वभावज कर्म हैं और इसी प्रकार सेवा करना शूद्रों का स्वाभाविक कर्म है। अपने-अपने (स्वभावजन्य गुणों के अनुसार प्राप्त होने वाले) कर्मों में नित्य रत (रहने वाला) पुरुष (उसी से) परम सिद्धि पाता है। प्राणि मात्र की जिससे प्रवृत्ति हुई है और जिसने सारे जगत् का विस्तार किया है अथवा जिससे सब जगत् व्याप्त है, उसका अपने (स्वधर्मानुसार प्राप्त होने वाले) विशिष्ट कर्मों के द्वारा (केवल वाणी अथवा पुष्पों से ही नहीं) पूजा करने से मनुष्य को सिद्धि प्राप्ति होती है। अपने स्वधर्म का पालन करने वाले को कोई दोष नहीं लगता। चाहे किसी का वर्ण-धर्म दोषयुक्त भी हो, तो भी उसके लिये अपने धर्म का पालन करना अनुचित नहीं है। क्योंकि सम्पूर्ण आरम्भ अर्थात् उद्योग (किसी न किसी) दोष से वैसे ही व्याप्त रहते हैं जैसे कि धूएँ से आग घिरी रहती है।[2] अर्जुन को क्षत्रिय होने के कारण अपने स्वधर्म के पालन रूप रणक्षेत्र में शत्रुओं से युद्ध करने की प्रेरणा दी जाती है। यदि वह अपने शत्रुओं को युद्ध में जीत लेगा तो पृथ्वी का राज्य भोगेगा एवं यदि युद्ध में मर जायेगा तो अपने

---

1 गीता, अ० 3–35।

2 गीता, 18–44–48।

स्वधर्म पालन के कारण स्वर्ग प्राप्त करेगा। यदि वह युद्ध नहीं करेगा (जो उसका कर्त्तव्य है) तो उसकी केवल अपकीर्त्ति ही नहीं होगी अपितु उसके स्वधर्म का उल्लघन भी होगा।

इस आदेश के विरुद्ध यह स्वाभाविक आपत्ति उठती है कि युद्ध में हिंसा तो अनिवार्य है। परन्तु इसके उत्तर में कृष्ण इस प्रकार कहते हैं कि अनासक्त होकर कर्म करना ही कर्म करने का सही तरीका है। जब मनुष्य आसक्ति, लोभ एवं स्वार्थपरता से रहित होकर केवल अपनी कर्त्तव्य-भावना से युक्त होकर कर्म करे तो उसे कर्म का दोष नहीं लग सकता। मनुष्य को कर्मों का पाप तभी लगता है जबकि वह स्वार्थ बुद्धि से प्रेरित होकर कर्म करे। परन्तु यदि वह स्वार्थ-भावना न रखे, सुख में हर्षित न हो एवं दुःख में उद्विग्न न हो तो उसके कर्म उसे बन्धन में नहीं डाल सकते। अतः मनुष्य को अपनी सम्पूर्ण स्वार्थयुक्त इच्छाएँ त्याग कर अपने कुल कर्मों को ईश्वरार्पण करके योगयुक्त होना चाहिए, तथा इसके उपरान्त उसे अपने वर्णानुकूल स्वाभाविक कर्त्तव्यों का पालन करते रहना चाहिये। जब तक हम शरीरयुक्त हैं तवतक स्वभाव के कारण कर्म तो करना ही पड़ेगा; अतः हमारे लिये सर्व-कर्म-त्याग असम्भव है। कर्मत्याग महत्त्वपूर्ण हो सकता है यदि उसका अर्थ कर्मफल त्याग हो। कर्मफल-त्याग होने पर कर्म-बन्धन नहीं होता प्रत्युत शान्ति एवं तुष्टि की प्राप्ति होती है। इस प्रकार पूर्ण स्थितप्रज्ञ योगी अपनी यथार्थ बुद्धिमत्ता में अटल एवं अडिग रहता है तथा उसे संसार की कोई वस्तु विचलित नहीं कर सकती। यह स्थिति या तो अध्यात्म ज्ञान से अथवा ईश्वर-भक्ति से सम्भव है। उपरोक्त दोनों मार्गों में भक्ति-मार्ग सुगमतर है। ईश्वर अपने अनुग्रह से भक्त की अपने मन से सम्पूर्ण अशुद्धताओं को दूर करने में सहायता करता है एव उसकी कृपा से मनुष्य लोभ एवं स्वार्थ प्रेरकों से अपने मन को हटा लेता है तथा योगारूढ़ हो जाता है। इस प्रकार बिना किसी लाभ की इच्छा किये अपने वर्ण द्वारा निर्धारित कर्मों को कर सकता है।

गीता का कर्मयोग-सिद्धान्त कर्मकाण्ड के आदर्श से इस प्रकार भिन्न है कि यज्ञ यागादि किसी स्वर्गिक आनन्द के लक्ष्य की प्राप्ति अथवा किसी अन्य सांसारिक लाभ के लिए नहीं किये जाने चाहिएँ, प्रत्युत केवल कर्त्तव्य-भावना से ही किये जाने चाहिएँ क्योंकि यज्ञ-यगादि ब्राह्मणों के लिये अनिवार्य हैं। अतः उनका पालन केवल कर्त्तव्य परायण होकर ही किया जाना चाहिये। गीता के नीतिशास्त्र में तथा वेदान्त अथवा पातंजल-योग के दर्शन में अन्तर है। जैसे कि इन दर्शनों का लक्ष्य मनुष्य को मानसिक एवं शारीरिक क्रिया-शून्य समाधि की स्थिति तक पहुँचाने के हेतु सम्पूर्ण क्रियाओं से परे ले जाना है जबकि गीता का प्रतिपाद्य विषय कर्मयोग का सिद्धान्त है। जैसा कहा जा चुका है गीता किसी विषय में उग्रता (Extremism) की समर्थक नहीं है। ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् भी मनुष्य को अपने सामान्य वर्णोचित एवं सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन करते रहना चाहिए।[1] प्राचीन बौद्ध दर्शन में जिस नैराश्यवाद का वर्णन है वह गीता में नहीं पाया

---

1 गीता की इस व्याख्या से श्री शंकराचार्य निस्सन्देह सहमत नहीं है जो आगे बताया जायेगा।

जाता। बौद्ध दर्शन के शील, समाधि एवं प्रज्ञा के अनुरूप गीता में हर्ष एवं आसक्ति में अरुचि, ईश्वर पर एकाग्रता तथा स्थितप्रज्ञ होने के अभ्यास के विषय में उपदेश पाए जाते हैं। परन्तु गीता में इनका महत्त्व बौद्ध दर्शन से पूर्णतया भिन्न है। गीता को विधि-निषेध मान्य नहीं है क्योंकि उनका समावेश वर्णोचित स्वधर्म में एवं सामाजिक नैतिकता में पूर्ण निहित हैं। गीता इस बात पर जोर देती है कि मनुष्य का परम् कर्त्तव्य आसक्ति, वासना एवं तृष्णा की अशुद्धियों से मन को शुद्ध करना है। गीता में वर्णित समाधि का अर्थ केवल किसी विषय पर मन को एकाग्र करना ही नहीं है प्रत्युत इसका अर्थ ब्रह्मात्मऐक्यता हैं। गीता में प्रयुक्त 'प्रज्ञा' आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं है अपितु मन को स्थिर एवं शान्त करना है जिससे कि अनासक्त होकर सुख-दु.ख से अविचलित स्थितप्रज्ञ की स्थिति प्राप्त करके कर्त्तव्यपरायणता में बुद्धि और संकल्प स्थिर रहे अर्थात् बुद्धि व्यसायात्मिका हो जाए।

इस प्रसंग में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि हिन्दू आचारशास्त्र का सामान्य दृष्टिकोण क्या है ? हिन्दू सामाजिक व्यवस्था चार वर्णों के विभाजन पर आधारित है। गीता के मत में विशिष्ट स्वभाव एवं आचरणानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—इन चार वर्णों को स्वयं ईश्वर ने उत्पन्न किया। इन चार वर्णों एवं उनके अनुरूप अधिकारों एवं कर्त्तव्यों के अतिरिक्त ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास—ये चार आश्रम भी बनाए गए और प्रत्येक आश्रम के अनुरूप कर्त्तव्य भी निर्धारित किए गए। हिन्दूओं के आचार-शास्त्र चार वर्णाश्रम धर्मों के कर्त्तव्यों का समूह है। इनके अतिरिक्त कुछ निश्चित कर्त्तव्य ऐसे हैं जो सब पर लागू होते हैं तथा जिन्हें साधारण धर्म कहते हैं। उदाहरणार्थ मनु ने धैर्य, क्षमा, दम, चौर्याभाव, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध साधारण धर्म बताए हैं। प्रशस्तपाद ने धर्म-श्रद्धा, अहिंसा, भूतहितत्व, सत्यवचन, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अनुपधा, क्रोधवर्जन, अभिषेचन, शुचि, द्रव्य-सेवन, विशिष्ट देवता-भक्ति एवं अप्रमाद साधारण धर्म बताए हैं। वर्ण-धर्म साधारण धर्मों से पृथक् हैं। जैसे—तीन उच्चवर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के लिए यज्ञ, स्वाध्याय एवं दान समान है। ब्राह्मण की विशिष्ट वृत्ति दान लेना, विद्या-दान, यज्ञादि हैं—क्षत्रिय की विशिष्ट वृत्ति प्रजा की रक्षा करना, दुष्टों को दण्ड देना, रण एवं कर्तव्य से पलायन न करना है—वैश्य की विशिष्टवृत्ति क्रय, विक्रय, कृषि, गोरक्षा इत्यादि है एवं शूद्र की वृत्ति तीनों उच्च वर्णों की सेवा करना है।[1]

वर्ण-धर्म एवं साधारण धर्म के संबंध के विषय में एक आधुनिक लेखक का कहना है कि साधारण धर्म-वर्ण धर्मों की आधार-शिलाएँ हैं जिनकी (साधारण धर्म) सीमाओं के अन्दर रहकर वर्ण-धर्मों का पालन एवं अनुसरण होना चाहिए। उदाहरणार्थ यज्ञ करने हेतु ब्राह्मण को दूसरे का द्रव्य नहीं हरना चाहिए क्योंकि अस्तेय एक साधारण धर्म है। इस रीति से वह अपने वर्ग की सेवा के साथ-साथ वर्ण का सामान्य हित भी (यद्यपि

---

1. गीता के अनुसार शभ, दम, शौच, क्षान्ति, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान, आस्तिक्य ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं। क्षत्रिय के सहज कर्म-शौर्य, तेजस्, घृति, दाक्ष्य, युद्ध में अपलायन, दान एवं ईश्वर-भात्र हैं। वैश्य के सहज कर्म-कृषि एवं गोरक्षा हैं। गीता 18-42-44।

नकारात्मक ढंग से) संपादित करता है। अतः परोक्षरूप से वह मानवमात्र का सामान्य हित संपादित करता है। इस प्रकार वर्णविशेष का कोई व्यक्ति जो अपने वर्ण-धर्म का पालन करता है वह केवल अपनी जाति का ही हित नहीं करता, बल्कि उसी क्रिया से दूसरे वर्णों का उनके पुण्य एवं आवश्यकतानुसार अर्थात् मानव जाति का हित संपादित करता है। यह स्पष्ट है कि प्लेटो का भी यही मत है जिसके अनुसार न्याय का गुण सर्वभूतहित है जो प्रत्येक वर्ग अपने विशिष्ट कर्मों के द्वारा संपादित करता है। परन्तु हिन्दू वर्गीकरण के साधारण धर्म के लक्ष्य सर्वभूतहित से यह मत भिन्न है। हिन्दूओं के इन सामान्य साधारण धर्मों का उद्देश्य केवल सर्वभूतहित नहीं है जो विशिष्ट वर्णों के धर्म पालन में समाविष्ट है प्रत्युत सामान्य हित को विशिष्ट हित का आधार एवं पूर्वावस्था कहा गया है। यह साधारण धर्म, व्यक्ति को समाज का अंग समझकर उसका हित करना नहीं है प्रत्युत व्यक्ति के हित का आधार है। अतः साधारण धर्म मनुष्य मात्र के लिए अनिवार्य है चाहे व्यक्ति की कैसी ही सामाजिक प्रतिष्ठा अथवा व्यक्तिगत सामर्थ्य क्यों न हो।[1] साधारण धर्म को वर्ण धर्म की आधार-शिला मामने का अर्थ यह है कि यदि साधारण धर्म एवं वर्ण धर्म में विरोध हो तो साधारण धर्म मान्य होना चाहिए। यह अर्थ उचित नहीं है। क्योंकि ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जहाँ पर दोनों धर्मों की विरोधावस्था में साधारण धर्म को अधिक शक्तिशाली माना गया हो। जैसाकि अहिंसा को साधारण धर्म माना गया है परन्तु यज्ञयागादि में पशुबलि निहित है और ब्राह्मणों के लिए यज्ञ करना अनिवार्य था। युद्ध में मनुष्य की अत्यधिक हिंसा होती थी परन्तु क्षात्रधर्म युद्ध से अपलायन था और उसके अनुसार युद्ध करना उसके लिए अनिवार्य था। रामायण महाकाव्य में शम्बूक नामक एक शूद्र मुनि का वर्णन है। वह जंगल में घोर तप कर रहा था, जो वर्ण-धर्म का उल्लंघन था क्योंकि शूद्र के लिए तप वर्जित है तथा जो उच्च वर्ण के लिए स्वीकृत है। अतः शूद्र मुनि शम्बूक ने कृत तप को अधर्म समझा जिसके परिणामस्वरूप ब्राह्मण के छोटे शिशु की मृत्यु के रूप में राम के राज्य में विपत्ति आई थी। राजा राम ने अपने रथ में जाकर वर्ण धर्म का पालन नहीं करने के कारण शम्बूक के सिर को काट दिया। ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है जिससे पता चलता है कि साधारण धर्म एवं वर्णधर्म के बीच संघर्ष के अवसर पर वर्णधर्म अधिक शक्तिशाली समझा गया है। जब दोनों के बीच किसी प्रकार का संघर्ष नहीं होता तब ही साधारण धर्म शक्तिशाली समझा जाता था। गीता में भी वर्णधर्म को साधारण धर्म से अधिक प्रभावशाली समझा गया है। कुरुक्षेत्र के युद्ध में अर्जुन को अपने निकट के सम्बन्धियों को मारने में हिचकिचाहट होते हुए भी कृष्ण ने उसको युद्ध करने के लिए प्रेरित किया एवं उसे बताया कि क्षत्रिय होने के नाते युद्ध करना उसका परम कर्त्तव्य है। अतः यह मान लेना उचित है कि साधारण धर्म का प्रभाव सामान्य ही था एवं दोनों के बीच धर्मसंकट के समय वर्णधर्म साधारण धर्म के प्रभाव को वृथा कर देता था।

गीता में साधारण धर्म की कोई समस्या नहीं है क्योंकि निवृत्ति एवं प्रवृत्ति के समन्वय के कारण साधारण धर्म की पुष्टि की कोई आवश्यकता ही नहीं समझी गयी है।

---

1. हिन्दुओं का आचारशास्त्र एस. के मैत्रा द्वारा डॉ. सील के निरीक्षण में लिखित, —पृ. 3-4।

स्वार्थ-बुद्धि, सुखलालसा एवं स्वार्थपरता के प्रेरकों में अनासक्त होकर निष्काम कर्म करने के उसके उपदेश से उसकी योजना उच्च स्तर पर पहुँच जाती है जिसके फलस्वरूप साधारण नैतिक गुणों के अभ्यास की आवश्यकता नहीं रहती।

गीता के सिद्धांत के अनुसार अनासक्त होकर कर्म करने वाले व्यक्ति को दोष नहीं लगता। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि शुभ एवं अशुभ कर्म का आधार बाह्य क्रिया नहीं है अपितु अन्तरवृत्ति है। यदि सुख अथवा स्वार्थपरता की भावना नहीं हो तो कर्त्ता के लिए कर्म बंधन नहीं हो सकता। क्योंकि आसक्ति एवं अहंभाव के कारण ही कर्त्ता को कर्त्तापन का भाव होता है जिसके परिणामस्वरूप वह शुभाशुभ फल भोगता है। इस दृष्टिकोण से नैतिकता आत्मगत (Subjective) समझी जाती है। गीता का विशिष्ट लक्षण यह है कि वह कर्त्ता का कर्म से सब सम्बन्धों का विच्छेद करके बाह्य कर्मों को नैतिकता के प्रभाव से परे ले जाती है। ऐसी परिस्थितियों में शंकर द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है जिसके अनुसार वासनाओं एवं इच्छाओं से रहित पुरुष (जीवनमुक्त), नैतिकता, कर्त्तव्य एवं उत्तरदायित्व से परे होता है। गीता वस्तुगत निवृत्ति अथवा कर्म-निरोध का पोषण नहीं करती। इसका पूर्ण लक्ष्य आत्मगत निवृत्ति अथवा इच्छानिवृत्ति है। यह किसी को अपने वर्णधर्म को छोड़ने की स्वीकृति नहीं देती। परन्तु लाभ, सुख अथवा स्वार्थपरता की कामना से शून्य वर्ण-धर्म का पालनकर्त्ता फल के प्रभाव से पूर्णतः मुक्त होता है एवं स्थितप्रज्ञ होने के कारण कर्म-फल से अतीत हो जाता है। यदि अर्जुन ने अपने वर्ण-धर्म (क्षात्र-धर्म) के पालनार्थ अपने सैंकड़ों स्वजनों से युद्ध किया एवं मार डाला फिर भी उसके कर्म हानिप्रद होने पर भी उसके लिए बंधक नहीं हो सके। युद्ध के पश्चात् स्वजनों की हत्या के पाप के प्रायश्चित हेतु युधिष्ठिर ने पश्चाताप, दान, तप, तीर्थ-यात्रा इत्यादि की जिससे महाभारत में प्रचलित एक अन्य विचारधारा का पता चलता है कि जब वर्ण-धर्म के पालन से मानव हिंसा हुई तो उन कर्मों के पापों का प्रायश्चित उपर्युक्त प्रकार के साधनों द्वारा हो सकता था।[1] युधिष्ठिर की यह मान्यता थी कि तप, त्याग एवं अवधि (तत्त्वज्ञान) में त्याग तप से श्रेयस्कर एवं त्याग से अवधि श्रेयस्कर है। अतः उनके विचार से सब कर्मों एवं उत्तरदायित्वों को छोड़कर यंन्यासी होना श्रेष्ठतम है। जबकि अर्जुन के अनुसार राजा के लिए राजकीय जीवन के साधारण उत्तरदायित्व को स्वीकार करना एवं उसके साथ-साथ उस जीवन के सुखों में अनासक्त रहना श्रेष्ठतम है।[2] अर्जुन के मतानुसार अहिंसा आदि नियम-पालन में अति करना अनुचित है। व्यक्ति चाहे वानप्रस्थी हो अथवा संन्यासी हो, उसके लिए हिंसा स्वरूपतः त्याग करना असम्भव है। जलपान में, फलाहार में, श्वास-क्रिया में कई अच्छे सूक्ष्मतम जीवों की हिंसा

1. महाभारत 12-7-36 और 37।
2. अर्जुन ने कहा:—अशक्तः शक्तवद् गच्छन् निःसंगो मुक्तबंधनः
समः शत्रौ च मित्रे च स वै मुक्तो महीपते।
युधिष्ठिर ने कहा:—तपस्त्यागोऽवधिरिति निश्चयस्त्वेष धीमताम्
परस्परं ज्याय एषाम् येषां नैःश्रयसी मतिः।
—वही, 12, 18-31 और 12-19,9।

होती है। अतः अहिंसा इत्यादि सब नियमों का पालन मर्यादित होना चाहिए और उनकी विधि का तात्पर्य यह है कि साधारण स्तर की दृष्टि के अनुरूप ही उनका पालन किया जा सकता है (अर्थात् अति सर्वत्र वर्जयेत्) । अहिंसा एक अच्छा नियम है परन्तु कुछ परिस्थितियों में इस नियम का पालन करने से हिंसा हो जाती है। उदाहरणार्थ यदि एक चीता गौशाला में प्रवेश करे तो उसको न मारने से गो-हिंसा होगी। अतः समस्त धार्मिक विधि-विधान समाज की सुव्यवस्था एवं लोक-संग्रह हेतु बनाए जाते हैं इसलिए उनके कर्मों के फल (अर्थात् लक्ष्य की पूर्ति) को दृष्टि में रखते हुए उनका पालन किया जाना चाहिए। हमारा (हिन्दू धर्म का) मुख्य लक्ष्य समाज को सुव्यवस्थित रखना तथा समाज का कल्याण करना है।[1] अतः यह स्पष्ट है कि जब युधिष्ठिर ने सर्व कर्म त्याग की बात कही तो उसका वास्तविक तात्पर्य यह था कि मनुष्य को स्वधर्म, वर्ण-धर्म एवं आश्रम-धर्म अपने कर्त्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों को निभाने के लिए करने चाहिए। गीता निरन्तर इस बात पर जोर देती है कि त्याग का तात्पर्य स्वरूपतः कर्मत्याग नहीं है अपितु कर्मफल-त्याग की मनोवृत्ति है।

यद्यपि सुख एवं विषय-भोग की वासनाओं से रहित अभ्यासयुक्त जीवन का आवश्यक परिणाम सर्व-दोषनाश तथा मन को उच्च एवं श्रेष्ठ स्थिति में पहुँचाना है तो भी कुछ स्थानों पर गीता में कुछ आचरणों की कटु आलोचनाएँ की गई हैं। उदाहरणार्थ, गीता के सौलहवें अध्याय में आसुरी संपदा का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि आसुरी लोग कहते हैं कि यह जगत् असत्य है और इसीलिए वे इस जगत् को अप्रतिष्ठ भी कहते हैं अर्थात् इसकी न प्रतिष्ठा है और न आधार। इस प्रकार की दृष्टि को स्वीकार करके ये अल्पबुद्धि वाले नष्टात्मा और दुष्ट लोग क्रूर कर्म करते हुए जगत् का क्षय करने के लिए उत्पन्न हुआ करते हैं। (और) कभी भी पूर्ण न होने वाले काम अर्थात् विषयोप-भोग की इच्छा का आश्रय करके ये (आसुरी लोग) दम्भ, मान और मद से व्याप्त होकर मोह के कारण झूठ-मूठ विश्वास अर्थात् मनमानी कल्पना करके गंदे काम करने के लिए प्रवृत्त रहते हैं। इसी प्रकार आमरणान्त (सुख भोगने की) अगणित चिन्ताओं से ग्रसे हुए कामोपभोग में डूबे हुए और निश्चयपूर्वक उसी को सर्वस्व मानने वाले सैंकड़ों आशापाशों से जकडे हुए, काम-क्रोध-परायण सुख लूटने के लिए अन्याय से बहुत सा अर्थ-संचय करने की तृष्णा करते हैं। मैंने आज यह प्राप्त कर लिया, (कल) उस मनोरथ को सिद्ध करूँगा; यह धन (मेरे पास) है और फिर वह भी मेरा होगा। इस शत्रु को मैंने मार लिया एवं औरों को भी मारूँगा; मैं ईश्वर, मैं (ही) भोग करने वाला, मैं सिद्ध शक्तिशाली और सुखी हूँ; मैं सम्पन्न और कुलीन हूँ, मेरे समान और कौन है ? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा, मौज करूँगा। इस प्रकार अज्ञान से मोहित अनेक प्रकार की कल्पनाओं में भूले हुए मोह के फंदे में फंसे हुए और विषयोपभोग में आसक्त (ये आसुरी लोग) अपवित्र नरक में गिरते हैं। आत्म-प्रशंसा करने वाले, ऐंठ से परिपूर्ण, धन और मान के मद से संयुक्त ये

---

1. लोकयात्रार्थम् एवेदम् धर्मप्रवचनं कृतम्। अहिंसा साधु हिंसेति, श्रेयान् धर्म परिग्रहेः नात्यन्त गुणवत् किंचिन्न चापि अत्यंत-निर्गुणम्। उभयं सर्वकार्येषु दृश्यते साध्वसाधु वा। —महाभारत, 12-15, 49 और 50।

(आसुरी) लोग दम्भ से शास्त्रविधि छोड़कर केवल नाम के लिए यज्ञ किया करते हैं।[1] अहंकार से, बल से, दर्प से, काम से और क्रोध से फूलकर अपनी और पराई देह में वर्तमान मेरा (परमेश्वर का) द्वेष करने वाले, निन्दक और अशुभ कर्म करने वाले (इन) द्वेषी और क्रूर अधम नरों को मैं (इस) संसार की आसुरी अर्थात् पापयोनियों में ही सदैव पटकता रहता हूँ। अहंभाव, काम, क्रोध, लोभ, गर्व इत्यादि मुख्य दोषों को छोड़ देना चाहिए। इनमें से काम एव क्रोध को बार-बार नरक का द्वार बताया गया है।[2]

गीता में देवी संपत् के मुख्य गुण अभय (निडरता), शुद्ध सात्त्विक वृत्ति, ज्ञान योग-व्यवस्थित अर्थात् ज्ञान (मार्ग) और (कर्म) योग की तारतम्य से व्यवस्था, दान, दया, यज्ञ, स्वाध्याय अर्थात् स्वधर्म के अनुसार आचरण, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, कर्मफल का त्याग, शान्ति, अपैशुन्य अर्थात् शुद्र दृष्टि छोड़कर उदार भाव रखना, सब भूतों में दया, तृष्णा न रखना, मृदुता, (बुरे काम की) लाज, अचपलता अर्थात् व्यर्थ के कामों का छूट जाना, तेजस्विता, घृति, क्षमा, शुद्धता, द्रोह न करना, अभिमान न रखना, बताए गए हैं। (इनमें से) देवी संपत्ति (परिणाम में) मोक्षदायक और अतिमान, क्रोध, निर्दयता, एवं अज्ञान हमें बाँधते हैं और पराधीन बनाते हैं।[3] ईश्वर से प्रेम करने वाले मनुष्य को किसो प्राणी को नहीं सताना चाहिए। उनके प्रति मित्रतापूर्ण एवं सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करते हुए भी ममत्व बुद्धि और अहंकार से रहित रहना चाहिए। सुखःदुख में समान रहना चाहिए एवं क्षमाशील होना चाहिए। उसे निश्चय बुद्धि वाला आत्म विनिग्रही तथा संतुष्ट रहना चाहिए। उसे शुद्ध अनासक्त, समभाव, स्वार्थ-रहित तथा निर्भय होना चाहिए। वह शत्रु मित्र शीतोष्ण, सुखःदुख में मान और अपमान तथा निन्दा स्तुति में समभाव रखता है तथा जो कुछ मिल जावे उसमें सन्तुष्ट रहता है। उसका चित्त स्थिर है एवं पूर्णरूप से वह अनासक्त रहता है।[4] उपरोक्त गुणों की सूची की ओर ध्यान देने से ऐसा लगता है कि ये गुण नकारात्मक हैं जैसे अक्रोध, अद्वेष्टा निरहंकार, अदम्भी, निस्वार्थ, निर्द्वन्द्व (अर्थात् सुख, दुःख एवं शीतोष्ण) एवं अनासक्त। कुछ स्वीकारात्मक गुणों के अन्तर्गत हृदय की पवित्रता, क्षमाशीलता, मृदुता, सब भूतों के साथ मित्रता, करुणा, दक्षता एवं सहानुभूति मुख्यतम प्रतीत होते हैं। मैत्री एवं करुणा नामक शब्द उपनिषदों में न मिलने के कारण यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह स्वभावतः बौद्ध ग्रंथों से लिया गया हैं।[5] परन्तु गीता में भी केवल एक बार ही इनका प्रयोग ऐसे सामान्य प्रसंग में होने के कारण इन दो गुणों को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया गया है। उनका तात्पर्य कोई विश्व-मैत्री के अथवा सर्वभूतदया के अथवा

---

1. गीता, 16, 8-18।
2. वही, 16-21।
3. गीता, 16, 1-5।
4. गीता–12-13-19, गीता 13–8–11।
5. 'मैत्र' सिर्फ एक बार मुक्तिकोपनिषद् 2.34 में प्रयुक्त हुआ है और 'मुक्तिक' संभवतः परवर्ती उपनिषदों में से एक हैं।

लोकहितार्थ सहानुभूतिपूर्ण एवं मित्रतापूर्ण तीव्र कार्य करने के अथवा प्राणिमात्र के हित में रत रहने के रूप में विशिष्ट प्रकार के ध्यान से नहीं है। उनका तात्पर्य केवल मित्रतापूर्ण मानसिक प्रवृत्ति से है जो मानवमात्र के प्रति अहिंसात्मक सफल व्यवहार का आवश्यक अंग है। गीता क्रियात्मक मित्रता का पोषण नहीं करती अपितु दूसरों को कष्ट न पहुँचाने की प्रवृत्ति के साधन रूप में मित्रता की भावना को प्रोत्साहित करती है। जिस-जिस जीवन की गीता प्रशंसा करती है वह जीवन अनासक्त, शान्त, तुष्ट, स्थित-प्रज्ञ एवं सुख-दुःख में अविचल जीवन है। जिन अवगुणों की निन्दा की गई है वे आसक्ति एवं वासनाओं से उत्पन्न होते हैं। उदाहरणार्थ अहंकार, मान, दम्भ, क्रोध, लोभ आदि। कुछ अन्य गुणों की भी प्रशंसा की गई जैसे शौच, निष्कपटता, दक्षता एवं अर्जव। इन्द्रिय-निग्रह का नकारात्मक गुण एवं मन को सही दिशा में लगाने की शक्ति की उपलब्धि का स्वीकारात्मक प्रारूप भाग गीता की सम्पूर्ण आचार संहिता की आधार-शिला है।

समत्वयोग एक महान् आदर्श है जिसे गीता ने पुनः-पुनः दोहराया है। इस समत्व (योग) की तीन स्थितियाँ हैं—आत्मगत समत्व अथवा स्थितप्रज्ञता अथवा सुख-दुखः में, निन्दा-स्तुति की प्रत्येक परिस्थिति में संतुलन रखना; वस्तुगत समत्व अर्थात् अच्छे बुरे उदासीन मित्र अथवा शत्रु में निष्पक्ष समदृष्टि रखना; इस समत्व स्थिति की अन्तिम अवस्था वह है जब मनुष्य गुणातीत हो जाता है अर्थात् सांसारिक वस्तुओं से पूर्णतया अविचलित होता है। गीता में (2.15) कहा गया है कि जिस मनुष्य को इन्द्रिय-स्पर्श तथा शारीरिक कष्ट किसी भी तरह प्रभावित नहीं करते तथा जो अविचल एवं सुख-दुःख में सम है वही अमरत्व प्राप्त करता है। 2.38 में कृष्ण अर्जुन को सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, जय-पराजय को समान समझकर युद्ध करने को कहते हैं क्योंकि ऐसा करने से उसे पाप नहीं लगेगा। 2.47 में कृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि उसका कर्म करने में ही अधिकार है उसके फल में नहीं। कर्मफल को हेतु समझना अथवा अकर्म में संग होना अनुचित है। 6.48 में सुख-दुःख में समत्व को योग कहा गया है तथा आगे चलकर कहा गया है कि मनुष्य को पराजय में अविचल रहना चाहिए। इसी सिद्धान्त को 2. 55, 56, 57 में दोहराया गया है एवं यह कहा गया है कि सच्चे योगी को सुख से प्रसन्न तथा दुःख से दुःखी नहीं होना चाहिए तथा उसे सर्वत्र अनासक्त रहना चाहिए एवं सुख का अभिनन्दन तथा दुःख से द्वेष किए बिना निस्पृह रहना चाहिए। ऐसा व्यक्ति आत्मा में ही रत रहता है और आत्मा में ही तृप्त रहता है। वह उपलब्धि अथवा अनुपलब्धि में सम रहता है। विश्व में उसका कोई व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं होता।[1] ऐसे योगी के लिए मिट्टी एवम् कंचन, अनुकूल और प्रतिकूल, निन्दा और स्तुति, मान-अपमान एवं शत्रु-मित्र सब समान होते हैं।[2] ऐसे योगी की दृष्टि में शत्रु-मित्र में तथा पुण्यात्मा तथा पापात्मा में कोई भेद नहीं रहता।[3] ऐसा योगी सुख अथवा दुःख में अपनी

---

1. गीता, 3–17, 18।
2. गीता, 14–24, 25।
3. गीता, 6–9।

उपमा देकर दूसरों के सुख के लिए प्रयत्न करता है क्योंकि उसके विचार में प्रत्येक व्यक्ति सुख का अभिनन्दन अथवा दुःख से द्वेष करता है और इसी कारण से वह विद्या और विनय से सम्पन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता अथवा चांडाल में समदर्शी होता है।[1] वह योगी सब भूतों में ईश्वर का दर्शन करता है और नाशवानों में अविनाशी एवं अमर तत्त्व देखता है। वह योगी जानता है कि उस सम्पूर्ण ब्रह्मांड में ईश्वर व्याप्त है इसलिए वह सबके प्रति समदर्शी है, वह अपने आत्म तत्त्व का नाश नहीं करता एवं परं तत्त्व प्राप्त करता है।[2] विकास की इस चरम अवस्था में वह त्रिगुणात्मक, दैहिक एवं भौतिक पदार्थों के परे जाकर जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि से विमुक्त होकर अमरत्व प्राप्त करता है। उसे ज्ञान है कि त्रिगुणात्मक अनात्म पदार्थ अर्थात् प्रपंच आत्म स्वरूप से निम्न अथवा बाह्य है और ऐसी अनुभूति के द्वारा वह गुणातीत होकर ब्रह्मभूत हो जाता है।[3]

कामनारहित होकर किए जाने वाले वर्ण-धर्म एवं अन्य नित्य कर्मों के अतिरिक्त गीता के अनुसार कई स्थलों पर यज्ञ, दान एवं तप क्रियाओं को ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् भी अनिवार्य समझा गया है अर्थात् उपरोक्त क्रियाएँ त्याज्य नहीं है। यह बता देना उचित है कि गीता फल-प्राप्ति की इच्छा से अथवा दंभ अथवा दिखावे के लिए किए गए यज्ञों को निन्दनीय समझती है। यज्ञ कर्त्तव्य की भावना से अथवा लोक-हितार्थ करने चाहिए क्योंकि यज्ञों के द्वारा ही देवता वर्षा करते हैं और जिसके द्वारा अन्न प्रचुर मात्रा में सम्भव होता है। देवताओं की, ब्राह्मणों की, गुरुओं की एवं ज्ञानियों की पूजा, शौच, निष्कपटता, ब्रह्मचर्य एवं अहिंसा कायिक तप कहलाते हैं। मृदु एवं हितकर सत्य तथा प्रिय वचन एवं स्वाध्याय, वाचिक तप कहलाते हैं। मनः-प्रसाद, (चित्त को प्रसन्न रखना), सौम्यत्व, मौन, आत्म-विनिग्रह तथा चित्त की निष्कपटता मानसिक तप कहलाते हैं। और उच्चतर तप का पालन बिना किसी लाभ अथवा सिद्धि-प्राप्ति (कोई अन्य लक्ष्य हेतु) के हेतु किया जाता है।[4] दान शुभ-पर्व पर कर्त्तव्य की भावना से दिया जाना चाहिए। दान की उपरोक्त व्याख्या महायान में वर्णित बिना किसी प्रकार की रोक के सर्वभूतहितार्थ दिए गए दान की व्याख्या से अधिक संकुचित है। जैसाकि शिक्षा-समुच्चय ग्रन्थ में कहा गया है कि बोधिसत्व को शेर एवं जंगली जानवरों से नहीं डरना चाहिए क्योंकि उसने भूत-हितार्थ सर्वस्व त्याग दिया है। उनका यही विचार होना चाहिए कि यदि उसका भक्षण कोई जंगली जानवर कर लेगा तो उसका अर्थ यही होगा कि विश्व-हितार्थ दान देने के व्रत की पूर्ति में उसने अपने शरीर का भी दान कर दिया है। बोधिसत्व का सर्वभूत-हितार्थ दान देने का व्रत है।[5]

इस प्रकार गीता की मूलभूत शिक्षा बिना इन्द्रिय तृप्ति की इच्छा अथवा बिना स्वार्थ-प्रेरणा के वर्ण-धर्म का पालन है। तप एवं दान के सामान्य धर्म के पालन का विधान

1. गीता, अ. 6–31, अ. 5–18।
2. गीता, 13–28।
3. गीता, अ. 14–20, 23, 26।
4. वही, 16, 11, 17।
5. शिक्षा-सामुच्चय अ. 19, पृ. 349।

सबके लिए है क्योंकि वे वैशेषिक एवं स्मृति साहित्य के साधारण धर्मों के समकक्ष समझे गए हैं। परन्तु यदि वर्ण-धर्म अथवा कुल-धर्म का अहिंसा के साधारण धर्म से विरोध हो तो वर्ण-धर्म का पालन श्रेष्ठतर है। ऐसा प्रतीत नहीं होता कि किन्हीं अन्य नित्य-नैमित्तिक साधारण धर्मों का विरोध स्व-धर्म से हो सकता है। क्योंकि उनमें से कई आंतरिक नैतिक विकास के लिए है जिनके साथ सम्भवतः किन्हीं वर्ण-धर्मों का विरोध नहीं हो सकता। परन्तु गीता का इस विषय में स्पष्ट आदेश नहीं है। फिर भी यह सोचा जा सकता है कि यदि शूद्र यज्ञ, दान, तप अथवा वेदाध्ययन करने का विचार करे तो गीता का इससे विरोध होगा क्योंकि वह नियत वर्ण-धर्म के विपरीत होगा। अतः यद्यपि अहिंसा गीता द्वारा उपदिष्ट विशिष्ट गुण है फिर भी जब एक क्षत्रिय खुले स्वतंत्र युद्ध में अपने शत्रुओं को मारता है, तब वह युद्ध धर्मयुद्ध कहलाता है एवं क्षत्रिय के लिए अपने शत्रुओं को मारना कोई पाप नहीं है। यदि एक व्यक्ति अपने सब कर्मों को ब्रह्मार्पण करके, आसक्ति-रहित होकर कर्म करता है तो उसको कर्मबंधन का दोष नहीं लगता, जिस प्रकार कमल जल के अन्दर रहता हुआ भी उससे अछूता रहता है।[1] एक ओर गीता, वर्ण एवं साधारण धर्म के पालन की आवश्यकता बताकर तथा संन्यास, पवित्रता, निष्कपटता, अहिंसा, आत्मनिग्रह, इन्द्रिय-निग्रह एवं अनासक्ति आदि गुणों की वृद्धि पर बल देकर परमवाद एवं तात्त्विक दर्शनों से दूर हटती है तो दूसरी ओर वह योग की तरह उग्रता एवं कठोरता के साथ यम, नियमों के आत्मानुशासन का अथवा बौद्धों की तरह असीम एवं सार्वजनिक रूप से गुणों के अभ्यास का उपयोग नहीं करती। आत्मनिग्रह, इन्द्रिय-निग्रह एवं सामान्य कर्त्तव्यों का पालन करते हुए वासनाओं तथा स्वार्थपरता में अनासक्ति की आवश्यकता पर अत्यधिक बल देते हुए वह मध्यम मार्ग का अनुसरण करती है। इन्द्रिय-सुखों में ऐसी अनासक्ति ज्ञान द्वारा अथवा अधिक आदर से ईश-भक्ति द्वारा अधिक सरलता से प्राप्त की जाती है।

कर्म-विश्लेषण

गीता के आचरण शास्त्र पर विचार करने के बाद स्वाभाविक रूप से कर्म, संकल्प एवं कर्त्ता के स्वरूप के विश्लेषण की समस्या पर विचार किया जाता है। हिन्दू-दर्शन में संकल्प का प्रधान विश्लेषण न्याय-वैशेषिक ग्रन्थों में पाया जाता है। प्रशस्तपाद ने दैहिक क्रिया को दो वर्गों में विभाजित किया है—प्रथमतः वे सहज क्रियाएँ जो जीवन में स्वतः उत्पन्न होती हैं एवं शरीरधारी के लिए अर्थकारी होती हैं। द्वितीय, वे चेतन एवं ऐच्छिक क्रियाएँ जो राग-द्वेष से अभीष्ट लक्ष्य अर्थात् सुख की प्राप्ति के लिए तथा दुःख को दूर करने के लिए उत्पन्न होती हैं। प्रभाकर के मत में संकल्पात्मक क्रियाएँ कई तत्त्वों पर आधारित हैं : प्रथमतः कार्यता-ज्ञान जिसका अर्थ भाट्ट चिंतामणि ग्रन्थ में गंगभट्ट ने निम्न प्रकार से किया है कि कार्यता-ज्ञान केवल सामान्य ज्ञान ही नहीं है जो अमुक कार्य कर्त्ता द्वारा सम्पन्न हो सकता है परन्तु वह एक विशिष्ट विचार है कि अमुक कार्य उसे करना चाहिए। यह विचार इस भावना से ही उत्पन्न होता है कि अमुक कार्य उसके लिए हितकर है एवं उससे उसे इतनी हानि नहीं है कि वह उस कार्य को टाल दे। द्वितीयतः यह विश्वास भी होना चाहिए कि कर्त्ता में कृति-साध्यता-ज्ञान है। इस कृति-साध्यता ज्ञान

1. गीता, 5.10

में विश्वास का परिणाम चिकीर्षा है। प्रभाकर मतावलंबी यहाँ इस महत्त्वपूर्ण तत्त्व का कथन नहीं करते कि कर्त्ता के लिए हितकारक कार्य ही उसका इच्छित कर्म होता है। प्रत्युत वे यह कहते हैं कि कर्म करने की इच्छा तब होती है जब कर्त्ता कर्म के साथ अपना एकत्व स्थापित कर दे तथा आत्म-साक्षात्कार हेतु कर्म करने की इच्छा हो। न्याय के मतानुसार कर्म करने की आवश्यक अवस्था हित-साधन का एवं अहित-प्रतिकार का विचार है।

गीता के मत में अव्यक्त प्रकृति एवं उससे उत्पन्न गुणों से ही कर्म सम्भव होते हैं। अज्ञान एवं मिथ्याभिमान से ही मनुष्य अपने आपको कर्त्ता मानता है।[1] एक अन्य स्थल पर यह कहा गया है कि कर्म के पाँच कारण होते हैं :–अधिष्ठान, कर्त्ता, करण अर्थात् इन्द्रियाँ, पृथक् चेष्टाएँ तथा दैव अर्थात् ईश्वर की सर्वोपरि शक्ति।[2] सब कर्म उपरोक्त पाँच तत्त्वों के समूहीकरण के द्वारा उत्पन्न होते हैं अतः यह सोचना अनुचित होगा कि केवल आत्मा अथवा कर्त्ता ही कर्म करने वाला है। ऐसा कहा जाता है कि वास्तविक स्थिति ऐसी होने पर भी जो संस्कृतबुद्धि न होने के कारण यह समझे कि मैं ही अकेला कर्त्ता हूँ (समझना चाहिए कि) वह दुर्गति कुछ भी नहीं जानता।[3] शरीर से, वाणी से अथवा मन से मनुष्य जो-जो कर्म करता है—फिर चाहे वह न्याय हो या विपरीत अर्थात् अन्याय उसके उक्त पाँच कारण हैं।[4] गीता के नैतिक शास्त्र का आधारभूत सिद्धान्त वस्तुतः यह है कि मुख्यतया कर्म प्रकृति के विशिष्ट गुणों की क्रियाओं द्वारा सम्भव होते हैं एवं गौण रूप से उक्त पाँच तत्त्वों के समूहीकरण द्वारा (जिनमें से कर्त्ता एक कारण है) कर्म सम्भव होते हैं। अतः केवल अहंकार के कारण ही मनुष्य यह सोचता है कि वह अपनी इच्छा द्वारा कर्म में प्रवृत्त होता है अथवा कर्म-त्याग करता है। क्योंकि प्रकृति अपने बाद के विकारों द्वारा तथा समूहीकृत कारणों द्वारा स्वत. हमें कर्म में प्रवृत्त करेगी एवं हमारी अनिच्छा होते हुए भी जो कर्म हम नहीं करना चाहते वही कार्य हमें करना पड़ता है। अतः कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि तू अहंकार से जो यह मानता (कहता) है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा (सो) तेरा यह निश्चय व्यर्थ है। प्रकृति अर्थात् स्वभाव तुझ से यह युद्ध कराएगा।[5] मनुष्य अपने स्वभावजन्य कर्म में बंधा हुआ होने के कारण वह पराधीन है। अपने संकल्प से विपरीत होने पर भी उसे कर्म करना पड़ता है। प्रकृति अथवा पाँच तत्त्वों का समूहीकरण हमें कर्म में प्रवृत्त करता है। इस कारण से कोई भी कर्म-त्याग नहीं कर सकता। यदि कर्म-त्याग असंभव है एवं मनुष्य को कर्म-त्याग करना ही पड़ता है तो उचित यही है कि मनुष्य अपने स्वधर्म अर्थात् सहज कर्म का पालन करे। कोई धर्म एवं कर्म पूर्णतया निर्दोष आलोचना से परे नहीं है। अतः कर्म-

---

1. गीता, अ. 3–27, अ. 13–29।
2. अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम् विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम्। –गीता, 18 अ. 14।
3. गीता, 18.16।
4. गीता, 18.15।
5. गीता, 18.59।

शुद्धि का साधन यही है कि मनुष्य वासनाओं एवं आसक्ति की अशुद्धताओं तथा अपूर्णताओं का मन से मूलोच्छेदन कर दे। यदि समस्त कर्म आवश्यक रूप से पंच समूहीकरण के ही परिणाम है तो इस प्रसंग में प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र कैसे है ? गीता का इस सम्बन्ध में सामान्य मत यह है कि यद्यपि कर्म पंच तत्त्वों के समावेश से उत्पन्न होता है फिर भी आत्मा उन कर्मों का संचालन कर सकती है। यदि मनुष्य अनन्य भाव से सर्वकर्मफल को ईश्वरार्पण करके अनासक्त होना चाहे तो परम लक्ष्य को प्राप्त करने में ईश्वर उसका सहायक होता है।

मरणोपरान्त जीवन

गीता संभवतः प्राचीनतम ग्रन्थ है जिसमें सांसारिक वस्तुओं की नश्वरता एवं असत् के अस्तित्व की असंभवता वर्णित है। गीता के मत में असत् का अस्तित्व नहीं हो सकता एवं सत् का अभाव नहीं हो सकता। आधुनिक समय में हम शक्ति एवं संचय के सिद्धान्त की बात सुनते हैं। शक्ति-संचय के सिद्धान्त का स्पष्ट प्रसंग पतंजलि सूत्र 4·3 पर व्यास भाष्य में मिलता है परन्तु पुंज-संचय का सिद्धान्त निश्चित रूप से कहीं भी प्रतिपादित नहीं है। वेदान्त एवं सांख्य दर्शन सत्कार्यवाद के सत्ता-मूलक सिद्धान्त पर आधारित हैं जिसके अनुसार कार्य (उत्पत्ति के पूर्व) कारण में विद्यमान रहता है। वेदान्त के मत में कार्य की स्वतंत्र अथवा वास्तविक सत्ता नहीं है, वह तो केवल प्रतीतिमात्र है, वास्तविक सत्ता तो केवल कारण की ही है। दूसरी ओर सांख्य के मत में कार्य कारण-सत्ता का विकारमात्र है और इस प्रकार असत् नहीं होकर कारण से पृथक् उसकी कोई सत्ता नहीं है। अतः यह कहा जा सकता है कि कारण-व्यापार के पूर्व कार्य कारण में निहित रहता है। यह दोनों दर्शन बौद्ध एवं न्याय के असत्-कार्यवाद के सिद्धान्त की (अर्थात् कार्य (सत्), असत् से निकलता है) कटु आलोचना करते हैं। सांख्य एवम् वेदान्त दोनों ने अपने सिद्धान्तों को सिद्ध करने का प्रयत्न किया परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों में से किसी एक ने भी यह नहीं अनुभव किया कि उनके सिद्धान्त शक्ति-संचय के आधार-भूत सिद्धान्त कारण से परिणाम की ओर जाने वाले वाक्यों (a priori) पर आधारित है, तथा जिसके परिणाम से कारण वाले (a posterior) उदाहरण के प्रसंग में सिद्ध करना कठिन है। उदाहरणार्थ, सांख्य का कहना है कि कार्य कारण में विद्यमान रहता है; यदि ऐसा नहीं होता तो विशिष्ट प्रकार के कारणों से (जैसे तिल) ही विशिष्ट कार्य (जैसे तेल) कैसे उत्पन्न होते। विशिष्ट प्रकार के कारणों से ही विशिष्ट प्रकार के कार्य उत्पन्न होते हैं—इस सिद्धान्त से वस्तुतः सत्कार्यवाद के सिद्धान्त की सिद्धि नहीं होती परन्तु उसका अर्थ यही निकलता है। क्योंकि सत्कार्यवाद का सिद्धान्त गीता में प्रतिपादित कारण से परिणाम की ओर जाने वाले सिद्धान्त पर आधारित है कि सत् का अभाव नहीं है एवं असत् का अस्तित्व नहीं है।[1] गीता इस सिद्धान्त को सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं करती परन्तु इसे स्वयं सिद्ध सिद्धान्त समझती है जिसका कोई भी निषेध नहीं कर सकता। सांख्य एवं वेदान्त की सत्तामूलक स्थिति की तरह गीता इस सिद्धान्त को सामान्य ढंग से नियुक्त नहीं करती। केवल आत्मा के स्वरूप के बारे में ही इस सिद्धान्त की नियुक्ति गीता

---

1. गीता, 2.16 : नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

करती है। गीता के शब्दों में 'हे अर्जुन, यह (जगत्) जिसने फैलाया अथवा व्याप्त किया है वह (मूल आत्मा स्वरूप ब्रह्म) अविनाशी है। इस अव्यय तत्त्व का विनाश करने के लिए कोई भी समर्थ नहीं है। जो शरीर का स्वामी (आत्मा) नित्य अविनाशी और अचिन्त्य है, उसे प्राप्त होने वाले ये शरीर नाशवान अर्थात् अनित्य हैं। अतएव युद्ध कर। शरीर के स्वामी या आत्मा को जो मारने वाला मानता है या ऐसा समझता है कि वह मारा जाता है, उन दोनों का ही सच्चा ज्ञान नहीं है (क्योंकि) यह (आत्मा) न तो मरता है और न मारा ही जाता है। यह (आत्मा) न तो कभी जन्मता है और न मरता ही है। ऐसा भी नहीं है कि यह (एक बार) होकर फिर होने का नहीं। इसे शस्त्र काट नहीं सकते; इसे आग जला नहीं सकती, वैसे ही इसे पानी गला नहीं सकता और वायु सुखा नहीं सकता। गीता में उपदिष्ट आत्मा का अमरत्व उपनिषदों में से अपरोक्ष रूप से उद्धृत प्रतीत होता है तथा आत्मा का वर्णन करने वाले अंशों के पर्याय, व्याख्या प्रत्यय भी उपनिषद् के ही प्रतीत होते हैं। यह सत्तामूलक सिद्धान्त कि सत् की मृत्यु नहीं हो सकती एवं असत् का भाव नहीं हो सकता उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय नहीं है। अमरत्व के सिद्धान्त के (पक्ष) में गीता में इसका प्रतिपादन निश्चित रूप से औपनिषद् दर्शन के आगे है।

अर्जुन को युद्ध के लिए तत्पर करने के लिए प्रथम युक्ति कृष्ण ने यह दी की केवल शरीर ही पीड़ित अथवा नष्ट होता है, अतः अर्जुन को कुरुक्षेत्र के युद्ध में अपने स्वजनों की हत्या का शोक करना उचित नहीं है। जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर नए ग्रहण करता है उसी प्रकार देही अर्थात् शरीर का स्वामी पुराने शरीर त्याग कर दूसरे नए शरीर धारण करता है। शरीर हमेशा मरणशील है; एवं कौमर, यौवन तथा जरा में भी यह एकसा नहीं रहता। मृत्यु के समय जो परिवर्तन होता है वह भी एक शरीर की अवस्था है अतः जीवन की (उपर्युक्त) भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के शरीर परिवर्तन में एवं मृत्यु के समय में अर्थात् एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर ग्रहण करने रूपी अन्तिम परिवर्तन में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। हमारे शरीर मे नित्य प्रलय होता है अर्थात् वह परिवर्तनशील है। यद्यपि बाल्यावस्था, कौमारावस्था एवं जरावस्था के विभिन्न परिवर्तन तुलनात्मक दृष्टि से कम मात्रा में परिवर्तित होते हुए प्रतीत होते हैं फिर भी इन परिवर्तनों से हमें इस तथ्य को मन में समझ लेना चाहिए कि मृत्यु भी एक वैसा ही शरीर का परिवर्तन है; अतः यह आत्मा को अधीर नहीं बना सकता जो आवागमन के अवसर पर शरीर के परिवर्तनों से स्वयं अविकृत रहता है। जो जन्म लेता है उसकी मृत्यु निश्चित है एवं जो मरता है उसका जन्म निश्चित है। जन्म में आवश्यक रूप से मृत्यु निहित है एवं जो मृत्यु में आवश्यक रूप से जन्म निहित है (अर्थात् जन्म-मृत्यु अपरिहार्य है)। ब्रह्मा से प्राणीमात्र पर्यन्त जन्म-मृत्यु एवं पुनर्जन्म का चक्कर निरंतर चलता ही रहता है। अर्जुन की इस शंका का कि पूरा प्रयत्न अथवा संयम न होने के कारण जिसका मन योग से विचल हो जाए वह योगी सिद्धि न पाकर किस गति को पहुँचता है—कृष्ण समाधान करते हैं कि किसी भी शुभ कार्य का नाश नहीं होता। कल्याणकारक कर्म करने वाले किसी भी पुरुष की दुर्गति नहीं होती। योगारूढ़ पुरुष जब मृत्यु को प्राप्त होता है तब वह (योग-भ्रष्ट पुरुष) पवित्र श्रीमान् लोगों के घर में अथवा योगियों के ही कुल में जन्म पाता है। इस प्रकार प्राप्त हुए जन्म में वह पूर्वजन्म के बुद्धि संस्कार पाता है, वह उससे भूयः अर्थात् अधिक (योग) सिद्धि पाने का प्रयत्न करता है। अपने पूर्वजन्म के इस अभ्यास

से ही अपनी इच्छा न रहने पर भी वह (पूर्ण सिद्धि की ओर) खींचा जाता है। प्रयत्न पूर्वक उद्योग करते-करते पापों से शुद्ध होता हुआ योगी अनेक जन्मों के पश्चात् सिद्धि पाकर अन्त में उत्तम गति पा लेता है। साधारणतया प्रत्येक नए जीवन में मनुष्य का जीवन उसकी मृत्यु के समय की वासनाओं एवं भावों पर आधारित रहता है। जो (मनुष्य) अन्तकाल में (इन्द्रिय-निग्रह रूप योग के सामर्थ्य से) भक्तियुक्त होकर मन को स्थिर करके दोनों भौंहों के बीच में प्राण को भलीभाँति रखकर, कवि अर्थात् सर्वज्ञ, पुरातन, शास्ता, अण्ड से भी छोटे, सबके धाता अर्थात् आधार या कर्त्ता, अचित्यस्वरूप और अंधकार से परे सूर्य के समान देदीप्यमान पुरुष का स्मरण करता है वह (मनुष्य) उसी दिव्य परम पुरुष में जा मिलता है। अव्यक्त से सब व्यक्ति निर्मित होते हैं और उसी पूर्वोक्त अव्यक्त में लीन हो जाते हैं एवं पुनः उससे उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार अव्यक्त के दो प्रकार हैं—वह अव्यक्त जिससे सब व्यक्त पदार्थ निकलते हैं एवं दूसरा वह 'अक्षर' सनातन अव्यक्त है जो परमतत्व है तथा जिससे सब पदार्थ निकलते हैं।[1] उपनिषदों में वर्णित देवयान, पितृयान, दक्षिणायान और उत्तरायण प्रकाश एवं तम के पथ गीता में भी उपलब्ध है। अग्नि (धुंआ) रात्रि, कृष्ण पक्ष, दक्षिणायन के छः महीनों में (जब सूर्य विषुवत् रेखा के दक्षिण में होता है) मरे हुए कर्मयोगी चन्द्र के तेज में अर्थात् लोक में जाकर (पुण्यांश) घटने पर लौट आते हैं। परन्तु जगत् की शुक्ल और कृष्ण अर्थात् प्रकाशमय एवं अन्धकारमय दो शाश्वत गतियाँ यानी स्थिर मार्ग हैं। शुक्लपक्ष और उत्तरायण के छः महीनों में (जब सूर्य विषुवत् रेखा के उत्तर में होता है) मरे हुए ब्रह्मवेत्ता लोग ब्रह्म को पाते हैं।[2] इन सिद्धान्तों से कोई महत्त्वपूर्ण अर्थ नहीं निकाला जा सकता। छान्दोग्योपनिषद् में मृतात्माओं के भविष्य-पथ के बारे में जो कुछ वर्णित है यह उसी परम्परागत विश्वास का चलन प्रतीत होता है। आगे चलकर गीता में कहा गया है कि जो लोग वेदों के यज्ञ-यागादि कर्मों का अनुसरण करते हैं वे स्वर्ग में स्वर्गिक आनन्द का उपभोग करते हैं तथा अपने कर्मों के शुभ फलों के उपभोग द्वारा पुण्यक्षीण होने पर पुनः मृत्युलोक में आते हैं। जो सुखोपलब्धि हेतु यज्ञ-यागादि करके कामना के पथ को अपनाते हैं, उन्हें अवश्य ही स्वर्ग-प्राप्ति होगी तथा पुनः इस संसार में लौट आएँगे। वे इस आवागमन के चक्कर से बच नहीं सकते। गीता में (16–19) श्रीकृष्ण ने कहा है 'अशुभ कर्म करने वाले (इन) द्वेषी और क्रूर अधम नरों को मैं (इस) संसार की आसुरी अर्थात् पापयोनियों में ही सदैव पटकता रहता हूं।'

गीता के उपरोक्त मरणोत्तर जीवन के दृष्टिकोण से यह स्पष्ट है कि यह (गीता) मरणोपरान्त जीवन के बारे में कई परम्परागत स्वीकृत विचारों को सही ढंग से समन्वित किए बिना ही इकट्ठा करती है। प्रथमतः यह ध्यान में रखना होगा कि गीता का कर्म के सिद्धान्त में विश्वास है। गीता के 15-2 एवं 4-9 श्लोकों में कहा गया है कि कर्म के आधार पर ही जगत् का विकास हुआ है। आसक्ति, वासना एवं कामना के अस्तित्व के कारण कर्म-बंधन होता है। परन्तु कर्म-बंधन मनुष्य को कहाँ ले जाता है? ऐसे प्रश्न के

---

1. गीता, अ. 8–16,23।
2. वही, अ. 8–24,26।

उत्तर में गीता का कहना है कि वह (कम-बंधन) मनुष्य को आवागमन अर्थात् पुनर्जन्म के चक्कर में डालता है। जब मनुष्य वैदिक विधि के अनुसार शुभ फलों की प्राप्ति हेतु कर्म करता है तब वह फल-कामना एवं अभीष्ट फलों की प्राप्ति ही कर्म-बंधन बन जाती है जो स्वभावतः आगमन का कारण होती है। गीता में निश्चित रूप से उद्घोषित वाक्य कि जो जन्म लेता है उसकी मृत्यु अवश्य है एवं मरे हुए का जन्म अवश्य है—बुद्ध के द्वादश निदान (भव-चक्र) के प्रथम भाग का स्मरण कराता है। 'किसके होने से मृत्यु है ? जिसका जन्म है उसकी मृत्यु है।' स्मरण रहे कि वैदिक कर्मों के बारे में गीता का दृष्टिकोण केवल सहनशीलता का ही है न कि प्रोत्साहन का। वे कामनायुक्त कर्म है अतः अन्य वैसे ही कर्मों की तरह उनके साथ कर्म-बंधन लगा रहता है एवं ज्योंही इन कर्मों के शुभ फलों का उपभोग कर लिया जाता है, उन कर्त्ताओं को पुनर्जन्म लेकर स्वर्ग से मृत्यु लोक में आना पड़ता है और पुनर्जन्म के लिए किए गए कर्मों का फल भोगना पड़ता है। 'जन्मोपरान्त मृत्यु एवं मृत्यु के अनन्तर आवागमन' का सिद्धान्त बौद्ध दर्शन की तरह गीता में भी वर्णित है। परन्तु गीता में वर्णित उक्ति बौद्ध में वर्णित उक्ति से बहुत पहले की जान पड़ती है। क्योंकि बौद्ध दर्शन में वर्णित उक्ति अन्योन्याश्रित चक्र में आपस में गहरे जुड़े हुए कई अन्य निदान-चक्रों द्वारा जन्म-मृत्यु का वर्णन करती है, जिससे गीता पूर्णतया अनभिज्ञ जान पड़ती है। गीता में इस प्रकार के कोई निदान-चक्र का प्रसंग नहीं है जो बौद्ध दर्शन में से लिया गया हो। हाँ, इसमें यह तो कहा गया है कि आसक्ति पाप का मूल कारण है। परन्तु केवल उपलक्षित अर्थ के द्वारा ही हम जान सकते हैं कि आसक्ति के कारण कर्म-बंधन होता है, जिसके फलस्वरूप आवागमन होता है। गीता का मुख्य उद्देश्य कर्म-बंधन को तोड़कर आवागमन के चक्कर को रोकना नहीं है अपितु कर्त्तव्य करने के सही नियम का निर्देश करना है। निस्संदेह यह कभी कभी कर्म-बंधन को तोड़कर परमतत्त्व की प्राप्ति के बारे में कुछ कहती है। मोक्ष-प्राप्ति के बारे में उपदेश करना अथवा इस सांसारिक जीवन के पापों का वर्णन करना गीता का प्रतिपाद्य विषय नहीं है। गीता में नैराश्यवाद को कोई स्थान नहीं है। जन्म-मृत्यु के आवश्यक सम्बन्ध को बताने में गीता का हेतु जीवन को विषादमय एवं जीवनानुपयोगी बताना नहीं है प्रत्युत यह बताना है जन्म-मृत्यु की इन सार्वलौकिक घटनाओं में मनुष्य को दुःखी होने एवं निराश होने का कोई कारण नहीं है। निःसंदेह प्रधान सिद्धान्त आसक्ति, कर्म, जन्म-मृत्यु एवं पुनर्जन्म के है। परन्तु बौद्ध सिद्धान्त अधिक जटिल एवं अधिक व्यवस्थित है संभवतः वह उस समय के बाद का विकास है जब इस विषय पर गीता के विचार ज्ञात थे। बौद्ध दर्शन के अनात्मवाद एवम् शून्यवाद के सिद्धान्त गीता के आत्मा के अमरत्व के सिद्धान्त के ठीक विपरीत हैं।

परन्तु गीता केवल आवागमन के बारे में ही नहीं अपितु उसे दो पथ अर्थात् छांदोग्य उपनिषद् में निर्दिष्ट धूम-पथ एवम् ज्योतिपथ के बारे में भी कुछ कहना है।[1] गीता एवं उपनिषद् में वर्णित प्रसंग में केवल यही अन्तर है कि गीता के बजाय उपनिषद् में इसका विस्तृत विवरण मिलता है। परन्तु देवयान एवं पितृयान का सिद्धान्त संसार में

1. छांदोग्य उपनिषद्, 5.10।

आवागमन के सिद्धान्त से संगत रूप से मेल नहीं खाता। गीता आवागमन के सिद्धान्त को देवयान-पितृयान के सिद्धांत के साथ एवं यज्ञ-यगादि के कर्म-फल के कारण होने वाले स्वर्गारोहण के सिद्धान्त के साथ मिला देती है। इस प्रकार गीता परम्परागत मान्य विभिन्न प्रकार के मतों को उन्हें सही तौर से व्यवस्थित किए बिना मिला देती है। कुछ स्थलों से (4-9, अथवा 6-40-45) में ऐसा प्रतीत हो सकता है कि कर्म-बंधन अपनी शक्तियों से स्वतन्त्र रूप से अपने फल उत्पन्न करते हैं एवं कर्मफल के कारण ही जगत् की व्यवस्था है। परन्तु कुछ अन्य भी ऐसे स्थल है (16-19) जहाँ यह पता चलता है कि कर्म स्वतः अपना फल उत्पन्न नहीं करते परन्तु ईश्वर शुभाशुभ जन्म की व्यवस्था करके शुभाशुभ कर्मों का क्रमशः पारितोषिक एवं दण्ड देने की व्यवस्था करते हैं। गीता में (5.15) कहा गया है कि अज्ञान के कारण ही पाप एवं पुण्य का विचार होता है। यदि हम सही ढंग से विचार करें तो ईश्वर पाप अथवा पुण्य का विचार नहीं करता। यहाँ पुनः कर्म के दो विपरीत सिद्धान्त मिलते हैं; एक तो वह जिसमें कर्म को जीवन की सम्पूर्ण विषमताओं का कारण माना गया है एवं दूसरा वह जो शुभ अथवा अशुभ को कोई मूल्य नहीं देता। दोनों दृष्टिकोणों में गीता की यथार्थ शिक्षा के अनुरूप समन्वय स्थापित करने का तरीका यह है कि पुण्य एवं पाप की वस्तुगत सत्यता में गीता का विश्वास नहीं है। कर्म स्वयं शुभ अथवा अशुभ नहीं होते। केवल अज्ञान एवं मूर्खता के कारण ही कुछ कर्म शुभ एवं अन्य अशुभ माने जाते हैं। सिर्फ कामनाओं एवं आसक्तियों के कारण ही हमें कर्म अशुभ फल देते हैं तथा जो हमारे लिए पाप समझे जाते हैं। चूँकि कर्म स्वतः भले अथवा बुरे नहीं होते, पाप रूप से प्रतीत हो रहे कर्मों का पालन जैसे युद्ध क्षेत्र में अपने स्वजनों की हत्या उस समय पाप नहीं समझा जाता, जब वे कर्त्तव्य की भावना से किए गए हों। परन्तु वे ही कर्म पाप समझे जाएँगे यदि वे आसक्ति अथवा कामनावश किए गए हों। इस दृष्टिकोण से देखने पर गीता का नैतिकता का सिद्धान्त आवश्यक रूप से आत्मगत (Subjective) है। परन्तु इस दृष्टि से नैतिक नियम, पाप एवं पुण्य आत्मगत समझे जा सकते हैं जो पूर्णतया आत्मगत नहीं है। क्योंकि नैतिकता केवल आत्मगत-अन्तरात्मा अथवा शुभ एवं अशुभ के आत्मगत विचारों पर ही आधारित नहीं है। वर्ण-धर्म एवं परम्परागत नैतिकता के साधारण धर्म निश्चित रूप से स्थिर हैं एवं उनका उल्लंघन किसी को भी नहीं करना चाहिए। पाप और पुण्य की आत्मगतता पूर्णतया हमारे शुभ एवं अशुभ कर्मों पर आधारित है। यदि शास्त्राज्ञा, वर्ण-धर्म एवं साधारण धर्म का पालन करते हुए कर्म किए जाएँ तो ऐसे कर्म परिणाम में अशुभ होने पर भी अशुभ नहीं कहलायेंगे।

आवागमन एवं स्वर्गारोहण के पथों के अलावा अन्तिम, श्रेष्ठतम एवं परम पथ मोक्ष को बताया गया है जो यज्ञ, दान अथवा तप से प्राप्त सब प्रकार के फलों से परे है। जो इस परमतत्त्व को प्राप्त कर लेता है उस ब्रह्मसंस्थ का पुनर्जन्म नहीं होता।[1] जीवन की उच्चतम अनुभूति ब्रह्मैक्य है जिससे मनुष्य सब दुःखों के परे चला जाता है। गीता में मोक्ष का अर्थ जरा एवं मरण से मुक्ति है। यह मोक्ष ज्ञान चक्षु द्वारा अर्थात् ज्ञान

---

1. गीता 8-28। 9-4।

रूप नेत्र द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के एवं आत्मा तथा अनात्मा के भेद को जानकर तथा अपने निकटतम एवं प्रियतम ईश्वर का आश्रय लेकर प्राप्त किया जा सकता है।[1] जरा एवं मरण से मोक्ष का तात्पर्य आसक्ति एवं कामनाओं इत्यादि से प्राप्त कर्म-बंधन से छुटकारा पाना है। यह स्थिति अध्यात्मज्ञान द्वारा अथवा ईश्वर-भक्ति द्वारा स्वतः ही नहीं प्राप्त होती परन्तु मोक्ष-दाता ईश्वर उन्हें मोक्ष देता है जो बुद्धिमन सब धर्मों को छोड़कर केवल उसी की शरण जाते हैं।[2] परन्तु यह स्थिति चाहे अध्यात्मज्ञान द्वारा अथवा ईश्वरभक्ति के फलस्वरूप प्राप्त हो, राग से वियुक्त होकर अनासक्तिपूर्वक कर्त्तव्य करने वाले का नैतिक उत्थान अत्यावश्यक है।

ईश्वर एवं मनुष्य

ईश्वर के अस्तित्त्व एवं स्वरूप तथा उसका मनुष्य के साथ सम्बन्ध का प्राचीनतम एवं अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण निरूपण गीता में पाया जाता है। गीता के ईश्वरवाद का प्रारम्भिक स्रोत पुरुष-सूक्त है जिसमें यह कहा गया है कि पुरुष के चतुर्थांश में विश्व एवं समस्त भूत ओत-प्रोत हैं तथा इसके त्रिपाद स्वर्गादि लोकों में स्थित हैं। यह गद्यांश छांदोग्य उपनिषद् 3-12-6 एवं मैत्रायणी उपनिषद् 6-4 में दोहराया गया है जिसमें कहा गया है कि त्रिपाद ब्रह्म ऊर्ध्व-मूल स्थित है (ऊर्ध्व-मूलं त्रिपाद ब्रह्म) इसी बात का वर्णन कुछ संशोधित रूप में कठ-उपनिषद् 6.1 में भी है जहाँ पर यह उल्लेख है कि यह जगत् सनातन अश्वत्थ वृक्ष है जिसकी जड़ें ऊर्ध्व है एवं शाखाएँ नीचे की ओर हैं (ऊर्ध्व-मूलोऽवाक् शाखः)। गीता ने इस विषय को उपनिषदों से लिया है एवं कहा है—'जिस अश्वत्थ वृक्ष का ऐसा वर्णन करते हैं कि जड़ ऊपर है और शाखाएँ (अनेक) नीचे हैं, (जो) अव्यय अर्थात् कभी नाश नहीं पाता (एवं) वेद जिसके पत्ते हैं उसे जिसने जान लिया है वह पुरुष सच्चा (वेदवेत्ता) है।' पुनः कहा गया है—'नीचे और ऊपर भी उसकी शाखाएँ फैली हुई हैं, जो (सत्व आदि तीनों) गुणों से पली हुई हैं और जिनसे (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि) विषयों के अंकुर फूटे हुए हैं, एवं अन्त में कर्म का रूप पाने वाली उसकी जड़ें नीचे मनुष्य लोक में भी बढ़ती-बढ़ती गहरी चली गई है (15-1) और उसके आगे के ही श्लोक (15-2) में कहा गया है—'परन्तु इस लोक में वैसा उसका स्वरूप उपलब्ध नहीं होता, अथवा अन्त आदि और आधार स्थान भी नहीं मिलता। अत्यंत गहरी जड़ों वाले इस अश्वत्थ (वृक्ष) को अनासक्ति रूप सुदृढ़ तलवार से मूलोच्छेद कर फिर उस स्थान को ढूँढ़ निकालना चाहिए जहाँ जाने पर फिर लौटना नहीं पड़ता। उपरोक्त तीन श्लोकों से यह स्पष्ट है कि गीता ने कठोपनिषद् के अश्वत्थ वृक्ष की उपमा का विस्तृत विवेचन किया है। गीता ईश्वर की इस उपमा को स्वीकार करती है परन्तु यह मानकर कि इन शाखाओं की आगे पत्तियाँ और जड़ें है जो मानव-स्वभाव के अंकुर हैं और जो कर्म रूपी ग्रन्थियों से बंधे हुए हैं—उसका और अधिक विवेचन करती है। इसका तात्पर्य अश्वत्थ वृक्ष को प्रधान एवं गोण दो रूपों में विभक्त करना हुआ। अश्वत्थ का गौण रूप जो मुख्य अश्वत्थ का परिणाम होते हुए उसी का व्यर्थ फैलाव है अर्थात् आवरण है जिसको निर्मूल किए

1. गीता, अ. 7-29, 13-34।
2. गीता, 18.66।

बिना मूल कारण अर्थात् परम् पद को प्राप्त नहीं कर सकते। इस उपमा में निहित मुख्य विचार से गीता के ईश्वर का सिद्धान्त अत्यंत स्पष्ट हो जाता है। जो पुरुष सूक्त में वर्णित मत का विस्तृत विवेचन है। ईश्वर अन्तर्यामी ही नहीं है बल्कि जगत् से परे अर्थात् बहिर्यामी भी है। ईश्वर का यह अन्तर्यामी स्वरूप जिससे यह जीव भूत बना है, माया नहीं है क्योंकि वह (जीव भूत) उसका सनातन अंश है और उसीसे वह उत्पन्न हुआ है। जगत् के शुभाशुभ एवं नैतिक और अनैतिक भाव ईश्वर से निकले हैं और ईश्वर में ही हैं। इस चराचर जगत् का आधार एवं सार ईश्वर ही है एवं वे सब उसी के द्वारा धारण किए जाते हैं। ईश्वर का पर रूप जिसकी जड़ें ऊर्ध्व हैं एवं जो इस अपरा प्रकृति का आधार है, वही भेद-रहित पर तत्त्व निर्गुण ब्रह्म है। यद्यपि ब्रह्म को बार-बार परम धाम, परमनिधान, एवं परम तत्त्व कहा गया है परन्तु फिर भी ईश्वर अपने पुरुषोत्तम रूप में उससे (ब्रह्म से भिन्न न होते हुए भी) इस अर्थ में उत्तम है कि वह महत्तत्त्व होते हुए भी पुरुषोत्तम केवल अंश ही है। विश्व, त्रिगुण, पुरुष (जीवभूत), बुद्धि, अहंकार इत्यादि का समूह एवं ब्रह्म–यह सब ईश्वर के अंश अथवा आभास हैं जिनके कार्य एवं उनको मानसिक सम्बन्ध भिन्न-भिन्न हैं। परन्तु ईश्वर अपने पुरुषोत्तम रूप में उनसे परे है एवं धारण करता है। गीता का उपनिषदों से एक बात में मतभेद है और वह है अवतारवाद अर्थात् ईश्वर का मनुष्य के रूप में जगत् में अवतीर्ण होना। गीता में (4 6,4.7) कहा गया है कि 'जब-जब धर्म की ग्लानि एवं अधर्म का उत्थान होता है तब मैं स्वयं अपना सृजन करता हूं : मैं अजन्मा, अविनाशी एवं भूतों का ईश्वर होते हुए भी अपनी ही प्रकृति में अधिष्ठित होकर मैं अपनी माया से जन्म लिया करता हूँ।[1] अवतारवाद का यद्यपि दर्शन शास्त्रों में वर्णन नहीं है फिर भी यह प्रायः सभी धार्मिक दर्शनों एवं धर्म की आधार-शिला है तथा सम्भवतः गीता ही इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाला प्राचीनतम ग्रन्थ है। मनुष्य के रूप में ईश्वर अर्थात् कृष्ण का अर्जुन के साथ जीवन एवं आचार दर्शन के उपदेशात्मक संवाद एवं अवतारवाद का प्रभाव यह है कि ईश्वर के व्यक्तित्व के बारे में उपदेश मूर्त एवं अमूर्त्त हो जाता है। जैसाकि इस प्रकरण में दिए हुए विवरण से स्पष्ट होगा कि गीता कोई दर्शनशास्त्र का ग्रन्थ नहीं है अपितु कृष्ण के रूप में स्वयं ईश्वर द्वारा अपने भक्त अर्जुन को दी गई जीवन एवं आचारशास्त्र की व्यावहारिक भूमिका है। गीता में अमूर्त दर्शनशास्त्र मनुष्य के जीवन एवं आचार के स्वरूप में अन्तर्दृष्टि का रूप बन जाता है जैसाकि कृष्ण एवं अर्जुन के प्रियसखाभाव के विवरण से स्पष्ट है कि मनुष्य एवं ईश्वर के इसी प्रकार के घनिष्ट सम्बन्ध सम्भव हैं। क्योंकि गीता का ईश्वर कोई दर्शन शास्त्र का अव्यक्त परम ब्रह्म नहीं है परन्तु वह मनुष्य जो ईश्वर बन सकता है तथा उसके हर प्रकार के सम्बन्ध मनुष्य से हो सकते हैं।

ईश्वर के व्यापक रूप, जगत् के परमतत्त्व रूप एवं आधार रूप पर गीता में बार-बार जोर दिया गया है। जैसा कि कृष्ण कहते हैं–'मुझ से परे और कुछ नहीं है। धागे में पिरोये हुए मणियों के समान मुझ में यह सब गुंथा हुआ है। जल में रस मैं हूँ, सब

---

1. पादोऽस्य विश्वा भूतानि
   त्रिपाद् अस्यामृतं दिवि–पुरुष सूक्त।

चन्द्र-सूर्य की प्रभा मैं हूँ, सब पुरुषों का पौरुष मैं हूँ, पृथ्वी में पुष्प गन्ध अर्थात् सुगन्धि एवं अग्नि का तेज मैं हूँ, बुद्धिमानों की बुद्धि, तेजस्वियों का तेज, बलवानों का बल मैं हूँ। (भूतों में) धर्म के अविरुद्ध अर्थात् धर्मानुकूल काम में हूँ।[1] आगे चलकर कहा गया है—'मैंने अपने अव्यक्त स्वरूप से इस जगत् को फैलाया है अथवा व्याप्त किया है, मुझमें सब भूत हैं (परन्तु) मैं उनमें नहीं हूँ। और मुझ में सब भूत नहीं हैं अर्थात् मैं उनसे परे (निर्लेप) हूँ। भूतों को उत्पन्न करने वाला मेरा आत्मा उनका पालन करके भी उनमें नहीं है।[2] उपरोक्त दोनों श्लोकों से ईश्वर एवं मनुष्य के इस सम्बन्ध की समस्या-ईश्वर हमारे अन्दर होते हुए भी हमसे परे एवं निर्लेप है—का समाधान ईश्वर के तीन स्वरूपों से हो जाता है; चराचर जगत् के रूप में (ईश्वर की) व्यक्त अर्थात् अपरा प्रकृति है। ईश्वर के इस व्यापक स्वरूप के प्रसंग में यह कहा गया है कि 'जैसे सर्वगत वायु आकाश में स्थित है वैसे ही सब भूतों का स्थान मेरे (ईश्वर) अन्दर है। प्रत्येक कल्प के अन्त में सारे प्राणी मेरी प्रकृति में लीन हो जाते हैं एवं पुनः कल्प के आदि में मैं उनका सृजन करता हूँ। मैं अपनी प्रकृति का आश्रय लेकर प्राणियों को उत्पन्न करता हूँ। भूतों का यह समूचा समुदाय प्रकृति के अधीन रहने से परतन्त्र है।[3] पूर्व भागों में तीन प्रकृतियों का प्रसंग आ चुका है :—जीव भूत के रूप में ईश्वर की प्रकृति, ईश्वर का स्वरूप प्रकृति जिससे सम्पूर्ण जीवन प्रकट हुआ है तथा ईश्वर की शक्ति अर्थात् माया के रूप में प्रकृति अर्थात् तीन गुण उत्पन्न हुए हैं। इन प्रकृतियों की क्रिया के सन्दर्भ में सूत्रात्म एवं जीव भूत ईश्वर में स्थित कहे गए हैं। सर्वातिरिक्त ब्रह्म के रूप में ईश्वर का एक अन्य रूप भी है एवं जहाँ तक इस स्वरूप का सम्बन्ध है, ईश्वर जड़ एवं चेतन जगत् से परे हैं। यद्यपि ईश्वर के एक अंश से ही इस जगत् की उत्पत्ति हुई है फिर भी जगत् का उत्पत्ति कर्त्ता एवं स्थितिकर्त्ता होते हुए वह सम्पूर्ण जगत् में अक्षय होकर रहता है। उपर्युक्त ईश्वर का अन्य स्वरूप है जो परिपूर्ण एवं पुरुषोत्तम स्वरूप है। विश्व के पिता, माता एवं धाता के रूप में ईश्वर की एकात्मकता तथा उसके विश्वातीत स्वरूप को गीता में पृथक् नहीं किया गया है। दोनों स्वरूपों का वर्णन एक ही श्लोक में किया गया है। श्रीकृष्ण कहते हैं—'इस जगत् का पिता, माता, धाता (आधार), पितामह मैं हूँ, मैं ही पवित्र 'ओंकार' हूँ, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद भी मैं हूँ। श्रौत यज्ञ मैं हूँ, घृत अग्नि और (अग्नि में छोड़ी हुई) आहुति मैं ही हूँ। सबकी (गति) पोषक, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सखा उत्पत्ति प्रलय, स्थिति, निधान और अव्यय बीज मैं हूँ। मैं उष्णता देता हूँ, मैं पानी को रोकता हूँ और बरसाता हूँ, मैं नाश करता हूँ और उत्पन्न करता हूँ, अमृत और मृत्यु तथा सत् और असत् भी मैं हूँ"।[4] ईश्वर के विश्वातीत स्वरूप के सम्बन्ध में कहा गया है—'उसे न तो सूर्य, न चन्द्रमा (और) न अग्नि ही प्रका-

---

1. गीता, अ. 7-7, 11।
2. गीता, 9. 3-5।
3. गीता, 9-6-8।
4. गीता, 9, 16-19,24।

शित करते हैं। वह मेरा परम स्थान है जहाँ जाकर फिर लौटना नहीं पड़ता।[1] पुनः इसके आगे ही कहा गया है–'जीव लोक में मेरा ही सनातन अंश जीव भूत होकर प्रकृति में रहने वाली मन सहित छः अर्थात् मन और पाँच (सूक्ष्म) इन्द्रियों को (अपनी ओर) खींच लेता है। ईश्वर अर्थात् जीव जब (स्थूल) शरीर पाता है और जब वह (स्थूल) शरीर से निकल जाता है तब यह जीव इन्हें (मन और पाँच इन्द्रियों को) वैसे ही साथ ले जाता है जैसेकि (पुष्प आदि) आश्रय से गन्ध को वायु ले जाती है।[2] तदनन्तर ईश्वर को जगत् की सब क्रियाओं का अधिष्ठाता कहा गया है। उदाहरणार्थ 'मैं अपने तेज से सम्पूर्ण जगत् एवं भूतों को धारण करता हूँ और रसात्मक सोम (चन्द्रमा) होकर सब औषधियों का अर्थात् वनस्पतियों का पोषण करता हूँ। मैं वैश्वानर रूप अग्नि होकर प्राणियों की देहों में रहता हूँ तथा प्राण एवं अपान से युक्त होकर (भक्ष्य, चोष्य, लेह्य एवं पेय) चार प्रकार के अन्न को पचाता हूँ। जो तेज सूर्य, चन्द्र एवं अग्नि में है वह मेरा ही है।' 'पुनः कहा गया है'–'मैं सबके हृदय में अधिष्ठित हूँ। ज्ञान, विस्मृति एवं स्मृति मेरे अन्दर ही समाए हुए है। वेदों के द्वारा जानने योग्य मैं ही हूँ। वेदान्त का कर्त्ता और वेद जानने वाला भी मैं ही हूँ।[3] 'उपरोक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि गीता के मत में सर्वेश्वरवाद, ईश्वरवाद एवं देवत्ववाद एक ही युक्ति-संगत दार्शनिक सिद्धान्त में संयुक्त किए जा सकते हैं। ऐसे विरोधी मतों के समूहीकरण के विषय में आपत्ति करने वालों को गीता कोई उत्तर देने का प्रयत्न नहीं करती। गीता केवल इसी बात पर जोर नहीं देती कि सम्पूर्ण जगत् ईश्वर ही है अपितु यह बार-बार दोहराती है कि ईश्वर जगत् से परे है और साथ ही साथ जगत् में व्याप्त भी है। ईश्वर के स्वरूप के बारे में प्रचलित विभिन्न मतों का उत्तर जो गीता में निहित है वह यह है कि ईश्वर के पुरुषोत्तम स्वरूप का विशेषक अपनी पूर्णता में विश्वातीतवाद, अभौतिकवाद, सर्वेश्वरवाद जैसे अपने पृथक् और विरोधी लक्षणों को अपने में विलीन कर लेता है। कभी-कभी एक ही श्लोक में, और कभी-कभी उसी प्रसंग के दूसरे श्लोकों में गीता सर्वेश्वरवादी एवं ईश्वरवादी विचार प्रस्तुत करती है परन्तु यह इसी बात का सूचक है कि ईश्वर के जगत् के स्थित-कर्त्ता एवं अधिष्ठाता के रूप में, जगत् के परमतत्त्व तथा जीव भूत के रूप में, एवं जगत् के आधार स्वरूप अधिष्ठान के रूप में परस्पर विरोध नहीं है। इस बात की पुष्टि करने हेतु कि जितने भाव हैं अथवा जितने भाव सम्भव हैं एवं जो भी शुभ और अशुभ वस्तुओं में विभूतियाँ हैं वे सब ईश्वर की ही विभूतियाँ हैं, गीता निरन्तर इसी बात का उल्लेख करती रही है कि वस्तुओं के उच्चतम, श्रेष्ठतम अथवा कनिष्ठतम भाव भी ईश्वर से ही हैं अथवा ईश्वर की ही विभूतियाँ हैं। उदाहरणार्थ यह कहा गया है–'मैं छलियों में द्यूत हूँ, विजयशाली पुरुषों का विजय, तेजस्वियों का तेज, एवं सत्त्वशीलों का सत्व मैं हूँ।' तथा इस प्रकार की कई विभूतियाँ बताने के पश्चात् कृष्ण कहते हैं कि कहीं भी जो वस्तु

---

1. गीता, 15-6।
2. गीता, 15, 7-8 यह अनोखी बात है कि यहाँ जीव के रूप में 'ईश्वर' का प्रयोग किया है।
3. गीता, अ. 15-8, 12, 13, 14, 15।

वैभव, लक्ष्मी या प्रभाव से युक्त है उनको ईश्वर के तेज के अंश से ही उपजी हुई समझी जानी चाहिए।[1] ईश्वर के अन्दर ही नानारूपात्मक जगत् के समाए जाने के सिद्धान्त को (अर्थात् यथा पिंडे तथा ब्रह्मांडे के सिद्धान्त को) कृष्ण ने अर्जुन को दिव्य-चक्षु देकर तथा अपने विराट् स्वरूप को प्रत्यक्ष दिखाकर समझाया है। अर्जुन कृष्ण को उनके ज्योतिर्मय स्वरूप में देखता है। वह स्वरूप हजार सूर्यों की प्रभा एक साथ हो, ऐसी कान्ति के समान, अनेक मुख, नेत्र एवं अलंकार युक्त, आकाश एवं पृथ्वी को व्याप्त किए हुए है। उस अनादि एवं अनन्त विराट् पुरुष के मुख में कुरुक्षेत्र के सब महान योद्धा इस प्रकार घुस रहे हैं जैसे नदियों के बड़े-बड़े प्रवाह समुद्र की ओर चले जाते हैं। कृष्ण अर्जुन को अपना विश्वरूप दिखाने के पश्चात् कहते हैं—'मैं लोकों का क्षय करने वाला और बढ़ा हुआ काल हूँ। यहाँ लोकों का संहार करने में व्यस्त हूँ। कुरुक्षेत्र के इस महान् युद्ध में मरने वालों को मैंने पहले से ही मार डाला है। इस कुरुक्षेत्र के इस महाभारत के विनाश में तू निमित्त मात्र होजा। अतः तू युद्ध कर, अपने शत्रुओं का नाश कर, यश प्राप्त कर, तथा बिना इस व्यथा के कि तुमने अपने स्वजनों की हत्या कर डाली है—पृथ्वी का सार्वभौम राज्य कर।

गीता का ईश्वर के बारे में यह दृष्टिकोण प्रतीत होता है कि अन्ततोगत्वा शुभाशुभ के लिए किसी का उत्तरदायित्व नहीं है अपितु शुभ एवं अशुभ, ऊँच एवं नीच, बड़े और छोटे सब ईश्वर से ही उत्पन्न हुए हैं तथा वही उनका धाता है। जब मनुष्य अपनी आत्मा के स्वरूप, यथार्थता तथा कर्तृत्व को एवं ईश्वर को विश्वातीत एवं विश्वजनीन प्रकृति, तथा सांसारिक वासनाओं में बन्धन के हेतु आसक्ति के तीन गुणों को जान लेता है तब वह तत्त्वदर्शी कहलाता है। ज्ञानयोग एवं कर्मयोग पृथक् नहीं हैं क्योंकि यथार्थ ज्ञान कर्म योग की पुष्टि करता है तथा उससे पुष्ट होता है। अर्थात् दोनों अन्योन्याश्रित है। ज्ञानयोग की प्रशंसा गीता के कई श्लोकों में की गई है। उदाहरणार्थ कहा गया है कि जैसे अग्नि समिधा को जला देती है ठीक उसी प्रकार ज्ञानाग्नि कर्मों को भस्म कर देती है। ज्ञान के सदृश कोई पवित्र वस्तु नहीं है। ईश्वर में श्रद्धा रखने वाले एवं संयतेन्द्रिय को ज्ञान की उपलब्धि होती है एवं उसे प्राप्त करने के पश्चात् वह परम शान्ति प्राप्त करता है। अज्ञ, अश्रद्धावान् एवं संशयात्मा का नाश हो जाता है। संशयग्रस्त को न यह लोक है, न परलोक एवं सुख भी नहीं है। सब पापियों से यदि अधिक पाप करने वाला हो तो भी (उस) ज्ञान नौका से सब पापों के समुद्र को पार कर सकता है।[2] गीता में (4-42) कृष्ण अर्जुन से कहते हैं 'इसलिए अपने हृदय में अज्ञान से उत्पन्न हुए संशय को ज्ञानरूपी तलवार से काटकर योग का आश्रय कर। (और) हे भारत ! (युद्ध के लिए) खड़ा हो।' परन्तु यह ज्ञान क्या है ? गीता में (4.35) उसी प्रसंग में ज्ञान का स्वरूप वर्णन करते हुए कहा गया है कि उस ज्ञान योग से (मनुष्य) समस्त प्राणियों को अपने में अथवा ईश्वर में देखता है। ईश्वर का यथार्थ ज्ञान सब कर्मों को इस अर्थ में भस्म कर

---

1. गीता—10, 36-41।
2. गीता 4—37—41।

देता है कि जिसने ईश्वरानुभूति सब प्राणियों में कर ली है वह निर्बुद्धि की तरह आसक्ति एवं वासनाओं के वशीभूत नहीं होता। एक अन्य श्लोक कहा जा चुका है कि सांसारिक अश्वत्थ वृक्ष की अधोमूल को (वासनाओं के रूप में) असंग शस्त्र से काटा जाना चाहिए। गीता में (3.1 एवं 2) कर्म एवं ज्ञान की श्रेष्ठता के बारे में अर्जुन की शंका पूर्णतया निराधार है। गीता में (3–3) कृष्ण ने ज्ञानयोग और कर्मयोग इन दो निष्ठाओं का उल्लेख किया है। इस शंका का मूल यह था कि कृष्ण ने आत्मा के अमरत्व तथा सकाम वैदिक कर्मों की अवांछनीयता के बारे में एवं अर्जुन को अनासक्त रहकर युद्ध करने के लिए तथा क्षत्रिय धर्म का पालन करने को कहा था। गीता का उद्देश्य ज्ञानयोग एवं कर्मयोग में समन्वय लाकर यह बताने का था कि ज्ञानयोग के द्वारा आसक्ति वन्धन की मुक्ति प्राप्ति तथा उससे कर्मयोग की उपलब्धि होती है। क्योंकि अज्ञान हा सब प्रकार की आसक्ति का मूल कारण है। अज्ञान यथार्थ ज्ञान द्वारा दूर होता है। परन्तु ईश्वर के बारे में यथार्थ ज्ञान के दो स्वरूप हैं—विभु एवं प्रभु अर्थात् ब्रह्म एवं ईश्वर। एक तो ईश्वर का ज्ञान समस्त प्रतीति एवं दृश्य जगत् के स्रोत एवं चरम सत्ता के रूप में निर्गुण ब्रह्म के रूप मे किया जाता है। ईश्वर की पुरुषोत्तम स्वरूप में, घनिष्ठता, सखाभाव, एवं दास्य भाव से आराधना करने का एक अन्य मार्ग अर्थात् भक्ति मार्ग भी है। गीता के विचार में उपरोक्त दोनों मार्गों का अनुसरण करने से हमें परम तत्त्व की उपलब्धि हो सकती है। परन्तु गीता ने सगुण ईश्वर की उपासना को सहज तथा श्रेष्ठतर माना है। गीता में (12–3–5) कहा गया है कि जो अनिर्देश्य अर्थात् प्रत्यक्ष न दिखाई पड़ने वाले अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, और कूटस्थ अर्थात् सबके मूल में रहने वाले अचल और नित्य अक्षर अर्थात् ब्रह्म की उपासना सब इन्द्रियों को रोककर सर्वत्र सम बुद्धि रखते हुए करते हैं वे सब भूतों के हित में निमग्न (लोग भी) ईश्वर को ही पाते हैं। उनके चित्त को अव्यक्त में आसक्त रहने के कारण उपासना का मार्ग कष्ट से सिद्ध होता है। परन्तु जो सब कर्मों को ईश्वरार्पण करके उसमें परायण होकर अनन्य योग से उसका ध्यान कर उसे भजते हैं, उनका इस मृत्युमय संसारसागर में बिना विलम्ब के उद्धार कर देता है।[1]

गीता और उपनिषदों में सबसे महत्त्वपूर्ण अंतर यह है कि गीता के अनुसार परम तत्त्व की प्राप्ति का उत्कृष्ट साधन सर्वकर्मसमर्पण, प्रियतम एवं निकटतम भाव से उसकी अनन्य भक्ति, तथा योगारूढ़ होना है। गीता ने उपनिषदों में से कई सिद्धान्त आदरपूर्वक लिए हैं। इसने अव्यक्त ब्रह्म को ईश्वर का तत्त्व माना है और यह भी स्वीकार किया है कि अव्यक्त ब्रह्म को आदर्श मानकर उसकी उपासना करने वाले भी परम गति को प्राप्त करते हैं। परन्तु यह तो केवल समझौतामात्र है क्योंकि गीता का विशेष बल इस बात पर है कि हमें ईश्वर को सगुण समझ कर उसके साथ व्यक्तिगत संबंध स्थापित करने चाहिएँ। ईश्वर-साहचर्य अर्थात् भक्ति-योग का प्रारम्भ सर्वकर्मफल-ईश्वरार्पण, सर्वभूतमैत्री एवं करुणा, यतात्मा, सुख-दुःख में सम, संतुष्ट एवं पूर्ण समत्व-योग एवं स्थितप्रज्ञ की अवस्था द्वारा होता है। उपर्युक्त साधनों के फलस्वरूप नैतिक उत्थान द्वारा मनुष्य अपना

1. गीता, 12–6–7।

चित्त ईश्वर में स्थिर करने एवं समाधिस्थ करने में समर्थ होता है। गीता में ईश्वर रूप में कृष्ण अर्जुन को सब धर्मों को (अर्थात् सब कर्म-कांड विधिनिषेध यज्ञयागादि) त्याग कर ईश्वर के ही शरण में जाने का आदेश देते हैं। साथ ही साथ वह यह भी घोषणा करते हैं कि उनकी शरण में जाने से वह मुक्ति प्राप्त कर लेगा।[1] आगे चलकर यह कहा गया है कि भक्ति के द्वारा ही मनुष्य जान सकता है कि 'ईश्वर क्या है और कितना है' अर्थात् उसकी प्रभुता एवं विभुता क्या है ? तदनन्तर वह उसी में प्रवेश करता है। ईश्वर की ही सर्व भाव से शरण में जाने से मनुष्य को शाश्वत स्थान की प्राप्ति हो जाती है।[2]

परन्तु यद्यपि ईश्वर में चित्त को स्थिर करने की उच्च स्थिति को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को प्रथमतः विषय-वासनाओं के बन्धन से मुक्त होने की क्षमता प्राप्त करनी चाहिए तो भी कभी-कभी स्थिति उल्टी भी की जा सकती है। गीता की मान्यता है कि जो ईश्वर में मन जमा कर तथा प्राणों को लगाकर परस्पर बोध करते हुए ईश्वर की कथा कहते हुए (उसी में) सदा सन्तुष्ट और रममाण रहते हुए सदैव युक्त होकर उसे प्रीतिपूर्वक भजते हैं, उनको वह बुद्धियोग देते हैं जिसके द्वारा वे उसे पा लें तथा उन पर अनुग्रह करने के लिए ही वह उनके आत्मभाव अर्थात् अन्तःकरण में पैठकर तेजस्वी ज्ञान-दीप से (उनके) अज्ञान-मूलक अन्धकार का नाश करता है।[3] गीता में (18–57–58) कृष्ण ने ईश्वर के रूप में अर्जुन को मन से सब कर्मों को ईश्वर में 'संन्यस्त' अर्थात् समर्पित करके तत् परायण होकर बुद्धियोग के आश्रय से हमेशा उसी में चित्त रखने को कहते हैं। उसमें चित्त रखने पर वह ईश्वर के अनुग्रह से सारे संकटों को अर्थात् शुभाशुभ फलों को पार कर जाएगा। आगे चलकर कहा गया है कि मनुष्य चाहे बड़ा दुराचारी हो क्यों न हो, यदि वह ईश्वर को अनन्य भाव से भजता है तो उसे बड़ा साधु ही समझना चाहिएँ, क्योंकि उसकी बुद्धि का निश्चय अच्छा रहता है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और नित्य शान्ति पाता है। ईश्वर का आश्रय करके स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र अथवा अन्त्यज आदि पापयोनि के लोग भी परम गति पाते हैं। भगवान् श्री कृष्ण अर्जुन को यह विश्वास दिलाते हैं कि ईश्वर के भक्त का कभी भी नाश नहीं होता।[4] यदि मनुष्य का ईश्वर में लगाव हो तो चाहे वह उसे सही प्रकार से समझा भी न हो, चाहे उसने उसे प्राप्त करने हेतु सही रास्ते को भी न अपनाया हो, फिर भी ईश्वर अपनी ओर आने के किसी भी पथ को स्वीकार करता है। कोई भी पथ व्यर्थ नहीं जाता। चाहे किसी भी ओर से हो, मनुष्य ईश्वर के ही मार्ग में आ मिलता है।[5] यदि मनुष्य अपनी-अपनी प्रकृति के नियमानुसार, भिन्न-भिन्न वासनाओं से प्रेरित होकर दूसरे देवताओं को भजता रहता है; वह जिस रूप की अर्थात् देवता की श्रद्धा से उपासना करना चाहता है उसकी उसी श्रद्धा को ईश्वर स्थिर कर देता है। फिर उस श्रद्धा से युक्त होकर वह उस देवता की आराधना करने

---

1. गीता, 18–66।
2. गीता, 18–55–62।
3. गीता, 10, 9-11।
4. गीता, 9, 30–32।
5. गीता, 4.11।

लगता है एवं उसको ईश्वर द्वारा निर्मित फल मिलते हैं।[1] ईश्वर सबका स्वामी एवं मित्र है। महान् आत्मा वाला व्यक्ति ही चित्त को पूर्णतया स्थिर करके ईश्वर की पूजा करता है एवं अटल-भक्ति के साथ ईश्वर का नाम-संकीर्तन करता है तथा सदैव ईश्वरसंस्थ रहता हुआ उसकी भक्ति के साथ पूजा करता है। जो अविच्छेद्य आसक्ति द्वारा सदैव ईश्वर का चिन्तन करते हैं, वह उन्हें सुलभ है।[2] आगे चलकर (7–16, 17) कहा गया है कि चार प्रकार के लोग ईश्वर को भजते हैं—जिज्ञासु, आर्त, अर्थार्थी एवं ज्ञानी। इनमें एक भक्ति अर्थात् अनन्य भाव से ईश्वर की भक्ति करने वाले और सदैव युक्त यानी निष्काम बुद्धि से बर्तने वाले ज्ञानी की योग्यता विशेष है। ज्ञानी को ईश्वर अत्यन्त प्रिय है और ईश्वर को ज्ञानी अत्यन्त प्रिय है। इस श्लोक में यह कहा गया है कि नित्ययुक्त एवं एक भक्ति में रहने का अभ्यास ही यथार्थ ज्ञान है। गीता में भक्ति-मार्ग को श्रेष्ठतम बताया गया है। क्योंकि गीता के मत में चाहे कोई मनुष्य आत्मोत्सर्ग के पथ में अग्रसर एवं राग-द्वेष से विमुक्त होकर स्थितप्रज्ञ होने में असमर्थ ही क्यों न हो, फिर भी वह शरणागति एवं निश्चल भक्ति द्वारा उसके अनुग्रह को प्राप्त कर सकता है एवं उसकी कृपा से ही यथार्थ ज्ञान एवं नैतिक उत्थान को आसानी से प्राप्त कर लेता है जो अन्य लोग अत्यन्त कठिनाई से प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार गीता में पहली बार ज्ञान-मार्ग एवं उपनिषद्-ज्ञान तथा योग (कर्मयोग) के साथ-साथ स्वतंत्र रूप से भक्ति-मार्ग का प्रतिपादन किया गया है। वस्तुतः किसी भी प्रकार की यथार्थ स्वानुभूति के पहले नैतिक उत्थान, आत्मनिग्रह आदि अत्यन्त आवश्यक हैं परन्तु भक्ति-मार्ग की श्रेष्ठता इसी में है कि साधक को आत्मनिग्रह एवं त्याग-पूर्वक स्वानुशासन के पक्ष में सतत प्रयत्न अथवा तात्त्विक ज्ञान द्वारा अत्यन्त कठिन परिश्रम करना पड़ता है जबकि पूर्ण रूप से अपने आपको ईश्वरार्पण करने के कारण न कि दूसरे मार्गों में अधिकाधिक क्रियाशील एवं अधिक सम्पन्न होने के कारण, भक्त आसानी से उच्च स्थिति में आरूढ़ हो जाता है। ऐसे नित्ययुक्त एवं ऐकान्तिक भक्तों से प्रसन्न होकर ईश्वर उन्हें ज्ञान प्रदान करते हैं फलतः वे आनन्द, स्वानुभूति तथा आत्मोत्थान की उत्तरोत्तर उच्च स्थिति की ओर अग्रसर होते हैं। पृथ्वी पर ईश्वर के अवतार कृष्ण के साथ अर्जुन ने अपने मित्र का-सा बर्ताव किया एवं भगवान् कृष्ण ने केवल अपनी शरण में जाने को कहा तथा यह विश्वास भी दिलाया कि वह उसे मुक्ति प्रदान करेंगे। सब कुछ छोड़कर केवल उन्हें ही एकमात्र आश्रय समझने तथा उनकी ही शरण में जाने को उन्होंने कहा। भक्ति के सिद्धान्त की विशद व्याख्या करने वाले तथा भक्ति को आत्मोत्थान एवं स्वानुभूति का प्रधान मार्ग बताने वाले भागवत पुराण तथा वैष्णव विचारधारा के अर्वाचीन सिद्धान्तों में वर्णित मुख्य सिद्धान्तों को गीता प्रस्तुत करती है।

गीता के भक्ति-मार्ग से सिद्धान्त का एक अन्य महत्त्वपूर्ण लक्ष्य यह है कि एक ओर तो भक्त ईश्वर के स्वरूप को इस सम्पूर्ण चराचर जगत् का धाता एवं अधिष्ठान के रूप में देखता है दूसरी ओर ईश्वर के विश्वातीत व्यक्तित्व में आध्यात्मिक महत्ता की चरमावस्था एवं सम्पूर्ण आपेक्षिक भेदों के, ऊँच-नीच के तथा शुभाशुभ के समन्वय के रूप में

---

1. गीता, 7, 20–22।
2. 4.13 गीता 15 ; 5.29 ; 7.14।

ही नहीं अपितु आराध्य सगुण महान् देव के रूप में देखता है जिसकी पूजा मानसिक एवं आध्यात्मिक रीति से ही नहीं बल्कि बाह्य रीति से भी भक्त पत्रों एवं पुष्पों के पवित्र समर्पण अथवा भेंट द्वारा करते हैं। विश्वातीत ईश्वर विश्व के अन्दर ही व्याप्त नहीं, अपितु आभा से देदीप्यमान महान् देव के रूप में अथवा ईश्वर के अवतार कृष्ण के सगुण रूप में भक्त के समक्ष उपस्थित है। गीता ईश्वर के विभिन्न सिद्धान्तों को उनमें निहित विरोधी अथवा पारस्परिक विरोधों में समन्वय की आवश्यकता का अनुभव किए बिना ही आपस में मिला देती है। ईश्वर के अव्यक्त एवं भेद-रहित स्वरूप को उसके मानव रूप में पृथ्वी पर अवतरित होने वाले तथा उसी प्रकार से व्यवहार करने वाले उसके पुरुषोत्तम स्वरूप से मिलाने की कठिनाई से गीता अनभिज्ञ प्रतीत होती है। गीता को इस कठिनाई का पता नहीं है कि यदि ईश्वर से ही सब शुभाशुभ उत्पन्न हुए हैं, एवं किसी का नैतिक उत्तरदायित्व नहीं है, तथा जगत् में प्रत्येक वस्तु का समान रूप से ईश्वर में स्थान है तो वैदिक धर्म की ग्लानि होने पर ईश्वर का मानव-रूप में पृथ्वी पर अवतरित होने का कोई कारण नहीं है। यदि ईश्वर सबके प्रति निष्पक्ष एवं पूर्णतया अक्षोभ्य है तो किस कारण से वह अपने शरणागत का पक्ष करता है एवं क्यों उसके लिए कर्मवाद को तोड़कर जगत् के घटना क्रम का अतिक्रमण करता है। केवल निरन्तर प्रयत्न एवं अभ्यास से कर्म-बन्धन कट सकते हैं। बिना किसी प्रकार के प्रयत्न करने पर भी उस दुष्ट मनुष्य के लिए ईश्वर की शरण में जाकर अपने कर्म एवं आसक्ति के बन्धन तोड़ने में इतनी आसानी क्यों होनी चाहिए? गीता में ईश्वर के जटिल पुरुषोत्तम-स्वरूप के विषम भागों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया गया है। किस प्रकार जगत् का अधिष्ठान, अव्यक्त, ब्रह्म प्रकृति गुणों के उत्पादक एवं जीवों के रूप में संयुक्त व्यक्तित्व बनने हेतु एक साथ युक्त एवं विलीन किए जा सकते हैं। यदि अव्यक्त प्रकृति ईश्वर का परम धाम है तो इस परमतत्त्व का स्वरूप नहीं माने-जाने वाले सगुण ईश्वर को किस प्रकार विश्वातीत कहा जा सकता है। सगुण ईश्वर एवं जीव तथा गुणों की उसकी भिन्न प्रकृति में किस प्रकार से सम्बन्ध स्थापित हो सकता है। शांकर दर्शन में ब्रह्मन् को सत्य तथा ईश्वर एवं नानात्व को भ्रम के सिद्धान्त माया में प्रतिबिंबित ब्रह्मन् के विचार से उत्पन्न असत्य और भ्रमात्मक मान-कर ब्रह्म एवं ईश्वर, एक और अनेक को एक ही योजना में आपस में मिला दिया गया है। परन्तु चाहे शंकराचार्य गीता पर भाष्य कैसा ही क्यों न लिखें, यह नहीं कहा जा सकता कि गीता में किंचित् मात्र भी ईश्वर अथवा जगत् को भ्रमात्मक माना गया है अथवा नहीं। उपनिषदों में भी कभी-कभी ब्रह्म अथवा ईश्वर विचार के साथ-साथ मिलते हैं। गीता में ईश्वर को भ्रमात्मक नहीं समझकर उसे परमतत्त्व समझा गया है। इस प्रकार परम तत्त्व के विभाग-दो अव्यक्त, प्रकृति, जीव एवं उनमें व्याप्त तथा अतीत ईश्वर के पुरुषोत्तम स्वरूप से बच निकलने का मार्ग नहीं है। ब्रह्म, जीव, जगत् का उत्पादक अव्यक्त तत्त्व एवं त्रिगुण, उपनिषदों के असंबंधित स्थलों में पाए जाते हैं। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि गीता में उपरोक्त सब तत्त्व एक साथ ईश्वर के तत्त्व माने गए हैं, एवं जो उसके पुरुषोत्तम स्वरूप में धारण भी किए जाते हैं जिससे वह उन्हें नियन्त्रित करता है तथा उनसे परे चला जाता है। उपनिषदों में भक्ति का सिद्धान्त नहीं मिलता यद्यपि यत्र-तत्र कुछ अस्पष्ट संकेत अवश्य दिखाई देते हैं। उपनिषदों में ईश्वर का प्रसंग उसे अन्तर्यामी एवं संसार के धाता के रूप में उसकी महान् विभूति, शक्ति एवं दिव्यत्व बताने

के लिए हैं। परन्तु गीता में गहरे व्यक्तिगत सम्बन्ध की अध्यात्म चेतना वाले जिस ईश्वर का वर्णन है वह ईश्वर केवल विभूतिमान् पुरुषोत्तम ही नहीं बल्कि मित्र के रूप में जो मानव-हित हेतु अवतरित होता है, उसके सुख-दुःख का साथी है एवं जिसका आश्रय संकट के समय मनुष्य ले सकता है और लौकिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए भी जिसको प्रार्थना की जा सकती है। वह महान् गुरु है जिसके साथ ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करने के लिए सम्बन्ध स्थापित किए जा सकते हैं। परन्तु वह इससे भी अधिक है। वह प्रियों में प्रियतम एवं निकटस्थों में निकटतम है तथा उसका अनुभव इतना घनिष्ठ है कि मानव केवल उसके प्रति प्रेमोल्लासमात्र के कारण जीवित रह सके। उसे प्रिय सखा एवं परमतत्त्व समझकर वह उसकी शरण में जाकर सब कुछ उस पर छोड़ सकता है। ईश्वर में अगाध प्रेम के कारण वह अपने अन्य यज्ञ-यागादि कर्मों को आपेक्षिक रूप से कम महत्त्वपूर्ण समझता है। इस प्रकार वह सतत रूप से ईश्वर की कथा, उसके विचार एवं उसमें ही संलग्न रहता है। यह भक्ति-मार्ग है तथा गीता यह आश्वासन देती है कि कितनी ही बाधाओं एवं कठिनाइयों के होने पर भी ईश्वर के भक्त का कभी नाश नहीं होता। इसी अध्यात्म चेतना के दृष्टिकोण से गीता तात्त्विक दृष्टि से विषम प्रतीत होने वाले तत्त्वों में समन्वय स्थापित करती है। सम्भवतः गीता उस वक्त लिखी गई थी जब दार्शनिक दृष्टिकोण निश्चित रूप से सुदृढ़ दर्शनों के सिद्धान्तों में विभाजित नहीं हुए थे तथा जब विभिन्न दार्शनिक बारीकियों, पांडित्यपूर्ण विवेचनाओं एवं तार्किक आदेशों का व्यवहार में चलन नहीं था। अतः गीता को उचित योजनाबद्ध दर्शन के रूप में नहीं अपितु आत्म-समर्पण, भक्ति, सख्यभाव, दास्यभाव में ईश्वर के साक्षात्कार करने के बारे में वस्तुओं के सम्यक् स्वरूप एवं सदाचरण-प्रबन्ध के रूप में देखना चाहिए।

विष्णु, वासुदेव एवं कृष्ण

भारतीय धार्मिक साहित्य में विष्णु, भगवत्, नारायण, हरि एवं कृष्ण प्रायः महेश्वर के पर्यायवाची नाम समझे जाते हैं। इनमें विष्णु ऋग्वेद का मुख्य देवता है और वही (बारह) आदित्यों में एक आदित्य है जो प्रकाश में तीन डग पूर्वीय क्षितिज में उदय होने के, मध्यान्ह के, तथा पश्चिम में अस्त होने के भरता है। उसका ऋग्वेद में महान् योद्धा एवं इन्द्र के मित्र के रूप में उल्लेख है। आगे चलकर (उसी प्रसंग में) यह भी कहा गया है कि उसके दो चरणों में तो पृथ्वी समाई हुई है और एक उसका उच्च पद है जिसका ज्ञाता केवल वही है। परन्तु ऋग्वेद में विष्णु का पद इन्द्र से नीचा है जिसके साथ प्रायः उसका साहचर्य है जैसाकि इन्द्र, विष्णु आदि नाम से स्पष्ट है (ऋग्वेद 4.55,7,99.5,8.1.3 आदि) अर्वाचीन परम्परा के अनुसार बारहवां आदित्य विष्णु कनिष्ठतम था यद्यपि वह शुभ गुणों में श्रेष्ठतम था।[1] ऋग्वेदीय प्रसंग में उसके तीन पद निरुक्त में वर्णित है जिसका प्रसंग प्रातः मध्याह्न एवं सायं के सूर्य को उन्नति के तीन स्तरों से सम्बन्धित है। ऋग्वेद में विष्णु का एक नाम शिपिविष्ट है जिसकी व्याख्या दुर्गाचार्य

---

1. एकादशस्तथा त्वष्टा द्वादशो विष्णुरुच्यते।
   जघन्यजस्तु सर्वेषाम् आदित्यानां गुणाधिकः,
   —महाभारत 1.65.16 कलकत्ता बंगवासी प्रेस द्वितीय संस्करण, 1908।

ने उषाकाल की किरणों से आविष्ट कहकर की है (शिपि संज्ञैबाल रश्मिभिराविष्ट)।[1] आगे चलकर ऋषि ऋग्वेद में विष्णु की इस प्रकार प्रशंसा करते हैं—मंत्रों का द्रष्टा एवं पवित्र परम्परा का ज्ञाता मैं आज आपके शुभ नाम शिपिविष्ट की प्रशंसा करता हूँ। मैं निर्बल हूँ तथा आपका यशोगान करता हूँ, आप सबल हैं एवं विश्वातीत हैं।[2] उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि विष्णु को आदित्य अथवा आदित्य के गुणों से युक्त माना गया था। विष्णु को जगदतीत समझने से इस बात का संकेत मिलता है कि उसकी श्रेष्ठता में क्रमशः वृद्धि होती गई। बाद की अवस्था को जानने के लिए शतपथ ब्राह्मण की ओर दृष्टिपात करना चाहिए। उस ग्रंथ के 1.2.4 में कहा गया है कि असुर एवं देव प्रतिस्पर्धा कर रहे थे; देव हार रहे थे एवं दैत्य आपस में भूमि का बँटवारा करने में लगे हुए थे। देवों ने यज्ञ स्वरूप विष्णु को अपना नेता बनाकर उनका पीछा किया, (ते यज्ञां एवं विष्णुं पुरस्कृत्येयु) 'एवं अपने हिस्से प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की। दैत्यों को ईर्ष्या हुई और उन्होंने कहा कि वे इतनी ही भूमि दे सकते हैं जितनी कि वामन रूप विष्णु द्वारा शयन करते समय हस्तगत की गई हो (वामनोह विष्णुः आस)। इस पर देवता सन्तुष्ट नहीं हुए एवं वे कई मन्त्रों के साथ उपस्थित हुए जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने सम्पूर्ण विश्व को प्राप्त कर लिया। फिर उसी ग्रन्थ के 4.1 में कुरुक्षेत्र को देवताओं की यज्ञ-भूमि कहा गया है और वहाँ कहा गया है कि उद्योग तप, श्रद्धा आदि में विष्णु को सब देवताओं से श्रेष्ठ एवं सबसे श्रेष्ठतम (तस्माद आहुः विष्णुः देवानां श्रेष्ठः) कहा गया है और वह स्वयं ही यज्ञ स्वरूप थे। आगे चलकर तैत्तिरीय संहिता 1.7.5.4 में, वाजसनेयी-संहिता 1.30,2.6.8,5.21 में अथर्व-वेद 5.26.7,8.5.10 आदि में विष्णु को देवताओं का मुखिया कहा गया है (विष्णुंमुखा देवा)। पुनः यज्ञस्वरूप विष्णु ने अपरिमित यश प्राप्त किया। एक बार विष्णु धनुष के छोर को अपने सिर के नीचे रखकर सो रहे थे। उसे देखकर कुछ चीटियों ने कहा—'यदि हम धनुष की प्रत्यञ्चा काट दें तो हमें क्या इनाम मिलेगा ?' देवताओं ने कहा कि उन्हें भोजन मिलेगा अतः चींटियों ने प्रत्यञ्चा काट दी और ज्योंही धनुष के दोनों छोर टूटकर अलग हुए त्योंही विष्णु का सिर अपने शरीर से कटकर अलग हो गया एवं आदित्य हो गया।[3] यह कथा सूर्य के साथ विष्णु का सम्बन्ध ही नहीं बताती अपितु यह भी स्थापित करती है कि धनुर्धारी के तीर द्वारा कृष्ण के मारे जाने के उपाख्यान का उद्गम स्थान उसके धनुष के उड़ते हुए छोरों से विष्णु का मारा जाना है। जिस प्रकार सूर्य का स्थान सर्वोच्च माना जाता है उसी प्रकार विष्णु पद भी सर्वोच्च समझा जाता है। संभवतः सर्वोच्च स्थान को विष्णुपद समझने के फलस्वरूप बुद्धिमान् लोगों ने यह स्पष्ट रूप से समझ लिया कि सर्वातीत विष्णु का पद सर्वोच्च है। उदाहरणार्थ ब्राह्मणों के दैनिक प्रार्थनामंत्रों अर्थात् 'संध्या' के प्रारम्भ में कहा गया है कि बुद्धिमान् मनुष्य विष्णु के परम पद को आकाश में खुले हुए चक्षु की तरह देखते

---

1. निरुक्त, 5.9 बम्बई, संस्करण 1918।
2. ऋग्वेद 7.100 डॉ. डा. ला. सरूप द्वारा अनूदित—निरुक्त में वर्णित 5-8।
3. शतपथ ब्राह्मण, 14.1।

हैं।[1] वैष्णव शब्द का प्रयोग वाजसनेयी संहिता 5.21,23,25, तैत्तिरीय संहिता 5.6.9. 2.3, ऐतेरेय ब्राह्मण 3.38 शतपथ ब्राह्मण अ. 1.1.4.9.3 अ. 5.3.2 इत्यादि में 'विष्णु का' के शाब्दिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। परन्तु उपरोक्त शब्द का प्रयोग धर्म के सम्प्रदाय के अर्थ में पूर्वतर साहित्य में कहीं नहीं पाया जाता। गीता एवं पूर्वतर उपनिषदों में भी उपरोक्त शब्द का प्रयोग नहीं मिलता, यह तो केवल महाभारत के उत्तरवर्ती भागों में प्राप्त है।

आगे चलकर यह सर्वविदित है कि ऋग्वेद 10.9 के पुरुष-सूक्त में 'पुरुष' की बहुत प्रशंसा की गई है जिसमें कहा गया है कि भूत एवं भविष्य, जो हम देखते हैं वह पुरुष है एवं सब कुछ उससे ही उत्पन्न हुआ है; देवताओं ने ऋतुओं की आहुतियों से यज्ञ किया तथा उस यज्ञ से प्रथमतः पुरुप का जन्म हुआ; तदनन्तर देवताओं एवं चराचर प्राणियों का जन्म हुआ; विभिन्न जातियों की उत्पत्ति उससे हुई; आकाश, स्वर्ग एवं पृथ्वी उससे ही उत्पन्न हुए; वह सबका कर्त्ता एवं धाता है; उसके ज्ञान से अमरत्व की प्राप्ति होती है; मुक्ति का कोई अन्य मार्ग नहीं है। यह आश्चर्यजनक है कि पुरुष के समानार्थक नारायण (व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ नर–फक् मानव जाति में पैदा हुआ) शब्द का प्रयोग परम पुरुष के अर्थ में भी हुआ है जिसको पुरुष एवं विष्णु के समानार्थ लिया गया है। शतपथ ब्राह्मण 14.34 में पुरुष एवं नारायण को एक ही माना गया है (पुरुषं ह नारायणं प्रजापतिः उवाच)। आगे चलकर शतपथ ब्राह्मण 13.6.1 में पुरुष सूक्त के सिद्धान्त का और विस्तार हुआ है और यह बताया गया है कि पुरुष नारायण ने पंचरात्र यज्ञ किया (पंचरात्रं यज्ञ-ऋतुम्) एवं उसके द्वारा विश्वातीत होकर 'सर्वमेव' हो गया। इस पंचरात्र यज्ञ में पुरुष का (आध्यात्मिक) यज्ञ निहित है (पुरुष मेधो यज्ञ ऋतुर्भवति 13.6.7)। पंचविध यज्ञ, पंचविध पशु, पंचविध ऋतुवर्ष एवं पंचविध अध्यात्म पंचरात्र यज्ञों द्वारा प्राप्त किए जा सकते हैं। यज्ञ को पाँच दिन तक चालू रखा जाता एवं अलङ्कारमय चिन्तन के वैदिक अभ्यास द्वारा यज्ञ के प्रत्येक दिवस को विभिन्न प्रकार के अभीष्ट पदार्थों से सम्बद्ध कर दिया जाता, ताकि पंच दिवस यज्ञ से कई पंचविध वस्तुओं की उपलब्धि मान्य हो जाती। पंचविध अध्यात्म के प्रसंग ने शीघ्र अर्चा, अन्तर्यामिन् विभाव, व्यूह एवं पर ईश्वर के विभिन्न प्रकार के स्वरूप की पंचरात्र नीति को जन्म दिया। यह सिद्धान्त उत्तरवर्ती पंचरात्र शास्त्रों में जैसे अहिर्बुध्न्य संहिता (1.1) इत्यादि में पाया जाता है जहाँ ईश्वर का वर्णन अपने व्यूह-स्वरूपों के साथ-साथ परम स्वरूप में भी किया गया है। इस प्रकार पुरुष एवं नारायण को एक ही बताया गया है जो पुरुष-मेध द्वारा जगद्रूप हो गया। पाणिनि (4.199) के अनुसार, यहाँ नारायण की शाब्दिक परिभाषा 'जो नर में अवतरित हुआ है' प्रत्येक स्थल पर मान्य नहीं है। उदाहरणार्थ मनु 1.10 के अनुसार 'नारायण' की उत्पत्ति नर अर्थात् 'जल' से हुई; एवं अयन का अर्थ 'घर' है तथा 'नार' (जल) वह है जो 'नर अथवा परम पुरुष से अवतरित हुआ है।[2] महाभारत 3 12.952 एवं

---

1. तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूर्यः दिवीवा चक्षुः आततम्। दैनिक सान्ध्या के प्रार्थना मंत्र का आचमन मंत्र।
2. आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
   ता यद् अस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः। —मनु. 1.10।

15,819 तथा 12.13.168 को मनु का अर्थ मान्य है परन्तु 5.2568 में कहा गया है कि परमेश्वर को नारायण इसलिए कहा गया है कि वह मनुष्यों का शरण्य भी है।[1] तैत्तिरीय आरण्यक 10.1.6 में नारायण वासुदेव एवं विष्णु को एक ही समझा गया है।[2] इस प्रसंग में यह कहना अनुचित नहीं होगा कि आत्मा को परम तत्त्व मानने का औपनिषदिक सिद्धान्त भी सम्भवतः नर को नारायण मानने के सिद्धान्तों का ही विकास है। महाभारत में नर एवं नारायण परमेश्वर के स्वरूप में बताए गए हैं। उदाहरणार्थ कहा गया है कि 'केवल निरुक्तों की ही सहायता से चतुर्मुख ब्रह्मा ने करबद्ध होकर रुद्र को कहा, 'त्रिलोकों का शुभ हो। हे जगत्पिता ! आप अपने शस्त्रों को जगत् को लाभ पहुँचाने की इच्छा से फेंक दें। जो अविनाशी, अविकारी परम, जगत् का सनातन बीज, एकरस, परमकर्त्ता, द्वन्द्वातीत एवं निष्क्रिय में व्यक्त होने की इच्छा से अनुग्रह-हेतु इस आनन्द-स्वरूप को धारण किया है। क्योंकि यद्यपि नर एवं नारायण दो स्वरूप प्रतीत होते हुए भी एक ही हैं। नर एवं नारायण (परम ब्रह्म के व्यक्त स्वरूप) धर्म के वंश में अवतरित हुए हैं। सब देवताओं में अग्रगण्य यह दोनों उच्चतम व्रतों के पालन-कर्त्ता एवं कठिनतम तपों से संलग्न है। हम दोनों अज्ञात कारणों से एवं उसके (ईश्वर के) सनातन अनुग्रह के गुण से उत्पन्न हुए हैं। क्योंकि यद्यपि आपका अस्तित्व अनादि काल से है तथापि आप भी उनके तामसिक अहंकार से उत्पन्न हुए हैं। अतएव आप मेरे एवं सब देवताओं तथा महान् ऋषियों के साथ इस ब्रह्म के व्यक्त स्वरूप की पूजा करें ताकि अविलंब तीनों लोकों में शान्ति का साम्राज्य हो।[3] अनुवर्त्ती अध्याय में (अर्थात् महाभारत शान्ति पर्व, 343) नर एवं नारायण उच्च व्रतों का पालन करते हुए, आत्म-निर्भर तथा सूर्य से भी अधिक शक्तिमान् तपोभ्यास में संलग्न दो अग्रगण्य ऋषि एवं दो प्राचीन देवता बताए गए हैं।

भगवत् शब्द का परम सुख के अर्थ में प्रयोग अत्यन्त प्राचीन है तथा उसका प्रयोग ऋग्वेद 1.164.40,8.41.4.10.60.12 में तथा अथर्ववेद 2.10.2 और 5.31.2 आदि में हुआ है। परन्तु महाभारत एवं अन्य इसी प्रकार के साहित्य मे इसका अर्थ विष्णु अथवा वासुदेव समझा जाने लगा एवं भागवत् शब्द का तात्पर्य उस धार्मिक सम्प्रदाय से था जिसमें विष्णु को नारायण एवं वासुदेव को परम देवता समझा गया है। पाली विधि-ग्रन्थ निद्देश में विभिन्न अन्ध-विश्वासी धार्मिक सम्प्रदायों का प्रसंग है जिनमें वासुदेव

जल को नार कहा जाता है। जल को मनुष्य ने उत्पन्न किया एवं चूंकि उसने प्रारम्भ में जल में ही आराम किया वह नारायण कहलाया। कुल्लूक के मत में यहाँ नर का अर्थ ब्रह्मन् से है।

—महाभारत, 5.2568।

1. नराणाभयनाच्चापि ततो नारायणः स्मृतः।
2. नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्।

—तैत्तिरीय आरण्यक पृ. 77, आनन्दाश्रम प्रेस, पूना 1898।

3. महाभारत शान्ति पर्व 342.124–129 पी. सी. राय का अनुवाद, मोक्ष-धर्म पर्व। पृ. 817 कलकत्ता।

का अनुसरण करने वाले बलदेव, पुण्यभद्द, मणिभद्द, अग्गि, नाग, सुपर्णा, यक्ख, असुर, गन्धब्ब, महाराज, चंड, सुरीय, इन्द्र, ब्रह्मा, श्वान, काक, गाय इत्यादि का उल्लेख है। बौद्ध ग्रन्थ के वासुदेव पूजा को अत्यन्त निकृष्ट मानने का कारण समझना सरल है। परन्तु हर हालत में इससे यह सिद्ध होता है कि निर्देश के नियमबद्ध किए जाने के समय वासुदेव-पूजा प्रचलित थी। आगे चलकर पाणिनि 4.3.98 (वासुदेवार्जुनाभ्यांवुन्) पर टीका करते हुए पंतजलि ने कहा है कि यहाँ वासुदेव शब्द का तात्पर्य वृष्णियों की क्षत्रिय जाति के वसुदेव के पुत्र वासुदेव से नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो 'पाणिनि' 4.3.99 (गोत्र क्षत्रियाख्येभ्यो बहुलं वुञ्) के अनुसार प्रत्यय 'वुञ्' होता जो कि 'वुन्' प्रत्यय का समानार्थक है। इस प्रकार पतंजलि के अनुसार सूत्र में प्रयुक्त 'वासुदेव' का अर्थ किसी क्षत्रिय जाति से नहीं है परन्तु यह ईश्वर का नाम है (सञ्ज्ञैषा तत्र भगवतः)। यदि पतंजलि की व्याख्या पर विश्वास कर लिया जाए (जिसके लिए काफी आधार है) तो वृष्णि-जाति के वासुदेव के पुत्र क्षत्रिय वासुदेव से ईश्वर वासुदेव भिन्न है। पाणिनि के समय में ही यह सिद्ध हो चुका था कि वासुदेव ईश्वर था एवं उसका समर्थन करने वाले वासुदेवक कहलाते थे जिसकी 'वुन्' प्रत्यय से शब्द-रचना हेतु पाणिनि को नियम बनाना पड़ा (4.3.98)। पुनः राजपूताना में 200–150 ई. पू. में प्रचलित ब्राह्मी भाषा में उत्कीर्ण घोसुंडी-शिलालेख में वासुदेव एवं संकर्षण के मन्दिर के चारों ओर एक दीवार बनाने का उल्लेख है। लगभग 100 ई. पू. के बेसनगर शिलालेख में दिय का पुत्र हैलियोडोरस अपने आपको परम भागवत कहता है जिसने एक स्तम्भ बनवाया जिस पर गरुड़ का चित्र अंकित था। 100 ई. पू. के नानाघाट शिलालेख में वासुदेव एवं संकर्षण देवता के रूप में प्रकट होते हैं, जिनकी अन्य देवताओं के साथ पूजा की जाती है। पतंजलि के आप्तवचन के अनुसार वासुदेवों के धार्मिक सम्प्रदाय का अस्तित्व पाणिनि के पहले था। सामान्य विश्वास के अनुसार पतंजलि 150 ई. पू. में रहे क्योंकि वक्ता द्वारा अदृष्ट विख्यात समकालीन घटनाओं के प्रसंग में भूतकाल का प्रयोग करने वाले व्याकरण के नियम की व्याख्या करते साकेत (अरुणद् यवनः साकेतम्) नगर में यूनानी-आक्रमण के प्रसंग में भूतकाल का प्रयोग के रूप में वह उदाहरण देते हैं। चूंकि यह घटना 150 ई. पू. में हुई, अतः इसे विख्यात समकालीन घटना समझा जाता है जिसे पतंजलि नहीं देख सके। पाणिनि का प्रथम टीकाकार कात्यायन एवं द्वितीय भाष्यकार पतंजलि था। श्री र. ग. भंडारकर ने कहा है कि भारद्वाजीय, सौनाग एवं अन्य मतों द्वारा उपयोग में लाए जा रहे प्रकरणों में प्राप्त-कात्यायन-वार्तिक के कई ऐसे पाठ पतंजलि के ध्यान में आए हैं जो वार्त्तिकों के संशोधित रूप समझे जा सकते हैं। यद्यपि पतंजलि द्वारा पठन्ति क्रिया का प्रयोग यह बताया है कि उन्होंने उनको भिन्न पाठ माना।[1] उपरोक्त तथ्य से र. ग. भंडारकर यह सिद्ध करते हैं कि कात्यायन एवं पतंजलि के बीच अधिक समय बीत चुका होगा जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि पतंजलि के समय में कात्यायन के प्रकरणों के विविध पाठ का अस्तित्व था। अतः वह पाणिनि को मौर्यों के पूर्वानुगामी नंदों के समकालीन समझने की लौकिक परम्परा में विश्वास करते हैं। कात्यायन का काल पाँचवीं शताब्दी ई. पू. का पूर्वार्द्ध समझा जाता है। परन्तु गोल्ड स्टुकर एवं सर

---

1. श्री र. ग. भंडारकर द्वारा लिखित 'अर्ली हिस्ट्री ऑव डकन' पृ. 7।

र. ग. भंडारकर के अनुसार कात्यायन को वार्त्तिकों में कई ऐसी व्याकरणसम्बन्धी रचनाओं की जानकारी है जिनकी जानकारी पाणिनि को नहीं है तथा वैयाकरण पाणिनि की महान् यथार्थता को ध्यान में रखते हुए स्वाभाविक रूप से यही समझा जाता है कि उन रचनाओं का अस्तित्व उनके काल में नहीं था। गोल्डस्टुकर पाणिनि के सूत्रों में अंगीकृत उन शब्दों की सूची बताते हैं जिनका कात्यायन के समय व्यवहार में चलन बन्द हो गया था। वह कात्यायन द्वारा निरूपित उत्तरकाल में प्रयुक्त कई ऐसे शब्दों को बताते हैं जिनका पाणिनि के समय कोई अस्तित्व नहीं था। उपरोक्त सब बातों से सिद्ध है कि पाणिनि का काल कात्यायन से दो सौ अथवा तीन सौ वर्ष पूर्व रहा होगा। पाणिनि के सूत्रों में वासुदेव संप्रदाय के प्रसंग उपलब्ध हैं जिससे उनका अस्तित्व स्वभावतः उनके काल के पूर्व ही सिद्ध है। उपरोक्त प्रसंग के बारे में शिलालेखों में वासुदेव के चिह्न महेश्वर वासुदेव अथवा भगवत् के उपासक वासुदेव सम्प्रदाय के प्राक् अस्तित्व को प्रमाणित करने वाले साक्षी है।

वासुदेव एवं कृष्ण के साहित्यक प्रसंगों में हमें वासुदेव की कथा उपलब्ध है जो घट-जातक में अपने कौटुम्बिक नाम कान्हा एवं केशव (संभवतः अपने केशों के गुच्छे के कारण) के नाम से भी पहचाना जाता है। नए अतिक्रमों के होते हुए भी उपर्युक्त कथा कृष्ण के कुछ महत्त्वपूर्ण सामान्य वर्णन के साथ मेल खाती है। पाणिनि 4.1.114 (ऋष्यन्धक-वृष्णि-कुरुभ्यश्च) में क्षत्रियों की वृष्णि जाति का प्रसंग पाया जाता है। उणादि प्रत्यय द्वारा शब्द (वृष्णि) की उत्पत्ति हुई है जिसका शाब्दिक अर्थ 'शक्तिशाली' अथवा 'महान् नेता' है। इसका अर्थ 'पाखंड' एवं 'चंड' भी होता है। यह शब्द यादव जाति का भी सूचक है, कृष्ण को प्रायः वार्ष्णेय कहकर संबोधित किया गया है तथा गीता 10.37 में कृष्ण कहते हैं 'वृष्णियों में मैं वासुदेव हूं।'[1] कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में भी वृष्णियों का प्रसंग मिलता है जहाँ वृष्णि-संघ द्वारा द्वैपायन पर आक्रमण करना बतलाया गया है। घट-जातक में भी वृष्णियों के नाश का कारण कन्ह द्वैपायन के शाप की कथा मिलती है। परन्तु महाभारत (16.1) के अनुसार कृष्ण के पुत्र शांब पर विश्वामित्र, कण्व एवं नारद द्वारा शाप का निर्णय दिया गया है। महाभारत में दो वासुदेवों की चर्चा की गई है। पौण्ड्र-राज वासुदेव एवं संकर्षण के भ्राता वासुदेव अथवा कृष्ण का वर्णन महा-भारत में भी है तथा दोनों की द्रुपद-राज के भवन में द्रौपदी के पाणिग्रहण हेतु राजाओं की महान् सभा में उपस्थित होने की चर्चा की गई है। उपर्युक्त वासुदेव अथवा कृष्ण ईश्वर माने जाते हैं। संभव है कि प्रारम्भ में वासुदेव सूर्य का नाम था और इस प्रकार इसका सम्बन्ध विष्णु से हो गया जिसने अपने तीन पदों में आकाश को पार कर लिया; कृष्ण एवं वासुदेव का सूर्य के साथ सादृश्य वस्तुतः महाभारत 12.341.41 में किया गया है जहाँ नारायण कहते हैं : 'सूर्य की तरह सम्पूर्ण ब्रह्मांड को मैं अपनी रश्मियों से ढक लेता हूं एवं मैं सब प्राणियों का धाता भी हूं अतः मुझे लोग वासुदेव कहते हैं।

पुनः सात्त्वत शब्द का प्रयोग भी वासुदेव अथवा भागवत् के पर्यायवाची के रूप में हुआ है। बहुवचन सात्त्वताः शब्द यादव समुदाय का नाम है एवं महाभारत में (7.7662)

---

1. यूथेन वृष्णिरेजति, ऋग्वेद, 1.10.2।

सात्वतांवर: का प्रयोग यादव जाति के सदस्य सात्यकि के लिए किया गया है यद्यपि यह विशिष्ट नाम महाभारत में कई स्थलों पर कृष्ण के सम्बन्ध में प्रयुक्त हुआ है।[1] उत्तर भागवत पुराण में (9.9.50) कहा गया है कि सात्वत लोग भगवान एवं वासुदेव के रूप में ब्रह्मा की उपासना करते हैं। महाभारत में (6.66.41) वासुदेव की उपासना के संकर्षण द्वारा सात्वत कर्म की विधि का प्रारम्भ किया गया। यदि सात्वत का अर्थ जाति विशेष के नाम से लिया जाए तो सहज ही यह कल्पना की जा सकती है कि वासुदेव की उपासना करने की उन लोगों की विशेष विधि होगी। दशवीं शताब्दी ई. पू. के रामानुज के महान् गुरु यामुनाचार्य कहते हैं कि जो परम पुरुष भगवत् की सत्त्व से पूजा करते हैं वे भागवत एवं सात्वत कहलाते हैं।[2] यामुन इस बात पर बल देते हैं कि सात्वत लोग जाति के ब्राह्मण हैं परन्तु महेश्वर भगवत् में आसक्त हैं। यामुन की उपरोक्त धारणा इस आधुनिक विचारधारा के पूर्णतया विपरीत है कि सात्वत शूद्र वर्ण के लोग थे जिनका यज्ञोपवीत संस्कार नहीं हुआ एवं जो वैश्यों से उद्भूत बहिष्कृत लोग थे।[3] सात्वत लोग पंचम निम्न श्रेणि के लोग कहे जाते हैं जो राजाज्ञा से विष्णु मंदिर में पूजा करते हैं एवं जो भागवत भी कहलाते हैं।[4] सात्वत एवं भागवत वे लोग हैं जो मूर्त्ति-पूजा द्वारा अपना पेट पालते हैं अतः निम्न एवं तिरस्कृत हैं। यामुन कहते हैं कि भागवतों एवं सात्वतों के बारे में जनसाधारण की उपरोक्त धारणा सही नहीं है क्योंकि भागवतों एवं सात्वतों में से कुछ लोग ही मूर्त्ति-पूजा द्वारा अपना जीवन चलाते है, सब नहीं। उनमें से कई एक परम पुरुष भगवत् की पूजा व्यक्तिगत भक्ति एवं आसक्ति द्वारा करते हैं।

पाणिनि 4. 3. 98 पर टीका करते हुए पतंजलि के निरूपण द्वारा पता चलता है कि वह वृष्णि जाति के नेता वासुदेव तथा दूसरे भगवत् ईश्वर के रूप में वासुदेव में इन दोनों में विश्वास करते थे। यह तो कहा ही जा चुका है कि वासुदेव नाम घट जातक में भी मिलता है। अतः यह तर्क किया जा सकता है कि वासुदेव प्राचीन नाम है तथा निर्देश एवं पतंजलि के लेखों से यह सिद्ध है कि वह ईश्वर अथवा भगवत् का नाम है। अतः वासुदेव शब्द की 'वसुदेव के पुत्र' के रूप में उत्तरकाल की व्याख्या एक अनधिकृत

---

1. महाभारत 5.2581,3041,3334,3360, 4370, 9,2532,3502, 10. 726,12.1502,1614,7533।
2. ततश्च सत्त्वाद् भगवान् भज्यते यैः परः पुमान्।
   ते सात्त्वता भागवता इत्युच्यन्ते द्विजोत्तमैः॥

   —यामुन का आगम प्रामाण्य, पृ. 7.6।
3. मनु (10.23) ने कहा है :
   वैश्यात्तु जायते व्रात्यात् सुधन्वाचार्य एव च।
   कारूषश्च विजन्मा च मैत्रस्सात्त्वत एव च॥
4. पंचमः सात्त्वतो नाम विष्णोरायतनं हि सः।
   पूजयेदाज्ञया राज्ञां स तु भागवतः स्मृतः॥

   —वही, पृ. 8।

कल्पना है। संभवतः यादव जाति द्वारा अपने जाति सम्बन्धी विधि के अनुसार जाति-नायक के रूप में वासुदेव की पूजा की जाती थी एवं उसे सूर्य से सम्बन्धित विष्णु का अवतार समझा जाता था। मैगस्थनीज ने भारतवर्ष का प्रत्यक्ष विवरण देते हुए सौरसैनोई (Sourasenor) अर्थात् भारतीय राष्ट्र में दो महान् शहर (Methora) 'मैथोरा' एवं (Kleisobora) 'क्लीसोबोरा' के बारे में लिखा है जिसके पार जहाज ले जाने योग्य नदी (Jobares) जोबारीज़, (Haracles) हेराक्लीज की पूजा करती हुई बहती है। 'मैथोरा' एवं 'जोबारिज़' से उनका तात्पर्य अवश्य ही क्रमशः मथुरा तथा जमुना से है। संभवतः हैराक्लीज वासुदेव के ही नाम हरि से है। पुनः महाभारत 6.65 में भीष्म कहते हैं कि प्राचीन मुनियों ने उन्हें कहा था कि पहले देवों तथा ऋषियों की सभा के समक्ष परम पुरुष उपस्थित हुए एवं ब्रह्मा ने करबद्ध होकर उसकी पूजा की। वासुदेव के रूप में पूजित इस महान् सत् ने प्रथमतः अपने अन्दर से ही संकर्षण को उत्पन्न किया। तदनन्तर प्रद्युम्न एवं प्रद्युम्न से अनिरुद्ध तथा अनिरुद्ध से ब्रह्मा उत्पन्न हुए। इसी महान् सत् वासुदेव ने नर एवं नारायण दो ऋषियों के रूप में अवतार लिया। महाभारत 6 66 में वह स्वयं कहते हैं कि 'सम्पूर्ण ब्रह्मांड को मुझे वासुदेव के रूप में पूजना चाहिए एवं मानव शरीर में मेरी अवहेलना कोई भी नहीं करे।' उपर्युक्त दोनों अध्यायों में कृष्ण एवं वासुदेव एक ही हैं। गीता में कृष्ण ने कहा है कि 'वृष्णियों में मैं वासुदेव हूँ।' यह भी बतलाया गया है कि वासुदेव का कान्हायन गोत्र था। श्री र. ग. भंडारकर कहते हैं 'संभवतः गोत्र नाम का कृष्ण नाम के साथ सादृश्य के कारण ही कृष्ण एवं वासुदेव को एक ही समझ लिया गया होगा।[1] पातंजल-भाष्य एवं महाभारत में वासुदेव को परम पुरुष कहकर संबोधित करने वाले अनेक संकेतों के आधार पर यह मानना युक्ति-संगत है कि व्यवहृत शब्द पिता वासुदेव को उत्पत्ति स्थान बताने वाला पितृवाची नाम नहीं अपितु ईश्वर रूप में पूजित व्यक्ति के रूप में व्यक्तिवाचक संज्ञा है। कृष्ण, जनार्दन, केशव, हरि इत्यादि वृष्णि नाम नहीं है; यह सब वासुदेव के व्यक्तिगत विशिष्ट नाम हैं। पतंजलि ने पाणिनि पर अपनी टीका (4.3.98) में कहा है कि विष्णु जाति के क्षत्रिय राजा का नाम भी वासुदेव था परन्तु वह ईश्वर के वासुदेव नाम से भिन्न है। सात्वतों द्वारा अपनी कौटुम्बिक विधि के अनुसार पूजित ईश्वर को एवं संभवतः वृष्णिराज वासुदेव को एक ही समझा गया तथा राजा के कुछेक व्यक्तिगत लक्षण ईश्वर रूपी वासुदेव के ही लक्षण समझे जाने लगे। प्राचीन साहित्य में कृष्ण शब्द कई बार आता है। इस प्रकार कृष्ण ऋग्वेद (8.74) के रचयिता वैदिक ऋषि की तरह प्रतीत होते हैं। महाभारत की अनुक्रमणी में कृष्ण को अंगिरस से उत्पन्न बताया गया है। घट-जातक की तरह छांदोग्य उपनिषद् (3.17) में भी कृष्ण देवकी के पुत्र के रूप में प्रकट होते हैं। अतएव संभवतः वासुदेव एवं देवकी के पुत्र कृष्ण को एक ही समझा गया है। कृष्ण के ऋत्विज्, होने का विचार महाभारत में मिलता है तथा सभा-पर्व में भीष्म उन्हें ऋत्विज् एवं वेदांग में प्रवीण मानते हैं। जैसाकि डॉ. राय चौधरी ने कहा है कि देवकी के पुत्र कृष्ण भागवत् दर्शन के जन्मदाता वासुदेव ही थे क्योंकि घट-जातक में जिसे कान्हायन अथवा कान्हा कहा गया है वही देवकी पुत्र एवं कृष्ण भी है, तथा छांदोग्य उपनिषद् (3.17.6) में भी उसे देवकी-पुत्र कहा गया है।

---

1. श्री र. ग. भंडारकर द्वारा लिखित 'वैष्णवइज्म एण्ड शैविइज्म' पृ. 11–22

घट-जातक में कृष्ण को योद्धा कहा गया है जबकि छांदोग्य उपनिषद् में उसे घोरअंगिरस का शिष्य बताया गया है जिसने उन्हें प्रतीकात्मक यज्ञ यागादि की शिक्षा दी जिनके अन्तर्गत तप, दान, आर्जव, अहिंसा एव सत्य वचन याज्ञिक दक्षिणा कहा जा सकता है। महाभारत 2.317 में कृष्ण का गंधमादन, पुष्कर तथा बदरी में संन्यास की लम्बी क्रिया को करने वाले मुनि एवं महान् योद्धा के रूप में वर्णन किया गया है। महाभारत में उसका वर्णन वासुदेव, देवकी-पुत्र, सात्वतपति के रूप में किया गया है। एवं सर्वत्र उसकी दिव्यता को माना गया है। परन्तु निश्चित तौर पर यह नहीं कहा जा सकता कि वासुदेव, योद्धा कृष्ण एवं कृष्ण-मुनि विभिन्न तीन व्यक्ति नहीं थे जो महाभारत में एक ही माने गए यद्यपि यह सत्य है कि विभिन्न पौराणिक कथाओं में एक ही अभिन्न व्यक्ति का प्रसंग है।

यदि तीनों कृष्ण का तात्पर्य एक ही कृष्ण से है तो वह बुद्ध के बहुत समय पहले रहे होंगे जैसाकि छांदोग्य उपनिषद् में संकेत मिलता है। उनके गुरु घोर आंगिरस का भी संकेत कौशीतकी ब्राह्मण (30.6) एवं काठक संहिता 11 में मिलता है जो प्राग्-बौद्ध ग्रन्थ हैं। जैन-परम्परा के अनुसार कृष्ण को पार्श्वनाथ (817 ई. पू.) के पूर्व माना गया है और इसी आधार पर डॉ. राय चौधरी के विचार में वह नवमीं शताब्दी ई. पू. के अन्त के पर्व रहे होंगे।[1]

भागवत एवं भगवद्गीता

महाभारत (12.348) में भगवद्गीता का एकान्ति-वैष्णव मत के साथ सम्बन्ध स्थापित किया गया है। वहाँ कहा गया है कि भगवान् हरि एकान्ति ईश्वर भक्तों को आशीर्वाद देते हैं उनकी विधि-प्रयुक्त पूजा स्वीकार करते हैं।[2] यह एकान्त धर्म नारायण को प्रिय है तथा महाभारत टीकाकार के अनुसार जो लोग उसका पालन करते हैं वे अनिरुद्ध, प्रद्युम्न एवं संकर्षण की तीनों स्थितियों को पार किए बिना ही नीलकंठ हरि को प्राप्त कर लेते हैं। एकान्तिन् श्रद्धा द्वारा उच्चतर लक्ष्य प्राप्त कर लेते हैं। एकान्तिन् श्रद्धा द्वारा उच्चतर लक्ष्य प्राप्त किए जा सकते हैं जो संन्यासी जीवन एवं वेदज्ञों के पथ में सम्भव नहीं है। एकान्ति भक्ति के सिद्धान्तों का निरूपण स्वयं भगवत् ने उस समय किया जब कौरव एवं पांडवों के युद्ध में अर्जुन को युद्ध करने में संकोच हो रहा था। इस सिद्धांत का प्रारंभिक श्रोत साम-वेद है। यह कहा जाता है कि जब नारायण ने ब्रह्मा को उत्पन्न किया तब उन्होंने उन्हें सात्वत श्रद्धा दी एवं जैसाकि महाभारत में कहा गया है कि उस समय से कई लोगों को इसका उपदेश दिया गया तथा उन्होंने उसका पालन भी किया। हरिगीता में संक्षेप में वर्णित यह स्थिति उत्तरकाल की है।[3] यह श्रद्धा अत्यन्त अस्पष्ट है तथा इसे क्रियात्मक रूप देना अत्यन्त कठिन है।

---

1. वैष्णव संप्रदाय का प्रारंभिक इतिहास, पृ. 39।
2. एकान्तिनो निष्कामभक्ताः। महाभारत पर नीलकंठ भाष्य, 12.348.3।
3. कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः; हरि-गीता 53 गीता के सिद्धान्त की परम्परा से प्राप्त शिक्षा गीता में भी प्राचीन बताई गई है (4-1-3) जहाँ कहा गया

इसका मुख्य रूप सब प्रकार के कष्टों का निरोध है। विभिन्न स्थलों पर एक, दो अथवा तीन व्यूह में विश्वास व्यक्त किया गया है। हरि को चरम एवं निरपेक्ष सत्ता माना गया है। वह कर्त्ता, कर्म एवं कारण होने के साथ-साथ निरपेक्ष, अकर्त्ता भी है। संसार में एकान्तिन् भक्तों की बहुत ही ज्यादा कमी है। किसी को कष्ट नहीं देने वाले, सर्वदा परोपकारी आत्मज्ञ एकान्तिन् भक्तों से यदि संसार पूरित हो जाय तो स्वर्णयुग अर्थात् कृतयुग पुनः आ जाए । यह एकान्त योग के सिद्धान्त का सांख्य-योग के सादृश्य है एवं इसका अनुसरण करने वाले अपने चरम लक्ष्य मोक्ष्य की स्थिति नारायण को प्राप्त कर लेते हैं। महाभारत में उक्त वर्णन से प्रतीत होता है कि गीता का सिद्धान्त नारायण द्वारा ब्रह्मा, नारद एवं अन्य लोगों को कृष्ण द्वारा महाभारत युद्ध में गीता-पाठ के पूर्व उपदिष्ट एकान्तिन् सिद्धान्त था। ऐसा भी ज्ञात होता है कि इसके अन्तर्गत एक व्यूह, द्वि-व्यूह, त्रि-व्यूह, चतुर्व्यूह एवं एकान्त इत्यादि चार अथवा पाँच विभिन्न मत थे तथा इसे सात्वत धर्म कहा जाता था।

यामुनाचार्य ने अपने आगम-प्रामाण्य में कई मतों का विरोध करने का प्रयास किया है जिनमें भागवतों को पंक्ति में बैठाकर सहभोज की आज्ञा नहीं होने के कारण ब्राह्मणों से नीचा समझा गया है। मनु ने सात्वतों को यज्ञोपवीत धारण करने में अन्य वर्ण बहिष्कृत वैश्यज निम्नजाति के लोग माना है।[1] सात्वत एवं भगवात में कोई अन्तर नहीं था तथा उन दोनों का मुख्य कर्त्तव्य राजाज्ञा द्वारा विष्णु-मन्दिर में अपनी जीविका हेतु पूजा करना था।[2] अपनी जीविका हेतु वे मन्दिर एवं मूर्तियाँ बनाते एवं मरम्मत करते थे अतः उन्हें जाति से बहिष्कृत समझा जाता था। कई उपलब्ध पंचरात्र ग्रन्थों के मूर्त्ति

है कि भगवान ने यह ज्ञान विवस्वान् को कहा, जिसने मनु को कहा, मनु ने इक्ष्वाकु को कहा इत्यादि। दीर्घकाल के अनन्तर वही योग इस लोक में नष्ट हो गया। कृष्ण ने भगवद्गीता के रूप में उसी पुरातन योग की पुनः शिक्षा दी। महाभारत के 12.348 में कहा गया है कि सनत्कुमार ने इस सिद्धान्त की शिक्षा नारायण से प्राप्त की नारायण ने प्रजापति को, प्रजापति ने रैम्य को एवं रैम्य ने कुक्षि को यह शिक्षा दी। बाद में वह योग नष्ट हो गया। बाद में पुनः ब्रह्मा ने नारायण से बर्हिषद मुनियों ने एवं मुनियों द्वारा ज्येष्ठ ने शिक्षा ग्रहण की। पुनः इसका लोप हो गया। ब्रह्मा ने नारायण से, नारायण से दक्ष ने, दक्ष से विवस्वान् ने विवस्वान् से मनु ने तथा मनु से इक्ष्वाकु ने शिक्षा ग्रहण की । इस प्रकार भगवद्गीता में वर्णित परम्परा महाभारत के विवरण से मेल खाती है।

1. वैश्यात्तु जायते व्रात्यात् सुधन्वाचार्य एव च।
   कारुषश्च विजन्मा च मैत्रः शाश्वत एव च ।

   —आगम प्रामाण्य, पृ. 8 ।

2. पंचमः सात्त्वतो नाम विष्णोरायतनं हि स ।
   पूजयेत् आज्ञया राज्ञां सतु भागवतः स्मृत ॥

   —आगम प्रामाण्य, पृ. 8 ।

पूजा एवं मूर्त्ति-निर्माण के विस्तृत विवरणों से स्पष्ट है कि भागवत लोग मूर्त्ति-पूजा करते थे तथा मूर्त्ति और मन्दिर निर्माण करते थे। गीता में (9-26) भी पत्ते, जल तथा पुष्प से पूजा करने का अर्थ निःसंदेह मूर्त्ति-पूजा ही है। पतंजलि के महाभाष्य (2.2.24) में एक श्लोक लिखा गया है जिसमें संकर्षण का कृष्ण के साथी अथवा भाई के रूप में प्रसंग है एवं उसी भाष्य के 2.2.34 में उन्होंने एक अन्य प्रसंग में कहा है कि धनपति, राम एवं केशव अर्थात् बलराम संकर्षण के मन्दिर में विभिन्न प्रकार के संगीत के वाद्य बजाए जाते थे।[1]

यामुन के मतानुसार भागवत संप्रदाय के विरोधियों का कहना है कि चूंकि विष्णु पूजा प्रारम्भ करने के लिए साधारण ब्रह्मणत्व-दीक्षा पर्याप्त योग्यता नहीं है एवं विशिष्ट विधिपूर्वक क्रियाओं का संपादन आवश्यक है अतः यह स्पष्ट है कि भागवत पूजा के प्रकार मूल रूप से वैदिक नहीं है। चौदह हिन्दू विज्ञान जैसे छ वैदांग अर्थात् वैदिक शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, निरुक्त, चार वेद, मीमांसा, न्यायविस्तार सहित पुराण एवं धर्मशास्त्र आदि में पंचरात्र शास्त्रों का उल्लेख नहीं मिलता। अतः भागवत अथवा पंचरात्र शास्त्र मूल रूप से अवैदिक हैं। परन्तु यामुन का कहना है कि नारायण महेश्वर हैं अतः उनकी पूजा का वर्णन करने वाले भागवत साहित्य का भी वेदों की तरह एक ही स्रोत समझना चाहिए। भागवत लोगों की ब्राह्मणों की तरह वही बाह्य वेश-भूषा एवं वही वंश परम्परा है। आगे चलकर वे कहते हैं कि यद्यपि सात्वत का अर्थ जाति बहिष्कृत है तथापि विष्णु के भक्त के अर्थ में प्रयुक्त सात्वत शब्द उससे भिन्न है। इसके अतिरिक्त समस्त भागवत लोग अपनी जीविका चलाने के लिए ही मूर्त्ति-पूजा एवं पुजारियों का धंधा नहीं करते बल्कि कई शुद्ध भक्ति द्वारा प्रेरित होकर ही मूर्त्ति-पूजा किया करते हैं। भागवत लोगों के उत्कृष्ट समर्थक यामुनाचार्य द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त पक्ष अत्यन्त निर्बल है जिससे स्पष्ट है कि भागवत संप्रदाय का मूल अवैदिक है एवं मूर्त्ति-पूजा, मूर्त्ति-निर्माण, मूर्त्ति-पुनरुद्धार तथा मन्दिर-निर्माण का स्रोत वही विशिष्ट संप्रदाय था। फिर भी पंचरात्र मत के सम्पूर्ण शास्त्रों में यह सर्वमान्य एवं निर्विवाद परम्परा है कि यह वेदों पर आधारित है। परन्तु वैदिक मत से इनका भेद भी सर्वविदित है। स्वयं यामुन ने इस प्रसंग (आगम प्रामाण्य पृ. 51) में कहा है कि चारों वेदों में अपने पुरुषार्थ को प्राप्त नहीं कर सकने के कारण शांडिल्य ने इस शास्त्र की रचना की। यज्ञ-यागादि के स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों का वर्णन करते हुए गीता में कृष्ण ने अर्जुन को वेदों के परे जाने को कहा है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि पंचरात्र साहित्य का वास्तविक सम्बन्ध इस तथ्य से है कि उसका उद्गम स्थान महेश्वर, वासुदेव अथवा विष्णु है जिसने स्वयं वेदों को उत्पन्न किया। इस प्रकार ईश्वर संहिता में (1–24–26) इस विषय की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि भागवत साहित्य वेद-वृक्ष की महान् शाखा

---

1. मृदंग शङ्ख पणवाः पृथङ्नदन्ति संसदि।
प्रसादे धनपतिरामकेशवानाम्।

—महाभाष्य, 2.2.34।

है एवं वेद स्वयं उसके तने हैं, तथा योगी उसकी शाखाएँ है। इसका मुख्य उद्देश्य जगत् के मूल एवं वेदों के एक रूप वासुदेव की महानता को प्रतिपादित करना है।[1]

इस मत का उपनिषदों के साथ सम्बन्ध उस वक्त स्पष्ट होता है जब इसमें वासुदेव को परम ब्रह्म माना जाता है।[2] अद्वैत वेदान्त में प्रज्ञा, विराट्, विश्व एवं तैजस् के सादृश्यानन्तर तीन अन्य व्यूह उसके अमुख्य स्वरूप थे। पतंजलि के महाभाष्य में केवल वासुदेव एवं संकर्षण की ही चर्चा होने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि उसे चार व्यूह का ज्ञान नहीं था। गीता को केवल वासुदेव का ही ज्ञान है। अतः व्यूह के सिद्धान्त का अस्तित्व गीता के समय नहीं हुआ एवं इसका विकास धीरे-धीरे उत्तरकाल में हुआ। महाभारत-प्रसंग से पता चलता है कि इस सिद्धान्त से कई विभिन्न रूपान्तर थे एवं कुछ एक व्यूह में, कुछ दो में, कुछ तीन व्यूह में तथा अन्य चार व्यूह में विश्वास करते थे। यदि गीता को व्यूह की समस्या का ज्ञान होता तो अवश्य ही उसका वर्णन उसमें होता क्योंकि भागवतों में एकान्तिन् मत का गीता प्रारम्भिक ग्रन्थ है।[3] इस

---

1. महतो वेदवृक्षस्य मूलभूतो महानयम्।
स्कन्धभूता ऋगाद्यास्ते शाखाभूताश्च योगिनः।
जगन् मूलस्य वेदस्य वासुदेवस्य मुख्यतः।
प्रतिपादकता सिद्धा मूलवेदाख्यता द्विजः।

–ईश्वर संहिता, 1.24–26।

2. यस्मात् सम्यक् परं ब्रह्म वासुदेवाख्यमव्ययम्।
अस्मादवाप्य ते शास्त्राज्ज्ञानपूर्वेण कर्मणा।

–रामानुज भाष्य में उद्धृत पुष्करागम, 2.3.42।

छा. उप. (7.1.2) भी एकायन के अध्ययन की ओर संकेत करता है–उदाहरणार्थ 'वाको वाक्यम्' 'एकायनम्' अंश में स्वयं एकायन को श्रीप्रश्न संहिता (2.3.89) में वेद के रूप में वर्णित किया गया है।
वेदमेकायनं नाम वेदानां शिरसि स्थितम्।
तदर्थकं पंचरात्रं, मोक्षदं तत्क्रियावताम्॥
यस्मिन्ने को मोक्षमार्गो वेदप्रोक्तः सनातनः।
मदाराधनरूपेण तस्मादेकायनं भवेत्॥
गोपिकाचार्य स्वामी द्वारा लिखित 'The Panchratras or Bhagwat Sastra' (j. R. A. S 1912) लेख देखिए।

3. पद्मतंत्र के निम्नलिखित उद्धरण से यह स्पष्ट है कि एकान्तिन् योग का साम्य सात्त्वत अथवा पंचरात्र से है।
सूरिस्सुहृत् भागवतस्सात्वतः पंचकालवित्।
एकान्तिकस्तन्मयश्च पंचरात्रिक इत्यपि।
इसी योग को एकायन अथवा एक का पथ भी कहते हैं जैसाकि ईश्वर संहिता 1.18 के निम्नलिखित श्लोक से स्पष्ट है :
मोक्षायनाय वै पन्था एतदन्यो न विद्यते।
तस्मादेकायनं नाम प्रवदन्ति मनीषिणः॥

सम्बन्ध में यह ध्यान रखने योग्य है कि नारायण नाम की चर्चा गीता में कहीं भी नहीं हुई है एवं वासुदेव को तथा आदित्यपति विष्णु को एक ही माना गया है। इस प्रकार र. ग. भंडारकर के शब्दों में 'यह द्रष्टव्य है कि व्यूह का कथन नहीं करने वाली गीता की तिथि, शिलालेख, निर्देश्य एवं पतंजलि के पूर्व की तिथि है अर्थात् चौथी शताब्दी ई. पू. के प्रारम्भ में ही इसकी रचना हुई। यह कहना कठिन है कि यह कब प्रारम्भ हुआ। जब गीता की रचना हुई तबतक न तो वासुदेव एवं नारायण की एकरूपता स्थापित हुई थी (जैसाकि ग्रन्थ से स्पष्ट है) और न विष्णु को उसका अवतार माना गया। विष्णु को परम नहीं मानकर आदित्यपति माना गया तथा दसवें अध्याय के अनुसार इसी अर्थ में वासुदेव को विष्णु माना गया क्योंकि किसी समुदाय की सर्वश्रेष्ठ वस्तु को उसकी विभूति माना जाता है।[1]

गीता की तिथि के बारे में विद्वानों के बीच एक लम्बा विवाद चला आ रहा है एवं हमारे वर्तमान हेतु के लिए इस विस्तृत मतभेद में पड़ना उचित नहीं। इस विषय में जितने मत हैं उनमें सर्वाधिक मत डॉ. लौरिन्सर का है जिसके अनुसार इसकी रचना बुद्ध के बाद तथा 'न्यू टैस्टामैंट' के प्रभाव में ईसवी काल के कई शताब्दियों बाद हुई। भगवद्गीता के अनुवाद की भूमिका में श्री तैलंग ने कहा है कि पूर्वोक्त मतानुसार भगवद्-गीता में बौद्ध दर्शन की विशिष्ट बातें नहीं पाई जातीं। इसके अतिरिक्त इस बात को भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि गीता में बौद्ध दर्शन के साथ-साथ कपिल का सांख्य दर्शन एवं पतंजलि योग-सूत्रों का योग भी वर्णित नहीं है। बौद्ध दर्शन के पूर्व गीता के अस्तित्व का प्रमाण उपरोक्त प्रमाण के साथ-साथ वासुदेव का नारायण के साथ ऐक्य नहीं होना तथा व्यूह सिद्धान्त का अप्रकट होना है। यंत्र-तत्र प्रक्षिप्त श्लोकों का समावेश सुलभ है। गीता-लेखन काल ब्रह्मसूत्रोपरान्त होने का अन्य कोई प्रमाण नहीं होने के कारण श्लोक 'ब्रह्म सूत्र पदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चतैः' को या तो प्रक्षिप्त समझना चाहिए या इसकी विभिन्न रूप से व्याख्या करनी चाहिए। शंकर के विचार में भी ब्रह्मसूत्र में गीता का स्मृति के रूप में प्रसंग है तथा गीता की प्राचीनता के बारे में उपरोक्त विचार हमारी अन्य मान्यताओं से मेल खाता है। डॉ. लौरिन्सर का मत है कि भगवद्गीता में कम से कम कुछ तत्त्व तो ईसाई धर्म से लिए गए हैं। लौरिन्सर के उपरोक्त मत का खंडन श्री तैलंग ने अपने अनुवाद की भूमिका में किया है अतः यहाँ इसका पुनः प्रतिरोध करने की आवश्यकता नहीं है। डॉ. राय चौधरी ने भी भागवत धर्म के ईसाई धर्म के साथ सम्बन्ध की समस्या पर विचार किया है। उस विचार-विमर्श के आधार पर निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि भागवत सम्प्रदाय अपने विकास की किसी भी अवस्था में ईसाई धर्म का ऋणी है या नहीं। गीता को ईसाई धर्म का ऋणी मानना केवल कल्पनामात्र है। यहाँ गार्वे के उस मत को खंडन करने तथा लम्बे विवाद में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है कि मौलिक रूप में गीता एक सांख्यावलम्बी ग्रन्थ था (द्वितीय शताब्दी ई. पू. के पूर्वार्द्ध में लिखित जो वेदान्ती विचारधारा के आधार पर संशोधित किया गया एवं द्वितीय शताब्दी ई. पू. में अपनी वर्तमान अवस्था में लाया

---

1. वैष्णवइज्म एण्ड शैविज्म, पृ. 13।

गया) क्योंकि मेरे विचार में यह सिद्ध हो चुका है कि महाभारत एवं पंचरात्र साहित्य की निर्विवाद परम्परा को देखते हुए गीता को भागवत सम्प्रदाय का ग्रन्थ मानना उचित है। ग्रन्थ के आन्तरिक विश्लेषण के आधार पर भी यह कहा जा सकता है कि गीता न तो साधारण सांख्य ग्रन्थ है और न वेदान्त ग्रन्थ है अपितु यह शंकर द्वारा प्रतिपादित वेदान्त से भिन्न सांख्य-वेदान्ती विचारों से मिश्रित है। गार्बे की उस स्वच्छन्द स्वमताभिमानी निश्चित घोषणा पर गंभीरतापूर्वक विचार नहीं करना चाहिए जिसमें उन्होंने कहा कि गीता के मौलिक भाग को उत्तर संस्करणों से अलग किया जा सकता है। तिलक के कथनानुसार भागवत धर्म के प्राचीन समय को सेनार्ट (इंडियन इन्टरप्रेटर, ओक्टोबर 1909 एवं जनवरी 1910) एवं व्यूहल्र (इंडियन एन्टीक्विटी 1894) ने स्वीकार किया है। व्यूहल्र कहते हैं-नारायण एवं अपने देवता तुल्य गुरु देवकी पुत्र कृष्ण में अनुरक्त प्राचीन भागवत सात्वत अथवा पंचरात्र सम्प्रदाय की तिथि-आठवीं शताब्दी ई. पू. में जैनों के उत्थान के बहुत पूर्व है। निश्चित रूप से गीता इस मत का प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य है। यह कहा जा सकता है कि जहाँ तक बाह्य साक्ष्य का प्रश्न है, गीता का संकेत कालिदास एवं बाण के साथ-साथ भास द्वारा लिखित अपने कर्ण-भार नामक नाटक में मिलता है।[1] ट. ग. काले द्वारा अपनी वैदिक पत्रिका, 7 पेज 528-532 पर लिखित लेख के प्रसंग में तिलक ने लिखा है कि बोधायन गृह्य शेष सूत्र 2.22.9 गीता 9.26 का सकेत करता है एवं बौधायन पितृमेध सूत्र तृतीय प्रश्न के प्रारम्भ में गीता के अन्य अंश का उद्धरण करता है।[2] प्रसंगवश यह भी कहा जा सकता है कि गीता की लेखन-पद्धति अत्यन्त प्राचीन है; इसे उपनिषद् कहा गया है एवं इसमें कई अंश ऐसे उपलब्ध हैं जो ईश (ईश 5, देखिए भगवद्गीता 13.15 एवं 6.29), मुण्डक (मुण्ड 2.1.2 गीता 13.15), काठक 2.15, 2.18 एवं 19 तथा 2.7, गीता 8.2, 2.20,29) तथा अन्य उपनिषदों में प्राप्त हैं। इस प्रकार गीता को बौद्ध दर्शन का 'परवर्ती' मानने का कोई निश्चित प्रमाण अप्राप्य होने के कारण तथा बौद्ध दर्शन का किंचित् मात्र भी उसमें उल्लेख नहीं मिलने के कारण गीता को अत्यन्त प्राचीन प्राक् बौद्ध दर्शन मानना पड़ता है चाहे यह मत कितना ही अप्रचलित क्यों न हो। भाषा की दृष्टि से भी गीता की परीक्षा की जाए तो यह प्राचीन एवं अपाणिनीय लगती है। इस

---

1. तिलक ने अपने भगवद्गीता रहस्य (अपने मराठी ग्रन्थ के बंगला अनुवाद) के 574 पेज पर इस अंश को उद्धृत निम्न प्रकार से किया है।
   हतोऽपि लभते स्वर्गं जित्वा तु लभते यशः। उभे बहुमते लोके नास्ति निष्फलता रणे।
   जो गीता 2.37 प्रथम दो पंक्तियों की पुनरुक्ति करता है—
2. बोधायन गृह्य-शेष सूत्रः तदाह भगवान्, पत्र पुष्पं फलं तोयं, यो मे भक्तया प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।
   बोधायन पितृ-मेघ सूत्र-जातस्य वै मनुष्यस्य ध्रुवं मरणमिति विजानीया तस्माज्जाते न प्रहृष्येन् मृते च न विषीदेत। गीता के जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः आदि से तुलना कीजिए।
   नोट : उपरोक्त सब प्रसंग तिलक के भगवद्गीता रहस्य, पृ. 574 आदि से लिए गए हैं।

प्रकार 'युध्' धातु में से युद्धस्व के स्थान पर हमें युद्ध्य (8.7), पाणिनि-संस्कृत में आत्मनेपद 'यत्' को 6,36, 7.3,9.14 और 15.11 में परस्मैपद में भी प्रयुक्त किया गया है; 'रम्' को भी 10.9 में परस्मैपद में प्रयुक्त किया गया है। 'कांक्ष्' व्रज्, विष् एवं इंग् धातुओं को पाणिनि की संस्कृत में परस्मैपद माना है परन्तु गीता में (कांक्ष् 1.31 में व्रज् 2.54 में विष् 23.55 में एवं इंग् 6.19 एवं 14.23) उनको आत्मनेपद भी मानकर प्रयोग किया गया है। पुनः साधारणतया आत्मनेपद में प्रयुक्त 'उद्विज्' क्रिया 5.20 में परस्मैपद में प्रयुक्त हुई है; 'निवत्स्यसि' के स्थान पर निवषिस्यसि' 12.8 में मा शोचीः के स्थान पर मा शुचः 16.5 में, एवं 3.10 में प्रसविष्यध्वम् का प्रयोग व्याकरण के नियमों के बिल्कुल विरुद्ध है। अतः 10.29 में प्रयुक्त 'यमः संयमताम्' 'यमः संयच्छताम्' होना चाहिए; 11.41 में प्रयुक्त 'हे सखेति' दोषयुक्त सन्धि का उदाहरण है; 11.44 में प्रयुक्त 'प्रियायार्हसि' 'प्रियायाः अर्हसि' के स्थान पर तथा 10 24 'सेनान्याम्' के स्थान पर 'सेनानिनाम्' का प्रयोग हुआ है।[1] उपरोक्त भाषा सम्बन्धी अनियमितताएँ यद्यपि स्वयं निश्चित रूप से कुछ निर्णय नहीं देतीं फिर भी यह गीता की प्राचीनता के सम्बन्ध में सहायक साक्षी है। गीता को महाभारत की रचनाकाल के पूर्व भागवत सम्प्रदाय का ग्रन्थ तथा महाभारत के मूल भारतोपाख्यान के आधार पर लिखा गया ग्रन्थ माना जा सकता है। संभवतः भागवत सम्प्रदाय की प्राचीनतर शिक्षाओं को सार रूप में प्रकट करने वाली गीता अपने संशोधन के समय अपनी उस पवित्रता के कारण महाभारत में सम्मिलित की गई होगी जो उसने उस समय तक प्राप्त करली थी।
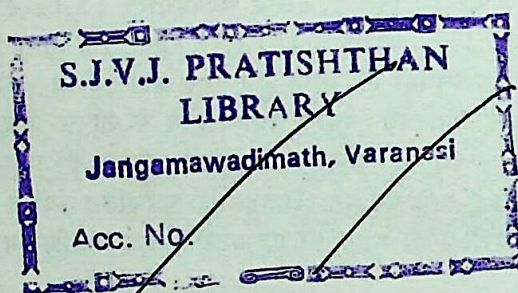
1. इसी प्रकार के अधिक दोषों को जानने के लिए भंडारकर स्मृति ग्रन्थ में श्री व. क. रजवाड़े द्वारा लिखित लेख को देखिए जिसमें से उपरोक्त दोष संग्रहीत है।

डा० दासगुप्त लिखित 'भारतीय दर्शन का इतिहास' भारतीय दर्शन की समस्त शाखाओं की प्रामाणिक मीमांसा प्रस्तुत करने वाला विद्वज्जन-समादृत श्रेय ग्रन्थ है। अद्भुत प्रतिभा और मीमांसा-शक्ति सम्पन्न इस विद्वान् ने पांच खण्डों में भारतीय दर्शन के सिद्धान्तों, सरणियों, ग्रन्थों, ग्रन्थकारों आदि का जो आलोचनात्मक तुलनात्मक एवं तलस्पर्शी विवेचन प्रस्तुत किया है उसे विद्वान्, प्राध्यापक, छात्र आदि सभी जिज्ञासु संदर्भग्रन्थ के रूप में प्रयुक्त करते हैं। इसमें मूल ग्रन्थों के संदर्भ एवं उद्धरणों सहित पृथक्-पृथक् शाखाओं का विवरण एवं इतिहास उपलब्ध हो जाता है।

इसी ग्रन्थ के दूसरे खण्ड का यह अनुवाद है। इसमें प्रथम खण्ड से अनुवृत्त शांकर वेदान्त के विवेचन को पूर्ण कर योगवासिष्ठ के दर्शन का विवरण एवं समीक्षण प्रस्तुत किया गया है तथा आयुर्वेद में प्राप्त दार्शनिक विचारों का वर्णन भी किया गया है। तदनन्तर गीता दर्शन का विवेचन है। यह अनुवाद जोधपुर विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में तैयार कराया गया है।

मूल्य 60.00